

THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

THE
VIDYABHAWAN AYURVED GRANTHAMALA
42
⊕ * * ⊕

THE
BHISAKKARMASIDDHI

[A TREATISE ON SUCCESSFUL
AYURVEDIC TREATMENT

B1

S'rī Rāmānāth Dvivedī

M A, A M S., D Sc (A)

Lecturer and Medical Officer (Ayurveda),

B H U

भूमिका

सम्मारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्पोर्नान्य. प्लवो भगवत' पुरुषोत्तमस्य ।
लीलाकथारसनिपेवणमन्तरेण पुसो भवेद्विविधदु'खदवार्दितस्य ॥

(श्रीमद्भागवत १२।४)

आयुर्वेद परिभाषा—आयुर्वेद या वैद्यक की व्याख्या बहुत से विचारकों ने एकद्वैतिक लक्षणों के आधार पर भिन्न भिन्न की है। कुछ लोगों के विचार से चरक-सुश्रुत-चागभट्ट प्रभृति प्राचीन संहिताओं में लिखित और सीमित अंश ही आयुर्वेद है। दूसरे लोगों की राय में पश्चात्कालीन-संग्रह ग्रंथों में वर्णित रसयोगों की चिकित्सा ही वैद्यक है। कुछ पर्यवेक्षकों की दृष्टि में चिकित्सा-विज्ञान की प्रगति जहाँ पर स्थगित हो गई है, वहाँ तक आयुर्वेद है शेष या आगे का अन्य कुछ। इन व्याख्याओं में सत्यांश जरूर है परन्तु परिभाषा एक-द्वैतिक है, समग्र की बोध कराने वाली नहीं। इस प्रकार अत्यन्त प्रत्यक्ष के आधार पर की गई व्याख्या से पृथक् स्वरूप की परिभाषा वैद्यक के मर्मज्ञ लोग करते हैं। उपर्युक्त व्याख्याकारों की उपमा गोली के शब्द मात्र से चक्कर मारते हुए बगले के समुदाय से दी गई है क्योंकि तंत्र के एक देश के शब्द मात्र से ही पूरे तंत्र की परिभाषा करना तत्सदृश ही व्यापार है—

शब्दमात्रेण तन्त्रस्य केवलस्यैकदेशिका ।

भ्रमन्त्यल्पबलास्तन्त्रे ज्याशब्देनैव वर्त्तकाः ॥ (च० सू० १।३०)

आज से सहस्रो वर्ष पूर्व भी आयुर्वेद क्या है ? इस समस्या का समाधान अपेक्षित रहा। फलतः परिभाषा तद्विद्य आचार्यों को करनी पड़ी थी। सर्वप्रथम उसी आख्यान का सारांश ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होना चाहिए।

वेद का स्वरूप—यदि कोई प्रष्टा होकर पूछे कि वेद तो चार हैं ऋक्, यजु, साम और अथर्व, तो फिर आयुर्वेद कौन-सा वेद है यह कहाँ से टपक पड़ा ? इस प्रश्न के उत्तर में उत्तर-दाता को चाहिए कि अथर्ववेद में अपनी भक्ति दिखलावे। क्योंकि चिकित्सक को अथर्ववेद की ही सेवा वांछित है। अथर्ववेद और आयुर्वेद में अभेद समझना चाहिए। अथर्ववेद दान-स्वस्थ्यन-वलि-मंगल-होम-नियम-प्रायश्चित्त-उपवास तथा मन्त्रादि के परिग्रह के द्वारा चिकित्सा का ही कथन करता है। चिकित्सा का परम उद्देश्य भी आयु के हित या लाभार्थ ही प्रवर्तित होता है। अतः अथर्ववेद ही आयुर्वेद है।^१

१ ऋग्वेदस्यायुर्वेद उपवेद. । व्यासकृत चरणव्यूह में ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद को माना गया है।

इन दोनों में अभेद संबंध है। यह हुआ वेद का विशेषार्थ, परन्तु सामान्यार्थ में वेद का विचार करें, तो वेद शब्द विद् धातु से बना है। विद् धातु का प्रयोग निम्नलिखित अर्थों में होता है:—

मत्ताया विद्यते, ज्ञाने वेत्ति, विन्ते विचारणे।

विन्दते विन्दति प्राप्तां श्यन्-लुक-अभू-शेषिद क्रमान्॥

(नि० कौमुदी)

इस हरिकणिका के आधार पर आयुर्वेद पद से वाच्य समग्र शब्द का अर्थ होगा ऐसा तंत्र जिसमें आयु हो, या आयु का ज्ञान कराया जावे, या आयु का विचार हो, या जिसमें आयु की प्राप्ति हो उसके उमे आयुर्वेद कहेंगे। परन्तु शास्त्रकार ने उसे एक ही विशेषार्थ में सोमावृद्ध कर रखा है अर्थात् जिस तंत्र में आयु का ज्ञान कराया जाय।

आयु का स्वरूप—वेद शब्द की राजा के समाधान के अनन्तर दूसरी शका आयु शब्द के सम्बन्ध में न्वत उत्पन्न होती है। आयु क्या वस्तु है ? आयु शब्द की निरुक्ति शास्त्रकारों ने पर्याय कथनों से की है:—

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।

नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुर्नृच्यते॥ (च० मू० १)

१. शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोग—शरीर-इन्द्रिय-सत्त्व और आत्मा की मयुक्ता-वस्था को आयु कहते हैं। २. धारि-रग्म-रक्त सवहनादि क्रियाओं के द्वारा शरीर को धारण करनेवाली और शरीर को विशोर्ण न होने देने वाली शक्ति को आयु कहते हैं। ३. जीविन—ध्वसन कर्म के द्वारा प्राण को धारण करते हुए शरीर को बनाए रखता है। इसीलिए जीवन या जीवित पर्याय भी आयु का कहा गया है। ४. नित्य-गति (Movement) एक आयु का प्रमुख लक्षण है। एतदर्थ आयु के पर्याय में नित्यग शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रतिक्षण उममें गति होती है, एक लक्षण के लिए भी जो नहीं सकता अर्थात् सदैव गति-शील है। जीव में गति का होना या क्रिया का होना स्वाभाविक है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ (गीता अ० ३)

५. चेतनानुवृत्ति—चेतना का सतत बना रहना आयु है। गर्भावस्था से मरण-पर्यन्त यह चेतना या संवेदन का गुण बना रहता है। चेतन एवं अचेतन, सजीव और निर्जीव, ऐन्द्रिय या निरोन्द्रिय तथा जीवित और मृत का भेदक यह एक प्रमुख लक्षण है। इसीलिए आयु के पर्याय में चेतनानुवृत्ति का पर्याय दिया गया है। ६. जन्मानुबन्ध—इसके दो अर्थ हैं। एक तो लौकिक दूसरा

आसुप्तिक । लौकिक अर्थ में संतानोत्पादन की क्रिया द्वारा अनुबंध या सातत्य (Continuity of species) का बना रहना समझना चाहिए । दूसरे अर्थात् अलौकिक अर्थ में पूर्व-जन्म और पर-जन्म का परस्पर में अनुबंध बना रहना समझना चाहिए । इसी आधार पर आयु का यह पर्याय जन्मानुबंध है ।

इन पर्यायों को यदि आयु का पृथक्-पृथक् लक्षण माना जाय तो इन पंच-लक्षणों से युक्त अवस्था जीव की होगी । इसके विपरीत मृत या निर्जीव की । जीव-विद्या (Biology) के सिद्धान्तों के आधार पर इस सिद्धान्त की तुलना नीचे की जा रही है ।

आधुनिक शब्दों में आयु की व्याख्या करनी हो तो उसे जीवन या Life कह सकते हैं । उससे युक्त द्रव्य को जीवित या Living कहते हैं । जीवविद्या विशेषज्ञ जीवित पदार्थ में निम्नलिखित भावों की उपस्थिति आवश्यक मानते हैं—

१ वृद्धि (Growth)—परन्तु वृद्धि का गुण निर्जीव कंकड और पत्थरों में भी मिल सकता है अतः जीव का यह कोई विशिष्ट चिह्न नहीं है ।

२. गति (Movement)—प्रायः सजीव पदार्थों में ही पाया जाता है । इसी गति के आधार पर जीवित चर या चल की संज्ञा दी जाती है । कुछ सीमित स्वरूप की गति अचर सृष्टि के वृक्ष आदिकों में भी मिलती है । तथापि नित्य गतिशील होना एक जीव का आत्मलिङ्ग है अतएव ऊपर लिखे आर्प-वचनों में नित्यग का पर्याय कथन आयु के अर्थ में प्रतीत होता है ।

३. चैतसतत्त्व या आयुमूल (Protoplasm)—सजीव और निर्जीव सबसे बड़ा भेद करने वाला यह तत्त्व है । यह जब तक सक्रिय है—आयु है । उसके निष्क्रिय होते ही मृत्यु हो जाती है । प्राचीनों का 'शरीर सत्त्वात्म संयोग आयु है' का कथन बहुत कुछ इसी विशिष्ट तत्त्व की ओर इंगित करता है । चेतनातत्त्व के अभाव में मनुष्य या जीवों के शरीर और इंद्रिय प्रभृति सभी द्रव्यों के यथापूर्व रहते हुए भी वह मृत और निश्चेष्ट हो जाता है । 'पंचभूताव-शेषेषु पंचत्वं गतमुच्यते ।' यही कारण है कि ऊपर लिखे आर्पवचन में आयु के पर्याय में 'सत्त्वात्मसंयोग' शब्द का कथन हुआ है । यह चैतसतत्त्व स्थावर तथा जंगम दोनों सृष्टि में समान भाव से पाया जाता है । शरीर असंख्य कोषाणुओं से निर्मित है । कोषाणुओं के भीतर चैतसतत्त्व भरा रहता है । अंतर इतना ही होता है कि स्थावर सृष्टि में कोषाणुओं के चारों ओर एक भित्ति (Cellular wall) होती है, परन्तु चर-सृष्टि में ये भित्तियाँ या आवरण नहीं रहते ।

४. उत्पादन, संतानता या प्रजनन (Reproduction)—एक से दो, दो से चार, चार से आठ आदि बनने के प्रवृत्ति पुनरुत्पन्न जीवों से लेकर बड़े से बड़े जीव में होती है। 'एकोहं बहुम्याम प्रजायेय।' त्रेधा श्रेणी के जीवों में यह क्रिया विभजन अमैथुनीय परन्तु बड़े जीवों में मैथुनीय होती है। उनका ही नहीं निर्जीव पदार्थों में भी संरसा-वृद्धि भंजन या विभजन के द्वारा होती है अर्थात् निर्जीवों में भी किसी न किसी प्रकार का पुनरुत्पादन पाया जाता है।

इस चिह्न की ओर इंगित करता हुआ प्राचीन आपर्वचन अनुबंध आयु के पर्याय में व्यवहृत हुआ है। जैसा कि ऊपर कह आये हैं एक तो लैटिन्क अर्थ में वह जन्मानुबन्ध संतानोत्पादन का बोधक है और त्रिजिष्टार्थ में वह पूर्व जन्म का बोधक है। पूर्वापर जन्म-संबन्ध का द्योतक है।

इसी प्रजनन के आधार पर जातियों का सान्त्व (Continuity of Species) निर्भर करता है। यह जीवन या जीवित का एक प्रमुख लक्षण है।

५. रस संवहन (Circulation)—जीवन का यह भी एक आन्तर्लिप्त है।

६. श्वसन (Respiration)—जीवित द्रव्यों में किसी न किसी प्रकार का श्वसन कर्म तथा रस या रक्त का संवहन पाया जाता है। यह क्रिया न्यावर, जीव, वृक्षादि से लेकर पशु और मनुष्यों में भी समान भाव से चलती रहती है। इस क्रिया का द्योतन आयु के पर्याय रूप में प्राचीनोक्त शब्द 'धारि' से किया मिलता है। जिसका अर्थ होता है—

श्वसन एवं रक्तसंवहनादि क्रियाओं के द्वारा प्राण का धारण करना—यह आयु का या जीवित पदार्थ का लक्षण है।

चेतनानुवृत्ति क्षोभ, या संवेदन (Irritability)

आयु (Life) के पर्याय में चेतनानुवृत्ति शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ होता है चेतना या संवेदन की उपस्थिति। जीवित पदार्थ का यह सबसे प्रमुख लक्षण है—किसी बाह्य उत्तेजना की प्रतिक्रिया। उष्ण, शीत, रुच, तीक्ष्ण द्रव्यों के सम्पर्क में आने से जीवित शरीर जब तक उसमें आयु है, उन द्रव्यों के अनुकूल या प्रतिकूल कार्य करेगा।

इस चेतना के गुण के फलस्वरूप होनेवाली प्रतिक्रिया में किसी द्रव्य के स्पर्श के सम्पर्क में आने पर ही प्रतिक्रिया हो, ऐसी बात नहीं है। क्वचित् दूर से या देखने मात्र से ही प्रतिक्रिया होने लगती है—जैसे कि प्रहारक के द्वारा दण्ड के उठाये जाने मात्र से ही किसी व्यक्ति के कोप जाने, भागने या उससे

चरने की प्रतिक्रिया (Contact Irritability) । यह चेतना या संवेदन वृत्तों की अपेक्षा पशुओं में, पशुओं की अपेक्षा क्रमशः मनुष्यों में अधिकाधिक पाया जाता है । उच्च मस्तिष्क क्रिया, मनोभाव, चिन्तन और विचार आदि भी इसी गुण के द्योतक हैं ।

शाश्वत—यह आयु शाश्वत है अर्थात् मनुष्यकृत नहीं है अर्थात् अनादि है । जिस तन्त्र में इसके सम्बन्ध से विचार किया जाता है वह तन्त्र भी फल-स्वरूप अनादि और शाश्वत है । आयु की परम्परा, बुद्धि की परम्परा, सुख-दुःख, द्रव्यों के गुण, गुरु-लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुच्य तथा सामान्य और विशेष के द्वारा बुद्धि तथा हास का होना प्रभृति बातें भी अनादि और शाश्वत हैं—अर्थात् अनादि काल से हैं और सदा रहनेवाली हैं ।

आयुर्वेद में जितने पदार्थों (भावों) की व्याख्या आती है, वे कभी नहीं रहे हों और उनका नये सिरे से प्रवेश कराया गया हो ऐसा नहीं है—क्योंकि स्वभाव से ही वे नित्य और शाश्वत हैं । आयुर्वेद में किये गये या बनाये गये लक्षण भी शाश्वत हैं । जैसे अग्नि का उष्ण होना, जल में द्रवत्व का पाया जाना प्राकृतिक या स्वाभाविक है । वह मनुष्यकृत नहीं अकृतक है । भारी चीजों के सेवन से भारी चीजे बढ़ेगी-हल्की चीजे कम होंगी यह पदार्थों के स्वभाव से नित्य है ।

अतएव आयु के सम्बन्ध में ज्ञान कराने वाला यह शास्त्र चिरन्तन और शाश्वत है । इसका आदि और अन्त नहीं है । अनादि काल से आ रहा है और अनन्त काल तक चलेगा । इसका आदि अव्यक्त है—अन्त अव्यक्त है, केवल मध्य व्यक्त है ।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ (गीता अ० २)
सोयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्, स्वभावसंसिद्ध-
लक्षणत्वात्, भावस्वभावनित्यत्वाच्च । (चर० सू० ३०) ।

आयुर्वेद का सामान्य स्वरूप—वेद और आयु शब्दों की पृथक्-पृथक् व्याख्या करने के बाद समूह में अर्थ करना अभिलषित है । क्योंकि आयुर्वेद पदवाच्य पद में दो ही शब्द हैं और मूल अभिप्राय भी इसी पद की व्याख्या में निहित है । अतएव आयुर्वेद-पद की शास्त्रीय निरुक्ति की जा रही है—

आयु का ज्ञान कराने वाले शास्त्र को आयुर्वेद कहते हैं । इसके पर्याय-कथन के रूप में कई शब्दों का व्यवहार किया जा सकता है जैसे आयु-शास्त्र, आयु-विद्या, आयुसूत्र, आयु-ज्ञान, आयु-शास्त्र, आयु-लक्षण तथा आयु-तन्त्र । आयु के स्वरूप की व्याख्या ऊपर में हो चुकी है । अतएव फलितार्थ होगा जिस

विद्या के द्वारा आयु के सम्बन्ध में सर्व प्रकार के ज्ञान्य तथ्यों का ज्ञान हो सके अथवा जिसका अनुसरण करते हुए दीर्घ आयुष्य की प्राप्ति हो सके उस तन्त्र को आयुर्वेद कहते हैं ।

आयुर्वेद में आयु के स्वरूप के अनिरुक्त आयु के सम्बन्ध में चार दृष्टिकोणों से विचार किया जाता है । १—सुरवायु (स्ववायु), तथा दुग्वायु (अस्ववायु) २—हितायु तथा अहितायु । ३—आयु के हितकर (लाभप्रद) तथा अहितकर (हानिप्रद) द्रव्य-गुण एवं कर्म । ४—आयु का प्रमाण । दूसरे शब्दों में आयु के स्वस्थ क्रिया शरीर (Physiological Phenomena) तथा विकृत क्रिया-शरीर (Pathological Phenomena) दीर्घ आयुष्य की प्राप्ति के निमित्त जीवन के हितकर तथा हानिप्रद पद्यापन्य का निर्देश (Usefull and harmful medication, Hygeine & Sanitation, environments, Dietetics etc), साथ ही आयु का प्रमाण (Longivity) का यथा तथ्य कथन प्रभृति उपदेशों का संग्रह आयुर्वेद तन्त्रों का लक्ष्य है । उपर्युक्त दृष्टिकोणों से द्रव्य (Substance), गुण (Properties) तथा कर्मों (Actions) की विवेचना सम्पूर्णतया इस शास्त्र का विवेच्य विषय है ।

इस व्यापक अर्थ में (Science of life) आयुर्वेद केवल मानवमृति तक ही सीमित नहीं रहता है । उसमें चर और अचर उभय विधि जीवधारियों के सम्बन्ध में 'हिताहितं सुखं दुःखं आयुस्तस्य हिताहितं, मानत्र तच्च यत्रोक्तं आयुर्वेद स उच्यते ।' उनके हिताहित का ज्ञान, उनके स्वस्थ रगने के उपाय, उनके विकारों की दूरीकरण के उपाय तथा उनकी आयु-मर्यादा के बतलाने के साधन प्रभृति यावत्तीय ज्ञातव्य बातें इस आयुर्वेद के द्वारा जानी जा सकती हैं । फलतः सम्पूर्ण जीव विद्या (Biology), पशु चिकित्सा (Veterinary Treatment), अश्व काण्ड (Diseases and treatment of Horses), पाल काण्ड (Diseases and treatment of Elephants) तथा वृक्षायुर्वेद (Plant Pathology and treatment) प्रभृति सभी विषयों का समावेश आयुर्वेद में हो जाता है ।

व्याधयो हि समुत्पन्नाः सर्वप्राणिभ्यङ्कुराः ।

तद् ब्रूहि मे शमोपायं यथावदसरप्रभो ॥ (च० सू० १)

विशिष्ट स्वरूप—तथापि आयुर्वेद का व्यवहार, विशेषार्थ में मानवीय आयुर्वेद के लिये ही किया गया है । क्योंकि स्वर्गीय विद्या आयुर्वेद का आनयन ब्रह्मलोक के संतप्त और आर्त्तजन मानवों के कल्याणार्थ ही ऋषियों ने किया था ।—

प्रादुर्भूतो मनुष्याणामन्तरायो महानयम् ।

कस्मात्तेषां शमोपाय इत्युक्त्वा ध्यानमास्थितः ॥

ऋषयश्च भरद्वाजाज्जगृहुस्तं प्रजाहितम् ।

दीर्घमायुश्चिकीर्षन्तो वेदं वर्धनमायुष ॥

तस्यायुष पुण्यतम वेदो वेदविदां मतः ।

वच्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम् ॥ (च० सू० १)

इस विशिष्ट आयुर्वेद के स्वरूप ज्ञान के लिये कुछ विशद वर्णन अपेक्षित है।
अन चतुर्विध आयु तथा उससे युक्त मनुष्यों की पुनः विवेचना प्रस्तुत की जा रही है।

सुखायु-दुःखायु

युवावस्था, शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों से मुक्त, बल-वीर्य-यश-पौरुष-पराक्रम, ज्ञान-विज्ञान इंद्रिय तथा इन्द्रियाथों से सत्तम, विविध प्रकार के सुन्दर सुहावने उपभोगों के भोगों में समर्थ मनुष्य को आयु सुखायु है। यह व्यक्ति सुखी और स्वस्थ कहलाता है। इसके विपरीत व्यक्तियों को अस्वस्थ, दुःखयुक्त और उसही आयु को दुःखायु कहते हैं। (Healthy and unhealthy life)। सुखायु वाले व्यक्ति के द्वारा किया हुआ कोई भी आरम्भ ठीक तरह से पूरा होता है और वह सुखपूर्वक विचरता है। इसके विपरीत दुःखयुक्त व्यक्ति की दशा रहती है।

हितायु-अहितायु

सुखायु को सतत बनाये रखने के लिये आयु के हितावह द्रव्य, गुण तथा कर्मों की जानकारी आवश्यक है। हितैषी व्यक्ति को परोपकारी, सत्यवादी, शान्ति-प्रिय, परीक्षकारी एवं अप्रमत्त होना चाहिये। धर्म-अर्थ-काम प्रभृति त्रिवर्गों का सम्यक्-संचय, पूज्यों का पूजन, वृद्धों का अनुसरण, राग-रोष इर्ष्या-मद-मान प्रभृति वेगों को धारण करना चाहिये। ऐसे व्यक्तियों को तपस्वी, दानी, ज्ञानी, अध्यात्म-शास्त्र का अभ्यासी तथा स्मृतिमान् होना आवश्यक है। ये सभी कर्म आयु के लिये लाभप्रद होते हैं। इनके विपरीत कर्म आयु के लिए अहित होते हैं। (Any thing usefull or harmful to life) इसका उपदेश भी आयुर्वेद का कर्तव्य है।

आयु-प्रमाण .

देह के प्राकृतिक लक्षणों के आधार पर आयु का प्रमाण आयुर्वेद के ग्रंथों में बतलाया जाता है। जैसे लम्बी आयु वाले व्यक्तियों का परिचय निम्नलिखित सूत्रों के आधार पर होता है :—

‘सभी सारों से युक्त पुरुष, अति बलवान्, परम-सुख युक्त, बलेश-सह, सभी कर्मों का आरम्भ करके पूर्ण करने के विश्वास से युक्त, कल्याण की भावना

से प्रेरित, स्थिर और पूर्ण शरीर वाले समाहित गति से युक्त, स्निग्ध-गन्भीर-अनुनादित-उच्चस्वर से बोलने वाले, सुख-प्रेष्वर्य-वित्त के उपभोग करने वाले तथा प्रायः अपने सदृश गुणों वाले ब्रह्म से सन्तानों के उत्पादक मनुष्य चिर-जीवी होते हैं ।'

‘श्लैष्मिक प्रकृति वाले, बलवान्, धनवान्, विद्यावान्, ओजस्वी तथा ज्ञान्त व्यक्ति दीर्घायु होते हैं ।’ इन लक्षणों से विपरीत व्यक्ति अल्पायु होते हैं ।

इसके अतिरिक्त कुछ आकस्मिक परिवर्तनों के आधार पर भी आयु-मर्यादा बताने का उपदेश भी आयुर्वेद में पाया जाता है । इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ, मन, बुद्धि और चेष्टाओं में आकस्मिक परिवर्तनों के कारण अरिष्ट स्वरूप के लक्षण पैदा हो जाते हैं । इनको अनिमित्त या अरिष्ट लक्षण कहते हैं । इन अनिमित्त लक्षणों के आधार पर आयु की मर्यादा ज्ञान, सुहृत्त, दिन तीन-पाँच सात दस-बारह, पञ्च, मान, द्वैमान और वषा में बताया जा सकता है । (देग्ग चरक इन्द्रिय स्थान) ।

इस प्रकार आयु की काल मर्यादा (Longevity) का भी उपदेश आयुर्वेद करता है । आयु तीन प्रकार की दीर्घ, मध्य और अल्प होती है । आयुर्वेद के द्वारा त्रिविध आयु का निर्णय सम्भव है ।

सर्वभौम (Universal) प्रयोजन उद्देश्य

किसी तन्त्र के परिचय में उसके चार अङ्गों की जानकारी आवश्यक होती है । अधिकारी-सम्बन्ध विषय तथा प्रयोजन । यहाँ पर आयुर्वेद की इतनी लम्बी व्याख्या के अनन्तर स्वाभाविक उत्सुकता पैदा होती है कि आयुर्वेद का प्रयोजन क्या है । आयुर्वेद के दो ही प्रयोजन हैं स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा तथा रोगी हो जाने पर उसके विकार का प्रशमन ।

‘प्रयोजनं : चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनञ्च ।’ (चर० सू० ३०)

आरोग्य को बनाये रखना तथा रोगों से मुक्ति करना इन दो उद्देश्यों से प्रेरित होकर ही ऋषियों ने आयुर्वेद का उपदेश किया है । धर्म, अर्थ, काम-मोक्षों के साधन के लिये नीरोग रहना परमावश्यक है । यदि क्वचित् रोग हो जाय तो उस रोग का दूरीकरण भी एकान्ततः लक्ष्य चिकित्सा विज्ञान का है :-

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।

रोगास्तस्यापहर्त्तारः श्रेयसो जीवितस्य च ॥ (च० सू० १)

यह प्रयोजन किसी एक वर्गवाद के भीतर सीमित चिकित्सा-शास्त्र का नहीं है, बल्कि एक सार्वभौम मिद्धान्त है । विश्व की जितनी भी ज्ञान या अज्ञात चिकित्सा-पद्धतियाँ प्रचलित हैं सबका अन्तिम लक्ष्य या सभी का अवसान उप-

युक्त दो सूत्रों में ही है। इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। आधुनिक शब्दों में कहना हो तो स्वास्थ्यरक्षण के उद्देश्य को Profilaxis और आतुर विकार प्रशमन को Curative कह सकते हैं। प्रथम के लिये Public Health and Hygiene का विभाग और दूसरे के लिये Curative treatment, Hospitals and Dispensaries का विभाग आज भी सभ्य देशों की सरकारें कायम कर रही हैं।

आयुर्वेदावतरण में क्रम तथा अश्विनीकुमार

दिव्य विद्या आयुर्वेद का पृथ्वी पर लोक-कल्याण की भावना से अवतरण हुआ है। सर्वप्रथम ब्रह्मा विद्या के आदि ज्ञाता है, उनसे प्रजापति को विद्या मिली, पश्चात् अश्विनीकुमारों को, तत् इन्द्र को; तदनन्तर विभिन्न ऋषियों में विद्या का आविर्भाव हुआ तदनन्तर इह लोक के चरक सुश्रुत-प्रभृति ऋषियों को विद्या मिली। पुनः इहलोक में आयुर्विद्या का प्रचार हुआ।

अश्विनीकुमार युग्म (दो) माने गये हैं। ये चिकित्सा के मूलभूत दो लक्ष्यों के स्वस्थवृत्त (Profilaxis) तथा चिकित्सा (Cure) के प्रतीक हैं। चिकित्सा-विज्ञान ही दो लक्ष्यों को सामने रख कर बढ़ता है। अतएव स्वयं यमल स्वरूप (Twin) का है। जैसे यदि आयुर्वेद का पर्याय Medicine करे तो उसके दो बड़े वर्ग प्रेफिलेक्सिस एवं क्योरेटिव हो जाते हैं। पुनः प्रेफिलेक्सिस के दो विभाजन हों तो दो वर्ग स्वस्थ रखना मात्र (Hygiene) तथा स्वस्थ को उर्जस्कर बनाना—वलय, वाजीकरण एवं रसायनों (Tonics and Geriatrics) के प्रयोग से होते हैं। इसी प्रकार विशुद्ध तथा केवल 'क्योरेटिव ग्रुप' का ही विभाजन करे तो उसमें पुन दो खण्ड शल्य-चिकित्सा (Surgery) तथा कायचिकित्सा (Inner General Medicine) करके पुन दो वर्ग हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि चिकित्सा-विज्ञान सदैव यमलस्वरूप का होता है, सम्भवतः अश्विनीकुमारों का प्रतीक इसी आधार पर ग्रहण किया गया हो।

आयुर्वेद का वैशिष्ट्य

‘स्वस्थातुरपरायणम्’—आयुर्वेद का संबन्ध स्वस्थ एवं रोगी दोनों ही प्रकार के मनुष्यों से है। पूरे आयुर्वेद को त्रिसूत्र कहते हैं क्योंकि इसमें हेतु (Etiology), लिङ्ग (Signs and Symptoms) तथा औषध (Proper Medicaments) का वर्णन किया जाता है। यह त्रिसूत्र स्वस्थ के स्वास्थ्य के बनाये रखने में उतना ही उपयोगी है जितना रोगी के रोग-प्रशमन में। उदाहरण के लिए स्वस्थ के पक्ष में उनकी स्वस्थता में हेतु, स्वस्थ के लक्षण तथा स्वस्थ रखने की औषधियाँ बतलाई जायेगी। रोग की अवस्था में रोग का

उत्पादक कारण, उसके लक्षण समुदाय और चिकित्सा में व्यवहृत होनेवाली औषधियों का उल्लेख आता है ।

हेतुलिङ्गौपधज्ञान रवस्थातुरपरायणम् ।

त्रिसूत्र शाश्वत पुण्य बुबुधे य पितामहः । (च० सू० १)

आधुनिक चिकित्साविज्ञान से इतनी समता होते हुए भी प्राचीन आयुर्वेद की कुछ अपनी विशेषताये हैं । १. यह विपुल जटवाद (Materialism) का समर्थन नहीं है । इन्में आध्यात्मिक तत्वों जैसे मन एवं आत्मा का जो स्थल दृष्ट नहीं है, दृष्ट या प्रत्यक्ष शरीर से अविक महत्व दिया जाता है । स्थूल शरीर और इन्द्रियों को जो प्रत्यक्ष है, अपेक्षा सूक्ष्म अर्थात् सन्ध एवं चेतना-त्मक शरीर की विवेचना को बड़ा स्थान दिया जाता है 'प्रत्यक्ष हि अल्पं अनल्प अप्रत्यक्षम्' प्रत्यक्ष जिनका साक्षात् हो सके ऐसी बातें कम हैं और अप्रत्यक्ष ज्ञान जिनका साक्षात् न हो सके बहुत अधिक और विस्तृत हैं । अतः बहुत अशों में अनुमान की सहायता लेनी पड़ती है । अनुमान की भी सीमा होती है अतः प्रत्यक्ष के ऊपर किया गया अनुमान क्वचित् गलत भी हो सकता है अतः आसोपदेश या शास्त्रप्रमाण्य की सर्वोपरि विशेषता दी गयी है । आसोपदेश या शास्त्र निहित ज्ञान की उपज केवल प्रत्यक्ष और अनुमान के आधार पर आश्रित न होकर ऋषियों की दिव्य-दृष्टि या अंतर्दृष्टि की विवेचना मानी जाती है । आज के वैज्ञानिकों में इस अंतर्दृष्टि का सर्वथा अभाव है । वे केवल प्रत्यक्ष तथा अनुमान के आधार अथवा अपनी प्रत्यक्ष शक्ति को विविध यंत्रों की सहायता से कई गुना बढ़ाकर मनन करने हुए अपने सिद्धान्तों की स्थापना करते हैं । जिससे ये मुनि कोटि के विचारकों में 'मननान्मुनयः' कहे जा सकते हैं । इनके भी विचार या सिद्धान्तपक्ष किसी कदर कम नहीं हैं और न इनकी महत्ता ही कम है । इनकी विचारणाएँ अर्हणीय, सर्वमान्य और ग्राह्य हैं । यदि क्वचित् इन मुनि और ऋषि वचनों में परस्पर विरोध हो, तो ऋषि वचनों का अधिक महत्व देना चाहिये । क्योंकि 'साक्षात् कृत धर्माणः ऋषयः भवन्ति ।' ये वचन आप्त शिष्ट, विबुद्ध ऐसे व्यक्तियों के हैं जो रज और तमोगुण से निर्मुक्त हैं जिनका तपस्या के द्वारा ज्ञान का बल बढ़ा हुआ है-जिससे भूत, भविष्य, वर्तमान त्रिकाल के ज्ञान में जिनकी बुद्धि की शक्ति अव्याहत (कही न रुक सकनेवाली) है । इनके वाक्य संशय से हीन और सत्य होते हैं —

रजस्तमोभ्या निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये ।

येषा त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा ॥

आप्ता शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम् ।

सत्यं वदन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः ॥ (च० सू०)

यदि कदाचित् मुनिकोटि के विचारकों तथा ऋषि-कोटि के सिद्धांतों में विरोध दिखलाई पड़े तो ऋषियों से उनके पूर्व वाले आचार्यों का मत अधिकाधिक प्रामाण्य (Oldest Version) होता है। परन्तु मुनियों में परवर्त्ती आनेवाले मुनियों का वचन अधिकाधिक प्रामाण्य (Latest Version) होता है। अर्थात् ऋषिवाक्य जितने ही अधिक प्राचीन हों उतने ही अधिक प्रामाणिक माने जाते हैं, परन्तु मुनियों या आधुनिक विचारकों के सम्बन्ध में वे जितने ही नवीन हों उतना ही उनका अधिक मूल्य है—

श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते ।
पूर्वं पूर्वं बलीयस्त्व तत्र ज्ञेयं मनीषिभिः ॥ (स्मृतिसमुच्चय)

× × ×

यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम् ।

आयुर्वेदीय स्वास्थ्यवृत्त की विशेषता

आधुनिक स्वास्थ्य या चिकित्साविज्ञान का स्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के औद्योगिक क्रान्ति के नव जागरण का परिणामी है। जिससे यह एक कुटी व्यवसाय के स्वरूप का न होकर औद्योगिक रूप का है। इसमें जो कुछ भी गुण हो एक दोष तो अवश्य है कि वह एक इकाई (यूनिट) का ध्यान न रखते हुए समग्र की चिन्ता करता है। इसमें व्यक्ति का विशेष मूल्य न देकर पूरे समाज के ही कल्याण की भावना निहित है। व्यक्तियों के समुदाय का ही नाम समाज है। यदि पूरे समाज की सेवा की जाय तो सभी व्यक्तियों की सेवा स्वयमेव हो जायेगी। इसके विपरीत व्यक्ति-विशेष की सेवा की जाय तो उसी के वृहत्तर आयोजन से समग्र समाज का भी कल्याण स्वयमेव हो सकता है। दोनों मतों में आपाततः कोई विरोध नहीं होते हुए भी दोनों का लक्ष्य समान होते हुए भी साधन की सामग्री में विभेद प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है।

उदाहरण के लिये एक कपड़े का व्यवसाय ले। कपड़े दो प्रकार के मिलते हैं, एक छोटे-छोटे चरखे करघे के बुने खादी के कपड़े, दूसरे बड़े-बड़े औद्योगिक पुतली घरों से निर्मित, दोनों का अंतिम उद्देश्य एक ही है—पूरे जन-समुदाय को वस्त्रों से पूर्ण करना। बड़े उद्योगों की दृष्टि, समूह की ओर होती है वह एक बड़े समुदाय के लिये वस्त्र बनाता है किसी व्यक्ति विशेष का ध्यान उसके निर्माण में नहीं रहता, तथापि एक इकाई की आवश्यकताये पूरी हो जाती है। कुटी व्यवसाय का बना वस्त्र एक-एक इकाई का ध्यान रखता हुआ सम्पूर्ण इकाई की आवश्यकताओं का पूरण करते हुए अपने महत्तर लक्ष्य समग्र समाज की सेवा की ओर अग्रसर होता है। इनमें कौन-सा अच्छा है और कौन-सा

चुरा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि नयापि जीवनीकरण प्राथमिकता में मनोरम प्रतीत होता है यद्यपि उसके भारी आर्थिक प्रभावों का प्रतिकूल विरोध ही होते हैं। यही कारण है कि देश के सामान्य निवासियों के कर्णधार दृष्टि-व्यवस्थाओं की आज भी प्रशंसा की जाती है। निम्नलिखित विचारों केन्द्रों में बने लोगों के आपातनः मनोरम होने का भावनाशील प्रतिकूल राजवेश का प्रतीक बन रहा है।

जब हम चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में उतरते हैं तो उपनिषद् का प्रश्न और जटिल हो जाता है। मनुष्य की अन्य आवश्यकताओं के सम्बन्ध में अद्योगीकरण कुछ अधिक आरामाजित दृष्टिकार्यों के पैदा करने के लिए रिक्त कोई विशेष मूल्य नहीं रखता, परन्तु जीवन मानव प्रश्न का प्रश्न व्यक्तियों का केन्द्र है उसके सम्बन्ध में विचार करने हुए कई बातों का ध्यान रखना पड़ता है। जसा कि पूर्व में बताया जा चुका है। आयुर्वेद के प्रत्यक्ष विज्ञान के दृष्टिकोण से विचारने अवस्था विद्युत् चिकित्सा की दृष्टिकोण से देखने तो वह समाज की प्रत्यक्ष इकाई के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् व्यक्ति के प्रवृत्ति, मर, संतनन, प्रमाण, स्वास्थ्य, मर, आहार-पान, व्यायामशक्ति, वय, वय आदि का ध्यान रखते हुए अपना विचार देता है। इस विज्ञान के अनुसार एक नियम या एक ही औषधि समाज के सभी व्यक्तियों के अनुकूल नहीं। यह मर, उदाहरण के लिए विमृचिका के प्रतिकार में व्यवहृत होने वाला 'गालम-भेक्सीन' अधिकांशतः लाभप्रद हो सकता है परन्तु सबसे कम सुरक्षित और अनुकूल नहीं हो सकता, इसी प्रकार चिकित्सा में व्यवहृत होने वाले बहुत से योग विभिन्न रोगों में लाभप्रद होते हुए भी विभिन्न व्यक्तियों में प्रतिकूल लक्षणों को पैदा कर सकते हैं जसा कि आधुनिक शब्द अस्थिरता, अननुकूलता (Allergy and Idiosyncrasy) शब्दों के प्रचलन से ज्ञात होता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान जिसका दृष्टिकोण एक न होकर सार्वजनिक या सामूहिक रहता है, इन इकाइयों की चिन्ता न करते हुए क्रमशः गतिशील है।

भारतीय ज्ञान और विज्ञान की परम्परा एकैक साधना में निहित है दृष्टि, वाणिज्य, रक्षा शासन, शिक्षा, धर्म एवं उपामना आदि कर्मों में वह एक-एक इकाई के विचार से उपदेश देता है, जिससे बृहत्तर रूप में सम्पूर्ण समाज का कल्याण होता चलता है।

आयुर्वेद के स्वास्थ्य विज्ञान का भी दृष्टिकोण एकैक साधना में ही केन्द्रित है। वह वैयक्तिक स्वास्थ्य या व्यक्तिगत स्वस्थ वृत्त (Personal Hygiene) में ही विश्वास रखता है। आयुर्वेद के दृष्टिकोण से यदि समाज की एक-एक इकाई को स्वस्थ बना दिया जाय तो सम्पूर्ण समाज स्वस्थ हो सकता है। इसीलिये वह एक मनुष्य को प्रतिदिन समय-विभाग के अनुसार आचरणों का

उपदेश देता है। दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या के रूप में उठना, बैठना, खाना, पीना, स्नान, भोजन, शयन, ब्रह्मचर्य, विवाह, गृहस्थजीवन आदि के सम्बन्ध में विशद रूप से संग्रह किया हुआ आयुर्वेद के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, जिसके अनुष्ठान और पालन का नियम बड़ा ही सरल सुबोध और सर्वजनगम्य है। स्वस्थवृत्त सम्बन्धी इन नियमों का प्रचार इस देश के समाज में ऐसा घर कर लिया है कि कुछ वृद्धों के उपदेश और उनके अनुभवों का आश्रय मात्र लेने से ही विषय का बहुत कुछ ज्ञान हो जाता है।

आधुनिक स्वास्थ्य विज्ञान वैयक्तिक स्वस्थवृत्त की दृष्टि से उतना चढ़ा-बढ़ा नहीं है प्रत्युत वह इस अङ्ग से अपूर्ण है। वह सामूहिक दृष्टि से एक जनपद या समाज के स्वास्थ्य का विचार करता है। आयुर्वेद का स्वस्थवृत्त आज भी एक स्वतन्त्र या विशिष्ट स्थान रखता है। राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक यदि व्यक्तिगत चर्याओं या आचार का पालन करे तो समग्र राष्ट्र सुखी और समृद्धवान् हो सकता है।

इन दोनों प्राचीन और आर्वाचीन स्वास्थ्य के उपदेशों की तुलना की जाय तो आधुनिक वर्णन अधिक विज्ञान-सम्मत प्रतीत होते हैं परन्तु इसमें भी दोषों का अभाव नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते। केवल सामूहिक दृष्टि से स्वस्थ वृत्तों का विचार एकाङ्गी है और तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक कि व्यक्तिवादी आयुर्वेदीय स्वास्थ्य-सद्बृत्त से उसको पूर्ण न बनाया जाय। यद्यपि वास्तविक दृष्टि से इस प्रकार का कथन सुहावना प्रतीत नहीं होता है तथापि परिणाम की दृष्टि से विचार करते हुये यह मत अमृत सदृश है। जिस प्रकार औद्योगिक धन्धों के साथ ही कुटी-व्यवसायों का भी समर्थन किया जाता है उसी प्रकार Hygiene and Public Health के आधुनिक विषय के साथ आयुर्वेदीय स्वस्थवृत्तों का (Personal Hygiene) का उपदेश भी जनता के कल्याणार्थ हितावह है।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।

तत्सुख सात्त्विकं विद्धि आत्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ (गीता)

आयुर्वेद का स्वस्थवृत्त केवल वैयक्तिक स्वास्थ्यरक्षण के उपायों तक ही सीमित नहीं है बल्कि वह देश, जनपद, मेला और महामारी प्रभृति बड़े-बड़े जन-समाजों की रक्षा में भी समर्थ है। कई-वार अत्यावश्यक अवस्थाओं में जहाँ पूरा जनपद किसी बड़े विकार से ग्रस्त हो जाय तो उसको सम्भालने का भी उपदेश वैद्यक ग्रन्थों में मिलता है। 'विभिन्न प्रकृति, आहार, देह, बल, सात्म्य तथा आयु वाले मनुष्यों के रहने पर भी एक ही समय में जनपद का नाश हो सकता है।' इसे जनपदोर्ध्वस (Epidemics) कहते हैं। इसके

कारण रूप में अधर्म, और तज्जन्य वायु, जल, देश और काल का विकृत होना बतलाया गया है। विभिन्न प्रकृति मत्व आदि मनुष्यों के पृथक्-पृथक् होते हुये भी चार चीजें सबके लिये समान होती हैं। इसलिये इनकी विकृति से सम्पूर्ण देश का देश और जनममुदाय विकारग्रस्त हो सकता है। अतः इनके प्रतिकार का उपदेश भी आचार्यों ने किया है। फिर भी आयुर्वेद की सर्वाधिक विशेषता उसके व्यक्तिगत स्वास्थ्य, संरक्षक उपायों (Personal Hygiene) में है। वह आज भी अभिनव सामाजिक स्वास्थ्य विज्ञान के लिये अजय ज्ञान के भण्डार के रूप में है।

वैद्य को सर्वदा यत्नपूर्वक स्वस्थ पुरुष की रक्षा करनी चाहिये। इसीलिये आयुर्वेद में वर्णित स्वास्थ्य के आचरणों का उपदेश किया गया है। चूंकि स्वास्थ्य सर्वदा इच्छित है, इसलिये जिस उपाय से मनुष्य नदा स्वस्थ रहे वैद्य को वही उपाय करना चाहिये।

आयुर्वेदोक्त दिनचर्या, रात्रिचर्या और ऋतुचर्या का आचरण करना हुआ ही मनुष्य सर्वदा स्वस्थ रह सकता है। इसके विपरीत उपायों से नहीं।

स्वस्थस्य रक्षणं कार्यं भिषजा यत्नतः सदा।

आयुर्वेदोदितं तस्मान्स्वस्थवृत्तं प्रचक्ष्यते ॥

मानयो येन विधिना स्वस्थस्तिष्ठति सर्वदा।

तमेव कारयेद्वैद्यो यतः स्वास्थ्यं सदैपसितम् ॥

दिनचर्या निशाचर्यामृतुचर्या यथोदिताम्।

आचरन् पुरुषः स्वस्थः सदा तिष्ठति नान्यथा ॥ (भा. प्र.)

केवल रोगरहित शरीर होने से एक व्यक्ति को स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। स्वस्थ पुरुष एक पारिभाषिक अर्थ में व्यवहृत होता है। उसका माप ढण्ड (Standard) आयुर्वेद के ऋतुओं में ही देखे —

‘जिसके वात, पित्त और कफ समान रूप से कार्य कर रहे हों; पाचन-शक्ति ठीक हो, रस रक्तादि धातु और मलों की क्रिया (Metabolism) समान हो अर्थात् रस-रक्तादि स्वाभाविक रूप से बँध रहे हों और मल निर्वाध निकल जाता हो, साथ ही उसके आत्मा, इन्द्रियाँ तथा मन प्रसन्न हों; उसी को स्वस्थ कहते हैं :—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।

प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥ (सुश्रुत)

रसायन

(Geriatrics)

मंसार की सभी वस्तुएँ नश्वर हैं। ये क्रमशः जीर्ण होते हुए नष्ट हो जाती हैं। यह एक प्रकार का स्वभाव है अर्थात् स्वभाव से ही नई चीजें पुरानी

होती हुई काल से वे लय को भी प्राप्त होती हैं। इसी विधि-विधान के अनुसार मनुष्य तथा जीवधारियों में भी विकार (रोग) उत्पन्न होता है, उनमें क्रमशः जरावस्था की प्राप्ति होती और मृत्यु के द्वारा उनका निधन होता है। देव-योनि में ये परिवर्तन जो समय से उत्पन्न होते रहते हैं नहीं पाये जाते। मनुष्य और देवता तथा मर्त्यलोक और स्वर्गलोक में यही महान् अन्तर है। देव लोग इन तीन अवस्थाओं से परे अर्थात् जरा, मृत्यु और रोग पर विजय प्राप्त किये हैं। मनुष्य अनेक युगों से देवत्व की प्राप्ति के लिये प्रयास करता आ रहा है। फलतः मानवों का जरा, मृत्यु और रोग को जीत लेना या इनके ऊपर विजय प्राप्त करने का प्रयास भी चिरन्तन है।

आधुनिक युग के वैज्ञानिक भी रोगों पर विजय प्राप्त करने के लिये सतत प्रयत्नशील है, इसी प्रयास के फलस्वरूप उन्होंने 'प्रोफिलैक्सिस' के बड़े-बड़े साधनों का ईजाद किया है और क्रमशः आगे करते जा रहे हैं। जरावस्था पर भी विजय प्राप्त करने का दुंदुभि-घोष कर दिया है—युवक को वृद्धावस्था में परिणत करनेवाले कारणभूत विभिन्न हार्मोन्स, विटामिन्स की कमियों की खोज पुनः उनकी पूर्ति के द्वारा जरावस्था को रोकने का प्रयास Geriatrics ग्रुप की चिकित्साओं की व्यवस्था के द्वारा चल रहा है। यद्यपि इनमें सफलता अभी तक पूरी नहीं मिल पाई है, सम्भव है भविष्य उज्ज्वल हो। मृत्यु पर आधिपत्य कायम करने के लिये भी आज के वैज्ञानिक मनीषी अग्रसर हैं, परन्तु सफलता अभी भविष्य के अन्तराल में निहित है।

दिव्य-आयुर्वेद में एक स्वतन्त्र अंग ही रसायन नाम का पाया जाता है। उसके अन्य अंग क्वचित् अपूर्ण भी हों, परन्तु यह आज भी स्वतः पूर्ण है और अनुपम है। आयुर्वेद का द्विविध प्रयोजन ऊपर बताया जा चुका है—स्वस्थ को उज्ज्वल रखना उसका एक अन्यतम प्रयोजन है। इस निमित्त ही रसायन और बाजीदार अधिकारों का वर्णन पाया जाता है। सुन्दर स्वास्थ्य के साथ ही साथ दीर्घायु की प्राप्ति भी आयुर्वेद का प्रयोजन है। इसकी प्राप्ति भी रसायन के द्वारा ही सम्भव है। 'रसायनं तु तज्ज्ञेयं यजरा व्याधिनाशनम्।' मनुष्य रसायन के सेवन से दीर्घायु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, यौवन, कान्ति, वर्ण और स्वर की वृद्धि, देव एवं इन्द्रियों का उत्तम बल, वाक्सिद्धि, नम्रता और तेज को प्राप्त करता है। शरीर के लिये लाभप्रद रस-रक्त, मांस-नेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र प्रभृति धातुओं की प्राप्ति रसायनों के सेवन से होती है इसीलिये इन्हें रसायन कहा जाता है। जो व्यक्ति विधिपूर्वक रसायनों का सेवन करता है वह केवल दीर्घायु ही नहीं प्राप्त करता अपितु देवर्षियों द्वारा प्राप्त गति एवं अक्षर ब्रह्म को भी प्राप्त करता है।

दीर्घमायुः स्मृति मेधामारोग्यं तरुण वयं ।
 प्रभावर्यं स्वरोदायं देहेन्द्रियवत्त्वं परम ॥
 वाक्सिद्धिं प्रणतिं कान्तिं लभते ना रसायनान् ।
 लाभोपायोऽहि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ॥

न केवलं दीर्घमितायुरश्नुते
 रसायनं यो विधिवन्निपेयते ।
 गतिं स देवर्पिनिपेयिता शुभा
 प्रपद्यते ब्रह्म तथेति चाक्षरम् ॥ (च० चि० १)

रसायन के दो स्वरूप होते हैं—आध्यात्मिक या आचार-सम्बन्धी तथा आधिभौतिक या विभिन्न औषधियों के योग । इनमें प्रथम को Metaphysical और दूसरे को Materialistic कह सकते हैं । इन दोनों में से कौन-सा कम उपयोगी और कौन-सा अधिक है, यह निर्णय देना कठिन है । फिर भी वैद्यक का आचार-रसायन सर्वोपरि है । उम्मी का पर्याय मदाचार या मदवृत्त नाम से स्वतन्त्रतया दिया जा रहा है । यह भी आयुर्वेद का एक विशेष अंग है जो अर्वाचीन जन-स्वास्थ्य-विज्ञान के लिये एक सर्वथा नया अध्याय हो सकता है ।

विशुद्ध आधिभौतिक दृष्टि से बहुत से रसायनों का उल्लेख ग्रन्थों में पाया जाता है । ऋतु के अनुसार तथा सम्पूर्ण वर्ष के अनुसार, आयु के अनुसार तथा विविध प्रकार के प्रयोजनों के अनुसार अनेक प्रकार के रसायन बताये गए हैं । उदाहरण के लिए यहाँ पर एक हरीतकी रसायन का उल्लेख किया जा रहा है ।

हरीतकी मनुष्यों के लिए माता के समान हितकारी है—माता तो कभी कुपित हो जाती है पर उदरस्थ हरीतकी कभी कुपित नहीं होती । ऋतु के अनुसार इसका सेवन ग्रीष्म में बराबर गुड, वर्षा में सेंधा नमक, शरद में स्वच्छ शकर, हेमन्त में सोंठ, शिशिर में पिप्पली एवं वसन्त ऋतु में मधु के साथ सेवन की गई हरीतकी को प्राप्त कर रोग नष्ट होते हैं ।

हरीतकी मनुष्याणां मातेव हितकारिणी ।
 कदाचित् कुप्यते माता नोदरस्था हरीतकी ॥ (भा० प्र०)
 ऋतावृतौ य एतेन विधिना वर्तते नरः ।
 घोरान्नुत्कृतान् रोगान्नाप्नोति स कदाचन ॥ (सु० ३.६४)
 ग्रीष्मे तुल्यगुडा सुसैन्धवयुतां मेघावनद्धाम्बरे
 सार्धं शर्करया शरद्वमलया शुण्ठ्या तुपारागमे ।
 पिप्पल्या शिशिरे वसन्तसमये क्षौद्रेण सयोजितां
 राजन् प्राप्य हरीतकीमिव रुजो नश्यन्ति ते शत्रवः ॥

सद्वृत्त

आयुर्वेद में सदाचार या सद्वृत्तों का बहुत अधिक महत्त्व जनस्वास्थ्य-संरक्षण की दृष्टि से दिया गया है। इनके अनुष्ठान या यथावत् पालन करने से न केवल आरोग्य की प्राप्ति होती है अपरञ्च इन्द्रियों पर आधिपत्य भी प्राप्त होता है जिससे व्यक्ति जितेन्द्रिय हो जाता है। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य तथा स्त्रियों के ऋतुकालीन सदाचार प्रभृति आधिभौतिक तथा आध्मात्मिक सद्वृत्त मनुष्य को पूर्ण बनाने का प्रयत्न करते हैं।

आयुर्वेद में कथित सद्वृत्त उसकी एक बहुत बड़ी आधारशिला या नींव है। इसमें विश्वजनीन, सभी जाति, सम्प्रदाय और धर्मों में गृहीत सदाचारों का उल्लेख है। संभव है उनमें कुछ ऐसे भी कर्त्तव्याकर्त्तव्यों का प्रसंग आया हो जिनकी औद्योगिक युग के परिवर्त्तनों के साथ मेल न खाये तथापि उनमें अधिकांश ग्रहण के योग्य ही हैं—‘जैसे सभी जीवों में दयार्द्र मनोवृत्ति, त्याग की भावना, शरीर-वाणी एवं मन की चंचलता का दमन तथा परोपकार में स्वार्थ की कल्पना (परोपकार को स्वार्थ समझना इतना ही पर्याप्त सदाचार है)’

आर्द्रसतानता त्याग कायवाक् चेतसा दमः।

स्वार्थबुद्धिः परार्थेषु पर्याप्तमिति सद्ब्रतम् ॥ (अ० हृ०)

अन्यान्य सदाचार

धर्मनिरपेक्ष, भौगोलिक सीमाओं से परे तथा सार्वभौम यह सिद्धान्त है। ऐसे ही ये सद्वृत्त समस्त प्राणियों के लिये सुखदाई, व्यक्ति को अनेक गुणों से प्रसिद्ध बनाने वाले, मनुष्यों को सदैव आरोग्य प्रदान करने वाले, उसे दीर्घायु अर्थात् शतजीवी (सौ वर्ष जीनेवाला बनाने वाले) तथा मरने के अनंतर उसे सन्तोष और सद्गति देनेवाले बतलाए गये हैं—

इति चरितमुपेतः सर्वजीवोपजीव्यम्,

प्रथितगुणगणौघो रक्षितो देवताभिः।

समधिकशतजीवी निर्वृतः पुण्यकर्मा,

ब्रजति सुगतिनिम्नो देहभेदेऽपि तुष्टिम् ॥ (वृद्धवाग्भट)

अतएव आत्मकल्याण चाहनेवाले सभी लोगों को सर्वदा स्मृतिपूर्वक सभी सद्वृत्त का पालन करना चाहिये। सद्वृत्त के साधनों से मन-शरीर और इन्द्रियों को प्रकृत (विकार रहित) अर्थात् व्यक्ति को स्वस्थ रखा जा सकता है। यही इन उपदेशों का अन्तिम लक्ष्य भी है—मनुष्य या समाज को स्वस्थ रखना। सत्तेप में इन सद्ब्रतों का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया जा सकता है—

१ साख्येन्द्रियार्थसंयोग—विभिन्न कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रियों (motor and

२ भि० भू०

Sense organs) का नन्तत कार्यों में उचित और अनुकूल मात्रा में लगाना ।

२ बुद्धि की सहायता से ठीक-ठीक विचार करने हुए कार्यों का सम्यक् रूप से प्रतिपादन करना ।

३ देश-काल और आत्मगुणों से विपरीत आहार-विलासदिकों का विधि-पूर्वक सेवन करना ।

आधुनिक प्रचलित सामाजिक स्वास्थ्य-विज्ञान में आयुर्वेदोक्त इन सद्वृत्तों का भी एक अभूत-पूर्व स्थान है । क्योंकि इस विज्ञान का भी चरम लक्ष्य आरोग्य, दीर्घायु तथा स्वास्थ्य-संरक्षण ही स्थिर किया गया है । सद्वृत्त का ही दूसरा नाम सामान्य धर्म है । इस सामान्य धर्म के अनुष्ठान में नुग और स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है ।

सभी प्राणियों की सभी प्रवृत्तियाँ सुख के लिए होती हैं और नुग विना धर्म के नहीं होता । इसलिए मनुष्य को धर्मपरायण होना चाहिये । हिंसा, चोरी, व्यर्थ कार्य, जुगलज्वोरी, कठोर भाषण, झूठ का प्रगटा करना, गुण में दोष का आरोप और यथार्थ का न देगना ये दम प्रकार के पाप कर्म हैं । इनको शरीर, मन और वाणी से निकाल देना चाहिये —

सुखार्थाः सर्वभूतानां मता सर्वान् प्रवृत्तयः ।

सुखं च न विना धर्मात् तस्माद्धर्मपरो भवेत् ॥

हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृते ।

संभिन्नालापव्यापादमभिध्याद्वा विपर्ययम् ॥

पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत् ॥ (वा०सू० ३)

पंचकर्म

(Five Operations)

आयुर्वेद की एक अन्यतम विशेषता उसके पंचकर्मों की है । इन पंचकर्मों का व्यक्ति या जनता के स्वास्थ्य की रक्षादृष्टि से उतना ही महत्व है जितना कि रोगी व्यक्ति का चिकित्सा में । पंचकर्मों की संख्या जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है—पाँच हैं । वमन (कै कराना), विरेचन (दस्त कराना), आस्थापन वस्ति (इनेमा के द्वारा आत्रों को स्वच्छ करना), अनुवासन (इनेमा के द्वारा गुदामार्ग से स्निग्ध पोषणों का पहुँचाना) तथा शिरोविरेचन (नस्य के द्वारा शिर और श्वसनमार्ग की शुद्धि करना) । इन पाँचों कर्मों के द्वारा रोग के उत्पादक दोषों या विषों का दूरीकरण सम्भव है—यदि दोष या विष शरीर से दूर हो जाय तो विकार स्वयमेव लुप्त हो जाता है और व्यक्ति और समाज स्वस्थ बनाया जा सकता है । पंचकर्म के पूर्व स्नेहन और स्वेदन का विधान है इन स्नेहन

और स्वेदन क्रियाओं का अन्तिम लक्ष्य व्यक्ति को कर्म के लिए तैयार करना है इसीलिए इन दो क्रियाओं का समावेश पूर्व-कर्म (Preparation) में हो जाता है। इन क्रियाओं से त्तोतस में लीन (चिपके हुए) दोष ढीले पड़ जाते हैं और बहिर्मुख हो जाते हैं फिर पंचकर्मों के द्वारा उनका निर्हरण सुविधापूर्वक किया जा सकता है। यदि दोष श्लेष्म-प्रधान है अर्थात् पचन-संस्थान के ऊपरी भाग में (आमाशयादि) अथवा श्वसनसंस्थान (फुफ्फुसादि) में है तो उसका निर्हरण वमन के द्वारा सम्भव है—इस प्रकार का विकार प्रायः शीत ऋतुओं के अनन्तर वसंत ऋतु में पाया जाता है। अतएव वसंत ऋतु में यदि व्यक्ति और समाज को स्वस्थ रखना है तो उसमें वमननामक-पंचकर्म के द्वारा क्रिया करके उन्हें रोगरहित किया जा सकता है।

विरेचन—पचन-संस्थान के अधोभाग का शोधन जिसमें प्रायः ज्वर प्रभृति पित्ताधिक्य के लक्षण उत्पन्न होते हैं। विरेचन क्रिया के द्वारा किया जा सकता है। इस प्रकार के रोगः प्रायः वर्षा ऋतु के अनन्तर शरद ऋतु में उत्पन्न होते हैं (मलेरिया आदि)। इसलिए व्यक्ति या समाज की रक्षा की दृष्टि से उनमें भविष्य में ज्वर प्रभृति रोग शरद ऋतु में न हो शरद ऋतु के प्रारम्भ में ही विरेचन करा देना चाहिए। वस्तियों का प्रयोग वायु के शमन में सर्वोत्तम माना गया है। प्रायः वायु के रोग ग्रीष्म ऋतु के बाद (गठिया, आमवात, वातरक्त आदि) वर्षा ऋतु में होते हैं। इस ऋतु में वस्तियों का बहुल प्रयोग से व्यक्ति या समाज को भविष्य में होने वाले वायु के रोगों से रक्षा की जा सकती है। पंचकर्मों के सम्बन्ध में सदा एक ही विशेष कर्म करना होगा ऐसा नियम नहीं है दोषों के निर्हरण के लिए कभी एक कर्म, कभी दो, क्वचित् तीन या पाँचों की भी आवश्यकता पड़ सकती है और वैद्य का कर्तव्य है कि वह व्यक्ति की अवस्था विशेष का विचार करते हुए जितने कर्मों की आवश्यकता प्रतीत हो उनसे शुद्धि करे।

कर्मणा कश्चिदेकेन द्वाभ्यां कश्चित् त्रिभिस्तथा ।

विकारः साध्यते कश्चित्तुर्भिरपि कर्मभिः ॥ (सु०)

वर्ष में तीन बड़ी ऋतुएँ बीतती हैं। इनमें हेमन्त ऋतु के दोष-संचय को वसंत में, ग्रीष्म ऋतु के दोष-संचय को वर्षा काल में एवं वर्षा के दोष-संचय को शरद ऋतु में भलीभाँति निकाल देने से व्यक्ति में ऋतुजनित विकार (Seasonal disease) नहीं होने पाते।

हेमन्तिकं दोषचयं वसन्ते प्रवाहयन् ग्रैष्मिकमभ्रकाले ।

घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक्प्राप्नोति रोगान्ऋतुजान्न जातु ॥ (च०)

इस प्रकार यह पंचकर्म का अध्याय भी आधुनिक जनस्वस्थवृत्त के लिए

एक अभिनव विषय है, और उसका भी समावेश आधुनिक विषयों में करना वैज्ञानिकों का कर्तव्य है।

आयुर्वेद की विशेषताओं के सम्बन्ध में अन्यान्य कई बातें उपस्थित की जा सकती हैं। भूमिका का कलेवर बहुत बृहद् न हो अतएव सन्धेप में कुछ एक विशेषताओं का उल्लेख विशेषतः स्वस्थवृत्त से सम्बद्ध वैशिष्ट्यों का कथन किया गया है। साथ ही यह भी ध्यान में रखा गया है कि कथन अधिक व्यावहारिक हो और उसका क्रियात्मक (Practical) रूप दिया जा सके।

आयुर्वेद के दूसरे प्रयोजन चिकित्सा के सम्बन्ध में भी विविध विशेषताओं का वर्णन स्वतन्त्र या विस्तृत रूप में किया जा सकता है। परन्तु इस स्थान पर उसकी कुछ एक विशेषता का प्रतिपादन करते हुए लेख की इति की जा रही है।

सिद्धान्तचतुष्टय

(Four Fold theory)

आयुर्वेद में की जाने वाली सम्पूर्ण क्रियाओं का सार या चिकित्सा का सारांश चार मौलिक सूत्रों में और पारिभाषिक शब्दों में आचार्य सुश्रुत ने दिया है—१. क्षीण हुए दोषों का बढ़ाना—यदि दोष या धातु क्षीण हो तो उनको बढ़ावे। मनुष्य के शरीर में रस-रक्तादि प्रभृति धातुओं की कमी, खनिज द्रव्यों की कमी, पोषण के अभाव में पोषक द्रव्यों या जीवित्तियों की कमी (Deficiency diseases due to lack of nutrition [Vitamins, protien, carbohydrates, fats & minerals or hormonal imbalance) हो तो उसे पूर्ति करना।

२. कुपित दोषों का प्रशमन करना—दोषों के कुपित होने से अथवा विषम-यता के कारण लक्षणों का शमन विभिन्न लाक्षणिक तथा विशिष्ट औषधियों के प्रयोग से Sedation or Palliative treatment either symptomatic or by chemo therapy का प्रयत्न करना। इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक चिकित्सा के संभार प्राचीनों की अपेक्षा उस वर्ण में अधिक उन्नत है।

३—बढ़े हुए दोषों का निर्हरण करना—बढ़े हुए दोषों का रेचन (Purging) या प्रक्षालन (Flushing of the system) करना चाहिये। संगोधन का उपक्रम आयुर्वेद में सर्वोपरि है—जिसका प्रसंग पंचकर्मों में आ चुका है।

४—यदि दोष और धातु समान या स्वस्थ मात्रा में हों तो उनका पालन करे—इसी निद्रात की रक्षा स्वस्थवृत्त नामक चिकित्सा विज्ञान के अंग से की जाती है। स्वास्थ्य-संरक्षण या स्वस्थ के स्वास्थ्य के पालन-हेतु बनाये रखने

के दो उपाय हैं—वैयक्तिक (Personal) तथा सामूहिक या सामाजिक (Public) इनमें वैयक्तिक आचारों का सर्वोत्तम उपदेश आयुर्वेद से प्राप्त होता है ।

दोषाः श्लेष्माः वृद्धयितव्या , कुपिताः प्रशमयितव्याः, वृद्धा निर्हर्तव्याः, समाः परिपाल्या इति सिद्धान्त । (सु० चि० ३३)

इन सिद्धान्त के अतिरिक्त तो चिकित्सा-जगत् में कुछ शेष रह नहीं जाता । इन सार्वभौम सिद्धान्तों में सभी तत्त्व सूत्र रूप में निहित हैं ।

तद्रूपता (Crudopathy)—आयुर्वेद में सौम्य तथा उग्र दोनों प्रकार के योग उपलब्ध होते हैं । सौम्य काष्ठौषधियों से प्रारम्भ करके, खनिज धातु-धातु, वानस्पतिक विषोषविष तथा विभिन्न जान्तव विष जिनमें साधारण गोरोचन और मत्स्यपित्त से लेकर उग्र से उग्र सर्पविष का भी प्रयोग होता है । फिर भी औषधि की सौम्यता, उसकी सुरुचिपूर्णता और सुस्वादुता के ऊपर वैद्यों का विशेष ध्यान रहता है ।

आयुर्वेद की औषधियों की सर्वाधिक विशेषता उनका तद्रूप (Crude form) प्रयोग है । चीनी, मिश्री प्रभृति संस्कृत (Refined) मिठाइयों के गूहते भी गुड की मिठास की भी आवश्यकता पड़ती है । आज के वैज्ञानिक 'क्रूड फार्म' में प्रयुक्त की जाने वाली औषधियों का उपहास करते हैं । उदाहरणार्थ एक सर्पगंधा का प्रयोग ले । सर्पगंधामूल सम्पूर्ण चूर्ण का प्रयोग कई शताब्दियों से वैद्य उन्माद और रक्तवात (Hypertension) आदि में करते चले आ रहे हैं जब से विश्व के आधुनिक वैज्ञानिकों को इस औषधि का पता चला निश्चय नये अनुसंधान चलने लगे । उन्होंने वैज्ञानिक शोधों के आधार पर कई क्षार-तत्त्वों (Alkaloids) का पता लगा लिया । पुनः उसमें उस विशिष्ट तत्त्व का भी पता लगाया जिसका सीधे उच्चरक्त-निपीड पर प्रभाव पड़ता है । इस तत्त्व की अल्पतम मात्रा कम से कम समय से निपीड को नीचे कर देती है । इस तत्त्व का नाम है Reserpine 'रिसर्पाइन' । २५ मि० ग्राम की एक गोली वह कार्य कर सकती है जो क्रूड सर्पगंधा का २ भागा चूर्ण भी नहीं कर पाता ।

गुण का वर्णन तो हो चुका अब जरा दूसरी दृष्टि से विचार करें तो उसमें गुणों की अपेक्षा दुर्गुण कई गुने बढ़े मिलते हैं । इसकी विपाक्तता बढ़ी तीव्र है । प्रयोग काल में मात्रा निर्धारण (Dosage) अवधि (Duration) रक्त-निपीडलेखन (Blood Pressure Recording) की आवश्यकता पड़े-पड़े पड़ती है । रोगी में लम्बे समय तक निरन्तर प्रयोग करने से जीवन से भी रोगी को हाथ धोना पड़ता है । परन्तु क्रूडफार्म में प्रयोग करने से न प्रयोग काल और न पश्चात् काल में ही किसी प्रकार की हानि की सम्भावना रहती

है। यही कारण है कि वैद्य क्या वैद्येतर वर्ग के लोग भी एक वगैरह औषधि के रूप में इसका प्रयोग सफलतापूर्वक करते हुये आरोग्य लाभ करते देखे जाते हैं।

काष्ठऔषधि के तद्रूप के व्यवहार से कई लाभ होते हैं—औषधि मॉस्य-स्वरूप की हो जाती है, उसकी विपाक्तता कम हो जाती है, प्रयोग काल में तथा अनन्तर काल में उपद्रवों की आशंका भी कम रहती है साथ ही औषधियों की आदत डालने वाला दोष (Habit forming) भी जाता रहता है। औषधि के प्राकृतिक रूप में प्रयोग से सबसे बड़ा लाभ उसकी विपाक्तता की कमी प्रतीत होती है। यदि अफीम के सम्पूर्ण पौड़े का सेवन किया जाय तो वह उतना विपाक्त नहीं होता जितना कि उसका वनीकृत रूप में प्राप्त दूध। सम्पूर्ण रूप में लेने से उस विष का प्रतिरोधी द्रव्य, जो प्रकृति में ही उसमें पूर्व से ही विद्यमान रहता है, मिल जाता है इसलिये विष-प्रभाव तीव्रस्वरूप का नहीं होता। इसी प्रकार अन्य विपाक्त वनस्पति-द्रव्यों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये।

प्राकृतिक रूप में औषधि के लेने का दूसरा अन्तर स्वाभाविक तथा कृत्रिम (Natural or synthetic) शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है। आधुनिक युग में वैज्ञानिक कृत्रिम चीजों की अपेक्षा प्राकृतिक चीजों के व्यवहार के पक्ष में अधिक है—विशेषतः जान्तव और वानस्पतिक द्रव्यों के सम्बन्ध में। प्राकृतिक विटामिन्स, हार्मोन्स, प्रोटीन्स आदि की महत्ता आज भी वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि को स्वीकार किया जाय तो आयुर्वेद की प्राकृतिक वानस्पतिक और जान्तव द्रव्यों से निर्मित योग निश्चित रूप से अधिक लाभप्रद और उपयोगी है। आँवले का सेवन करना हो तो प्राकृतिक आँवला या उसका कलक, स्वरस, फाण्ट, काय, अवलेह आदि सिन्थेटिक विटामिन 'सी' के बने योगों से कई गुने लाभप्रद होंगे। क्रूडफार्म में पाया जाने वाला विटामिन्स से भरपूर रहते हुए भोजन का भी प्रतिनिधि (Substitute) हो सकता है। सिन्थेटिक विटामिन्स केवल विटामिन्स की कमी को किसी प्रकार पूरा कर सकता है उसका भोजन में कोई मूल्य (Food Value) नहीं अंकित किया जा सकता।

जहाँ तक खनिज पदार्थों का आयुर्वेदीय औषधियों के रूप में प्रयोग होता है—वे क्रूड हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उनमें तो विभिन्न प्रकार के संस्कारों द्वारा संस्कृत, शोधन, मारण, जारण, निस्त्यीकरण प्रभृति क्रियाओं से शरीर ग्राह्य (Absorbable) तथा सेन्द्रिय (Organic) स्वरूप में ले आने का भगीरथ प्रयत्न किया जाता है। आयुर्वेद में व्यवहृत होनेवाली रसौषधियाँ संस्कृत और परिष्कृत होती हैं इसके विपरीत आधुनिक चिकित्सा में

व्यवहृत होने वाले लौह और उपलौह योग ही असंस्कृत या क्रूड रूप के होते हैं। यही कारण है कि आधुनिक युग का लौह विबंधकारक होता है, परन्तु आयुर्वेदिक पद्धति से सिद्ध लौह के योग रेचक।

गृह-चिकित्सा, गृह शल्यकर्म

(Home Medicine and House Hold Surgery)

उपर से बतलाया जा चुका है कि-व्यक्तिगत स्वस्थवृत्त के नियम प्रत्येक गृहस्थ के घर में अपना आवास बना लिये हैं। उसी प्रकार आयुर्वेद की काय-चिकित्सा में भी सब समय किसी विशेषज्ञ की आवश्यकता नहीं रहती। अपने निम्न की भोजन-सामग्री और मसालों के रूप में, पथ्यापथ्यों के विवेक के रूप में तथा सुने हुए उपदेशों के रूप में वह घरेलू चिकित्सा का रूप धारण कर चुकी है। न केवल काय-चिकित्सा के क्षेत्र में, शल्य-चिकित्सा के क्षेत्र में भी लघु-शल्य कर्मों (House hold surgery) के रूप में, वह आज भी व्यवहार में आ रही है। इस प्रकार अति प्रचलित और लोक-ज्ञान का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। आयुर्वेद-शास्त्र की अपेक्षा लोक को भी अपना गुरु मानते हुए संकोच नहीं करता। लोक ही सब कामों में बुद्धिमानों का आचार्य है। इसलिए सांसारिक विषयों में पुरुष लोक-प्रणाली का ही अनुसरण करे।

आचार्य. सर्वचेष्टासु लोक एव हि धीमतः।

अनुकुर्यात्तमेवातो लौकिकैर्ये परीक्षकः॥ (वा० सू० ३)

पथ्यापथ्य

(Dietetics)

* आयुर्वेद का यह अंग भी बड़ा ही अद्भुत है। रोगानुसार पथ्य या अपथ्य की विवेचना तो आधुनिक चिकित्सा का भी एक प्रमुख अंग बन रहा है। आहार-विहार सम्बन्धी नये विचारों की शोध जारी है। फिर भी एकान्ततः पथ्य, हिताहार, अहिताहार, विरोधी भोजन और विपमाशन आदि का आयुर्वेदीय वर्णन आज भी अपना स्वतन्त्र स्थान रखता है। सहस्रों वर्ष की परम्पराओं के अनुभव के अनन्तर प्रकाशित यह अनुभव सत्य है। मनुष्य शरीर के स्वस्थ रखने के लिए इनका भी ज्ञान परमावश्यक प्रतीत होता है। विरुद्धाशन से विविध प्रकार के रोग पैदा होते हैं। क्वचित् विरुद्धाशन का साक्षात् कुपरिणाम नहीं दिखायी पड़े तो उसमें हेतु व्यक्ति की दीक्षा, तरुणावस्था, सात्म्य और उसका शारीरिक बल एवं परिश्रम होता है जिससे विरोधी अन्न उसके लिए व्यर्थ हो जाते हैं और अहित नहीं करते। विरोधी अशन के सैकड़ों प्रसंग ग्रंथों में संगृहीत हैं। यहाँ पर एक प्रचलित उदाहरण मछली और दूध का एक ही साथ सेवन

का दिया जा रहा है। यह विरुद्धाशन है जन्ममें रोग पैदा होने की सम्भावना रहती है, परन्तु पाश्चात्य देशों में मछली और दूध के योग में बना स्वादु-भोज्य पदार्थ पाये जाते हैं। उन व्यक्तियों को उससे कोई हानि भी नहीं होती। इसका कारण क्या है। उत्तर ऊपर में बताया जा चुका है—युन बड़ी शक्तों में उसका उद्धरण दिया जा रहा है.—

सात्म्यतोऽल्पतया वापि दीप्राग्नेस्तरुणस्य च ।

स्नेहव्यायामवलिनो विरुद्ध वितथ भवेत् ॥

आयुर्वेद प्रगति का समर्थक

(Progressive)

आयुर्वेद रूढ़िवादी नहीं है। उसकी आधार-शिला मध्य, ममानन, विश्वजनीन या सार्वभौम सिद्धान्तों के ऊपर रखी गई है। वह मनुष्य में प्रगति का समर्थक रहा है। उसकी चिकित्सा की कुछ पद्धतियाँ काल-क्रम अवसोलीट (Obsolete) हो गई हैं, फिर भी वह सम्पूर्णतया अवसोलीट नहीं है। क्योंकि वह अतिप्राचीन काल से अर्थात् सभ्यता के आदिम काल से आज के युग तक किसी न किन्हीं रूप में समाज-सेवा करता आ रहा है। इतना ही नहीं उसमें युगानुरूप परिवर्तन भी होते आये हैं। यही कारण है कि अथर्ववेद के काल में जो चिकित्सा की पद्धति रही वह संहिता-काल (चरक-सुश्रुतादि) में नहीं रह पाई उसमें बहुत विकास हुआ, नये-नये रोगों का प्रवेश नई-नई औषधियों का, और निदान-चिकित्सा के नये-नये साधनों का अंतर्भाव किया गया। संहिता-काल में जो चिकित्सा की पद्धति रही परवर्ती युग में संग्रह-काल में वह नहीं रह पाई। उसमें निदान और चिकित्सा संबंधी आसूल परिवर्तन हुए। चिकित्सा के क्षेत्र में नये-नये योगों की कल्पना हुई। रस-विद्या ने पूरे शास्त्र पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। चिकित्सा केवल आध्यात्मिक योग, वानस्पतिक और जान्तव पदार्थों तक ही सीमित नहीं रह गया बल्कि खनिज पदार्थों का रसोपरस, लौहोपलौह, विषोपविषों का बहुलता से प्रयोग होने लगा। रसौषधियों के प्रवेश ने चिकित्सा जगत् में एक नया क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया। उसने त्रिदोषों के अंशांश कल्पना दुरुहता को भी धक्का दिया, अरुचिकर बड़ी मात्रा की काष्ठौषधियों का या उनसे निर्मित घृत, तैल, आसवारिष्ट, गुटिका आदि का उपहास करते हुए, अल्पतम मात्रा में प्रयुक्त होने वाली और शीघ्र लाभ पहुँचाने वाली रस योगों की व्यवस्था होने लगी.—

अल्पमात्रोपयोगित्वादरुचेरप्रसंगतः ।

क्षिप्रं च फलदायित्वादौषधिभ्योऽधिको रसः ।

परवर्त्ती वैद्यों को यूनानी चिकित्सा का सामना करना पड़ा। यूनानी चिकित्सा से कई नये-नये तत्त्वों का सार ग्रहण आयुर्वेदज्ञों ने किया, कई नई-नई औषधियों से जैसे चोपचीनी, पारसीक यवानी आदि के योगों से शास्त्र को अलंघन किया। पुनः बाद के युग में यूरोपियन संस्कृति के साथ वैद्यों का मुकाबिला पड़ा और उन्होंने कई एक नये रोगों, जिनका वर्णन उसके पूर्व के आयुर्वेदीय ग्रंथों में नहीं पाया जाता है, उनका प्रवेश अपने शास्त्रों में किया। जैसे फिरंग रोग (देखें भाव प्रकाश)।

फिरंग (Portuguese) देशविशेषार्थ में पुर्तगाल के लिये आया है क्योंकि सर्वप्रथम यही व्यापारी हिन्दुस्तान में व्यापार करने के निमित्त आये थे। बाद में फिरंग देश समग्र योरोप का बोधक हो गया। उसके देश में बहुलता से मिलने वाला या आधुनिक सभ्यता का रोग फिरंग नामक है जो फिरंगियों के सम्पर्क से अन्य लोगों में भी हो सकता है। फिरंगी स्त्रियों के अंग स्पर्श होने वाले इस रोग का नाम ही फिरंग रोग रख दिया गया जो आज 'सिफलिस' रोग का पर्यायवाची हो गया है :—

फिरंगसंज्ञके देशे बाहुल्येनैव यद्भवेत् ।
तस्मात् फिरंग इत्युक्तोः व्याधिर्व्याधिविशारदै ॥
गंधरोगः फिरंगोऽयं जायते देहिना ध्रुवम् ।
फिरंगिनोऽङ्गसंस्पर्शात् फिरंगिण्याः प्रसगतः ॥

फिरंग रोग की व्याख्या, हेतु, निदान, सम्प्राप्ति के अनन्तर उसके प्रभेद और उपद्रवों का विचार करते हुए चिकित्सा की भी सम्यक् व्यवस्था तत्कालीन शास्त्रकार को प्रती पड़ी थी।

कहने का तात्पर्य यह है कि आयुर्वेद का शास्त्र एक अत्यन्त व्यावहारिक (Practical) विद्या है इसको युगानुरूप शास्त्रकारों के करने की आवश्यकता सदैव पड़ती रही है। जैसा कि पूर्व की प्रतिज्ञाओं में प्रसंग आ चुका है यह अनादि, अनन्त और सनातन, सदा बने रहने वाले स्वरूप का है—इसलिये यह स्थिरात्मक (Static) न होकर गति-शील (Dynamic) है अर्थात् प्रगति का समर्थक है। आयु के हिताहित की दृष्टि से आयु के ज्ञान एवं प्राणी के नैरोग्य के लिए व्याधि के विचार से, निदान और शमन की दृष्टि से, प्राणिसात्र के दीर्घायुष्य की प्राप्ति की दृष्टि से जो कुछ भी ज्ञान है वह आयुर्वेद ही है :—

आयुर्हिताहितं व्याधेर्निदानं शमनं तथा ।
विद्यते यत्र विद्वभिः स आयुर्वेद उच्यते ॥
अनेन पुरुषो यस्मादायुर्विन्दति वेत्ति च ।
तस्मान्मुनिवरैरेव आयुर्वेद इति स्मृतः ॥

आयुर्वेदं पठिष्यामि नैरुज्याय शरीरिणाम् ।

इति निश्चित्य मतिमानात्रेयस्त्रिदशालयम् ॥ (भै० २०)

आचार्य चरक ने आयुर्वेद के विशाल और व्यापक क्षेत्र के प्रति अपना उदारता प्रतिदर्शित करते हुए लिखा है कि आयुर्वेदज्ञ को प्रत्येक औषधि (Drug) का मर्मज्ञ होना चाहिये । केवल नाम और रूप-ज्ञान से संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये । अपितु, उसके सम्बन्ध में यावतीय ज्ञातव्य बातों का गुण, रस, वीर्य, विपाक, देश के अनुसार एवं काल के अनुसार उनके प्रयोग की विधि, प्रति व्यक्ति की अनुकूलता के उपयोग की सभी दृष्टियों से विचार करने हुए प्रयोगज्ञ होना चाहिये । औषधि का ज्ञान यदि जंगली और अमन्य कहे जाने वाले भेड़ और बकरी चराने वाले आदमियों में भी हो जाय तो उसको ग्रहण करना चाहिये । वशतः कि वह उत्तम और उपादेय हो । ज्ञान अनन्त है उसकी सीमा नहीं । अन्ततोगत्वा आयुर्वेद का दो ही लक्ष्य रह जाता है । बढ़िया औषधि (Drug) तथा प्राणियों को नीरोग करना (Cure) । इनमें भेषज (Drug) वही उत्तम है जो नैरुज्य का सम्पादन कर सके । चिकित्सक (वैद्य) वही उत्तम है जो रोगी को रोग से मुक्त कर सके—

तदेव युक्तं भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते ।

च एव भिषजा श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत् ॥ (च० सू०)

इस उदार सिद्धांत में संकीर्णता का लेश भी नहीं । जब भेड़ और बकरी चराने वाले जंगली आदमी औषध के नाम और रूप ज्ञान कराने के लिए आयुर्वेद के गुरु बन सकते हैं तो क्या तथाकथित वैज्ञानिक चिकित्सा-पद्धति या सभ्य कहे जाने वाले देशों से प्रचारित और प्रसारित विज्ञान का आलोक अर्थात् आधुनिक चिकित्सा-पद्धति के आचार्य आयुर्वेद के गुरुपद या आचार्यपद को अलंकृत नहीं कर सकते हैं ? जरूर कर सकते हैं । यदि उनमें आचार्यत्व की क्षमता विद्यमान हो ।

जैसा कि ऊपर में निर्देश किया जा चुका है । आज का विज्ञान औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution) का परिणाम है । वह एकेक साधना में विश्वास नहीं करता उसके सम्मुख सदैव समूह, समाज, जनपद और देश का विचार है । वह एक विराट् प्रकाश के रूप में विद्यमान है । उसकी तुलना में आयुर्वेद का प्रोज्ज्वल दीप कुछ फीका लगता है । आज आयुर्वेद में उसके आचार्यों में यह क्षमता नहीं कि उसको साहसा आत्मसात् कर सके । परन्तु यह याद रखना चाहिये कि आयुर्वेद वह दीप है जो अपने में आत्मसात् करके ही छोड़ेगा । उसके लिए काल अपेक्षित है । काल बड़ा बलवान् होता है, परन्तु प्रतीक्षा तो करनी ही पड़ती है । भारतीय संस्कृति की यही विशेषता है कि

वह काल से विभिन्न विपरीत सभ्यता, संस्कृति और परम्पराओं का अपने से आत्मसात् करने में समर्थ रही है। इतिहास इस काल की साक्षी है, भारत की संस्कृति इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

आयुर्वेद का प्रथम पाठ

इन महान् आयुर्वेद का प्रथम पाठ ही आयुर्वेद के विकास की योजनाओं के माथ 'आयुर्वेदोत्पत्तिं व्याख्यास्याम' (सुश्रुत) से शुरू होता है। अथवा यों कहें कि दीर्घ जीवन प्राप्त करने के विचार से प्रारम्भ 'अथातो दीर्घजीवतीय-मन्यायं व्याख्यास्याम' (चरक) कहते हैं। इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ऋषियों को देवलोक तक की यात्रा करनी पड़ी थी—कितना दुष्कर कार्य था—

कि करोमि क गच्छामि कथं लोका निरामयाः।

भवन्ति सामयानेतात्र शक्नोमि निरीक्षितुम् ॥

दयालुरहमत्यर्थं स्वभावो दुरतिक्रमः।

एतेषां दुःखतो दुःखं ममापि हृदयेऽधिकम्।

इति निश्चित्य भगवानात्रेयस्त्रिदशालयम् ॥ (भै० १०)

आज के युग में दीर्घ जीवन के विकास की योजनाओं को लेकर देवलोक तक जाने की आवश्यकता नहीं है। इस लोक में आयुर्वेद का आनयन ऋषियों के द्वारा पूरा कर दिया गया है। इसके विकास के लिए भारत में ही क्वचित् भारतेतर देशों से बहुत सी सामग्रियाँ उपलब्ध हो जाती हैं। उससे इस आयुर्वेद को विकसित या अधिक समृद्ध कर सकते हैं। वह सामग्री क्या है? इसका उत्तर एक वाक्य में यही है कि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के साधनों को आत्मसात् करना, जो सम्प्रति बड़ा ही दुःसाध्य और कठिन प्रतीत होता है। दीर्घायुष्य का पाठ-ग्रहण आयुर्वेद का सर्वोपरि लक्ष्य है उसको छोड़ा नहीं जा सकता—समस्या जटिल, उसका समाधान और अधिक जटिल।

इस जटिल समस्या का सरल समाधान सामञ्जस्य में है। जिस प्रकार कुटी व्यवस्था और औद्योगीकरण दो विपरीत उपक्रमों का समाधान आधुनिक युग में देश के कर्णधार मनीषियों के द्वारा अपनाया जा रहा है। उसी प्रकार आयुर्वेदज्ञों को भी अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह अपेक्षित है। दोनों का प्रश्रय समान रूप से देना—औद्योगीकरण भी चलता रहे और हठपूर्वक कुटी-व्यवसायों की भी रक्षा की जाय, आयुर्वेद में नए-नए निदान और चिकित्सा के साधनों को अपनाते हुए हठपूर्वक दिव्य आयुर्वेद की रक्षा में तत्पर रहना चाहिए। आयुर्वेद, कुटी-व्यवसाय और सनातन धर्म की रक्षा आज तक इसी चल पर हुई है। 'जे हठि राखे धर्म को तेहि राखे करतार' महामना परम पूज्य स्वर्गीय पंडित मदनमोहन मालवीयजी का आदर्श ही इस विभीषिका से रक्षा कर

सकता है। 'प्रतीच्य-प्राचीच्य का मेल सुन्दर' यह रहा उनका आदर्श। इसी आदर्श को सामने रखकर आयुर्वेद का उत्थान या विकास संभव है। आज का आयुर्वेद एवं उनके ज्ञाता भी इसी आदर्श के पुजारी हैं। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं।

इसी उदार भावना से प्रेरित हो आधुनिक आयुर्वेद में जहाँ भी अपूर्णता प्रतीत हुई उसको आधुनिक चिकित्सा विज्ञान से पूर्ण करके अभिनव आयुर्वेद का जन्म होता है। इन अभिनव आयुर्वेदज्ञों को शास्त्रों के प्राचीन ज्ञान तथा आधुनिक विज्ञान के नवीनतम ज्ञान के सम्मिश्रण से उभयज्ञ बनाया जाता है।

आयुर्वेदज्ञ का प्राचीन स्वरूप

प्राचीन युग में चिकित्सा का कर्म एक पुण्य कर्म की दृष्टि से किया जाता था 'चिकित्सतात् पुण्यतमं न किञ्चित्।' कुछ सीमित क्षेत्रों में ही वह व्यवसाय के रूप में स्वीकृत किया गया है। यद्यपि वैद्यक विद्या की प्रशंसा अर्थकरी विद्या के रूप में पायी जाती है तथापि चिकित्सा का उद्देश्य कथमपि अर्थोपार्जन व्यवसाय के रूप में नहीं रहा जैसा कि निम्नलिखित वैद्य के गुणों से स्पष्ट है।

आदर्श भिषक्

गुरोरधीताखिलवैद्यविद्यः पीयूषपाणिः कुशलः क्रियासु।

गतस्पृहो धैर्यधरः कृपालुः शुद्धोऽधिकारी भिषगीदृशः स्यात्।

वैद्य—कुलीन, धार्मिक, कोमल स्वभाव वाला, सुरक्षित, सर्वदा सावधान, निर्लोभ, सज्जन, भक्त, कृतज्ञ, देखने में सुन्दर (प्रियदर्शन), क्रोध-रुद्ध-मद-ईर्ष्या-आलस्य आदि दोषों से रहित, जितेन्द्रिय, क्षमावान, पवित्र, शील और दया से युक्त, मेधावी, न थकने वाला, अनुरक्त, हितैषी, चतुर, समझदार, वैज्ञानिक, छलरहित और होशियार होना चाहिए।

कुलीन धार्मिकं स्निग्धं सुभृतं सततोत्थितम्।

अलुब्धमशक्तं भक्तं कृतज्ञं प्रियदर्शनम्॥

क्रोधपारुष्यमात्सर्यमदालस्यविवर्जितम्।

जितेन्द्रिय क्षमावन्तं शुचिशीलदयान्वितम्।

मेधाविनमसंश्रान्तमनुरक्तं हितैषिणम्॥

ये ऊँचे आदर्श हैं, इन आदर्शों का पालन करने वाला वैद्य व्यवसाय-बुद्धि से प्रेरित होकर अपने व्यवसाय में सफल नहीं हो सकता, क्योंकि उसके आदर्श

विशुद्ध सेवा की भावना से ओत-प्रोत है। इस प्रकार का वैद्य आर्तजनों की सेवा करता हुआ कृतार्थ हो सकता है।

वैद्यों के अन्यान्य आदर्शों का संग्रह विभिन्न आयुर्वेद ग्रंथों में वर्णित वैद्य की परिभाषाओं से किया जा सकता है। यहाँ पर एक और उदाहरण देकर वैद्य की समाजसेवा के उच्च आदर्शों का उदाहरण दिया जा रहा है।

आयुर्वेद में अभ्यासप्राप्त, प्रियदर्शन, युक्ति और कारणों का जानकार वैद्य कहलाता है। व्याधि का पूर्ण रूप से ज्ञाता, वेदना का निग्रह करने वाला, वैद्य ही वैद्य है, वैद्य जीवन का मालिक नहीं है।

आयुर्वेदकृताभ्यासः सर्वतः प्रियदर्शनः ।

युक्तिहेतुसमायुक्त एष वैद्योऽभिधीयते ॥ (क्षे० कु०)

व्याधेस्तत्त्वपरिज्ञान वेदनायाश्च निग्रहः ।

एतद्वैद्यस्य वैद्यत्व न वैद्यः प्रभुरायुष ॥ (यो० रे०)

यहाँ पर यह भी स्मरण रखना चाहिये कि चिकित्सा का कर्म निर्लोभ होकर करने हुए भी निष्फल नहीं होता। कही पर मित्रता पैदा हो जाती है, कही पर पैसा भी मिल जाता है, कही पर यश और सम्मान मिलता है, कही पर धर्म या पुण्य का कर्म सम्पन्न हो जाता है और कुछ भी न मिले तो कम से कम क्रियाभ्यास (Practical experience) तो निश्चित ही मिलता है, चिकित्सा क्वचिदपि निष्फल नहीं होती—

क्वचिदर्थः क्वचिन्मैत्री क्वचिद्धर्मो क्वचिद्यशः ।

क्रियाभ्यासः क्वचिच्चैव चिकित्सा नास्ति निष्फला ॥

आज का भिषक्

उपर्युक्त उन आदर्शों को ध्यान में रखते हुए आज का वैद्य अपने कार्यक्षेत्र में उतरता है। उसको आधुनिक युग के चिकित्सा-व्यवसाय के साथ प्रारम्भ से ही मुकाबला करना पड़ता है। प्राचीन युग के वैद्यादर्श (Medical ethics) जो मैत्री, करुण और आर्तजनों की सेवाभावना से दयार्द्र सिद्धांतों पर व्यवस्थित थे, उनको तिलाञ्जलि देनी पड़ती है और उसे भी आधुनिक चिकित्सा आदर्शों (Modern medical Ethics) को वाध्य होकर अपनाना पड़ता है। अन्तः के परिवर्तनों के साथ ही उसे बाह्य परिवर्तनों की भी आवश्यकता प्रतीत होती है, फलतः वह बाह्याडंबरों को भी अपनाना अपना कर्त्तव्य समझता है। यद्यपि उसका आन्तरिक उद्देश्य सदैव पुनीत रहता है फिर भी बाहर से वह एकाकारता को स्वीकार करते हुए वचन, कर्म, संज्ञा और परिधान वही ग्रहण करता है जो आधुनिक चिकित्सा जगत् के नियामक लोग।

आचार्यः सर्वचेष्टासु लोक एव हि धीमतः ।

अनुकुर्यात्तमेवातो लौकिकेऽर्थे परीक्षकः ॥ (वा० सू० २)

सांसारिक कार्यों में लोक ही सबसे बड़ा आचार्य होता है । लोक का अनुसरण करते हुए जो भी उत्तम आदर्श प्रतीत हो उसी का ग्रहण करना कल्याणकर होता है । यही लोक की माँग और आग्रह आधुनिकता की ओर हो तो वैद्य का भी कर्तव्य हो जाता है कि वह आधुनिक हो वने, आज का वैद्य उभयज्ञ होता है । उसको सम्पूर्ण प्राचीन शास्त्रों के ज्ञान के साथ ही साथ नवीनतम ज्ञान की शिक्षा भी मिलती रहती है, फलतः वह कुटी-व्यवसाय और उद्योगजनित उभयविध ज्ञानों का सामंजस्य स्थापित करने में समर्थ रहता है । वह यथावश्यक प्राचीन विधियों से या अर्वाचीन विधियों से स्वास्थ्य की रक्षा या रुग्ण मनुष्यों की चिकित्सा करने में समर्थ रहता है । उदाहरण के लिए ओपधि को शरीर के भीतर पहुँचाने के बहुत से नए-नए मार्ग आविष्कृत हैं । इनमें सूचीवेध के द्वारा ओपधियों का अन्तःप्रवेश लोक में बहुत प्रचलित है । जनता की माँग भी इस सम्बन्ध में बहुत है । यदि वैद्य इस सूचीवेध क्रियाओं से अनभिज्ञ रहे तो वह लोकानुरंजन नहीं कर सकता और चिकित्सा के व्यवसाय में भी सफल नहीं हो सकता । अतः वाध्य होकर उसे उस कार्य में प्रवृत्त होना पड़ता है । आचार्य वाग्भट ने लिखा है कि अर्थ, धर्म और काम से रहित कोई काम न आरम्भ करे उनका सेवन बिना किसी का विरोध किया करे । सभी धर्मों से ग्रन्थक पद पर मध्यम (बीचवाले) मार्ग का अनुसरण करे ।

त्रिवर्गशून्यं नारम्भं, भजेत्तज्जाविरोधयन् ।

अनुयायात्प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमाम् ॥

जैसा कि ऊपर में इंगित किया जा चुका है आधुनिक चिकित्सा एक व्यवसाय के रूप में प्रचलित है यदि चिकित्सा का अधोपार्जन ही एकमात्र लक्ष्य हो तो स्वाभाविक है वैद्य भी अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए व्यावसायिक ओपधियों को ही अपनावे । इन ओपधियों की प्रशंसा और काष्ठ ओपधियों की निन्दापरक बहुत सी परिहासोक्तियाँ पायी जाती हैं, जिनका ऊपर में उल्लेख भी हो चुका है । अब हम ओपधियों की निन्दा करने हुए और इक्षेकजन से प्रयुक्त ओपधियों की प्रशंसा में अपने एक मित्र की परिहासोक्ति प्रथार्थ प्रतीत होती है ।

अल्पसात्रोपयोगित्वादरुचेरप्रसंगत ।

क्षिप्रं च फलदायित्वात् सूचीवेधोऽधिको मतः ॥

भारतवर्ष एक विशाल देश है, इस देश से वेपथूपा की एक आकारता नहीं मिलती । आसाम प्रदेश के लिए जो एक सौम्यवेध है, पंजाब के लिए

वह उद्धत । इस प्रकार हिमालय का जो ग्राम्य वेश है वह मद्रास के लिए विदेशी । इसी तरह के अन्य भी उदाहरण दिए जा सकते हैं । ऐसी स्थिति में कौन-सा वैद्य वैद्यों का गणवेश (uniform) हो, यह भी एक समस्या है । आचार्य सुश्रुत ने इसका बड़ा सुन्दर समाधान किया है । उन्होंने वैद्य के सौम्य और अनुद्धत वेश की प्रशंसा की है । जो भी वेश जिस देश में अनुद्धत स्वरूप का हो उसे वैद्य को धारण करना चाहिए ।

‘छत्रेण, दण्डेन, सोपानत्केन, अनुद्धतवेशेन त्वया विशिखाऽनुप्रवेष्टव्या ।’

वैद्य को सम्पूर्ण साधन और सामग्री से सुसज्ज होना गुण माना गया है । आज का वैद्या निदान के कुछ सीमित साधनों तक ही अवरुद्ध नहीं है और उसे होना भी नहीं चाहिए । ब्रह्मिक रोग के निदान के साथ ही चिकित्सा के विभिन्न साधन और सामग्री का सम्भार उसके समक्ष रहना चाहिए । जिस प्रकार बाह्य साधनों में हमें आराम के भिन्न-भिन्न आविष्कृतनये उपायों की आवश्यकता पड़ती है और स्वीकार करते हुए हिचकत नहीं होती उसी प्रकार निदान और चिकित्सा के विभिन्न आविष्कृत साधन-सामग्री से सुसज्ज चिकित्सक का होना भी नितान्त आवश्यक है । यही कारण है कि आज का वैद्य इन नवीन साधनों से सम्पन्न पाया जाता है ।

पूर्ण चिकित्सक

यदि निष्पक्ष-दृष्टि से विचार किया जाय तो आधुनिक युग के निकले हुए आयुर्वेद विद्यालयों के स्नातक चिकित्सक की पूर्ण इकाई है, (Complete unit) क्योंकि आधुनिक विज्ञान का ज्ञाता कितना ही क्यों न हो जब तक उसको प्राचीन सस्कृत साहित्य में निहित ज्ञानराशि का सन्देश प्राप्त नहीं हो जाता वह अपूर्ण रहता है । प्राचीन और नवीन ज्ञान से युक्त व्यक्ति ही पूर्ण चिकित्सक (Complete physician) का गौरव प्राप्त कर सकता है और राष्ट्र के लिए ऐसे ही पूर्ण चिकित्सकों की आवश्यकता है । इन उभयज्ञ चिकित्सकों से जनता की पूरी सेवा सम्भव है ।

‘भिषक् चिकित्साज्ञानाम्’—चिकित्सा कर्म में प्रयुक्त होने वाले जितने भी साधनोपसाधन हैं, उनमें सर्वाधिक महत्त्व चिकित्सक का है । शल्य चिकित्सा में सब प्रकार के यन्त्रोपयंत्र, शस्त्रानुशस्त्र से सुसज्ज चिकित्सालय या आगार के रहने पर भी यदि चिकित्सक की कुशलता नहीं प्राप्त हो शल्य कर्म में सफलता नहीं मिलती है । कायचिकित्सा के क्षेत्र में भी यही स्थिति है । चिकित्सक या भिषक् का सबसे बड़ा गुण योजक होना माना गया है । ‘योगो वैद्यगुणानाम्’ सबसे उत्तम भिषक् वह है जो रोग और रोगी की

प्रकृति, देश, काल, साम्य, ऋतु, बलाबल और मात्रा आदि की सम्यक्नया विचार कर चिकित्सा की योजना सम्यक् रीति से करता है ।

‘तिष्ठत्युपरि युक्तिज्ञः’ ‘युक्तिश्च योजना या तु युज्यते ।’

यह युक्ति या हिकमत की दक्षता आसोपदेश तथा प्रत्यक्ष कर्माभ्यास से प्राप्त होती है ।

भिषक् कर्म—कर्म का स्वरूप क्रिया है । द्रव्यों की शरीर पर जो वमनादिक क्रिया होती है उसे कर्म कहते हैं । आयुर्वेद में अदृष्ट के लिये भी कर्म शब्द का प्रयोग हुआ है । इस लिये उसकी व्यावृत्ति के लिये यह लिखा गया है कि चिकित्सा में प्रयुज्यमान क्रिया को ही कर्म कहा जाता है । चेतन प्रयत्न से उत्पन्न चेष्टा व्यापार को भी कर्म कहते हैं । इसी का नाम प्रवृत्ति, क्रिया, कर्म, यत्न तथा कार्य-समारंभ है ।

वैशेषिक दर्शन में उत्क्षेपण-अपक्षेपण आदि व्यापारों को कर्म कहा गया है । वहाँ पर संयोग, विभाग और वेग कर्मजन्य बताया गया है । द्रव्यगुण शास्त्र में कर्म शब्द से द्रव्यों के वमनादि कर्म अभिप्रेत हैं । सुश्रुत ने भी वमन, विरेचन, टीपन, संग्रह आदि को औपध कर्म कहा है ।

आचार्य चरक ने बड़ी सुन्दर व्याख्या कर्म शब्द की की है । ‘जो संयोग और वियोग में स्वतंत्र (अनपेक्ष) कारण हो और द्रव्य में समवाय सवन्ध से रहता हो (द्रव्याश्रित) और फलावाप्ति के द्वारा लक्षित होता हो उसे कर्म कहते हैं ।’

‘संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम् । कर्तव्यस्य क्रियाकर्म कर्म नान्यदपेक्षते ।’ जिस प्रकार लोक में कोई संयोग-विभाग बिना कर्म के नहीं होता उसी प्रकार शरीर संयोग-विभाग (परिवर्त्तन) बिना कर्म के नहीं होता है । शरीर में इस प्रकार परिवर्त्तन या परिणाम उत्पन्न करते द्रव्यगत पदार्थ को कर्म कहते हैं । यह कर्म आपाततः अदृष्ट है, यह दिखलाई नहीं पड़ता केवल फल या परिणाम के द्वारा ही जाना जा सकता है । चरक के इस मत का समर्थन करते हुये पातंजल महाभाष्य की भी उक्ति मिलती है ।—

‘क्रिया नामेयमत्या परिदृष्टा न शक्या पिण्डीभूता निदर्शयितुम् ।’

कर्म के इन शास्त्रीय लक्षणों के पश्चात् अब चिकित्सा कर्म या भिषक् कर्म के लक्षणों का आख्यान किया जा रहा है ।

शरीर में धातुओं की स्थिति समान रहे उनमें विषमता न आने पावे, क्वचित् विषमता हो जावे तो पुन उसको समावस्था में लाने की क्रिया ही भिषक् कर्म है । दूसरे शब्दों में स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य को ठीक बनाये

रखना तथा विकृत हो जाने पर उसको पुनः स्वस्थ कर देना यही चिकित्सक का प्रधान व्यापार है। इस कार्य के सम्पादन में चिकित्सक को संशोधन, संशमन, आहार, आचारादि उपक्रमों को करना पड़ता है। तदनन्तर वह मानव को शारीरिक सुख और आयु को देने वाला होता है।

यद्यपि दोष-द्रव्य-संयोग एव दोष के विविध (संसर्ग) प्रकार के मिश्रणों से चिकित्सा कर्म भी अनेकविध होते हैं, तथापि मूल कर्म छः ही हैं—लंघन, वृंहण, रुक्षण, स्नेहन, स्वेदन और स्तभन। इन छः उपक्रमों में ही सभी कर्मों का अन्तर्भाव हो जाता है। जिस प्रकार दोषों की असह्य कल्पनादि के होते हुए भी उनकी तीन की संख्या नष्ट नहीं होती उसी प्रकार कर्मों का पट्त्व भी नहीं नष्ट होता है। यदि अधिक संक्षेप किया जाय तो वस्तुतः कर्म दो ही प्रकार के होते हैं—लंघन तथा वृंहण। इन दोनों में ही सर्व कर्म समाविष्ट हो जाते हैं। संक्षेप में चिकित्सा करते हुए भिषक् को इन्हीं कर्मों का आश्रय लेकर चलना होता है। इसी से वह रोगों के ऊपर विजय और अपने कार्य में सिद्धि प्राप्त करता है और भिषक् की सज्ञा से सुशोभित होता है।

इति पट् सर्वरोगाणां प्रोक्ताः सम्यगुपक्रमाः।

साध्यानां साधने सिद्धा मात्राकालानुरोधिनः ॥ (च० सू० २२)

अभिनव आयुर्वेद साहित्य एव प्रस्तुत रचना—कारण से कार्य का अनुमान लगाया जाता है। उभयञ्च भिषको की लिखी हुई रचना तथा उनसे निर्मित आयुर्वेद साहित्य भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है। अभिनव आयुर्वेदज्ञ एकाङ्गी नहीं होते। वे प्राचीन ज्ञान को आधुनिक विज्ञान के आलोक में देखने का प्रयत्न करते हैं। आधुनिक विषयों को जो प्रायः यूरोपीय या अंग्रेजी भाषा में हैं, प्राचीनोक्त शब्दों में उसकी व्याख्या करने तथा नवीन एवं प्राचीन में सामंजस्य स्थापित करने का स्तुत्य प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार पश्चिमी देशों से प्राप्त ज्ञान का स्वदेश में प्रचलित भाषा एवं लिपियों में आत्मसात् करने का सतत प्रयत्न अभिनव आयुर्वेद की रचनाओं में पाया जाता है। बहुत से ऐसे साहित्य का निर्माण हिन्दी भाषा में हो चुका है और भविष्य में भी होता रहेगा—ऐसा विश्वास है।

प्रस्तुत रचना विशुद्ध रूप से आयुर्वेदीय चिकित्सा विषय से सम्बद्ध है। इसमें पूरे विषय को पाँच खण्डों में विभाजित करके लिखने का प्रयत्न किया गया है। प्रथम खण्ड सामान्य रोग निदान के सूत्रों से सम्बद्ध है, दूसरा खण्ड चिकित्सा के बीजभूत सिद्धान्तों पर व्यवस्थित है, तीसरा खण्ड विविध पंचकर्मों के सामान्य ज्ञान तक सीमित है, चतुर्थ खण्ड रोगानुसार उनके सामान्य लक्षण, साध्यासाध्य-विवेक एवं चिकित्सा पर व्यवस्थित है और रचना

का पौंचर्वा खण्ड परिशिष्टाधिकार का है, जिसमें अवशिष्ट रोगों की चिकित्सा का आख्यान पाया जाता है ।

रोगों के प्रतिपेध लिखने में हम चान का प्रयास भरसक किया गया है— कि तद् तद् रोगों की चिकित्सा के उपक्रम (Line of Treatment or Therapy), फिर उन-उन रोगों में चलने वाले औषधीयों तथा योगों का पृथक् पृथक् (Single Drugs and Compounds) सुविचारित ढंग से प्रस्तुत किये जावें । इन विविध औषधियों या योगों में से किसी को मुख्य, हीन या अल्पवीर्य और कुछ को अधिक वीर्यवान् नहीं समझना चाहिये । ये सभी समान भाव से उपयोगी एवं कार्यक्षम हैं । रोगी तथा रोग के चल, दाय, सात्व्य, ऋतुः मात्रादि का विचार करते हुए किसी एक छोटें से छोटें योग का प्रयोग अल्प, मध्य या अधिक मात्रा में करते हुए पूर्ण चयन का भागी चिकित्सक बन सकता है । इस ग्रन्थ के सभी प्रयोग ज्ञान सम्मत हैं एवं अधिकतर या तो लेखक के अभ्यास में बहुत लाभप्रद अथवा विभिन्न परम्परा के चिकित्सकों के कर्म में अनुभूत एवं सफल हैं । रचना में बहुत सी औषधियों (एक-एक औषधि), औषधि (काष्ठौषधि या रस के योग) तथा भेषजों (आधितैविक तथा आध्यात्मिक उपक्रम) आख्यान हुआ है । ये सभी स्वतंत्रतया तथा समस्त रूप में नव-तद् रोगों में समान भाव से उपयोगी हैं । इस कथन का तात्पर्य यह है कि यह ग्रन्थ एक संग्रह (Collection) मात्र न होकर संचयन (Selection) के उपर व्यवस्थित है । इसमें चुन हुए औषधि योगों का ही चयन किया है । चयन के उपर व्यवस्थित होने के कारण पुस्तक के सिद्ध योगों की चिकित्सा कर्म में उपादेयता न्यतः सिद्ध है । इसी उपादेयता के विचार से ही पुस्तक का नामकरण 'भिषक्कर्ममिष्टि' किया गया है । फलितार्थ यह है कि इस एक पुस्तक का अनुसरण करके चिकित्सा करते हुए भिषक् या चिकित्सक को अपने चिकित्सा-कार्य में पूर्ण निष्ठि या सफलता प्राप्त हो सकती है ।

इसकी रचना में इस बात पर सतत ध्यान रखा गया है कि पुस्तक आयुर्वेद विद्यालयों के छात्रों तक क्रियाभ्यास करने वाले चिकित्सक के लिए समान भाव से उपयोगी हो सके ।

कृतज्ञता-प्रकाशन

इस ग्रंथ के लेखन का विचार बहुत दिनों से कल्पना में था । फलतः इसके विविध अध्याय विविध अवसरों पर लिखे गये हैं । उदाहरणार्थ प्रथम खण्ड का 'निदान पंचक' वाला अध्याय गवर्नमेण्ट आयुर्वेद कालेज पटना के संयोजित

च्याख्यान-माला के अवसर पर भूमिका का प्रारंभिक भाग 'नेशनल मेडिकल कान्फरेन्स' अलीगढ़ के अधिवेशन में विभागीय अध्यक्षीय भाषण के रूप में तथा पंचकर्म वाला भाग लेखमाला के रूप में प्रस्तुत हुआ था। शेषांश का पूरण भी आज से दो वर्ष पूर्व ही हो चुका था। पाण्डुलिपि का प्रकाशन होकर आज ग्रंथ सज्जन पाठकों के अनुरजन के लिये उनकी सेवा में अर्पित किया जा रहा है। गुरुकृपा तथा भगवान् भूतभावन विश्वनाथ तथा गौरी-नेदार की कृपा से भावमय कल्पना का मूर्त्त स्वरूप इस प्रकाशित रचना के रूप में देखने का अवसर प्राप्त हुआ है। एतदर्थ अपने इष्टदेवों के प्रति शतशः प्रणाम करते हुए उनसे पुनः याचना है कि इस रचना का 'भिषक्कर्मसिद्धि' नाम यथार्थ में सिद्ध करें।

ग्रंथ के प्रणयन में ऋषि एव मुनि-वचनों का आश्रय लेकर चलना पडा है साथ ही विभिन्न आचार्यों, ग्रंथकारों, विविध तद्विद्य विद्वानों, देव और देवियों से प्रत्यक्ष रूप में बहुत प्रकार की सहायता प्राप्त हुई है। इन सबों के प्रति प्राणित तथा आभार प्रदर्शन करना अपना एक पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ। अन्य उन नवीन प्राचीन ग्रंथकारों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए हर्ष हो रहा है जिनकी कृतियों का उद्धरण इस रचना में प्राप्त हो रहा है।

अंत में ग्रन्थ के मुद्रक एवं प्रकाशक के प्रति विशेषतः पं० ब्रह्मशंकर जी मिश्र तथा पं० रामचन्द्र जी झा के प्रति भी अपना हार्दिक उद्गार प्रकट करना उचित समझता हूँ जिन्होंने अपने अथक परिश्रम से ग्रन्थ को शृंगखलावद्ध करके सुन्दर रूप देने में स्तुत्य प्रयत्न किया है।

औषधञ्चौपधिर्भेषज टकितम्,
कापि हीन न वा वीर्यतश्चाधिकम्,
तत्स्वतन्त्रं समस्तं हित साधने,
कालसात्पर्यत्तुवीर्यैः कृतं योजितम्,
आगमैरात्मभ्यस्य वारान् बहून्,
यद् भिषक्कर्मसिद्धौ मया गुम्फितम्।

गुरुपूर्णिमा
सं० २०२० वै०

विनयावनत
श्रीरमानाथ 'द्विवेदी

प्राचीन मानों की मेट्रिक सिस्टम में परिवर्तन-तालिका

			ह	आ	पै	Kg	gr	M	gr.
६ अंगुली की	= १ त्रुटि	=							४३३
६ त्रुटि	= १ लिखा	=							७३
६ लिखा	= १ यूका	=							१३
६ यूका	= १ रज	=	$\frac{1}{3}$		पै०	=			$\frac{1}{3}$
६ रज	= १ सर्पप	=	$\frac{1}{2}$		पै०	=			३
६ सर्पप	= १ यव	=	$\frac{1}{4}$		पै०	=			२०
६ यव	= १ गुञ्जा	=	$\frac{1}{2}$		पै०	=			१२१
२ गुञ्जा	= १ निम्पावक	=	$\frac{1}{4}$		पै०	=			२४२
३ गुञ्जा	= १ मल्ल	=)		॥ पै०	=			३६४
६ गुञ्जा	= १ मापा	=	-)			=			७२९
२ मापा	= १ धरण	=	=)			=			१-४५=
२ धरण	= १ गाण	=)			=			२-११६
२ गाण	= १ वटक	=)			=			५-८३२
२ वटक	= १ तोला	=	१)			=			११-६६४
२ तोला	= १ शुक्ति	=	२))			=			२३-३२८
२ शुक्ति	= १ पल	=	४))			=			४६-६५६
२ पल	= १ प्रमृत्त	=	८))			=			९३-३१२
२ प्रमृत्त	= १ कुडव	=	S३१))			=			१८६-६२४
२ कुडव	= १ मानिका	=	S1२२))			=			३७३-२४८
२ मानिका	= १ प्रस्थ	=	S11४))			=			७४६-४९६
२ प्रस्थ	= १ शुभ	=	S१11३))			=			१, ४९२-९९२
२ शुभ	= १ आढक	=	S३३१))			=			२, ९८५-९८४
४ आढक	= १ द्रोण	=	15२11४))			=			११, ९४३-९३६
२ द्रोण	= १ मूर्प	=	115५11३))			=			२३, ८८७-८७२
२ मूर्प	= १ द्रोणी	=	१15१३१))			=			४७, ७७५-७४४
४ द्रोणी	= १ खारी	=	५3४11४))			=			१९१, १०२-९७६
१०० पल	= १ तुला	=	S५			=			४, ६६५-५३९
२००० पल	= १ भार	=	२115			=			९३३ १०७-८३२



विषय-सूची

प्रथम खण्ड : निदानपंचक

प्रथम अध्याय

१-१४

निदानपंचक-प्रयोजन, यदृच्छा, नियति, परिणाम, निदान-कथन-प्रयोजन, पूर्वरूपा-भिधान-प्रयोजन, पूर्वरूप ज्ञान का चिकित्सा में प्रयोजन, रूपाभिधान प्रयोजन, साध्यासाध्य विवेक, उपशय कथन का प्रयोजन, सम्प्राप्ति कथन प्रयोजन, अज्ञात-रूपना, व्याधि-बल, काल, निदानपंचक प्रसंग, निदानपंचक में विवेच्य विषय एवं उनका प्रयोजन ।

द्वितीय अध्याय

१५-८१

रोग का उत्पत्तिक्रम तथा क्रिया-काल, संचयावस्था या संचयकाल, प्रकोपावस्था, प्रसरावस्था, स्थानसंश्रयावस्था, व्यक्तावस्था, भेदावस्था, षड्विध परीक्षा, द्विविध या त्रिविध परीक्षा, अष्टविध परीक्षा, पंचविध परीक्षा, निदान निरुक्ति, निदान का निर्दुष्ट लक्षण, सेतिकर्तव्यताकः, हेतु भेद, विप्रकृष्ट, संचयकाल, व्यभिचारी, प्राधानिक, असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध, परिणाम, दोष हेतु, व्याधि हेतु, पूर्वरूपनिरुक्ति, सामान्य पूर्वरूप, विशिष्ट पूर्वरूप, रूप-लक्षण, रूप का निर्दुष्ट लक्षण, लिप्तकुम्भकारन्याय, अनुपशय, सम्प्राप्ति का निर्दुष्ट लक्षण, संख्या-सम्प्राप्ति, विकल्प सम्प्राप्ति, प्राधान्य, बलसम्प्राप्ति, कालसम्प्राप्ति ।

द्वितीय खण्ड : पञ्चकर्म

प्रथम अध्याय

८५-१२६

पञ्चकर्म, पञ्चकर्म का निषेध, लिङ्गिडपैराफीन, वसा, मज्जा, स्नेह व्यापद, अतियोग, अयोग, सम्यक् योग, प्रतिकार, स्नेह-विभ्रम, अस्नेह्य व्यक्ति, स्वेद-स्वेदन, संकर या पिण्ड स्वेद, नाडी स्वेद, कोष्ठ-स्वेद, उपनाह-स्वेद, प्रस्तर स्वेद, परिपेक-स्वेद, जेन्ताक-स्वेद, अशमघन स्वेद, कर्पू स्वेद, कुटी-स्वेद, कुम्भी स्वेद, कूप स्वेद, होलाक-स्वेद, अविवेच्य ।

द्वितीय अध्याय

१२६-१५७

वस्ति तथा वस्ति कर्म, वस्ति, नेत्र (नलिका), छिद्र, कर्णिका, वस्ति के दोष, आस्थापन, सिद्ध वस्ति, अनुवासन, थापना वस्ति, पिच्छा वस्ति, नस्य, शिरोविरेचन, प्रति मर्श, नस्य कर्म के भेद ।

तृतीय खण्ड : चिकित्सा बीज

प्रथम अध्याय

१६१-१७५

चिकित्सा, शाब्दिक व्युत्पत्ति, कायचिकित्सा, व्याधि का सामान्य हेतु, छ. उपक्रम, आहार, आचार ।

२ भि० सि० भू०

द्वितीय अध्याय

१७४-१८६

चिकित्सा के भेद, सत्त्वावजय, चिकित्सा के चतुष्पाद, साध्यासाध्य त्रिवेक, साध्यासाध्य के चार भेद, सुखसाध्य, कृच्छ्रसाध्य, याप्यरोग, चिकित्सा की महिमा ।

तृतीय अध्याय

१८६-१९२

वायु के गुण, पित्त के गुण, कफ के गुण ।

चतुर्थ खण्ड : विशिष्ट प्रतिषेध ज्वर प्रतिषेध**प्रथम अध्याय**

१९५-२१८

ज्वर के पूर्वरूप में उपक्रम, लंघन, लंघन के गुण, वमन, स्वेदन, पङ्क्त-पानीय, ज्वर में आहार, संतर्पण या फलरस, मांस रस, काल, कपाय का निषेध, मृदुञ्जय रस, हिंगुलेश्वर रस, गोदन्ती भस्म, रसादिवटी, त्रिभुवनकीर्ति रस, संजीवनी योग, अश्वकचुकी रस ।

द्वितीय अध्याय

२१८-२३१

तन्द्रिकसन्निपात, प्रलापक सन्निपात, रक्तछीची सन्निपात, भुगनेत्रचिकित्सा, जिह्वक सन्निपात, सधिक सन्निपात, अभिन्यास ज्वर, कंठकुब्ज सन्निपात, कर्णिक सन्निपात, चित्तभ्रम या चित्तविभ्रम सन्निपात, प्रचेतना गुटिका, रुग्दाह सन्निपात, अन्तक सन्निपात ।

तृतीय अध्याय

२३१-२४१

लघन का निषेध, अभिघातज ज्वर, अभिचार या अभिशापज-ज्वर, क्रोधज-ज्वर, काम-शोक-भय ज्वर, भूतज ज्वर, मानस ज्वर ।

चतुर्थ अध्याय

२४१-२४३

सौभाग्यवटी, कस्तूरी भैरव रस, वृहत् कस्तूरी भैरव रस ।

पंचम अध्याय

२४३-२४६

जार्ण ज्वर प्रतिषेध जीर्ण ज्वर में व्यवस्था पत्र ।

षष्ठ अध्याय

२४६-२५१

ज्वरातिसार प्रतिषेध, क्रियाक्रम, रसयोग चिकित्सा ।

सप्तम अध्याय

२५१-२७७

अतिसार प्रतिषेध, आमातिसार, भय-शोकातिसार, अगस्ति सूतराज, ग्रहणीरोग प्रतिषेध, आमावस्या में उपक्रम, पक्षावस्था में क्रियाक्रम, साक्ष-चिकित्सा, वृद्ध गगाधर चूर्ण, नायिका चूर्ण, ग्रहणी कपाट रस, पर्पटी के योग,

पंचामृत पर्पटी, ताम्र पर्पटी, निरञ्ज चिकित्सा-पथ्य, पर्पटी प्रयोग विधि, ससर्जन क्रम ।

आठवाँ अध्याय

२७८-२९१

अर्शोऽरोग प्रतिपेध, अर्श रोग मे तक्र, शुष्कार्श मे भेषज, वाह्य या स्थानिक प्रयोग, नेक, धूपन, उपनाह, गुदवर्ति, पिचुधारण, जलौका, पिच्छावस्ति, काढ्यायन मोदक, श्री बाहुशाल गुड ।

नवाँ अध्याय

१६१-३०६

अग्निमान्द्य-प्रतिपेध, भास्कर लवण, अग्निकुमार रस, रामबाण रस, क्रव्याद रस, अत्यग्नि चिकित्सा, अजीर्ण प्रतिपेध, आमार्जीर्ण प्रतिपेध, विदग्धा-जीर्ण-प्रतिपेध, चारराज, कुवेराद्यादि वटी, विलम्बिका तथा अलसक प्रतिपेध-क्रियाक्रम, विसूचीप्रतिपेध-क्रियाक्रम, अजीर्णकटक रस, सजीवनी वटी, विसूची भञ्जन वटी, विसूची विध्वसन रस, खल्ली, मूत्रावसाद ।

दसवाँ अध्याय

३०६-३३१

कृमिर्गोग-प्रतिपेध, मलज, रलेप्पमज, पुरीपज, आमार्शयात्र कृमि, अकुशमुख कृमि, गण्डूपद कृमि, स्फीत कृमि, सूत्रकृमि या तन्तु कृमि, प्रतोद कृमि, श्लीपद कृमि, भद्रसुस्तादि कषाय, विडङ्गादि चूर्ण, कृमिमुद्गर रस, पाण्डु तथा कामला प्रतिपेध, व्योपादि घृत फल त्रिकादि कषाय मण्डूर वटक, पुनर्नवादि मण्डूर, नवायस लौह, निशालौह, योगराज, कामला प्रतिपेध, सामान्य या कोष्ठाश्रया कामला, आरोग्यवर्धिनी वटी, शाखाश्रित कामला प्रतिपेध, कुम्भकामला-प्रतिपेध, हलीमक-प्रतिपेध ।

ग्यारहवाँ अध्याय

३३१-३४३

रक्तपित्त प्रतिपेध, ऊर्ध्वग, अधोग, उभयग, अधोग रक्तपित्त, सशमन, मंशमनोपचार, वासा स्वरम, नासागत रक्तपित्त, उशीरादि चूर्ण, एलादि गुटिका, कुप्माण्ड खण्ड, रक्तपित्त-कुलकण्डनरस, सुधानिधि रस, चन्द्रकला रस ।

बारहवाँ अध्याय

३४४-३६२

राज यक्ष्मा प्रतिपेध, अनुलोम, प्रतिलोम, चतुर्विध हेतु, त्रिविरूप, शोधन निपेध, राजयक्ष्मा मे पथ्य, अपथ्य, मासाहार, वहिर्मार्जन, जीवन्त्यादि उत्सादन, अजा पंचक घृत, दशमूलादि कषाय, अश्वगन्धादि कषाय, कर्पूराद्य चूर्ण, सितोपलादि चूर्ण, वासावलेह बृहत्, च्यवनप्राश, द्वाचारिष्ट महामृगाङ्ग रस, चन्दनबलालाद्यादि तैल ।

तेरहवाँ अध्याय

३६२-३७३

कास रोग प्रतिपेध, अपराजित लेह, भाङ्गर्यादि लेह, दशमूली घृत, कण्ट-कार्यवलेह, बलादि काथ, इच्चादिलेह, कटकार्यादिकषाय, समशर्कर चूर्ण, बृहत्

लवङ्गादिवटी, अगस्त्यहरीतकी, विभीतकावलेह, करवीर योग, पृष्ठादि वटी, भागोत्तर गुटिका, नागवल्लभ रस ।

चौदहवाँ अध्याय

३७४-३८८

हिक्का-श्वास-प्रतिषेध, हिक्काद्वलेह, शंखचूल रस, हरिद्रादिलेह, टामरेश्वराश्र, महाश्वासारि लौह, श्वास कुठार रस, नागार्जुनाश्र रस, कनकासव, सोम कल्प ।

पन्द्रहवाँ अध्याय

३८८-३९३

स्वरभेद-प्रतिषेध, निदिग्धिकावलेह, किन्नरकंठ रस ।

सोलहवाँ अध्याय

३९३-३९६

अरोचक प्रतिषेध, सुधानिधि रस ।

सत्रहवाँ अध्याय

३९६-४०३

छर्दि-प्रतिषेध, एलादि चूर्ण, रसादि या पारदादिचूर्ण, वामनामृत योग, छर्दिरिपु, लाजमण्ड ।

अठारहवाँ अध्याय

४०४-४०६

तृष्णारोग प्रतिषेध, अपथ्य, वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, क्षतोत्थित, क्षयोत्थित भक्तोद्भव ।

उन्नीसवाँ अध्याय

४०६-४१४

मूर्च्छा-भ्रम-अनिद्रा-तन्द्रा-संन्यास प्रतिषेध, कौम्भ सर्पि, प्रवालपिष्टि योग, मूर्च्छान्तक रस ।

बीसवाँ अध्याय

४१४-४१८

मदात्यय प्रतिषेध, तीव्र मदात्यय, जीर्ण मदात्यय, ध्वंसक, विक्षेप, वातज, मदात्यय, पित्तज मदात्यय, त्रिदोषज, अष्टाङ्ग लवण, एलादि मोदक ।

इक्कीसवाँ अध्याय

४१६-४२३

दाह प्रतिषेध, मद्यज, पित्तज, तृष्णानिरोधज, रक्तपूर्ण, कोष्ठज, क्षतज, धातुक्षयज, मर्माभिघातज, प्रदेह या लेप, क्वाथ पर्पटादि, कपाय धान्यक हिम, कुङ्कुमादि वटी ।

बाइसवाँ अध्याय

४२३-४४४

भूत विद्या, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितृग्रह, नाग, ग्रह, पिशाच, बालग्रह सख्या, भूतोन्माद की विशेषता, देवजुष्टोन्माद, देवशत्रुजुष्ट, गन्धर्व ग्रह पीडित उन्मत्त, यक्षाविष्ट, पितृजुष्ट, सर्पग्रहजुष्ट, राक्षस-ग्रह जुष्ट, पिशाच ग्रहजुष्ट उन्माद, कृष्णाद्यंजन, मरिचाद्यंजन, महाधूप, महापैशाच-घृत, भूतभैरव रस, ब्राह्म सत्त्व, आर्षसत्त्व, ऐन्द्रसत्त्व, याम्यसत्त्व, वारुणसत्त्व, कौबेरसत्त्व, गान्धर्वसत्त्व,

राजस अंश के सत्त्व-भेद, आसुरसत्त्व, राक्षससत्त्व, पैशाचसत्त्व, सार्पसत्त्व या नागसत्त्व, प्रेतसत्त्व, शाकुन सत्त्व तामस सत्त्व के भेद, पाशव सत्त्व, मात्स्य सत्त्व, वानस्पत्य सत्त्व, एकीयमत ।

तेइसवाँ अध्याय

४४५-४५२

उन्माद गेग प्रतिषेध, सारस्वत चूर्ण, सर्पगन्धा घनवटी, उन्माद-गजकेशरी रस, चतुर्भुज रस, क्षीरकल्याण घृत, चैतस घृत, शिवा तैल ।

चौबीसवाँ अध्याय

४५३-४५६

अपस्मार प्रतिषेध, अपस्मार, वातकुलान्तक रस, स्मृतिसागर रस, अतत्वा-भिनिवेश ।

पच्चीसवाँ अध्याय

४६०-४६१

वात-व्याधि प्रतिषेध, शाल्वण स्वेद, वातहापोटली, माषबलादि तैल, सिद्धार्थक तैल, महाराज प्रसारणी तैल, नारायण तैल, विष्णु तैल, विषगर्भ तैल, पचगुण तैल, छागलाद्य घृत, षड्धरण योग, महारासनादि कषाय, रसोन पिण्ड, त्रयोदशाङ्ग गुग्गुलु, अमृत भल्लातक, नारसिंह चूर्ण, पंचामृत लौह गुग्गुलु, वातगजाङ्कुश, बृहद्वातचिन्तामणि रस, रसरज, योगेन्द्र रस, त्रैलोक्य चिन्तामणि रस, नवग्रह रस, मल्ल सिन्दुर, गृध्रसी-प्रतिषेध, अर्दित, खञ्जनकारि रस, मकरमुष्टि योग, कम्पवात, विजय-भैरव तैल ।

छब्बीसवाँ अध्याय

४६२-४६८

वातरक्त प्रतिषेध, सिरावेध, लघुमंजिष्ठादि कषाय, निम्बादि चूर्ण, गोक्षुरादि गुग्गुलु, सर्वेश्वर रस ।

सत्ताइसवाँ अध्याय

४६९-५०२

उरुस्तम्भ-प्रतिषेध, अष्टकटवर तैल, गुजाभद्र रस ।

अठ्ठाइसवाँ अध्याय

६०२-५१०

आमवात-प्रतिषेध, पचसम चूर्ण, वैश्वानर चूर्ण, आमवातारि गुग्गुलु, सिंहनाद गुग्गुलु, आमवातारि रस, महाविषगर्भ तैल ।

उन्तीसवाँ अध्याय

५१०-५२४

शूल प्रतिषेध, कुबेराक्षादि वटी, पंचकोलादि चूर्ण, एरण्ड सप्तक कषाय, हिम्वादि चूर्ण, तिलादिगुटिका, नारिकेल लवण, शूलवर्जिनी वटी, त्रिगुणाख्य रस, सप्तामृत लौह, तारा मण्डूर, विद्याधराभ्र रस, नारिकेलखण्ड, चारराज, धात्र्यरिष्ट ।

तीसवाँ अध्याय

५२४-५३१

उदावर्त तथा आनाह प्रतिषेध, आनाह, आनाह तथा उदावर्त में योग, पुरीषोदावर्त तथा आनाह में योग ।

इक्तीसवाँ अध्याय

५३२-५३६

गुल्म प्रतिषेध, गुल्म रोग में सामान्य क्रियाक्रम, विविष्ट क्रियाक्रम, गुल्म में भेषज ।

वत्तीसवाँ अध्याय

५४०-५४७

हृद्रोग प्रतिषेध, सामान्य चिकित्सा ।

तैत्तीसवाँ अध्याय

५४७-५६०

सूत्रकृच्छ्र, सूत्राघात तथा अश्मरी एवं शर्करा प्रतिषेध, तेरह प्रकार के सूत्राघात, सूत्रकृच्छ्र-सूत्राघात तथा अश्मरी प्रतिषेध, भेषज, उपयोग, सामान्य योग, अश्मरीहर कषाय, पूय-मेह प्रतिषेध ।

चौत्तीसवाँ अध्याय

५६१-५८०

प्रमेह प्रतिषेध, सामान्य दोष दूष्य तथा मेहों के भेद. असाध्य कुलज रोग, प्रमेह में सामान्य क्रियाक्रम, प्रमेहघ्न सामान्य औषधियाँ, दोषानुसार तथा प्रमेह भेदानुसार विविष्ट क्रियाक्रम, औषधि-कषाय-स्वरस, उपयोग, स्वाग्निक शुक्रजय या स्वप्नदोष ।

पैंतीसवाँ अध्याय

५८०-५८४

मेदोरोग प्रतिषेध, मेदोरोग में क्रिया सूत्र ।

छत्तीसवाँ अध्याय

५८४-६०१

उदर रोग प्रतिषेध, जलोदर या दकोदर, उदर रोग में सामान्य प्रतिषेध, प्लीहोदर में ओषधि, उपयोग, जलोदर प्रतिषेध में सर्पविष का प्रयोग ।

सैंतीसवाँ अध्याय

६०२-६११

शोथरोग प्रतिषेध, शोफ की सम्प्राप्ति, शोथ रोग में सामान्य लक्षण, शोथ रोग में दोषनिरपेक्ष सामान्य औषधियाँ ।

अड़तीसवाँ अध्याय

६११-६१६

श्लीपद प्रतिषेध, लेप एवं स्वेद, रक्तावसेचन या शोणित मोक्षण ।

उन्तालीसवाँ अध्याय

६१६-६४१

कुष्ठरोग प्रतिषेध, कुष्ठ के प्रकार, सामान्य लक्षण, अन्तःप्रयोज्य रक्त-शोधक या कुष्ठनाशन औषधियाँ, धात्री और खदिर का काथ, गुडूची, निम्ब, गोमूत्र, तुवरक, तुवरक तेल का मुख में प्रयोग की विधि, भस्मातक, मससम योग, सुधोदन, किरान, गोरखमुण्डी, पाताल गरुडी, काष्ठोदुम्बर, कुष्ठारियोग, कुष्ठनाशन रत्न, शुद्ध गन्धक, सौगन्धिक चूर्ण, गन्धक रसायन-निर्माण विधि, मद्य-न्यादि चूर्ण, नागिवादि हिम, मंजिष्ठादि काय (लघु), महा मजिष्ठादि या बृहद् मंजिष्ठादि कषाय, पंचनिम्ब चूर्ण, खदिरारिष्ट, कुष्ठ में घृत-प्रयोग, महातिक्त घृत,

पंचतित्त घृत, सोमराजी घृत, पंचतित्त घृत गुग्गुलु, अमृतभस्मातक, धातवीय योग, तालकेश्वर रस, रसमाणिक्य, ब्रह्मरस, गलत्कुष्ठारिरस, त्र्यंश्वर रस, आरोग्यवर्धिनी, कुष्ठ मे बाह्य प्रयोग, मनःशिलादिलेप, करञ्जादि लेप, आरग्व-
धादिलेप, भस्मातकादि लेप, चक्रमर्दादि लेप, दद्रुघ्नवटी, पामा मे लेप, रसादिलेप,
सिध्म या सेहुँवा में लेप, कुष्ठ रोग में व्यवहृत होने वाले तैल, अर्क तैल, करवीर
तैल, कृष्ण मर्प तैल, मरिचादि तैल, सोमराजी तैल, तुवरकाष्ठ तैल, श्वेतकुष्ठ
चिकित्सा, गुजाफलचित्रकलेप, ओष्ठ-श्वित्रहरलेप, पचानन तैल, आरग्वधाद्य तैल,
श्वित्रकुष्ठ मे अन्त-प्रयोग की औषध, श्वेतारिरस, सर्जरसादिलेप, जीवन्त्यादि
लेप, मधूच्छिष्टादि लेप ।

चालीसवाँ अध्याय

६४१-६४६

शीतपित्त-प्रतिषेध, रोगपरिचय, अमृतादि कषाय, मधुयष्ट्यादि कषाय,
हरिद्रा खण्ड, विश्वेश्वर रस, बाह्य प्रयोग, सिद्धार्थ लेप, दूर्वादि लेप, चारजल,
दार्वा तैल, कोठ-रोग मे क्रियाक्रम, शीतपित्तादि मे पथ्यापथ्य ।

इकतालिसवाँ अध्याय

६४६-६५३

अम्लपित्त प्रतिषेध, रोग परिचय, साध्यसाधता, क्रियाक्रम, पथ्यापथ्य,
वासादशाङ्ग कषाय, द्राक्षादि चूर्ण, अविपत्तिकर चूर्ण, द्राक्षादि गुटिका, नारिकेल
खण्ड, खण्डकुम्माण्डावलेह, सौभाग्य शुटी, नारायण घृत, धान्यरिष्ट, सूतशेखर
रस, लीलाविलास रस, अम्लपित्तान्तक लौह, सितामण्डूर ।

बयालिसवाँ अध्याय

६५३-६७६

वाजीकरण, निरुक्ति, वाजीकरण के गुण या फल, वाजीकरण के विषय,
वाजीकरण के अनाव मे टोप, ब्रह्मचर्य तथा वाजीकरण, वाजीकरण तथा
सन्तानोत्पत्ति, सामान्य वाजीकर द्रव्य, वाजीकर या वृष्य द्रव्य, नाना वृष्य
औषधियाँ, वृष्य वातावरण, वाजीकर औषधि की प्रयोग विधि, वाजीकरण में
अपथ्य वाजीकरण योग, कामदीपक चाण्डालिनी योग, आभिष प्रयोग, अपत्य-
कर स्वरम, कमलाक्षादि चूर्ण, वानरी गुटिका, श्री मदनानन्द मोदक, महा-
चन्दनादि तैल, भस्मातक तैल, वसायोग, करभवारुणी मूल, दशमूलरिष्ट, मृत-
संजीवनी सुरा, नारसिंह चूर्ण, आन्त्रपाक या खण्डाम्रक, वीर्यस्तम्भकर योग,
कामिनी विद्रावण रस, वीर्य स्तम्भ वटी, वृष्य रसौषधि योग, पुष्पधन्वा रस,
कामिनी दर्पण रस, मन्मथाश्र रस, चन्द्रोदय रस, चन्द्रोदय मकरध्वज (स्वल्प),
मकरमुष्टि योग, अश्वगन्धा घृत या कामदेव घृत ।

तैतालिसवाँ अध्याय

६७६-७०३

रसायन, शाब्दिक-व्युत्पत्ति, परिभाषा, भेषजाभेषज, रसायन गुण, दिव्यौ-
षधियों अथवा रसायनों का अवतरण, रसायन का आलोचनात्मक विवेचन,

रसायन के प्रकार, कुटी प्रावेशिक विधि, अशुद्ध शरीर में रसायन प्रयोग निष्फल, सौर्यमारुतिक विधि, आचार रसायन, रसायन सेवन की आयु, आमल की रसायन, हरीतकी रसायन, त्रिफला लौह रसायन, रसायन औषधियाँ, सरल रसायन सेवन के योग, मेधावृद्धिकर रसायन, भृङ्गराज रसायन, अश्वगन्धा रसायन, तिल रसायन, नागबला रसायन, पलाशबीज रसायन, पुनर्नवा रसायन, वृद्ध-दारुक रसायन, वाराहीकंद रसायन, चित्रक रसायन, हरीतकी रसायन, अमृतादि रसायन, गुडूच्यादि रसायन योग, ब्राह्मी रसायन, त्रिफला रसायन, पिप्पली रसायन, शतावरी घृत, वचा रसायन, आमलकी स्वरस, सोमराजी रसायन, रसोन रसायन, विडङ्ग रसायन-विडङ्गावलेह, भस्मातक रसायन, गुग्गुलु रसायन जिलाजतु रसायन, गंधक रसायन, सुवर्ण रसायन, पंचारविन्द रसायन, अन्य रस योग, रसायन पथ्य, मज्जतैल रसायन ।

पंचम खण्ड : परिशिष्ट

परिशिष्टाध्याय

७०७-७२९

वृद्धिरोग प्रतिपेध, वृषण वृद्धि या अण्डकोष शोथ चिकित्सा क्रम, गलगण्ड, अमृताद्य तैल, गण्डमाला-अपची प्रतिपेध, काचनार गुग्गुलु व्रण-शोथ विद्रधि एवं व्रण प्रतिपेध, शिशु, दशाङ्ग लेप, व्रणशोधन, अनन्तमूल रोपण, जात्यादि तैल, अधःपुष्पी, सद्योव्रण, नाडीव्रण, उदुम्बर सार, गुण एवं उपयोग, अग्निदग्ध व्रणलेप, भग्न, अस्थिसंहारादि चूर्ण, भग्नन्दर, नवकार्षिक गुग्गुलु, विसर्प, मसूरिका, निम्बादि कषाय, पटोलादि कषाय, उपदश-फिरग, अकरी, पाददारी, युवानपिडिका-मुखदूषिका, व्यंग (झाई) अरुषिका (रूसी), इन्द्रलुप्त, नापित-कण्डू, शय्यासूत्र, लोमशातन (केश गिराने के उपाय), अलस (अंगुलियों का सडना), मुख-पाक, जात्यादि कषाय, तुण्डिकेरी चलदन्त (दाँतों का हिलना), दाँतों में पानी लगना, दशनसस्कार चूर्ण, वज्रदत्त मजन, इरिमेदादि तैल, कर्णशूल, कर्णस्त्राव दुष्ट प्रतिश्याय या जीर्ण नासारोग, या अपीनस, चित्रक हरीतकी, व्याघ्री तैल, नेत्राभिष्यद, फुल्लिका द्रव, नेत्रविन्दु, चन्द्रोदया वस्ति, त्रिफलाद्य घृत, सप्तामृत लौह, त्रिफला चूर्ण, अवर्ण शुक्र, शिरशूल, शिरशूलादि वज्र, पथ्यापडङ्ग कषाय, गोदन्ती भस्म पङ्क्ति-तैल, रजःकृच्छ्र, रजोत्पत्ता, रजावरोध, रजःप्रवृत्तिनी चटी, कुमार्यासव, रक्तप्रदर तथा योनिव्यापद, सिद्धामृत योग, दार्व्यादि कषाय, पुण्यानुग चूर्ण, अशोकारिष्ट, फल घृत द्रव्य तथा निर्माण विधि, सूतिका रोग, दशमूल काथ, सूतिका दशमूल काथ, दशमूलारिष्ट, बाल रोग, बालचातुर्भद्रिका, लाचादि तैल, दाडिमचतुःसम, महागन्धक, अष्टमगल घृत बालशोष, वृश्चिक दश, सर्पदश, विषों में प्रतिविष, अपस्मार, सूच्छ्रा, आमवात, मापादि मोदक, अधोग रक्तपित्त, रक्तशोधक कषाय, औषध सेवन काल, आचार्यपरम्परा प्रशस्ति ।

॥ श्रीः ॥

भिषक्कर्म-सिद्धि

प्रथम खण्ड : निदानपंचक



प्रथम अध्याय

निदानपंचक प्रयोजन

‘निदानपंचक’ का विषय बड़ा ही गहन है। इसके भीतर जिज्ञासु जितना प्रविष्ट होता है, उतना ही उलझता जाता है। कई नामों से इस विषय की वैद्य-परम्परा में प्रसिद्धि है, जैसे—‘निदानपंचक’, ‘पचनिदान’, ‘पचलक्षण’ ‘पचलक्षणी’ आदि। माधवनिदान के पाठ में यह वैद्यपरम्पराओं में एक कठिन स्थल माना जाता है। इसकी कठिनता का अनुमान निम्नलिखित कहानी से लगाया जा सकता है।

पुराने जमाने में वैद्यक के विद्यालय नहीं होते थे। अधिकांश छात्र गुरुओं के घर पर ही रहकर विद्याभ्यास किया करते थे। ढाका के कविराज का एक प्रसिद्ध गुरुपीठ था। बहुत से छात्र वहाँ विद्याभ्यास करते और विद्या-समाप्ति के अनन्तर देश के विभिन्न स्थानों में जाकर अपनी वृत्ति या चिकित्सा-व्यवसाय किया करते थे। एक बार गुरु जी अपनी वृद्धावस्था में तीर्थ-यात्रा को निकले। कलकत्ते में काली-दर्शन करते जाते समय उनकी दृष्टि एक बड़े ‘साइन बोर्ड’ पर पड़ी जिसमें उनका नाम अंकित था। उन्होंने अनुमान लगाया कि यहाँ अपना कोई शिष्य कविराज होगा। दर्शन करके जब लौटे तो उस कविराज के स्थान पर गये। गुरुजी ने शिष्य को नहीं पहचाना, परन्तु शिष्य ने उन्हें तत्काल पहचान लिया। उनका बड़ा आदर किया, सत्कारपूर्वक अपने आसन पर बैठाया और उस दिन की सम्पूर्ण आय गुरु की सेवा में अर्पित की। गुरुजी के अनेक शिष्य थे उन्होंने इस शिष्य से पूछा ‘भाई मैंने तुमको पहचाना नहीं, तुम कब और कितनी अवधि तक मेरी पाठशाला में रहे।’ शिष्य ने उत्तर दिया कि गुरुजी मने कुल पाँच ही दिनों तक आप के

पास रह कर विद्या पाई है। निदान-पचक के कुल पांच दिनों के पाठ में ही मैं तृप्त हो गया और विषय की दुस्वृत्ता के भय से मैं छोटकर चला आया था 'देखि सरासन गवहि सिधारे।' गुरु ने इस कथन से शिष्य के पाण्डित्य की याह ले ली, समझा यह पूर्ण कार्य-कुशल है, क्रियाम्यान में, चतुर होने में उसका चिकित्सानैपुण्य और यश इतना व्यापक है, परन्तु ज्ञान-ज्ञान अधूरा है। इसके अधूरे ज्ञान को आज पूरा कर दूँ। अन्त में गुरु ने अपनी प्रगल्भ मुद्रा व्यक्त करते हुए कहा कि 'शिष्य मैं आज तुम्हारे ऊपर बहुत प्रमत्त हूँ यदि तुम्हें कही शास्त्र में गका हो तो पूछो आज मैं तुम्हारा सभी शकाओं को निवृत्त कर दूँगा।' शिष्य ने कहा—'गुरुजी मुझे केवल आपका प्रमाद एवं आशीर्वाद चाहिये मुझे केवल आपके पांच दिनों के पटाये पाठ में ही गका है—उसके अतिरिक्त या शेष में मुझे कही भी शका नहीं है—और नि सगय हूँ।'।

इस कहानी से 'पचनिदान' विषय की दुस्वृत्ता स्पष्ट हो जाती है। विषय की दुरवगम्यता के अतिरिक्त इस कथन का एक दूसरा कारण यह भी है, कि यह विषय अधिक शास्त्रीय एवं कम व्यावहारिक है। 'प्रीविटम' के 'फीटड' में पच निदान का स्थूल ज्ञान जैसे, निदान के माने कारण (Etiology), पूर्वरूप का अर्थ अव्यक्त लक्षण, जो भावी रोग का सूचक हो (Premonitory signs or Prodiomata), रूप का अर्थ रोग का व्यक्त लक्षण (Symptomatology), सम्प्राप्ति का मतलब रोगोत्पत्ति की विधि (Pathogenesis) और उपशय का भाव उपशयात्मक निदान (Therapeutic test) जान लेना ही पर्याप्त है। चिकित्सक को व्यावहारिक क्षेत्र में इससे अधिक जानने की आवश्यकता नहीं रहती, वह अपना कार्य सुचारु रूप से कर लेता है। ठीक भी है—'आम खाने से काम गुलठी गिनने से क्या फायदा।'।

फिर भी इस विषय का विमर्श आयुर्वेद शास्त्र में अपना एक विनिष्ट स्थान रखता है। जैसे सम्पूर्ण उपनिषदों का नवनीत 'श्रीमद्भगवद्गीता' मानी जाती है उसी प्रकार 'निदानपचक' को आयुर्वेद शास्त्र का नवनीत कहे तो अत्युक्ति नहीं होगी। इसमें 'गागर में सागर' भरी उक्ति चरितार्थ होती है। कुछ सीमित पृष्ठों में आचार्य तथा टीकाकारों ने मिलकर गूढ़ तत्त्वों का सन्निवेश एक स्थान पर पचनिदान नामक व्याख्या के रूप में कर रखा है। आयुर्वेद के रोग, निदान तथा चिकित्सा सम्बन्धी बहुविध सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं विवेचना इस पचनिदान में पाई जाती है। एतदर्थ ही श्री माधवकर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है 'सर्वेद्यों को अपनी चिकित्सा में उत्तम सिद्धि प्राप्त करने के लिये यत्नपूर्वक इस पचनिदान विषय को जानना चाहिये—

तस्माद्यत्नेन सदैवैरिच्छद्भिः सिद्धिमुत्तमाम् ।

ज्ञातव्य वक्ष्यते योऽयं ज्वरादीनां विनिश्चयः ॥ (मा नि. १)

वह तो रही पचनिदान विषय की सरल या सामान्य ढंग से की गई व्याख्या की दुरवगम्यता । यह दुरूहता आज के युग में और भी जटिल हो जाती है । आज युग बदल गया है, प्रत्येक विषय को तर्क एवं वितर्क के आधार पर प्रमाणित करने की आवश्यकता प्रतीत होती है । प्राचीन पाठशालाक्रम के अनुसार शिक्षण या पाठनविधि के द्वारा जिज्ञासु विद्यार्थियों का सतोप नहीं कराया जा सकता । जिज्ञासुओं में श्रद्धा या एकनिष्ठता का भाव प्राचीनों की अपेक्षा कम होता जा रहा है । शिक्षण की आधार-शिला प्राचीन युग में आचार-शिला थी । आज आचार-शिला की दृढ़ता न गुरु में रह गई है और न शिष्य में ही । आप्त प्रामाण्य का भी इस युग में कोई महत्त्व नहीं रह गया है । अब तो केवल प्रत्यक्ष प्रमाण एवं तर्क के आधार पर (Reasoning) ही सारी व्यवस्था निर्भर है—कब, क्यों और कैसे ? का युग है । अब ग्रन्थप्रधान पाठन-शैली को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करना न अध्यापक के ही पक्ष में श्रेयस्कर है और न छात्र को ही सतोपप्रद रहता है । ऐसी परिस्थिति में 'निदानपचक' विषय की व्याख्या अधिक विषम हो जाती है । उदाहरण के लिये निम्नलिखित श्लोक को ले—

हितं ह्यानां लवणं प्रशस्तं जलं गजानां ज्वलनं गवाञ्च ।

हरीतकी श्रेष्ठतमा नराणां चिकित्सिते पंकजयोनिराह ॥

(हरीत सहिता)

यह एक आर्प वाक्य है । इसको स्वीकार करके आगे बढ़ा जावे, इसका भाषान्तर या शाब्दिक व्याख्या कर दी जावे और छात्र का परितोष हो जावे ऐसी अवस्था आज नहीं है । अब तो चाहिये इस सूत्र की तात्त्विक व्याख्या अथवा आधुनिक विज्ञान के आलोक में इसका पर्यवेक्षण, जिसके आधार पर छात्रों या जिज्ञासुओं को सतोप कराया जा सके । वैज्ञानिक युग के नव जागरण का स्वाभाविक लक्ष्य भी यही होना चाहिये ।

प्राचीन मनीषी भी इस बात को स्वीकार करते थे कि दूसरे शास्त्र जिनमें अमूर्ततत्त्वों की विवेचना शास्त्रीय तर्कों के आधार पर की जाती है वे बुद्धि के विलास मात्र हैं, परन्तु ज्योतिष, आयुर्वेद तथा तन्त्रशास्त्र ये अत्यन्त व्यावहारिक ज्ञान हैं, इनमें पद-पद पर ज्ञाता की बुद्धि की परीक्षा होती है और पद-पद पर शास्त्र के प्रत्यय या विश्वास का भरसा रखना पड़ता है—

अन्यानि शास्त्राणि विनोदमात्रं प्रत्यक्षमात्रेऽभिनिवेशभाजाम् ।

चिकित्सितज्योतिमतन्त्रवादा पदे पदे प्रत्ययमावहन्ति ॥

तथापि वैद्यक ग्रन्थो मे गूढ नत्त्वो को व्याख्या मे जड़ बुद्धिवाद या त्रिगुण तर्क का बल नहीं चलता है तब तत्रकार स्वभाव, ईश्वर, काल, यदृच्छा, नियति अथवा परिणाम की दुहाई देता हुआ अग्रसर होता है। मूल्यबुद्धि छात्रों की जिज्ञासा तो इससे नृप्त हो जाती है, परन्तु गूढमग्राही को वितृष्णा या यमन नहीं होता। वह क्या और कैसे ? वाले प्रश्नों की जड़ी लगा देता है। व्याख्याकार को भी प्रायः झुजलाहट हो जाती है।

स्वभावमीश्वर कालं यदृच्छा नियतिं तथा ।

परिणामञ्च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः ॥

उदाहरणार्थ कुछ एक सूत्रों का उद्धरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है। मथुराचार्य ने गारीम्यान को प्रथम अध्याय में प्रकृति में सृष्टि और उपायों में लय का वर्णन करते हुए स्वभाव को हेतु बतलाते हुए कई रहस्यों का उद्घाटन किया है—

सन्निवेशः शरीराणां दन्वाना पतनं तथा ।

तलेष्वसभवो यश्च रोम्णामेतत् स्वभावनः ॥

धातुषु क्षीयमाणेषु वर्धते द्वाविमौ मदा ।

स्वभावं प्रकृतिं कृत्वा नखकेशादिति स्थितिः ॥

निद्राहेतुः तमः सत्त्वं बोधने हेतुस्त्वयते ।

स्वभाव एव वा हेतुर्गरीयान् परिर्कीर्त्यते ॥

स्वभावाल्लघवो मुद्रास्तथा लग्नकविजलाः ।

स्वभावाद् गुरवो माया वाराहमहिषादयः ॥

बुद्धचरित में कवि अश्वघोष ने भी स्वभाव से प्रवृत्ति का वर्णन किया है—

कः कंटकम्य प्रकरोति तैर्लघ्यं विचित्रभावं भृगपक्षिणा वा ।

स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामकारोऽस्य कुतः प्रयत्नः ॥

स्वभाव के स्थान पर ईश्वर का भी व्यवहार पाया जाता है। जिस रहस्य की व्याख्या संभव नहीं रहती, ईश्वर के मिर मड कर तत्रकार को मतौप करना पड़ता है। श्रुति का भी वचन है कि सम्पूर्ण जगत की जनयित्री प्रकृति का अधिष्ठान कर ईश्वर ही सम्पूर्ण जगत की सृष्टि करता है—

अस्मान् सायी सृजते विश्वमेतन् ।

सायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥

अस्यावयवभूतेषु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।

कुतः केशान् कुतः स्त्रावः कुतः अस्थीन्यारभन् ॥

अङ्गपर्वाणि सञ्जानं को मासं कुत आरभन् ।

जाठरो भगवानग्निः ईश्वरोऽन्नस्य पाचकः ॥

बहुत से रहस्यो का उद्घाटन न होने पर ईश्वर के स्थान पर काल का ग्रहण शास्त्रकारो ने किया है 'कालो हि भगवान् स्वयम्भू' 'कालो हि सर्वभूतानां विपरिणामहेतु' 'कालयतीति सर्वेषां परिणामं नयतीति कालः ।' 'ससूक्ष्ममपि कला न लीयत इति कालः ।' 'कलनात् सर्वभूतानामिति कालः ।' इत्यादि काल शब्द की व्याख्याये पाई जाती है । काल की महत्ता बतलाते हुए आचार्यों ने लिखा है कि यह काल सम्पूर्ण जगत का जन्य एव जनक कारण है—

कालः सृजति भूतानि कालः सहर्तते प्रजाः ।

कालः सुप्तेषु जागर्ति तस्मात् कालस्तु कारणम् ॥

न सोरित प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते ।

कलनः सर्वभूतानां स कालः परिकीर्तितः ॥

जन्यानां जनकः कालः । (श्रुति)

कालकारित परिमाणो को लक्ष्य करके महाभारत में कहा गया है —

न कर्मणा लभ्यते चेज्यया च नाप्यस्ति दाता पुरुषस्य कश्चित् ।

पर्याययोगाद् विहितं विधात्रा कालेन सर्वं लभते मनुष्यः ॥

न बुद्धिशास्त्राध्ययनेन शक्यं प्राप्तं विशेषं मनुजैरकालम् ।

मूर्खोपि चाप्नोति कदाचिदर्थान् कालो हि कार्यं प्रति निर्विशेषः ॥

नाभूतिकालेषु फलं ददन्ति शिल्पानि मंत्राश्च तथौषधानि ।

तान्येव काले तु समाहितानि सिद्ध्यन्ति वर्धन्ति च भूतिकाले ॥

कालेन शीताः प्रवहन्ति वाताः कालेन वृष्टिर्जलदानुमैति ।

कालेन पद्मोत्पलवज्जलञ्च कालेन पुष्पन्ति वनेषु वृक्षाः ॥

कालेन कृष्णाश्च सिताश्च रात्र्यः कालेन चन्द्रः परिपूर्णविम्बः ।

नाकालतः पुष्पफलं द्रुमाणां नाकालवेगा सरितो वहन्ति ॥

नाकालमत्ताः खगपन्नगाश्च मृगद्विपाः शैलमृगाश्च लोके ।

नाकालतः स्त्रीषु भवन्ति गर्भा नायान्त्यकाले शिशिरोष्णवर्षाः ॥

नाकालतो म्रियते जायते वा नाकालता व्याहरते च बालः ।

नाकालतो यौवनमभ्युपैति नाकालतो रोहति बीजगुप्तम् ॥

नाकालतो भानुरुपैति योगं नाकालतोऽस्तङ्गिरिमभ्युपैति ।

नाकालतो वर्धते हीयते च चन्द्रः समुद्रोऽपि महोर्मिशाली ॥

अशनं शयनं यानमुत्थानं पानभोजनम् ।

नियतं सर्वभूतानां कालेन हि भवन्त्युत ॥

वैद्याश्चाप्यातुराः सन्ति बलवन्तश्च दुर्बलाः ।

श्रीमन्तश्चापरे पण्डा विचित्रा कालपर्यया ॥

(महाभारत राजधर्म २५)

यदृच्छा—(Occasional or Accidental) अर्थात् या आकस्मिक ढंग से किसी वस्तु का आविर्भाव या तिरोभाव होना यदृच्छा कहलाता है। इसमें ईश्वर न कर्त्ता है, न अकर्त्ता, किन्तु अपनी मत्ता मात्र में मत्ताद्भुत के तरंगों की भाँति अवतिष्ठित है। यद्यपि इस जगत का व्यापार बिना किसी प्रयत्न के ही निष्पन्न होता रहता है तथापि अगन् के नाश या अगम्यद्भुत के नाश यदृच्छा का कोई सम्बन्ध नहीं रहता, मत् की ही उत्पत्ति यदृच्छा में होती है—

असत्त्वे नास्ति सम्बन्ध कारणे सत्त्वमाद्भिः ।

असम्बद्धम्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः ॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥

नियति—अब रही नियति, वह कौन सी वस्तु है। उल्लेख के निवधमग्रह नामक सुश्रुत की टीका में लिखा है—‘नियतिस्तु धर्माधर्मा’ इति। नैत्तिगोपनिषद् (२।१) में लिखा है—‘प्रलय के अनन्तर प्राणियों के कल्याण चाहने वाले परमेश्वर ने सर्वलोक पितामह को प्रजा की मृष्टि के लिये नियुक्त किया। उनकी मृष्टि करने के हेतु सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश में वायु, फिर अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से ओषधियाँ और अन्त में पुष्प की मृष्टि हुई।’ ब्रह्मा ने इन पुरुषों के कर्म-विपाक का जाँचकर अपने-अपने कामना रूप धर्माधर्म के माध्यम उन्हें सयुक्त किया। यही विधि निवध या नियति कही जाती है। अस्तु, नियतिका अर्थ होता है अविषम पाप-पुण्य के फल की प्राप्ति—नियतिविषम-पापपुण्यफलमिति।’

परिणाम—रूपान्तरप्राप्ति। यह कालवश प्रकृति का अन्यथा होना ही है। चरक ने लिखा है—‘काल पुनः परिणाम इति, स च परिणामस्त्रिविधः धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम, अवस्थापरिणामश्चेति।’ धर्मपरिणाम में पूर्व धर्म की पूर्ण निवृत्ति होकर दूसरे धर्म की उत्पत्ति हो जाती है, जैसे—मिट्टी रूप धर्म का घट रूप में परिवर्तन। लक्षण परिणाम का अर्थ होता है—कार्य रूप धर्म की विभिन्न अवस्थायें (Stages)। घट का अनागत रहना प्रथमावस्था, वर्तमान रहना द्वितीयावस्था तथा अतीत होना तृतीयावस्था लक्षणपरिणाम की होती है। फिर इसी घट का क्षण-क्षण में नयेपन का पुरानेपन में बदलना अवस्था-परिणाम कहलाता है। वैद्यक ग्रंथों ने स्थूल दृष्टि से प्रकृति में ही परिणाम बतलाया है, परन्तु वस्तुतः साध्याचार्यों के अनुसार परिणाम प्रकृति में नहीं, प्रत्युक्त प्रकृति के गुणों में होता है।

इस प्रकार गूढ़ तत्त्वों की व्याख्या प्रचीनों ने ‘स्वभावमीश्वर काल यदृच्छा नियतिम्’ आदि शब्दों में की है। आधुनिक युग के विज्ञानवेत्ता इस रहस्य के

उद्घाटन में सतत प्रयत्नशील है। बहुत स्थलो का रहस्योद्घाटन एक सीमा तक हो भी गया है—अब भी बहुत से रहस्य शेष हैं। तथापि विज्ञान के आलोक में प्रत्येक वस्तु का दिग्दर्शन कराना, अध्यात्म एवं आधिदैविक तत्त्वों का आधिभौतिक रूप देना आज के युग में अध्यापकों का कर्तव्य है। जिज्ञासु छात्रों का परितोष करना भी तभी संभव हो सकता है। 'आपरितोष विदुषा न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।'।

आज के युग में बहुत से रहस्यों की गुत्थियों का सुलझाना, उनका आधिभौतिक रूप देना तथा उनको भौतिक विज्ञान, रसायन और गणित सिद्धान्तों में खरा उतारना हमलोगों का लक्ष्य हो गया है। यह वैद्यक सिद्धान्त के अनुकूल भी है। क्योंकि चिकित्सा-विद्या की नितान्त व्यावहारिक कला है—चिकित्सा शास्त्र के सम्पूर्ण ज्ञातव्य का उपयोग एकमात्र चिकित्सा कर्म के लिये ही है—फलत आधिभौतिक तत्त्वों से आगे की चिकित्सा शास्त्र में अपेक्षा नहीं है, जैसा कि सुश्रुत ने लिखा है—

तस्योपयोगोऽभिहित चिकित्सा प्रति सर्वदा ।

भूतेभ्यो हि पर यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते ॥

गीता में लिखा है कि किसी भी विषय के सम्यक्तया ज्ञान प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम श्रद्धा उत्पन्न होनी चाहिये। श्रद्धा के अनन्तर दूसरी आवश्यकता इन्द्रिय-संयम की पड़ती है। इस क्रिया के द्वारा जब मनुष्य अपने सम्पूर्ण मन को अन्य विषयों से हटाकर एकाग्र चित्त होकर विशिष्ट विषय के ज्ञान साधन में एकनिष्ठ हो जाता है, तभी वस्तुतः ज्ञान की प्राप्ति संभव रहती है। इस प्रकार के ज्ञान हो जाने के अनन्तर व्यक्ति को परम शान्ति या सतोष का अनुभव होता है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्पर संयतेन्द्रिय ।

ज्ञानं लब्ध्वा पर शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

'निदानपचक' नामक विषय के सम्यक् ज्ञान के लिए भी उन आधार-शिलाओं की अपेक्षा रहती है। इस विषय का इस अध्याय में एक समास में दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया जा रहा है।

निदानपंचक कथन प्रयोजन—रोगों के वातादिदोष-भेद से एवं साध्या-साव्य-भेद से सम्यक् रीति से रोग का विनिश्चय करने में निदानपचक की उपयोगिता है। व्याधि का यथावत् ज्ञान करने के लिये निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय तथा सम्प्राप्ति इन पाँचों साधनों की सहायता अपेक्षित है। ये निदानादि पाँचों तत्त्व निदानपचक कहलाते हैं। इनके द्वारा पृथक् पृथक् तथा

मिलाकर रोग का ज्ञान किया जाता है। जिस रोग में केवल निदान की उपलब्धि होती है अन्यो की नहीं, वहाँ पर केवल निदान ही व्याधि का बोधक होता है। इसी प्रकार उपलब्धि के कही पूर्वरूप, कही रूप, कही उपगम और कही सम्प्राप्ति से एकैकग व्याधि का बोधक होता है। कई बार दो, कहीं तीन, चार या पाँचों की सहायता से भी व्याधि का ज्ञान किया जाता है।

कतिपय विद्वानों का कथन है कि यदि एक उपाय से ही व्याधि का ज्ञान संभव हो तो दूसरे उपायों में भी उसी का ज्ञान करने में पिष्टपेपण मात्र होगा फलन कृतकरणत्व दोष (किये हुए का पुन करना) की संभावना रहती है। परन्तु बात ऐसी नहीं है—क्योंकि एक प्रमाण से किसी वस्तु का ज्ञान होने पर भी वह ज्ञान भ्रमात्मक हो सकता है, निश्चयात्मक नहीं। अस्तु, निश्चयात्मक ज्ञान के लिये एक प्रमाणसिद्ध पदार्थ का दूसरे प्रमाणों की सहायता से (प्रमाण-समूह से) निश्चयात्मक ज्ञान होता है। और इस प्रकार से प्राप्त ज्ञान कभी मिथ्या नहीं हो सकता—अतः आचार्यों ने व्याधि के निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कराने के लिये ही 'पचनिदान' के साधनों (पच प्रमाण समूहों) का उपदेश किया है।

न्याय या तर्कशास्त्र में किसी सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिये 'पचावयव वाक्य' की महत्ता बतलाई गई है। चरक में भी इस विषय का प्रतिपादन पाया जाता है। प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमन इन पाँच साधनों से किसी सिद्धान्त या निश्चित मत का प्रतिपादन किया जाता है। जैसे स्थापना करनी है कि 'पुरुष नित्य है' यह प्रतिज्ञा हुई, इसमें हेतु दिया गया 'अकृत-कत्वात्' (कारण वह स्वयं अकृत है), अब दृष्टान्त देना होगा 'यथा आकाशम्', उपनय में यह कहना होगा 'यथा अकृत आकाश है वह नित्य है उसी प्रकार पुरुष भी।' अतः निगमन या फल निकला कि 'अतः पुरुष नित्य है।' इसी के विपरीत मत की स्थापना की जा सकती है, उसे प्रतिष्ठापना कहते हैं। लोक में भी देखा जाता है कि बुद्धि में अनुमानित अग्नि का निश्चयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्तोपदेश की सहायता में ही संभव होता है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार अनुमान में प्रतीत अग्नि का ज्ञान प्रत्यक्ष द्रष्टा आप्तवाक्य ने किया जाना है, उसी प्रकार निदानादि पाँचों साधनों में से किसी एक के द्वारा व्याधि का सामान्य ज्ञान होने के अनन्तर भी रोग का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करने के लिये निदानादि पाँचों साधनों की अपेक्षा रहती है। अतः तर्कमय रोगविनिश्चय की यही शास्त्रीय विधि (Classical method) है।

निदानपत्रक की उपादेयता या प्रयोजनसूचक अन्य भी चर्चा शास्त्र में पाई जानी है जैसा कि निम्नलिखित कोष्ठक से स्पष्ट है—

निदान-पत्रक

	हेतु	पूर्वरूप	रूप	उपशय	सम्प्राप्ति
प्रयोजन—	१ रोग विनिश्चय	„	„	„	१ अशाश
	२ माध्यामाध्य विवेक	„	„	„	कल्पना
	३ मापेक्ष्यनिश्चिति	„	„	„	२ व्याधिवल
	४ चिकित्सा	„	„	„	३ काव्यता

निदान-कथन-प्रयोजन—‘निदान त्वादिकारणम्’ (चरक) । ‘सक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्’ (सुश्रुत) । ‘हेतोरसेवा विविधा’ (चरक) । इन सूत्रों के अनुसार हेतु या निदान का परित्याग ही रोग की सामान्य चिकित्सा है । अस्तु, यदि रोगों में निदान या कारण का कथन किया जावे तो इस ज्ञान के अभाव में चिकित्सा करना ही संभव नहीं रहेगा । अतः, प्रत्येक रोग में उत्पादक कारणों की विवेचना करना आवश्यक है ।

पूर्वरूपाभिधान-प्रयोजन—केवल निदान मात्र के कथन से रोग विनिश्चय संभव नहीं रहता क्योंकि कई बार एक ही या समान हेतु के अनेक रोग हो सकते हैं, और कई बार एक हेतु से एक ही रोग उत्पन्न होता है । इस प्रकार एक व्याधि के अनेक हेतु और बहुत सी व्याधियों में बहुत से हेतु भी हो सकते हैं—

‘एको हेतुरनेकस्य तथैकस्यैक एव हि ।

व्याधेरेकस्य बहवो बहूना बहवस्तथा ॥’ (चरक)

उदाहरणार्थ समान हेतु से ज्वर एवं गुल्म की उत्पत्ति हो सकती है । जैसे—

मिथ्याहारविहाराभ्या दोषा ह्यामाशयाश्रयाः ।

बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदा स्यू रसानुगाः ॥ .

दुष्टा वातादयोऽत्यर्थं मिथ्याहारविहारतः ।

कुर्वन्ति पञ्चधा गुल्म कोष्ठान्तर्ग्रन्थिरूपिणम् ॥

१ एक हेतु से एक रोग की उत्पत्ति जैसे—‘मृद्भक्षणान् पाण्डुरोग’ ‘भक्षिका-भक्षणाच्छर्दि’ । फलतः केवल निदान या हेतु के कथन मात्र से रोग का विनिश्चय संभव नहीं रहता है । इसलिए पूर्वरूप आदि का भी कथन करना अपेक्षित है ।

२ निदान दो प्रकार का हो सकता है। १ सन्निकृष्ट (समीप का) तथा २ विप्रकृष्ट (दूर का) । इसमें इनके बलावल के अनुसार व्याधि में भेद पाया जाता है। कई बार सन्निकृष्ट का निदान विप्रकृष्ट निदान से भिन्न स्वरूप का रोग पैदा करता है। इसमें सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट कारणों के बल का भेद होता है। यदि सन्निकृष्ट निदान विप्रकृष्ट से बलवान् हुआ तो व्याधि सन्निकृष्ट निदान के अनुसार होगी, परन्तु कहीं विप्रकृष्ट निदान सन्निकृष्ट से प्रबल हुआ तो रोग विप्रकृष्ट कारण के अनुसार होगा। जैसे निरुद्वर्ती निदान ज्वर का है और दूरवर्ती निदान ऊर्ध्वस्तम्भ का। ऐसी अवस्था में यदि विप्रकृष्ट निदान सन्निकृष्ट से प्रबल हुआ तो रोगी में ज्वर न पैदा होकर ऊर्ध्वस्तम्भ होगा। उदाहरण—

‘हेमन्ते निश्चित. श्लेष्मा वसन्ते कफरोगकृत्’

इस सूत्र में हेमन्त ऋतु में कफ का संचय होना विप्रकृष्ट हेतु (दूर का कारण) और वसन्त ऋतु तथा प्रातःकाल या शीत का लगना सन्निकृष्ट हेतु कहलाता है—इनमें दोनों के बलावल के अनुसार विविध रोगों का होना संभव है। कई एक दूसरे सूत्र का उदाहरण ले—‘हेमन्ते निश्चित श्लेष्मा वसन्तेऽर्कतापित कफरोगकृत्’। इस सूत्र में कफ का रोग पैदा करनेवाले दो कारण दिये गये हैं। १ हेमन्त ऋतु का संचित कफ यह विप्रकृष्ट हेतु है और २ अर्कताप या सूर्यताप यह दूसरा सन्निकृष्ट हेतु है। यद्यपि सन्निकृष्ट हेतु सूर्यताप से पित्त का कोप होना चाहिये परन्तु विप्रकृष्ट हेतु की प्रबलता समीपस्थ हेतु को दबाकर कफ की उत्पत्ति करती है जिससे वसन्त ऋतु में कफज रोग होते हैं। यहाँ पर चिकित्सा भी कफ की करनी होती है, पित्त की नहीं। यहाँ वास्तविक निदान प्रत्यक्ष न होने से पूर्वरूप, रूपादि के अभाव में व्याधि का मिथ्या ज्ञान होने की सम्भावना रहती है। अतः, व्याधि के यथावत् ज्ञान के लिये केवल निदान मात्र का ज्ञान होना ही पर्याप्त नहीं है। उसके लिये पूर्वरूप-रूपादि का भी जानना आवश्यक होता है। इसीलिये वाप्यचक्र का कथन है कि ‘तस्मात्केवलान्निदानादपि न व्याधिज्ञानं भवतीति-पूर्वरूपादीनामुपादानम्।’

पूर्वरूप ज्ञान का चिकित्सा में प्रयोजन—‘सचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गती । ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तरा ।’ (सुश्रुत)। यदि पूर्वरूप का कथन रोगों के सम्बन्ध में न किया जावे तो पूर्वरूप की अवस्था में वर्णित किये गये उपचार भी संभव न हो सकेंगे। आचार्य सुश्रुत ने बतलाया है कि सचय-काल में ही दोषों के निकाल देना से विकार आगे को नहीं बढ़ता और न रोग

ही बलवान् हो सकता है। अतः पूर्वरूप की अवस्था में ही रोग का ज्ञान हो जाने पर उपचार प्रारम्भ कर देना चाहिये। जैसे—

‘ज्वरस्य पूर्वरूपे लघ्वशनमपतर्पणं वा ।’ (चरक)

‘वातिकज्वरपूर्वरूपे घृतपानम् ।’ (सुश्रुत)

साध्यासाध्यविवेक का अभाव—पूर्वरूप के कथन के अभाव में कई रोग में साध्यासाध्य का विचार भी संभव नहीं रहता। अतः पूर्वरूप के वर्णनों की अपेक्षा दोनों में अवग्य रहती है। उदाहरणार्थ—

पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया ।

यं विशन्ति विशन्त्येन मृत्युर्ज्वरपुरःसरम् ॥

अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम् ।

विशन्त्येन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम् ॥ (चरक)

सापेक्ष्य निश्चिति में पूर्वरूप की उपादेयता—जो मनुष्य प्रमेहोक्त पूर्वरूप के बिना ही हारिद्रवण या रक्त वर्णका मूत्र त्याग करता है, उसे प्रमेह न समझ कर रक्तपित्त का ही विकार समझना चाहिये। इस प्रकार पूर्वरूप ज्ञान के अभाव में रक्तपित्त एवं प्रमेह रोग का विनिश्चय करना संभव नहीं हो सकेगा। जहाँ दो व्याधियों के लक्षण समान हो वहाँ पर विभेद करने से पूर्वरूप सहायक होता है। इस प्रकार पूर्वरूप कथन की उपादेयता स्पष्ट हो जाती है।

रूपाभिधान प्रयोजन—निदान एवं पूर्वरूप के रहते हुए भी यदि रूप का वर्णन न किया जावे तो रोग के स्वरूप का ज्ञान ही संभव नहीं होता, क्योंकि व्याधि का वास्तविक स्वरूप रूप ही है। रूप कथन से व्याधि का यथार्थ ज्ञान होता है—रोग में पाये जाने वाले स्पष्टतया प्रतीत होने वाले लक्षणों को ही रूप कहा जाता है। फलतः, रूप का कथन न होने से न तो रोग का रूप ही स्पष्ट हो सकता है और न चिकित्सा-विशेष का उपयोग करना ही संभव रहता है। रूपज्ञान का वर्णन रोग में करना नितान्त आवश्यक है।

साध्यासाध्य विवेक—रोगों में स्वरूप या रूप का कथन न हो तो रोग की साध्यासाध्यता का ज्ञान करना भी कठिन होता है। जैसे—सुखसाध्य रोगों के प्रसंग में वचन मिलता है—१ हेतव पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य-वै । २ ‘नच तुल्यगुणो दूष्यो न दोष प्रकृतिर्भवेत् ।’ रोग की कष्टसाध्यता-सूचक उक्तियाँ १ ‘निमित्तं पूर्वरूपाणां रूपाणां मध्यमे बलम् । कालप्रकृतिदूष्याणां सामान्येऽन्यतमस्य च ।’ रोग के असाध्यता-सूचक कथनों में भी रूप का अभिधान पाया जाता है २ ‘सर्वसम्पूर्णलक्षणं सन्निपातज्वरोऽसाध्यः ।’

उपशय कथन का प्रयोजन—‘गूढलिङ्ग’ व्याविमुपशयानुपशयाम्या परीक्षेत ।’ गूढ लक्षण वाली व्याधियों का ज्ञान कराने अथवा महश लक्षणों से युक्त दो या अनेक व्याधियों में एक के निर्णय के लिये अथवा अस्पष्ट लक्षणों से युक्त किसी एक ही व्याधि के यथावत् ज्ञान के लिये उपशय का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है । उपशय कथन से तद्विपरीत अनुपशय का भी ग्रहण स्वतः हो जाता है । वातव्याधि एव ऊरुस्तम्भ में, मध्वात एव आमवात में तैलाम्यग के द्वारा, अन्य ज्वरो तथा विषम ज्वरो में विवनीन के उपयोग से, विषम ज्वर एव काल ज्वर में अजन के योगों के उपयोग से कई बार उपशयानुपशय विधि (Therapeutic methods) से रोग की परीक्षा रोग के यथावत् ज्ञान के लिये आवश्यक हो जाती है । अतः रोगों के उपशयानुपशय का कथन करना भी व्याधि विनिश्चय के लिये वाञ्छित है ।

सम्प्राप्तिकथन प्रयोजन—निदानादि चारों साधनों के कथन के अनन्तर भी चिकित्सा में सफलता प्राप्त करने के लिये सम्प्राप्ति का कथन अनिवार्य है । क्योंकि सम्प्राप्ति कथन के बिना १ दोषों की अशाश कल्पना २ व्याधिवल ३ काल का व्याधि के साथ सम्बन्ध का ज्ञान सम्प्रक् रीति से न होने से विशिष्ट चिकित्सा कर्म का अनुष्ठान संभव न हो सकेगा ।

१. अशाश-कल्पना—वातादि दोषगत रुक्षता आदि प्रत्येक गुण अश कहें जाते हैं । दोष के प्रकोपक अशों के निर्वारण को अशाश कल्पना-कहते हैं । ‘तरेकद्विध्यादिभि समस्तेर्वा वातादिकोपावधारणा विकल्पना ।’

२. व्याधि-वल—रोग की तीव्रता, मध्यवलता या मृदुता का ज्ञान सम्प्राप्ति के द्वारा ही किया जाता है । सकल हेतु, पूर्वरूप, रूपादि की विद्यमानता से व्याधि वलवान्, इनकी मध्य या अल्पवलता से व्याधि का मध्यम या अल्पवल होना पाया जाता है ।

३. काल—आवस्थिक काल (जरा-मध्यमायु-वात्यावस्था) पङ्क्तु के अनुसार, दिन, रात, प्रभात, संध्या आदि के अनुसार व्याधि का घटना-घटना प्रभृति कार्य ।

उपर्युक्त उपपत्तियों के आधार पर रोगविज्ञानोपाय में वर्णित हेतु, पूर्वरूप, रूप, उपशय तथा सम्प्राप्ति नामक पाँचों साधनों का कथन व्याधि के सम्प्रक् रीति से ज्ञान कराने के लिये नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है । अतः रोगविनिश्चय में ‘निदानपंचक’ का महत्त्व और उनकी उपादेयता स्पष्ट हो जाती है ।

निदानपंचक प्रसंग—निदानपंचक विषय का मूल वर्णन चरकमहिता में ज्वरनिदान नामक अध्याय में मिलता है । फिर उसकी व्याख्या कई टीका-

कारो ने बृहद् एव विगद स्वरूप में की है। जैसे श्री चक्रपाणि ने आयुर्वेद दीपिका में, श्री गंगाधर ने जल्पकल्पतरु टीका में, वाग्भट कृत अष्टाङ्गहृदय में चरकोक्त गद्य रूप में वर्णित पचनिदानसूत्रों का पद्य रूप में वर्णन पाया जाता है। माधवनिदानकार ने अपने 'माधवनिदान' नामक संग्रह में वाग्भट के सूत्रों का ही संग्रह पचनिदान की व्याख्या रूप में किया है। इसके ऊपर अष्टाङ्गहृदय के टीकाकार अरुणदत्त की भी व्याख्या पाई जाती है। इसके अतिरिक्त अष्टाङ्गसंग्रह नामक वाग्भट कृत ग्रन्थ के ऊपर टीका करते हुए शगिलेवा टीका में 'इन्दु' नामक टीकाकार ने भी इस विषय की व्याख्या की है। इसके अलावे जेपात्रि ने आयुर्वेदरसायन में तथा विजयरक्षित ने 'मधुकोप' नामक माधवनिदान की टीका में पचनिदान विषय की मागोपाङ्ग विवेचना की है। प्रस्तुत लेख का आधार मूलतः श्री विजयरक्षित की व्याख्या ही है। श्री विजयरक्षित ने अन्यान्य कई व्याख्याकारों का उद्धरण अपनी टीका में दिया है। जैसे, वाप्यचन्द्र, भट्टारहरिचन्द्र, तीसटाचार्य, सुदान्त सेन, जेज्जट, कार्तिककुण्ड, ईश्वरसेन, गदाधर, आपाढ तथा वर्मदास प्रभृति के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

निदानपंचक में विवेच्य विषय एवं उनका प्रयोजन—निदानपंचक में निदान के साधनभूत हेतु, पूर्वरूप, रूप, उपशय तथा सम्प्राप्ति और इसमें सम्बद्ध अवान्तर विषयों, निर्दुष्ट लक्षणों का वर्णन पाया जाता है। निर्दुष्ट लक्षण बनाने का तात्पर्य यह होता है कि किसी भी पदार्थ का ऐसा लक्षण बनाना जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव इन तीनों दोषों से रहित हो। जैसे कहा जाय कि 'सींग वाले जीव गायें हैं' (शृङ्गित्व गोत्वम्) तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि सींग वाले बहुत से जानवर हो सकते हैं। अतः यह लक्षण अतिव्यापक होकर अतिव्याप्ति दोष से युक्त हुआ। यदि ऐसे लक्षण करें कि 'काले रंग की गायें होती हैं' (कृष्णत्व गोत्वम्), तो यह अपनी जाति में भी पूरा नहीं हो पाता क्योंकि गायें भूरी, सफेद प्रभृति कई रंगों की होती हैं। अतः यह अति सकुचित होने से अव्याप्ति दोष से युक्त होगा। फिर गाय का लक्षण बनाते हुए यह कहा जाय कि "एकशफत्व गोत्वम्" (एक खुर का जानवर गाय है) तो यह लक्षण पूर्णतया मिथ्या है क्योंकि गायों के खुर फटे हुए होते और वे दो खुरों वाली होती हैं। फलतः यह लक्षण असम्भव दोष से युक्त होगा। अब इन तीनों दोषों से रहित निर्दुष्ट लक्षण बनाना ही तो कहेंगे 'सास्नादिमत्त्व गोत्वम्' (गले की लोरकी वाले जानवर गायें होती हैं)। गायों की ग्रीवा से लटकने वाला भाग केवल गायों में ही पाया जाता और किसी जानवर में नहीं, अतः यह लक्षण निर्दुष्ट होगा।

वस्तुतः लक्षण दो प्रकार के होते हैं। एक व्यवहार के लिये या काम चलाऊ जैसे कोई पूछे कि 'देवदत्त का घर कीन सा है ?' तो कोई बतावे कि वह मामने वाला जिस पर कोवा बँठा है। वही देवदत्त का घर है (कारुवत् देवदत्तस्य गृहम्)। यह लक्षण काम चलाऊ है—उस समय के लिये तो ठीक है, परन्तु कोवा वहाँ से उड़ जावे और दूसरे मकान के ऊपर बँठ जावे तो लक्षण गलत हो जावेगा। इस प्रकार के लक्षणों को व्यावहारिक लक्षण कहते हैं। शास्त्रीय लक्षण इस प्रकार के नहीं होते। उन्हें व्यावृत्ति के लिये प्रयोग करना होता और वे स्थायी एवं निर्दुष्ट (दोषरहित) बनाये जाते हैं। जैसे कि ऊपर वर्णित गाय के लक्षणों से स्पष्ट हो रहा है। अनुमिति नामक न्याय शास्त्र के ग्रंथ में लिखा है कि लक्षण के दो प्रयोजन हैं—१ व्यावृत्ति और २ व्यवहार। 'व्यावृत्तिर्व्यवहारश्च लक्षणस्य प्रयोजनम्।'।

इस प्रकार लक्षणवाद के आधार पर 'पचनिदानो' में प्रोक्त सजाओ का लक्षण या परिभाषा 'निदानपचक' नामक विषय में वैद्यक शास्त्र में पाया जाता है। फलन प्रस्तुत विषय का सम्बन्ध उनके निर्दुष्ट लक्षणों से ही है। इस प्रकार लक्षणों का प्रयोजन बतलाते हुए शारङ्ग-भाष्य में एक उक्ति पाई जाती है कि 'पृथक् पृथक् पदार्थों का कथन करते हुए ऋषि लोग भी पदार्थों का अतः नहीं प्राप्त कर सकते, अतः पदार्थों का लक्षण बनाया गया और उसके द्वारा पदार्थसमुदाय को पार करने का प्रयत्न किया गया है।'।

ऋषयोऽपि पदार्थानामन्तं यान्ति न पृथक्कशः।

लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः॥



द्वितीय अध्याय

रोग का उत्पत्तिक्रम तथा क्रिया-काल

रोग या व्याधि—‘सुखसंज्ञकमारोग्य विकारो दुःखमेव च’ ‘तद्दुःख-सयोगा व्याधयः । ‘विविध दुःखमादधातीति व्याधयः । किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक सुख या दुःख देने वाले हेतु को व्याधि कहते हैं । इसके पर्याय रूप में आमय, गद, आतक, यक्ष्मा, ज्वर, विकार अथवा रोग शब्द का व्यवहार पाया जाता है—जिसकी विस्तृत व्याख्या आगे की जावेगी । सक्षेप में स्वास्थ्य जीवन की एक अस्त्यात्मक या सत्तात्मकदशा (Positive phase) है, इसके विपरीत अवस्था या नास्त्यात्मक दशा को (Negative phase) विकार या रोग कहते हैं । स्वास्थ्य की व्याख्या करते हुए प्राचीन शास्त्रकारों ने लिखा है—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।

प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥ (सुश्रुत)

स्वास्थ्य की परिभाषा आधुनिक युग में विविध प्रकार की पाई जाती है । आयुर्वेद शास्त्र की उपर्युक्त स्वास्थ्य की परिभाषा बड़ी व्यापक एवं उत्तम कोटि की है । इसमें शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक सुख की प्राप्ति कराने वाली अवस्था को सुख माना गया है, केवल नैरुज्य या रोगाभाव को ही स्वास्थ्य नहीं कहा जा सकता । इसी भाव का द्योतक एक आधुनिकतम व्यापक परिभाषा या लक्षण स्वास्थ्य का पाया जाता है । इस परिभाषा को विश्व स्वास्थ्य सघ (W H O) ने स्वीकार किया है—

(Health is state of Complete Physical, mental and Social wellbeing and not merely absence of disease or infirmity)

व्याध्युत्पत्तिक्रम एवं क्रियाकाल—व्याधि कोई स्थिर दशा नहीं है, बल्कि विकारगत विविध परिवर्तनों की एक श्रृङ्खला है जो कई अवस्थाओं (Steps and stages) से आगत एक परिणाम है । रोग में उसके विकास की विभिन्न अवस्थाएँ पाई जाती हैं । रोग की चिकित्सा में चिकित्सक का यह कर्तव्य होता है कि उसके उत्पत्तिक्रम या विकास की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान करके उसकी रोक-थाम, निरोध, विलम्बन या प्रतिकार का प्रयत्न

करता रहे। प्राचीन आयुर्वेद ग्रन्थों में यह मिद्वान्त वर्णनया प्रामाणिक है। आचार्य सुश्रुत ने बड़े विस्तार के साथ व्याधि के उत्पत्ति-क्रम तथा तत्पश्चात् अवस्थाओं में किये जाने वाले प्रतिकारों का मागोपाद् विवेचन सुप्रशस्त के विकासवे अद्याय में क्रियाकाल शब्द में किया है। आधुनिक युग के वैज्ञानिकों का विचार भी बहुत कुछ प्राचीन मिद्वान्त में मिलता हुआ है, जैसा कि 'वाग्भट' नामक ग्रन्थकार की भूमिका में निम्नलिखित वचनों में स्पष्ट होता है —

Disease is not a state, it is rather a process of ever changing its manifestations, a process which may end in recovery or in death, which may be acute or fulminating in its manifestations or which may appear such a slow ageing of the tissues, brought about by sharp tooth of time

सुश्रुत ने छ क्रिया-कालों में रोगोत्पत्तिक्रम का वर्णन किया है। १. मचय, २ प्रकोप, ३ प्रसर ४. स्थान मथय, व्यविन तथा ६. भेद। 'मचय च प्रकोप च प्रसर स्थानमथयम्। व्यविनभेद च यो वेत्ति दोषाणां न भवेद् भियक्।' चरक एव वाग्भटने व्याधि की उत्पत्ति में तीन ही क्रमिक अवस्थाओं का वर्णन किया है—चय, प्रकोप तथा प्रगम। यह भेद सप्रदायभेद के कारण ही है। चरक और वाग्भट आत्रेयसंप्रदाय या कायचिकित्सा-सम्प्रदाय (Atreya school or physician school) के रहे, परन्तु सुश्रुत चान्दवंतरया गत्यचिकित्सक सम्प्रदाय (Dhanawantari school or surgeon's school) के थे। कायचिकित्सकों का कार्य चय-प्रकोप-प्रगम नामक तीन अवस्थाओं के वर्णन से पूरा हो जाता था, परन्तु सुश्रुताचार्य को व्रण तथा रक्तदोष में उत्पन्न व्याधियों का वर्णन करना अपेक्षित था। अतः उन्होंने छ अवस्थाओं में रोगोत्पत्तिक्रम का वर्णन किया है।

सुश्रुत ने इन छ अवस्थाओं का छ क्रिया-काल नाम में जो विशद वर्णन दिया है वह अविक विज्ञानसम्मत प्रतीत होता है, अतः उसका विशेष वर्णन 'निदानपक्व' विषय को समझाने के लिये प्रस्तुत किया जा रहा है। इन क्रिया-कालों का सम्यक् ज्ञान रोग के प्रारम्भ में ही विनिश्चयार्थ (Early Diagnosis), साध्यासाध्य विवेक (Prognosis), अनागत बाधा प्रतिपेक्ष (Profilactic treatment) तथा आगत बाधा प्रतिपेक्ष (Curative treatment) के लिये भी महत्त्व का है। इस क्रिया-कालों के ज्ञान की महत्ता बतलाते हुए आचार्य ने लिखा है कि यदि रोग की प्रारम्भिक अवस्था

मे ही बोध हो जाय तो दोषो का निर्हरण हो जाने से रोग अग्रसर नहीं होता और यदि विनिश्चय मे विलम्ब हो जावे तो दोष क्रमशः आगे की गतियों को प्राप्त करके रोग को अधिक बलवान् बना देते हैं—

सञ्चयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः।

ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः॥

क्रिया-काल शब्द का प्रयोग ही चिकित्सा के उपलक्षण से हुआ है। क्रिया का अर्थ प्रतीकार या चिकित्सा है और काल का अर्थ समय या अवधि है। अतः क्रिया-काल का समूह मे अर्थ होगा 'समयानुकूल चिकित्सा' (Timely Action)। क्रिया से औषध, अन्न तथा विहार तीनों का ग्रहण करना चाहिये।

संचयावस्था या संचयकाल (1st stage of the Disease or 1st stage of treatment)—इसमे दोषो की चयवास्था या सचय होना पाया जाता है। अग्नेजी मे इसे Inceptive stage or stage of Cumulation or Incubation period कह सकते हैं। विभिन्न हेतु या निदान से विभिन्न दोषस्थानो मे दोषो का सचय होने लगता है। हेतु-विभिन्न काल या ऋतुओ का परिणाम। लक्षण-दोषो की स्तब्धता, कोष्ठो का पूर्ण होना (वात के सचय में), वर्ण एव त्वचा का पीलापन, उष्णता की मदता (पित्त के सचय मे), गुरुता (भारीपन) तथा आलस्य का अनुभव (कफ के सचय मे) होता है। यह प्रथम क्रियाकाल है। सभव रहे और रोग का बोध हो जाय तो यही प्रतीकार कर देने से रोग आगे नहीं बढ़ पाता है। इस प्रकार निदानज्ञान की उपादेयता सिद्ध है। 'तत्र प्रथम क्रियाकाल'।

प्रकोपावस्था (II stage of Disease or treatment)—यदि दोषो का निर्हरण सचय की दशा मे नहीं हुआ तो रोग अग्रसर होगा और प्रकोपावस्था प्राप्त हो जायेगी। उसमे दोषो का विविध प्रकार के आहार, विहार, आचार तथा काल के प्रभाव से प्रकोप होता है। इसको Provocative stage of the Disease कहा जा सकता है। यह चिकित्सा करने के लिये द्वितीय काल या अवसर है 'तत्र द्वितीय क्रियाकाल'।

प्रसरावस्था (III stage of the Disease or Treatment)

यदि कुपित दोषो का गमन नहीं हुआ तो रोग अग्रसर होता है। दोषों का विमार्ग-गमन होना प्रारंभ हो जाता है (Overflowing or Spread of the Doshas)। इसी को (stage of Extension) कहा जा सकता है। दोषों के प्रसार में रजोभूयिष्ठ वायु ही प्रवर्तक होता है—उसी की सहायता से प्रकुपित दोष शरीर के विभिन्न अवयवों में जाते हैं। उनकी उपमा महान् उदक संचय से दी गई है। जैसे कि जल का संचय बट कर बाँधों को तोड़कर बाहर निकलकर हमारे बाहरी जल में मिलकर चारों ओर दौटना है उसी प्रकार दोषों का प्रसार भी सम्पूर्ण शरीर में होता है। दोष एकठाई, दो-दो, तीन-तीन या रक्त के साथ मिलकर बहुत प्रकार में फैलने हैं जिनमें निम्नलिखित पंद्रह प्रकार महत्त्व के होते हैं—

वात, पित्त, कफ, रक्त, वातपित्त, वातश्लेष्म, वात रक्त, पित्त रक्त, श्लेष्मरक्त, वातपित्त रक्त, वातश्लेष्म रक्त, पित्तश्लेष्म रक्त, वातपित्तकफ तथा वात पित्त कफ शोणित से उत्पन्न व्याधिर्या पाई जाती है। दोषों के प्रसार की उपमा मेघ एवं तज्जन्य वर्षा से दी गई है —

कृत्स्नेऽवयवे वापि यत्राङ्गे कुपितो भृशम् ।

दोषो विकार नभसि मेघवत्तत्र वर्षति ॥

प्रकोप एवं प्रसार में भेद—भेद बतलाते हुए डक्कण ने लिखा है। जमे घृत को अग्नि पर चढ़ावे, उसके पिघलने की अवस्था प्रकोप की होगी। फिर आँच लगते रहने पर खीलेगा और खीलकर वर्तन से बाहर निकलने लगेगा, यह प्रसार कहलायेगा। इसी प्रकार की अवस्था दोषों के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिये।

प्रसार की अवस्था में लक्षण—

पित्त में—ओष (एकदैशिक दाह), चोष (सर्वाङ्ग में चूषण के समान दाह) तथा धूमायन ।

वात में—आटोष (रुजापूर्वक उदर का क्षोभ) ।

श्लेष्मा में—अरोचक, अविपाक, अग्निमाद्य, वमन ।

यदि प्रसर की अवस्था में ही रोग का ज्ञान सम्भव हो सके तो प्रतिकार प्रारम्भ करना चाहिये । यह तृतीय क्रिया काल है । 'तत्र तृतीयः क्रियाकाल ।'

स्थानसश्रयावस्था (IV Stage of Disease or Treatment)—यदि विकार का प्रशम नहीं हो सका तो अब चतुर्थविस्था रोग की प्राप्त हो जाती है । प्रसृत हुए दोष फैलते हुए स्रोतो की विगुणता पैदा करके जिस स्थान पर रुक जाते हैं वहाँ पर स्थानसश्रय होता है । अब विकार एक स्थान पर सीमित हो जाता है—(Stage of Limitation) । इसी को स्थानसश्रय कहते हैं । चक्रपाणि ने लिखा है—'पूर्वरूपमेव स्थानसश्रयम्' अर्थात् स्थानसश्रय की अवस्था ही पूर्वरूप कहलाती है । अंग्रेजी में इसे Prodromal Phase of the Disease कहते हैं । दोष प्रसरित होकर जिन-जिन स्थानों में सश्रय करता है उन उन स्थानों पर निम्नलिखित रोगों को पैदा करता है ।

१ उदर में मन्निवेश होने पर —गुल्म-विद्रधि-उदर-अग्निमाद्य-आनाह,
विपूचिकातिसार प्रभृति रोग ।

२ वृषण " " वृद्धि प्रभृति रोग ।

३ मेढ्र " " निरुद्धप्रकाश, उपदश, शूकदोष आदि
रोग ।

४ वस्ति " " प्रमेह, मूत्राघात, अश्मरी, मूत्रदोष
आदि रोग ।

५ गुदा " " भगदरार्श प्रभृति रोग ।

६ ऊर्ध्वजत्रु " " ऊर्ध्वजत्रुगत रोग ।

७ त्वक्-मांस " " क्षुद्ररोग, कुष्ठ, विसर्प प्रभृति व्याधियाँ ।

८ मेद " " ग्रन्थि, अपची, गलगण्ड, गण्डमाला
आदि रोग ।

९ अस्थि " " विद्रधि, उपशयी प्रभृति रोग ।

१० पाद " " श्लीपद, वातशोणित, पादकटक

११ सर्वाङ्ग " " ज्वर, सर्वाङ्गरोग ।

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम् ।

यत्र संगः खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते ॥

अब यहाँ पूर्वरूप का प्रादुर्भाव होता है, जो रोगभेद से प्रत्येक रोग में भिन्न-भिन्न हो सकता है। अब इस पूर्वरूपावस्था में व्याधि का ज्ञान हो जाने पर चतुर्थ क्रियाकाल का समय रहता है और उपचार या प्रतीकार प्रारम्भ किया जा सकता है। एतदर्थ ही सुश्रुत ने लिखा है—‘तत्र पूर्वरूपगतेषु चतुर्थ. क्रियाकाल ।’

व्यक्तावस्था (V Stage of Disease or Treatment)— व्याधि का स्पष्ट रूप से व्यक्त हो जाना रोग की अभिव्यक्ति है। इस अवस्था में रोग के सभी लक्षण पूर्णतया व्यक्त हो जाते हैं। इसी को व्याधिदर्शन या रूप भी कहते हैं। जैसे—शोफ, अर्बुद, ग्रथि, विसर्प, ज्वर, अतीसार प्रभृति रोगों के लक्षण पूर्णतया प्रकट हो जाते हैं। (Stage of manifestation or Fully developed disease) अब यहाँ पर व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा करने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार यह उपचार का पचम क्रियाकाल है। ‘तत्र पचम क्रिया काल ।’

भेदावस्था (VI Stage of Disease or Treatment or stage of Variation)— दोष दूष्यो की सम्मूर्च्छनावस्थान्तर ही व्याधियाँ होती हैं। अब इस अवस्था में सम्प्राप्ति के भेदों के अनुसार—‘संख्याविकल्प-प्राधान्यबलकालविभेदतः’ रोग का विभेद किया जा सकता है। इसके अलावे रोग की साध्यता याप्यता या, असाध्यता का ज्ञान करना भी संभव रहता है। (The disease either may subside wholly or may take shape of chronic, sub-acute or acute or it may produce other disease or may become complicated or may result in to death of the patient) इस प्रकार का ज्ञान भेदावस्था में होता है। इसको Stage of variation कहते हैं। (Introduction to ‘Kayachikitsa’ by C Dwarkanath) यह उपचार का अन्तिम या छठवा काल है। ‘तत्र षष्ठ क्रियाकाल. ।’

कई ग्रन्थों के आधार पर क्रियाकाल तथा रोगभेदों का दो स्वतन्त्र कोष्ठों में नीचे वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

सुश्रुतानुसार है क्रियाकाल (Evolution Stage of the Diseases)

Exciting Factors	Potential Factors	Formative or Preprodromal Phases			clinical Phase		
		Characterised by vague Symptomatology			The stage of Prodroma or पूर्व रूप या स्थान	The stage of Characteristic feature रूप or Symptom Complex	The stage or variation if may either subside wholly or may become Chronic or serve as निदान of Other Disease or result in death of the patient
आविर्भौतिक	वा०	चय or the Cumulation of the दोष	प्रकोप or Excitation of the दोष	प्रसर Over flowing or Spread of दोष अपने तथा अन्य स्थानों में			
आधिदैविक	पि०						
आध्यात्मिक	क०						

रोग-भेद (Classification of Diseases)

अष्टाङ्गसंग्रह के अनुसार उत्पत्तिभेद से	सहज Congenital or Hereditary माता पिता के शुक्र शोणित दोष से कुछ- अर्ध-फिरगादि आदिबल प्रवृत्त	गर्भज Post Natal congenital defects कुक्षता-पगुता किलासादि ।	जातज Acquired स्वीय अपचार जन्य सतर्पण या अपतर्पण जन्य रोग ।	प्रभावज Mystic ori- gin देवता गुरु के अभिशाप अथवा भूत-प्रेत पिशाचादि से ।	पीडाज Accidental or Traumatic क्षत-भग-प्रहार से शारीरिक या शौक-क्रोधादि से मानस रोग ।	कालज Climatic or seasonal शीत-उष्ण-वर्षा अतियोगायोग से उत्पन्न रोग	स्वभावज Natural भूख- प्यास-निद्रा बुद्धिपा एव मृत्यु । इसके भी कालज या अकालज भेद से दो प्रकार हो जाते हैं ।
सुश्रुत के अनुसार आक्रमण प्रकार से According to mode of on set	मृदु (अल्पलक्षण) Chronic form	जन्मल प्रवृत्त	सघात बल प्रवृत्त	—	—	काल बल प्रवृत्त	स्वभाव-बल-प्रवृत्त
साध्यासाध्यता की दृष्टि से Prognostic	सुखसाध्य Mild	मध्य (मध्यम लक्षण) (Subacute or moderate)	कृच्छ्रसाध्य या कष्टसाध्य (Serious)	असाध्य	याप्य	असाध्य Incurable or Dangerous or Grave	
अनिष्टान भेद से Seat of Disease	शारीरिक (निज)	मानसिक (निज)		आगन्तुक			

दुःख भेद से	आध्यात्मिक या मानस (Psychic)		आधिभौतिक (Somatic)		आधिदैविक Mystic		मिश्रित (Psyco-Somatic)	
	राजस तामस	वातज (वायव्य)	रक्तज	पित्तज (आग्नेय)	मासज	कफज (सौम्य)	सन्निपातज (मिश्रित)	शुक्रज
दोषभेद मे	रसज	रक्तज	मासज	पित्तज (आग्नेय)	कफज (सौम्य)	मेदोज	अस्थिज	मज्जाज
	रसज	रक्तज	मासज	पित्तज (आग्नेय)	कफज (सौम्य)	मेदोज	अस्थिज	मज्जाज
सामान्य हेतु भेद मे	असात्म्येन्द्रियार्थ मयोगज	प्रज्ञापराधज	परिणामज					
	वाह्यमार्गाश्रित त्वचा-रक्तादि-यान्त्रा आदि मे यात्रि । नर्महीन अर्बुकादि	मध्यमार्गाश्रित मर्वा-हृदय-वस्ति-अस्थि-सधि-कण्डरा मिरा मे आश्रित रोग जैसे- अपतानक, अर्दित गुदभ्रंशादि	आन्तर मार्गाश्रित कोष्ठाश्रित विकार जन्य रोग ज्वरातिसार प्रभृति ।					
प्राप्ता प्राप्ता भेद मे	स्वतंत्र या अनुबध्य या प्रधान (Main)			परतंत्र या अनुबध या अप्रधान (Secondary)				
	स्वतंत्र या अनुबध्य या प्रधान (Main)			परतंत्र या अनुबध या अप्रधान (Secondary)				

रोग-विज्ञानोपाय (Methods of Investigation of a Disease)

रोग की शास्त्रीय विवेचना के अनन्तर अब रोग के सम्यक् रीति से पहचानने का प्रश्न सम्मुख आता है। रोग के विज्ञानोपाय, विनिश्चय या निर्णय करने की कई पद्धतियों का उल्लेख तत्र में पाया जाता है। उदाहरणार्थ —

षड्विध परीक्षा—

(सुश्रुत)

१. संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम् ।

व्यक्ति भेदं च योवेत्ति रोगाणां स भवेद् भिषक् ॥

(सु० सू० २१)

२ षड्विधा हि रोगाणां विज्ञानोपायाः—पंचभि श्रोत्रादिभिः

प्रश्नेन चेति ।

(सु० सू० १०)

द्विविध या त्रिविध परीक्षा—

१. दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम् ।

२ त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति ।

३ द्विविधा खलु परीक्षा प्रत्यक्षमनुमानञ्च ।

त्रिविधा वा सहोपदेशेन ।

(च० वि० ८)

प्रत्यक्षं खलु तद् यद् इन्द्रियैः मनसा चोपलभ्यते । (वा०)

अष्टविध परीक्षा—

रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत् ।

नाडी मूत्रं मलं जिह्वां शब्दं स्पर्शं दृगाकृतिः ॥ (यो० २०)

पचविध परीक्षा—

१ तस्योपलब्धिः निदानपूर्वरूपलिङ्गोपशयसम्प्राप्तिभिः ।

(च० नि० १)

२ निदान पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा ।

सम्प्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पचधा स्मृतम् ॥ (वा० सू०)

वाग्भट का समाधान—

दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम् ।

रोगं निदानप्रागरूपलक्षणोपशयाप्तिभिः ॥

इसी विषय को पुन कोष्टक रूप में दर्शाया जा रहा है —

सामान्य तथा विशेष परीक्षा-विधियाँ

रोगी तथा रोग परीक्षा-विधियाँ

[चरक एव वाग्भट]

१ आसोपदेश	१ दर्शन	१ निदान	४ उपशय
२ प्रत्यक्ष	२ स्पर्शन	२ पूर्वरूप	५ सम्प्राप्ति
३ अनुमान	३ प्रश्न	३ रूप	

[सुश्रुत]

१ सचय	१ प्रश्न
२ प्रकोप	२ श्रोत्रेन्द्रियविज्ञेय
३ प्रसर	३ नेत्रेन्द्रियविज्ञेय
४ स्थानसंश्रय	४ घ्राणेन्द्रियविज्ञेय
५ व्यक्ति	५ स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेय
६ भेद	६ रसनेन्द्रियविज्ञेय

[योगरत्नाकर]

[आधुनिक]

आत्मसदृश या	१ नाडी	१ प्रश्न Interogation
स्वप्रत्ययज्ञेय	२ मूत्र	२ दर्शन Inspection
or Subjective	३ मल	३ स्पर्शन Palpation
	४ जिह्वा	४ अगुलिताडन Percussion
	५ शब्द	५ श्रवण Auscultation
	६ स्पर्श	६ नैदानिक विधियाँ—भौतिक, रामायनिक Physical or chemical Pathological tests
परसदृश या पर	७ दृक्	७ अणुवीक्षणात्मक परीक्षा—Microscopical
प्रत्ययज्ञेय or		
objective	आकृति	८ रोगदर्शन Scopes and Speculum
		९ क्षकिरण X, Ray

रोग-विनिश्चय करने की वस्तुतः दो विधियाँ हैं १ सामान्य २ विशिष्ट । सामान्य विधियों में रोगी से पूछकर (प्रश्न), रोगी को देखकर (दर्शन), छूकर

(स्पर्शन या अंगुलिर्ताडन), कान से सुनकर सीधे या यन्त्र के साहाय्य से (श्रवण Auscultation), नाक से सूँघकर (Smell), अर्थात् Inspection, Palpation, Percussion & Auscultation सक्षेपतः इन प्रकारों से रोगी की परीक्षा करके रोग पहचानने की कोशिश की जाती है। विशिष्ट विधियों का सम्बन्ध, सामान्य विधियों से प्राप्त फलों के ऊपर अर्थात् जो कुछ भी हेतु, लक्षण, चिह्न, उपशय, दोष-दूष्य-सम्मूर्छन आदि प्राप्त हो उनके साथ ग्रन्थोक्त लक्षणों का साधर्म्य देखकर (निदानपचक विधि से) रोग के विनिश्चय से है। इसी भाव का द्योतन वाग्भट की समाधान-सूचक उक्ति से हो रहा है। उनका कथन है कि 'दर्शन, स्पर्शन एवं प्रश्न के द्वारा रोगी की परीक्षा की जाती है तथा निदान-पूर्वरूप-रूप-उपशय एवं सम्प्राप्ति के द्वारा रोग का विनिश्चय करना होता है।' सक्षेप में रोगी की परीक्षा (Examination of the Patient or case-taking) के लिये षड्विध, त्रिविध या अष्टविध साधन बतलाये गये हैं जिनमें रोगी को देखकर, छूकर, या प्रश्नों के द्वारा उसकी व्यथाओं का ज्ञान कर परीक्षा की जाती है। इसमें स्वसदृश अपने देख कर या परसदृश दूसरे के द्वारा दिखलाकर (जैसे स्त्रीगुह्याङ्गों की परीक्षा किसी अन्य स्त्री के द्वारा करा कर) दोनों प्रकार से ज्ञातव्य विषयों की जानकारी करनी होती है। 'निदानपचक' नामक पाँच साधनों से केवल रोग का निर्णय (Diagnosis) किया जाता है। इस प्रकार रोग-विज्ञानोपाय में रोगी तथा रोग दोनों के जानने का विमर्श पाया जाता है। रोगी की परीक्षा करने की जो ऊपर विविध प्रकार की अष्ट विध या त्रिविध विधियाँ बतलाई गईं उन सबों का समावेश सुश्रुतोक्त षड्विध साधनों में ही हो जाता है—'षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः, पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति।'।

आधुनिक ग्रन्थों में दर्शन, स्पर्शन एवं प्रश्न के अतिरिक्त ताडन एवं श्रवण परीक्षा विशेष महत्त्व की है। श्रवण-परीक्षा द्वारा कान को परीक्ष्य स्थान पर लगाकर सुनना अथवा श्रवणयन्त्र (Stethoscope) के द्वारा सुनना व्यवहृत होता है। इस यन्त्र का उपयोग फुफ्फुस एवं हृद्दोगों के निदान में विशेष महत्त्व का साधन है। बद्धगुदोदर में उदर की परीक्षा में भी इसका महत्त्व है। गन्ध के द्वारा परीक्षा कई रोगों में विशेष महत्त्व की होती है जैसे—मल-मूत्र की परीक्षा, अहिर्फेनविष, मदात्यय, मधुमेह की मूर्छा। रस की परीक्षा मधुमेह एवं रक्तपित्त के विनिर्णय में की जाती है। यह मक्षिकोपसर्पण, पिपी-लिकोपमर्पण, वायस या श्वान को खिलाकर प्राचीन काल में परप्रत्ययनेय थी। आजकल मूत्र के मावुर्य की परीक्षा के लिये रासायनिक द्रव्यों से परीक्षा करके

निश्चय किया जा सकता है। इन विधियों के अतिरिक्त कई अन्य यंत्र, क्ष किरण आदि भी (scopes and Speculum, Microscopes and X, ray) रोग-सदर्जन में व्यवहृत होते हैं। आज के युग में नैदानिक प्रयोग-शालाये (Clinical pathology) काफी उन्नत दशा में हैं। प्राचीन काल में इन्द्रियों की शक्ति पर ही चिकित्सक को अधिक निर्भर रहना पड़ता था। आज भी रोग-विनिश्चय में ये सर्वाधिक विश्वसनीय साधन हैं।

रोगि-रोग-परीक्षा का उद्देश्य—जिस रोगी की सामान्य तथा विशेष विधियों के आश्रित रह कर यथाशास्त्र परीक्षा नहीं की गई अथवा जिसके सम्बन्ध में ठीक से नहीं बतलाया गया है अथवा जिसके ऊपर चिकित्सक ने ठीक से विचार नहीं किया है, चिकित्सा में ऐसे रोग वंश को मोह में डाल देते हैं और गलती की सभावना रहती है। परन्तु उपर्युक्त निदानपद्धति के द्वारा विचार कर चिकित्सा की जाय तो गलती की कोई सम्भावना नहीं रहती है—

मिथ्यादृष्टा विकारा हि दुराख्यातास्तथैव च ।

तथा दुष्परिमृष्टाश्च मोहयेयुः चिकित्सकम् ॥

(सु० सू० १०)

महर्षि चरक ने भी कहा है—

रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम् ।

ततः कर्म भिषक् पश्चात् ज्ञानपूर्वं समाचरेत् ॥

(च० सू० २०)

निदान-लक्षणम्

[Definition of Etiology]

अब हम अपने प्रकृत-विषय निदानपत्रक पर पुन दृष्टिपात करते हैं। निदानपत्रक-कथन का प्रयोजन बतलाते हुए सक्षेप में इन सज्ञाओं की व्याख्या ऊपर हो चुकी है। अब विस्तार के साथ निदान-पूर्वरूप-रूप-उपशय एवं सम्प्राप्ति की एकैकश व्याख्या करना प्रासंगिक है। सर्वप्रथम निदान को लेते हैं।

निदान-निरुक्ति—१ नि + दिश। पृषोदरादित्वात् साधु। नि निश्चय निपेधयो। प्रकृत में नि शब्द निश्चयार्थक ही व्यवहृत हुआ है। दिश धातु में, करण में ल्युट् प्रत्यय होकर दान शब्द की निष्पत्ति होती है। समूह में शब्द बना निदान, जिसका अर्थ होता है— जिसके द्वारा व्याधि का निर्देश अथवा व्याधि का निश्चित रूप से प्रतिपादन हो सके अथवा जिसके द्वारा व्याधि के हेतु (कारण)

तथा लिङ्ग का निर्देश हो सके अथवा निदान का अर्थ वन्धन हो सकता है—
अर्थात् जिसके द्वारा हेत्वादि सम्बन्ध रोग में बाँधा जा सके ।

सभी अर्थों की मान्यता मधुकोपकार ने दी है—परन्तु वन्धनार्थ में निदान शब्द के प्रयोग का, जो भट्टार हरिचन्द्र नामक विद्वान् वैद्य का मत है, मधुकोपकार श्री विजयरक्षित ने खण्डन किया है । भट्टार हरिचन्द्र का तात्पर्य यह है कि जिसके द्वारा हेतु, पूर्वरूप, उपशय, सम्प्राप्ति में युक्त व्याधियों का निवन्धन हो उसको निदान कहते हैं । वन्धनार्थक निदान शब्द का प्रयोग अन्यत्र भी पाया जाता है जैसे 'या गौ मुदोहा भवति न ता निदनीत' अर्थात् जो गाय आसानी से दुही जा सके उसको बाँधना नहीं चाहिये । विजय रक्षित का कथन है कि यद्यपि निदान शब्द का व्यवहार वन्धनार्थ होता है, परन्तु वह निदान के लक्षण रूप में नहीं घट सकती, क्योंकि हेत्वादि पाँचों का समुदाय रूप निदान व्याधि का जापक होते हुए भी, फिर वही हेत्वादि का प्रतिपादक नहीं हो सकता । तात्पर्य यह है कि कोई भी वस्तु अपने लिये जापक नहीं हो सकती, उसके लिये दूसरे जापक की आवश्यकता रहती है । जैसे, दीपक अपने प्रकाश से सम्पूर्ण वस्तुओं का जापक होता है, परन्तु दीपक का ही जानना आवश्यक हो तो उसके लिये दूसरे जापक चक्षु आदि इन्द्रियों की आवश्यकता रहती है । इस में अपने में क्रिया विरोध होने में 'स्वात्मनि क्रियाविरोध' दोष, निदान शब्द के वन्धनार्थ प्रयोग होने में आता है अतः यह ठीक नहीं है । वन्धनार्थ ही यदि निदान शब्द का व्यवहार अपेक्षित हो तो वह 'निदानस्थान' नामक अध्याय का बोधक हो सकता है—क्योंकि वहाँ पर हेत्वादि पाँचों का वन्धन पाया जाता है । परन्तु स्वयं निदान निदान का बोधक नहीं हो सकता ।

२ हेतुलक्षणनिर्देशान्निदानानि । (सु०)

३ निर्दिश्यते व्याधिरनेनेति निदानम् । (सु०)

४ निश्चित्य दीयते प्रतिपाद्यते व्याधिरनेनेति निदानम् ।

(जेज्जट)

५ निदीयते निवध्यते हेत्वादिसम्बन्धो व्याधिरनेनेति निदानम् ।

(भट्टार हरिचन्द्र)

६ व्याधिनिश्चयकरणं निदानम् ।

(मधुकोप)

७ तत्र निदान त्वादिकारणम् । (चरक, निदान १)

८ सेतिकर्तव्यताकः रोगोत्पादकहेतुर्निदानम् । (मधुकोप)

व्यवहार में निदान शब्द का प्रयोग व्याधि-विनिश्चय (Diagnosis) के अर्थ में ही होता है । जैसे यदि कोई प्रश्न करे कि क्या आपके रोग का निदान हो गया तो उसका एक ही अर्थ होता है कि क्या आपके रोग का ठीक-ठीक निर्धारण हो गया । ऐसी दशा में निदान शब्द से यहाँ पर सम्पूर्ण निदानपत्रक का ग्रहण हो जाता है जिनके आधार पर रोग का ज्ञान करना संभव रहता है । इस प्रकार निदान शब्द का सामान्यार्थ में प्रयोग Diagnosis के अर्थ में होता है । विशिष्टार्थ में निदान शब्द का प्रयोग रोगोत्पादक हेतु या कारण (Etiology) के रूप में होता है जैसा कि चरक की उक्ति 'निदान त्वादिकारणम्' से स्पष्ट हो रहा है । ऊपर की दो गई निश्क्तियों पर ध्यान दे तो निदान शब्द उभयार्थ १ व्याधि विनिश्चय तथा २ कारण के रूप में प्रयुक्त मिलता है ।

दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि निदान शब्द उभयार्थी है । इससे व्यक्ति एवं जाति दोनों का बोध होता है । व्यक्ति अर्थ में यह उत्पादक निदान या हेतु का बोधक और जाति के अर्थ में यह पूरे निदानपत्रक का बोधक होकर रोग के Diagnosis का बोधक होता है, क्योंकि निदान-पूर्वरूप-रूप उपशय-सम्प्राप्ति इन पाँचों का अंतिम उद्देश्य रोग का निदान ही करना है । रोग का निदान कही कारण से, कही पूर्वरूप से, कही रूप से कही उपशय और सम्प्राप्ति से पृथक्-पृथक्, दो, तीन, चार या पाँचों के द्वारा मिलाकर किया जाता है ।

सूक्ष्म दृष्टि से विचारे तो दोनों अर्थों में कोई विशेष अन्तर नहीं है और दोनों हेतु के ही प्रतिपादक होते हैं । हेतु या कारण के दो प्रकार हो सकते हैं उत्पादक तथा व्यजक । निदानपत्रक के पाँचों पदार्थों में से निदान कारण रूप में उत्पादक हेतु का बोधक और शेष चार पूर्वरूप-रूपादि ज्ञापक या व्यजक हेतु का बोध कराते हैं । इस प्रकार दोनों अर्थ हेतु के ही बोधक होते हैं ।

पर्याय—शास्त्र में निदान शब्द का प्रयोग अधिकतर विशिष्टार्थ में अर्थात् रोगोत्पादक कारण या हेतु के रूप में ही हुआ है, रोग विनिश्चय के अर्थ में नहीं । इसकी पुष्टि करते हुए एकार्थवाची पर्याय शब्दों का व्यवहार शास्त्र में पाया जाता है जिसके आधार पर निदान को कारण मानना ही न्यायोचित है । यथा—'निमित्तहेत्वायतन प्रत्योत्थान कारणै' 'निदानमाहु पर्यायै ।' ये शब्द पृथक्-पृथक् निदान के अर्थ में व्यवहृत होते हैं । इनसे निदान का विशिष्टार्थ में हेतु या कारण का ही बोध होता है । अंग्रेजी में इसका पर्याय Casuative Factors or Etiology होगा ।

निदान का निर्दुष्ट लक्षण—‘हेतुः निदानम्’ यदि ऐसा लक्षण किया जाय तो यह ठीक नहीं क्योंकि हेतु कई प्रकार के होते हैं जैसा कि ऊपर उत्पादक और व्यजक अथवा कुछ ऐसे भी कारण हो सकते हैं जिन्हें अन्यथासिद्ध कारण कहते हैं—जैसे कि घट के निर्माण में गदहा और उसके ऊपर लादो जानेवाली मिट्टी, वस्ता आदि। फलतः लक्षण की अतिव्याप्ति हो जावेगी और ऐसे भी कारणों का इस लक्षण में समावेश हो जावेगा जिनका रोगोत्पादन में कोई भी भाग नहीं है। अस्तु, ऐसा लक्षण करना दोषयुक्त होगा।

अब दूसरा लक्षण बनावे ‘व्याधयुत्पत्तिहेतुर्निदानम्’ या ‘रोगोत्पादकहेतुर्निदानम्’ अर्थात् रोगोत्पादक हेतु को निदान कहते हैं। तो विजयरक्षित जी कहते हैं कि यह भी ठीक नहीं है क्योंकि इस लक्षण की सम्प्राप्ति के लक्षणों में अतिव्याप्ति हो जावेगी, क्योंकि कुछ विद्वान् प्रकुपित दोषों के व्यापार को सम्प्राप्ति मानते हैं— ‘प्रकुपितदोषाणां व्यापारत्वं रोगोत्पत्तित्वं सम्प्राप्तित्वं वा।’ ऐसी अवस्था में रोगोत्पादक हेतुत्व और प्रकुपित दोषों के व्यापार में कोई अन्तर नहीं रह जावेगा। अस्तु, सम्प्राप्ति के लक्षणों से वचाने के लिये कुछ और विशेषण जोड़ने की आवश्यकता है। सम्प्राप्ति में अतिव्याप्ति वचाने के लिये लक्षण किया गया— ‘सेतिकर्तव्यता को रोगोत्पादकहेतुर्निदानम्।’ अर्थात् ‘दोषप्रकोपणपूर्वक रोगोत्पादकत्व निदानत्वम्’। इसका सरल अर्थ होता है दोष एवं दुष्ट दोषजन्य विकृति के सहित रोगोत्पादक हेतु का नाम ही निदान है।

सेतिकर्तव्यताकः—कर्तव्यस्य इति प्रकारः इतिकर्तव्यं, तस्य भाव इति-कर्तव्यता, तथा सहित सेतिकर्तव्यताक, व्यापारवैविध्य युक्तो हेतुर्निदानम्। एवं सति रुक्षादीनां भावानां वातादिप्रकोपणं दृष्याणाञ्चामाशयादीनां दूषणादिरूपा च इतिकर्तव्यता। वातादीनाञ्च चय-प्रकोप-प्रसर-स्थानसंश्रयदृष्यादि-दूषणरूपाः तस्माद् रुक्षादीनां वातादीनाञ्च निदानत्वम्।

तात्पर्य यह है कि निदान अकुपित दोषों को कुपित करता है, फिर दोष, दूष्य आमाशयादि को दूषित कर रोग को उत्पन्न करता है यही इति कर्तव्यता या व्यापार है—इस व्यापार के साथ जो रोगोत्पादक हेतु है उसको निदान

कहते हैं। जब कि सम्प्राप्ति में केवल कुपित दोषों का व्यापार ही रहता है। अस्तु, निदान का निर्दुष्ट (दोषरहित) लक्षण 'सेतिकर्तव्यताको रोगोत्पादक-हेतुनिदानम्' यही होगा।

कुछ विद्वानों ने व्याधिजन्म को सम्प्राप्ति माना है 'व्याधिजन्मेव सम्प्राप्ति'। यही यदि सम्मत हो तो 'व्याध्युत्पत्तिहेतुनिदानम्' इतना ही लक्षण हेतु का बनाया जावे, यह पर्याप्त एव निर्दुष्ट होगा। इस लक्षण को सम्प्राप्ति में अतिव्याप्ति नहीं होगी, साथ ही उत्पादक शब्द देने से ज्ञापक कारणों जैसे, पूर्वरूप-रूप-उपशय से भी लक्षण की निवृत्ति हो जावेगी क्योंकि ये तीनों रोग के उत्पादक न होकर ज्ञापक या व्यजक मात्र होते हैं।

उपर्युक्त लक्षण के आधार सकल कारण-समूह अर्थात् बाह्य—मिथ्याहार-विहार, अभिघात एव अणु जीवों के उपसर्ग तथा आभ्यन्तर कारण—दोषवैषम्य एव दूष्य-दोष-सयोग का भी निदान शब्द से रोग जनक निमित्त-समवायि तथा असमवायि तीनों कारणों का ग्रहण हो जाता है। परन्तु स्व० गणनाथ सेन सरस्वती जी ने केवल बाह्य कारण को ही निदान माना है, जैसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट हो रहा है—

बाह्यं निमित्तं रोगाणां निदानमिति कीर्तितम्।

विधाय दोषवैषम्यं साक्षाद् वा रोगकारि तत्॥

निमित्तं पद समवायिकारणानां दोषदूष्याणाम्, असमवायिकारणस्य दोषदूष्यसंयोगस्य वारणार्थम्।

(सिद्धान्तनिदानम्)

स्व० गणनाथ सेन जी का सिद्धान्त जिसमें बाह्य निमित्तों को ही रोगोत्पादक हेतु माना गया है, समुचित प्रतीत होता है, क्योंकि रोगोत्पादक अन्य कारणों का समवायी एव असमवायी कारणों का तो सम्प्राप्ति में भी अन्तर्भाव हो जाता है। वस्तुतः प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति के लिये समवायी, असमवायी एव निमित्त त्रिविध कारणों की आवश्यकता पड़ती है। रोग भी एक कार्य है, उसकी उत्पत्ति में दोष-वैषम्य समवायिकारण, दोष-दूष्य-सयोग असमवायिकारण तथा बाह्य आहार, आचार, अभिघात, जीवाणु आदि निमित्तकारण रूप में पाये

जाते हैं। इस प्रकार रोग में इन तीनों की उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती है। तीनों की स्वतन्त्र सत्ता है, तीनों अन्योन्य प्रेरित भी हैं। ये परस्पर अनुस्यूत हैं, विरोधी नहीं हैं अतः तीनों की रोगोत्पत्ति में कारणता मानी जाती है। रोगविशेष के अनुसार इन कारणों में प्रधानता या अप्रधानता पाई जाती है। इनकी प्रधानता या अप्रधानता के आधार पर चिकित्सा में भी वैशिष्ट्य करना होता है।

उपर्युक्त कथन पूर्ण शास्त्रसम्मत है। तथापि मूल के मूल कारण का विचार किया जावे तो इन त्रिविध कारणों में बाह्य निमित्त को महत्त्व देना होगा क्योंकि सर्वप्रथम बाह्य निमित्त ही रोगोत्पादन में हेतु बनते हैं। वे दोष-वैषम्य तथा दोष-द्वेष्य-सयोग नामक समवायी तथा असमवायिकारण के मूल में पाये जाते हैं। अस्तु, बाह्य निमित्तों को ही कारण मानना युक्तिमंगत प्रतीत होता है क्योंकि वे दोष-वैषम्य पैदा करके अथवा आगन्तुक कारण बिना दोष-वैषम्य पहले पैदा किये ही रोग पैदा कर देते हैं पश्चात् दोष-दुष्टि होती है, फलतः श्रीगणनाथ सेन जी का मत अधिक विज्ञानसम्मत प्रतीत होता है। रोगोत्पादक हेतुओं का वर्णन करते हुए श्री तीसराचार्य ने चिकित्सा-कलिका में जो हेतु गिनाये हैं वे प्रायः बाह्य निमित्तों के ही सूचक हैं। फलतः बाह्य निमित्तों को रोगोत्पादक हेतु रूप में मान्यता दी है। जैसे—

व्यायामादपतर्पणात् प्रपतनाद् भंगात् क्षयाज्जागरात्
वेगानां च विधारणादतिशुचः शैत्यादतित्रासतः ।

रूक्षक्षोभकपायतिक्तकटुभिरेभिः प्रकोपं व्रजेत्
वायुर्वारिधिरागमे परिणते चाह्नेऽपराह्नेऽपि च ॥

कट्व्म्लोष्णविदाहितीक्ष्णलवणक्रोधोपवासातपः—

स्त्रीसम्पर्कतिलातसीदधिसुराशुक्तारनालादिभिः ।

भुक्ते जीर्यति भोजने च शरदि ग्रीष्मे सति प्राणिना
मध्याह्ने च तथार्धरात्रिसमये पित्त प्रकोपं व्रजेत् ॥

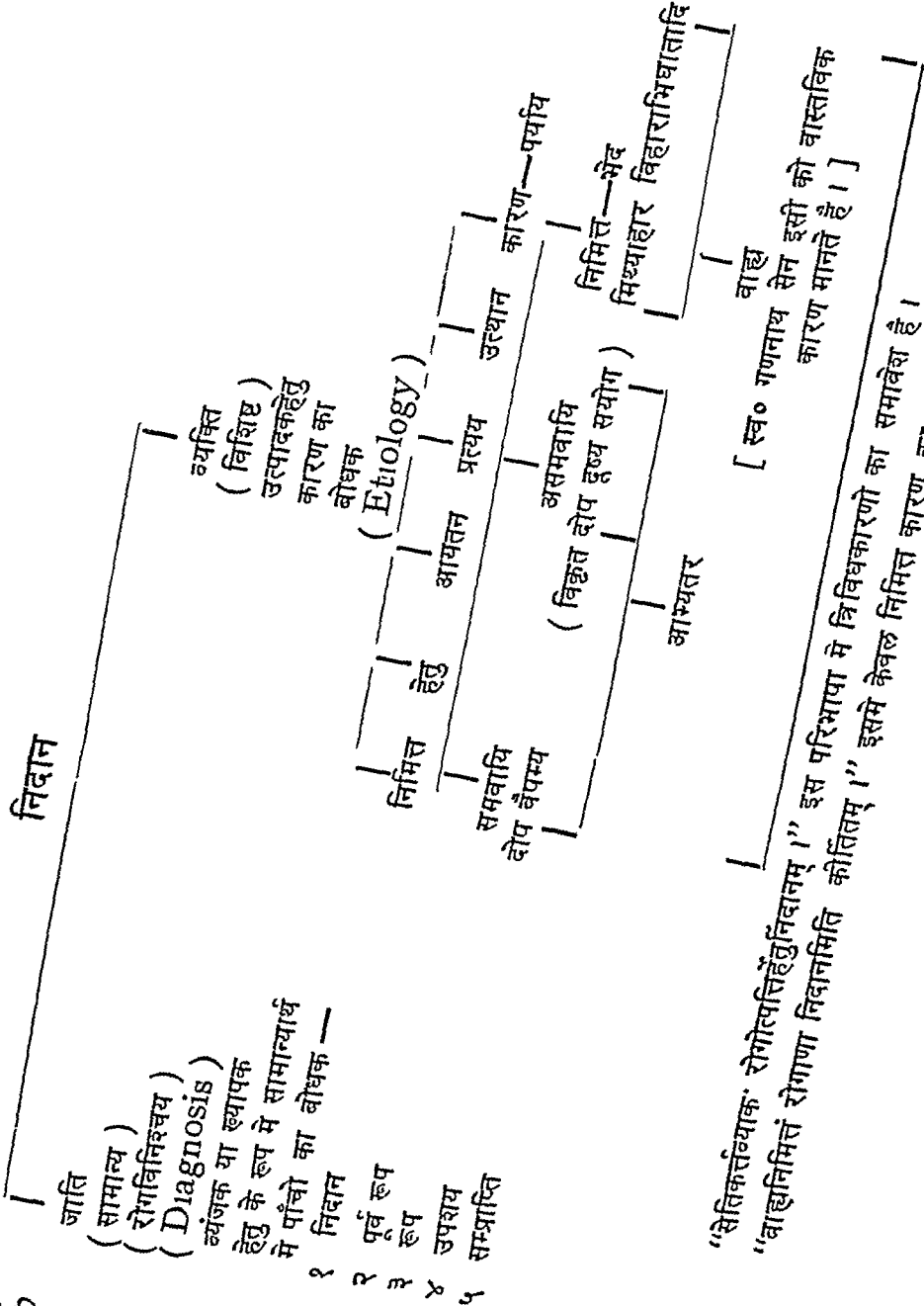
गुरुमधुररसातिस्निग्धदुग्धेक्षुभक्ष्य-

द्रवदधिनिद्रापूपसर्पिःप्रपूरैः ।

तुहिनपतनकाले श्लेष्मणः सम्प्रकोपः

प्रभवति दिवसादौ भुक्तमात्रे वसन्ते ॥

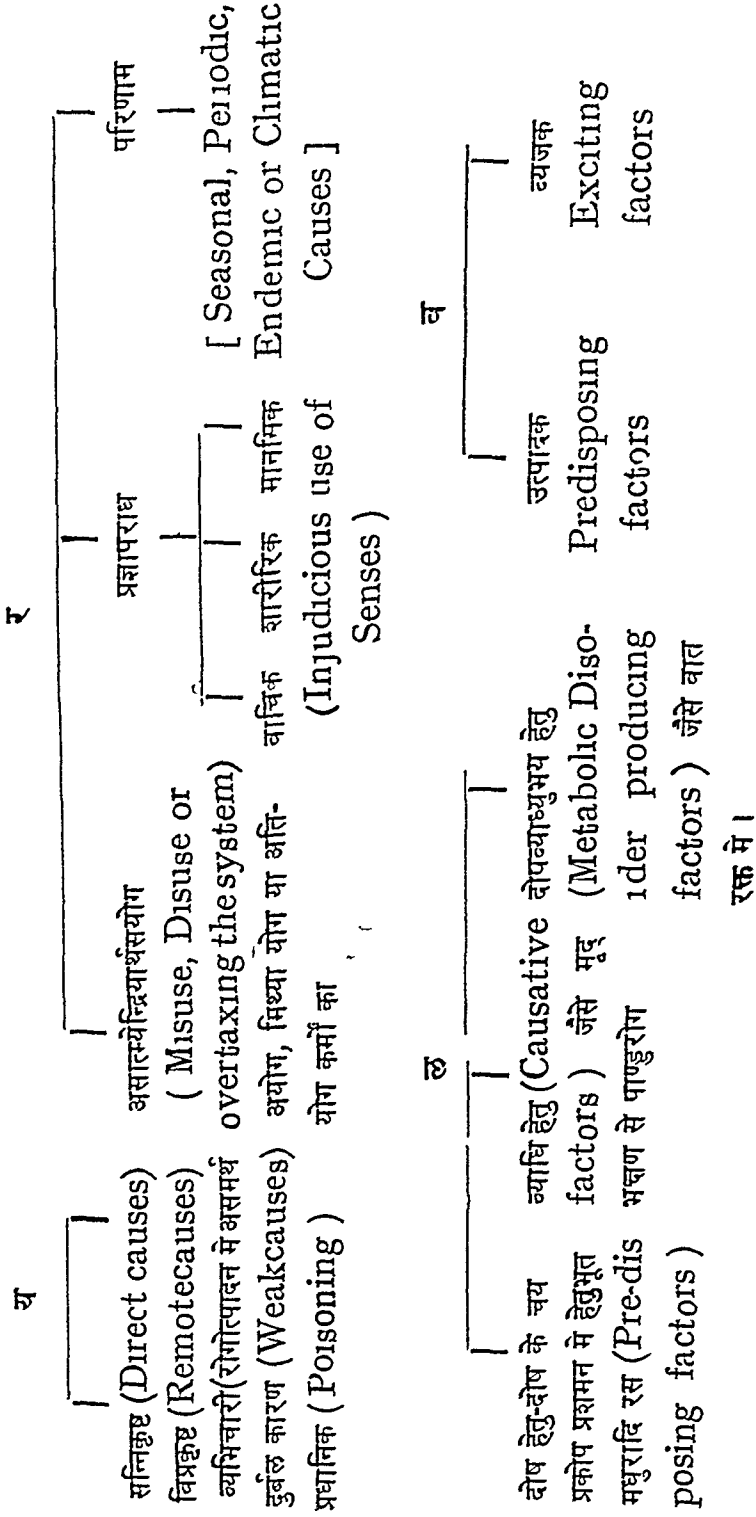
विषय के समझने में सरलता लाने के लिये हेतु लक्षण सूचक तथा हेतु प्रभेद सूचक दो कोष्ठक यहाँ पर प्रस्तुत किये जा रहे हैं ।

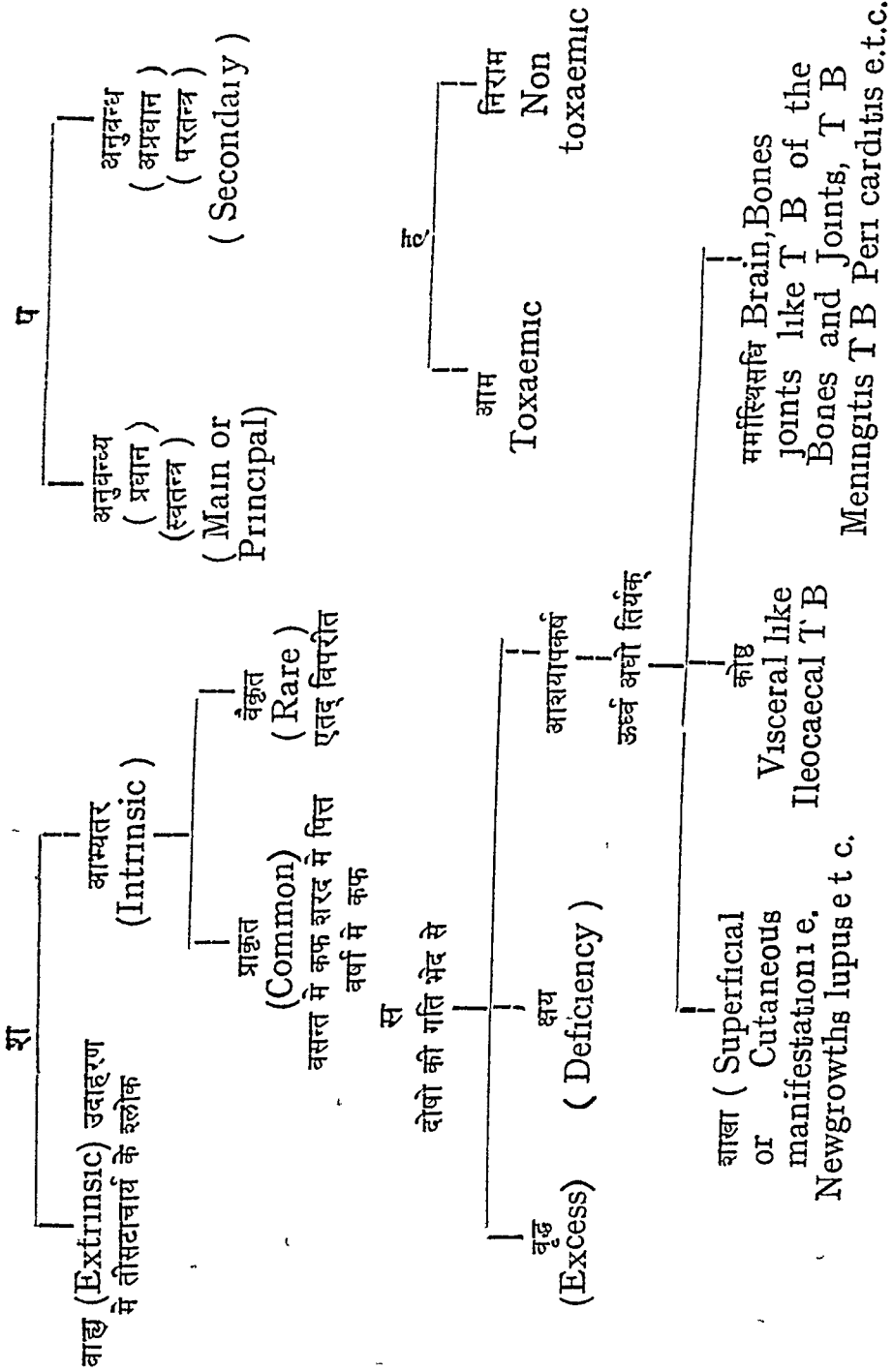


“सैत्तिकर्तव्याकः रोगोत्पत्तिर्हेतुनिदानम् ।” इस परिभाषा में त्रिविधकारणों का समावेश है ।
 “वाह्यनिमित्तं रोगाणां निदानमिति कीर्तितम् ।” इसमें केवल निमित्त कारण का ग्रहण किया गया है ।

हेतु-प्रभेद (८)

(Types of Causes)





हेतु भेद—सर्व प्रथम हेतु के चार भेद होते हैं मन्निक्कष्ट, विप्रक्कष्ट, व्यभिचारी तथा प्राधानिक । सन्निक्कष्ट-रात, दिन एवं भोजन के तीन विभाग लिये गये हैं, उन विभागों में कुछ दोषों का स्वभाव से बोध होकर रोगोत्पत्ति होती है, उनमें संचय की अपेक्षा नहीं रहती है—जैसे दिन के प्रातः काल (प्रभात में) में कफ का, दिन के मध्य (दोपहर में) पित्त का और सायाह्न (शाम को) में वायु का कोष होता है । इसे Exposure कह सकते हैं जो रोगोत्पादन में मन्निक्कष्ट हेतु बनता है ।

विप्रक्कष्ट—हेमन्त ऋतु में संचित हुआ कफ वसन्त ऋतु में कफज रोग पैदा करता है । यह दूरस्थ या विप्रक्कष्ट हेतु है । ज्वर में सन्निक्कष्ट हेतु मिव्याहार विहार हैं, परन्तु विप्रक्कष्ट हेतु रुद्ध कोष है । इसे अग्रेजी में Remote cause कह सकते हैं । जैसे उपसर्गजन्य ज्वरों में एवं कालाजार में मरमञ्जिका दंश यह Remote cause और Leishmen Don bodies का उपसर्ग मन्निक्कष्ट हेतु है इनमें जो प्रबल होता है सर्व प्रथम उसका उपचार अपेक्षित रहता है परन्तु यदि विप्रक्कष्ट हेतु ही प्रबल हो जाय तो प्रथम उसी का उपचार करना न्यायोचित रहता है । बलाबल का विचार करते हुए मन्निक्कष्ट तथा विप्रक्कष्ट हेतुओं का परिवर्जन पूर्वापर भेद से कहना आवश्यक होता है ।

विप्रक्कष्ट कारणों के शरीर में प्रवेश से लेकर रोगोत्पत्ति होने तक का काल संचय काल (Incubation period) कहलाता है ।

व्यभिचारी—जो हेतु दुर्बल होने से व्याधि को उत्पन्न करने में असमर्थ होता है उसे व्यभिचारी कहते हैं । “अबलीयासोऽन्ननुवन्ति न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिः” चरक । प्रतिदिन बहुत प्रकार असात्म्य द्रव्यों का सम्पर्क, रोगोत्पादक जीवाणुओं का सन्निवेश या मिथ्या आहार, विहार, आचार, खाद्य, पेयादि का संबंध शरीर के साथ होता रहता है यदि रोगोत्पादक हेतु कमजोर हुए अथवा शरीर की रोग निरोधी क्षमता (Immunity) प्रबल हुई तो रोग नहीं पैदा होते हैं । इस प्रकार के रोगोत्पादक हेतु व्यभिचारी स्वरूप के होते हैं । रोगोत्पादन में इनका महत्त्व न होने से इनका व्याधि के निदान में कोई प्रमुख स्थान नहीं दिया जा सकता । (Natural Immunity, Body resistance)

प्राधानिक—प्रबल-प्रधान या उग्र स्वरूप के हेतु जो शरीर गत दोषों को कुपित करके (Metabolic Disturbances पैदा करके) सब रोगोत्पादक होता है उसे प्राधानिक हेतु कहते हैं । विविध प्रकार के मारक विषों का सेवन इस वर्ग में आता है । “रुक्ममुष्णं तथा तीक्ष्ण सूक्ष्म मागुव्यवायि चाविकाणि विशदञ्चैव लव्णपाकि च तत्स्मृतम् ॥” (सु०)

संहिताओ में हेतुओं के सम्बन्ध में एक दूसरा वर्गीकरण भी पाया जाता है । इसमें रोगोत्पादन में तीन कारणों की महत्ता दी जाती है । यह भी एक सामान्य वर्णन है । रोगविशेष के साथ इनका विशिष्ट रूप भी मिलता है । सभी रोगों की उत्पत्ति में इनकी उपस्थिति अवश्यभावी है । कही एक, क्वचित् दो और कही तीनों मिल कर रोगोत्पादन करते हैं । इनके नाम १ असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग २ प्रज्ञापराध तथा ३ परिणाम है । इनकी एकैकश व्याख्या नीचे प्रस्तुत की जा रही है ।

असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग—पञ्चकर्मेन्द्रिय तथा उभयात्मक मन का उनके ग्रहण करने योग्य विषयों में अतियोग, अयोग या मिथ्यायोग का होना रोगोत्पादक होता है । उदाहरण के लिये चक्षुरीन्द्रिय को ले—अति भास्वर वस्तु का अधिक देखना अतियोग, विलकुल आँखों को बन्द किये रहना और न देखना अयोग और अति सूक्ष्म, भयकर, बीभत्स, अतिदूरस्थ वस्तुओं का देखना मिथ्या योग है । इससे नेत्र के रोग उत्पन्न होते हैं । वैसे ही कर्मेन्द्रिय पैरों को ले—अतिमात्रा में चलना अति योग, विलकुल पैरों से न चलना अयोग या विषम, मृदु या कर्कश भूमि पर चलना मिथ्या योग है—इससे पैरों के रोग पैदा हो सकते हैं । इसी तरह अन्यान्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी समझ सकते हैं । फलतः इन्द्रियों का इन्द्रियार्थ के साथ अति योग, अयोग एवं मिथ्या योग रोगोत्पत्ति का एक प्रमुख हेतु हुआ ।

प्रज्ञापराध—बुद्धि, स्मृति तथा धैर्य के नष्ट हो जाने पर मनुष्य जो भी कार्य करता है वह अयथार्थ ज्ञान या मिथ्या ज्ञान से प्रेरित होकर करता है—यह बुद्धि या प्रज्ञा का अपराध कहलाता है । यह प्रज्ञापराध सर्वदा रोग का उत्पादक होता है । मिथ्याहार-विहार के सेवन से रोगोत्पत्ति प्रज्ञापराधजन्य ही होती है, ससार के समस्त सक्रामक रोगों का हेतु भी प्रज्ञापराध ही है । विविध यौन रोगों (Venereal Diseases) में भी कामुकताजन्य प्रज्ञापराध ही हेतु बनता है । विविध प्रकार के आघातजन्य रोगों (Accidental Injuries) में भी प्रज्ञापराध ही हेतु रहता है । यह प्रज्ञापराध चरक के मत से तीन प्रकार का होता है—शारीरिक, वाचिक, तथा मानसिक ।

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम् ।

प्रज्ञापराधं तं विद्यात्सर्वदोषप्रकोपणम् ॥

त्रिविधं वाङ्मनःशारीरम् कर्म प्रज्ञापराध इति व्यवस्येत् ।

(च० सू० ११)

परिणाम—यह पारिभाषिक अर्थ में व्यवहृत होता है । इसका अर्थ काल है । काल का अर्थ होता है—दिन, रात, आयु, विविध ऋतु आदि । उदाहरणार्थ शिशिर ऋतु को 'ले' इस ऋतु में शीत का अत्यधिक होना अतियोग, शीत का न होना अयोग और क्वचित् उष्ण हो जाना मिथ्या योग कहलाता है । इसी तरह अन्य ऋतुओं के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए । ऐसे जलवायु में प्रायः जो रोग होते हैं, वे परिणामज या कालज कहलाते हैं । उस प्रकार काल या परिणाम रोगोत्पादक हेतु बनता है—मक्षेप में

कालार्थकर्मणां योगो हीनमिध्यातिमात्रकः ।

सम्यग् योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैककारणम् ॥

हेतु का एक दूसरा वर्गीकरण भी किया जा सकता है । जैसे १ दोष हेतु २ व्याधि हेतु तथा ३ उभय हेतु ।

दोष हेतु—दोषप्रकोपक या दोषोत्पादक हेतु दोषहेतु कहलाते हैं । ये उत्पादक और व्यजक भेद से दो प्रकार के होते हैं । हेमन्त में मधुर रस कफ का उत्पादक होता है—(Exciting factor) । हेमन्त ऋतु में सूर्य के सत्ताप से द्रुत होकर कफज रोगों को पैदा करता है—यहाँ पर सूर्यसत्ताप व्यजक हेतु हुआ । इसी प्रकार अन्य ऋतुओं के सचय, प्रकोप एवं प्रशम के सम्बन्ध में भी जाना जा सकता है ।

हेमन्ते निचितः श्लेष्मा दिनकृद्भाभिरोरितः ।

कायान्नि वाधते रोगांस्ततः प्रकुसते बहून् ॥

इस प्रकार दोष हेतु में Metabolic Disturbances पहले होता है पश्चात् रोग पैदा होना है ।

व्याधि हेतु—इसमें हेतु सीधे व्याधि पैदा करता है । पश्चात् दोषों के वैपम्य होते हैं । इसमें अधिकतर आगन्तुक व्याधियों का समावेश हो जाता है । उप-सर्जन व्याधियाँ, अभिघातज व्याधियाँ तथा अन्य बहुत विध रोग जो आधुनिक युग के ग्रंथों में पाये जाते हैं इसी वर्ग में समाविष्ट हैं । पुराने उदाहरणों में 'मृद्भक्षणात् पाण्डुरोगः ।' 'मक्षिकाभक्षणात् छर्दि ।' आदि उदाहरण पाये जाते हैं ।

दोष व्याध्युभय हेतु—विशिष्ट प्रकार के दोष प्रकोपण पूर्वक विशिष्ट व्याधि का होना इस वर्ग में समझना चाहिए । इस की पुष्टि में वातरक्त रोग का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है । जिसमें हाथी, ऊँट और घोड़ा जैसे यान पर चलने से वात की, विदाही अन्न के सेवन से रक्त की तथा पैर लटके रहने वाली सवारियों की व्याधिकारिता दोष-हेतु और व्याधि-हेतु उभय हेतु प्रतिपादक होते हैं ।

हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छतश्चाश्नतश्च विदाह्यन्नं स विदाहाश्नस्य ।
कृत्स्नं रक्तं विदहत्याशु तच्च स्रस्तं दुष्टं पादयोश्चीयते तु ॥
तत्संपृक्तं वायुना दूषितेन तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम् ।

इसमे दो प्रकोपक विदाही अन्नादि तथा रोगात्पादक हस्त्यश्वोष्ट्र यान दोनो हेतु दर्शाये गये हैं । यहाँ पर उपचार मे वात एव रक्त दोषो का शमन तथा ऐसे यान या ऐसे व्यवसाय जिसमे पैर का लटकाना आवश्यक हो, निषिद्ध हैं । फलतः यहाँ पर दोष व्याधि उभय प्रत्यनीक चिकित्सा करनी चाहिये ।

यहाँ पर शका होती है कि “कारणनाशात्कार्यनाश ” (कारण के नाश से कार्य का नाश होना) प्रसिद्ध है तो दोष वैषम्य जो रोग का कारण है उसको दूर कर देने से रोग दूर हो जावेगा । अर्थात् दोषो के उपशम होने से अन्य उपचार के बिना ही व्याधि का स्वयमेव शमन हो जावेगा । ठीक है, परन्तु जहाँ पर दोष और व्याधि दोनो के उत्पादक कारण मौजूद हैं और प्रत्येक औषध द्रव्य की शक्ति सीमित है, एक ही औषधि व्याधि एव दोष दोनो का उन्मूलन नहीं कर सकती । उदाहरण के लिये श्लैष्मिक तिमिर रोग को ले यहाँ पर श्लेष्महर वमन करा देने से रोग का शमन हो जाना चाहिये, परन्तु होता नहीं प्रत्युत वमन का निषेध पाया जाता है । “न वामयेत् तैमिरिक न गुल्मिन न चापि पाण्डूदररोग-पीडितम्” (चरक) । इस से स्पष्ट है कि औषध द्रव्यो की शक्ति नियत या सीमित है । अस्तु, दोष और रोग उभय प्रत्यनीकचिकित्सा की आवश्यकता पडती है । इसी प्रयोजन से वातज शोथ रोग मे वातनाशक एव शोथनाशक दशमूल कषाय का प्रयोग पाया जाता है ।

उभय प्रत्यनीक चिकित्सा विधियो मे ‘सर्जिकल रोगो’ का उदाहरण देना अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है । जैसे श्लीपद, गलगण्ड, आदि व्यधियो मे दोष प्रत्यनीक आभ्यतर प्रयोगो के साथ साथ स्थानिक उपचार लेप, रक्त विस्रावण, दाह कर्म प्रभृति स्थानिक व्याधि प्रत्यनीक उपचार भी आवश्यक हो जाते हैं । इसी प्रकार वातरक्त मे रक्तविस्रावण कर्म व्याधि प्रत्यनीक होता है ।

वाह्य तथा आभ्यतर भेद से भी हेतुओ के दो प्रकार पाये जाते हैं । रोगोत्पत्ति मे वाह्य हेतुओ का बड़ा वर्ग तीसटाचार्य के चिकित्साकलिका मे पाया जाता है । इस वर्ग मे आहार, विहार, ऋतु, काल, जीवाणु, आघात, दश, विद्युत्, रासायनिक क्षोभक द्रव्य तथा विषो का ग्रहण किया जा सकता है । ये सद्यो घातक या दोषप्रकोपण पूर्वक रोगोत्पादन करके कालान्तर मे घातक हो सकते हैं ।

आभ्यतर हेतुओ मे दोष दूष्य संयोग माना जाता है । यह प्राकृत एवं वैकृत

भेद से दो प्रकार का हो सकता है। प्राकृत दोषो मे वसन्त मे कफ, शरद मे पित्त और वर्षा मे वात का कोप होता है। वैकृत मे इसके विपरीत अर्थात् वसन्त मे पित्त या वायु का, शरद मे वात एवं कफ का तथा वर्षा मे पित्त और कफ का होना वैकृत दोष कहलाता है। इनके ज्ञान से रोग की सुखसाध्यता या कृच्छ्र नाध्यता का अनुमान रोगो के वारे मे होता है। जैसे वसन्त एवं शरद ऋतु मे प्राकृत दोषजन्य रोग सुखसाध्य होता है, इन ऋतुओ मे वैकृत दोषजन्य रोग कृच्छ्रसाध्य होता है। वर्षा ऋतु मे होने वाला प्राकृत वातिक ज्वर भी कृच्छ्रसाध्य होता है—

प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः।

वैकृतोऽन्यः स दुःसाध्यः प्राकृतश्चानिलोद्भवः ॥ (चरक)

ससर्गज, ससृष्ट या उपद्रवयुक्त व्याधियो मे अनुवध्य और अनुवध के भेद से हेतुओ का दो भेद करना होता है, अनुवध्य का अर्थ प्रधान या स्वतन्त्र हेतु और अनुवध का गौण या परतन्त्र हेतु है। रोग तथा दोष दोनो का सम्बन्ध विचारणीय होता है। रोग के सम्बन्ध मे विचारें तो प्रधान व्याधि अनुबध्य कहलावेगी और उसमे होने वाल उपद्रव अनुवध। चिकित्सा मे अनुवध्य या प्रधान हेतु के निवारण से अप्रधान का भी निवारण हो जाता है।

इसकी पुष्टि मे चरक का वचन है “तत्रोपद्रवस्य प्राय प्रधानप्रशमात् प्रशमः।” कामला रोग दो प्रकार से होता है—१ पाण्डु रोग में अतिपित्तवर्धक द्रव्यो के सेवन से अनुबन्ध या परतन्त्र रूप मे अथवा २ स्वतन्त्र या अनुवध्य रूप मे। उपचार मे भेद करना होता है—जहाँ पाण्डु अनुवध रूप में हुआ है, पाण्डु रोग की चिकित्सा से ही ठीक हो जाता है, परन्तु जहाँ वह स्वतन्त्र अनुवध्य रूप मे हुआ उसकी अपनी विशिष्ट चिकित्सा करनी होती है। वातकफज व्याधियो मे यदि कफ अनुबन्ध या प्रधान के रूप मे है वहाँ स्निग्ध उष्णोपचार लाभप्रद न रह कर रुक्षोष्ण उपचार लाभप्रद होता है। अस्तु, अनुवध्यानुवध भेद से भी हेतुओ का विचार करना समीचीन रहता है।

रोगी की प्रकृति, दूष्य एव दोष की प्रकृति का विचार भी हेतुओ मे विशेषतः साध्यासाध्य विवेक के लिये करना अपेक्षित रहता है। यदि रोगी की प्रकृति, दूष्य की प्रकृति और दोष की प्रकृति तीनों समान हो जाय तो रोग असाध्य हो जाता है।

“न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत्।”

वाग्भट ने विष चिकित्सा मे भी विष प्रकृति (पित्त), विषकाल (वर्षा), विष वर्धक अन्न (तिल, कुल्थी), दोष (पित्त), दूष्य (रक्त) देश, सात्म्यादि, इनके एक साथ मिलने पर विष सकट बतलाया है। इस दशा में सैकड़ो मे कोई एक जीवित रहता है।

विषप्रकृतिकालान्नदोषदूष्यादिसंगमे ।

विषसंकटमुद्दिष्टं शतस्यैकोत्र जीवति ॥ (अ ह उ० ३५)

दोषो की गति भेद से हेतु तीन प्रकार के पुन हो जाते हैं । 'क्षय. स्थान च वृद्धिश्च दोषानां त्रिविधा गति । ऊर्ध्वश्चाधश्च तिर्यक् च विज्ञेया त्रिविधा परा । त्रिविधा चापरा कोष्ठशाखामर्मास्थि सधिषु । दोषा प्रवृद्धा. स्व लिङ्ग दर्शयन्ति यथाबलम् । क्षीणा जहति स्व लिङ्ग समा स्व कर्म कुर्वते । च सू १५ ।

चिकित्सा मे इन हेतुओ का ज्ञान अपेक्षित है—जिससे सुश्रुत के अनुसार—'क्षीणा वर्धयितव्या , समा पालयितव्या वृद्धा ह्रासयितव्या " अर्थात् क्षीण दोषो को बढ़ावे, बढे दोषो को कम करे और समान दोषो का पालन करे । गति मे ऊर्ध्वग या अधोग आदि का विचार उपचार मे अपेक्षित रहता है । उदाहरणार्थ रक्त पित्त मे प्रतिमार्ग से दोष हरण का विधान है—अर्थात् विपरीत मार्गों से दोषो को निकालना चाहिये । यदि रक्त पित्त ऊर्ध्वग है तो उसका रेचन के द्वारा और यदि अधोग है तो वमन करा के दोषो को निकालने का विधान है "प्रतिमार्गं च हरण रक्तपित्ते विधीयते ।" "विरेक पित्तहराणा" इतने सूत्र से कार्य नही चलता जब तक कि रक्तपित्त रोग मे ऊर्ध्वाध गति का ज्ञान न हो ।

निर्यग् गतियुक्त दोषो से उत्पन्न ज्वर सदृश रोगो मे शास्त्र मतानुकूल चिकित्सा करनी चाहिये । चरक ने दोषो के विविध प्रकार की गतियो को दुर्विज्ञेय कहा है । दोषो की शरीर मे इतनी प्रकार की गतियाँ हो सकती हैं कि उनका ठीक ठीक ज्ञान करना कठिन है तथापि कुछ प्रधान गतियो के अनुसार हेतु तथा व्याधि का भेद किया जा सकता है—अन्यथा जैसे "ससार मे वायु, अग्नि तथा चन्द्र की गतियाँ दुर्विज्ञेय हैं उसी प्रकार वात, पित्त और कफ दोषो की भी शरीर मे होने वाली गतियो की ठीक ठीक जानकारी कठिन होती है ।"

लोके वाय्वर्कसोमानां दुर्विज्ञेया यथा गतिः ।

तथा शरीरे वातस्य पित्तस्य च कफस्य च ॥

(च० चि० २९)

दोषों की गति का ही एक और भेद—आशयापकर्ष भेद से भी गति भेद होता है "क्षय स्थान च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गति ।" यहा स्थान से स्थानापकर्ष या आशयापकर्ष समझना चाहिए । सर्व शरीर व्यापक होते हुए भी प्रत्येक दोष का स्थान या आशय नियत रहता है । "ते व्यापिनोपि हन्ताम्योरधो-मध्योर्ध्वसश्रया." (वाग्भट) । आशय बाँठ होते हैं—वाताशय, पित्ताशय, श्लेष्माशय रक्ताशय, अमाशय, पक्वाशय, मूत्राशय और स्त्रियो में गर्भाशय, (सु०) आम तीर से दोष प्रकुपित 'होकर ही विमार्ग गमन या स्थानान्तरण करते हैं,

परन्तु कई बार दोष अपने नियत आशय स्थान में स्वयं प्रकुपित न होते हुए भी अन्यत्र जा सकते हैं—इसे आशयापकर्ष कहा जाता है। रोगोत्पादन में दोष यहाँ पर भी कारण होता है—इस दोष को आशयापकृष्ट दोष कहते हैं। मधुकोप में विजयरक्षित ने कहा है “जब वायु उचित मान एवं स्थान में स्थित किसी दोष को लेकर अन्यत्र जाता है तो शरीर में उचित मान में होते हुए भी वह दोष उस स्थान पर विकारोत्पत्ति करता है।” इस कथन की पुष्टि में उन्होंने चरक का निम्न वचन उद्धृत किया है।

‘प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारुतः श्लेष्मणः क्षये । स्थानादादायगात्रेषु
यत्र यत्र प्रसर्पति ॥ तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थितः । गात्रदेशे
भवत्यस्य श्रमो दीर्घल्यमेव च । (च० सू० १७)

इस अवस्था में चिकित्सा में विगुण वात का गमन तथा स्थानान्तरित दोष का स्वरथान में लाना ही युक्तियुक्त एवं शास्त्रसम्मत चिकित्सा है। जिन चिकित्सा को दोषों के स्थानापकर्ष नामक सिद्धान्त का ज्ञान नहीं है वह ऐसी अवस्था में दाहादि लक्षणों को देखकर रोग में पित्त की वृद्धि समझ कर पित्त का ह्लासन करते हुए रोग में अन्य रोग पैदा कर रोगी का अनिष्ट कर सकती है। ऐसा भट्टार हरिचन्द्र का मत है।

इस विषय में विपरीत पक्ष के कुछ आचार्यों का कथन है कि सर्व शरीर-व्यापी पित्त जब वायु के द्वारा खिंचे जाकर अन्य अवयवों के पित्त के साथ मिलता है तो उन अवयवों में पूर्व से विद्यमान पित्त इस स्थानाकृष्ट पित्त के साथ मिलकर अधिक हो जाता है। फलतः स्थानापकर्षजन्य दुष्टि भी पित्तवृद्धिजन्य ही होती है वातजन्य नहीं। क्योंकि पित्तज दुष्टि के न होने पर पित्तजन्य होने वाले लक्षण दाह, पाक, मूर्च्छा, श्रम आदि की उपलब्धि असंभव है, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता है। यह भी सत्य है कि उचित मात्रा में स्थित दोष विकारकारी नहीं हो सकता। अतः दाहादि में पित्तवृद्धि की कल्पना करना स्वाभाविक है।

भट्टार हरिचन्द्र ने इस पक्ष का खण्डन और पूर्वपक्ष का मण्डन करते हुए लिखा है कि, यद्यपि यह कथन ठीक है, परन्तु यह कथन भी ठीक है कि रोगोत्पत्ति दोषों की स्थानच्युति से भी होती है। परन्तु अज्ञानवश ही ऐसा कथन किया गया है—ऐसी अवस्था में ‘विरेकः पित्तहराणा’ इस सिद्धान्त के आधार पर इस अवस्था में रेचन कराना हानिप्रद होने से सव्या अनुपयुक्त एवं निषिद्ध है। ऐसे रोगों में स्थानान्तरित पित्त का स्वस्थानानयन ही उपयुक्त चिकित्सा है। स्थानान्तरित पित्त और वृद्धपित्त की चिकित्सा में परस्पर यही भेद भी है। इसी

भेद के प्रतिपादन के लिये आशयापकर्ष का अतिरिक्त वर्णन करना अनिवार्य है। आशयापकर्षजन्य दाह के रोगी आज कल बहुत मिलते हैं। इन्हें Peripheral Neuritis से पीड़ित कहा जा सकता है। हस्तपाद दाह Burning Feet Syndiome बहुत से धातुक्षय जन्य रोगों में यह लक्षण पाया जाता है। यहाँ पर चिकित्सा में धातुओं के पूरण के निमित्त वृहण या वायु शामक उपचार ही प्रगस्त रहते हैं। शीतल या पित्त शामक उपचार उपयोगी नहीं रहते हैं। आज के चिकित्सक भी जीवतिवित्त युक्त आहारविहार या औषधि की व्यवस्था करते हैं। अस्तु, स्थानापकर्षज दाह में वातघ्न चिकित्सा ही करनी चाहिये।

वस्तुतः वात दोष को परम योगवाहो माना गया है। वह पित्त या कफ से संयुक्त होकर उभय विध लक्षणों को पैदा कर सकता है। जब पित्त से संयुक्त होता है तो दाहादि लक्षणों को और श्लेष्म से संयुक्त होता है तो शैत्यादि लक्षणों को भी रोग में पैदा कर सकता है—

योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत् ।

दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात् ॥

दाहसंतापमूर्च्छाः स्युर्वायौ पित्तसमन्विते ।

शैत्यशोफगुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफावृते ॥

दोषों की मार्गानुसार गति—बड़े हुए दोष कभी कोष्ठ में कभी शाखाओं में और कभी मर्मस्थित सधियों में अर्थात् कभी बाह्य, कभी मध्य और कभी अंत मार्गानुसारी होकर पीड़ा पहुँचाते हैं। रोग की साध्यासाध्यता एवं चिकित्सा ज्ञान की दृष्टि से रोगोत्पादन प्रक्रिया त्रिविध मार्गों के अनुसार कैसी होती है यह भी जानना आवश्यक है। भिन्न भिन्न कोष्ठ या धातुओं में दोष की उपस्थिति में चिकित्सा भिन्न भिन्न होती है। यथा आमाशय कफ का स्थान है। यहाँ पर यदि पित्त या वात दोष विगुण होकर पहुँच जावे और विकार पैदा करे तो उनमें कफ का अनुवध अनिवार्य है। एक वायु दोष का उदाहरण ले यदि आमाशय में वात दोष पहुँचा है तो चिकित्सा में स्थानस्थ दोष कफ का ध्यान रखते हुए भी स्नेहन कफ का वर्धक होने से अनुचित रहेगा। अस्तु, यहाँ पर कफ के नाशन के लिए रुचता एवं वात के नाश के लिए स्वेदन करना उत्तम रहेगा। फलितार्थ यह है कि रुच स्वेद करना चाहिए। इसी प्रकार पक्वाशय वात का स्थान है। तद्गत कफ के दोष की शान्ति के लिए वात शामक स्नेहन करके कफ शामक स्वेदन का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् स्निग्ध स्वेद करना चाहिए। आमाशय गते वाते कफे पक्वाशयास्थिते रुक्षपूर्वो हित स्वेद स्नेहपूर्वस्तथैव च। क्योंकि स्थान जयेद्धि पूर्वं तु स्थानस्थस्याविरोधतः ।”

इसी प्रकार दोष के साथ साथ धातु का भी ज्ञान करने की आवश्यकता चिकित्सा में सुकरता लाने के लिए पड़ती है। जैसे सभी विषम ज्वर त्रिदोष होते हैं। उनके आश्रय गत धातु का भी ज्ञान हो जाये तो दोनों पर क्रिया करने वाली औषधि का उपयोग किया जा सकता है। जैसे 'मन्ततोरम रक्तस्थ मोन्येद्युः पिघिताश्रितः' इत्यादि। इसी प्रकार स्नायुमर्मास्थि मधियों में भी दोष की गति के ज्ञान की अपेक्षा रहती है। इसमें भी चिकित्सा में मौक्य आता है। जैसे कि सुश्रुत ने लिखा है। स्नायु एवं मर्म स्थानों के व्रणों में अग्नि कर्म न करे।

नाग्निकर्मोपदेष्टव्यं स्नायुमर्मव्रणेषु च ।

आम एवं निराम भेद में भी हेतु के दो प्रकार किये गये हैं। आम-जाठराग्नि या पाचकाग्नि की दुर्बलता से, आदि धातु रम का परिपाक उत्तम नहीं होता। यह अपक्व रस आमाशय में रहता है और 'आम' कहलाता है। इस आम ने वात-पित्त एवं कफ त्रिदोष तथा रक्तादिदूष्य दूषित हो कर 'माम' कहलाते हैं। परिणामस्वरूप दोष दूष्य मम्मूर्च्छता जन्य होने वाली व्याधियाँ भी इसमें संयुक्त होकर आम कहलाती हैं। साम रोगों में निम्नलिखित लक्षण मिलते हैं—त्रोट-सावरोध (मलमूत्र संग स्वेदावरोध), बल हानि, गौरव, वायु की मूटता (स्कावट या अप्रवृत्ति), आलस्य, भोजन का परिपाक न होना, लालास्राव, मल की अति प्रवृत्ति, अरुचि, क्लम (थकावट)। इसके विपरीत लक्षण निराम व्याधियों में पाये जाते हैं।

ऊष्मणोऽल्पवलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम् ।

दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते ॥

आमेन तेन संयुक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः ।

सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः ॥

स्रोतोरोधबलभ्रंशगौरवानिलमूढताः ।

आलस्यापक्तिनिष्ठीवमलमेदारुचिक्लमाः ॥

लिङ्गं मलानां सामानां निरामाणां विपर्ययः । (वा० सू० १३)

यह आम जिस स्थान पर रहता है, शरीर में स्वकारण कुपित जिस दोष से दूषित रहता है उस दोष के तोड़, दाह, गौरव आदि लक्षणों के साथ आम जनित स्रोतोवरोधादि लक्षणों से कष्ट उत्पन्न करता है—

यत्रस्थमामं विरुजेत्तमेव देशं विशेषेण विकारजातैः ।

दोषेण येनावततं शरीरं तल्लक्ष्यैरामसमुद्भवैश्च ॥

नामवायु लक्षण—

वायुः सामो विवन्धाग्निसादतन्द्रान्त्रकूजनैः ।
वेदनाशोधनिस्तोदैः क्रमशोद्भानि पीडयेत् ॥
विचरेद्युगपन्चापि गृह्णाति कुपितो भृशम् ।
स्नेहाद्यैर्वृद्धिमाप्नोति सूर्यमैघोदये निशि ॥

निराम वायु लक्षण—

निरामो विशदो रूक्षो निर्विवन्धोल्पवेदनः ।
विपरीतगुणैः शान्तिं स्निग्धैर्याति विशेषतः ॥

सामपित्त लक्षण—

दुर्गन्धं हरितं श्यावं पित्तमम्लं स्थिरं गुरु ।
अम्लिकाकण्ठहृद्वाहकरं सामं विनिर्दिशेत् ॥

निरामपित्त लक्षण—

आताम्रं पीतमत्युष्णं रसे कटुकमस्थिरम् ।
पक्वं विगन्ध विज्ञेयं रुचिपक्वत्वप्रदम् ॥

साम कफ लक्षण—

आविलस्तन्तुलः स्त्यानः कण्ठदेशे तु तिष्ठति ।
सामो वलासो दुर्गन्धः क्षुद्रुद्गारविघातकृत् ॥
फेनवान् पिण्डितः पाण्डुर्निःसारो गन्ध एव च ।

निराम कफ लक्षण—

पक्वः स एव विज्ञेयश्छेदवान् वक्त्रशुद्धिकृत् ।

नाम निराम इस परिज्ञान का उद्देश्य चिकित्सा में सामावस्था में पाचन तथा निरामावस्था में शमन उपचार करना है ।

परस्पर सम्बद्ध होकर तरतमादि भेद से दोष भेद वासठ प्रकार के होते हैं । इसका विशद वर्णन सुश्रुत के दोष विकल्पाध्याय तथा चरक सूत्र १७ वे अध्याय में मिलता है ।

पूर्वरूप लक्षण

(Definition of prodromata)

पूर्वरूपनिरुक्ति—रोग के जानने का दूसरा साधन पूर्वरूप है । रोग की उत्पत्ति के पूर्व जो भावी व्याधि का लक्षण मिलता है उसे पूर्वरूप कहते हैं । इसकी निम्नलिखित निरुक्तियाँ शास्त्र में पाई जाती हैं ।

१. पूर्व + रूप या प्राक् + रूप अर्थात् यथार्थ रूप के पैदा होने के पूर्व के चिह्न या वह चिह्न जिससे भावी व्याधि का अनुमान हो सके ।

- २ अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम् । (च० चि० ११)
 ३ पूर्वरूपं प्रागुत्पत्तिलक्षणं व्याधेः । (च०चि० १)
 ४ तेन अव्यक्तान्येव लिङ्गानि पूर्वरूपम् । (चक्रपाणि)
 ५ प्राग्रूपं येन लक्ष्यते ।
 ६ स्थानसंश्रयिणः क्रुद्धा भावि-व्याधिप्रबोधकम् ।
 लिङ्गं कुर्वन्ति यदोषाः पूर्वरूपं तदुच्यते ॥ (मुश्रुत)
 ७ उत्पिसुरामयो दोषविशेषेणानधिष्ठितः ।
 लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद् व्याधीना तद्यथायथम् ॥ (गम्भट)
 ८ यतो मेवादपि भाविनी वृष्टिरनुमीयते, यथा वा रोहिणीं दृष्ट्वा
 कृत्तिकोदयोऽनुमीयते तथा पूर्वरूपमिति । (चक्रपाणि)
 ९ “भाविष्यद् व्याधिबोधकं लिङ्गं पूर्वरूपम्” या “भाविन्याधि-
 बोधकमेव लिङ्गं पूर्वरूपम्” । (मधुकोष)
 १० तच्च द्विविधम् १. सामान्यम् २. विशिष्टञ्च ।
 प्रथमं तावत्-अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम् ॥
 (च० चि० १०)
 लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद् व्याधीना तद्यथायथम् । (वाग्भट)
 द्वितीयं तावत्-दोषदूष्य सम्मूर्च्छनावस्था जन्यमव्यक्तलिङ्गादन्यदेव ।
 यथा ज्वरं बालप्रद्वेपरोमहर्षादि ।
 ११ व्याधेर्जातिर्विभूषा च पूर्वरूपेण लक्ष्यते ।
 भावः किमात्मकत्वञ्च लक्ष्यते लक्षणेन हि ॥
 १२ पूर्वरूपं नाम येन भाविन्याधिविशेषो लक्ष्यते न तु दोषविशेषः ।
 (पराशर)
 १३ तच्च त्रिविधं शरीरं, मानसं, शारीरमानसञ्च । (अरुणदत्त)
 मेरे विचार से एक आगन्तुक भी मान लिया जावे तो चतुर्विध कहना
 अधिक उत्तम होगा ।

पूर्वरूप का निर्दुष्ट लक्षण—उपर्युक्त निरुक्तियों में दो तरह के प्रधान विचार पूर्वरूप की व्याख्या में पाये जाते हैं १. कुपित होकर स्थानसंश्रय को प्राप्त हुए दोष भावि व्याधि के ज्ञापन कराने वाले जिन लक्षणों को पैदा करते हैं उन लक्षणों को पूर्वरूप कहते हैं (मु०) । इस प्रकार दोषकृत लक्षणों को ही पूर्वरूप कहा गया है । रोगोत्पत्ति एवं क्रियाकाल के सम्बन्ध में मुश्रुतोक्त वचनों का ऊपर में विस्तृत वर्णन हो चुका है—किस प्रकार दोषों के संचय प्रकोप, प्रसर एवं स्थान संश्रय से रोग या व्याधि उत्पन्न होती है । इसमें दोषों के

इसमे एव या ही शब्द के कथन से निदान सम्प्राप्ति तथा उपशय तीनों से लक्षण की अतिव्याप्ति दूर हो जाती है। क्यो कि निदानादि तीनों भावी तथा वर्तमान दोनों प्रकार के व्याधियों के बोधक होते हैं, परन्तु पूर्वरूप केवल भावी व्याधिका ही बोधक होता है। यहाँ पर कुछ उदाहरण देना अपेक्षित है कि किस प्रकार से निदान उपशय एवं वर्तमान दोनों प्रकार की व्याधिका का बोध कराते हैं।—

	मृद् भक्षण—	भाविपाण्डुरोग का बोधक।
निदान	{ मृद्भक्षण से रोगवृद्धि—	वर्तमान् पाण्डु रोग का बोधक।
	{ जूम्भायुक्त ज्वर मे धृतपान—	भावि वातिक ज्वर का बोधक।
	{ सधिवात एव आमवात मे	
उपशय	{ तैलाभ्यग—	वर्तमान् आमवात का बोधक।
	{ विषम ज्वर मे विवनीन—	,, विषम ज्वर का बोधक।
	{ वसन्तऋतु तथा प्रातः काल-कफज्वररोगकी उत्पत्ति अथवा प्रकोप या वृद्धि	
	{ शरदऋतु तथा मध्याह्न-पित्तज्वर रोग की उत्पत्ति अथवा प्रकोप या वृद्धि	
	{ वर्षाऋतु तथा सायाह्न- वातिक रोग की उत्पत्ति अथवा प्रकोप या वृद्धि	
सम्प्राप्ति	{ भावी एवं वर्तमान व्याधि का ज्ञान संभव रहता है। इन सम्प्राप्तियों से	
	{ रोग का भविष्य मे होने का अनुमान तथा वर्तमान मे होने पर ज्ञान	
	{ संभव रहता है। अतः सम्प्राप्ति भी भावी एव वर्तमान दोनों प्रकार	
	{ के व्याधि का बोधक होता है।	

{ केवल वर्तमान व्याधि का बोधक होता है। इस प्रकार रूप से भी रूप { पार्थक्य पूर्वरूप के लक्षणों मे एव शब्द जोड़ने से हो जावेगा। क्योकि { केवल भावि व्याधि बोधक लिङ्ग को ही पूर्वरूप कहेंगे।

अब पुनः शका होती है कि कई बार पूर्वरूप का स्मरण वर्तमान व्याधि का निश्चय कराने मे सहायक होता है तो फिर पूर्वरूप भी इस प्रकार वर्तमान व्याधि का बोधक हो जावेगा ? तब तो उपर्युक्त पूर्वरूप का लक्षण निर्दुष्ट नहीं हो सकेगा ? रक्तपित्त तथा प्रमेह का सापेक्ष निश्चय (Differential Diagnosis) बतलाते हुए चरक की उक्ति है—

हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपम्।

यो मूत्रयेत्तं न वदेत् प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः॥

अर्थात् प्रमेह के पूर्वरूपों के अभाव मे यथा “दन्तादीना मलाढ्यत्व प्राग्रूपं पाणिपादयो, दाहश्चिकण्णता देहे तूट्स्वाद्वास्य च जायते।” हल्दी के रंग के पीले या सरक्त मूत्र को देखकर रक्त पित्त रोग का प्रकोप समझना चाहिए। इस सूत्र

सचय से लेकर स्वानस्रय तक की अवस्था को पूर्वरूपों के भीतर ही समाविष्ट माना जाता है ।

२ चरक ने पूर्वरूप में विशेषतः राजयक्ष्मा के पूर्वरूप में कुछ ऐसे अदृष्ट-जन्य अशुभ लक्षणों का भी समावेश पूर्वरूप में किया है जिनमें दोष का कोई भी कर्तृत्व नहीं है । यथा रोगी के अन्नपान में तृण, केश, घुन तथा मक्षिका आदि का गिरना ।

यक्ष्मिणां घुणकेशाना तृणाना पतनानि च ।

प्रायोऽन्नपाने केशाना नखाना चातिवर्धनम् ॥

अब ये लक्षण अदृष्टजन्य भले ही हों, परन्तु दोषकृत नहीं हैं । अस्तु, दोषकृत लक्षणों को ही केवल पूर्वरूप में नहीं लिया जा सकता क्योंकि लक्षण अव्याप्ति दोष से युक्त हो जावेगा । फलतः पूर्वरूप का ऐसा लक्षण बनाना चाहिए जो व्याप्ति एवं अतिव्याप्ति दोष से रहित हो तथा जिसमें अदृष्ट तथा दोषज सब प्रकार के लक्षणों का समावेश हो जावे । एतदर्थ परम निष्णात वाग्भटाचार्यकृत लक्षण अधिक उत्तम प्रतीत होता है, जिसमें उन्होंने बतलाया है—

“दोषविशेष के ज्ञान के बिना ही केवल उत्पद्यमान रोग जिन लक्षणों से जाना जा सके उन लक्षणों को सामान्यतया पूर्वरूप कहते हैं ।” इसी भाव का द्योतन करते हुए अन्य परिभाषायें भी पूर्वरूप की पाई जाती हैं । चरक ने लक्षण किया है व्याधि के उत्पत्ति के पूर्व के लक्षण पूर्वरूप कहलाते हैं । यह पूर्वरूप की दूसरी व्याख्या है जिसमें अदृष्ट तथा दोषकर्तृक सभी लक्षणों का समावेश इस परिभाषा में हो जाता है ।

अब यहाँ पुनः एक शका उत्पन्न होती है कि यदि दोषों की ही कारणता दी जाय और अदृष्ट लक्षणों को भी दोषजन्य मान लें तब तो प्रथम परिभाषा से ही काम चल जावेगा और दूसरी परिभाषा करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी ? इसका उत्तर यह है कि तृण-केश-घुण-मक्षिका का भोजन में गिरना प्रभृति क्रियाओं को दोषजन्य मानना ठीक नहीं है क्योंकि उनका दोषों के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है । अगर ऐसा माना जावे तो कारण कार्य सिद्धान्त में अनवस्था आ जावेगी । सभी वस्तु सबका कारण बन जावेगी, कार्यकारणभाव की सम्पूर्ण व्यवस्था नष्ट हो जावेगी । अस्तु, चरकोक्त पूर्वरूपों का अदृष्ट कारणजन्य (आगन्तुक) और दोषों से अनधिष्ठित मानना ही उचित है ।

अस्तु, निर्दृष्ट लक्षण “भाविव्याधिवोधकमेव लिङ्ग पूर्वरूपम्” अर्थात् “भावी व्याधि के लिङ्ग को ही पूर्वरूप कहते हैं” ऐसा बनाना श्रेयस्कर है ।

मे वर्तमान व्याधि का निर्णय करने के लिए पूर्वरूपो का स्मरण व्याधि के बोध मे कारण हो रहा है । अतः पूर्वरूप केवल भावि व्याधि का ही नहीं अपितु वर्तमान व्याधि का भी ज्ञापक हुआ ?

इस शका के निवारणार्थ इतना ही जानना पर्याप्त है—कि वर्तमान व्याधि के जन्म से पूर्वपूर्वरूप की उत्पत्ति हुई या नहीं ? यदि हुई तो व्याधि के जन्म के पूर्व काल में ही ज्ञान होने की वजह से पूर्वरूप भविष्यत्-कालीन व्याधि का ही बोधक होगा । यदि व्याधि की उत्पत्ति से पूर्व, पूर्वरूप की उत्पत्ति नहीं हुई है तो अनुभव के अभाव मे उसका स्मरण ही नहीं हो सकता । योग दर्शन मे भी लिखा है कि 'अनुभूतविषयानुसंगमोऽस्मृतिः' अर्थात् अनुभूत विषय का मस्तिष्क मे यथास्थिति रहना ही स्मरण मे हेतु है । जिस वस्तु की उत्पत्ति नहीं या जिनका अनुभव ही नहीं उसका स्मरण या स्मृति भी संभव नहीं है । संभव है प्रारम्भ मे दाँतो का मेलापन आदि उत्पन्न हुए हो और उस समय प्रमाद-वश उनको प्रमेह का पूर्वरूप न समझा गया अब व्याधि उत्पन्न हो जाने पर उनका स्मरण करते हैं और वह प्रमेह विशेष का ज्ञान करा सकता है । अतः पूर्वरूप भावी व्याधि का बोधक होता है । वस्तुतः यहाँ पर पूर्वरूप का स्मरण व्याधि के ज्ञान मे कारण है पूर्वरूप नहीं, उसकी तो रूपावस्था मे सत्ता ही नहीं रहती । चूँकि स्मरण मिथ्या भी हो सकता है इसलिए स्मरण को प्रमाण मानना ठीक नहीं । शका तो ठीक है परन्तु व्याधि जन्म के पूर्व उत्पन्न पूर्वरूप जिसका अब स्मरण किया जाता है, वही भावी व्याधि का बोधक होता है न कि केवल स्मरण । क्योंकि अनुभव से सस्कार, सस्कार से स्मृति और स्मृति को सहायता मे पूर्वरूप ही वर्तमान व्याधि का बोधक होता है । केवल स्मरण नहीं, स्मरण तो सहायक मात्र होता है । आप्तोपदेश को भी स्मरण के सदृश ही समझना चाहिए । अर्थात् आप्तोपदेश से भी रोग के पूर्वरूप एव रूप का ज्ञान होता है । इस प्रकार आप्तोपदेश को भी पूर्वरूपत्व प्रसंग होगा क्योंकि वह भी स्मरण की भाँति ही रूप या पूर्वरूप के ज्ञान मे सहायक होता है । अस्तु उसमे पूर्वरूप के लक्षणों की अतिव्याप्ति न हो इसीलिये लिङ्ग पद से पूर्वरूप का वर्णन किया गया है 'लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद् व्याधोना तद्यथायथम्' । विशिष्ट व्याधि के विशिष्ट लक्षणों को ही लिङ्ग कहते हैं, आप्तोपदेश व्याधि का सामान्य ज्ञापक होता है अतः उसे लिङ्ग नहीं कह सकते । इस प्रकार पूर्वरूप अविद्यमान व्याधि का असाधारण लक्षण (लिङ्ग) होता है ।

इसकी उपमा विशिष्ट मेघ से दी गई है । जिससे विशिष्ट वर्षा की उत्पत्ति

होती है। अथवा विशिष्ट लक्षण रोहिणी के उदय हो जाने के अनन्तर विशिष्ट नक्षत्र कृत्तिका का उदय होना। यहाँ पर मेघ एव रोहिणी का उदय वर्षा एव कृत्तिकोदय के पूर्वरूप में आते हैं।

सामान्य पूर्वरूप—यह पूर्वरूप दो प्रकार का होता है १ सामान्य २ विशिष्ट। दोषदूष्य-सयोग से जब विकारोत्पत्ति होती है तो उस समय जिन साधारण लक्षणों के द्वारा ज्वर आदि व्याधि-मात्र के भविष्य में होने का जो सामान्य ज्ञान होता है उसको सामान्य पूर्वरूप कहते हैं। इन लक्षणों के द्वारा भावी व्याधि का ही ज्ञान हो सकता है उसके वातादि दोषजन्य भेदों का नहीं, इसीलिए कथन है 'पूर्वरूप नाम येन भाविष्यव्याधिविशेषो लक्ष्यते न तु दोषविशेषः।'।

श्रमोऽरतिविवर्णत्वं वैरस्यं नयनस्रवः।
इच्छाद्वेषौ मुहुश्चापि शीतवातातपादिषु ॥
जृम्भाङ्गमर्दौ गुरुता रोमहर्षोऽरुचिस्तमः।
अप्रहर्षश्च शीतश्च भवत्युत्पस्यति ज्वरे ॥

इन लक्षणों से ज्वर मात्र के होने का ही ज्ञान संभव रहता है, किन्तु यह ज्ञान नहीं हो सकता कि ज्वर वात-प्रधान होगा या पित्त-प्रधान। इसकी पुष्टि में तत्रान्तरो के वचन भी प्रमाण हैं—

व्याधेर्जातिर्विभूषा च पूर्वरूपेण लक्ष्यते।
भावः किमात्मकत्वं च लक्ष्यते लक्षणैर्न हि ॥

अथवा व्याधि की जाति या उसका भविष्य में होना सामान्य पूर्वरूप के द्वारा जाना जाता है, परन्तु उसकी दोषोत्पन्नता का विस्तार से ज्ञान तो लक्षणों के द्वारा ही होता है। वाग्भट ने स्पष्ट लिखा है 'दोषविशेष से अनधिष्ठित' अर्थात् दोष विशेष के ज्ञान से रहित भावी व्याधि जिस लक्षण समूह से प्रतीत हो उसे सामान्य पूर्वरूप कहते हैं।

विशिष्ट पूर्वरूप—पूर्वरूपों में कुछ रोगों में वातादि दोषों से उत्पन्न होने वाले अव्यक्त लक्षण भी पैदा होते हैं—इन्हे विशिष्ट पूर्वरूप की मजा है, इन रोगों में सामान्य पूर्वरूप नहीं होते। इन अव्यक्त लक्षणों से बड़े रोगों में विशेषतः उरक्षत की वातजन्यता या पित्तजन्यता का स्पष्ट बोध हो जाता है। अतः इन्हे विशिष्ट पूर्वरूप कहते हैं।

विशिष्ट पूर्वरूप को स्वीकार करते हुए उसका प्रतिपादन सुश्रुत ने लिखा है—भावी वातज ज्वर में अधिक जँभाई का आना, पित्त ज्वर में नेत्रों में जलन का होना तथा कफज ज्वरों में अन्न के प्रति विशेष द्वेष होना पाया जाता है।

‘विशेषात्तु जृम्भात्यर्थं समीरणात् । पितान्नयनयोर्दाह कफादन्नासचिर्भवेत्’
हारीत महिता में भी आठ प्रकार के ज्वरो के कहने के पश्चात् वातिक ज्वर के लक्षणों का वर्णन करते हुए जृम्भा, अगमर्द एव हृदयोद्वेग प्रभृति लक्षणों का पूर्वरूप नाम में प्रतिपादन मिलता है —

इति पूर्वरूपमष्टानां ज्वराणां सामान्यतः ।

विशेषतस्तु जृम्भाङ्गमर्दभूयिष्ठं हृदयोद्वेगि वातजम् ॥

नवीन गयो में भी पूर्वरूप प्रसंग बहुविध रोगों के सम्बन्ध में पाया जाता है अनेजो में उन्हें (Prodromata or Prominatory Signs कहा जाता है ।

जैसे—अपस्मार में पूर्वग्रह (Auar)—दृष्टि का धुधलापन, (Dimness of Vision), ध्रुवणविभ्रम विशिष्ट गन्ध या स्वाद, अनैमित्तिक मित्या ज्ञान, सर्वाङ्ग शरीर में वेदनवत् पीडा (तोद), उदर एव हृत्प्रदेश में विचित्र अनुभूति । अन्य भी रोगी में दीरे की सूचना देने वाले विशिष्ट पूर्वरूप पाये जाते हैं ।

अपस्मार के कुछ दिन या कुछ घटे पूर्व शिरो-वेदना, दुर्बलता, तन्द्रा, धुन्नाज, व्याकुलता आदि पूर्वकालिक चिह्न भी रोगी में मिलते हैं ।

कुष्ठ के पूर्व रूप में—ज्वर, स्वेदाधिक्य, दीर्घल्य, अतिसार, नाना का सूखना, नासागत रक्त-स्ताव, यथिक कुष्ठ के पूर्वरूप में मिलते हैं ।

इसी तरह मस्तिष्कावसाद (Mental Deperssion), शीतानुभूति, अरुचि, वातनाडी पीडा (Neuralgic Pain), स्पर्शवैपरीत्य (Parasthesia), आदि पूर्वरूपों का वर्णन वातिक कुष्ठ (Nerveleprosy) में मिलता है ।

उपसंहार—दूसरे शब्दों में कहना हो तो ऐसा कहे कि व्याधिवोधक लक्षण रोगों में दो प्रकार के पाये जाते हैं—१ सर्वाङ्ग-बोधक २ एकाङ्ग-बोधक । सर्वाङ्ग-बोधक वे लक्षण हैं जिनसे व्याधि की जाति, विशिष्टता, निदान आदि का सम्यक् ज्ञान हो मके इसी को रूप नाम से आगे कहा जायेगा । एकाङ्ग-बोधक लक्षणों के दो भेद हो जाते हैं सामान्य एव विशिष्ट । यही वर्णन अब तक होता आया है । जिसे केवल व्याधि के श्रेणी का ज्ञान हो उसे सामान्य और जिससे व्याधि-जनक दोष का भी ज्ञान हो, साथ ही व्याध्युत्पादक निदान का

परिज्ञान हो, उसे विशिष्ट कहते हैं। जैसा कि सामान्य एव विशिष्ट पूर्वरूपों के प्रसंग में देख चुके हैं।

विशिष्ट पूर्वरूप एवं रूप में भेद—वास्तव में विशिष्ट पूर्व रूप के अर्थ में सज्ञा की रूढ़ि हो गई है अन्यथा बहुत से इसमें लक्षण व्यक्त स्वरूप के होते हैं। फिर भी व्यक्तस्वरूप से उसका अंतर शास्त्र में किया गया है। फलतः यह भेद (रूप एव विशिष्ट पूर्वरूप) का व्यवहार प्राचुर्य (Majority) पर आधारित है। जैसे मापराशि कहने से उबद की ढेर का अर्थ होता है उसमें कुछ मूंग के भी दाने हो तो भी मापराशि में ही प्राचुर्य से उनका ग्रहण हो जाता है। उसी प्रकार 'छत्रिणो गच्छन्ति' छाते वाले जा रहे हैं, उनमें एकाध बिना छाते के भी हो तो उनका एक ही सज्ञा से व्यवहार किया जाता है। यद्यपि ज्वर के विशिष्ट पूर्वरूप में जृम्भादि को रूप कह सकते हैं तथापि जृम्भा की व्यक्तता होने पर भी अनेक लक्षणों की अव्यक्तता के कारण केवल जृम्भा को रूप नहीं कह सकते अपितु जृम्भा अन्य लक्षणों के साहचर्य से पूर्वरूप ही कहना उचित है। 'व्यपदेशस्त, भूयसा' व्यवहार प्राचुर्य पर आधारित है।

दूसरा भी एक अंतर पूर्वरूप का रूप से है। पूर्वरूप भावी व्याधि का बोधक होता है और अनुमानेगम्य रहता है, परन्तु रूप वर्तमान व्याधि का बोधक होता है और प्रत्यक्ष गम्य होता है। विशिष्ट पूर्वरूप तो रूपावस्था में प्रकट होता ही है और उसी का व्यक्त होना रूप कहा गया है परन्तु पूर्वरूप के सभी लक्षण व्यक्तावस्था रूप में व्यक्त नहीं होते, अन्यथा सभी ज्वर असाध्य हो जावेगे—चरक में लिखा है पूर्वरूप में कहे गये सभी लक्षण अति मात्रा में जिस रोगी को आक्रमण करते हैं उस रोगी की मृत्यु निश्चित है—

“पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया ।
यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरम् ॥
अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम् ।
विशन्त्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम् ॥

रूपलक्षणम्

(Definition of Syndrome or Symptomatology)

यद्यपि पूर्वरूप के कथन के अनन्तर रोग की सम्प्राप्ति का प्रसंग आता है, तथापि व्याधि के स्वरूप ज्ञान के लिए और रूप के विषय को स्पष्ट करने के लिये पूर्वरूप से सम्बद्ध रूप की ही व्याख्या प्रथम की जा रही है।

रूप निरुक्ति—

१ तदेव व्यक्तां यातं रूपमित्यभिधीयते ।

संस्थानं व्यञ्जनं चिह्नं लक्षणं चिह्नमाकृतिः ॥

(वा नि १)

अर्थात् व्यक्त हुआ पूर्वरूप ही रूप कहलाता है । पूर्वरूपावस्था में प्रतीयमान अव्यक्त लक्षण ही जब व्यक्त होकर व्याधि का निश्चित रूप से निदर्शक हो जाता है तो उसे रूप कहा जाता है । संस्थान, व्यञ्जन, चिह्न और आकृति ये शब्द रूप के पर्याय रूप में व्यवहृत होते हैं ।

२ प्रादुर्भूतलक्षण पुनर्लिङ्गम् । तत्र लिङ्गमाकृतिलक्षणं चिह्नं संस्थानं व्यञ्जनं रूपमित्यन्तरम् ॥

(च नि १)

३ व्याधेः स्वरूपम् अव्यक्तं पूर्वरूपम् यद्व्यक्तं तद् रूपमिति ।

(ईश्वरसेन) ।

४. उत्पन्नव्याधिवोधकमेव लिङ्गं रूपम् । (मधुकोष) ।

व्यक्त होने का अर्थ—उपर्युक्त दोनों परिभाषाओं में लक्षणों का स्पष्ट होना और उत्पन्न होना रोग की रूपावस्था मानी गयी है । अब विचारणीय है कि क्या पूर्वरूप के सभी लक्षण रोग की रूपावस्था में व्यक्त होते हैं या थोड़े । यदि पूर्वरूप के सभी लक्षणों की व्यक्ति मान ली जावे तो सभी रोग अमाध्य हो जावेगे । जैसा कि चरक में कहा गया है कि 'ज्वर के या अन्य रोग की पूर्वरूपावस्था के सभी लक्षण रोगी में उत्पन्न हो जायें तो रोगी को मुमूर्षु समझना चाहिये ।' यदि पूर्वरूपावस्था के कुछ ही लक्षणों की ही अभिव्यक्ति को रूप माना जाय तो 'जृम्भा, नयन-दाह, अन्नविद्वेष, हृदयोद्वेग' सदृश विशिष्ट पूर्वरूपों को जो पहले से ही व्यक्त रहते हैं, भी रूप के वर्ग में ही रखना होगा । इस प्रकार उभय पक्ष में दोष की सम्भावना है । शास्त्रकारों ने इस सम्बन्ध में बतलाया है कि इस प्रकार की विवेचना की कोई आवश्यकता नहीं है—इसका कोई नियम नहीं है—एक लक्षण (एकदेशीय) या अनेक लक्षण (सम्पूर्ण) की अपेक्षा न करते हुए पूर्वरूप मात्र की अभिव्यक्ति को ही रूप कहा जाता है । तात्पर्य यह है कि रोग तथा रोगी के अनुसार किसी में कुछ और किसी में सम्पूर्ण लक्षण भी रूपावस्था में व्यक्त हो सकते हैं और ये व्यक्त हुए कतिपय या सम्पूर्ण उभयविधलक्षण ही रूप कहलायेगे । इसकी उपमा धूम (धुएँ) से दी गई है—धूम को देखकर अग्नि का बोध किया जा सकता है, परन्तु वह तृण की अग्नि

है या पत्र की यह जानना आवश्यक नहीं है। जिस प्रकार धूम सामान्य अग्नि का बोधक है उसी प्रकार पूर्वरूप मात्र की अभिव्यक्ति रूप कहलाना है जिससे रोग का ठीक ज्ञान होता है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण लक्षणों की अभिव्यक्ति से रोग असाध्य एवं अल्प लक्षणों की व्यक्ति से साध्य होता है।

स्वरूप शब्द का विग्रह—ईश्वरसेन ने व्याधि का अपना व्यक्तरूप (स्वरूप व्यक्तम्) को रूप वतलाया है। स्वरूप शब्द से क्या अर्थ ग्रहण किया जावे? विजयरक्षित ने इसकी तर्क-हीनता इस प्रकार सिद्ध की है। आपका कथन है कि स्वरूप शब्द के दो विग्रह हो सकते हैं—स्वरूप स्वरूपम् अर्थात् व्याधि का अपना रूप या स्वभाव ही व्याधि का रूप है—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि इसमें 'स्वात्मनि क्रियाविरोध' दोष आता है। अर्थात् अपने में ही क्रिया का विरोध यानी ज्ञेय या प्रमेय वस्तु का अपने लिये ज्ञापक या प्रमाण होना ही स्वात्मनि क्रियाविरोध है। कोई सासारिक वस्तु अपने लिये स्वतः प्रमाण नहीं है उसके ज्ञापन के लिये ज्ञापकान्तर की आवश्यकता होती है। दीपक सम्पूर्ण वस्तुओं का दर्शन या ज्ञापन कराने वाला होते हुए भी अपने ज्ञापन के लिये चक्षु रूप ज्ञापकान्तर की अपेक्षा रखता है। यहाँ पर व्याधि का स्वभाव ही ज्ञेय विषय है उसी को व्याधि स्वभाव का ज्ञापक मानना असंगत है। इसी को शास्त्र में स्वात्मनि क्रियाविरोध कहा जाता है। अस्तु स्वरूप शब्द का उक्त विग्रह करना उचित नहीं है।

'स्वीय रूप स्वरूपम्' यदि ऐसी व्याख्या की जावे अर्थात् रोग का रूप ही व्याधि का रूप है तो यह विग्रह भी ठीक नहीं प्रतीत होता। स्वीय रूप के दो अर्थ होते हैं—स्वीय धर्म (व्याधि का अपना धर्म) या स्वीय कार्य (व्याधि का अपना कर्म)। स्वीय धर्म माने तो शास्त्र में कहे गये त्वचा, नख, मल, मूत्र तथा दाँत का कालापन आदि अर्श के लक्षणों का रूप नहीं कह सकते 'श्यावारुणपुरुषनखनयनवदनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य वातोत्वणान्यर्शसितीति विद्यात्' 'कृष्ण त्वङ्नखनयनवदनदशनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति वातार्शसि क्योकि धर्म धर्मो मे रहता है अन्य में नहीं। अर्श एक शरीर में दृश्यमान मस्से के रूप की व्याधि है यही इस व्याधि का धर्म है—अस्तु नखादि का कालापन अर्श का धर्म नहीं है, प्रत्युत वह वात दोष का ही धर्म है। धर्म न होने पर नखादि का कालापन अर्श का रूप भी नहीं माना जा सकता। अस्तु यह विग्रह विलग्न कल्पना है फलतः अनुचित है।

‘स्वीयकर्म’ स्वकीय कार्य यह विग्रह भी उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि ऐसा करने से उपद्रव एवं अरिष्टो को भी व्याधि के रूप में स्वीकार करना होगा। उपद्रव एवं अरिष्ट व्याधि के उत्तर काल में होने के कारण व्याधि के कार्य कहे जा सकते हैं। यदि उपद्रव एवं अरिष्ट को भी व्याधि की कृच्छ्रसाध्यता या असाध्यता का निदर्शक मानकर तत्कालीन व्याधि का रूप स्वीकार किया जावे तो वह भी ठीक नहीं क्योंकि उपद्रवारिष्ट व्याधि के कृच्छ्रसाध्यता एवं असाध्यता के ही ज्ञापक होते हैं व्याधि के नहीं। व्याधि का ज्ञान तो उपद्रव उत्पन्न होने से पहले ही हो जाता है इसके लिये माधवादि ने उपद्रव, अरिष्ट आदि का कथन रूप से पृथक् ही किया है।

‘सोपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गो निबध्यते रोगविनिश्चयोयम्।’

इस प्रकार स्वरूप शब्द का विग्रह स्वकीय कार्य भी नहीं किया जा सकता। इन तर्कों के आधार पर ईश्वरसेन जी द्वारा प्रतिपादित लक्षण दूषित एवं अमान्य है।

कुछ विद्वानों के मत से ईश्वरसेन की व्याख्या उपयुक्त है। कही पर ‘स्वरूप स्वरूपम्’ और कही पर ‘स्वीय रूपम् स्वरूपम्’ का विग्रह भी व्याधि के स्वरूप ज्ञान कराने में समर्थ होता है। अब प्रश्न उठता है कि उपद्रव व्याधि का कार्य है कि व्याधिजनक दोष का। इसके सम्बन्ध में सुश्रुत का वचन है कि उपद्रव व्याधि का कार्य नहीं है बल्कि रोगोत्पादक दोष का ही कार्य है ‘स तन्मूलमूल एव उपद्रवसंज्ञक।’ किन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि व्याधिजनक दोष की वृद्धि के कारण बढी हुई व्याधि ही उपद्रव को उत्पन्न करती है। इसी का प्रतिपादन ‘तन्मूलमूल’ शब्द के द्वारा हुआ है। इस प्रकार उपद्रव के प्रति दोष की परम्परया कारणता है। साक्षात् कारणता तो बढी हुई व्याधि को ही है। उसी आशय से चरक का भी वचन है—

कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति।

न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वं कुरुतेऽपि च ॥

इस प्रकार रोग रोगान्तर का या उपद्रव का जनक होता है। तात्पर्य यह है—ईश्वरसेनजी का स्वरूप लक्षण पूर्णांश में रूप को व्यक्त नहीं करता। इसके अतिरिक्त निश्चित लक्षण के अभाव में उपद्रव में भी व्याधिस्वरूप प्रतिभासित होता है अस्तु, लक्षण यहाँ पर अतिव्याप्त और ऊपर में अव्याप्ति दोष युक्त हो जाता है।

रूप का निर्दुष्ट लक्षण—अस्तु ‘उत्पन्नव्याधिवोधकमेव लिङ्ग रूपमिति’ अर्थात् उत्पन्न व्याधि का ज्ञान कराने वाला लिङ्ग ही रूप

है। इस प्रकार का निर्दोष लक्षण बनाना ही मुश्किल है। इस प्रकार का लक्षण करने में पूर्वस्व के लक्षणों में निवृत्ति 'उत्पन्न' शब्द जोड़ देने में ही जाती है, क्योंकि पूर्वस्व व्याधि का बोधक होता है। निरान सम्प्राप्ति एवं उपशय के लक्षणों में पार्यवय दर्शनार्थ 'एव' शब्द का परिभाषा में प्रयोग हुआ है। क्योंकि ये तीनों भावों एव वर्तमान दोनों प्रकार की व्याधि के निर्मल होते हैं। व्याधि के ज्ञापन में व्यवहृत होने वाले चतुर्णां जाति उद्भिद्य तथा रोग के विनिश्चय के अन्य साधन उरश्रवण, अणुवीक्षण, नासिका आदि अन्य साधन सामान्य ज्ञापक होते हैं—उनका निरन्तर करने के लिये 'लिङ्ग' शब्द का प्रयोग हुआ है। इन साधनों में प्राप्त ज्ञान को 'लिङ्ग' नहीं बल्कि नारते क्योंकि वस्तु विशेष के ज्ञापन कराने वाले असाधारण लक्षण या वस्तु को ही लिङ्ग कहते हैं। साधारण ज्ञान को नहीं। कुछ विद्वानों के मत में व्याधि जन्म को ही सम्प्राप्ति मानते हैं—इस सम्प्राप्ति लक्षण को भी निवृत्ति 'उत्पन्न' पद से ही हो जाती है। क्योंकि सम्प्राप्ति व्याधि के ज्ञान में कारण मात्र ही होती है लिङ्ग नहीं। फलतः रूप का निर्दुष्ट लक्षण 'उत्पन्नव्याधि-बोधकमेव लिङ्ग रूपम्' यही होगा।

रूप तथा व्याधि में भेद एवं पर्याय कथन—गान्धर्व में व्यवहार तथा लक्षण के लिये पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इसी अभिप्राय से रूप के पर्याय रूप में लिङ्ग, आकृति, लक्षण, चिह्न, मस्थान और व्यजन का व्यवहार हुआ है। यद्यपि पद अनेकार्थवाची होते हैं परन्तु यहाँ पर एकार्थ में व्यवहृत हुए हैं।

कई विद्वानों का मत है कि चूँकि व्याधि का ज्ञान रूप एवं लक्षणों के द्वारा ही होता है, रूप में भिन्न व्याधि की सत्ता भी नहीं है—क्योंकि अरुचि, स्वेदावरोध एवं संताप आदि लक्षणों के समुदाय को ही शास्त्र में ज्वर कहा गया है। इसी प्रकार ज्वर, कास एवं रक्तछीदन आदि ग्यारह लक्षणों के समुदाय को ही राजयक्ष्मा कहा गया है। अस्तु रूप और व्याधि में कोई अन्तर नहीं है।

यह एक विवादास्पद विषय है। चरक में लिखा है 'सुखसंज्ञकमारोग्य विकारो दुःखमेव च।' फिर इसके कई पर्याय दिये गये हैं जैसे—'तत्र व्याधि-रामयो गद आतङ्को यक्ष्मा, ज्वरो, विकारो रोग इत्यनर्थान्तरम्' प्रत्येक की व्युत्पत्ति बतलाते हुए श्री चक्रपाणि ने लिखा है—आतङ्क से भय, विकार शब्द से षोडश विकारों का भी ग्रहण हो सकता है परन्तु प्रकृत में व्याधि के ही बोधक हैं। व्याधि—'विविध दुःखमादधातीति व्याधि।' विविध प्रकार दुःख

देने वाली व्याधि है। आतङ्क का अर्थ कष्ट का जीवन, यक्ष्मा शब्द से रोग युक्त विकार, ज्वर शब्द से मन-शरीरसतापकरत्व, विकार से शरीर एवं मन का अन्यथाकरण, रोग शब्द से रुजाकर्तृत्व तथा गद से सामान्य असुख का बोध होता है।

अंग्रेजी भाषा में रोग को (Disease) कहते हैं—यह भी संक्षेप में एक असुख का ही बोधक है। शरीर में या मन में यह असुख का भाव जिस शारीरिक या मानसिक विकृति के कारण होता है उसको रोग कहते हैं। इस प्रकार रोग और उसमें पैदा होने वाले असुख में भेद हो जाता है। असुख का अनुभव रोग का परिणाम है रोग नहीं। फलत रोग उससे भिन्न वस्तु है। लक्षण या रूप स्वयं रोग न होकर विकार या रोग के निदर्शक है।

इसीलिये विजयरक्षित ने विशिष्ट प्रकार से दूषित दोष एवं दूष्य के विशिष्ट संयोग को ही व्याधि माना है, लक्षण-समूह को नहीं। अरुचि आदि लक्षण व्याधि के कार्य हैं, व्याधि का स्वरूप नहीं 'तथापि दोषदूष्यसम्बन्धना-विशेषो ज्वरादिरूपो व्याधि तस्य कार्याण्यरुच्यादयः।'।

वस्तुतः रोग एवं लक्षण में इतना ही अन्तर है—कि लक्षण एक होता है और रोग लक्षणों का समुदाय। यदि लक्षण-समूह को ही व्याधि मान लिया जावे तो भी कोई दोष नहीं आता। लक्षण-समूह और व्याधि की उपमा समुदाय एवं समुदायी, जाति एवं व्यक्ति, अवयव एवं अवयवी के अन्तर से दी जा सकती है, जैसे कहा जाय 'खदिर वृक्षो का वन' राहु का शिर या शिला-पुत्र का शरीर। यद्यपि इनमें कोई बड़ा अन्तर नहीं है फिर भी व्यवहार में इनमें पष्ठो कारक के चिह्न 'का' द्वारा भेद माना जाता है। अतः समुदाय से समुदायी को पृथक् मानकर लक्षणों से व्याधि को पृथक् मानना भी उचित है। न्याय दर्शनकार ने अवयवों से पृथक् अवयवी को सिद्ध किया है। और समुदाय तथा समुदायी में वास्तविक भेद बतलाया है केवल भेद की विवक्षा मात्र नहीं।

सर्वाग्रहणमवयवसिद्धे

धारणा कर्पणोपपत्तेश्च ।

} }

न्याय दर्शन

२।१।३४, ३५

चरक में भी उक्ति मिलती है—

जिन लक्षणों का उल्लेख किसी विशिष्ट रोग के ज्ञापनार्थ होता है उन्हें उस अवस्था में लक्षण ही मानना चाहिये जैसे ज्वर रोग भी है, परन्तु कास एवं रक्तपित्त आदि के साथ संयुक्त होकर राजयक्ष्मा का एक लक्षण है।

ज्ञानार्थं यानि चोक्तानि व्याधिनिदानानि संप्रति ।

व्याधयस्ते तदात्वे तु लिङ्गानोष्ठानि नामयाः ॥

वस्तुतः रोग और लक्षण में बहुत बड़ा अन्तर है । प्रत्येक रोग में अनेक लक्षण हुआ करते हैं अर्थात् प्रत्येक रोग अनेक लक्षणों का समूह होता है । उन समूह में एक-एक लक्षण अनेक रोगों में मिल सकता है, परन्तु समस्त लक्षणों का समूह अन्य रोगों में नहीं मिल सकता है । आरुग्णों की परिभाषा में बहुत-सी व्याधियाँ हैं जिनमें एक ही लक्षण होता है, किन्तु वे अनेक व्याधियाँ मानी जाती हैं ।

लिङ्गं चैकमनेकस्य तथैवेकस्य लक्ष्यते ।

बहून्येकस्य च व्याधेर्वैदनाद्वा वदन्ति च ॥

विषमारम्भ मूलानां लिङ्गमेकं ज्वरो मतः ॥

(चक्र)

भेद—रूप के दो भेद होते हैं—लक्षण (Symptoms) तथा चिह्न (Signs), लक्षणों को रोगों में पड़कर जाना जाता है उत्पत्ति पर प्रत्ययजेय (Subjective) कर्तृत्व-बोधक कहा जाता है । चिह्नों को रोगी के देखने, स्पर्श करने आदि क्रियाओं में प्रत्यक्ष देखा जाता है । अस्तु उन्हे स्वप्रत्ययजेय (Objective) कर्मत्व-बोधक कहा जाता है ।

रोगी से पूछकर जानव्य लक्षण—भूय, प्यास, वात-मूत्र-मल, प्रवृत्ति, श्वास को तथा निद्रा की स्थिति आदि ।

रोगी को देखकर जानने योग्य चिह्न—रक्त की गति, शोथ, वर्णवैपरीत्य, अप्राकृत गति, मल-मूत्रादि का वर्ण, गठन, मृदुत, कर्कशता, ताप नाडी, गति, हृदय एवं फुफ्फुस ध्वनि प्रभृति ।

उपशय-लक्षण

(Definition of Therapeutic Test or Therapy)

निरुक्ति —

हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम् ।

१ औपधान्नविहाराणामुपयोग सुखावहम् ॥

विद्यादुपशयं व्याधेः ।

(वा ति १)

२ उपशयः पुनः हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणां औपधाहारविहाराणामुपयोग सुखानुबन्धः इति ।

(चक्र)

३ सात्त्व्यार्थो ह्यपशयः ।

(चरक नि १)

४. सुखानुबन्धो यो हेतुर्व्याधि विपरीतकः ।

देशादिकश्चोपशयो ज्ञेयोनपशयोध्यादिन्यथा ॥

(सुदान्त सेन)

५ तस्मात् 'सम्यक् व्याविजदुःखोपशमहेतुरपशयः' 'सात्त्व्य-
मुपशयः' 'औषधजनितः सुखानुबन्ध उपशयः' वा इति ।

(विजयरक्षित)

६ विपर्यस्तोर्थः विपर्यस्तार्थः विपर्यस्तार्थ-कर्तुं शीलं तेषां ते
विपर्यस्तार्थकारिणः विपर्यस्ताश्च विपर्यस्तार्थकारिणश्च विपर्यस्त
विपर्यस्तार्थकारिणः । हेतुश्च व्याधिश्च हेतुव्याधी । हेतुव्याधिभ्यां
विपर्यस्त विपर्यस्तार्थकारिण तेषामुपयोगः सुखावहः ।

उपशय का निर्दुष्ट लक्षण—

‘औषधजनितः सुखानुबन्धः उपशयः’—

सक्षेप मे औषध, अन्न, विहार, देश तथा काल आदि से उत्पन्न सुख-
परम्परा को उपशय कहते हैं । परिणाम मे सुखकारक वस्तुओं को ही सुखावह
कहा जाता है । तृष्णा एव दाहयुक्त नव-ज्वर के रोगी मे शीतल जल का
प्रयोग तत्काल सुखावह प्रतीत होते हुए भी परिणाम मे सुखावह नहीं होता
क्योंकि उसमे ज्वर का वेग तेज हो जाता है और अन्य उपद्रवों के होने की
आशंका रहती है—अस्तु परिणाम मे सुखकारक न होने से उसको उपशय नहीं
कहेगे । ‘तद्यदग्रे विपमिव परिणामेऽमृतोपमम्’ अस्तु, तत्काल मे अप्रिय होने
पर भी परिणाम मे अर्थात् आगे चलकर जो अमृतवत् सुखकर हो वास्तविक
सुखावह उसी को कहते हैं, उपशय भी यही है । कभी-कभी अपथ्य सेवन से
क्षणिक सुख की प्राप्ति होती है । जैसे—दधि का सेवन अम्ल-
पित्त मे, परन्तु सुखकर अनुबन्ध या परम्परा स्थायी नहीं रहती । परिभाषा
मे अनुबन्ध पद देने का तात्पर्य यह होता है कि जो परिणाम मे सुखदायी हो
अपथ्य-सेवन परिणाम मे सुखदायी नहीं होता है । अस्तु वह उपशय की श्रेणी
मे नहीं आ सकते ।

वास्तव मे ‘विकारो दुःखमेव च’ दुःख या कष्ट ही रोग है उसकी निवृत्ति
ही सुख है । लोक मे भी कहा जाता है ‘भारापगमे सुखिनः सवृत्ता स्म’

अर्थात् मिर का भार उतर जाने पर मनुष्य अपने को मुग्गी मानता है। अन्तु दुःख निवृत्ति ही मुख का मूल है और इस प्रकार व्याधि-जनित दुःख को उचित प्रकार से शान्त करने वाले पदार्थों को ही उपशय कहते हैं 'नम्यत् व्याधिज-दुःखोपशमहेतु उपशय' यह लक्षण भी ठीक है।

अथवा चरकोक्त मंचित लक्षण 'मात्स्यमुपशय' अर्थात् अनुकूल पदार्थ उपशय है। यह भी कथन ठीक है। अथवा पूर्वोक्त लक्षण 'औपशजनिन सुखानुबन्ध ही उपशय है।' यह कथन भी ठीक है। क्योंकि चरक ने आहार, विहार, आचार, देज, काल, लंघन आदि द्रव्य या अद्रव्यभूत नमस्त पदार्थों को जो रोग के शमन में प्रयुक्त होते हैं सभी को औपश माना है और इन विविध पदार्थों के उपयोग सुग्राह्य होते हैं अन्तु, यथास्थान ये सभी उपशय की परिभाषा में आ जाते हैं।

महर्षि चरक के उपशय का बृहद् लक्षण इस प्रकार का है 'उपशयः पुन-हेतुव्याविविधविपरीताना विपरीतार्थकारिणाम् औपवाहारविहारानामुपयोग-सुखानुबन्ध।' इसी सूत्र को वाग्भट जी ने श्लोकवद्ध किया है, जिसका माधव निदान में मग्न पाया जाता है और उपशय की निरुक्ति में व्यवहृत होता है।

उपशय का व्यवहार दो अर्थों में पाया जाता है—१ व्याध्यापशम (Rsolution of the Disease) विविध औपवि अन्न-आचार से रोग का उपशम करना, २ तथा उपशयानुपशय परीक्षा (Therapeutic Test) से विशिष्ट रोग का निदान करना। निदानार्थ उपशय का क्षेत्र सीमित है—जैसे आमवात एवं मविवात का विवेक, वातरोग एवं ऊरुस्तम्भ का विभेद, साम एव निरामावस्था का पार्थक्य आदि। परन्तु चिकित्सा के अर्थ में व्यवहृत होने वाले उपशय का क्षेत्र बहुत बृहत् है। उसके आवान्तर भेदों के माहित १८ प्रकार बतलाये गये हैं। बहुत-से विद्वानों का अभिप्राय यह है कि ये १८ प्रकार की चिकित्सा-पद्धतियाँ बतलाई गई हैं। आयुर्वेद में इन सभी चिकित्सा पद्धतियों का समावेश है और उनके आधार पर की गई चिकित्सा सूत्र के सैकड़ों उदाहरण विद्यमान हैं। आधुनिक एव प्राचीन सभी चिकित्सा-पद्धतियों का समावेश इन अठारह भेदों में सहज ही हो जाता है। इनके विविध भेदों का वर्णन नीचे क्रमशः मोटाहरण किया जा रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि उपशय का प्रयोग कार्य एव काल भेद में निदानार्थ एव चिकित्सार्थ उभय-विध होता है। अज्ञात व्याधि में उपशय व्याधि-ज्ञापक तथा व्याधि ज्ञान होने के पश्चात् चिकित्सार्थ प्रयुक्त होता है।

विधि १	औषध १	अन्न २	विहार ३
हेतु विपरीत (१) Chemo- Therapy	शीतज कफज ज्वर में शुठी ४	श्रम तथा वातज ज्वर में मासरस भात ५	दिवास्वाप से उत्पन्न कफाधिक्य में रात्रिजागरण ६
व्याधि विपरीत (२) Symptoma- tic Treatment विरुद्ध लक्षण	अतिसार के स्तम्भन के लिये पाठ कुटज, कुष्ठ में त्वादेर, प्रमेह में हरिद्रा ७	अतिसार में स्तम्भनार्थ मसूर ८	उदावर्त में प्रवाहण ९
उभय विपरीत (३) Radical Treatment	वातिक शोथ में वात एव शोथहर दशमूल १०	वात कफज ग्रहणी में तक्र तथा पित्तज में दूध । शीतजन्य वात से उत्पन्न ज्वर में पेया ११	स्निग्ध पदार्थों के सेवन और दिवा स्वाप से उत्पन्न तन्द्रा में रुद्धरात्रि जागरण १२
हेतु विपरीतार्थकारी (४)	पित्तप्रधान फोडे पर उष्ण उपनाह १३	पैक्तिक फोडे में विदाही अन्न १४	वातज उन्माद में भय दिखलाना १५
व्याधिविपरीतार्थ कारी (५)	छर्दि रोग में वमन कारक मदन फल का प्रयोग १२	अतिसार में विरे- चनार्थ क्षीर १७	छर्दि में वमन कराने के लिये प्रवाहण १८
उभयविपरीतार्थकारी (६) Homeopathic Treatment or Vaccine & serum therapy	अग्नि से जल जाने पर अगुरुसदृश उष्ण पदार्थों का लेप विपजन्य रोग में जगम विष में मील एवं मील विष में जगम विष	मदात्यय में मद कारक मद्य का मेवन, परिणाम शूल में मटर के सत्तू का सेवन । अवरोध जन्य उदरशूल में वात कर भुने चने का सेवन	व्यायाम से उत्पन्न ऊरु स्तम्भ में जल में सतरण रूप व्यायाम

यहाँ पर हेतु-व्याधि-विपरीत अन्न एवं विहार जिसे स्वभावोपरम भी कहते हैं—इस प्रकार की चिकित्सा-पद्धति का सिद्धान्त है। आज प्राकृतिक चिकित्सा (Nature Cure or Naturopathy) में पाया जाता है। वैद्यक ग्रन्थों में पथ्य का अर्थात् आहार-विहार का बहुत बड़ा महत्त्व है। लोलिम्बराज वैद्य ने वैद्यजीवन नामक पुस्तक में पथ्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है—यदि रोगी केवल पथ्य से रहे तो औषधि की आवश्यकता नहीं उसी से अच्छा हो जावेगा। इसके विपरीत यदि अपथ्य से रहे तो भी औषधि की आवश्यकता नहीं क्योंकि उसका रोग अच्छा नहीं होगा। इस प्रकार आहार-विहार का ही सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है औषधि को अकिंचित् कर माना गया है। यही सिद्धान्त आधुनिक प्राकृतिक चिकित्सा का है—

‘पथ्ये सति गदात्तस्य किमौषधनिपेक्ष्यैः।

पथ्येऽसति गदात्तस्य किमौषधनिपेक्ष्यैः॥’

विपरीतार्थकारी चिकित्सा का सिद्धान्त होमियोपैथी चिकित्सा-पद्धति के सिद्धान्तों से समान रखते हैं—जैसे, ‘ममान नमान का गामक होता है।’ ‘विप ही विप का औषध है’ (Semelia Semilliasan curentum) यह सिद्धान्त होमियोपैथी चिकित्सा विद्या का है जो अधिकांश में विपरीतार्थकारी चिकित्सा का प्रतिपादक है। इस प्रकार आयुर्वेद एक ज्ञान है जिसमें बहुविध चिकित्सा-पद्धतियाँ मूल रूप में वर्णित हैं।

त्रिविध उपशय की कल्पना का प्रयोजन तथा हेतु-विपरीत एवं व्याधि-विपरीत उपक्रमों के भेद—

हेतु-विपरीत उपक्रमों को दोष-विपरीत या दोषप्रत्यनीक भी कहा जाता है। जैसा कि ऊपर में कहा जा चुका है कि व्याधि एक कार्य है जिसमें हेतु या कारण रूप में, समवायिकारण दोष-प्रकोप, असमवायिकारण दोष-दूष्य संयोग एवं निमित्त कारण के रूप में मिथ्याहार-विहार हेतु रूप में आते हैं। अस्तु, हेतुविपरीत चिकित्सा का दोष विपरीत चिकित्सा शब्द से प्रयोग होता है।

वाप्यचन्द्र का कथन है—ज्वर आदि व्याधियों के दूर करने वाले सम्पूर्ण द्रव्य दोषप्रत्यनीक होते हैं किन्तु दोषप्रत्यनीक औषधान्नविहार नियमितः व्याधिप्रत्यनीक नहीं होते दोषप्रत्यनीक और व्याधिप्रत्यनीक उपशयो में मुख्य यही भेद है। उदाहरणार्थ—वमन एवं लंघन कफ दोष का शामक होते हुए भी कफजगुल्म को नष्ट नहीं करते, प्रत्युत इनका निषेध भी पाया जाता है—

कफे लंघनसाध्ये तु कर्त्तरि ज्वरगुल्मयोः।

तुल्येऽपि देशकालादौ लंघनं न च सम्मतम्॥

न वामयेत्तेमिरिकं न गुल्मिनं न चापि पाण्डुररोगपीडितम् ।

(चरक)

वस्तु, दोषप्रत्यनीक कर्म नियमत व्याधिप्रत्यनीक नहीं होते ।

परन्तु व्याधिप्रत्यनीक या व्याधिहर औषधान्विहार नियमतः दोष-प्रत्यनीक या दोषहर होते हैं । ऐसे द्रव्य व्याधि-हर होते हुए व्याधि-जनक दोष का भी गमन करते हैं । अन्यथा दोष रूप कारण के नाश न होने पर व्याधि रूप कार्य का नाश नहीं संभव है । यह श्री वाप्यचन्द्र का मत है ।

अन्य आचार्यों ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है—कि रोगोत्पादक हेतु या कारण तीन प्रकार के होते हैं—१ समवायि, २ असमवायि ३ तथा निमित्त । इनमें केवल समवायि या निमित्त कारण के नाश से ही कार्य के नाश का निर्देश करना ठीक नहीं है, क्योंकि असमवायि कारण के नाश से भी कार्य का नाश होता है । उदाहरण के लिये—घट को ले । इसके असमवायिकारण कपालद्वय संयोग है इसके नाश से घट का नाश हो जाता है । दूसरा उदाहरण पट या वस्त्र का लें इसमें असमवायि कारण तन्तुसंयोग होता है—इस संयोग के नाश से पट का नाश संभव रहता है । उसी प्रकार रोगोत्पत्ति में दोष-द्वयसंयोग असमवायि कारण है—इस असमवायि कारण के नाश से रोग का नाश भी संभव है । दोष-द्वय विशेष संयोग को सम्प्राप्ति (Pathogenesis) कहते हैं इसके नष्ट होने से रोग दूर हो जाता है । रहे दोष तो वे रक्त या निदानादि के परिवर्जन से दूर हो जाते हैं ।

‘दोषास्तु स्वतः क्रियान्तरेण वा निवर्तते’ (मधु)

तात्पर्य यह है कि सम्प्राप्ति की निवृत्ति से रोग की निवृत्ति हो जाती है । अब यहाँ पुन शका होती है कि इस प्रकार के संयोग के विनाश होने पर भी दोष-दुष्टि बनी रहने पर व्याधि की शान्ति कैसे स्थिर रह सकती है ? एतदर्थ चरक की उक्ति प्रमाण रूप में दी जाती है कि ‘किसी वस्तु की उत्पत्ति में कारण की अपेक्षा रहती है विनाश में नहीं । फिर भी कुछ विद्वानों के मत से उत्पादक कारणों की निवृत्ति को ही कार्य के नाश का हेतु माना जा सकता है ।’

प्रवृत्तिहेतुर्भूताना न निरोधेऽस्ति कारणम् ।

केचिच्चत्रापि मन्यन्ते हेतुं हेतोरवर्त्तनम् ॥

इसी आधार पर विजयरक्षित जी ने स्पष्ट कहा है ‘दोषस्तु स्वतः क्रियान्तरेण निवर्तते’ अर्थात् दोषदुष्टि स्वयमेव या अन्य उपचारों से दूर हो जाती है । इस कथन के अनुसार व्याधि-प्रत्यनीक उपचार दोष-प्रत्यनीक नहीं होते । और यदि व्याधि-प्रत्यनीक को ही दोष-निवर्त्तक स्वीकार किया जावे तो

हेतु-व्याधि-उभयप्रत्यनीक का पृथक् प्रतिपादन करना दुष्कर हो जायगा । अस्तु, हेतुप्रत्यनीक, व्याधिप्रत्यनीक तथा उभयप्रत्यनीक त्रिविध उपशयो को कल्पना करना आवश्यक हो जाता है ।

अस्तु समवायि कारण की प्रधानता मे हेतुप्रत्यनीक, असमवायि कारण की प्रधानता मे व्याधिप्रत्यनीक तथा निमित्त कारण की प्रधानता में उभय-प्रत्यनीक उपशय की आवश्यकता होती है ।

यहाँ पर क्षेत्र और बीज (खेत और बीज) का उदाहरण देना विषय को अधिक स्पष्ट कर देता है । उदाहरण के लिये क्षय रोग को लें । क्षय (Tuberculosis) मे हेतु रूप मे (T B bascilus) आता है— इसके सक्रमण से क्षय रोग की उत्पत्ति प्राणी मे होती है । कुछ औषधियाँ ऐसी मानी जाती हैं जिसका असर सीधे क्षय दण्डाणुवो (T B bascil) पर होती है जैसे, 'स्ट्रेप्टोमाइसिन, (I N H एव Pas) इनकी बहुलता से प्रयोग हेतुभूत क्षयदण्डाणुवो को नष्ट करता है । कुछ ऐसी भी औषधियाँ क्षयरोग मे व्यवहृत होती हैं जो शरीर (क्षेत्र) को सशक्त बनाती हैं जैसे, पौष्टिक आहार, विश्राम तथा खदिर, स्वर्ण काड लिवर आयल प्रभृति, जीवतिक्ति ए डी युक्त आहार इनके द्वारा शरीर रोगप्रतिरोधक क्षमता (Bodiness) इतनी बढ़ जाती है कि बीज या हेतुभूत क्षयदण्डाणु वृद्धि नहीं करते और स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार प्रथम वर्ग की चिकित्सा हेतुविपरीत, द्वितीयवर्ग की चिकित्सा व्याधि-विपरीत होती है । कई बार इन औषधियो का साथ-साथ उपयोग अधिक लाभप्रद होता है एतदर्थ शरीर की क्षमता बढ़ाने के लिये 'सेनेटोरियम ट्रीटमेण्ट' पौष्टिक, आहार तथा बहुविध विटामिन युक्त औषधियो के साथ-ही-साथ क्षयदण्डाणुनाशक औषधियो की भी व्यवस्था करने का विधान है । इस वर्ग की चिकित्सा-पद्धति को हेतु-व्याधि उभयप्रत्यनीक चिकित्सा-विधि कहेंगे । इस तरह कही हेतु भी विपरीत, कभी व्याधि-विपरीत और कभी उभयविपरीत चिकित्सा की आवश्यकता पडती है । इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन उपर्युक्त सूत्रो मे आचार्यों ने किया है ।

विपरीतार्थकारी उपशय-कथन-प्रयोजन—अब प्रश्न उठता है कि हेतुप्रत्यनीक चिकित्सा के भीतर विपरीतार्थकारी उपक्रमो का जब समावेश हो जाता है तो उसके पृथक् पाठ करने की क्या आवश्यकता ?

जैसे १ श्लेष्मबहुल छर्दि मे वमन का उपयोग । छर्दिपु बहुदोषासु वमनं हितमुच्यते । वस्तुतः हेतुप्रत्यनीक ही चिकित्सा हुई । तो हेतु विपरीतार्थकारी कहना निष्प्रयोजन हुआ ।

२. 'प्लुष्टेऽग्निप्रतपनम्, उष्णो गुर्वादिलेपश्च (सु)

अग्निना कोपितं रक्तं भृशं जन्तोः प्रकुप्यति ।

ततस्तेनैव वेगेन पित्तमस्याप्युदीर्यते ॥

अर्थात् अग्निदग्ध व्रण मे रक्तसंचार के बढ़ जाने से पित्तकोप या पाक नहीं होता अस्तु, अग्निदग्ध मे शीत क्रिया का निषेध और उष्णोपचार को लाभप्रद बतलाया गया है —

प्रकृत्या ह्युदकं शीतं स्कन्दयत्याशु शोणितम् ।

तस्मात् सुखयति ह्युष्णं न तु शीतं कथञ्चन ॥ (सु)

अस्तु, यहाँ पर भी हेतु—व्याधि-विपरीत ही चिकित्सा हुई । फिर विपरीतार्थकारी कहने का क्या प्रयोजन ।

३ इसी प्रकार ऊर्ध्वगामी जगम विप मे अधोगामी स्थावरविप का प्रयोग भी हेतुप्रत्यनीक ही होता है ।

विपं विषन्नमुक्तं यत् प्रभावस्तत्र कारणम् ।

ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च तत्प्रभावप्रभावितम् ॥

४ इसी प्रकार मदात्यय की चिकित्सा मद्यप्रयोग । प्रयुक्त होने वाला मद्य शुद्ध मद्य से नितान्त भिन्न होकर हेतुविपरीत ही होता है । इस मद्य मे नीबू का रस एव चुक्र आदि मिलाकर देने का विधान है—जैसे मद्य १ तोला, नीबू का रस १ तोला और जल १ छटाँक । यदि क्वचित् शुद्ध मद्य का भी मदात्यय मे प्रयोग किया जाता है तो वह भी पूर्व पीतमद्य से पूर्णतया विपरीत गुण वाला होता है । जैसे रूक्ष गुण युक्त माध्वीकादि से उत्पन्न मदात्यय मे पिष्ट आदि स्निग्ध द्रव्यो से निर्मित मद्य । यह भी यथार्थ मे हेतु—विपरीत ही होता है । मदात्यय मे मद्य के द्वारा चिकित्सा करने का विधान करते हुए सुश्रुत ने कहा भी है 'जैसे राजाज्ञा से दण्डित व्यक्ति की पुन राजाज्ञा से ही मुक्ति हो सकती है अन्य से नहीं उसी प्रकार मद्यपान जनित मदात्यय से भी छुटकारा मद्यपान से हो हो सकता है' ?—

यथा नरेन्द्रोपहतस्य कस्यचिद् भवेत् प्रसादस्तत एव नान्यतः ।

ध्रुवं तथा मद्यहतस्य देहिनो भवेत्प्रसादस्तत एव नान्यतः ॥

५ इसी प्रकार ऊरुस्तंभ चिकित्सा मे जल-प्रतरण भी हेतुप्रत्यनीक ही उपशय है । इसमे 'लिप्त कुम्भकार न्याय' क्रिया होकर जल की शीतता के कारण शरीराग्नि किञ्चिन्मात्र भी बाहर नहीं निकलने पाती और अत स्थित देहान्नि से तप्त होकर पिण्डित कफ और मेद पिघल जाता है—और तैरने का व्यायाम उसको सुखा देता है तथा वायु आवरणरहित हो स्वमार्गगामी हो

मन्त्र है। इस प्रकार बारूकी विगुना दूर होकर रोग का दूर होना भी हेतुविपरीत विधिमान्यता उदाहरण हुआ तो विपरीतार्थकारी कहने का और उल्टे धृष्टार्थ के रूप में दर्शन हो क्या प्रयोजन ?

लिप्रगुम्भकार न्याय—गुम्भकार अग्नि की लपटों को आँवे के अन्दर ही सीमित करने के विभिन्न वाद्यों से दृढ़ लेपन कर देता है। जिसमें भाण्ड-विना उल्लेखनीय वाद्य के रूप में बाहर निष्कृत जाता है और अतः स्थित अग्नि भाण्डों को पला देती है। यही 'लिप्रगुम्भकार न्याय' कहलाता है। जल वतरण में अग्निमान में भी यही विधान लागू होता है।

अग्नि उल्लेखनीय अग्नि यद्विपरीत है तथापि इन दोनों वर्गों में कुछ भेद है—इस भेद के प्रदर्शित करने के लिये ही शास्त्रकारों ने तदर्थकारी वर्ग का धृष्टार्थ पाठ किया है—मर्द्धि चरत ने भी विपरीतार्थकारी उपपन्न का वर्णन किया है। इस प्रकार अग्नि परम्परा के निर्वाहार्थ भी विपरीतार्थकारी विधिमान्यता मान्य उदाहरण है। दूसरी बात यह है कि हेतुविपरीत विधिमान्यता में दोषाकर्षण हेतु के निमित्त विपरीत गुण-धर्म एवं कार्य के होते हैं, किन्तु विपरीत विधानों में दोषों के धर्म आपतना समान प्रतीत होते हैं—जहाँ समानता में समानता। समानतामान्य में दोनों एक ही प्रतीत होते हैं—हेतुविपरीतानि निमित्त समानता प्रतीत है। हेतुप्रत्यक्षता में यह समानता दृष्टि-लक्ष्य के लिये होती है। हेतुप्रत्यक्षता तथा विपरीतार्थकारी में यही वैधर्म्य है। अन्तु दोनों वर्गों का पाठ धृष्टार्थ-धृष्टार्थ किया गया।

विपरीतार्थकारी उदाहरणों में आयुर्विज्ञान में वटुत्पन्न में चलने वाले वाद्य 'वटुत्पन्न' तथा 'वटुत्पन्न' विधिमान्यता है। उदाहरण के लिये Wotunging Gough Vac Cine को ले, उनमें 'वटुत्पन्न' शब्द के अर्थ में 'वटुत्पन्न' शब्दों में बताया जाता है। देखने में आयाता प्रतीत समानता प्रतीत होती है। वटुत्पन्न विपरीतार्थकारी के चलने वाले होते हैं। इस प्रकार हेतुविपरीत विधिमान्यता भी समानता प्रतीत आश्रयक हो जाता है।

अन्तर्भाव्य लक्षण

(Definition of Anti therapy)

१. अन्तर्भाव्य

विपरीतार्थकारी उदाहरणों में उदाहरणार्थानि अन्तर्भाव्य।

अन्तर्भाव्य उदाहरण—अन्तर्भाव्य के विपरीत अन्तर्भाव्य प्रतीत है। उदाहरण के लिये Wotunging Gough Vac Cine को ले, उनमें 'वटुत्पन्न' शब्द के अर्थ में 'वटुत्पन्न' शब्दों में बताया जाता है। देखने में आयाता प्रतीत समानता प्रतीत होती है। इस प्रकार हेतुविपरीत विधिमान्यता भी समानता प्रतीत आश्रयक हो जाता है।

अनुपशय कहलाते हैं अथवा जिन औषधादि के उपयोग से रोग की वृद्धि हो उनको अनुपशय कहते हैं। अनुपशय दोष एव रोग दोनों का वर्धक होता है।

अनुपशय व्याधि का बोधक होता है या नहीं? यदि वह व्याधि विशेष का बोध नहीं कराता तो निदानपंचक में उसका नामग्रहण निरर्थक है और यदि बोधक हो तो निदान-पंचक के पाँच की सख्या से अतिरेक हो जाता है अर्थात् निदान के साधन पाँच न होकर छ. हो जावेगा। इसका समाधान यह है कि यह रोगनिश्चय का छाँटा हेतु नहीं है वल्कि निदान का ही एक भेद है जैसा कि निदान में कहा गया है 'निदानोक्तानुपशय' अर्थात् निदान रूप से कहे गये आहाराचार तथा कालादि द्वारा ही अनुपशय या दुःख होता है।

निदानोक्तेन ये उक्ता आहाराचारादयस्तैरनुपशयो दुःखं निदानो-
क्तानुपशयः।

निदान से साम्य होने के कारण उपशय का अन्तर्भाव निदान में ही हो जाता है। अतः अनुपशय को पष्ठ रोगविज्ञानोपाय नहीं कह सकते। चरक में भी लिखा है 'गूढलिङ्गव्याधिमप्यगयानुपशयाम्या परीक्षेत' गूढलिङ्ग वाले व्याधि की उपशयानुपशय से परीक्षा करे। निदान का भी यही कार्य है। अस्तु अनुपशय का निदान में ही अन्तर्भाव समझना चाहिये।

वस्तुतः अनुपशय का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं, उपशय कहने से ही तद् विपरीत अनुपशय शब्द का भी ग्रहण हो जाता है। ये दोनों साथ प्रयोग में आने वाले शब्द हैं। जैसे, आमवात रोग के विनिश्चय में यदि 'सैलिसिलेट' के उपयोग से शमन हुआ तो वह उपशय कहलायेगा, परन्तु यदि विपरीत क्रिया हुई तो वह अनुपशय कहा जावेगा।

सम्प्राप्ति-लक्षणा

(Definition of Pathogenesis)

निरुक्ति—

१ यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता।

निर्वृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः।

(वा नि १)

२ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिरित्यनर्थान्तरम्।

(चर नि १)

३ जन्मापि ज्ञानकारणम् अजातस्य ज्ञानाभावात्।

नहि निदानाद्विबोधकत्वेन ज्ञानकारणत्वं किं बोधविषयत्वेन।

(भट्टारहरिचन्द्र)

४ जात्यादिभिः शब्दैर्या अभिधीयते सा सम्प्राप्तिः ।

५. न चास्ति नियमो जातमात्रमेव विज्ञायते अजातस्य व्याधे-
निदानपूर्वरूपाभ्यां वृष्ट्यादेरिव मेघादिना ज्ञायमानत्वात् ।
अथ जातमिति जन्मावच्छिन्नमुच्यते । वृष्ट्यादिकं तु
भविष्यजन्मावच्छिन्नमेव । यस्य तु कालत्रयेऽपि जन्म नास्ति
तत्र ज्ञायत एव तथापि न व्याधिजन्मसम्प्राप्तिः । जन्मवदा-
लोकचक्षुरादेरपि वाच्यत्वापत्तेः, तैरपि विना ज्ञानाभावात् ।

६ तस्माद्दोषेति कर्तव्यतोपलक्षितं व्याधिजन्म सम्प्राप्तिः न तु
केवलं जन्मेति ।

७ दुष्टेन दोषेण आमयस्य रोगस्य निर्वृत्तिरुत्पत्तिः सा सम्प्राप्तिः ।

(मधुकोप)

८ सं+प्राप्तिः=सम्यक् प्राप्तिः ।

(उत्पत्तिक्रम)

९ रोगोत्पादक कुपित दोष की दृष्टि से लेकर रोगोत्पत्ति होने तक शरीर
में जितने परिवर्तन होते हैं वे सब सम्प्राप्ति हैं ।

१० शृङ्खलामदृश शरीरान्तर्गत वैकारिक परिवर्तन, जिसमें संचय में लेकर
भेद पयन्त रोगजन्म का वर्णन हो, उसे सम्प्राप्ति कहते हैं । अंग्रेजी में
इसे (Pathogenesis) कहते हैं । उदाहरण जैसे—ज्वर का
चरकोक्त निदान ।

सम्प्राप्ति का निर्दुष्ट लक्षण—रोग की सम्यक् प्राप्ति ही सम्प्राप्ति है ।
निदान-सेवन के अनन्तर रोगोत्पत्ति होने तक शरीरान्तर्गत जितने परिवर्तन
होते हैं वे सम्प्राप्ति नाम से शास्त्र में अभिहित हैं । इसी निमित्त वाग्भट ने
इसकी परिभाषा या लक्षण इस प्रकार दिया है ।

‘दोष जिस प्रकार के निदानों से दूषित होकर विसर्पण करता हुआ शरीरगत
घातुओं को दूषित कर रोग की उत्पन्न करता है उसे सम्प्राप्ति कहते हैं ।
जाति, आगति इसके पर्याय हैं ।’ इस प्रकार सुश्रुतोक्त ‘संचयं च प्रकोपं च
प्रसरं स्थानाश्रयं व्यक्तिभेदञ्च’ में सम्पूर्ण विकार-परम्परा का समावेश
सम्प्राप्ति में हो जाता है । अर्थात् निदान-सेवन के अनन्तर जिन शृङ्खला
सदृश परिवर्तनों के फलस्वरूप रोग की उत्पत्ति होती है उन सम्पूर्ण परम्परा
का वर्णन सम्प्राप्ति में पाया जाता है । इन विषय का ज्ञान रोगविनिश्चय तथा
चिकित्सा में सहायक होता है ।

आधुनिक युग की वैज्ञानिक भाषा में शरीरान्तर्गत वैकारिक परिवर्तन (Pathogenesis) को सम्प्राप्ति कहते हैं। सम्प्राप्ति-विमर्श का ज्ञान आज के युग में बहुत विकसित रूप में प्राप्त होता है। चिकित्सा में यह एक स्वतंत्र विषय के रूप में प्राप्त होता है। इस विषय पर (Bookson Pathology) अर्थात् वैकारिकी या विकृति विज्ञान के ऊपर बड़ी बड़ी पुस्तकों की रचना हो गई है। इसके सामान्य, विशिष्ट नैदानिक, तृणाणवीय, पाराश्रयिक प्रभृति कई भेदों के ऊपर स्वतंत्र पुस्तकें पाई जाती हैं। फलतः यह विकृतिविज्ञान का विषय बहुत बृहत् हो गया है।

रोग के प्रधान या सहायभूत प्रधान या सहायक पूर्वरोग, लिङ्ग, आयु, देश काल, जीवाणु या आहारविहार एवं तज्जन्य शरीरान्तर्गत परिवर्तनों की सम्पूर्ण परम्परा का सम्प्राप्ति नाम से उल्लेख इस विषय के अतर्गत होता है।

आयुर्वेद के ग्रन्थों में सूत्ररूप में इस विषय का वर्णन पाया जाता है। इस का लक्षण करते हुए विजयरक्षित जी ने मधुवोष टीका में लिखा है—

दोषों की दृष्टि प्राकृत, वैकृत, अनुबन्ध्य (प्रधान) रूप या अनुबध्दरूप (गोण), एकदोषदृष्टि, द्विदोषदृष्टि या समस्तदोषदृष्टि भेद से नाना प्रकार की होती है। यह दोषदृष्टि दोषप्रकोपक समस्त या अल्प कारणों से हो सकती है। इस प्रकार प्रबल या स्वल्पबल दूषित दोष के द्वारा रोग की उत्पत्ति होने को सम्प्राप्ति कहते हैं।

ऊर्ध्व-अध-तिर्यक् भेद से दोषों की गति अनेक प्रकार की हो सकती है—दोष शरीर के विभिन्न धातुओं को दूषित करके किसी विशिष्ट धातु या अवयव में सञ्चित होकर रूक्षता, क्षोभ, विलम्बता, मृदुता, सकोच, शोथ आदि एक या अनेक विकारों को पैदा कर सकता है। इन विकारों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले लक्षण (Symp Toms) या लक्षण-समूह (Syndroone) को रोग कहते हैं और दोष की दृष्टि से लेकर रोगोत्पत्ति पर्यन्त होने वाले सम्पूर्ण परिवर्तनों को सम्प्राप्ति कहते हैं।

‘दुष्टेन दोषेण या आमयस्य रोगस्य निर्वृत्तिरुत्पत्तिः सा सम्प्राप्तिः।’

पर्यायकथन—शास्त्र में लक्षण तथा व्यवहार के लिये सम्प्राप्ति के जाति तथा आगति पर्याय पाया जाता है। जाति का अर्थ जन्म और आगति का अर्थ आगमन होता है। ‘जनी प्रादुर्भावे’ धातु से जाति शब्द बनता है। इसका अर्थ होता है व्याधिजन्म। किसी वस्तु का जन्म उसके ज्ञान में कारण होता है उसी प्रकार व्याधि का जन्म भी व्याधि के ज्ञान में कारण होता है। अर्थात्

व्याधि उसके जन्म के द्वारा जानी जाती है। निदान-पूर्वरूप-रूप-उपग्रह भी व्याधि का बोध कराते हैं परन्तु सम्प्राप्ति में भी उनसे भेद है। निदानादि व्याधि के ज्ञापक होते हैं, परन्तु सम्प्राप्ति ज्ञाप्य अर्थात् ज्ञान का विषय है। जिस प्रकार किसी वस्तु की सत्ता उसके ज्ञान में कारण है उसी प्रकार व्याधिजन्म अर्थात् रोग की सत्ता उसके ज्ञान में कारण है सत्ता सम्प्राप्ति ही है। अस्तु यह कहें कि व्याधिजन्म ही सम्प्राप्ति है तो कथन ठीक मालूम होता है।

कुछ आचार्यों का मत इसके विरुद्ध है। उनके कथनानुसार 'व्याधिजन्म को ही सम्प्राप्ति नहीं कह सकते' क्योंकि ऐसा कहने से सम्प्राप्ति, फिर प्रकाश एवं चक्षुरिन्द्रिय के समान ही रोग ज्ञान में सामान्य ज्ञान के रूप में हो जावेगी। अर्थात् रोग के जानने में प्रकाश, चक्षु आदि इन्द्रियो का होना परमावश्यक है इसके अतिरिक्त रोगदर्शन के निमित्त व्यवहृत होने वाले विविध साधनों की भी आवश्यकता पड़ती है इन साधनों के समान ही उपाय एक सम्प्राप्ति का भी होगा जिस के द्वारा रोग को जाना जावे। परन्तु चिकित्सा में प्रकाश, चक्षु तथा रोग-दर्शन के साधनों का कोई भी महत्त्व नहीं है, उसी प्रकार सम्प्राप्ति का रोग भी चिकित्सा की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रह जावेगा। परिणामस्वरूप सम्प्राप्ति का वर्णन भी अनावश्यक हो जावेगा। क्योंकि पच निदान में तो उन्हीं उपायों का कथन अपेक्षित है जिनकी चिकित्सा में उपादेयता हो, निदान-पूर्वरूप-रूपादि अन्य रोग विज्ञानोपायों का रोगज्ञापक होने के साथ-साथ अन्तिम एवं परम प्रयोजन चिकित्सा विवेक ही स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त यह भी कोई नियम नहीं कि उत्पन्न वस्तु का ही ज्ञान हो क्योंकि भेददर्शन से भावी वर्षा का ज्ञान के समान अनुत्पन्न व्याधि का निदान, पूर्वरूप आदि के द्वारा, जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है, व्याधि का ज्ञान संभव रहता है।

जात का अर्थ जन्मयुक्त मानते हैं, वर्षा भावी होते हुए भी जन्मावच्छिन्न ही है अर्थात् भावी जन्मयुक्त है। इसी निमित्त उसका पूर्वरूपों से ज्ञान करना संभव भी रहता है। जिस वस्तु का त्रिकाल में (भूत-भविष्य या वर्तमान में) जन्म नहीं होता उसका जानना भी संभव नहीं रहता। इनलिये जन्म भी ज्ञान में कारण होता है। तब भी व्याधिजन्म को सम्प्राप्ति मानना ठीक नहीं है अन्यथा जन्म के समान चक्षु आदि को भी कारण स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि उनके बिना भी व्याधि का पूर्ण ज्ञान नहीं होता है।

अस्तु सम्प्राप्ति का लक्षण केवल 'व्याधिजन्म एवं सम्प्राप्ति' इतना ही करना पर्याप्त नहीं होगा प्रत्युत सम्प्राप्ति का निर्दुष्ट लक्षण इस प्रकार करना होगा—'तस्माद् व्याधिजनकदोषव्यापारविवेकयुक्तव्याधिजन्मेह सम्प्राप्तिरिति

चक्रपाणि —ऐसा मानना न्यायोचित है । अर्थात् व्याधि उत्पादक दोष के विविध-व्यापारयुक्त (परिणाम युक्त) व्याधिजन्म ही सम्प्राप्ति है—ऐसा कहना चाहिये । केवल व्याधिजन्म नहीं । इसी लिये वाग्भट ने दोषदुष्टि एव उनके परिणामो से युक्त व्याधिजन्म को सम्प्राप्ति बतलाई है जैसा कि निरुक्त के प्रथम श्लोक से स्पष्ट है । फलतः विविध प्रकार के व्याधिजन्म को सम्प्राप्ति कहते हैं—सामान्य व्याधिजन्म की (नहीं)

इस प्रकार की सम्प्राप्ति व्याधि की यथार्थ जापिका होती है उसका व्याधि के समनार्थ चिकित्सा में भी वैशिष्ट्य आता है जैसा कि ज्वर को सम्प्राप्ति से आमाशयदुष्टि एव अग्निनाश का ज्ञान होने पर लघन, पाचन, स्वेदन प्रभृति उपचारों की उपयोगिता स्वयम् प्रकट हो जाती है ।

अब शका होती है कि इस प्रकार की सम्प्राप्ति तो दोषों का अवान्तर व्यापार ही हुई अतः दोषों के दुष्टिकथन से ही काम चल सकता है तो फिर अलग से इसके वर्णन का क्या प्रयोजन ? इसका उत्तर यह है कि चिकित्सा विशेष के लिये इसका पृथक् वर्णन अपेक्षित है । जिस प्रकार पूर्वरूप और रूप दोनों में व्याधिज्ञापन में समानता होते हुए भी चिकित्साविशेष के लिये पृथक्-पृथक् पाठ किया गया है । पूर्वरूपावस्था या रूपावस्था की चिकित्सा में परस्पर भेद होता है । एक ही रोग की पूर्वावस्था में दी गई चिकित्सा रूपावस्था में अनुपयुक्त हो सकती है उसी प्रकार रूपावस्था की चिकित्सा पूर्वरूपावस्था में अनुपयोज्य है, इसी प्रकार सम्प्राप्ति का भी चिकित्सा में अपना वैशिष्ट्य है ।

प्रतिश्याय के पूर्वरूप में अनूर्जताहर औषधियाँ (Anti bristamin drugs) उत्तम कार्य करती हैं—जैसे हरिद्रा और गुड । परन्तु प्रतिश्याय हो जाने पर अर्थात् रूपावस्था में इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं रहता । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये ।

ज्वरसम्प्राप्ति उदाहरण—

स यदा प्रकुपितः प्रविश्यामाशयमूष्मणः स्थानमूष्मणा सह मिश्रीभूतमाद्यमाहारपरिणामधातुं रसनामानमवेत्य रसस्वेदवहानि स्रोतांसि पिधायाग्निमुपहत्य पक्तिस्थानादूष्माणं बहिर्निरस्य केवल-शरीरमनुप्रपद्यते तदा ज्वरमभिनिर्वर्त्तयति ।

(च नि १)

यह वातिकज्वर की सम्प्राप्ति का कथन है, इसी प्रकार पैत्तिकादि ज्वरों की सम्प्राप्ति का भी वर्णन पाया जाता है । आमाशय कफ का स्थान है ज्वरितावस्था में दोष भी इसमें आश्रित रहते हैं । परिणामस्वरूप पाचक रसों की हानि तथा

रस और स्वेदवह स्रोतो में अवरोध उत्पन्न होता है। अतएव चिन्ता में सर्वप्रथम 'स्थानं जयेद्वि पूर्वन्तु ग्यानम्यस्याविरोधत' इस वचन के अनुसार लंघन करके पाथन, एवं स्रोतोवरोध दूर करने के लिये स्वेदन आदि का प्रयोग कराया जाता है।

सम्प्राप्तिभेद

(Varieties of pathogenesis)

मन्व्याविकल्पप्राधान्यचलकालविशेषण ।

सा भिद्यते यथात्रेव यश्च्यतेऽष्टौ ज्वरा इति ।

द्वोपाणां समवेतानां विकल्पोऽशांशकल्पना ।

स्वातन्त्र्यपारन्त्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत् ।

हेत्वादिक्तास्त्यागिचर्वैर्बलावलविशेषणम् ।

नक्तंदिनर्तुमुक्ताशैर्वाधिकालो यथामलम् ।

(वा नि ?)

सत्त्वा, विकल्प, प्राधान्य, वर तथा काल भेद से सम्प्राप्ति के पाँच वर्ग होते हैं। उनके क्रमशः लक्षण तथा उपभेद नीचे दिये जा रहे हैं।

संख्या-सम्प्राप्ति—रोगो का भेद करके गणना करने के माधन को नह्या कहते हैं—जैसे 'अष्टौ ज्वरा पञ्च अनिमारा पञ्च काना. पञ्च श्वाभा पञ्च हिक्क विगतिर्मेहा. विगति कृमिजातय.' इत्यादि। इन नह्याओं का तान्त्रिक माहात्म्य है। और सत्त्वाये भी निश्चित रहती है। स्वेच्छानुसार उनके उपभेदों की कल्पना नहीं की जा सकती है। परन्तु यदि नह्या या शास्त्रीय नह्या एक ही रहती है। यह सीमित, निश्चित एवं शास्त्र के द्वारा निर्धारित होती है।

विकल्प सम्प्राप्ति—व्याधि में मिले हुए दोषों की अशाशकल्पना।

‘समवेताना पुनर्दोषाणामंशाशयलविकल्पोऽस्मिन्नर्थे।’

(च नि ?)

यदि व्याधि एकदोषज हो तब तो उस भेदकल्पना की आवश्यकता नहीं रहती, परन्तु व्याधि के समष्टि (द्विदोषज या त्रिदोषज) होने पर दोष के अशाशकल्पना की आवश्यकता उत्पन्न होती है।

प्राधान्य—प्रधान या अप्रधान या स्वतंत्र या परतंत्र भेद से सम्प्राप्ति भी दो प्रकार की होती है। रोग में रोगोत्पादक दोष की प्रधानता के ऊपर अथवा स्वतंत्रता या परतंत्रता के आधार पर-तन्म भेद से प्राधान्य या अप्राधान्य सम्प्राप्ति का निर्णय करना होता है। इसी अन्वय का भाव निम्नलिखित उक्तियों से प्राप्त होता है।

प्राधान्यं पुनर्दोषाणां तरतमाभ्यामुपलभ्यते तत्र द्वयोस्तरस्त्रिषु तम इति । (च नि १)

स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थानोपशमो भवत्यनुबन्धः, तद् विपरीतलक्षणस्त्वनुबन्धः । (चरक)

अनुबन्धः प्रधानम् अनुबन्धोऽप्रधानम् ।

(विजयरक्षित*)

इम तरह ज्वर, अतिमार, पाण्डु आदि द्वन्द्वज या त्रिदोषज रोगो मे जिस दोष की प्रधानता होगी, प्राधान्य सम्प्राप्ति भी उसी के नाम से व्यवहृत होगी । चिकित्सा मे उपक्रम का निर्धारण भी उसी के आधार पर किया जावेगा । प्राधान्य के विपरीत अप्राधान्य सम्प्राप्ति होती है ।

बलसम्प्राप्ति—निदान, पूर्वरूप और रूपो की सम्पूर्णता या अल्पता के आधार पर बलावल का ज्ञान जिससे होता है उसे बलरूप सम्प्राप्ति कहते हैं । अर्थात् हेतु, पूर्वरूप और रूप की अधिकता वाली व्याधि को सबल तथा हेत्वादि की अल्पता रहने से व्याधि को निर्वल समझना चाहिये ।

कालसम्प्राप्ति—जिस सम्प्राप्ति के द्वारा दोषानुसार रात्रि, दिन, ऋतु एवं भोजन के पाक के साथ व्याधि की वृद्धि या ह्रास निर्धारण होता है उसे काल सम्प्राप्ति कहते हैं ।

बलकालविशेषः पुनर्व्याधीनामृत्वहोरात्रकालविधिविनियतो भवति ।

(च नि १)

अब सम्प्राप्ति के पाँच प्रकारो का विशद वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है—

संख्यासम्प्राप्ति—विविध दोष एव आगन्तुक कारणो से ज्वर आठ प्रकार का होता है । वात-पित्त-कफ से स्वतन्त्र तीन, वातपित्त, पित्तकफ एव कफवात से द्वन्द्वज तीन, तीनों से मिश्रित सन्निपातज एक तथा आगन्तुक एक कुल मिलाकर आठ होते हैं । सन्निपातज ज्वर एक होते हुए वृद्ध दोषो के विचार से सन्निपात के १३ भेद हो जाते हैं—

द्वयुल्वणैकोल्वणैः षट् स्युर्हीनमध्यादिकैश्च षट् ।

समश्चैको विकारास्ते सन्निपातास्त्रयोदश ॥ (च सू १७)

द्वयुल्वण— { वात वृद्ध पित्त-कफ वृद्धतर ।
 { पित्त वृद्ध कफ-वात वृद्धतर ।
 { कफ वृद्ध वात-पित्त वृद्धतर ।

एकोल्वण— { वात-पित्त वृद्ध कफ वृद्धतर ।
 { पित्त-कफ वृद्ध वात वृद्धतर ।
 { कफ-वात वृद्ध पित्त वृद्धतर ।

हीन	मध्य	अधिक
वृद्ध	वृद्धतर	वृद्धतम
वात	पित्त	कफ
वात	कफ	पित्त
पित्त	कफ	वात
पित्त	वात	कफ
कफ	वात	पित्त
कफ	पित्त	वात

वात पित्त कफ समबद्ध

१६ कुल

इसी प्रकार काम, भोक, भय, आघात आदि विविध कारणों में उत्पन्न होने पर भी आगन्तुकता की सामान्यता के कारण सबों का एक ही आगन्तुक के भीतर समावेग हो जाता है। इस प्रकार भेदोपभेद होते हुए भी ज्वर की संख्या एक ही स्थिर अर्थात् आठ ही रही। संख्या-सम्प्राप्ति कथन का यही प्रयोजन है।

विकल्प-संप्राप्ति—समवेत दोषों की अशाग कल्पना को विकल्प कहते हैं। इन अंशाग कल्पना को समझने के लिये दोष-गुणों का समझना आवश्यक है क्योंकि गुणों के ऊपर अशागकल्पना की जाती है।

रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः।

(वातगुणा)

सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु।

(पित्तगुणा.)

गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः।

(श्लेष्मगुणाः)

इन गुणसमूहों के एक, दो, तीन या समस्त अंगों से वातादि के प्रकोप का निश्चय करना ही अशाग-कल्पना है। कितने प्रकोपक गुणों से दोष के कितने अंग का कोप हुआ है—इस प्रकार का विकल्प, अशागकल्पना है। द्रव्य एवं उनके रसों में दोषों के ही समान गुण रहते हैं। अतः प्रकोपक द्रव्य में जितने प्रकोपक अंग रहते हैं उनसे ही दोष का प्रकोप होता है।

कषायरस एवं कलाय—रीक्ष्य, शैत्य, वैगद्य एवं लाघवादि गुणों से वात को सब अंशों में बढ़ाता है। अति या वृद्धतम।

तण्डुलीयक—रूक्ष, शीत एवं लघु होने से वात का वर्धक है । इक्षु रुक्षता एवं शीत गुणों से वात को बढ़ाता है (मध्य) । सीधु केवल रुक्षता गुण से वात को बढ़ाना है (हीन) ।

कटुरस एवं मय मे पित्तवर्धक सभी अश विद्यमान हैं अतः वह पित्त का सर्वांग मे वर्धक है (अति) । हिंगु-कटुतीक्ष्ण एवं उष्ण इन तीन गुणों से पित्त का वर्धक होता है (मध्य) । अर्जवायन—उष्णता एवं तीक्ष्णता के गुण से तिल केवल उष्णता के कारण पित्त का वर्धक है (हीन) ।

मधुररस एवं माहिषकीर सर्वांग मे कफवर्धक होते हैं (अति) । स्नेह, गुरु एवं मृदु होने से खिरनी कफप्रकोपक है (मध्य) । कसेरु शीत एवं गुरु के कारण एवं केवल शीत गुण के कारण क्षीरीवृक्षों के फल कफवर्धक होते हैं (हीन) ।

काल-वय या आयु—अन्तिम भाग वृद्धावस्था मे वात, मध्यायु मे पित्त एवं आदि वाल्यावस्था मे कफ, दिन के अन्त मे वायु, मध्य मे पित्त एवं प्रारम्भ या प्रातः काल मे कफ, रात्रि के अन्त मे वात, मध्य मे पित्त एवं प्रारम्भ भाग मे वात, भोजन की परिपक्वावस्था मे वात, पच्यमानावस्था मे पित्त एवं खाने के साथ कफ की वृद्धि, वसन्त, शरद् और वर्षा ऋतुओं मे क्रमशः कफ, पित्त एवं वायु का कोप तथा ऋतुसन्धियों मे दोषप्रकोप शास्त्र प्रसिद्ध है —

ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः ।

वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात् ॥

ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहावृतुसन्धिरिति स्मृतः ।

(वाग्भट)

संख्याभेद या विधि—‘विधिर्नाम द्विविधा व्याधय निजागन्तुभेदेन, त्रिविधास्त्रिदोषभेदेन चतुर्विधा साध्यासाध्यमृदुदारुणभेदेन ।’ वाग्भट ने इस विधि का उल्लेख पृथक् नहीं किया है । उन्होंने संख्या मे ही विधि का ग्रहण कर लिया है । अस्तु विधि और संख्या मे कोई पार्थक्य नहीं है । शास्त्र मे व्यवहार भी पर्याय नाम से इन दोनों का हुआ है । परन्तु वाप्यचन्द्र जी का कथन है कि नहीं इनमे भेद है ‘विधिसंख्ययोश्चायं भेदः ।’ विधि का अर्थ प्रकारभेद या उप-भेद है और संख्या का बड़े वर्गों या भेदों मे व्यवहार पाया जाता है—जैसे दोषभेद से रक्तपित्त का वातिक; पैत्तिक, श्लेष्मिक, ससर्गज एवं त्रिदोष भेद-भेद के वर्गों मे आता है और ‘विविध रक्तपित्तम् तिर्यगूर्ध्वोभेदात्, ‘यह अवान्तर भेद विधि के वर्ग मे । संख्याभेद सीमित, निश्चित एवं शास्त्र से निर्धारित रहती है ।

विधिभेद प्रकारभेद हैं और भेदविवक्षा के ऊपर आवृत्त है। रोग में चिकित्सा की दृष्टि से दोनों का कथन अपेक्षित रहता है।

चक्रपाणि का भी वचन है 'मंस्याद्यगृहीते व्याधिप्रकारोऽयं विविगद्वो वर्तनीयः।' अर्थात् सद्यः आदि में अन्तर्भाव न होने योग्य व्याधि के विविष्ट भेदों का नित्पण करने के लिये विवि गद्व का प्रयोग अवश्य करना चाहिये।

इस प्रकार वाग्भट तथा उनके अनुयायी माधवकरने जो मंस्या में ही विधि का अन्तर्भाव कर लिया है वह भ्रमपूर्ण है। ऐसा विजयरक्षित को भी अभिमत है क्योंकि नैयायिकों का भी सिद्धान्त है कि 'सामान्येन धर्मेण परिग्रहो भेदानां यत्र क्रियते स विधि मस्या तु भेदमात्रम्' अर्थात् जहाँ विभिन्न भेदों का निर्णय समान धर्म से किया जाता है वहाँ विधि गद्व का प्रयोग करना चाहिये। केवल भेद प्रदर्शित करने के लिये मस्या गद्व का प्रयोग करना चाहिये। वैयाकरण लोग भी मस्या और विधि में भेद मानते हैं।

'अन्वयवान् प्रकारो निरन्वयो भेदः।' अर्थात् समान जाति में ही अवान्तर धर्म के सम्बन्ध से भेद का विधि (प्रकार) एवं समान और असमान जाति में भेदमात्रमूचक मस्या का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ चार पङ्क्तियों से गाय भैंस, बकरी, आदि सत्र का बोध हो सकता है। अतः यहाँ विजातीय होने के कारण, भेदमात्र का ही बोध होता है जिससे केवल सद्यः का प्रयोग होता है। परन्तु जहाँ काली एवं श्वेत दो प्रकार की गायें हैं वहाँ पर श्वेतत्व और कृष्णत्व भेद समान जाति में ही किया गया है अतः प्रकार या विधि गद्व का प्रयोग होगा।

विधि एवं मस्या का भेद नित्पण करते हुए आचार्य श्री नगाधर जी कविराज ने भी लिखा है 'अत्र विविस्तु प्रकार सद्यः तु भेदमात्रम् सजातीयेषु पञ्च ब्राह्मणअत्रिया । प्रकारन्तु नजानीयेषु भिन्नेषु धर्मान्तरेण उपपत्ति । तात्पर्य यह है कि विज्ञेय या धर्मविशिष्ट के आधार पर भेद करने के लिये विधि गद्व का प्रयोग किया जाता है—यथा 'निजागन्तुविभागेन रोगास्तु द्विविधा स्मृता।' यहाँ पर रोग विज्ञेय और निजागन्तु विज्ञेय। यहाँ पर इन दो विज्ञेयों को ही आधार मानकर रोग का पार्थक्य किया गया है। यहाँ पर विधि गद्व का प्रयोग है। इसी प्रकार यह विधि का ही उदाहरण है।

मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषमः समश्चेति चतुर्विधः।

कफपित्तानिलाधिक्यात् तत्साम्याज्जाठरोऽनलः॥

परन्तु जहाँ भेदमात्र अभीष्ट है वहाँ केवल मस्या का ही प्रयोग करते हैं—जैसे 'पञ्च गुल्माः, सप्त कुष्ठानि' आदि। जहाँ ज्वर आदि को विज्ञेय

मानकर विशेषणों के द्वारा पृथक्करण किया जाता है वहाँ विविध या प्रकार शब्द का प्रयोग होता है। अतः सख्या तथा प्रकार दोनों का उल्लेख करना न्यायोचित है, विधि एवं सख्या दोनों को भिन्न मानना ठीक है। यदि दोनों को एक ही मान ले तो व्यवहार में भी ऊपर के द्विविध, त्रिविध एवं अष्टविध का साथ ही उल्लेख करना होगा जो असंगत प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त विधिरूप सम्प्राप्ति के परिणाम तथा संख्यारूप सम्प्राप्ति के परिणाम में भी भेद होता है। जैसे ऊर्ध्वगरक्तपित्त में अधोमार्ग से दोष के हरण करने से शान्ति मिलती है ऊर्ध्व हरण से नहीं, उसी प्रकार अधोग रक्तपित्त में ऊर्ध्व मार्ग से दोषहरण प्रशस्त अधोमार्ग से नहीं। यह ज्ञान सख्या एवं विकल्प सम्प्राप्ति के पृथक्-पृथक् निर्देश करने से ही सम्भव रहता है।

विकल्प या अशाश कल्पना से हो यदि व्याधिभेद करना सम्भव रहता तो फिर सख्यासम्प्राप्ति से पृथक्करण की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है—कि संख्यासम्प्राप्ति से स्थूल विभेद दोषों का हो जाता है, परन्तु उनके सूक्ष्म अंशांशों का भेद विकल्प से ही करना सम्भव है। अतः सख्या तथा विकल्प दोनों चिकित्सा के उपक्रमों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। अस्तु दोनों का वर्णन अपेक्षित है।

आधुनिक परिभाषाओं की दृष्टि से विचार किया जावे तो सख्या से Main classification of the Diseases प्रकार से types or subclassification of the Diseases, प्राधान्य से Main changes, अप्राधान्य से Secondary changes (Main or secondary defects), बल एवं विकल्प से Mode of onset of the disease or Intensity of Disease or pathogenesis, काल age Timefactor in diseases आदि का बोध होता है। इस तरह से विचार करने का उद्देश्य (Extent of damage in a particular disease) रोग में किस सीमा तक किसी विकार में क्षति हुई है, इस बात की जानकारी हासिल करना होता है। फिर तदनुकूल उपचार की व्यवस्था करना चिकित्सक का अन्तिम लक्ष्य माना जाता है। इस प्रकार सम्प्राप्ति भेदों का कथन निदान एवं चिकित्सा की दृष्टि से बड़ा उपयोगी होता है।

उपसंहार

रोगोत्पत्ति में दोष को कारणता

१ सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः।

तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम्॥

२. नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात्तस्माद् विचक्षणः ।
अनुक्तमपि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधिमुपाचरेन् ॥
३. विकारनामाकुशलो न जिहीयात् कदाचन ।
नहि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवास्थितिः ॥
४. आगन्तुर्हि व्यथापूर्वसमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्य-
मापादयति ।

मभी रोगों का मूल कारण प्रकुपित दोष है । उन दोषप्रकोपक का भी कारण अनेक प्रकार के अहित पदार्थों का सेवन (असात्म्येन्द्रियार्थमयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम) ही है । अग्निवातज अणुजीवों के उपनर्ग में होने वाले रोग आगन्तुक है—उनमें उत्पत्ति काल में दोषप्रकार यद्यपि कारण नहीं होता तथापि आगन्तुक कारणों का उपस्थिति के पश्चात् दोषप्रकोप होकर व्याधि की उत्पत्ति होती है लिखा है 'उत्पन्नद्रव्य गुणयोगवत्' अर्थात् न्यत्र उत्पन्न द्रव्य एक क्षण के लिये निर्गुण एवं क्रियारहित रहता है तथापि भावी गुण एवं क्रिया की कल्पना से उत्पन्न द्रव्य को भी क्रिया और गुण में युक्त मान लिया जाता है । फलत आगन्तुक रोगों में उत्पत्ति के पश्चात् दोषसम्बन्ध होता है और वे भी दोषजात ही रोग हो जाते हैं । इस मसाल के बावत् शारीरिक रोगों के मूल दोष ही हैं । अतः सर्वप्रथम उनकी परिभाषा एवं संख्या का ज्ञान कर लेना परमावश्यक है ।

वातः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः ।

विकृताऽविकृता देहं त्रन्ति ते तपर्यन्ति च ॥ (बा०) ।

दोष—१ मलिनिकरणान्मलाः ।

शरीर को मलिन करने के कारण दोषों को मल कहते हैं ।

२ दूषणादोषाः ।

३ देहधाणात् धातवः ।

} क्रिया की दृष्टि से शरीर का दूषण
करने से दोष और देह का धारण
करने से ये धातु कहलाते हैं ।

लक्षण—'दूषकत्व दोषत्वम्'—शरीर के धातुओं को दूषित करने वाले तत्त्वों को दोष कहा जाता है । यदि ऐसी परिभाषा की जावे तो फिर रस-रक्तादि धातु भी स्वयं दूषित होकर एक दूसरे को दूषित करते हैं, वे भी दोषों की श्रेणी में ही आ जायेंगे—अतः इनकी निवृत्ति के लिये पूर्व परिभाषा में कुछ विवेचन जोड़ना आवश्यक है—एतदर्थ 'स्वातन्त्र्येण दूषकत्व दोषत्वम्' इस प्रकार का कथन अविक्रम समीचीन है अर्थात् जो तत्त्व स्वतंत्रतया शरीरधातुओं के दूषक होंवे वे दोष हैं ।

कुछ आचार्यों ने पुन इस लक्षण की विप्रतिपत्ति की है। उन्होंने कहा कि 'स्वातन्त्र्य' शब्द का क्या तात्पर्य है दोषान्तरनिरपेक्ष (अन्य दोषों की अपेक्षा न करना) या हेत्वन्तरनिरपेक्ष (अन्य कारणों की अपेक्षा न रखते हुए दृष्टि) यदि प्रथम अर्थ लिया जावे तो दोष की कोटि में केवल वायु ही आवेगा पित्त तथा कफ नहीं क्योंकि शास्त्र में उल्लेख मिलता है कि पित्त और कफ पगु हैं केवल वायु ही गतिशील है वही खींचकर कफ एवं पित्त को ले जाता और उन से रोगोत्पत्ति कराता है — 'पित्तं पगु कफं पगु पगवो मलधातवः । वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेधवत् ॥' इस प्रकार पित्त एवं कफ दोष का वातसापेक्ष सिद्ध है। यदि द्वितीय अर्थ लिया जावे अर्थात् हेत्वन्तरनिरपेक्ष दूषकत्व माना जावे तो फिर स्वयं वात भी दोषकोटि में नहीं आ सकता क्योंकि वह भी वात-प्रकोपक निदान की अपेक्षा रखता है। अतः हेत्वन्तरनिरपेक्ष भी दोष का दूषकत्व नहीं हो सकता है। अस्तु, अतिव्याप्ति, अव्याप्ति एवं असम्भव दोषों से विरहित दोष का लक्षण इस प्रकार से करना होगा—

‘प्रकृत्यारम्भकत्वे सति दुष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम् ।’

अर्थात् 'जो तत्त्व प्रकृति के आरम्भक होते हुए दूष्यों की दुष्टि करते हैं वे दोष कहलाते हैं।' प्रकृत्यारम्भक दोष ही होते हैं—चरक का वचन है—दोषों के अनुकूल ही शरीर की प्रकृति का निर्माण होता है। वाग्भट ने भी कहा है कि जन्म के आदि या गर्भ में शुक्र-शोणित में प्रकृति का भी समावेश होता है—जैसा कि विपक्रमियों का जन्म से विष में उद्भव होता है।

दोषानुशायिता ह्येपादेहप्रकृतिरुच्यते । (चर)

शुक्रार्तवस्थैर्जन्मादौ विषणोर्विपक्रमेः ॥ (वा)

ततः सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणां गर्भादिप्रवृत्ता ।

तस्माच्छ्लेष्मलाः प्रकृत्या केचित्, पित्तलाः केचित्,
वातलाः केचित्, संसृष्टाः केचित्, समधातवः प्रकृत्या
केचिद् भवन्ति । (चरक वि ८)

इस प्रकार दोषों से पृथक्-पृथक्, द्वन्द्वज तथा सन्निपातज भेद से सप्त प्रकृतियों का उल्लेख शास्त्र में पाया जाता है।

दोष एवं प्रकृति में भेद—प्रकृति एवं रोग दोनों ही दोषज हैं। किन्तु दोनों में अन्तर है। अपथ्य सेवन पर अधिक कष्ट नहीं पहुँचाती, परन्तु रोग में अपथ्य सेवन अत्यधिक हानिप्रद होता है। प्रकृति स्वभाव है उससे कोई शरीर को बाधा नहीं परन्तु रोग विकृति या विकार है उनसे शरीर को कष्ट पहुँचाता है। प्रकृति मनुष्य के Temperament बोध होता है—

अपेक्षा इसमें विशेषता यह है कि यह कई बार दोष स्वरूप का भी हो सकता है । अस्तु, इसका अपना विशिष्ट स्थान है । यूनानी वैद्यक में भी रक्त को दोष माना गया है । फिर भी वैद्यक शास्त्र में दोष तीन है—रक्त दोष नहीं दृश्य ही है । ऋणो में प्रायः शोणितदुष्टि होती है । अस्तु, सुश्रुत ने व्यवहार मात्र के लिये दोषसदृश माना है—सिद्धान्ततः दोष नहीं माना है जैसा कि इस वचन से स्पष्ट है—‘वातपित्तश्लेष्माण एव देहसम्भवहेतवः ।’ ये दोष कारणापेक्षी हैं, अहित-सेवन से कुपित होकर रोगोत्पत्ति करते हैं ।

रोगोत्पत्ति में रोग की कारणता—चरक ने सम्पूर्ण रोगोत्पादक निदान को असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध तथा परिणाम इन तीन विभागों में बाँटा है । परन्तु रोग भी रोगोत्पादक होते हैं —यथा—

निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपजायते ।

तद्यथा ज्वरसंतापाद्रक्तपित्तमुदीयते ॥

तो क्या रोग को भी निदान मानकर चार वर्ग निदान का करना उचित है ? इसका नकारात्मक उत्तर शास्त्रकारों ने दिया है । शास्त्रकारों का कथन है कि चरकोक्त त्रिविध निदान का विषय सम्पूर्ण रोगसमूह के साथ सम्बद्ध है, परन्तु रोग रूप निदान का विषय विशिष्ट रोग है । सभी रोग से रोग उत्पन्न नहीं होते । अतः चतुर्थ निदान नहीं मानना चाहिये । इसे अपवाद रूप में स्वीकार करना चाहिये अथवा रोग से रोगोत्पत्ति का होना भी त्रिविध से अतिरिक्त वस्तु है, ऐसा नहीं समझना चाहिये—क्योंकि जब ज्वर आदि व्याधि में त्रिविध कारणों की अत्यधिकता नहीं होती तब तक वे रक्तपित्त-सदृश रोगों को उत्पन्न नहीं कर सकते । अतः साक्षात् या परम्परया त्रिविध हेतु ही व्याधि की उत्पत्ति में कारण होता है ।

ये रोगोत्पादक रोग दो प्रकार के होते हैं । कुछ हमारे रोग को पैदा करके स्वयं शान्त हो जाते हैं उन्हें एकार्थकारी किन्तु कुछ रोगान्तर उत्पन्न करके भी बने रहते हैं उन्हें उभयार्थकारी कहते हैं । उदाहरणार्थ यदि प्रतिश्याय कास उत्पन्न करके स्वयं शान्त हो जाता है तो वह एकार्थकारी हुआ, परन्तु यदि कास उत्पन्न कर के बना रहता है तो उभयार्थकारी कहेंगे । उभयार्थकारी रोग अत्यन्त कष्टप्रद एवं विरुद्धोपक्रम होने से कष्टसाध्य होते हैं । इनको Sympathetic Diseases के वर्ग में समझना चाहिये । जैसे श्वास और विचर्चिका ।



द्वितीय खण्ड
प्रथम अध्याय

पंच कर्म

आयुर्वेद की चिकित्सा में पंचकर्म का सम्यक् ज्ञान परमावश्यक है। चिकित्सा कर्म में व्यवहृत होने वाली प्रायः सभी उपकर्मों का अंतर्भाव इन मौलिक पाँच कर्मों में ही हो जाता है। चिकित्सा में मिलने वाला ऐसा कोई रोग नहीं है जिसमें किसी न किसी प्रकार चिकित्सा-सूत्रों में इनकी महत्ता न बतलाई गई हो। कायचिकित्सा में अधिकतर पाँच कर्मों का शल्यतंत्रीय चिकित्सा में अष्टविध शस्त्रकर्मों का निश्चित रूप से प्रयोग किया मिलता है। आधुनिक शब्दों में अंग्रेजी शब्द Main Operation के पर्यायवाची रूप में ही कर्मों की गणना समझनी चाहिए। इनमें पंचकर्म [Five fold main operations in the field of medicine] का नाम कायचिकित्सा में तथा अष्टविध शस्त्रकर्म (Eight fold main operations in the field of surgery) का भूरिश वर्णन आयुर्वेद की प्राचीन संहिताओं में पाया जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक व्याधि में सभी कर्मों की चिकित्सा करते समय उपयोग करना ही पड़े। क्योंकि बहुत सी ऐसी व्याधियाँ हैं जो एक ही कर्म (विद्रधि में भेदनमात्र से और आमामीर्ण में वमनमात्र) से, कुछ दो कर्मों (उभयगत रक्तपित्त में वमन एवं विरेचन, तथा अगच्छेदन में छेदन और सीवन) से और कई विकारों में तीन कर्मों [मूत्रवृद्धि के शस्त्र कर्म में भेदन, विस्त्रावण और सीवन से तथा शिरोरोगों में वमन-विरेचन एवं नस्य कर्म) से, क्वचित् इनसे अधिक कर्मों से साध्य है। अर्थात् चिकित्सा में कहीं एक या क्वचित् अनेक कर्मों की अपेक्षा रहती है।

‘कर्मणा कश्चिदेकेन द्वाभ्यां कश्चित् त्रिभिस्तथा ।

विकारः साध्यते कश्चित्तुर्भिरपि कर्मभिः ॥ (सु सू)

पंचकर्मों में (१) वमन (Emesis or emetics) (२) विरेचन [Purgation or purgatives] (३) आस्थापन (Enemata or clyster) (४) अनुवासन (Nutrient enemata) तथा (५) शिरोविरेचन (Insufflation through nose) प्रभृति पाँच कर्मों का समावेश हो जाता है। अष्टविध शस्त्रकर्मों में (१) छेदन (Excision) (२) भेदन (Incision) (३) लेखन (Currattage) (४) एषण (Exploration) (५) आहरण (Extretion) (६)

वेधन (Puncturing) (७) विस्रावण (Blood letting) तथा (८) सीवन (Suturing) इन आठ कर्मों का मनावेय हो जाता है । इनके अतिरिक्त शल्यचिकित्सा में और भी चीवीन प्रकार के यन्त्रों के कर्मों का उल्लेख हुआ है जिसका विस्तारभय में उल्लेख नहीं किया जा रहा है । कभी-कभी कायचिकित्सा के क्षेत्र में भी रक्तविस्त्रावण या गिरावेय कर्म की आवश्यकता पड़ती है । जैसे श्लोषद में, सर्पविष में, तथा मुच्च रक्त-निपीड में ।

इन कर्मों का ज्ञात या अज्ञात रूप में सभी चिकित्सक प्रयोग करते हैं । परन्तु ज्ञात के स्थान पर अज्ञात रूप से ही अधिक रक्त में प्रयोग चलता है । कारण यह है कि रोगी को चिकित्सा करने में दो ही मूलभूत सिद्धान्तों का आश्रय लेना पड़ता है । (१) संशोधन तथा (२) संगमन । संगोधन कार्यों में पंचकर्मों के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं है । परन्तु संगमन के विविध साधन हैं । यदि संगमन क्रिया से ही लाभ हो जाय तो संगोधन के प्रपञ्चों से रक्षा हो जाती है । रोगी से उत्पन्न विषमयता में सिद्धान्तन विषों के निकालने का उपाय संगोधन द्वारा तथा अनिर्गत शेष विषों की चिकित्सा संगमन क्रियाओं द्वारा करनी चाहिए । सर्वोत्तम चिकित्सा वही है जो दोनों का आश्रय करके चले । आज के युग में संगोधन का कार्य नाममात्र ही अवशिष्ट है जैसे—प्रकृति से ही स्वतः रोगी को वमन या रेचन होने लगे अथवा कुछ साधारण एनीमा दे दी जावे या कुछ रेचक औषधियों का प्रयोग रोगी में कर दिया जावे । वस्तुतः यह इस तरह के कर्म संगोधन न होकर एक प्रकार के संगमन ही होते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि आज की वैद्यपरम्परा में एकमात्र संगमन चिकित्सा ही प्रधान अस्व शेष रह गया है । आज की चिकित्सकपरम्परा में अधिकतर संगमन के द्वारा ही चिकित्सा कर्म प्रचलित है । उदाहरणार्थ मधुमेह के रोगी में चन्द्रप्रभावटी का प्रारंभ से ही प्रयोग । इसका परिणाम यह हो रहा है कि चिकित्सा पूर्ण नहीं हो पाती है और रोग का मूलोच्छेद भी नहीं हो पाता । प्राचीन युग में आचार्य संगोधन एवं संगमन उभयविध कर्मों के द्वारा चिकित्सा का समर्थन करते थे । जैसा कि निम्नलिखित उक्ति से स्पष्ट है :—

लघन और पाचन के द्वारा कुपित दोषों का शमन करने से यह संभव है कि वे समय पाकर पुनः कुपित हो जावे, परन्तु संगोधन के द्वारा दोषों को निकाल कर जिस रोग का गमन किया जाता है, उनसे दोषों के पुनः उभड़ने की संभावना नहीं रह जाती है ।

दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः ।

ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः ॥

जहाँ पर रसायन और वाजीकरण औषधियों के द्वारा शरीर का नवीकरण सम्भव रहता है वहाँ पर भी शोधन की आवश्यकता रहती है । जैसे मैले कपड़े के रँगने से रंग नहीं चढ़ना किन्तु साफ कपड़ा शीघ्रता से रंग ग्रहण कर लेता है । इसी तरह अविशुद्ध शरीर में औषधियों का गुण भी प्रकट नहीं होता, उसके लिए शुद्ध शरीर की अपेक्षा होती है ।

अविशुद्धे शरीरे हि युक्तो रासायनो विधिः ।

वाजीकरो वा मलिने वस्त्रे रङ्ग इवाफलः ॥

इन पचकर्मों का उपयोग केवल चिकित्सा के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है । रोगों के निवारण (Prophylaxis) में भी इसका मूल्य कम नहीं है । विभिन्न ऋतुओं में होने वाली व्याधियों के प्रतिकार में भी इस शोधन कर्म का मूल्य अक्षुण्ण है । हेमन्त ऋतु के दोषसंचय को वसन्त के प्रारम्भ से शोधन के द्वारा निकाल देने से वसन्त ऋतु में होने वाली श्लेष्मपैक्तिक व्याधियाँ जैसी (Small-Pox Pneumonia, Bronchitis etc) भविष्य में नहीं होती । ग्रीष्म ऋतु के संचित हुए दोषों को वर्षा के आरम्भ में पचकर्मों के शोधन द्वारा निकाल देने पर वातिक रोग जैसे (Gout Gouty Arthritis Rheumatism etc.) जो प्रायः वर्षा ऋतु में देखे जाते हैं, भविष्य में प्रायः नहीं होते । इसी प्रकार वर्षा ऋतु के संचित दोषों को जो भविष्य में शरद् ऋतु में पैक्तिक रोगों को जैसे (Malaria Hyperpyrexia etc) पैदा करते हैं । वर्षा के बाद शरद् ऋतु प्रारम्भ में शोधन के द्वारा निकाल दिए जाने पर समाज को उस रोग से मुक्त किया जा सकता है । 'हैमन्तिक दोषसंचय वसन्ते प्रवाहयन् ग्रीष्मिकमभ्रकाले । घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु ।' चरक शास्त्र इतना ही नहीं कई बार धातुओं के दूषित होने पर सशमन औषधियों के विधिवत् उपयोग के भी बावजूद रोग नहीं पिण्ड छोड़ता । वहाँ पर एकमात्र शोधन कर्म ही उपचार रूप में शेष रहता है ।

उपर्युक्त विचार को समक्ष रखते हुए शोधन कर्म की उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है । चिकित्सा की दृष्टि से (Curative) अथवा अनागतवाधा-प्रतिषेध (Prophylaxis) की दृष्टि से दोनों तरह से इसकी उपादेयता स्वतः सिद्ध है । संशोधन से पचकर्म के ही ५५ विविध अंगों का ग्रहण काय-

निमित्तता में सम्पत्ता चाहिए। तालक्रम में यह बोधन या पंचकर्म उन्ना
उपादेय होते हुए भी आज की वैद्यपरम्परा में लुप्तप्राय है। चरक महिम्ना
में चार्म उध्यातो का एक न्यूनतम स्थान ही मिद्धि-स्वान नामक पाया जाता
है। उन मिद्धि स्थान या प्रधान उद्देश्य ही 'वमन विरेचन प्रभृति पंचकर्मों के
समस्त प्रयोग का ज्ञान जानता तथा उन कर्मों में उत्पन्न व्यापदों (Compli-
cations) का समुचित उपचार का बतलाना ही है। उन स्थान के ज्ञान
बिना के अन्तर्गत व्यक्ति पंचकर्मों में दक्ष बन जाता है। अगर हमारी दृष्टि में
मित्रों को यह एक प्रकार का परिशिष्ट का अध्ययन है। चिकित्सा प्रभृति अन्य
स्थानों में निमित्तता में सम्पत्ता प्राप्त करने के जो विविध कर्म बतलाए गए
हैं—उन कर्मों में समस्त प्रकार के करने में ही मिद्धि सम्भव है। उन लिये कर्मों
के समस्त ज्ञान करने के हेतु या चिकित्सक को सफल बनाने के हेतु मिद्धि
स्थान का उद्देश्य लिया गया है।

जानने के योग में निम्न स्थानों पर अध्याय पठन-पाठन के अतिरिक्त और निम्न स्थानों पर भी रचना है। बहुत कुछ उनकी औषधियाँ (Drugs), उपचार प्रणालियाँ (Administrations), मात्राएँ (Dosage), प्रयोग के साधन (Instrumentations) प्रभृति बाने अतीत के कर्म में निम्न (Obsolete) हो गई हैं। प्रातःस्मरणीय पूज्य स्वर्गीय श्री बाबू रामजी शम्भूदास जी पाठक अध्यक्ष आधुनिक विशाल्व काशी हिन्दु विश्व विद्यालय में इन निम्न स्थानों पर रचना करते हुए कहा था कि ये पञ्चकर्म एक प्रकार से दृष्टान्त की प्रक्रियाओं में ग्राह्य रहते हैं। दृष्टयोग की प्रक्रिया में भी ही उदाहरण है, परन्तु उनका आचरण नव के यम का नहीं होता। इसी प्रकार-वायु-योग के उपानत वैधानों के लिए भी उन पञ्चकर्मों का निम्न स्थान में अनुमान करना भी यम ही युक्त है। फिर भी पञ्चकर्म की प्रक्रिया में दृष्टयोग के करने का यम मानने से यह कर वैय-धर्म एक यम प्रकृत करने के लिए ही रचना है, और समय में ही उन निम्नस्थान-प्रक्रिया में ही रचना के लिए ही रचना है।

जाएगी। इस स्थान पर नामोल्लेख मात्र ही पर्याप्त है। स्नेहन और स्वेदन प्रत्येक पचकर्म के पूर्व में आवश्यक होता है^१ जैसे —

स्नेहन	स्वेदन	तत	वमन	प्रथम कर्म	पुन
”	”	”	विरेचन	द्वितीय कर्म	”
”	”	”	अनुवासन	तृतीय कर्म	”
”	”	”	आस्थापन	चतुर्थ कर्म	”
”	”	”	शिरोविरेचन	पचम कर्म	”

वमन-विरेचन—विधिपूर्वक स्निग्ध और स्विन्न रोगी के वमन या विरेचन के द्वारा शोधन करे। वमन और विरेचन कर्म के द्वारा की गई शुद्धि तीन प्रकार की हो सकती है। हीन शोधन, मध्यम शोधन तथा श्रेष्ठ या उत्तम शोधन। इन शोधनों का मापन चार प्रकार से किया जाता है—आन्तिकी (अन्त का विचार करते हुए), वेगिकी (कै और दस्त की सख्या के आधार पर), मानिकी (परिमाण-तौल के अनुसार) तथा लैङ्गिकी (लक्षणों के आधार पर)। जैसा कि नीचे के कोष्ठक में स्पष्ट किया जा रहा है। परिमाण के मापने में यह ध्यान में रखे कि वमन में मिलाई गई औषधि की मात्रा को छोड़कर तथा विरेचन में दो तीन वेगों की मात्रा को छोड़कर शेष निकले द्रव्य का मापन करे।

वेगों की सख्या २	जघन्य (हीन) ४	मध्य ६	प्रवर या उत्तम ८	वमन
	१०	२०	३	विरेचन
परिणाम से	१ प्रस्थ	१ ३/४ प्रस्थ	२ प्रस्थ	वमन
	२ प्रस्थ	३ प्रस्थ	४ प्रस्थ	विरेचन
अन्त के विचार से	पित्तान्तमिष्ट वमनम्	कफान्तञ्च विरेकमाहु		वमन
	पित्त में निर्गम की मात्रा के ऊपर	कफ के निर्गम की मात्रा के ऊपर		विरेचन
लक्षणों के आधार पर	अतियोग, हीनयोग के लक्षणों को आगे देखे।			

१ तान्युपस्थितदोषाणा स्नेहस्वेदोपपादनै । पञ्चकर्माणि कुर्वीत मात्रा-
कालौ विचारयन् ॥' (च सू २)

संसर्जन क्रम

वमन या विरेचन कराने के अनन्तर रोगी का पचन-मस्त्रान में एक बड़ा धक्का लगता है जिससे उसकी अग्नि मन्द हो जाती है, जगमें पचाने की शक्ति पूर्ववत् नहीं रह जाती है। अतएव वमों के अनन्तर मृदा रोगी को उसके प्रकृत आहार (Normal diet) पाने देना चाहिए। बरिच धीरे-धीरे पेया, विलेपी आदि हल्के गुणान्न और मृदव आहारों के द्वारा क्रमशः रोगी के अग्नि को जागृत करते हुए भोज्य पदार्थों को क्रमशः अधिक-अधिक द्रव के स्थान पर ठोस करते हुए कुछ समय में रोगी को अपने प्राकृतिक आहार एवं मात्रा पर ले आना चाहिए। उन क्रमिक आहार-वर्धन और अन्तराग्नि के परिपालन को ध्यान में रखते क्रमिक वृत्तिगुप्त अन्न के क्रम या पथ्यसेवन की विधि को संसर्जन क्रम कहते हैं। वमन या विरेचन कर्म के अनन्तर इस क्रम का निश्चित रूप में अनुष्ठान करना चाहिए।

पेया-विलेपी-अकृतयूप-कृतयूप-अकृतमामस्य तथा कृतमांसस्य, इन तरह छ प्रकार के क्रमशः दिए जाने वाले पथ्यों का निर्देश है। जगमें व्यवस्था की शोधन की कोटि के ऊपर तीन, दो या एक अन्नकाल (Diet) तब एक एक पथ्य की व्यवस्था करते हुए क्रमशः पेया (मण्डयुक्त चावल का गीला भात) तब विलेपी (मण्डरहित चावल का भात) पश्चात् अकृत-यूप (बिना घी-नमक-कटुपदार्थ के बनाए किसी तरकारी के यूप या दाल) तदनन्तर कृत-यूप (घी-नमक और कटुपदार्थों से युक्त तरकारी के या दाल के यूप) अथवा मान-रसो का यूप (अकृत) पुनः कृत (घी नमक एवं कटु रस द्रवयुक्त मांसस्य) रूप का तीन, दो या एक काल तक देते हुए रोगी को प्रकृत आहार या पथ्य पर ले आना चाहिए। यदि शोधन उत्तम हुआ है तो तीन-तीन अन्नकाल तक, यदि मध्यम हुआ है तो दो-दो अन्न काल तक और यदि मामूली या हीन हुआ हो तो एक-एक अन्नकाल तक इन पथ्यों पर एकैकश रखते हुए रोगी को प्रकृत आहार (Normal diet) पर ले आने का विधान है। इसी को संसर्जन क्रम कहा जाता है। इस प्रकार लगभग एक मप्ताह या बारह अन्नकाल के बाद रोगी अपने स्वाभाविक आहार पर आता है।

पेया विलेपीमकृतं कृतञ्च यूप रसं त्रिद्विरथैकशश्च ।

क्रमेण सेवेत विशुद्धकायः प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः॥

(च सि)

सिक्थकै रहिता मण्डः पेया सिक्थसमन्विता ।

यवागूर्वहुसिक्था स्याद् विलेपी विरलद्रवा ॥ (परिभाषा)

अस्नेहलवणं सर्वमकृतं कटुकैर्विना ।

विज्ञेयं लवणस्नेहकटुकैः संस्कृतं कृतम् ॥

(सूद शास्त्र चक्रपाणि की टीका में)

पञ्चकर्मों का अवान्तर काल—पचकर्मों का कितने कितने दिनों के अन्तर से प्रयोग किया जाय यह एक ज्ञातव्य विषय है । शोथन की कोटि के अनुसार इसमें विभिन्नता होती है । फिर भी एक उत्तम कोटि के शोथन का दृष्टान्त देते हुए उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है ।

१ स्नेहन—तीन—पाँच-सात दिनों तक करे ।

२ स्वेदन—दिनों में उसको मख्या नहीं दी जा सकती । केवल लक्षणों के आधार पर जब शीत और शूल शान्त हो जावे, स्तम्भ और गुस्ता जाती रहे और मृदुता उत्पन्न हो जाय तो स्वेदन से विश्राम करे ।

३ वमन के लगभग आठ दिनों के अनन्तर नवे दिन—विरेचन के लगभग ८ दिनों के बाद अर्थात् अनुवासन को नवे दिन दे । पश्चात् अनुवासन के तीसरे दिन आस्थापन के अनन्तर पुन उसी दिन शाम को रात में या दूसरे दिन पुनः अनुवासन । तदनन्तर विशुद्ध देह का शिरोविरेचन करे ।

४ वमन या विरेचन के अनन्तर सात दिनों तक ससर्जन क्रम का आहार चलता रहे, आठवे दिन उसे प्रकृत आहार दे । फिर नवें दिन एक नए कर्म आस्थापन का प्रारम्भ करे । इस प्रकार वमन कराने के नवे दिन स्नेहन करने के पश्चात् विरेचन करावे । पुन विरेचन कर्म के द्वारा शोधित होने पर सात दिनों तक ससर्जन, आठवे दिन प्रकृत आहार और नवे दिन अनुवासन कराना चाहिये ।

‘शोधनानन्तरं नवमेऽहि स्नेहपानम् अनुवासनं वा ।’

‘विरेचनात् सप्तरात्रे गते जातबलाय वै ।

कृतान्नायानुवास्याय सम्यग् देयोऽनुवासनः ।’

(सु चि ३७)

विरेचन के अनन्तर कम से कम एक सप्ताह तक रोगी की आस्थापन नहीं कराना चाहिए । क्योंकि इससे रोग बल की हानि होती है अतः अनुवासन दे ।

अनुवासन के अनन्तर अब ससर्जनादि क्रमों की आवश्यकता नहीं रहती है । अतः नातिबुभुक्षित (जो अत्यधिक क्षुधित न हो) रोगी को तैल का अभ्यंग करा के उसे तीसरे दिन आस्थापन देना चाहिए । पुन आस्थापन द्रव्य के निकल आने पर रोगी को जागल मासरस के साथ भोजन देना चाहिए ।

रोगी के दोष और वज्र आदि का विचार करते हुए इन भोजन की व्यवस्था करनी चाहिए। आस्थापन के अनन्तर पुन अनुवामन देने की विधि है। जिस दिन अनुवामन दिया गया है उसी दिन शाम को या रात में या बराबर का ज्ञान करते हुए दूसरे दिन अनुवामन दें।

पूर्वोक्त प्रकार से जुद्ध शरीर वाले व्यक्ति को एक मप्ताह के अनन्तर गिरो-विरेचन कराना चाहिए। इसमें भी रोगी के मिर पर प्रचुर तैल का अम्यग करा के हाथ के तलवे में कर (तल म्येद) पश्चात् मज की तीन प्रकार की अवस्थाओं का विचार करते हुए तीन, दो या एक दिन तक गिरो-विरेचन देना चाहिए। पश्चात् पथ का प्रवन्ध वन्ति में वनवाई विधि के अनुसार द्विगुण काल तक रजना चाहिए।

आचार्य सुश्रुत ने एक अपना स्वतन्त्र ही मत अवान्तर काल (gap) के सम्बन्ध में दिया है। उनके मतानुसार भोजी प्रकार से वमन देने के पन्द्रह दिन पीछे विरेचन देना चाहिए। विरेचन के सात दिनों के बाद निरुहण देना चाहिए और निरुहण के तुरन्त पीछे अनुवामन देना चाहिए।

पक्षाद्विरेको वातस्य ततश्चापि निरुहणम्।

सद्यो निरुहोऽनुवास्य सप्तरात्राद्विरेचितः॥

(सु चि ३६)

पंचकर्म का निषेध—प्रचण्ड, माह्निक, कृतघ्न, भीरु, व्यग्र, नद्वैद्यद्वेपो, राजद्वेपो, नद्वैद्यद्विष्ट, राजद्विष्ट, शोकपीडित, नास्तिक, सम्पूर्ण (मरने की इच्छा वाला), माघनहीन, व्यक्ति, अद्वैद्यविदग्ध, श्रद्धाहीन, शकावान् व्यक्ति, वैद्य के वश में न रहने वाले, इन व्यक्तियों में पंचकर्म का अनुष्ठान नहीं करना चाहिए। शेष अन्य व्यक्तियों में उनकी अवस्था आदि का विचार करके पंचकर्म करना चाहिए।

उष्ण जल—उष्ण जल—स्नेह और अजीर्ण का पाचन करता है, कफ का भेदन करता है और वायु का अनुलोमन करता है। इसीलिए वमन, विरेचन, निरुह और अनुवामन में वात और कफ की शान्ति के लिए सदैव उष्ण जल ही पिलाना चाहिए।

स्नेह (oils & fats)—पुरुष के लिये स्नेह एक नितान्त उपयोगी द्रव्य है। इसीलिये पुन्य को स्नेह-सार कहा गया है। पुरुषों की प्राण-रक्षा का मुख्य आधार (in order to maintain the vitality) है। उनकी बहुत सी व्याघ्रियाँ केवल स्नेह के उपयोग में साध्य हैं। स्नेह साधारणतया गुरु, शीत, मर, स्निग्ध, मन्द, सूक्ष्म, मृदु, एवं द्रव गुण वाले होते हैं। स्नेह एक

सामान्य सज्ञा है जिसके भीतर सभी प्रकार की वतुस्त्रो का अन्तर्भाव (oils, fate, lubricants) हो जाता है ।

स्नेह मे कई महत्त्व के गुण हैं—१ भोजन सामग्री (rich & concentrated food value), २ जीवतिक्ति ए-डी की प्राप्ति (administration of vit A D) ३ शरीर का बृहण (strenSth, vigourtonic) ४ औपसर्गिक व्याधियों से शारीरिक क्षमता बढ़ाकर शरीर की रक्षा (to & promote boffily resistance) ५ प्राण रक्षा का आधार (vitafity) १ इन्ही गुणों के कारण पुरुष को स्नेह-सार कहा गया है ।

प्रकार—स्नेह उद्भवभेद से दो प्रकार के होते हैं । (क) जगम (चर), (ख) स्थावर (अचर) । जंगम (animal source) श्रेणी के स्नेहों मे घृत (clarified butter), वसा (fat), मज्जा (अस्थियों के अन्तस्थ भेद—dhne marrow) प्रभृति का समावेश है । इसी वर्ग मे आधुनिक अतिप्रचलित स्नेह जैसे (Ccd, Halibut and Shark liver oils) जो मत्स्यो के यकृत की वसा से प्राप्त होते हैं इनका भी—अन्तर्भाव हो सकता है । आचार्य सुश्रुत ने भी लिखा है 'जगम प्राणियों जैसे मत्स्य-पशु-पक्षियों से उत्पन्न दधि, क्षीर, घृत, मास, वसा और मज्जा भी' स्नेहों मे आती है । ये स्नेह आज कल बहुत प्रचलित हैं । उन्हें प्राचीन पारिभाषिक शब्दों मे अच्छ-स्नेह की सज्ञा दी जा सकती है ।

घृत (Ghee)—प्राचीनों के अनुसार जगम सृष्टि से उत्पन्न स्नेहों मे सर्वोपरि घृत माना जाता है, घृतो मे भी गोघृत । घृत को सर्वोत्तम स्नेह मानने मे कई उपपत्तियाँ दी जाती हैं —

१ यह गुण मे अन्य स्नेहों की अपेक्षा अधिक मधुर और अविदाही होता है ।

२ पित्त का शामक होता है ।

३ संस्कार का प्रभाव जैसा घृत के ऊपर पड़ता है वैसा अन्य स्नेहों के ऊपर नहीं पड़ता । यह संस्कारानुवर्त्तन अर्थात् संस्कारों के अङ्गीकार करने का गुण सबसे अधिक घृत मे पाया जाता है । अतः घृत सर्वोत्तम स्नेह है ।*

१ 'स्नेहसारोऽयं पुरुष, प्राणाश्च स्नेहभूयिष्ठा स्नेहसाध्याश्च भवन्ति ।'
'दीप्तान्तराग्निं परिशुद्धकोष्ठं प्रत्यग्रधातुं बलवर्णयुक्तं । दृढेन्द्रियो मन्द-
जरं शतायुः स्नेहोपसेवी मुरूपो भवेत् ॥' (सु चि ३१)

* घृत का यह गुण उसमे अधिक मात्राओं मे असतृप्त (unsaturated fatty acid) के कारण होता है जिससे वह अधिक से अधिक मात्रा मे औषधि के तत्त्वों का शोषण करने मे समर्थ रहता है ।

४ यह अन्य स्नेहो की अपेक्षा हल्का या लघु होना है। घृत से गुरु (भारी) तैल, तैल से गुरु वसा, वसा से गुरु मज्जा होती है। इस वर्ग के स्नेहो का बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के उपयोग होते हैं।

घृत के साथ ही साथ नवनीत (दूध या दही के विलोने में उत्पन्न मक्खन) का विचार कर लेना आवश्यक है। वास्तव में इन्हीं का रूपान्तर घृत है। इसी घृत का औषधि-प्रयोग अधिक होता है। घृत का संरक्षण अधिक काल तक हो सकता है मक्खन का उतने काल तक नहीं। अस्तु घृत ही प्रधान है।

तैल—स्थायर सृष्टि से उत्पन्न स्नेहो (vegetable source) में तैल आते हैं। तैल शब्द की व्युत्पत्ति है 'तिलोद्भव तैलम्' तिल से उत्पन्न वस्तु। यही कारण है कि तिल-तैल को ही सर्वोत्तम तैल माना गया है। इतना ही नहीं, प्राचीन ग्रन्थों में प्रायः जितने स्कारित तैलो (medicated oils) के पाठ मिलते हैं (कुछ इन्हें गिने तैलो को छोड़ कर) उनके निर्माण में तिल तैल का ही प्रयोग हुआ है। जैसे नारायण तैल, मापतैल, बला तैल आदि। इसी प्रकार किसी तैल के पाठ में यदि किसी विशेष तैल का कथन न हुआ हो तो तिल-तैल का ही व्यवहार अपेक्षित रहता है। बलवर्धन और स्नेहन की दृष्टि से सर्वदा तिल तैल का व्यवहार करें। इस बलवर्धन का हेतु आधुनिक विज्ञान के शब्दों में विटामिन ए और डी की विशेषता के कारण है। अन्य तैलो की अपेक्षा ये विटामिन इसमें अधिक मात्रा में रहते हैं।

तैल द्रव्यभेद से अनेक प्रकार के हो सकते हैं। जैसे एरण्ड तैल, मर्षप तैल, चर्रों का तैल और महुए का तैल आदि। इस प्रकार वानस्पतिक द्रव्यों के भेद से सत्तर प्रकार के विभिन्न तैलो का उदाहरण मुश्रुत संहिता में पाया जाता है। और भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं। इनमें अधिकतर तैल फल या बीजों की मज्जा से तैयार होते हैं। कुछ सीधे पौधों की छाल या लकड़ी से भी निकाले जाते हैं जैसे चीर, देवदारु, अगुरु, चंदन, शीशम आदि। इन्हें essential oils कहते हैं। इनके अतिरिक्त एक चौथा वर्ग मोम (wax) का है ये monohydric alcohol के esters होते हैं।

स्थायर सृष्टि से निकले तैलो में कुछ का बाह्य उपयोग, कुछ का बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार से उपयोग होता है। फिर भी तैलो का मुख से न प्रयोग करके बाहरी अभ्यङ्ग के रूप में ही उपयोग अधिक लाभप्रद माना गया है। उक्ति भी मिलती है 'घृत से तैल दसगुने लाभप्रद है खाने से नहीं, मालिश से।'।

विशुद्ध रासायनिक दृष्टि से विचार—जितने भी स्नेह हैं चाहे वे वानस्पतिक हो या जान्तव, वे सभी उच्च कोटि के वसाम्ल के माधुरी हैं (glycerides of high fatty acids) इनमें प्राङ्गार के अणु (carbon atoms) पाये जाते हैं। वानस्पतिक स्नेहों में निम्न प्रकार के माधुरी (glycerides) पाये जाते हैं परन्तु जान्तव स्नेहों में घृत, वसा, मज्जा में सामान्य माधुरी (simple glycerides) प्रधानतया या प्रधान रूप से मिलते हैं। वसा तथा तैल में कोई विशेष अन्तर नहीं है वसा अपेक्षाकृत कड़ी होती है और 20°C पर आमतौर से पिघलती है। तैलों में 20°C से नीचे तापक्रम में हो पिघलने का गुण होता है। इस आधार पर भारतीय नारिकेल तैल ग्रीष्म ऋतु में तो तैल रहता है परन्तु शीतऋतु में वसा का रूप धारण कर लेता है।

महास्नेह—स्थावर और जगम सृष्टि (animal, vegetabel kingdom) से उत्पन्न तैल और घृत, वसा और मज्जा के मिश्रणों के मुख से प्रयोगशाला की भी परिपाटी है। इन मिश्रणों की कई सजाये प्रचलित हैं। जैसे दो स्नेहों के मिलने से यमक, तीन स्नेहों के मिलने से त्रिवृत तथा चार स्नेहों के मिश्रण से महास्नेह कहा जाता है।

वनस्पति घृत—स्थावर सृष्टि के तैलों से आज के वैज्ञानिक युग में एक प्रकार का कृत्रिम घृत बहुत प्रचलित हो रहा है, जिसे वनस्पति घृत कहते हैं। इनके कई नामों (जैसे दालदा, वनसदा, कोटोजम आदि) से विज्ञापन और प्रचार बढ़ता जा रहा है। ये देखने में तो घृतसदृश परन्तु सेवन के अनन्तर तैलसदृश गुण के होते हैं। प्राचीन परिभाषा के अनुसार इनको तैल के वर्ग में रखा जाय या घृत के, यह एक समस्या है। लोकव्यवहार में तो यह घृत का स्थानापन्न पदार्थ ही माना जाता है। वास्तव में इन कृत्रिम घृतों का आरम्भक द्रव्य वानस्पतिक तैल है अस्तु ये एक प्रकार से विशोधित और जमाये हुए तैल ही हैं। घृत की समानता गुणों के विचार से ये नहीं प्राप्त कर सकते हैं। कारण यह है कि १ प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर घृत को सर्वोत्तम स्नेह माना गया है, परन्तु यह हीन है क्योंकि कृत्रिम घृतों से श्रेष्ठ भी घृत मिल सकते हैं, २ अन्य स्नेहों की अपेक्षा अधिक मधुर और अविदाही होना घृत का विशेष गुण है, परन्तु वनस्पति घृत विदाही होते हैं, ३ संस्कारानुवर्त्तन में अर्थात् औषधियों को डालकर पकाने से उन औषधियों के गुणों का ग्रहण करना भी इन कृत्रिम घृतों में शुद्ध घृत के सदृश नहीं होता, ४ शुद्ध घृत पित्त का शमन करता है, परन्तु कृत्रिम घृतों से इसके विपरीत पित्त की वृद्धि होती है,

५ शुद्ध घृत अन्य स्नेहों को अपेक्षा हल्का होता है; परन्तु यह भारी। अतएव घृतपाकक्रिया के लिए घृत के अभाव में इन घृतों (वनस्पति) का ग्रहण सर्वथा हेय है।

वनस्पति घृत, तैल और घृत के मध्य का द्रव्य है। रासायनिक क्रियाओं के द्वारा इनके मेद (fat) तत्त्व को इस रूप में परिवर्तित कर देते हैं कि वह घृत का स्वरूप धारण कर सके। प्राकृतिक घृत में मेद असंतृप्त (unsaturated) दशा में रहता है। शुद्ध घृत में कुछ जीवतिवित (vit A) पाया जाता है जिनका कृत्रिम घृतों में अभाव रहता है, उसकी पूर्ति भी कृत्रिम घृतों में उसका संयोजन करके जैसा कि दालदा के विज्ञापनों से ज्ञात है, पूरा कर दिया जाता है। तथापि वह औपविसिद्ध घृत के कामों में व्यवहृत नहीं हो सकता है।

वनस्पति घृत या कृत्रिम घृत मूंगफली के तैल से बनाये जाते हैं। इन तैलों की रासायनिक विधियों से 'हाइड्रोजेनेशन' क्रिया के द्वारा जमा दिया जाता है जिससे तैल की वसा पूर्णतया संतृप्त (saturated) हो जाती है। जिस स्नेह में जितनी ही असंतृप्त वसा (unsaturated fat) होगी वह उतना ही औषधि को छोड़कर पकाते समय औषधियों के स्नेह में घुलनशीलतत्त्वों के शोषण (absorption) में समर्थ होगा। यही कारण है कि शुद्ध घृत जिसमें तैलों की अपेक्षा अधिक मात्रा में असंतृप्त वसा (unsaturated fat) तथा हीन कोटि के वसाम्ल (lower fatty acid) होते हैं औषधियों के साथ पकाये जाने पर अधिक मात्रा में औषधिगुणों के शोषण में समर्थ होते हैं। इसी गुण को संस्कारानुवर्तन शब्द से प्राचीनों ने व्याख्या की है। अर्थात् औषधि के संस्कार का सबसे अधिक प्रभाव घृत पर पड़ता है। इसके बाद दूसरा नम्बर तैलों का आता है। तैलों में असंतृप्त और संतृप्त दोनों प्रकार की वसाये रहती है। घृत की अपेक्षा इसमें संतृप्तवसा (saturated) अधिक रहती है अस्तु संस्कार-ग्रहण में इसका दूसरा नम्बर आता है। तैलों में तिल के तैल की अपनी विशेषता जीवतिवित ए डी की अधिकता के कारण है। परन्तु वनस्पति घृत एक निष्क्रिय (neutral most) पदार्थ है जिसके ऊपर औषधियों के संस्कार का प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि वह गुणों के शोषण में असमर्थ है। भक्ष्य की दृष्टि से विचार करे या भोजन की दृष्टि से, वनस्पति घृतों का मूल्याङ्कन करें तो घृत और तैलों का भोजन-मूल्य (foodvalue) उनमें पाये जाने वाले unsaturated fatty acids के कारण होता है। क्योंकि ये भाग टूट कर शरीर में उष्णता या शक्ति में रूपान्तरित

होते हैं। वनस्पति घृत पूर्णतया शत-प्रतिशत संतृप्त saturated होता है उसमें अमनृत वसा का भाग होता ही नहीं इस लिये भी वृहण के कार्यों में व्यवहृत नहीं हो सकती है, जो प्राकृतिक स्नेहों का एक प्रधान कार्य है।

अतएव वैद्यकीय विधि से सिद्ध स्नेहों में अर्थात् किसी तैल या घृत के निर्माण में वनस्पति घृतों की अनुपयोगिता स्वयंसिद्ध है।

खनिजतैल—स्थावर स्नेहों में कुछ ऐसे भी तैल हैं जिनकी उत्पत्ति पेड़-पौधों से न होकर खदानों से होती है जैसे-किरोसिन, पेट्रोल आदि। पुन इन तैलों में रासायनिक विधियों के द्वारा विभिन्न प्रकार के स्नेह बनते हैं जैसे वेनेलीन, नेनोलिन, तारपीन का तैल, लिक्विडपैराफीन आदि। इन तैलों को खनिज तैल नाम से एक स्वतंत्रसंज्ञा देना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इनके प्रयोग बाह्य (external) और सीमित स्थानों (limited spaces) पर ही होता है। लिक्विडपैराफीन कान और नाक में लगाने और मुख से सेवन में भी व्यवहृत होता है।

लिक्विडपैराफीन—यह ऐसा विचित्र स्नेह है जिसका सेवन करने से मुख से लेकर गुदा पर्यन्त सम्पूर्ण अन्नवह स्रोत का स्नेहन हो जाता है। इस स्नेहन की उपमा मशीन की आयलिङ्ग से दी जा सकती है। साथ ही इस स्नेह का शोषण अल्प मात्रा में भी आश्रय से नहीं होता, न किसी पाचक रस का ही प्रभाव इसके ऊपर पड़ता है और न स्वयं ही किसी पाचन रस को विकृत करता है, फलतः अविकृत भाव से गुदा से बाहर निम्नल जाता है। अन्य तैल या घृतों में यह विशेषता नहीं पाई जाती।

इन सभी द्रव्यों का ग्रहण तैल के वर्ग में करने का उद्देश्य प्राचीन आचार्यों के शब्दों में तद्गुणता अर्थात् निष्पत्ति और साम्य ही है। स्नेहन क्रिया के वास्तविक उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए खनिज तैलों का अतर्भाव स्नेहन वर्ग में संभव नहीं है, जैसा कि आगे के वर्णनों से स्पष्ट होगा।

अच्छ स्नेह—संस्कार के बिना भी घृत या तैल का पान कराया जा सकता है। विशुद्ध तथा बिना किसी औषधि के योग से पाक किये ही जो स्नेह पिलाया जाता है उसे अच्छ स्नेह कहते हैं। जैसे घृत को दूध में डालकर या कांड लिवर आयल को दूध में डालकर पिलाना। इसका प्रयोग व्यक्ति की सहन-शक्ति और सात्म्य और असात्म्य का विचार करते हुए कराना चाहिये। स्नेह जिन्हें सात्म्य ही ऐसे व्यक्तियों में तथा जो क्लेश-सह (कष्ट को वदरित कर सकने वाले) व्यक्ति हो, इसका प्रयोग करना चाहिये। अग्नि, शीत, अति उष्ण

ऋतुओं में भी अच्छे स्नेह का प्रयोग नहीं करना चाहिये। गर्म-शीतोष्ण ऋतु या काल में इस विधि से स्नेहपान करना उत्तम है।

केवल शुद्ध रूप में किसी स्नेह-द्रव्य का पान अशुभ है। तद्वत्ता है। हमें किसी प्रकार की विधारणा (परहेज) की आवश्यकता नहीं रहती है। उन स्नेह की कल्पना बड़ी ही श्रेष्ठ है—क्योंकि उसके द्वारा स्नेहन भली भाँति हो जाता है। अच्छे स्नेह अद्भुत शक्तिवाला और प्रभूतवीर्यशाली होता है। फलतः उस असंस्कृत स्नेह का प्रयोग शास्त्र गम्मत है। यदि शुद्ध घृत ही पिलाना लक्ष्य हो तो दोषानुसार पित्तज विकारों में केवल, वातिक विकारों में गंधानमक के साथ और श्लैष्मिक विकारों में व्योष और क्षार मिलाकर पिलाना चाहिये।

शोष की चिकित्सा में अधुना प्रचलित मत्स्ययकृत-वसाओं का प्रयोग वृद्धि के लिये किया जाता है वह अच्छे स्नेहपान का ही एक उदाहरण है। स्नेहों के द्वारा विटामिन ए, डी तथा डी^२, की पूर्ति होती है और शरीर की रक्षा शक्ति बढ़ती है।

संस्कारित स्नेह (medicated) — स्नेहन की विधियों में वरते जाने वाले दो एव तैलों का यथाविधि विभिन्न औषधियों और द्रवों के मेलों में अग्नि पर पका कर (देखें वैद्यक-परिभाषा प्रदीप) संस्कृत-स्नेह बनाये जाते हैं। इनका व्यक्ति और उसके रोग की अवस्था के अनुसार प्रयोग किया जाता है। पाक-विधि से तैयार तैल तीन प्रकार के होते हैं—मृदु, मध्य तथा खर-पाक। इनमें मृदुपाक स्नेहों का प्रयोग पीने और खाने में, मध्य-पाक स्नेहों का उपयोग नस्य तथा अभ्यंग में तथा खर-पाक स्नेहों का उपयोग वस्ति एवं कर्णपूरण के लिये होता है।

स्नेहन—स्नेहन की विधियाँ (modes of administration of lubrications) भक्ष्यादि अन्न के साथ, वस्ति से, नस्य से, अभ्यंग (मालिश) से, अजन से, गण्डूप (कुल्ली भरना) के रूप में, अथवा सिर-कान और आँखों के तर्पण के द्वारा विविध भाँति से (चौबीस प्रकार के विभिन्न मार्गों से) शरीर का एकदेशिक या सार्वत्रिक (local or general) स्नेहन किया जाता है।

संक्षेप में स्नेहन का अर्थ oral administration, अनुवासन से rectal administration, उत्तर वस्ति यानी urethral or vaginal administration, शिरोवस्ति एवं अभ्यंग से cutaneous administration, नस्य से nasal administration तथा कर्णपूरण से aural administrations प्रभृति मार्ग स्नेहों के अंदर में पहुँचाने के विधान से है।

उद्देश्य या प्रयोजन—स्नेहो के उपर्युक्त मार्गों से उपयोग की क्रिया को स्नेहन कहा जाता है। इसका अन्तिम उद्देश्य (ultimate aim) विशुद्ध रीति से अतृप्त धातुओं को तृप्त करना अर्थात् सतर्पण करना होता है। इसकी उपमा सूखते हुए वृक्ष की जड़ में सिचाई करने की क्रिया से दी गई है। इससे तीन कार्य होते हैं—१ वायु का नाश, २ मृदुता का आना, ३ मलो की रुकावट दूर होना। स्नेहो के उपयोग से अतराग्नि दीप्त होती है, कोष्ठ शुद्ध होता है, धातु, बल एवं वर्ण की वृद्धि होती है। शरीर की इन्द्रियाँ दृढ़ होती हैं जरावस्था देर से आती है और मनुष्य सौ वर्ष तक जीवित रहता है।

स्नेह कल्पना (preparations)—स्नेहो की बहुत सी कल्पनाये (कुल चौसठ प्रकार की) हैं। परन्तु सभी समय उनके चक्कर में पड़ने की आवश्यकता नहीं रहती है। रोगी के अभ्यास, ऋतु, व्याधि एवं उसके व्यक्तित्व के ऊपर विचार करते हुए यथा समय इनका उपयोग करना होता है।

स्नेह प्रयोग के सामान्य नियम—पचकर्मों के पूर्व कर्म के रूप में स्नेहन कराना हो तो इन नियमों का अनुसरण करे। सूर्य के पूर्ण रूप से प्रकाशित होने पर दिन में घृत या तैल यथोचित मात्रा में पिलाना। पीने के पश्चात् व्यक्ति को गर्म जल से कुल्ला करना और जूता पहन कर सुख-पूर्वक टहलना चाहिये। स्नेह के पीने के पश्चात् घृत पिये रोगी को गर्म जल, तैल पिये रोगी को यूप तथा बसा और मज्जा पिये रोगी को मण्ड पिलाना चाहिये। यहि यह सम्भव न हो तो सभी प्रकार के स्नेह-पान के अनन्तर केवल उष्ण जल (गर्म पानी) ही देना चाहिये। स्नेह पिये रोगी को प्यास लगने पर उस दिन उष्ण जल ही पीने को देना चाहिये।

विविध स्नेह के योग्य रोगी (Indications)—घृत—पित्त और वायु का शामक, रस-शुक्र-ओज और नेत्र के लिये लाभप्रद, दाह शामक, मृदुता उत्पन्न करने वाला, मुकुमारता एवं सन्तान देने वाला और स्वर तथा वर्ण को चमकाने वाला, होता है अतः इसका प्रयोग रुक्ष, क्षत, अग्नि-शस्त्र-विष पीडित रोगियों में, वायु एवं पित्त दोष के विकारों में तथा हीन मेधा और स्मृति शक्तिवाले व्यक्तियों में प्रशस्त है।

तैल—वायुशामक, कफनाशक, बलवर्द्धक, त्वचा को चमकदार करनेवाला, उष्ण वीर्य, शरीर को दृढ़ करने वाला तथा योनि का विशोधन करने वाला होता है। अतएव इसका उपयोग कृमिकोष्ठ, क्रूरकोष्ठ, नाडी से पीडित, वाताविष्ट, बड़े हुए कफ और मेदस्वी रोगियों में विशेषतः जिन्हें तैल अनुकूल पड़ता हो, करना चाहिये।

वमा—अधिक स्निग्ध होती है। अतः इसका उपयोग विद्रु, भन्त और इन व्यक्तियों में, गर्भाशयभ्रंश से पीड़ित स्त्रियों में, कान एवं मिर की पीड़ाओं में शुक्र-क्षय में, अधिक परिश्रम में कृश हुए व्यक्तियों में, दीर्घकालीन वातव्याधि से पीड़ित हुए रोगियों में, दीप्त अग्नि वाले व्यक्तियों में तथा जो मात-प्राण हो गये हों अर्थात् वायु के कारण ही बचने आ रहे हों ऐसे व्यक्तियों में करना चाहिये।

मज्जा—बहुत ही बलवर्द्धक होती है—शुक्र, रक्त, पेशाब, मूत्र और मज्जा को बढ़ाने वाली होती है। अतः इसका प्रयोग जहाँ पर अश्वियों की वृद्धि अपेक्षित हो जैसे अस्थिक्षय (bone T B) में पीड़ित रोगियों में करना चाहिये। साथ ही जिन व्यक्तियों का कोष्ठ क्रूर हो, जो कलेज-मह हो, जो वातपीड़ित हो, जिनकी अग्नि दीप्त हो उनमें मज्जा का स्नेह लाभप्रद होता है।

ऋतु के अनुसार स्नेहन में विचार—शरद् ऋतु में स्नेहन प्रायः घृत से, वसन्त में वसा एवं मज्जा से, प्रावृत् (वर्षा के पूर्व) में तैल में करना चाहिये। साथ ही यह ध्यान में रखना चाहिये कि स्नेहन का उपयोग नानिशीतोष्ण काल में करना होता है। अतः अति शीत या अति उष्ण काल में न करे। जैसे उष्ण काल अर्थात् ग्रीष्म काल में, शीतकाल अर्थात् हेमन्त या शिशिर में तथा वर्षा की वजह से उत्पन्न शीत में नहीं करना चाहिये। परन्तु यदि करना अत्यधिक या अत्यन्त आवश्यक (emergent) हो तो इन निषिद्ध कालों में भी किया जा सकता है। सामान्य विधान साधारण ऋतुओं में ही करने का है।

स्नेहन में दिन एवं रात्रि की विचारणा—दिन में जब गर्मी अधिक हो तो स्नेहपान से मूर्च्छा, पित्तामा, उन्माद, कामला आदि की संभावना रहती है। इसी तरह रात्रि में शीत की अधिकता में स्नेह-पान से आनाह, अरुचि, थूल, पाण्डुता आदि होने लगते हैं। अतएव बहुत शीत या बहुत उष्ण काल में स्नेहपान का निषेध किया मिलता है।

शीत ऋतुओं में स्नेह-पान कराना हो तो दिन में पिलावे और उष्ण कालों में रात्रि में पिलावे। इसी प्रकार वायु और पित्त की अधिकता में रात्रि में तथा वात और कफ की अधिकता में दिन में पिलाने का विधान है।

मात्रा के अनुसार विचार—ह्रस्व, मध्य और उत्तम भेद से स्नेहों की मात्रा तीन प्रकार की होती है। मात्रा का निर्धारण व्यक्ति के दोष-भेषज-काल-बल-शरीर-आहार-सत्त्व-मातृमय-प्रकृति तथा स्नेह के पचन के ऊपर निर्भर करती है। स्नेह की जो मात्रा दो याम अर्थात् ६ घण्टे में पच जाय वह ह्रस्व, जो मात्रा चार याम यानी १२ घण्टे में पच जाय वह मध्यम, जो आठ याम २४ घण्टे में

पचे वह उत्तम होती है। स्नेह के पाचन काल के ऊपर आधृत यह मात्राओं का निर्देश है।

इन मात्राओं का उपयोग रोग या दोषों की (toxæmia) की अल्पता, मध्यता एवं तीव्रता के अनुसार यथाक्रम ह्रस्व, मध्य एवं उत्तम क्रम से किया जाता है। साथ ही व्यक्ति के अनुसार भी मात्रा का विचार अपेक्षित है। उदाहरणार्थ जो व्यक्ति नित्य प्रचुर स्नेह लेता है, भूख और प्यास को वर्द्धित कर सकता है तथा जिसकी अग्नि दीप्त है, उसके स्नेहन के लिये उत्तम मात्रा में स्नेह का प्रयोग करना चाहिये। रोग की दृष्टि से विचारें तो गुल्मी, सर्पदण्ड, त्रिमर्ष पीडित, अपस्मारी, उन्मत्त, मूत्रकृच्छ्र और पाखाने की गाँठ बने व्यक्तियों में उत्तम मात्रा में स्नेह का उपयोग करना चाहिये। जो व्यक्ति अधिक खाने वाला न हो, जिसका कोष्ठ मृदु हो, जिसका वल मध्यम कोटि का हो उसे मध्यम मात्रा में स्नेहपान कराना चाहिये। मध्यम मात्रा का स्नेह-पान अधिकतर शोचन कार्यों के लिये कराया जाता है। इस मात्रा में व्यक्ति का सुखपूर्वक स्नेहन हो जाता है। रोगों की दृष्टि से विचारें तो अरुपिका, स्फोट, पिडिका, कण्डू, पामा, कुष्ठ, प्रमेह और वातरक्त प्रभृति रोगियों में इस मात्रा (मध्यम) का स्नेह-पान कराना चाहिये। बालक, वृद्ध, सुकुमार और आराम का जीवन बिताने वाले व्यक्ति, जो खाली पेट न रह सकते हो अथवा अल्पबल व्यक्ति हो, उनमें हीन या अवर या ह्रस्व मात्रा में स्नेह-पान कराना चाहिये। रोग की दृष्टि से विचारें तो हीन मात्रा में स्नेहपान निम्नलिखित रोगियों में कराना चाहिये—ज्वर, अतिसार, कास, चिरकालीन दुर्बल रोगी, मदाग्नि से पीडित रोगियों में। अज्ञात कोष्ठ वाले व्यक्तियों में भी स्नेह की छोटी से छोटी मात्रा में (ह्रसीयसी) स्नेहन करना चाहिये।

प्रयोजन की दृष्टि से विचार—व्यावहारिक दृष्टि से स्नेहन का प्रयोग तीन प्रधान उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए किया जाता है—१ सशोधन (purging) २ सशमन (sedation) तथा ३ वृहण (tonic actions)। जहाँ पर पचकर्मों के पूर्व कर्म (preparation) के रूप में शुद्ध शशोधन ही लक्ष्य है, उपर्युक्त नियमों के सम्बन्ध में प्रचुर विचारणा की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु जहाँ पर बढे हुए दोषों का सशमन अथवा वृहण करना ही लक्ष्य हो जैसे (avitaminosis or deficiency diseases) इनमें अधिक विचार की आवश्यकता नहीं रहती। सशमन के लिये आम तौर से भूख लगने पर या बिना भोजन किये खाली पेट पर मध्यम मात्रा में स्नेह पिलाना चाहिये। वृहण के लिये अर्थात् कृश, दुर्बल, (T B) प्रभृति में व्यक्तियों की

वातुओं के बढ़ाने के लिये स्नेह पिलाना हो तो भोजन के साथ, मद्य से या मास-रस के साथ पिलाना चाहिये ।

यदि रोग के चिकित्सा-काल में बड़े हुए दोष (वात या पित्त) के गमन के लिये (मगमन क्रिया में) यदि स्नेह पिलाना हो तो शरीर के अधोभाग के रोगों जैसे hip joint disease में भोजन के पूर्व, मध्य भाग के शरीर के रोगों में जैसे T. B. of caecum and colon भोजन के साथ और उर्ध्व भाग के रोगों जैसे T. B. of lung में भोजन के उपरान्त पिलाना चाहिये ।

रोग के मगमन और वृंहण कार्यों में आजकल अच्छे स्नेह का विधान बहुत प्रचलित हो गया है । प्रयोजन समान होते हुए भी आधुनिक गव्दों में उसकी व्याख्या दूसरे ढंग से की जाती है । उदाहरणार्थ—शरीर के बल और भार-चय पैदा करनेवाले रोग (wasting diseases), क्षय (tuberculosis), जीवनिक्ति हीनता विरोधत. ए, डी एवं डी २ (avitaminosis) असह्यता या अनूर्जता (allergic state), दुर्बलता (ill-health & debility), उपसर्गज व्याधियों से रक्षण की शक्ति बढ़ाने के लिये (to combat the infectious diseases), अभोजन या हीनभोजन (dietetic deficiency) तथा बालकों के अङ्गवर्धन, गर्भिणीके पोषण आदि बातों का ध्यान रखते हुए स्नेह-पान अर्थात् (fat or water soluble vitamins A D) का प्रयोग करने का निर्देश किया जाता है ।

जीवनिक्ति ए० और डी० प्रचुर मात्रा में जान्तववसा, घी, दूध, मक्खन, मलाई तथा मत्स्य यकृत में प्राकृतिक रूप में पाया जाता है । इन प्राकृतिक द्रव्यों के उपयोग से उनकी पूर्ति भी संभव है । आजकल कई बने बनावे योग केपलर फुड, स्काट्स एमल्शन, गार्कोफेराल, पल्मोकाड आदि सुलभ हैं । इन स्नेहों का उपयोग उपर्युक्त आयुर्वेदीय दृष्टि से स्नेह-पान के अतिरिक्त कुछ नहीं । प्रयोजन रोग का संगमन और शरीर का वृंहण दो ही हैं ।

स्नेहन का पाश्चात्कर्म—

आहार एवं पान—यदि स्नेहपान के पश्चात् स्नेह का पाक न हो पाया हो या उसके पाक में शंका हो तो उस व्यक्ति को उष्ण जल पिलाना चाहिए । स्नेह के जीर्ण होने के बाद उस मनुष्य को गर्म जल से स्नान करावे । थोड़े में चावल के कणों को खूब गलाकर बनाई हुई यवागू को यथेच्छ पिलावे । मुगन्ध और स्नेह से रहित गूप और मामरस पिलावे । विलेपी भी किंचित् घी डालकर पिलाई जा सकती है । कहने का तात्पर्य यह है कि स्नेहपायित व्यक्ति को स्नेहकाल में

द्रव, उष्ण, अभिष्यंदी, नातिस्निग्ध एव विना मिलावट (कई अन्नो के मिश्रण) का भोजन देना चाहिए । यह भोजनक्रम जितने दिनों तक स्नेह पिया हो या पीना हो उतने दिनों तक रसना चाहिये ।

आचार—आचार सम्बन्धी भी कई नियमों का पालन स्नेहकाल में अपेक्षित है । जैसे स्नान और पान में उष्ण जल का उपयोग, ब्रह्मचर्य, केवल रात्रि में शयन, उपस्थित वेगो का न रोकना, व्यायाम-क्रोध-शोक-शीत और धूप, हवा के झोके से बचना, सवारी या अधिक पैदल चलना, बहुत बोलना, बहुत देर तक बैठना या खड़ा होना, सिर को तकिये के बहुत ऊपर या नीचे रखना तथा धुआँ-धूलि आदि में बचकर रहना उत्तम है । जितने दिनों तक स्नेहपान किया हो उतने दिन और अधिक काल तक इन परहेजों से रहना चाहिये । आचार सबधी इन नियमों का पालन न केवल स्नेहनकर्म में अपितु सभी पचकर्मों में करना होता है ।

काल-मर्यादा—पचकर्म या शोधन कर्मों में व्यवहृत होने वाले स्नेहनकाल की मर्यादा तीन से सात दिनों की मानी गई है । मृदु कोष्ठ वाले व्यक्ति को तीन दिनों तक, मध्यम कोष्ठवालों में चार से पाँच दिनों तक और क्रूर कोष्ठ के व्यक्तियों में छ से सात दिनों तक स्नेह-पान कराना चाहिये ।

यह काल-मर्यादा चिकित्सा में व्यवहृत होने वाले स्नेहों की नहीं है क्योंकि वहाँ पर तो रोग का सशमन या व्यक्ति का वृहण करना लक्ष्य रहता है अतएव वहाँ पर कालमर्यादा लम्बी हो सकती है । जैसे “मासमेरण्डजं तैल पिबेन्मूत्रेण मयुतम् ।” गृध्रस्त्री-चिकित्सा में अथवा शोष की चिकित्सा में वृहद् छागलाघ घृत या मत्स्य यकृतवसा का प्रयोग । ये प्रयोग लम्बी अवधि तक या दीर्घकालीन हो सकते हैं । शोधन के कार्यों में जहाँ पर स्नेहों का लक्ष्य स्रोतस में लीन हुए दोषों को टीला करना पश्चात् वमनादि कर्मों से उसका निर्हरण करना होता है कुल एक सप्ताह से अधिक स्नेहपान नहीं करना चाहिए क्योंकि वह सात्म्य हो जाता है । फलतः लाभ-प्रद भी उस दशा में नहीं हो पाता ।

सद्यः स्नेहन—वलहीन, कृश तथा श्रान्त व्यक्तियों में cachexia, marasmuss syndrome etc कई बार तुरन्त स्नेहन करने वाली वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है । इस क्रिया को सद्यः स्नेहन कहा जाता है । निम्नलिखित द्रव्य इस कार्य में व्यवहृत होते हैं —

१ पिप्पली चूर्ण, सैन्धवलवण, घी, तैल, वसा, मज्जा और दधि-मस्तु को एक में मिलाकर पिलाना । २ कम चावल और अधिक दूध से बनी खीर में घी मिलाकर गर्म गर्म पीना । ३ पिप्पली, घी, सेंधा नमक, तिल को पिष्टी और

सूअर की बसा को एक में मिलाकर पिलाना । ४ दूध दुहने वाले वस्त्र में पहले से ही घी और चीनी छोड़कर ऊपर दूध दुहे और धारोष्ण पिये । ५ जी, वेर, कुल्ही इनके बवाय में पिप्पली, दूध, दही, सुरा और आठवां भाग घी मिलाकर पीना । ६. दही को मलाई को गुड़ के साथ खाना । ७ स्नेहो में लवण मिलाकर सेवन । ८ तैल और सुरा मण्ड का सेवन । ९ सूअर के माम-रस में घृत और लवण मिलाकर सेवन ।

स्नेह व्यापद—(Complications)

अतियोग—(Overdosage) अतिमात्रा में स्नेह के प्रयुक्त होने से निम्नलिखित बाधाएँ उत्पन्न होती हैं । जैसे भोजन में द्वेष, मुख में स्राव, अरुचि, तन्द्रा, प्रवाहिका, गुदा में दाह, गुस्ता, मल की अप्रवृत्ति और पाण्डुता प्रभृति लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं ।

अयोग—(Underdosage) हीन या अल्प मात्रा में प्रयुक्त होने से निम्नलिखित दोष उत्पन्न हो जाते हैं । जैसे पुरीष का गाढदार होना, अन्न का कठिनाई से पाक, छाती में जलन, दुर्बलता, दुर्बलता, रुक्षता और डकारों का आना प्रभृति लक्षण अस्निग्ध व्यक्ति में पैदा होते हैं ।

सम्यक् योग—(Required dosage) ठीक मात्रा में प्रयुक्त होने से व्यक्ति में सुस्निग्धता आ जाती है, त्वचा और मेद मिथिल हो जाता है, अग्नि दीप्त हो जाती है, गात्र मृदु हो जाते हैं, अंग हल्के हो जाते हैं, तथा गुदा से चिकनी चीज का निकलना प्रभृति लक्षण सम्यक् मात्रा में प्रयुक्त हुए स्नेह से होते हैं ।

प्रतिकार (Treatment)—योग और अयोग का विचार करते हुए, अतिस्निग्ध व्यक्ति का रुक्षण, साँवा, कोदो, तक्र, पिण्याक, सत्तू, तक्रारिष्ट, त्रिफला और गोमूत्र के द्वारा करना चाहिए । यदि व्यक्ति अस्निग्ध हो तो उसमें पुनः स्नेह का प्रयोग करके उसका स्नेहन करना चाहिये ।

स्नेह-विभ्रम—(Allergy due to protien content in crude fat) कई बार स्नेह के विभ्रम से अति-तृप्ता अधिक प्यास लगना शुरू हो जाता है । स्नेह के पीने के पश्चात् यदि उसे अधिक प्यास लगे तो गर्म जल पिलाना चाहिये । फिर भी शान्ति न मिले तो गर्म जल पिलाकर वमन करा दे । शीत द्रव्यों का मिर के ऊपर लेप करे । जल में अवगाहन करावे ।

अस्नेह्य व्यक्ति—(contra indication of fats) बहुत से ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनमें मेद का पाचन (digestion of fat) हो ही नहीं पाता । बहुत से ऐसे स्थूल व्यक्ति मिलते हैं जिनमें बसा या स्नेह उनकी स्थूलता (obesity) को बढ़ाता है जिससे उन्हें लाभ के स्थान पर हानि होती है ।

बहुत ऐ सेसे ग्लेष्मबहुल रोग हैं जिनमे मेद के प्रयोग से उसकी वृद्धि होने लगती है। इन व्यक्तियों में स्नेह का निषेध है। क्योंकि इन व्यक्तियों के रोगों में चिकित्सा का लक्ष्य वृंहण न होकर कर्षण रहता है। इन कफ और मेदोबहुल व्यक्तियों में रुक्षण करना ही अधिक प्रशस्त है।

जिन व्यक्तियों का मुख और गुदा अभिष्यन्त हैं, मदाग्नि से नित्य पीडित व्यक्ति, मद-तृष्णा और मूर्च्छा में पड़ा व्यक्ति, तालु शोष से पीडित व्यक्ति, अजीर्णी (dyspeptic), तरुण ज्वरी (acute fever) जिनको वस्ति एवं विरेचन दिया हो ऐसा व्यक्ति, वमनयुक्त व्यक्ति, अकाल में प्रसूता स्त्री, अकाल में, दुर्दिन में, उदर और गर रोग से पीडितों में महादोष युक्त व्याधियों में, मर्म के रोगों में तथा ऊरुस्तम्भ प्रभृति रोगों में भी स्नेहन नहीं करे। स्नेहन से व्याधि बढ़ जाती है।

बहुत से ऐसे रोग हैं जैसे/ कुष्ठ, शोथ, प्रमेह आदि जिनमें स्नेहन की आवश्यकता नहीं रहती। यदि स्नेहन करना भी हो तो विशिष्ट औषधियों से सस्कार किये गये स्नेहों के द्वारा ही करना चाहिए।

आयुर्वेद के ग्रन्थों में रोगानुसार बहुत से स्नेहों के अनेक योग मिलते हैं।

संस्कृत या सिद्ध स्नेह—औषधियों के योग से पके हुए ये स्नेह दो प्रकार के हैं—१ आमिष जिनमें औषधियों के साथ-साथ मांस भी पड़ा हो जैसे छागलाघ घृत या मयूराघ घृत या कुरङ्ग घृत आदि, २ निरामिष जिसमें केवल विशुद्ध काष्ठीधियाँ ही पड़ी हों, जान्तव मेद का भाग न हो जैसे कल्याण घृत, चैतस घृत आदि। रोगानुसार कथित स्नेह पुनः दो प्रकार के हैं—घृत के योग विभिन्न घृतों के नाम से तथा तैल के योग विभिन्न सिद्ध तैलों के नाम से। इनमें घृत का प्रयोग प्रायः मुख से सेवन करने के रूप में और तैलों का प्रयोग बाह्य अभ्यङ्ग के रूप में अधिकतर होता है। 'जैसा कि पूर्व में ही कथन हो चुका है, जीवतिवक्ति ए ओर डी की पूर्ति इन विभिन्न घृत और तैलों से होती है जिससे शरीर की सरक्षण शक्ति (promotion of resistance) बढ़ती है। वैज्ञानिकों के अन्वेषणों से यह सिद्ध है कि कई अवस्थाओं में (जैसे बाल-शोष में) मुख द्वारा सेवन किया विटामिन ए और डी लाभप्रद नहीं होता। उस अवस्था में त्वचा के द्वारा अभ्यङ्ग करते हुए सूर्य प्रकाश की सहायता से वह कार्यकर होता है। प्राचीन आचार्यों ने भी त्वचा से अभ्यङ्ग के रूप में इन जीवतिवक्तियों के शोषण के विचार से विभिन्न तैलों का निर्माण और उपयोग बतलाया है। ये तैल बड़े वृष्य, वाजीकर और बल्य हैं। उनके अभ्यङ्ग और पान से विविध प्रकार की व्याधियाँ दूर होती हैं।

तैलो पर विचार किया जाय तो तैल भी दो प्रकार के हैं—

वेदनाहर या कण्डूहर (analgesic, antipruritic liniments) के रूप में जिनका प्रयोग केवल बाह्य उपयोग के रूप में होता है और बहुत प्रकार के विषों के योग से बने रहते हैं, गोफ एवं पीडायुक्त स्थलों पर मालिश के रूप में व्यवहृत होकर पीडा का शमन करते हैं जैसे विष तैल, विषगर्भ तैल, सैन्धवादि तैल और पंचगुण तैल आदि । कुछ खुजली आदि की शान्ति के लिए (antipruritic) व्यवहृत होते हैं जैसे, मरिचादि तैल, अर्क तैल आदि । वल्य एवं वृहण (tonics) के रूप में पाये जाने वाले तैल इनमें शतावरी, असगंध, बला चतुष्टय, दूब, घृत आदि वल्य और रसायन औषधियों के योग से पक्व होकर बने हैं । ये त्वचा से शोषित होकर शरीर का बल बढ़ाते हैं । वास्तविक स्नेह के लक्ष्य को पूरा करने वाले यही तैल हैं । इनका मुख से और बाह्य त्वचा से भी उपयोग होता है । जैसे नारायण तैल, विष्णु तैल एवं बला तैल आदि ।

तैल और घृतों पर ध्यान दिया जाय, तो उनके भेद क्रमशः तैल (Vegetable source), घृत (animal source) है । औषधियों के योग और अग्निपाक में वे कई गुना अधिक गुण के हो जाते हैं । औषधियों के पाक से उन-उन विभिन्न औषधियों की बसा में घुलनशीलता (fat soluble properties) आ जाती है । इसीलिये रोगानुसार विभिन्न समुदाय की औषधियों के समुदाय से पाक भी बतलाया गया है । थोड़ा और विचार करे तो यह भी स्पष्ट हो जाता है कि तैलों का निर्माण सर्वोत्तम तैल—तिल के तैल से और घृतों का निर्माण सर्वोत्तम घृत—गोधृत से होता है । इस विशेषता की वजह से भी साधारण वन के योगों में शास्त्रोक्त ये घृत अधिक लाभप्रद ठहरते हैं ।

कालक्रम १: इन घृतों का प्रचलन अब कम होता जा रहा है । चरक को चिकित्सा देंगे तो कोई रोग का अधिकार नहीं जिसमें दो चार घृतों का उल्लेख न आया हो, परन्तु आजके कृत्रिम युग में शुद्ध घृत ही दुर्लभ होता जा रहा है तो निद्धघृतों का पूछना ही क्या है, परन्तु इन चिकित्सा को पुनः जागृत करना आवश्यक है ।

नवघृत और पुराणघृत—घृत दो प्रकार के पाये जाते हैं । नवघृत जो घी ताजा या अधिक से अधिक एक वर्ष के भीतर का हो । दूसरा पुराण अर्थात् एक वर्ष से अधिक पुराना । वाग्भट्ट में दस वर्ष का पुराना घी ही पुराणघृत है । उससे कम पुराने घी में पुराण घृत का गुण नहीं पाया जाता । सौ

वर्ष तक के पुराने या उससे अधिक पुराने घृत को कुम्भसर्पि या कुम्भघृत कहा जाता है ।

घृत जितना ही नया होता है उतना ही वह अधिक बल्य, पौष्टिक धातुओं का पोषण करने वाला होता है । स्नेहन के कार्यों में इसीलिये नवघृतो का ही प्रयोग होता है, चाहे उसका अच्छ प्रयोग हो अथवा सस्कारित । घृत जितना पुराण होता है उतना ही वह शरीर को कृश करने वाला या कर्पक हो जाता है । साथ ही वह कई अन्य गुण वाला जैसे नेत्र के लिये हितकर, बुद्धिबद्धक तथा मेध्य होता है ।

अतएव वृहण या स्नेहन के लिये सदैव नवघृतो का ही प्रयोग करना चाहिए । नवघृतो का मुख से सेवन का प्रायः विधान है, परन्तु पुराणघृतो का अधिकतर बाह्य प्रयोग, लेप और अभ्यग के रूप में कफ का सक्षय करने के लिये ।

पुराघृत का रासायनिक दृष्टि से विवेचना करने पर उसमें कई परिवर्तन होते हैं । घृत या तैलो को प्रकाश में रखने से या आर्द्रता की उपस्थिति से इनमें मन्द स्वरूप की विकृति (slow decomposition) होकर वह (rancid) का रूप धारण कर लेता है । इसमें (hydrolysis) की प्रक्रिया से तृणाणु (bacteria), मधुरी (glycerine) तथा वास्तविक वसा (true fatty acids) पृथक् हो जाते हैं और घृत सतृप्त वसा (saturated) के रूप में परिणत हो जाता है ।

कुपिताः प्रशमयितव्याः

स्वेद-स्वेदन

स्वेद का शाब्दिक अर्थ है पसीना । किसी अंग विशेष का या सर्वाङ्ग का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से अग्नि-सम्पर्क कराके पसीना लाने की क्रिया को स्वेदन कहते हैं । 'सूक्ष्म मार्गों में पड़े हुए (लीन दोष) स्वेदन-क्रिया से पिघल कर द्रव रूप में बाहर निकल जाते हैं ।' रोगी के स्नेहन के बाद दूसरा (अन्यतम) कर्म स्वेदन का होता है । नाना प्रकार के कृत्रिम उपायो से जबर्दस्ती पसीना लाना ही इस कर्म का प्रयोजन है । उक्ति भी मिलती है । 'विभिन्न धातुओं, सस्थानों तथा मार्गों (कोष्ठ-शाखा-सधि-अस्थि प्रभृति स्रोतसो) में लीन हुए दोष स्वेदन से विलिप्त होकर पश्चात् स्वेदन से द्रवीभूत होकर कोष्ठ में आकर शोधन के उपक्रमों से पूर्णतया शरीर के बाहर निकल जाते हैं ।' इनमें बहिर्गम्य दोषों का निष्क्रमण तो स्वेदन के द्वारा और आन्तरिक या कोष्ठगत दोषों का शोथन वमन, विरेचन, वस्ति तथा नस्य क्रियाओं से हो जाता है ।

प्रकारः—

स्वेदन-क्रिया के द्वारा जहाँ पर किसी रोग स्थान विशेष का स्वेदन अपेक्षित हो जैसे शोथयुक्त मन्थि या व्रण-गोफ युक्त स्थान वहाँ पर स्वेदन का उम स्थान का रक्त-मंचार बढ़ाना मात्र लक्ष्य होता है, जिसमें उम स्थान के दोष नार्च-दैहिक रक्त सवहन में आ जाय और उनका निर्हरण हो जाय और उन स्थान का शोथ शान्त हो जाय। इन प्रकार एकदेशिक माफ को (Fomentation) कहा जाता है। यह एक प्रकार का मामूली नेक है।

स्वेदन क्रिया के द्वारा जहाँ पर सम्पूर्ण शरीर का स्वेदन अभिप्रेत है वहाँ पर सम्पूर्ण शरीर का त्वचागत रक्त सवहन (Cutaneous Circulation) का बढ़ाना रक्त वाहिनियों के सवृत मुखों को विवृत करना तथा त्वचा में जलाशय का स्वेद के रूप में दूरी-करण लक्ष्य रहता है। उस प्रकार के नार्चयिक स्वेदन की प्रक्रिया को (Induction of sweating) कहते हैं। यह एक प्रकार की विशेष प्रक्रिया है जो सम्प्राप्ति नए विज्ञान के लिए एक आयुर्वेद की नई देन हो सकती है।

इस प्रकार स्वेदन एकाङ्ग एवं सर्वाङ्ग भेद से दो प्रकार का होता है। सम्पूर्ण शरीर का स्वेदन सर्वाङ्ग स्वेदन तथा किसी एक अवयव का स्वेदन एकाङ्ग स्वेदन कहलाता है। उदाहरणार्थ एकाङ्ग स्वेदनो में आमाशय में वायु के होने पर उस स्थान का रुक्ष स्वेदन, पक्वाशय में कफ होने पर भी प्रारम्भ में स्निग्ध स्वेदन हितकर होता है। कई अङ्ग ऐसे हैं जिनका स्वेदन नहीं करना चाहिए, वंचण, नेत्र, हृदय और अण्डकोश। यदि अङ्गों का स्वेदन आवश्यक हो तो इन सुकुमार अङ्गों पर मृदु स्वेदन ही करना चाहिए। अन्य अङ्गों का पथेच्छ स्वेदन किया जा सकता है।

स्वेदन का कर्म मूलतः दो प्रकार का है—(१) जिसमें अग्नि के सीधे सम्पर्क (Direct) से स्वेद हो। (२) जिसमें माक्षात् अग्नि का सम्पर्क न हो, अवयव व्यक्ति का स्वेदन हो जाय। प्रथम वर्ग को अग्नि स्वेद और दूसरे को अनग्नि स्वेद (Indirect) कहते हैं।

अनग्नि स्वेद के उदाहरणों में व्यायाम (कसरत), उष्णगृह, मोटा और भारी आवरण (ओटना), धुआ, बहुत मात्रा में मद्यपान, भय, क्रोध, उपनाह (पुल्टीस), उष्ण वायु प्रभृति दम विधियों में बिना माक्षात् अग्नि सम्पर्क के ही स्वेदन हो जाता है।

अनग्नि-स्वेद के ही उदाहरणों में अधुना प्रचलित विद्युत्-स्वेदन का भी ग्रहण

हो सकता है जैसे—विद्युत प्रकाश में स्वेदन अल्ट्रा वायलेट, इन्फारेड का सेवन आदि । शेष अन्य विविध प्रकार के स्वेदन अग्निस्वेद के उदाहरण हैं ।

इसी प्रकार रुद्ध और स्निग्ध भेद से भी स्वेदन के दो प्रकार हो जाते हैं । जैसे वालुका, हथेली, वस्त्र, मेघा नमक, और पत्थर आदि को गर्म करके सेकना रुद्ध (Dry fomentation) स्वेदन तथा खोवे (किलाट), मासादिओं की पोटीली बनाकर उससे सेंकना स्निग्ध स्वेद (Wet-fomentation) कहा जाता है । इसी वर्ग में तैल या घृत की मालिश करके सेकना तथा उष्ण जल आदि से सेकना भी आ जाता है ।

विधि भेद से पुनः स्वेदन के चार वर्ग हो जाते हैं—ताप स्वेद—(Dry fomentation), उष्ण स्वेद (Vapour fomentation), उपनाह स्वेद (Poultice) तथा द्रव स्वेद (Wet fomentation) । आज कल की चिकित्सा में कई प्रकार के उष्ण-स्नान (Hot-warm bath) तथा वाष्प स्नान (Vapour bath) प्रचलित हैं । उनका उद्देश्य प्राचीनोक्त स्वेदन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । ये स्नान स्थानिक या सार्वदैहिक तथा शीघ्र अथवा निरीपध हो सकते हैं । इन स्नानों के द्वारा निम्नलिखित लाभ होते हैं । —

(१) त्वचा को मृदु करते हुए मेद के स्रावों को द्रवीभूत कर देते हैं फलतः कई प्रकार के त्वचा के रोगों में व्यवहृत होते हैं । (२) स्थानिक रक्ताभिसरण को बढ़ा कर कोष्ठगत रक्ताभिसरण को कम कर देते हैं जिससे आन्तर्गत, पित्ताशयगत तथा वृक्कगत शूल प्रभृति शूल कम हो जाते हैं । (३) धातुओं को शिथिल कर देते हैं जिससे पेशीगत आकुचन दूर हो जाते हैं, फलतः तीव्र उदर शूल, प्रसेक सकोच, आन्त्र वृद्धि, शैशवीय आक्षेप तथा स्वर यन्त्र का आकुचन प्रभृति आकुचन जन्य पीडाओं के उपचार में व्यवहृत होते हैं । (४) स्वेद ग्रन्थियों (Sudoriferous glands) से स्रावों को बढ़ा देते हैं जिससे वृक्क रोगों में लाभ होता है और मूत्र-विपमयता में भी आराम मिलता है ।

इन स्नानों के पूर्व और पश्चात् रोगी की तत्परता से रक्षा करनी चाहिए । स्नान के पश्चात् उसके शरीर को सुखा कर गर्म विस्तर पर लेटा देना चाहिए । उष्ण पेय-चाय-दूध आदि देना चाहिए । आधुनिक युग में कई प्रकार के स्नान प्रचलित हैं । जैसे—

(१) वदुष्ण स्नान (Tepid bath)—किञ्चित् उष्ण जल से ८५° से

९५° के तापक्रम के जल से स्नान कराना । यह स्नान ज्वर, जोर्णज्वर तथा वेचैनी में लाभप्रद होता है ।

(२) उष्ण स्नान (Warm bath) ९५°-१००° के तापक्रम के जल में स्नान कराना वसन्तिका शोथ और फुफ्फुम पाक में लाभप्रद है ।

(३) अत्युष्ण स्नान (Hot bath)—जल का ताप क्रम १००°-१०६° तक । कार्य उपर्युक्त की भाँति । अधिक शक्तिशाली ।

(४) अत्युष्ण पाद स्नान (Hot foot bath) प्रतिश्याय, नासागत रक्तन्वाव, शीत के कारण रक्त रजन्वाव के चालू करने के लिए अत्युष्ण जल से पैरों का धोना ।

(५) अति उष्ण कटि-स्नान (Hot sitze bath) आर्तवादर्शन, कृच्छ्रार्तिव, शीतजन्य आर्तवरोध और मूत्राशय शोथ में निर्दिष्ट है । थोड़ा सर्पप डालकर खोलाया जल अधिक लाभप्रद होता है ।

(६) अत्युष्ण जल प्रोक्षण—(Hot water sponging) मिर, शंख प्रवेग और गर्दन को जल से सेक करना प्रतिश्याय में होने वाले शिर गूल का शमन करता है ।

(ख) वाष्प स्नान (Vapour bath)—वेंट की विनी कुर्सी पर रोगी को बैठकर ऊपर से कम्बल ओढ़कर रोगी को पूर्णतया ढक दे । मिर का भाग खुला रखें । कुर्सी के नीचे एक स्प्रिट लैम्प जला कर उस पर पानी से भरा वर्तन रख कर खोलावे । उसके वाष्प में रोगी का स्वेदन होने लगेगा । यह वाष्प—औषधियों को बौला कर औषध (Medicated) या निरीषध (Non medicated) भी हो सकता है । इस स्वेद का उद्देग्य और परिणाम उष्ण जल स्नान सदृश ही है । इसके पुनः दो प्रकार होते हैं । रूसी स्नान (Russian bath) जिनमें विभिन्न तापक्रम के वाष्प में स्वेदन और तुर्क स्नान (Turkish bath) जिसमें शुष्क वायु से स्वेदन किया जाता है । आमवात, वातरक्त, सन्धिवात, त्वचा एवं वृक्क रोगों में लाभप्रद । प्राचीन नाडी स्वेद (Medicated Vapour bath) का ही प्रतीक है ।

(ग) उष्ण वायु स्नान :—रोगी को कम्बल से आवृत करके उसके भीतर गर्म हवा को प्रवेग कराया जाय या एक लकड़ी के बने फ्रेम में कई विद्युत के बल्ब लगा कर उसके विस्तर पर रख दिया जाय तो स्थानिक वायु उष्ण होकर स्वेदन में समर्थ होगी । इस प्रकार की स्वेदन-विधि के विभिन्न प्रकारों के साधनों का उल्लेख आयुर्वेद के ग्रन्थों में पाया जाता है जिनका एकैकश वर्णन आगे प्रस्तुत किया जा रहा है ।

इन चार बड़े वर्गों के भीतर ही चरकोक्त तेरह प्रकार के सामान्य तथा विविष्ट स्वेदनो के उल्लेख आ जाते हैं ।

(१) संकर या पिण्ड स्वेद :—(१) तिल, उडद, कुल्थी-अम्ल-घृत, तैल, मास, चावल का भात, कृशरा, या खीर का पिण्ड बनाकर सेंकना ।

(२) गाय, गदहा, सूअर या घोड़े की लीद, जी की भूसो आदि का पिण्ड गोला जैसा बना कर उसे आग पर गर्म करके सेंकना पिण्ड स्वेद कहलाता है । रूप के अनुसार ही स्वेद का नामकरण किया गया है । यदि बालू, धूल, पत्थर, राख आदि को कपड़े में बाँध कर पोटली बना कर उसे गर्म करके स्वेदन किया जाय तो यह पोटली स्वेद या पुटक स्वेद कहलाता है ।

इसे भी पिण्ड स्वेद के वर्ग में ग्रहण करना चाहिए । इस प्रकार कपड़े के भीतर लपेट कर पोटली जैसे बनाकर या वैसे ही लोण्ठ बनाकर जो स्वेदन की क्रिया की जाती है उसे मकर स्वेद कहते हैं । सकर स्वेद का पर्याय पिण्ड स्वेद है ।

नाडी स्वेद—ग्राम्य (पालतू सूअर आदि), अनूपदेशज (ज.गली सूअर, गण्डा आदि) तथा ओदक मान (जल में पाए जाने वाली मछली आदि के मास) दूध के सोवे, बकरे के मस्तिष्क, सूअर के मध्य भाग और रक्त, स्निग्ध तिल, तण्डुल को किसी वर्तन में रख कर आग पर चढ़ाकर उससे एक नाडी (Tube) लगाकर उनके भाग में स्वेदन क्रिया को नाडी स्वेद कहा जाता है । इससे देश, काल और युक्ति का विचार करते हुए प्रयोग करना चाहिए । इन द्रव्यों का नाडी स्वेदन विशेषतः वायु के दोषों (Nuralgia) में भी लाभ-प्रद होता है । ये सभी द्रव्य प्रोटीन तत्त्वयुक्त होते हैं ।

वरुण गुडूची, एरण्ड, सहिजन, मूली, सरसो, अडूसा, बाँस, करज, अर्क पत्र, अश्मातक, शोभाञ्जन, झिण्टी, मालती, तुलसी, सर्ज प्रभृति वनस्पति उपर्युक्त विधि से खोला कर उसके वाष्प से नाडी द्वारा स्वेदन करना भी संभव है । इनका प्रयोग कफपित्ताधिक्य में जैसे Respiratory diseases, filariasis आदि में किया जाता है । इसी तरह मूली, पंचमूल, सुरा, दधिमास्तु, मूत्र, अम्ल द्रव्य, और स्नेहो के द्वारा भी नाडी स्वेद का प्रयोग वातश्लेष्मिक विकारों में किया जा सकता है ।

३ कोष्ठ स्वेद—ऊपर कही गई औषधियों का जल में क्वाथ बनाकर या केवल खोला कर या दूध में पकाकर, तेल में पकाकर या घृत में पकाकर एक बड़े वर्तन में उसमें तेल या घी को भर दिया जाय और उसमें रोगी को खूब तेल लगा कर नहाने या बैठने की व्यवस्था की जाय तो इस क्रिया को अवगाहन या

कोष्ठ स्वेद कहते हैं। उनके लिए एक ढोङ, रूकी या बरत दब रोंना चाहिए। तोष्ठ चार प्रकार के हो सकते हैं—जल कोष्ठ, क्षीर कोष्ठ, मैद कोष्ठ और घृत कोष्ठ। व्यक्ति की व्याधि और व्यक्ति दशा के अनुसार उनका प्रयोग करना चाहिए, इसी का दूसरा नाम अवगाहन स्वेद भी है। यह एक प्रकार का 'Tub bath' है। कोष्ठ में उष्ण त्वाथ, क्षीर, तेल या घृत भरकर उसमें रोगी को बैठाना या स्नान कराया जाता है।

४ उपनाह-स्वेदः—यह एक प्रकार का आग्नि स्वेद होता है। इसमें जी या गेहूँ की दलिया या आटा लेकर अच्छे द्रव्यों के साथ मिश्रण या शुद्ध बोज, नेचानमक और छोटी स्नेह मिलाकर या जीरणी, मुरादीज भाँक, रसीनी, कुष्ठ, गन्ध द्रव्यों के तेल से मिलाकर पृथ्व अच्छी तरह से पीस कर किसी बर्तन में गर्म करके विकार-युक्त स्थल पर तैप करके ऊपर बिना माफ किए श्लेष्मकात चर्म से ऊपर से बांध देना चाहिए। यदि ऐसा न मिले अथवा रोंटी भी गर्म न हो सुलभ न हो तो कोपेय दग्ध या कम्बल से ढकते से बांधना चाहिए। नोवेयरग अण्डी या मिर्क के वस्त्र को कहते हैं।

उपनाह स्वेद के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि रात्रि या रात्रि हुआ उपनाह दिन में चोल दे और दिन के बाधे उपनाह को रात्रि में मोर दे। क्योंकि इसमें अधिक काल तक बधन के पटे रहने से विदाह या शोथ का भय रहता है जिसमें रोगी के अनिष्ट की सम्भावना बनी रहती है।

५ प्रस्तर-स्वेदः—'प्रस्तीर्यते इति प्रस्तरः' स्वेदन की दम्तुओं का आदमी के मोने लायक प्रमाण में फैला कर (विस्तीर्ण कर) पुनः उन पर व्यक्ति का स्वेदन करना प्रस्तरस्वेद कहलाता है। उस कार्य में धूक और शिम्बी धान्य के पत्तों के फैलाए हुए स्थान पर अण्डी और भेट के कम्बल विस्तीर्ण प्रच्छद पर अथवा एरण्ड और अर्क पत्र के प्रच्छद पर गूब अच्छी तरह से व्यक्ति के शरीर पर तेल की मालिश कराके उसी पर मुला कर स्वेदन करना प्रस्तरस्वेद कहलाता है। इसके लिये आदमी के कद की एक गिला बनाकर उनको तप्त करके फिर उसके ऊपर पत्तियों को बिछा कर युक्ति पूर्वक लेटा कर स्वेदन करना होता है।

६ परिपेक-स्वेदः—वातोत्तर श्लेष्मिक रोगों में या वायु के रोगों में मूलकादि जो वातघ्न द्रव्य ऊपर में बतलाए जा चुके हैं उनको पानी में उवाले ले। पुनः इस उवाले जल को किंचित् उष्ण हो अर्थात् वग्दाशत के योग्य उस तापक्रम में लेकर किसी सहस्रधार वाले घटे में या अनेक छिद्र नाडी युक्त वर्तन में (हजारा में) भर कर रोगी को वस्त्र से अच्छादित कर उस जल की

धारा या फव्वारे से स्नान करावे । इस क्रिया को परिपेक स्वेद कहते हैं । इस विधि में ववथित जल के लिए चरक ने तीन प्रकार के वर्त्तनों का नामोल्लेख किया है । कुम्भी (घड़ा), वर्षणिका (छोटा घड़ा या सहस्र धारा-सहस्र छोटे छिद्रों से युक्त घट) तथा प्रनाडिका (ऐसी नलिका जिसमें अनेक मुख से जल का परिपेक हो सके) । यह भी आधुनिक दृष्टि में एक प्रकार की Warm spunging है ।

७ जेन्ताक-स्वेद :—यह एक स्वेदन के लिये विशेष प्रकार का बृहद् आयोजन युक्त स्वेदन विधि है । इसमें वस्ती के पूर्व या उत्तर भग्ना में प्रशस्त, एव समान भूमि-भाग में जहाँ कि मिट्टी काली, मधुर या सोने के रङ्ग की हो, जहाँ पर कोई दीर्घिका-पुष्करिणी (छोटा पोखरा या जलाशय) हो उसके पश्चिम या दक्षिण के किनारे पर एक गोल आकार का कमरा (कूटागार) बनाया जाता है । इसके विपरीत दिशा में अर्थात् पूर्व या उत्तर दिशा में सुन्दर उपतीर्थ अर्थात् घाट बने हो । यह कमरा पानी की सतह से सात या आठ हाथ की ऊँचाई पर होना चाहिए । कमरे की लम्बाई और चौड़ाई को उसका व्यास समझना चाहिए । कमरा मिट्टी का और बहुत सी खिडकियों से युक्त होना चाहिए । कमरे की लम्बाई और चौड़ाई सोलह-सोलह हाथ की होनी चाहिये यह चूँकि गोलाकार बनेगा, अस्तु इस लम्बाई-चौड़ाई को उसका व्यास समझना चाहिए । इस कमरे के अन्दर की ओर चारों ओर की गोलाई में एक हाथ ऊँची एक पिण्डिका (कमरे की दीवाल से लगा चबूतरा) बनाना चाहिए । जो दरवाजे तक आवे । यह व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि कोई व्यक्ति दरवाजे से प्रवेश करके उस पिण्डिका के ऊपर चढ़ कर घूमता हुआ पूरे कमरे की गोलाई में परिक्रमा करता हुआ पुनः उसी दरवाजे से निकल कर आ सके ।

इन कमरे के मध्य में चार हाथ लम्बी अर्थात् आदमी के माप की एक मिट्टी की बनी भट्टी (कन्दुक के आकार की) होनी चाहिए । इस भट्टी में बहून-में छोटे-छोटे छिद्र होने चाहिए, उसके मध्य में अंगार-कोष्ठ (लकड़ी जलाने का स्थान) होना चाहिए । साथ ही एक पिधान (ढक्कन) की व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे आवश्यकता के अनुसार उसका द्वार बंद किया जा सके । इस अंगार-कोष्ठ में या खण्ड में खदिर और अश्वकर्ण की लकड़ी जला देनी चाहिए । जब लकड़ी अच्छी तरह से जल जाय वह धूँवें से रहित और अंगार के रूप में हो जाय और पूरा कमरा उस अग्नि के ताप से तप्त हो जाय तो रोगी व्यक्ति के स्वेदन की व्यवस्था करे ।

जिस व्यक्ति का स्वेदन करना हो उसका वातघ्न तेलों से अभ्यंग करा के कपड़े में पूरे शरीर को आच्छादित करके प्रवेग करावे। उसे इस बात से पूरी तरह से आगाह कर दे कि वह इस स्वेदन-गृह में अपने कल्याण और आरोग्य लाभ के लिए जा रहा है। पिण्डिका पर चढ़ कर मुखपूर्वक स्वेदन करे। मुखपूर्वक पिण्डिका पर विचरे और लेटे। लेट कर मुखपूर्वक एक करवट या दूसरी करवट से अपने को मँके। परन्तु पिण्डिका का परित्याग न करे। स्वेद और मूर्च्छा से बचैन होने पर भी जब तक प्राण हो पिण्डिका के नीचे नहीं उतरे पिण्डिका के ऊपर ही रहे। पिण्डिका के छोड़ देने पर या नीचे आ जाने पर दरवाजे तक नहीं आ सकेगा और मूर्च्छित हो जावेगा और जीवन से भी हाथ धोना पड़ेगा। इस लिए पिण्डिका को नहीं छोड़े।

जब उसे यह प्रतीत होने लगे कि उसका अभिष्यन्द या भारीपन (Congestion) दूर हो गया, सभी स्रोत खुल गए, नम्यक् प्रकार से स्वेद-विन्दुओं का स्राव हो गया, उसका शरीर हटका हो गया, उसके शरीर का त्रिवन्ध, स्तम्भ (जकड़ाहट), सुन्नता, वेदना और भारीपन दूर हो गया तो वह पिण्डिका का ही अनुसरण करते हुए दरवाजे से बाहर निकले। वहाँ से बाहर आकर नेत्रों की रक्षा के लिए सहसा शीतल जल का स्पर्श न करे। थोड़ी देर तक या जब तक उसका ताप, थकावट और पसीना शान्त न हो जाय विश्राम करे। पश्चान् मुखोष्ण (गुनगुने) पानी से स्नान करे तदनन्तर भोजन करे।

८ अश्वघन स्वेदः—पुरुष के प्रमाण की एक लम्बी, मोटी और चौड़ी गिला, (पत्थर की गिला) को वातघ्न लकड़ियों को जला कर उसके भीतर छोड़ कर, अंगारों से तप्त करके, पुनः अंगारों को पृथक् करके गिला को निकाले। फिर इस गिला का गर्म जल से प्रोक्षण करके अर्थात् गिला पर गर्म जल डाल कर उसके ऊपर अण्डी की चादर या कम्बल बिछा कर उसके ऊपर अच्छी प्रकार से अभ्यंग किये व्यक्ति को लेटा कर स्वेदन करावे। इस स्वेदन वाले व्यक्ति का भी शरीर नूती, ठनी या रेगमी वस्त्र से ढका होना चाहिए। इस स्वेदन विधि को अश्वघन स्वेदन कहते हैं। इसको गिलास्वेद भी कह सकते हैं।

९ कर्पू स्वेदः—नोने के लिए वनो चारपाई के नीचे एक गड्ढा खोदे, जिसका मुख छोटा किन्तु अन्दर का पेट बड़ा हो, उसमें निर्धूम अङ्गारों को डाल कर उसे भर दे, पुनः व्यक्ति को चारपाई के ऊपर सुला कर उसका सुख पूर्वक स्वेदन करावे।

१० कुटी-स्वेदः—अल्प प्रमाण की लूँवाई, बहुत मोटी दीवाल की जिसमें खिडकियाँ न हों तथा जिसका विस्तार, लम्बाई, चौड़ाई भी अधिक न

हो, ऐसी एक गोलाकार कुटी बनावे । इसके दीवाल की अगर प्रभृति सुगन्धित और उष्ण द्रव्यो से पुताई करा दे । कुटी के बीच में एक स्वास्तीर्ण विस्तर जिसमें सुखपूर्वक सोया जा सके ऐसा विस्तर लगावे । इस शय्या के विस्तर के ऊपर मृगचर्म, कम्बल, कुशा की चटाई, अण्डी के वस्त्र प्रभृति उष्ण कपडे होने चाहिए । कुटी के चारो ओर दीवाल के सम्पर्क में निर्धूम जलते अगारो की कई अगोठियाँ रख दी जाती हैं । अभ्यक्त शरीर हो, स्वेदन के योग्य व्यक्ति का प्रवेश करा के उस शय्या पर लेटा कर सुखपूर्वक स्वेदन कराना चाहिए । इस स्वेद-कुटी का प्रवन्ध प्रगस्त, निवात और समभूमि में करना चाहिए ।

११ कुम्भी स्वेद —वातघ्न ववाथो से भरे हुए घट को जमीन में गड़्ढा करके स्थिर कर दे । उसके ऊपर चारपाई लगा दे । चारपाई इस प्रकार लगावे कि घडे के टूटने का भय न हो । उसके ऊपर चारपाई का आधा या तिहाई भाग रहे । चारपाई के ऊपर एक हलका या पतला विस्तर होना चाहिए । इसके ऊपर स्वेदन वाला व्यक्ति समुचित अंग होकर तेल का अभ्यग करके लेट जाये । अब इस घडे में तप्त किए-लोहे के टुकडे या पत्थर के टुकडे छोडे । इसके वाष्प से व्यक्ति का भले प्रकार से स्वेदन हो जाता है ।

१२ कूप स्वेद :—कूप या कुवे के आकार का कुछ गहराई का एक गड़्ढा बनावे जिसका विस्तार सामान्य कुओ से द्विगुण हो या जिसकी लम्बाई, चौड़ाई इतनी हो कि उसके ऊपर सोने का आसन लगाया जा सके । इस कुएँ का निर्माण प्रगस्त भूमि में और निर्वात स्थान पर कराना चाहिए । इसके अन्दर का भाग साफ और चिकना होना चाहिए । इसके भीतर हाथी, घोडे, गाय, गधे, और ऊँट की लीद भर कर जला दे । इसके ऊपर अभ्यक्तशरीर व्यक्ति अपने शरीर को कपडे से ढक कर लेट जावे और सुखपूर्वक स्वेदन करावे ।

१३ होलाक-स्वेद—गोहरे या उपले के चूर्ण को जला दे । जब यह निर्धूम और लाल हो तो उसके उपर शय्या बिछावे । स्वेदन वाला व्यक्ति अपने शरीर में तेल का अभ्यग कराके वस्त्र से आच्छादित होकर इस विस्तर पर लेट कर सुखपूर्वक स्वेदन करावे ।

इस प्रकार अग्नि स्वेद के तेरह विधानों का वर्णन चरकसंहिता सूत्रस्थान के चौदहवें अध्याय में पाया जाता है । इसके अलावे अनग्नि स्वेद के भी दस प्रकार हैं, जिनका उल्लेख ऊपर में हो चुका है—१ व्यायाम, २ उष्ण गृह, ३ गुरु प्रावरण, ४ क्षुधा, ५ बहुत मद्यपान, ६ भय, ७ क्रोध, ८ उपनाह । अनग्नि उपनाह-उष्ण द्रव्यो का मोटा लेप करने से ही स्वेदन हो

जाना, ९ आतप (वृष), १०. उष्णवात । * कुल मिलाकर तेईस प्रकार को स्वेदकी विधियाँ हैं ।

स्वेद का विधान—इन विभिन्न प्रकार के स्वेदन विधियों का प्रयोग देश, दोष, द्वाय, बल, प्रकृति, सात्त्व्य, विकार आदि का विचार करते हुए करना चाहिए। संक्षेप में कुछ तो मृदु स्वरूप के सैंक (fomentation) के लिए और कुछ विधियाँ मध्यम और महा स्वरूप के स्वेदन (Inudction of sweating) के लिए बताई गई हैं ।

इनमें ऋतु शीत हो, व्याधि महाबलवान हो, रोगी भी बलवान हो तो महास्वेद का विधान मध्यम बल हो तो मध्यम स्वरूप का स्वेद और दुर्बल हो तो मृदु स्वरूप का स्वेदन करे। आमतीर में वायु और कफ के विकारों में स्वेदन लाभप्रद होता है ।

स्वेदन का प्रयोग कदापि शरीर का अम्यंग या शरीर का स्नेहन किए बिना नहीं कराना चाहिए क्योंकि व्यवहार में देखा जाता है कि बिना तेल लगाए लकड़ी का स्वेदन करने से वह टूट जाती है । इसके विपरीत तेल लगा कर स्वेदन करने से सूखी हुई लकड़ी भी झुकाई या मोड़ी जा सकती है । इसीलिए स्वेदन के पूर्व स्नेहन का विधान ग्रंथों में बतलाया जाता है ।

जीवित शरीर का सदैव स्नेहन के अनन्तर स्वेदन करना चाहिए—स्नेह के प्रयोग में मृदुम रोमकोषों में पड़े दोष गिथिल हो जाते हैं, पुनः स्वेदन से पिघल कर बाहर निकल आते हैं, उन मृदुम श्रोतमों के मुख खुल जाते हैं । शरीर के अन्दर पड़े विषों का त्याग स्वेदन के जरिए हो जाता है । रोगी रोग से मुक्त हो जाता है ।

स्वेदन के पूर्व स्नेहन का एक दूसरा भी लक्ष्य है—तेल या घृतों की सहायता से उष्णता अपेक्षाकृत अधिक गहराई तक पहुँचाई जा सकती है । जिससे गहराई में स्थित दोषों का शमन रक्ताभिसरण की वृद्धि के द्वारा शीघ्रता से होता है ।

स्वेद-साध्य रोगी (Indication of sweating)

अ्थमा (Asthma), कान Cough due to inflammation of the Respiratory and Extra respiratory passages

* व्यायाम उष्णसदनं गुरुप्रावरणं क्षुधा

बहुपान भयक्रोधावुपनाहाह्वातपा.

३ स्वेदयन्ति दग्गतानि नरमग्निगुणादृते । (चरक सू १४)

producing symptions of Cough, प्रतिश्याय (Rhinitis+Coryza), हिकका (Hiccough), विषध (Constipated bowels), स्वरभेद (Soar throat), वात व्याधि जैसे, अर्दित, पक्षाघात, कर्णमन्याशिर-शूल (Diseases of Nervoussystem like Facial paralysis Paraplegia, Earache Headache etc), आमवात (Rheumatism) (Spasm) भारीपन (Heavyness), कटिग्रह (Lumbago), पृष्ठग्रह (Bachache) पार्श्वग्रह (Stiffness of the chest) कुक्षिग्रह (stiffness of the abdomen) हनुग्रह (Lock jaw) वृषण वृद्धि (Orchitis) खल्लो (Tetany) अपतानक (Tetanus) वातकटक (Glossitis) मूत्रकृच्छ्र (Painful Micturations) अर्बुद (New growth) ग्रन्थी (Cyst) शुक्राघात (Inflammation of the Sermal vessicle) प्रभृति रोगो मे चतुर्विध स्वेदो मे या तेईस प्रकार के स्वेदनो मे जहाँ जो उचित जान पड़े उसका प्रयोग करना चाहिए ।

अस्वेद्य रोगी--Contra idication of sweating

अतिस्यूल (obesity), अतिकृश (Very weak), अतिरूक्ष (Starvad) मूर्च्छित (Syncopric and fainted), स्तम्भन के योग्य (Where astringets are required), क्षत-क्षीण (T B Hemoptysis), मद्य के विकार वाले (chronic Alcoholism), तिमिर (Progressive catract or gradual Loss of vision), उदर रोग (Ascitis) शोष (Consumption), आढ्यवात, दूध, दही और मधु दिए रोगी, विरेचित रोगी (जिनका Purging हुआ हो), गुदभ्रंश (Anal Prolapse) ग्लानि-शोक-क्रोध-भय से पीडित (Worried), कामला (Jaundice), पाण्डुरोग (Anaemia), क्षुब्धित-तृप्ति-रक्तपित्त (Haemorrhagic Diseases), विषयुक्त रोगी (Poisoning), गर्भिणी (Preganancy), पुष्पिता स्त्री (During Menstruation), सद्य प्रसूता (Peurapereum) तथा अतिसार पीडित (Diarrhea) मे स्वेदन न करे ।

इन अवस्थाओ मे स्वेदन करने से विकार का शमन नहीं होता, प्रत्युत-रोग के बढ़ने और व्यक्ति के शरीर-नाश का भय रहता है ।

स्वेद का योगायोग--

सम्यक्-स्वेद-भले प्रकार से स्वेदन हो जाने पर अग्नि की दीप्ति, मृदुता, त्वचा की प्रसन्नता, भोजन मे रुचि, स्रोतसो का निर्मल होना, निद्रा एव तद्रा का नाश, स्तब्ध सन्धियों का चेष्टायुक्त होना, स्वेद का साव, रोगहीनता, लघुता,

शीतल वस्तुओं के प्रति इच्छा प्रभृति लक्षण होते हैं। जब ये लक्षण उत्पन्न हो जाय तो स्वेदन बन्द कर देना चाहिए।

अयोग—मिथ्या या असम्बन्ध स्वेद में उनके विपरीत लक्षण पाये जाते हैं।

अतियोग—(Heat Exhaustion or Heat stroke) अत्यधिक मात्रा में स्वेदन होने से सवि शूल-विदाह (Nuitis) स्फोटोत्पत्ति (Rashes), पित्तरक्तकोष (Haemorrhage), सूच्छा (sycops), भ्रान्ति (Giddiness), दाह (Burning), पिपामा (Thirst), थकावट (Exhaustion), प्रभृति लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

पश्चात्कर्म—After Treatment

स्वेदन के अनन्तर अंगों का मर्दन करके उष्ण जल से स्नान करे। स्नेहन विधि में कथित नियमों का पालन करे। स्वेदन काल में पद्म उत्पल और पलाय पत्र के द्वारा या शीतल जल के द्वारा पात्र से अथवा कमल या मुक्ता की माला से हृदय और नेत्रों की हिफाजत करनी चाहिए।

वमन विरेचन (Emesis and Purgation)

प्रयोजन :—कोष्ठगत (Thorax and Abdoman) दोषों को निकालने में मुख्यतः वमन और विरेचन का प्रयोग होता है। इसलिए ऊर्ध्व भाग के दोष हरण को वमन और अधोभाग के दोष हरण को विरेचन कहते हैं। अथवा दोनों उपक्रम को ही शरीर के मलो के विरेचन करने के कारण विरेचन कह सकते हैं। सस्थान का प्रक्षालन (Flushing of system) इसका प्रधान उद्देश्य है। वमन आमाशय प्रभृति पचन मस्थान के उपरी भाग (Upper digestive tract) तथा श्वसन मार्ग तथा हृदयादि अंगों (Respiratory and cordial) की शुद्धि (Thoracis organs) करता है तथा विरेचन, पाचन-मस्थान, यकृत प्लीहा (Reticulo Endothelial System) तथा स्त्रियो में गर्भाशयादि की भी शुद्धि करता है।

द्रव्य-गुण (Properties)

वमन करने वाले द्रव्य प्रायः वायु एवं अग्नि गुण भूयिष्ठ अर्थात् तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्याधि, विकामी गुण होने वाले एवं सम्पूर्ण शरीर के दोषों के मंघात को विलीन (उष्ण होने से पिघला कर) करके, छिन्न करके (तीक्ष्ण होने की वजह से) कहीं पर बिना रुके ड़धर-उधर बहता हुआ (स्नेह के पूर्व प्रयोग से चिकने कोष्ठ में) संकीर्ण मार्गों से गुजरते हुए (अणु या सूक्ष्मता के कारण) आमाशय में दोषों को लाकर उदान वायु से प्रेरित होकर, प्रभाव से दोषों को निकाल देते हैं।

वत इसको वमन कहते हैं। इसके विपरीत जल और पृथ्वीतत्व की अधिकता से तथा अधोभाग पर प्रभाव करने के कारण जो द्रव्य अधोभाग से पछाने के रास्ते मलो को निकालते हैं, इसको विरेचन कहते हैं। कई बार दोनों गुणों से सम्पन्न औषधियाँ वमन और विरेचन भी कराने में समर्थ होती हैं।

द्रव्य (Drugs Emetics and Purgatives)

वमन के लिए प्रयुक्त होने वाली बहुत-सी काष्ठौषधियाँ हैं, उनमें प्रमुखतया मदनफल, जीमूतक (पीली तरोई), इक्ष्वाकु (कडवीलौकी), धामार्गव (कडुवी तरोई), कुटज, कृतवेधन प्रभृति औषधियों का उपयोग पाया जाता है। मदनफल को सर्वश्रेष्ठ वामक माना जाता है क्योंकि इससे हानि (Side effects) की संभावना अल्पतम रहती है।

विरेचन के द्रव्य में श्यामा, त्रिवृत् (निशोथ), आरग्वध, तित्त्वक (लोध्र), सुधा (सेंहुड), सप्तला, गखिनी, दन्ती और द्रवन्ती प्रभृति औषधियों प्रमुखतया व्यवहृत होती हैं। त्रिवृन्मूल को श्रेष्ठ विरेचन बतलाया गया है क्योंकि यह त्रिदोषघ्न और सभी रोगों का शामक होता है। सुधा (सेंहुड) को तीक्ष्णतम विरेचन बतलाया गया है।

वमन-क्रिया—वमन एक ऐसा जटिल कर्म (Complex Phenomena) है कि जिसके उत्पादन में शरीर के विभिन्न अंगों को एक साथ कार्य करना पड़ता है। सर्वप्रधान भाग मस्तिष्क-सेतु में स्थित केन्द्र-वमन केन्द्र (vomiting centre) करता है, जो विविध कारणों से उत्पन्न संवेदनाओं को सावेदनिक नाड़ी सूत्रों से ग्रहण करके एवं उत्तेजित होकर कार्य करने लगता है। मस्तिष्क सेतु स्थित यह वमन केन्द्र कई प्रकार से उत्तेजित हो सकता है, जैसे (१) साक्षात् (Direct) (क) मस्तिष्कगत, रक्त संचार में रक्ताल्पता प्रभृति कारणों से बाधा उत्पन्न होने से (ख) यान्त्रिक या रासायनिक पदार्थों की उत्तेजनाओं से जैसे—मस्तिष्कगत की अर्बुद-वृद्धि या उभार का (Pressure), मस्तिष्क सुषुम्ना शोथ, मूत्र-विषमयता आदि विकारों में।

२ अप्रत्यक्ष—(Indirect) शरीर की बाह्य उत्तेजनाओं से केन्द्र का उत्तेजित होना जैसे—विकृत स्वाद का द्रव्य, घृणा उत्पादक, द्रव्य या दृश्य, दुर्गन्ध, तीव्र पीडा (जैसे वृक्क शूल), कर्णान्ति भाग की बाधाएँ, समुद्र या आकाशमार्ग की यात्रायें कुछ विष तथा औषधियाँ।

वमन को उत्तेजित करने वाले द्रव्यों को वामक (Emetics) कहते हैं। वमन के साथ भिचली, लाला स्राव, पसीना, श्वसन मार्ग से स्रावों का निकलना, अन्न-नलिका से पानी का स्राव, तेजनाडी तथा अनियमित श्वसन प्रभृति

आयुर्वेद में कथित औषधियाँ जो विरेचन के नाम से व्यवहृत होती हैं उनमें कुछ तो दफने अशोषण के गुण के कारण, कुछ जल के शोषण को रोक कर, और कुछ आन्त्रों में क्षोभ पैदा करके तथा आन्त्र गति को बढ़ा कर रेचन के कार्य में सफल होती हैं ।

उपयोग-विधि या कल्प :—(Administration)

इन द्रव्यों को देह, दोष, दूष्य, प्रकृति, वय, बल, अग्नि, भक्ति, सात्म्य और रोग की अवस्था प्रभृति बातों को ध्यान में रखते हुए इनके गन्ध, वर्ण, रस-आस्वाद को नेवन को अनुकूल बनाते हुए अथवा विविध तद्गुण औषधियों के संयोग करते हुए—विविध कल्पों कल्पना या बनावटों (Preparations) में स्वरस, कल्क, कपाय, फाण्ट, चूर्ण जैसे बदर, पाडव, राग, लेह (चटनी), लड्डू उत्कारिका, तर्पण, पानक, पेय, शर्बत, मासरस (शोरवा), यूप आदि के रूप में प्रयोग करना चाहिए । दोषानुसार कई अनुपानों के साथ या स्वतन्त्रतया भी इनका उपयोग सम्भव है जैसे वात विकारों में तुषोदक-मैरेय-मेदक-धान्याम्ल (काजी), फलाम्ल (फलरस), दधि के अम्लो के साथ, पैत्तिक विकारों में मुनक्का, आँवला, मधु, मुलेठी, परूपक (फरहद), फाणित (राव) और दूध आदि के साथ श्लेष्मिक विकारों में मधु, गोमूत्र, कपाय प्रभृति द्रव्यों से प्रधान औषधि के ये सहायक मात्र होते हैं । इन उपायों से औषधि द्रव्य हृद्य और मनोज्ञ हो जाते हैं साथ ही अधिक गुणवान बन जाते हैं ।*

(१) संयोग (समान वीर्य द्रव्यों के मिलने से अथवा विपरीत-गुणधर्म की

* यद्धि येन प्रवानेन द्रव्यं समुपसृज्यते ।

तत्सज्जकं स योगो वै भवतीति विनिश्चयः ।

फलादीनां प्रधानानां गुणभूता सुरादयः ।

ते हितान्यनुवर्तन्ते मनुजेन्द्रमिवेतेरे ।

विरुद्धवीर्यमप्येषां प्रधानानामवाधकम् ।

अधिकं तुल्यवीर्यं हि क्रियासामर्थ्यमिष्यते ।

भूयश्चापि बलाधानं कार्यं स्वर्गसंभावनम् ।

सुभाषितं ह्याल्पमपि द्रव्यं स्याद्वहुकर्मकृत् ।

स्वरसैस्तुल्यवीर्यैर्वीर्यतस्माद्द्रव्याणि भावयेत् ।

अल्पस्यापि महार्थत्वं प्रभूतस्याल्पकर्मतम् ।

कुर्यात् संयोगविश्लेषकालसंस्कारयुक्तिभिः ।

लक्षण भी होते हैं। वमन की क्रिया में आमाशय का दृश्य द्वार खुल जाता है और ग्रहणो द्वार उदर की पंखियों तथा महा प्राचीरा के दबाव से संकुचित हो जाता है। इस प्रकार की गति का नामजस्य मस्तिष्क से तुल्य वामक केन्द्र के नियन्त्रण द्वारा होता है। वामक योग तीन बड़े वेगों में बाँटे जा सकते हैं।

(१) आमाशय के क्षोभक तथा स्थानिक अथवा परावर्तित क्रिया से उत्पन्न वमन-आमाशय में स्थित प्राणदा नाड़ी (vagus nerve ending) के अन्त पर क्षोभ पैदा करने वाले द्रव्यों में उम प्रकार का वमन होता है। ये द्रव्य आमाशय के ग्रहणी द्वार पर पहुँचने के अनन्तर वमन का कार्य प्रारम्भ करते हैं अतः इनकी क्रिया उत्तम तभी होती है जब इनके साथ बहुत बड़ी मात्रा में जल दिया जाय साथ ही आमाशय का पीड़न भी इन औषधियों के साथ आवश्यक होना है। इस प्रकार की क्रिया से युक्त वमन द्रव्यों को आमाशयिक वामक (Gastric Emetics) कहते हैं। इस प्रकार के क्षोभक द्रव्यों में यजद के लवण (Zinc sulphate), फिटकिरी, इपिकेकुवाना, नीसादर, तूतिया, इमली का अम्ल (Tartaric acid), नरसो, गरम जल, सेंधा नमक, नीम की पत्ती तथा विविध प्रकार के आमाशय क्षोभक विषों का समावेश है।

(२) केन्द्रीय वामक :—कुछ ऐसी भी औषधियाँ हैं जिनका गोपण होने के अनन्तर वमन का प्रभाव देखा जाता है जैसे हृत्पत्री (Digitalis), अहि-फेन, लोवेलिया ये द्रव्य केन्द्र को उत्तेजित करके वमन के लक्षण उत्पन्न करते हैं। आयुर्वेद ग्रंथों में व्यवहृत होने वाले वामक द्रव्य अधिकतर आमाशय में क्षोभ पैदा करके अथवा परावर्तित क्रिया के द्वारा वमन पैदा करने वाले हैं।

रेचन-क्रिया—आधुनिक दृष्टि से रेचन का कार्य औषधियों के द्वारा चार प्रकार से होता है। अंग्रेजी के रेचन शब्द के लिए कई पर्यायी शब्द व्यवहृत होते हैं। जैसे (Purgatives, Cathartics, Evacuants or Apurients) इनके कार्य निम्नलिखित प्रकार से होते हैं (१) न गोपण होने योग्य द्रव्यों का परिमाण बढ़ा कर (२) जल का गोपण रोक कर (३) क्षुद्र और बृहद् अन्त्रों को क्षुब्ध करके आन्त्र गति को बढ़ा कर (४) तथा सीधे नाड़ी नस्थान पर क्रिया करके। आन्त्र की गति बढ़ जाने में पानी जैसे पतले दस्त वेग से होने लगते हैं और पानी के गोपण कराने का मौका नहीं मिलता। बहुत-से चूर्ण केवल आन्त्र में अपने परिमाण के कारण आध्मान करके दस्त ले आते हैं। विरेचन के पूर्व आन्त्रों का स्नेहन (Lubrication) करने से रेचन बढ़िया होना है इसीलिए प्राचीनों ने रेचन के पूर्व स्वेदन का विधान किया है।

आयुर्वेद मे कथित औषधियाँ जो विरेचन के नाम से व्यवहृत होती हैं उनमे कुछ तो अपने अशोषण के गुण के कारण, कुछ जल के शोषण को रोक कर, और कुछ आन्त्रो मे क्षोभ पैदा करके तथा आन्त्र गति को बढा कर रेचन के कार्य मे सफल होती हैं ।

उपयोग-विधि या कल्प :—(Administration)

इन द्रव्यो को देह, दोष, दूष्य, प्रकृति, वय, बल, अग्नि, भक्ति, सात्म्य और रोग की अवस्था प्रभृति बातो को ध्यान मे रखते हुए इनके गन्ध, वर्ण, रस-आस्वाद को नेवन को अनुकूल बनाते हुए अथवा विविध तद्गुण औषधियो के संयोग करते हुए—विविध कल्पों कल्पना या बनावटो (Preparations) मे स्वरस, कल्क, कपाय, फाण्ट, चूर्ण जैसे बदर, पाडव, राग, लेह (चटनी), लड्डू उत्कारिका, तर्पण, पानक, पेय, शर्वत, मासरस (शोरवा), यूप आदि के रूप मे प्रयोग करना चाहिए । दोपानुसार कई अनुपानो के साथ या स्वतन्त्रतया भी इनका उपयोग सम्भव है जैसे वात विकारो मे तुषोदक-मैरेय-मेदक-धान्याम्ल (काजी), फलाम्ल (फलरस), दधि के अम्लो के साथ, पैत्तिक विकारो मे मुनक्का, आँवला, मधु, मुलेठी, परूपक (फरहद), फाणित (राव) और दूध आदि के साथ श्लैष्मिक विकारो मे मधु, गोमूत्र, कपाय प्रभृति द्रव्यो से प्रधान औषधि के ये सहायक मात्र होते हैं । इन उपायो से औषधि द्रव्य हृद्य और मनोज हो जाते हैं साथ ही अधिक गुणवान बन जाते हैं ।*

(१) संयोग (ममान वीर्य द्रव्यो के मिलने से अथवा विपरीत-गुणधर्म की

* यद्धि येन प्रधानेन द्रव्य समुपसृज्यते ।
तत्संज्ञक संयोगो वै भवतीति विनिश्चय ।
फलादीना प्रधानाना गुणभूता सुरादय ।
ते हितान्यनुवर्तन्ते मनुजेन्द्रमिवेतरे ।
विरुद्धवीर्यमप्येषा प्रधानानामबाधकम् ।
अविक तुल्यवीर्ये हि क्रियासामर्थ्यमिव्यते ।
भूयश्चैषा बलाधान कार्यं स्वर्गसंभावनै ।
सुभावित ह्यल्पमपि द्रव्य स्याद्वहुकर्मकृत् ।
स्वरसैस्तुल्यवीर्यैर्वा तस्माद्द्रव्याणि भावयेत् ।
अल्पस्यापि महार्थत्वं प्रभूतस्याल्पकर्मतम् ।
कुर्यात् संयोगविश्लेषकालसंस्कारयुक्तिभि ।

औषधियों के संयोग में), विरलेप (विरुद्ध वीर्य द्रव्यों को निकाल देने से अथवा समान वीर्य द्रव्यों के निकाल देने से), काल (समान या असमान होने से), मस्कार (समान या असमान गुण धर्म वाले संस्कारों में) तथा युक्ति (प्रयोग की चातुरी के ऊपर अल्प गुण की औषधियों से बड़ा काम और बड़ी गुण वाली औषधियों से भी छोटा काम लिया जा सकता है । उदाहरण के लिए मम्यक् प्रकार में स्निग्ध रोगी में अल्प वीर्य वाली औषधि से भी किया गया गोधन बहुत मात्रा में दोषों को निकाल सकता है । इसके विपरीत अस्निग्ध व्यक्तियों में तीव्र वीर्य की औषधि के उपयोग से भी अल्प कार्य का या सर्वथा कार्य-हीनता देखी जाती है । मक्षेप में (१) संयोग (Addition) (२) विरलेप (Subtraction) (३) काल (Time) (४) संस्कार (Reactions) तथा (५) युक्ति (gudicial use) के ऊपर गोधन के लिए प्रयुक्त औषधियों के कार्य (Action) भिन्न-भिन्न स्वरूप के हो सकते हैं ।

(२) जिस प्रधान द्रव्य (Main Ingredients) के साथ दूसरे द्रव्य मिलते हैं, वे प्रधान के अनुसार ही कार्य करते हैं । उम योग का नाम भी उम प्रधान औषधि द्रव्य के अनुरूप ही होना चाहिए । जैसे लगुनादि बटी, कृष्णबीजादि चूर्ण आदि । प्रधान द्रव्य की उपमा राजा से दी सकती है जैसे, किसी राज्य में राजा प्रधान होता है और राजा का अनुसरण उसकी प्रजा करती है । उसी प्रकार प्रधान द्रव्य योग में राजा का स्थान प्राप्त किए रहता है । उसके साथ कुछ विरुद्ध वीर्य की भी औषधियाँ मिल जायें तो वे भी प्रधान की क्रिया में बाधा नहीं पहुँचाती तथापि समान या तुल्य वीर्य औषधियों में वना योग श्रेष्ठ होता है और उसमें कार्य करने की क्षमता भी अत्यधिक होती है ।

(३) तुल्य वीर्य (Equal Properties) के द्रव्यों के योग तथा तुल्य वीर्य स्वरसों की भावना से योग अधिक बलवान हो जाता है । किसी विशेष औषधि का गुण बढ़ाना हो तो उसी औषधि के स्वरस से भावना दे दी जाय तो वह अधिक शक्तिशाली और कार्यकर हो जाती है । उदाहरण के लिए आंवले या लोह्र के चूर्ण में यदि आंवले या लोह्र के स्वरस की भावना दे दी जाय तो वह अधिक वीर्यवान (Increased properties and Potency) का हो जाता है । थोड़ी मात्रा में इसका प्रयोग अधिक कार्यकर हो जाता है । इसलिए सदैव तुल्यवीर्य स्वरसों की ही भावना देनी चाहिए । जैसे लोह्र जो म्वयं रेचक है, उममें स्नुही क्षीर की भावना ।

(४) ऊपर लिखे वमन एवं विरेचन के कृप तीन प्रकार के हो सकते

है। तीक्ष्ण, मध्य और मृदु। रोगी तथा रोग के तीन प्रकार के उत्तम, मध्यम, हीनादि का विचार करते हुए यथाक्रम इन योगो का इस्तेमाल करना चाहिए।*

तीक्ष्ण (Drastic)—स्निग्ध और स्विन्न (स्वेदन किए) व्यक्तियों में सुखपूर्वक वेग के साथ शीघ्रता से जो वेगो को निकाले, साथ ही गुदा और हृदय में वेदना न पैदा करे तथा अन्त्रों में किसी प्रकार की हानि न पैदा करे तो उसे तीक्ष्ण वीर्य का विरेचन कहते हैं। इनसे कुछ हीन गुण का विरेचन मध्यम (Mild) कहलाता है। इसके द्वारा विशोधन न बहुत तेज और न बहुत हल्का, मध्यम दर्जे का होता है। यदि औषधि का वीर्य मन्द हो (Low Potency) अन्तर्मान वीर्य औषधियों के संयोग से बनी हो, कम मात्रा में दी गई हो अथवा रोगी का स्नेहन-स्वेदन भी न हो सका हो तो वह मृदु प्रकार (Laxative) का शोधन होता है। इनके द्वारा मन्द वेग का शोधन होता है।

वमन विधि (Method of induction of Emesis)

तीक्ष्ण अग्नि वाले, बलवान्, बहुत दोष युक्त, महान् रोग से पीडित तथा वमन जिसे सात्त्विक हो, इस प्रकार के रोगी को लेना चाहिए। उसका स्नेहन तथा स्वेदन करावे। इन क्रियाओं से दोषों के शिथिल हो जाने पर उसे कफवर्धक अभिष्यन्दी भोजन दे। जैसे ग्राम्य, औदक तथा आनूप मासरस या दूध। इससे रोगी का कफ बढ़ जाता है। उसे उत्क्लेश होने लगता है। जिससे वामक औषधियों के पीने से वमन सुखपूर्वक होने लगता है।

दूसरे दिन प्रातः काल (पूर्वाह्ण) में साधारण काल में जब न अधिक ठण्डा हो न गर्म हो, रोगी के कोष्ठ विचार करते हुए, जो ठीक हो उस मात्रा में वामक द्रव्य का प्रयोग कपाय, कल्क, चूर्ण अथवा स्नेह के किसी एक रूप में

* बलवैविध्यमालक्ष्य दोषाणामातुरस्य च ।

पुनः प्रदद्याद् भैषज्य सर्वशो वा विवर्जयेत् ।

तीक्ष्णो मध्यो मृदुर्व्याधिः सर्वमव्याल्लक्षणः ।

तीक्ष्णादीनि बलावेक्षी भेषजान्येषु योजयेत् ॥

सुखं क्षिप्रं महावेगमसक्तं यत् प्रवर्तते ।

नातिग्लानिकरं पायी हृदये न च रुक्करम् ।

अन्तराशयमक्षिपन् कृत्स्नं दोषं निरस्यति ।

विरेचनं निरुहो वा तत्तीक्ष्णमिति निर्दिशेत् ॥

किञ्चिदेभिर्गुणैर्हीनं पूर्वोक्तैर्मन्त्रिया तथा ।

स्निग्धस्विन्नस्य वा सम्यङ् मध्यं भवति भेषजम् ।

मन्दवीर्यं विरुक्षस्य हीनमात्रं तु भेषजम् ।

अतुल्यवीर्यं संयुक्तं मृदु स्यान्मन्दवेगवत् ॥

(च क १२)

पिलावे । वमन के लिए व्यवहृत होने वाले रोगी में यह ध्यान रखना चाहिए वह अप्रिय, घृणोत्पादक, बीभत्स और दुर्गन्ध वाले हो । विरेचन द्रव्य ठीक उनके विपरीत प्रिय, सुन्दर और सुगन्ध वाले होने चाहिए ।

वमन से ठीक होने वाले व्यक्तियों में औषधि को अतिमाना में पिलाना चाहिए । अर्थात् कठ पर्यन्त पिलाना चाहिए । यदि रोगी व्यक्ति सुकुमार, कृश, बालक, वृद्ध या डरपोक हो तो उसके लिए दूध, दही, तक्र, यवागू पहले पेट भर कठ पर्यन्त पिला देना चाहिए । रोगानुसार भी वामक द्रव्य बदले जाते हैं जैसे कई बार गर्म जल में नमक छोड़कर आकठ पिलाना, कई बार मरसो और नीम की पत्ती खीला कर आकठ पिलाना भी वमन को उत्तेजित करता है । इस प्रकार के वामक द्रव्यों को कोमल अथवा सुकुमार रोगियों को पहले दूध, दही, तक्र आदि को आकठ पिला कर वमन कराना चाहिए ।

औषधियों के पी चुकने के बाद आग के सामने बैठकर अग्नि को तापते हुए कुछ देर तक दो घड़ी या एक मुहूर्त तक प्रतीक्षा करे । अग्नि मंताप से क्षीम बढ़ता है, पसीना उत्पन्न होता है । दोप ढीले हो जाते हैं और अपने स्थान से चलायमान हो कर आमाशय की ओर आ जाते हैं । जी मचलाना प्रारम्भ हो जाता है । मिचली के कारण रोगी को घुटने के बल बैठ कर रखे । विश्वस्त परिचारको से उसका माथा, पीठ, पार्श्व और गले को स्थिर करा ले । पश्चात् अंगुलि से, कमल नाल से या एरण्ड की नली में गले के भीतर ले जाकर स्पर्श करते हुए वमन करावे । वमन तब तक करावे जब तक पूर्ण वमन के लक्षण न उत्पन्न हो जायें ।

वमन में सर्वप्रथम प्रसेक, पश्चात् औषधि, तदनन्तर कफ पुनः पित्त और अन्त में वायु क्रमशः एक के बाद एक निकलता है ।

यह वमन की प्रक्रिया आज के युग में विप की चिकित्सा में व्यवहृत होने वाले आमाशय-प्रक्षालन (Stomach-Wash) से बहुत सादृश्य रखता है । इसमें एक खर की नलिका को मुखमार्ग से गले के द्वारा आमाशय में प्रवेश कराके उसी में लगे चोगे से यथावश्यक जल या औषधि द्रव्यका द्रवभर दिया जाता है और चोगे को पुनः उलट कर उसके द्वारा आमाशय का प्रक्षालन किया जाता है । आवश्यकतानुसार जितनी मात्रा में या जितनी बार चाहे आमाशय का प्रक्षालन किया जा सकता है । वमन के कार्यों में इसका प्रयोग भी विचार्य है । पश्चात् कर्म —

जब सम्यक् वमन हो जाय तो रोगी को धूम पान कराना चाहिए । ये धूम तीन प्रकार के होते हैं (१) शमन (२) विरेचन (३) स्नेहन । इनमें से किसी

एक को मामर्त्य के अनुसार पिलाना चाहिए। पश्चात् रोगी को आचार सम्बन्धी नियमों के आदेन कराके विश्राम देना चाहिए।

विरेचन विधि (Method of Induction of Purgations)-
शोधन तार्यों (Flushing of the system) में स्नेहन, स्वेदन और वमन के अनन्तर ही विरेचन देना चाहिए। बिना वमन कराए पुरुष में सम्यक् विरेचन होने पर भी नीचे को प्रेरित हुआ कफ गहणी को टक लेता है। जिससे उदर के अधो भाग में गुप्ता या ज्वचित् प्रवाहिका उत्पन्न हो जाती है।

यदि कल विरेचन कराना हो तो पूर्वाह्न में लघु भोजन करा दे, फल रस और उष्ण जल पीने को दे, भोजन में जागल, मामरस, स्निग्ध यूप, जिससे कफ अधिक न होने पाये। दूसरे दिन कफ धातु के नष्ट हो जाने पर रोगी की परीक्षा करके कोष्ठ के अनुसार उसे विरेचन की औषधियाँ मात्रा से पीने को दे।

कोष्ठ तीन प्रकार के मृदु, मध्य एवं तीव्र होते हैं। अधिक पित्त वाला कोष्ठ मृदु होता है उसमें दूध से विरेचन होता है। वात और कफ की अधिकता से कोष्ठ क्रूर होता है, इन प्रकार के कोष्ठों में विरेचन कठिनाई से होता है। दोनों के मध्य की अवस्था मध्यम कोष्ठ की होती है। इसी को साधारण प्रकार का कोष्ठ कहते हैं। मृदु कोष्ठ में मृदु, मध्य में मध्य और क्रूर में तीव्र विरेचन दे। विरेचन कर्म से क्रमशः मूत्र, पुरीष, पित्त, औषधि, एवं कफ एकैकश निर्गत होता है। विरेचन औषधियों के चयन में यह ध्यान में रखना चाहिए कि स्निग्ध शरीर में रुद्ध विरेचन और रुद्ध में स्निग्ध विरेचन देना उचित रहता है।

पश्चात् कर्म—

विरेचन औषधि के पीने के बाद औषधि में मन लगा कर विस्तर के समीप ही बैठे। वेग को न रोके। वायु रहित स्थान में रहे। ठण्डे पानी का स्पर्श न करे। ज्वरदस्ती प्रवाहण भी न करे।

शोधन की मात्रा—

वमन, विरेचन प्रभृति कार्यों से तीन प्रकार का शोधन होता है। हीन, मध्य, एवं प्रवर। इसका विचार चार दृष्टिकोण से किया जाता है—

- (१) आन्तिकी—(अन्तकी दृष्टि से)।
- (२) वैगिकी—(वेग की मर्यादा की दृष्टि से)।
- (३) मानिकी—(परिमाण की दृष्टि से)।
- (४) लैङ्गिकी—(लक्षणों की दृष्टि से)।

जैसा कि नीचे के कोष्ठक में स्पष्ट किया गया है :—

कर्म	आतंकी	वैगिकी	मानिकी	लैङ्गिकी
वमन	पित्तान्त	जघन्य ४	जघन्य १ प्रस्थ	हृदय, पाण्डू, मूर्धा, उन्त्रिय और श्रोतों की शुद्धि और शरीर की लघुता ।
		मध्य ६	मध्य १.५ प्रस्थ	
		प्रवर ८	प्रवर २ प्रस्थ	
विरेचन	कफान्त	जघन्य १०	जघन्य २ प्रस्थ	श्रोतसों की विशुद्धि उन्त्रियों की प्रगन्ता, इन्कापन उन्त्रियों की प्रगन्ता, स्वास्थ्य अनुभव करना ।
		मध्य २०	मध्य ३ प्रस्थ	
		प्रवर ३०	प्रवर ४ प्रस्थ	

नोट—वमन, विरेचन तथा शोणित मोक्षण क्रम में प्रस्थका १३॥ पल का होता है । उक्ति भी मिलती है

वमने च विरेके च तथा शोणित मोक्षणे ।

सार्द्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ।

योगायोग के लक्षण :—

सम्यक् योग—ऊपर के कोष्ठक में लैङ्गिकी शुद्धि के कोष्ठ में कथित लक्षण वमन अथवा विरेचन के ठीक प्रयोग होने पर मिलते हैं ।

दुश्छर्दित के लक्षण (Low dosage of Emetics):—

हृदय और श्रोतसों की विशुद्धि नहीं हो पाती, शरीर में गुम्ता आ जाती है स्फोट, कोष्ठ, शीत-पित्त आदि शरीर पर निकलने लगते हैं । शरीर में खुजली होने लगती है ।

दुर्विरिक्त के लक्षण (Low dosage of Purgation):—

त्रिदोषों का कुपित होना, अग्निमान्द्य, गौरव (भारीपन), प्रतिश्याय, तन्द्रा, वमन, अरुचि तथा वायु का अनुलोमन न होना प्रभृति चिह्न मिलते हैं ।

अतिवमित के लक्षण (Over dosage of Vomiting):—

तृषा, मोह, मूर्च्छा, वायुकोप, निद्रा, वल की हानि । इस अवस्था में स्तम्भन को देकर वमन बंद कराना चाहिए । पित्तघ्न त्वाटु एव शीत वीर्यऔषधियों का प्रयोग करना चाहिए ।

अतिविरिक्त के लक्षण (Over dosage of Purgatives):—

कफ, रक्त, पित्त, क्षय, वायु के रोग, अंगमर्द, अगो की सुप्ति (सुन्नता), थकावट, वेदना, कम्प, निद्रा की अधिकता, बेहोशी, उन्माद, गुदभ्रश और हिवका आदि लक्षण मिलते हैं ।

व्यापद् चिकित्सा (Complications and Treatment) :—

अयोगः—यदि ठीक प्रकार का शोधन (वचन, विरेचन) न हो पाया हो, तो रोग और रोगी के तीन प्रकार के बलों का विचार करते हुए पुनः औषधि की मात्रा पिलावे । यदि विशोधन के लिए दी गई दवा निकल आई हो, न पच पाई हो या पच गई हो और दोषों का निर्हरण करना आवश्यक हो तो पुनः वही या दूसरी दवा को पिलाना चाहिए । यदि वमन, विरेचन के द्वारा शोधन सतोषजनक नहीं हुआ हो तो शेष दोषों का यमन विविध भोजन और पेय द्रव्यों के द्वारा करना चाहिए । यदि रोगी दुर्बल हो या उसके दोष दुर्बल हो या पूर्व में शोधन हो चुका हो और जिसका कोष्ठ ज्ञात न हो ऐसे व्यक्ति को मृदु औषधि ही पिलानी चाहिए । यदि रोगी दुबल परन्तु उसके दोष अति बलवान हो तो उसमें भी मृदु औषधियों का बार-बार प्रयोग करके शोधन कराना चाहिए । क्योंकि तीक्ष्ण शोधन से प्राण जाने का भय रहता है । यदि औषधि दोषों से रुद्ध हो जाय न ऊपर से निकले न नीचे से, साथ ही रोगी में अगमर्द और ठकार आने लगे तो गर्म जल पीने को दे और स्वेदन करे । कई बार प्रातःकाल में पिलाई दवा श्लेष्मा से रुद्ध होकर उरस्थल पर पड़ी रहती है और उस समय शोधन नहीं हो पाता पुनः कफ के क्षीण होने पर सायंकाल में रात्रि में शोधन होता है ।

अतः इस बात का ध्यान रखते हुए प्रतीक्षा करनी चाहिए । विरेचन के लिए दी हुई औषधि का ऊर्ध्वगमन हो या जीर्ण हो गयी हो तो लवणयुक्त स्नेह देकर वातानुलोमन करे । यदि किसी शोधन के प्रयोग से लालास्राव, हृल्लास, विष्टम्भ, लोमहर्ष होने लगे तो औषधि कफ से आवृत हो गई है ऐसा समझ कर उसके लिए तीक्ष्ण, उष्ण, कटु प्रभृति, कफघ्न उपचार करना चाहिए । यदि क्रूर कोष्ठ रोगी हो और उसका स्नेदन भलीभाँति हो गया हो तो बिना विरेचन औषधि के प्रयोग के ही उसे लघन करा देना चाहिए । इससे उसके स्नेहसमुत्थ श्लेष्मा का नाश हो जाता है ।

जो व्यक्ति रुक्ष शरीर वाले बहुत वायु युक्त, क्रूर कोष्ठ (Contispated Bowels) दीप्ताग्नि वाले होते हैं । उनमें रेचक औषधियाँ बिना किसी प्रकार की क्रिया के ही पच जाया करती हैं । इसमें यदि विरेचन कराना हो तो प्रथम वस्ति देकर पश्चात् विरेचन देना चाहिए । वस्ति से प्रवर्तित दोषों को विरेचन के द्वारा शीघ्र हरण करना संभव रहता है ।

रुक्ष भोजन करने वाले, नित्य परिश्रम करने वाले एवं दीप्त अग्नि वाले अशक्तियों के दोष अपने आप ही प्राकृतिक-कर्म, वात, आप, अग्नि से नष्ट हो

जाया करते हैं। ऐसे व्यक्तियों में विरोधी भोजन, अध्ययन एवं शरीरार्जस्य उत्पन्न दोषों के सहन की शक्ति आ जाती है। फलतः इनमें नवजन्म रोग नहीं होते। इनको स्वस्थ अवस्था में विद्योघन की कभी आवश्यकता नहीं पड़ती। उनका मदैव स्नेहन करना चाहिए एवं वायु में रक्षा करना चाहिए। बिना व्याधि के उनका विद्योघन न करे। अर्थात् रोग की अवस्था में यदि उनके विद्योघन का विधान हो तभी करना चाहिए अन्यथा नहीं।

देश, काल का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त विधियों का अनुमरण करते हुए यन्त्र-पूर्वक विरेचनों का प्रयोग करने में कोई दोष नहीं होता। परन्तु विपरीत क्रमों पर चलने से रोगी के ऊपर विपरीत प्रभाव होता है।

अवाम्य रोगी (Contraindications of Emesis) —

क्षतक्षीण, अतिस्थूल, अतिकृम, बाल, वृद्ध, दुर्बल, श्रान्त, पिपासित, क्षुब्धित, कर्मभाराध्ववहन-कपित, उपवाम, मैथुन, अध्ययन, व्यायाम, चिन्ता प्रसक्त, शोभ युक्त गर्भ, मुकुमार, सबृतकोष्ठदुर्लभ्य, ऊर्ध्वरक्त पित्त, प्रसक्त छर्दि, ऊर्ध्ववात स्थापित, अनुवासित, हृद्रोग, उदावर्त, मूत्रा-घात, प्लीह, गुल्म, उदर रोग, अष्टीला, स्वरूपघात, तिमिर, शिर, कर्ण, नेत्र एवं पाण्डु रोग से पीडित व्यक्ति में वमन न करावे।

वमन के योग्य रोगी (Indication of Emesis):—जैव रोगियों में वमन करावे। जैसे विषेपत पीनस, दुग्ध, नवज्वर, राजयदमा, काम, श्वाम, गलग्रह, गलगण्ड, श्लेष्म, मेह, मन्दाग्नि, निरुद्धान्त्र, अजीर्ण, विमूचिका, अलसक, विषपीत, गरपीत, विषदष्ट, विषविद्ध, विषदिग्ध, अधोग रक्तपित्त, प्रमेक, अर्ण, हृल्लास, अरोचक, अविपाक, अपची, अपस्मार, उन्माद, अतिमार, शोक, पाण्डु रोग, मुखपाक, दुष्ट स्तन्य, कफजरोर। इन रोगों में वमन एक प्रधान और उत्तम कार्य है। जैसे कि क्यारी के बाँध के टूट जाने पर धान्य में अत्यधिक पड़ा हुआ जल निकाल कर अन्न को मुखा देता है। इसी प्रकार इन रोगियों में वमन शरीर के दोषों को निकाल कर रोग को मुखा देता है।

विरेच्य रोगी— (Indication of Purgations)

कुष्ठ, मेह, ज्वर, ऊर्ध्वरक्त-पित्त, भगंदर, उदर रोग, अर्ण, ब्रध्न, प्लीह, गुल्म, अर्बुद, गलगण्ड, ग्रन्थि, विमूचिका, अलसक, मूत्राघात, कृमि कोष्ठ, विमर्ष, पाण्डुरोग, शिर गूल, पाण्डुगूल, उदावर्त, नेत्रदाह, आस्यदाह, हृद्रोग, व्यग, नीलिका, नेत्र रोग, नासारोग, मुखरोग, कर्णरोग, हलीमक, श्वाम, कास, कामला अपची, अपस्मार, उन्माद, वातरक्त, योनिदोष, रेतोदोष, तिमिर, अरोचक, अविपाक, छर्दि, गोथोदर, विस्फोट, आदि पित्त दोष समुत्पन्न रोग। अग्नि के

बुझाने से जैसे अग्निगृह शीतल हो जाता है । उसी प्रकार पित्त के विरेचन से पुरुष-शरीर को शान्ति का अनुभव होता है ।

अविरेच्य (Contra-indication of Purgation) —

सुमार, गुदक्षत, मुक्तनाल, अधोग रक्तपित्त, दुर्बलेन्द्रिय, अल्पाग्नि, निरुद्ध (जिनका आस्थापन हो चुका है), श्रमादि से व्यग्र, अजीर्ण, नवज्वर, मदात्यय, अति आध्मान, जल्य से पोडित, अभिहत, अतिस्निग्ध, अतिरूक्ष, क्रूरकोष्ठ, क्षतादि तथा गर्भिणी में विरेचन नहीं करना चाहिए ।

वमन कर्म में प्रयुक्त होने वाले प्रधान भेषज-मदनफल, मधुयष्टि, नीम की पत्ती, जीमूत, पटोल, कृतवेधन (कड़वी तरौई की जानिया), पिप्पली, कुटज, इक्ष्वाकु, एला, धामार्गव ।^१

विरेचन कर्म में प्रयुक्त होने वाले प्रधान भेषज-त्रिवृत—(काली निशोथ), त्रिफला, दन्ती, नीलिनी, सप्तला (सेहुड की जाति का क्षीर), वचा, काम्पिल्लक (कवीला), गवाक्षी, क्षीरिणी (दूधिया), निचुल (हिज्जल), उदकीर्या पीलु आरग्वध (अमलताश), द्राक्षा, द्रवन्ति (दन्तीभेद)^२

(इन वामक एवं विरेचक औषधियों के विस्तार के लिये चरक विमानस्थान का आठवाँ अध्याय द्रष्टव्य है ।)



द्वितीय अध्याय

वरित तथा वस्ति कर्म (Clysters or Enema & its Application) निरुक्ति :—

पंच कर्मों में एक अन्यतम महत्त्व का कर्म वस्ति कर्म है । वस्ति के द्वारा अनेक कार्यों का सम्पादन होता है । आयुर्वेद ग्रंथों में वस्ति कर्म की बहुत प्रशंसा पाई जाती है । “वस्ति कर्म में प्रयुक्त होने वाले द्रव का निर्माण नाना प्रकार के औषधि-द्रव्यों के संयोग से किया जाता है फलतः उन उन औषधियों के प्रभाव से वस्ति के द्वारा सशोधन, संशमन तथा सग्रहण यथोचित मात्रा में करना सम्भव रहता है ।

वस्ति क्षीणशुक्र को शुक्रवान बनाती है । दुर्बल को बलवान करती है, स्थूल को कृश करती है । आँखों को तेजस्वी करती है, शूरियों का पडना, पलित (केशो

१ उपस्थिते श्लेष्मपित्ते व्याधावामाशयाश्रये । वमनार्थं प्रयुञ्जीत भिषग्देहमदूपयन् ॥

२ पक्वाशयगते दोषे विरेकार्थं प्रयोजयेत् । (चरक सूत्र २)

का पकना) को दूर करती है। वायु को गिरा करती है। भली प्रकार से उपयोग में लाई गई वस्ति शरीर की पृष्ठ, वल, वर्ण और आयु को बढ़ाती है।

वस्ति का उपयोग वात में, पित्त में, कफ में, रक्त में, दोषों के संमर्ग में तथा दोषों के सन्निपात में सदैव हितावह होता है। महर्षि भरुग ने लिखा है "गंगा-कोष्ठगत, मर्मगत, ऊर्ध्वजनुगत, एकाङ्गगत, अर्धाङ्गगत, अथवा सम्पूर्णगत जो भी कोई रोग उत्पन्न होता है उसकी उत्पत्ति में वायु के मित्रा और शत्रु दूसरा मुख्य कारण नहीं है। यह वायु ही कफ-पित्त-पुरीष-मूत्र-स्वेद आदि सबों का संचय नाश एवं बाहर फेंकने वाली है। इस वायु की वस्ति के अनिरिक्त कोई दूसरी दवा नहीं है। अतः चिकित्सा का आधा भाग वस्ति ही है। और कई व्यक्तियों के विचार में तो वस्ति ही सम्पूर्ण चिकित्सा है।"

रोगोत्पादन तथा शरीर के धारण दोनों ही कार्यों में वायु की मुख्यता है। रोगोत्पत्ति में वायु दोष की प्रधानता प्रसिद्ध है ही।

"पित्त पगु कफ. पगु पगवो मलघानत्र, वायुना यत्र नीयन्ते तत्र भञ्छन्ति मेघवत् ॥"

अर्थात् पित्त और कफ दोष तो पगु हैं अर्थात् स्वयं गमनशील नहीं हैं उनमें चलने की शक्ति तो वायु की सहायता से ही जाती है। पित्त और कफ की उपमा बादलों से दी गई है और वायु की हवा में। हवा जहाँ चाहे ले जाकर पानी बरसा दे। वायु, कफ और पित्त की वृद्धि और स्थानान्तरण कराके जहाँ चाहे रोग पैदा करदे।

स्वस्थ शरीर में भी वायु को "यन्त्रतंत्रधर" सम्पूर्ण शरीर और मन का अविपत्ति और संचालन के रूप में स्वीकार किया गया है। वह शरीर का धारक है। इसके विकृत होने पर शरीर का धारण सम्भव नहीं रहता है। इस वायु का

१ वस्तिर्वयं स्वापविता मुवायुर्वलान्निमेधास्त्ररवर्णकुञ्च ।

सर्वार्यकारी शिगुवृद्धयूना निरत्यय सर्वगदापहृञ्च ॥

शाखागता कोष्ठगताञ्च रोगा मर्मोर्ध्वमर्वाविषवाङ्गजाश्च ।

ये सन्ति तेषा नहि कञ्चिदन्यो वायो परं जन्मनि हेतुरस्मि ।

विषमूत्रपित्तादिमलाशयाना विक्षेपमघातकरञ्च यस्मात् ॥

तस्यानिवृद्धस्य समाय नान्यद् वस्ति विना भेषजमस्ति किञ्चित् ।

तस्माच्चिकित्सावर्मिति श्रुवन्ति सर्वा चिकित्सामपि वस्तिमेके ॥

मूलं गुदं शरीरस्य सिरान्तत्र प्रतिष्ठिता । (च सि १)

सर्वं शरीरं पृणन्ति मूर्धनि वावदायिता ॥ परागरे-चक्रपाणि टीका ।

प्रकृतिस्य रखना भी वस्ति मे सम्भव है । अतः स्वस्थ वृत्त की दृष्टि से भी वस्ति का महत्त्व कम नहीं है ।

शल्य तन्त्र मे रक्तविस्त्रावण या शिरावेध का जो महत्त्व है काय-चिकित्सा मे उसी तरह का स्थान इन वस्तियों का है । शल्य तन्त्र मे भी सिरा वेध आदि का विधान है “रक्त के निकल जाने से सम्पूर्ण विष का निर्हरण हो जाता है” विष की निवृत्ति मे जितने भी कर्म बतलाए गए हैं, वे सभी एक तरफ एवं रक्त-मोक्षण अकेले ही दूसरी तरफ खड़ा हो सकता है ।

“शिराव्यधश्चिकित्सार्द्धशल्यतन्त्रे प्रकीर्तितम् । यथा प्रणिहित सम्यक् वस्ति-कायचिकित्सते । (सु)

प्रयोजन :—

वस्ति का उपयोग तीन प्रकार के कार्यों मे होता है :—

(१) पच कर्म मे (शोधन मे) ।

(२) अनागत रोगो के प्रतिषेध (स्वास्थ्य रक्षण या रोग निवारण Profilaxis) मे

(३) रोगो की चिकित्सा मे (Curative) ।

वय (Age) —

सभी उम्र के रोगियों मे वस्ति का उपयोग पथ्य है । इसका प्रयोग शिशु, वृद्ध, युवक मे किया जा सकता है । वमन तथा विरेचन का बालक तथा वृद्ध मे निषेध है वहाँ पर भी वस्ति का प्रयोग लाभप्रद होता है । वस्ति को सर्वरोग-हर कहा है । वस्ति को सर्वरोगहर कहने का तात्पर्य यह है कि वस्ति के द्वारा दोषो का सशोधन हो जाता है और वह सशोधन के द्वारा सभी रोगो मे लाभ पहुँचाती है । ठीक ढंग से प्रयोग मे लाई गई वस्ति के द्वारा कोई भी हानि नहीं होती । वस्ति आयु को स्वस्थ करती है तथा सुख, आयु, बल, अग्नि, मेधा, स्वर और वर्ण को बढ़ाती है । वस्ति के दो प्रधान भेद होते हैं । यथा १ रुक्ष वस्ति तथा २ स्निग्ध वस्ति ।

रुक्ष वस्तियों के द्वारा दोषो का सशोधन तथा सशमन और स्निग्ध या तैल वस्तियों के द्वारा स्नेहन, वीर्य तथा बल की पुष्टि होती है । वायु का कोप दो ही प्रकार से हो सकता है ।

“वायोर्धातो क्षयात्क्रोपो मागस्यावरणेनवा” इनमे मार्गावरण का दूरीकरण रुक्ष वस्तियों से और धातु क्षय का पूरण स्निग्ध वस्तियों के द्वारा होता है । इसलिए वस्ति को परम वायुशामक माना गया है स्निग्ध वस्तियों का वर्णन करते हुए आचार्यों ने लिखा है जैसे कि पेड़ की जड़मे जल डालने से जिस प्रकार वह पुष्पित

और पल्लवित हो जाता है उसी प्रकार से ठीक समय से गुदा के द्वारा दी गई अनुवामन वस्ति के द्वारा भी शरीर बलवान् बनता है इतना ही नहीं, वायु के कारण स्तब्ध (सकुचित) हुये अगो मे, भग्न मे पीडित रोगियो मे, गाखागत् वात रोगो मे, आध्मान प्रभृति उदर रोगो मे, बार-बार होने वाले गर्भ स्त्रियों मे क्षीण इन्द्रिय के पुरुषो मे कृश तथा दुर्बलो मे भी वस्ति कर्म प्रगट्न रहता है ।

वस्ति का प्रयोग आवश्यकतानुसार रोगी की दशा, देश और काल का विचार करते हुए करना चाहिए । यदि रोगी उष्णता से पीडित हो तो उनमे शीतल वस्तियों का प्रयोग उचित होता है । यदि रोगी मे जोधन अपथिन हो ना हृक्ष या निरुह वस्तियों का उपयोग करे तथा वृंहण की आवश्यकता होने पर स्निग्ध वस्तियों का उपयोग उचित है । इस नियम के विपरीत जोधन के योग्य रोगी में वृंहण या वृंहण के योग्य रोगी मे जोधन कदापि नहीं करना चाहिए । यदि रोगी क्षत-क्षीण से युक्त अर्थात् क्षयी या गोपी (T B) हो उनमे विजोघन न करे । ठीक इसके विपरीत कुछ प्रमेह, प्रभृति अन्य जोधनीय रोगो से पीडित मनुष्यों मे वृंहण न करे क्योंकि ये रोगी मदा ही संजोघन के लिए माने जाते हैं ।^१

वस्ति का महत्त्व (Importance of Enemata) —

काय-चिकित्सा मे वस्ति का बड़ा महत्त्व दिया गया है । शल्य-चिकित्सा मे भी इसकी महत्ता कम नहीं समझनी चाहिए । शल्य-चिकित्सा मे रक्तावसेचन क्रिया को जो स्थान प्राप्त है वही स्थान काय-चिकित्सा में वस्ति को दिया गया है । वस्ति का प्रयोग दोष, औषधि, देश, काल, सात्म्य, सत्त्व, वय, बलादि का विचार करते हुए करना होता है ।

वस्ति की बनावट तथा उसका प्रतिनिधि

(Structure of the old Clyster, its modern substitute) प्राचीन ग्रन्थो मे एक सामान्य वस्ति की रचना इस प्रकार की बतलाई गई है । वस्ति के चार भाग बतलाए गए हैं । (१) वस्ति (Bladder) (२) नेत्र (नलिका Tube) (३) छिद्र (opening) (४) कणिका (Ampula)

(१) वस्ति:—यह वस्ति पुराने शरीर के गाय, भैंस, हरिण, सूअर, और बकरो के मूत्राशय से बनाई जाती है । इन जानवरों मे से किसी एक के मूत्राशय

१ उष्णा भिभूतेषु वदन्ति शीताञ्छीताभिभूतेषु तथा सुखोष्णान्

तत्प्रत्यनौ औषन्ध मंप्रयुक्तान् सर्वत्र वस्तीन् प्रविमज्य युञ्ज्यात् ।

न वृंहणीयान् विदधीत वस्तीन् विजोघनीयेषु गदेषु विद्वान्

कुष्ठ प्रमेहादिषु मेदुरेषु नरेषु ये चापि विशोधनीयाः । (च सि १)

को निकाल कर, उसमें भी शिरा जाल को पृथक् कर, गंधहीन करके और लाल रंग से रंग करके शुद्ध, करके, रख लेना चाहिए। यदि जानवरो के मूत्राशय उपलब्ध न हो तो चमड़े के टुकड़े पत्र नाम के पत्ति के गले या कपड़े का इस्तेमाल वस्ति बनाने के लिए करे। इसी वस्ति के द्वारा बने थैले के कारण ही, पूरे यन्त्र का नाम वस्ति यन्त्र पड़ गया।

(२) नेत्र (नलिका) :—वस्ति की नलिका सुवर्ण, रजत, वग, ताम्र, पित्तल, कास्य, लकड़ी, लोह, अस्थि या हाथी के दात अथवा छिद्र-युक्त सींग के बनाए जाते हैं।

(३) छिद्र :—नेत्र के द्वार को छिद्र कहते हैं। इस छिद्र का परिमाण आयु के अनुसार रखने की विधि बतलाई गई है। काम करते समय वर्ति को निकाल ले पुनः कार्य के समाप्त हो जाने पर उसके छिद्रो को रुई को वर्ति से बन्द करके रखे।

(४) कर्णिका :—हुक्के की नली में जैसे बीच में उभार मिलते हैं, उसी प्रकार के उभार नलिका में भी बीच-बीच में बनाये जाते हैं। इन उभारों को कर्णिका कहते हैं। इनमें दो कर्णिकाएँ, जिनमें एक तो वस्ति वाले भाग के पास में वस्ति को उममें लगा कर मूत्रो में स्थिरीकरण के लिए बनाई जाती है और दूसरी कर्णिका वस्ति के अग्रके समोप चतुर्थांश पर पटले की अपेक्षा छोटे परिमाण की बनाई जाती है जिससे वस्ति का प्रवेश गुदा आदि में करके वहाँ तक पहुँचा कर उसका स्थिरीकरण किया जा सके। इन उभारों के स्थान पर नलिका छिद्र भी अपेक्षाकृत अधिक चौड़ा हो जाता है जिससे औषधि-द्रव के प्रवेश में उसका वेग शिथिल हो सके।

नेत्र की लम्बाई :—नेत्र की लम्बाई आयु के अनुसार अर्थात् ६-८० और १२ वर्ष की आयु में क्रमशः ६-१२-१८ अंगुल की होनी चाहिए। नली की मोटाई मूल की ओर अधिक, परन्तु अग्र की ओर क्रमशः कम होनी चाहिए। मूल की तरफ नलिका अगुष्ठ परिणाह की ओर क्रमशः, अग्र की ओर कनिष्ठिका (छोटी अंगुली) के परिमाण की होनी चाहिए। नलिका सीधी होनी चाहिए। उसकी समता गो-पुच्छ में दी जाती है जैसे गाय का पुच्छ ऊपर में मोटा क्रमशः नीचे की ओर पतला होता है उसी के सदृश वस्ति का नेत्र भी होना चाहिए। नलिका खुरदरी न हो चिकनी हो और उसका—मुख-गुटिका मुख बड़ी गोली जैसे गोल होना चाहिए।

नेत्र के दोष —छोटापन, पतलापन, मोटापन, जीर्णता, नली का वस्ति भाग के साथ ठीक बन्धन का न होना, छिद्र का बीच में न हो कर किनारे पर होना, टेढ़ा होना, ये सात दोष नेत्र के माने गए हैं।

इन दोषों के कारण प्रयोग में काटनाई होती है और गर्म में कई दोष मिटते हैं। जैसे (१) अप्राप्त (औषध-द्रव्य का ठीक तरह से प्रवेश न होना।) (२) गैरविधि का मात्रा में न पहुँचना (३) दोष (रगत) (४) कर्मण (मित्राण) (५) क्षणन (कट जाना या दान होना) (६) स्नाय (घृण) (७) गुदा में पीना का होना तथा (८) गति का बरु होना।

वस्ति के दोष :—नामान न होना, भग्न होना, पित्रमुष्ण होना, मोटा होना, जालीदार होना, वातदुष्ट दृढ़ होना गिनय तथा गिरना होना में आठ दोष वस्ति में हो सकते हैं। इन प्रमाणों की वस्तुओं का कर्म में प्रयोग नहीं करना चाहिए। इन दोषों के कारण निम्नलिखित परिणाम होने हैं जैसे गति की विषमता, खट्टी दुर्गन्ध का निकलना, न निज या होना, वस्ति का टोप तरह से पकड़ में न आना, फेनयुक्त होना, स्नाययुक्त होना, तब में दिन जाना, प्रसूति आठ दोष इनके अन्दर आते हैं।

वस्ति यन्त्र की प्रयोगविधि :—वस्ति को नेत्र के माथे भली प्रकार बाध कर उसे दबा कर, हवा को निकाट कर, उसको मिट्टी के दोषों पर रखे, उसके मुख को अगुठे से दबा कर और नेत्र के अग्रभाग में पड़ी हुई कई की वस्ति को पृथक् कर ले। तदनन्तर जिस रोगी में वस्ति का प्रयोग करना हो उसका तैल का अभ्यंग कराके और गुदा को स्निग्ध करके उसके मूत्र और मल का त्याग कराके, ऐसे समय में जब कि उसको तेज भूल न लगी हो तब वस्ति यन्त्र का प्रयोग करना चाहिए। रोगी को उसके वाम पार्श्व पर सुखपूर्वक लिटा कर, बाएँ पैर को पूरी तरह से फैला कर और दाहिने पैर को मोड़ कर, बाएँ पैर के ऊपर रखकर, इस आसन में वस्ति का प्रयोग करें। रोगी को समान अंगुली पर या सिर को किंचित झुका कर, या अपने हाथों को तकिया बनाकर (सिर को बाएँ हाथ पर रख कर) सीधे शरीर लेटना चाहिए।

रोगी को गुदा का स्नेहन करके नेत्र के चतुर्थांश भाग को पृष्ठ वदन की रेखा में प्रविष्ट करे, प्रविष्ट करते समय नेत्र का कम्पन नहीं होना चाहिए, साथ ही कार्य में जोरता भी करनी चाहिए। वस्ति के एक ही पीठन (दबाव) से पूरे औषध द्रव्य को भीतर में पहुँचा देना चाहिए, क्योंकि उससे वायु प्रवेश (Air Bubbles) का भय लगा रहना है।

वस्ति यन्त्र के अन्यथा प्रयोग के दोष :—यदि नेत्र का तिरछा प्रयोग किया जाय तो औषधि धार से नहीं जा पाती, यदि नेत्र के प्रवेश काल में कम्पन हो तो उससे गुदा में व्रण होने की सम्भावना रहती है। यदि धीरे-धीरे प्रयोग किया जाय तो औषधि आशय तक पहुँच ही नहीं पाती, यदि बहुत जोर से

दवाकर औषधि द्रव का प्रवेश कराया जाय तो द्रव के कण तक पहुँचने का भय रहता है। यदि औषधि द्रव बहुत ठण्डा हुआ तो उससे जकड़ाहट और विदाह की आगना रहती है। यदि बहुत उष्ण हुआ तो उससे रोगी मूर्च्छित हो जाता है। यदि औषधि द्रव बहुत स्निग्ध हुआ तो उनमें शरीर में जकड़ाहट आ जाती है। यदि बहुत रुक्ष हुआ तो उनमें वायु की वृद्धि होती है। यदि द्रव बहुत पतला हुआ या उनमें ऋवण (नमक) की मात्रा कम हुई तो उससे औषधि हीन मात्रा (under dose) हो जाती है। यदि बहुत सान्द्र (Concentrated) हुआ तो उनमें औषधि के अतियोग (Over dose) होने का भय रहता है, साथ ही इससे रोगी आम (Depressed) हो जाता है और गुदा में अन्तःप्रविष्ट द्रव्य भी देर में निकलता है। यदि द्रव में अधिक मात्रा में नमक छोड़कर उसे सांद्र कर दिया गया हो तो रोगी में जलन और पतले दस्त प्रभृति उपद्रव हो जाते हैं। अतः एव इन बातों का विचार करते हुए युक्तियुक्त मात्रा में वस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

सम्यक् प्रकार का वस्ति प्रयोग :—

उपर्युक्त प्रसङ्गों का ध्यान रखते हुए यथाविधि वस्ति का प्रयोग करना चाहिये। वस्ति का प्रयोग अधोवस्ति (गुदा मार्ग से), उत्तरवस्ति (मूत्र या योनि मार्ग) से कई बार इन मार्गों के प्रक्षालन की दृष्टि से (Douche) अथवा पोषण के विचार से (Nutrient Enemata) के रूप में किया जाता है। वस्ति के देने के पूर्व या पश्चात् वायु से बुलबुलों का प्रवेश (Air Bubbles) न हो न के इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि वायु के आशय में प्रविष्ट होने से तीव्र उदरशूल होने लगता है। वस्ति देते समय पूरा द्रव का प्रवेश न करा के किंचित् शेष रख लेना चाहिए—‘सावशेष च कुर्वीत अन्ते वायुर्हि तिष्ठति।’

वस्ति द्रव बनाने की एक सामान्य विधि

पहले यथावत् मात्रा में मधु, सेंधा नमक और स्नेह को छोड़ कर मथे। पश्चात् औषधि का कल्क डाले और मथे। पश्चात् जल छोड़कर मथे। इस प्रकार के मथ के द्वारा मथित घोल (Emulsion) को वस्ति की विधि में उपयोग में लावे। एक सामान्य वस्तियोग में सैधव नमक ३ माशे और मधु ६ माशे लेकर खरल करे पुनः उसमें नारायण या माष तैल ४ तोले मिलाकर थोड़े फिर दशमूल वनाथ १ पात्र मिलाकर घोल बनाकर गुदा मार्ग से वस्ति देनी चाहिये।

प्राचीनकालीन वस्ति यन्त्र का आधुनिक प्रतिनिधि :—

आज के युग में वस्ति कर्म के लिए कई प्रकार के यन्त्र व्यवहृत होते हैं। जिनमें अधिक प्रचलित निम्नलिखित तीन हैं।

हैं तो औषधि की मात्रा अल्प २ से ४ औंस की रखी जाती है । (In retention enema) यदि बहुत अधिक मात्रा में द्रव पहुँचाना आवश्यक हो और उसके शोषण कराने की आवश्यकता हो जैसे, ६ पिण्ड द्रव को डालना हुआ तो रोगी को बायें करवट पर लेटा कर उसको प्रविष्ट करके पुन उसे दाहिनी करवट पर लेटाते हैं, उसके श्रोणि या नितम्ब भाग को ऊँचा उठा देते हैं—आवश्यकता हुई तो रोगी को घुटने और कटुनी के बल करके औषधि द्रव को भर दिया जाता है । द्रव के निकलने के आक्षेप आने पर बार-बार रोगी की गुदा के भाग पर एक तौलिये के जिये दबा दिया जाता है । यह कार्य एक चोगे (funnel) और रबर की नलिका तथा गोद जैसे नमनशील सूत्र नाडी (Gum Elastic-catheter) की सहायता से और आसानी से किया जा सकता है । इसमें ध्यान रखना चाहिए कि भरना धीरे-धीरे और बीच-बीच में रुक कर होना चाहिए । साथ ही द्रव किंचित् उष्ण ९८° फ० ताप का होना चाहिए अन्यथा रोगी उसको बाहर कर देगा और औषधि द्रव अन्दर में रुक नहीं सकेगा, इस विशेष प्रकार के (Rectal Injection) को अंग्रेजी में (Entro clysis) कहा जाता है । प्राचीन वस्ति कार्यों में विशोधन के अनन्तर अनुवासन वस्ति का साम्य इसी क्रिया से है ।

आधुनिक युग में निम्नलिखित प्रकार के एनीमा व्यवहृत होते हैं—

(१) कृमिघ्न वस्ति (Anthelmintic Enema) सूत्र-कृमि (Thread worms) को दूर करने के लिए ।

(२) आकुचनहर वस्ति (Anti spasmodic Enema) हींग आदि का द्रव । आन्त्र के आमजन्य शूल में ।

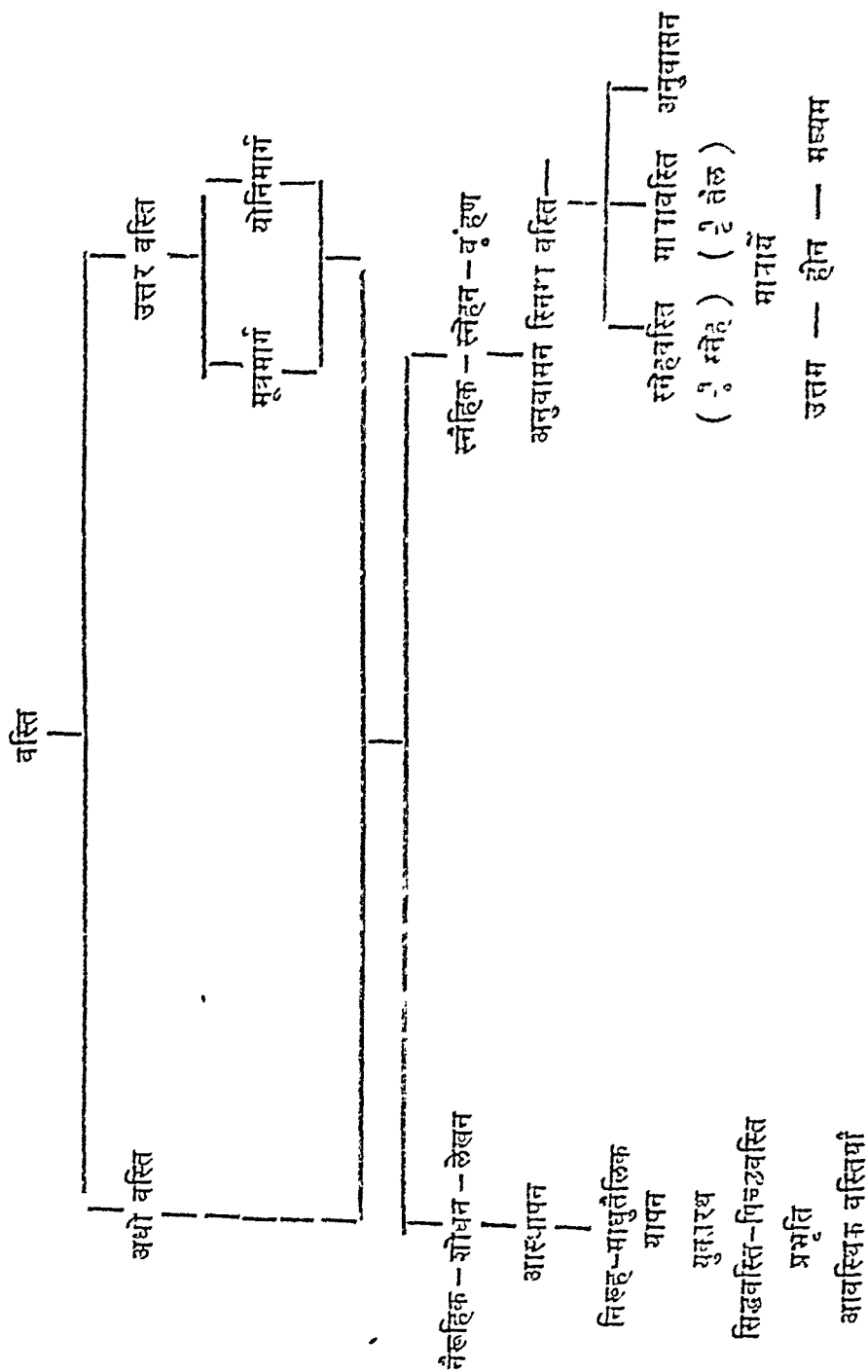
(३) ग्राही वस्ति (Astringent Enema)—गुदामार्ग के स्त्राव तथा अतिमार में ।

(४) सूदन वस्ति (Emollient Enema) मलाशय और स्थूलान्त्र की श्लेष्मल कला क्षुब्धता में व्यवहृत होनेवाली—अतमी, जौ, और स्टार्च का काढ़ा ।

(५) सशामक वस्ति (Sedative Enemata)—स्टार्च, मुसिलेज और अहिफेन आदि का वस्ति ।

(६) रेचक वस्ति (Purgative Enema)—ग्लिसरीन, एरण्डतैल, ओलिव आयल या केवल लवणजल, साबुन का पानी सीरिज के द्वारा देना चाहिए या एनीमा के द्वारा देना चाहिए ।

(७) पोषक वस्ति (Nutrient Enema)—जब मुख से अन्न का शोषण सम्भव नहीं रहता तो ग्लूकोज, डेक्ट्रोस १०% तथा सामान्य लवण विलयन एक बार में ४ औंस दिया जाता है । इसको अन्दर पहुँचाने के पूर्व एक शोधन एनीमा देकर कोष्ठ की शुद्धि कर लेनी होती है ।



वस्ति के भेद या प्रकार :—

वस्ति के प्रधानतया दो भेद मार्ग भेद से किये जा सकते हैं। अधोवस्ति—जिसमें गुदा के मार्ग से औपधि प्रविष्ट की जाय तथा उत्तरवस्ति—जिसमें मूत्र या योनि मार्ग से औपधि द्रव्य प्रविष्ट किया जावे। पुन औपधि की कल्पना तथा उद्देश्य या प्रभाव या गुण भेद से वस्ति के दो प्रकार हो जाते हैं। नैरुहिक और स्नेहिक। नैरुहिक को निरुह और आस्थापन भी कहते हैं। आस्थापन एव निरुह ये दोनों पर्यावाची शब्द हैं। दोषो के निकलने से अथवा शरीर का रोहण करने से निरुह कहलाती है। आयु का स्थापन—स्थिरोकरण इसके द्वारा होता है, इसलिए आस्थापन कहलाती है। आस्थापन का ही एक भेद माधुतैलिक है, माधुतैलिक वस्तियों के पर्याय रूप में यापना, युक्तरथ तथा सिद्ध वस्ति के नाम आते हैं। इनमें मधु एव तेलका योग रहता है अतः माधुतैलिक कही जाती है।

इनमें यापन का अर्थ होता है आयु का दीर्घ काल तक रहना, युक्तरथ—जिनमें रथ में घोंडे जुतने पर जब चाहे उसको दौड़ा सकते हैं ठीक इसी प्रकार इस वस्ति का भी उपयोग बिना किसी प्रकार की पूर्व की तैयारी किये बिना किसी परहेज के जब चाहे कर सकते हैं इसलिए यह युक्तरथ कहलाती है।

सिद्ध वस्ति :—

यह एक प्रकार की बहुत मृदु वस्ति है और इसका अधिकतर चिकित्सा कर्म में प्रयोग होता है। इसमें वमन आदि सम्पूर्ण विधियों के उपयोग की आवश्यकता नहीं रहती, एक ही वस्ति दी जाती है तथा किसी प्रकार के परहेज की आवश्यकता नहीं रहती और इनमें कोई कष्ट नहीं होता और चिकित्सा में विभिन्न रोगों के अनुसार जैसे कृमि रोग में पलाश के बीजादिवक्त्र से, अतिसार पिच्छा वस्ति के रूप में अवस्थानुसार दी जाती है।

निरुह के अनन्तर रोगी के शोधन हो जाने के बाद स्निग्ध या वृहण वस्तियों का प्रयोग किया जाता है। इन्हीं स्निग्ध वस्तियों को ही अनुवासन कहते हैं। स्नेह की मात्रा के भेद से यह तीन प्रकार की होती है, यदि स्नेह की मात्रा पूरी दी जाय तो ६ पल (पटपली मात्रा) श्रेष्ठ है। उसको स्नेह वस्ति कहते हैं। यदि उसमें चौथाई स्नेह कम कर दिया जाय तो उसे अनुवासन (पादावकृष्ट) कहते हैं। इसको अनुवासन इसलिए कहते हैं कि शरीर के भीतर रहने पर भी दूषित नहीं होती तथा दूसरे दिन भी दी जाती है इसलिए अनुवासन कहते हैं। इसी का एक भेद मात्रा वस्ति नाम से होता है, जिसमें स्नेह की मात्रा चतुर्थांश रह जाती है। दूसरे शब्दों में इसको इस प्रकार कह सकते हैं कि यदि स्नेह की मात्रा ३ पल हुई तो वह मध्य या अनुवासन वस्ति होगी। यदि स्नेह की मात्रा १॥ पल हुई तो निरुह या हीन होगी।

वस्ति मुख्यतया दो प्रकार की होती है । अनुवामन और निरहृण । उनमें विरेचन वर्ग के अनन्तर यदि वस्ति कर्म करना हो तो सर्वप्रथम अनुवामन का ही उपयोग करना चाहिए । रोगी के विरेचन के बाद उनका समर्जन करते हुए उसको प्रकृत आहार पर आठवें दिन आ जाने के बाद नौवें दिन तैज में अन्नप्राशन करा के अनुवामन देना चाहिए । तदनन्तर आस्थापन वस्ति या निरहृण करे ।

आस्थापन और अनुवासन संबंधी कतिपय नियम

क—अनुवासन :—

(१) नाति वृभुक्षित (जब रोगी को भूख तेज न लगी हो तब) वस्तियों में निरहृण का प्रयोग करे ।

(२) नात्यग्नि (अल्प भोजन किए) रोगी में अनुवामन करना चाहिए ।

(३) वस्तियों के अनन्तर समर्जन क्रममें पथ्य व्यवस्था की आवश्यकता नहीं रहती । वस्ति द्रव्य निकल जाने बाद उस रोगी को मानस (जागल) के साथ भोजन देना चाहिए ।

(४) स्नेहपान के सम्बन्ध में जिन पथ्य एवं परिहारों की आवश्यकता होती है उन्हीं प्रकार का पथ्य एवं परिहार अनुवासन कर्मों में भी रखना चाहिए । शीत तथा वसन्त ऋतुओं में दिन में अनुवासन करे । गरद्, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुओं में रात्रि में यदि रोगी वायु से अतिपोषित हो तो और यह वायु का कोष घातुक्षयजन्य हो तो पूर्वार्द्ध में दिन में या रात में सब समय वस्ति दी जा सकती है ।

(५) अनुवामन द्रव्य के बाहर निकल आने पर भोजन देना चाहिए । रात में अनुवासित व्यक्ति को प्रातः काल और दिन में अनुवामन को सायंकाल में भोजन देना चाहिए ।

(६) यदि व्यक्ति बहुत रुक्ष और उसको वायु बहुत बढी हुई हो तो प्रतिदिन अनुवासन किया जा सकता है, अन्यथा तीसरे दिन, पाँचवें दिन अनुवामन देना चाहिए । क्यों कि अधिक अनुवामन में अग्नि के मन्द होने का भय रहता है ।

(७) अनुवामन वस्तियों की मर्यादा विषम (अयुग्म या ताक) होनी चाहिए । कफज विकारों में एक या तीन, पित्तिक विकारों में पाँच या सात और वायु के रोगों में नौ या ग्यारह की मर्यादा में वस्तियों को दे । इस प्रकार यथावश्यक ३, ४, ६ या ७, ८, ९ या ११ वस्तियाँ भी दी जा सकती हैं ।

(८) उष्णाभिभूत व्यक्तियों में शीतल वस्ति (Icewater) और शीताभिभूत रोगियों में सुखोष्ण वस्ति दे । इसी तरह वस्ति में प्रयुक्त औषधियाँ भी व्याधि के गुणों से विपरीत गुणधर्म की हो होनी चाहिए । अर्थात् स्निग्ध , गुरु,

लघु आदि गुणों की अनुवामन वस्ति में व्यवहृत होने वाली औषधियाँ भी होनी चाहिए ।

(९) विशोधन के योग्य रोगियों में वृहण वस्तियों को न दे । जैसे कुष्ठ, प्रमेह और मेदन्त्री रोगियों में मर्दव सशोधन हो दे । इसके विपरीत क्षीण-अत, शोष और दुर्बल रोगियों में मर्दव वस्ति द्वारा वृहण ही कर्त्तव्य है, विशोधन नहीं ।

(१०) अनुवासन वस्ति के लिए आवश्यक है कि वह मलाशय या स्थूलान्त्र के अग्रभाग में तीन प्रहर तक (९ घण्टे तक) पड़ी रहे उसके बाद निकले । उन लिए मलाशय आदि के भले प्रकार में सशोधन के अनन्तर ही देना चाहिए ताकि उनका जोषण हो सके । यदि बिना वहाँ देर तक रुके ही वस्ति द्रव्य निकल आवे तो पुन नई वस्ति देनी चाहिए ।

(११) अनुवामन के कार्यों में व्यवहृत होने वाली वस्ति सिद्ध तैलों की होती है और विविध औषधियों के पाक से मिद्ध तैल वस्ति की विधि से दिए जाते हैं ।

(१२) अनुवामन का प्रयोग रोगी का हाथ धुला कर भोजन करा के, कगना चाहिए । अन्न की विद्ग्वावम्या में दिया गया स्नेह ज्वर पैदा कर देता है । अति स्निग्ध भोजन कराके या स्नेह पिला कर अनुवासन न देवे । दोनों मार्ग से दिया हुआ स्नेह मद और मूर्च्छा उत्पन्न करता है । रुच अन्न खाने पर दिया गया अनुवासन बल और वर्ण को घटाता है । इसलिए थोड़े परिमाण (मात्रा) में स्नेह को भोजन में देकर पश्चात् अनुवासन करे । मूंग आदि का यूप, दूध या मासरस, जो रोगी को अनुकूल और सात्म्य हो उसकी रोज की खुराक की चौथाई कम करके खिलावे । पश्चात् अनुवासन करे ।

(१३) रोगी को भली प्रकार स्नेह से अभ्यग और उष्ण जल से स्वेदित करके कुछ खिला कर, टहला कर, मल-मूत्र के त्याग के बाद उसे स्नेह वस्ति दे ।

(१४) स्नेह-वस्ति के ले चुकने के बाद पीठ के बल लेट कर एक सौ मात्रा तक प्रतीक्षा करे । हाथ, पैर आदि पूरे अंग को फैलाये । इससे स्नेह का बल सारे शरीर में फैल जाता है । हाथ-पैर के तलवों पर तीन तीन बार थपथपाए । नितम्बों को भी थपथपाये । शय्या के पैताने को भी तीन बार ऊँचा उठाए । इस प्रकार वस्ति के देने के पश्चात् रोगी अल्प परिश्रम करे, बोलना कम करे या मद आवाज से बोले तथा पूर्ण विश्राम करे, साथ ही अन्य आचार सम्बन्धी नियमों का पालन करे ।

(१५) प्रातः काल धनियाँ और सोठ से सिद्ध गर्म जल देना चाहिए । इससे अग्नि पर्याप्त होती है और भोजन में रुचि होती है ।

(१६) एकांतत केवल स्नेह वस्ति का अथवा केवल निरुहण का प्रयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐकान्तिक स्नेहन से अग्नि के नाश और उत्प्रेषण होने का तथा ऐकान्तिक निरुहण से वायु के उपद्रवों का भय रहता है। इस लिए निरुह के पश्चात् अनुवासन और अनुवासन के पश्चात् निरुहण करते रहना चाहिए। यदि लगातार अनुवासन देना हो तब बीच बीच में निरुहण करने रहना चाहिए।

(१७) आम स्नेह (कच्चे तैल) का अनुवासन नहीं देना चाहिए। इसमें गुदा अभिष्यद युक्त (Congested) हो जाती है।

(१८) मात्रा-वय के अनुपात से निरुहों की जो मात्रा आने बतलाई जायगी उसकी चौथाई मात्रा मनुष्यों के लिए स्नेह वस्ति के अनुवासन में वरतनी चाहिए अर्थात् श्रेष्ठ मात्रा ६ पल (२४ तोले), मध्यम मात्रा (१२ तोले) तथा हीन मात्रा १½ पल (६ तो०) की होती है।

पट्पत्री तु भवेज्ज्येष्ठा मध्यमा त्रिपलो भवेत् ।

कनीयसी सार्द्धपला त्रिधा मात्राऽनुवासने ॥

रु—आस्थापन या निरुह :-

(१) कोमल प्रकृति के पुरुषों में निरुह वस्ति कम मात्रा में दे। यह ध्यान रखे कि मात्रा भले ही ऐसे व्यक्तियों में कम हो जावे, परन्तु अधिक मात्रा कभी न पहुँचे।

(२) जिसमें वस्ति की मात्रा कम हो, वेग अल्प हो, मल और वायु कम हो, अर्वाच, मूत्र-त्याग में कठिनाई और जड़ता उत्पन्न हो गई हो, उम्र हीन निरुह दुर्निरुह, नमजना चाहिए। यदि अति विरंचित (Dehydration) के लक्षण पैदा होने लगे तो उसे निरुह समझे। जिस रोगी में आस्थापन देने पर क्रमशः मल, पित्त, कफ और अन्त में वायु निकले, अन्न में रुचि बढ़े, कोष्ठ हलके प्रतीत हो, बरीर का भारीपन दूर हो जाय तथा अग्नि बढ़े, उसको सम्यक् निरुह अर्थात् भली प्रकार से निरुह हुआ समझे।

(३) भली प्रकार से निरुहण के पश्चात् रोगी को स्नान करा के भोजन दे। पित्त वाले को दूध में, कफ वाले को यूप से, और वायु वालों को मामरस के साथ भोजन देना चाहिए। अथवा सभी को विकार न करने वाले जागल मान-रस के साथ भोजन दे। भोजन की मात्रा प्रतिदिन के भोजन से ३ या ३½ भाग कम या इससे भी कम व्यक्ति की अग्नि एवं दोष के अनुसार होनी चाहिए। तदनन्तर स्नेह वस्ति देना चाहिए।

(८) निरुह देने के बाद वायु के कोप का भय रहता है। अतः मासरस के साथ भात दे और उसी दिन रोगी को अनुवासन दे। अनुवासन देने के अनन्तर रोगी की तुष्टि-निर्मल, मग्न का सन्तोष, स्निग्धता और रोगी की शान्ति बढ़ती है।

(९) निरुह वस्ति का उद्देश्य मोघन होता है अतः उसके प्रयोग के बाद मल, कफ आदि पदार्थ स्वभावतया निकल आने चाहिए। यदि एक मुहूर्त तक प्रतीक्षा करने पर वह वापस न आवे, अर्थात् बाहर न निकले तो त्रिवृतादि शोधन अथवा तीक्ष्ण निरुहों में यवक्षार, गो-मूत्र और काजी मिलाकर पुनः वस्ति दे जिसमें प्रथम दिया गया स्थापन द्रव्य बाहर निकल जाए।

(६) वायु के अवरोध से रुका हुआ, विपरीत गति-युक्त निरुह अगो में देर तक रुक कर शूल, क्षान्नाह, वेचैनी, ज्वर आदि लक्षणों को पैदा कर मृत्यु का भी कारण हो सकता है।

(७) भोजन करने पर आस्थापन नहीं देना चाहिए, यह सिद्धान्त है। ऐसा न करने से या तो विमूचिका होती है या भयकर वमन होता है। अथवा सभी दोष दूषित हो जाते हैं अतः भोजन न किए हुए व्यक्ति को ही निरुह दे। अर्थात् निरुह का प्रयोग निराहारावस्था में ही करना चाहिए।

(८) रोगी और रोग की अवस्था का विचार करते हुए निरुह देना चाहिए। क्योंकि मल के निकल जाने पर दोषों का बल भी जाता रहता है।

(९) निरुहण में प्रयुक्त होने वाले द्रव्य-दूध, अम्ल, मूत्र, स्नेह, क्वाथ, मासरस, लवण, त्रिफला, मधु, सौंफ, सरसो, वच, इलायची, सोठ, पिप्पली, रास्ना, चोट, देवदार, हल्दी, मुलहठी, हींग, कूठ और त्रिवृत, आदि सशोधन, कुटकी, शर्करा, मुस्ता, खन, अजवाइन, प्रियंगु, इन्द्रजौ, काकोली, चीर काकोली, ऋषभक, जीवक, मेदा, महामेदा, ऋद्धि, वृद्धि, मधूलिका इनमें से जो मिल सके उनका निरुहो में उपयोग करे।

(१०) निरुह में स्नेह की मात्रा के अनुसार कल्पना स्वस्थ अवस्था में यदि निरुहण देना हो तो सामान्यतया क्वाथ का $\frac{1}{4}$ भाग स्नेह मिला कर दिया जाता है। दोषानुसार वायु के कोप में स्नेह $\frac{1}{2}$ भाग, पित्त में $\frac{1}{4}$ भाग और कफ विकारों में $\frac{1}{2}$ भाग क्वाथ में स्नेह का होना चाहिए। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि सभी प्रकार के निरुहों में कल्क का $\frac{1}{2}$ भाग स्नेह अवश्य हो।

आस्थापन वस्ति कल्पना —

प्रथम सैन्धव एक कर्प (१ तोला) मात्रा में डाले, मधु दो प्रसृति मिला कर पात्र में इसको हाथ से खूब मथे, मथने पर तैल धीरे धीरे मिलता जाय। भली प्रकार मथे जाने पर मैनफल का कल्क इसमें मिलाए, फिर पीछे कहे हुए दूसरे

कल्को को वारीक पीस कर मिलाए । इन सबको एक बड़े गहरे पात्र में डाल कर मन्थन दण्ड से मथे अथवा जैसे ठीक समझे, वैसे मथे । यह न तो गाढ़ा होना चाहिए और न पतला अपितु समान रहना चाहिए, दोषों की अवस्था देख कर मामरम, दूध, काजी, मूत्र मिलाए । इसमें भली प्रकार छाना हुआ कपाय पच प्रसूति मिलाए ।

मात्रा :—वारह प्रसूति को श्रेष्ठ मात्रा आस्थापन की होती है । इसमें आयु के अनुसार एक-एक प्रसूति घटाते हुए यथा योग्य मात्रा की कल्पना करनी चाहिए । उदाहरणार्थ एक श्रेष्ठ मात्रा बतलाई जा रही है, इसमें मन्थन से लेकर कपाय पर्यन्त सभी द्रव्यों में अनुपात से कमी करते हुए छोटी मात्रा का विधान करना चाहिए । प्रथम मन्थन एक कर्प, मधु दो प्रसूति इनको मिला कर स्नेह तीन प्रसूति मिलावे, जब स्नेह मिल कर एक हो जाय तो उसमें करक एक प्रसूति मिलावे, जब वे मिलकर एक हो जावें तो कपाय ४ प्रसूति मिलावे फिर प्रक्षेप २ प्रसूति मिलावे—इस प्रकार के मिलाने से मात्रा वारह प्रसूति की बनती है । यही आस्थापन की श्रेष्ठ या उत्तम मात्रा है ।

आयु के अनुसार चरक ने इस मात्रा का निर्धारण निम्नलिखित भाँति से किया है । एक वर्ष की आयु तक निरुह की मात्रा आधी प्रसूति होनी चाहिए । पश्चात् आधी प्रसूति आयु के अनुसार बढ़नी चाहिए जब तक कि आयु वारह वर्ष की न हो जाय । फिर वारह से अठारह की आयु तक प्रतिवर्ष के हिमाव में एक-एक प्रसूति बढ़ाना चाहिए । इस प्रकार पूर्ण मात्रा १२ प्रसूति की—आस्थापन में मानी जाती है । अठारह से लेकर ७० वर्ष की आयु तक इसी मात्रा में आस्थापन देना होता है । सत्तर वर्ष के बाद की आयु में सोलह वर्ष की आयु की मात्रा में ही आस्थापन देना चाहिए । सामान्यतया बालक और वृद्ध में मृदु निरुहण करना चाहिए ।

प्रचलित मान के अनुसार ८ तोले की एक प्रसूति होती है । प्रथम वर्ष की आयु में आधा प्रसूति ४ तोले की निरुह की मात्रा हुई, प्रति वर्ष आधी प्रसूति बढ़ाते हुए वारह की आयु तक पूरी मात्रा ६ प्रसूति ४८ तोले अर्थात् ९॥ छटाँक की मात्रा निरुह की हो जाती है । १२ वर्ष की आयु से एक-एक प्रसूति क्रमशः बढ़ाते हुए १८ वर्ष की आयु में निरुह की पूर्ण मात्रा १२ प्रसूति या ९६ तोले अर्थात् १ सेर की हो जाती है । यह कुल मात्रा है । इसी में सैधव, स्नेह, कल्क, कपाय आदि सभी का ग्रहण समझना चाहिए ।

वस्ति की संख्या .—

कर्म, काल और योग के विचार से तीन प्रकार की वस्ति या होती है । कर्म, काल और योग इन गण्डों की कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं पाई जाती है । सभवतः

कर्म से पच कर्म में, काल से ऋतु काल के शोचन में तथा योग अर्थात् रोग के चिकित्सा काल में इन तीन प्रयोजनों को लेकर विभिन्न सख्या की वस्तियों का निर्देश किया गया है। कर्म में कुल तीस वस्तियाँ अपेक्षित हैं—इनमें प्रारम्भ में एक स्नेह वरित देकर बारह निरुह और बारह अनुवासन एकान्तर से तथा अन्त में पाच स्नेह वस्तियाँ सब मिला कर तीस हो जाती हैं। काल में १६ वस्तियाँ अपेक्षित हैं—जिनमें प्रारम्भ में एक स्नेह देकर ६ निरुह और ६ अनुवासन मध्य में एकान्तर-क्रम से तथा अन्त में तीन स्नेह वस्ति देकर पूरी सख्या १६ की पहुँचाई जाती है। योग में कुल आठ वस्तियाँ अपेक्षित हैं। इनमें प्रारम्भ में एक स्नेह वस्ति दे। इस प्रकार कुल तीन निरुह और पाच अनुवासन कुल मिला कर आठ हो जाते हैं।

योगायोग के लक्षण —सामान्यतया वस्ति प्रदेश, कटि, पार्श्व और कुक्षि में जाकर पाखाने आदि दोषों की मथ कर शरीर का स्नेहन करती हुई पाखाने और दोषों के साथ शरीर के बाहर निकल आती है। इसीको वस्ति कहते हैं।

सम्यक् निरुह के लक्षण —मल, मूत्र और वायु का खुलना, अन्न में रुचि, अग्नि की वृद्धि, आशयों की लघुता, रोग की शान्ति और रोगी का अपने को पूर्ववत् स्वस्थ अनुभव करना ये सुनिरुह व्यक्ति के लक्षण हैं।

असम्यक् निरुह के लक्षण —यदि व्यक्ति, का आस्थापन ठीक न हो पाया हो तो सिर, हृदय, गुदा और वस्ति में पीड़ा, शोफ, प्रतिश्याय, तीव्र गुदा में काटे जाने सी वेदना, हल्लास, मूत्र और वायु का अवरोध तथा ठीक प्रकार से श्वासों का न आना प्रभृति लक्षण उत्पन्न होते हैं।

अतिनिरुह का लक्षण —अति विरोधित में जो लक्षण बतलाया गया है वही अति निरुह में पाया जाता है।

सम्यक् अनुवासित के चिह्न —बिना किसी प्रकार की रुकावट के तैल और पुरीष का आना, रक्तादि धातु-वृद्धि, बुद्धि और इन्द्रियों की प्रसन्नता, सोने की इच्छा, लघुता और बल का अनुभव तथा वेगों की सुखपूर्वक प्रवृत्ति का होना ये लक्षण सम्यक् अनुवासित के होते हैं।

असम्यक् अनुवासित के चिह्न —ऊर्ध्व शरीर, उदर, बाहु, पृष्ठ, पार्श्व आदि में पीड़ा, गात्र का रुक्ष और खर होना, मल, मूत्र और वायु की रुकावट प्रभृति चिह्न असम्यक निरुह के मिलते हैं।

अति अनुवासित के चिह्न —हल्लास, मोह, थकावट, साद, मूर्च्छा, प्रभृति चिह्न अत्यनुवासन में पाए जाते हैं।

अनस्थाप्य :—अजीर्ण, अति निद्रा, स्नेहपीत, उत्पिण्ड दोष, अग्न्याग्नि, यान्त्राश्रय, अति दुर्बल, मूक, तृष्णा श्रमार्त, अतिकृज, भुक्तभक्त, पानोदक (पानी पिये) वमित विरिक्त, जिमका नन्त्र कर्म किया गया हो, शुद्ध, भीत, मत्त, मूर्च्छित, प्रमत्तच्छदि, निष्ठोविका, श्वाभ, काम, हिक्का, वदोदर, उग्मोदर, आध्मान, अलसक, विमूचिका, अप्रजाता, अतिनारी, मधुमेद और दुष्ट रोग में आस्थापन नहीं कराना चाहिये ।

आस्थाप्य :—शेष आस्थाप्य है । विशेषतः नवीन वा एकाग्रप्राप्त, दुर्बल रोग, वायु-पुरीष-मूत्र-शुक्र आदि की रुकावट, बल, वर्ण, मांस और दूर-क्षय, आध्मान, अगमुप्ति क्रिमिकोष्ठ, उदावर्त, शुद्ध, अतिनार, पर्वभेद, अभिताप, प्लोह, गुल्म, दृक्, हृद्रोग, पार्श्व-पृष्ठ-कटिग्रह, वेपन, आक्षेप, गुल्मा, अति लाजव, रज, अय, विषमग्नि, स्फिक्, जनु-जघा-ऊरु, गुल्म-पार्णि-प्रपद-योनि-वाहु-अगुली, स्तनान्त-दन्त-नख-पर्व-अस्थि-प्रभृति अंगों के दूल्, शोष वा स्तम्भ, आग्न कूजन, परिकृत्तिका, उग्र गन्ध प्रभृति कारणों से उत्पन्न वात व्याधियों में जिमका महारोगाध्याय (चरक) में वर्णन हुआ है, स्थापन प्रधान रूप में करना चाहिये ।

अननुवास्य —जिन रोगियों में स्थापन निषिद्ध है, उनमें अनुवासन भी नहीं करे । विशेषतः अभुक्त (बिना खाए), नव ज्वर, पाण्डुरोग, कामदा, प्रमेह, अर्श, प्रतिज्याय, अरोचक, मदाग्नि, दुर्बल, प्लोह, ककोदर, ऊरस्तम्भ, उर्ध्वभेद (अतिनार) विषपीत, पीतगर, पित्त और कफाभिष्वेद, गुरु कोष्ठ, ग्लीपद, गलगण्ड, अपची, कृमिकोष्ठ ।

अनुवास्य :—जो स्थाप्य है वही अनुवास्य । विशेषतः रुध और तीक्ष्ण अग्नि वाले केवल वात रोग से पीडित, उनमें अनुवासन प्रधान कर्म है ।

विभिन्न प्रकार की अन्य वस्तियाँ

मात्रा वस्ति :—अनुवासन वस्ति का ही एक भेद विशेष है । ह्रस्व मात्रा के अनुवासन ही का नाम मात्रा वस्ति है । उसमें स्नेह की मात्रा १॥ पल (६ तोले) होती है, उसे मात्रा वस्ति कहते हैं । इसका प्रयोग कर्म व्यायाम-भार-अध्वयान-स्त्रो आदि के अति सेवन ने कृत्र व्यक्तियों में तथा दुर्बल और वात पीडित रोगियों में सदैव करना चाहिए । रोगी के लिये किसी प्रकार के पथ्य से रहने की आवश्यकता नहीं रहनी । वह इच्छानुरूप भोजन, चेष्टा आदि कर सकता है और नव समय में इस वस्ति का प्रयोग भी किया जा सकता है । यह वस्ति वत्थ, मुखवर्धक, मल आदि का शोषक, वृंहण, वातरोग नाशक आदि गुणों से युक्त होती है ।

सिद्ध-वस्ति :—ऐसी वस्तियों का प्रयोग सदा किया जाता है । ये वस्तियाँ व्यापद्-रहित, बहुत फल देने वाली, बल एव पुष्टि करने वाली और सुखदाई होती हैं । इन वस्तियों का उपयोग विभिन्न रोगों की चिकित्सा में तथा बल-वर्ण की वृद्धि के लिए होता है । इनसे नाना प्रकार के रोगों में चिकित्सा करते हुए सफलता मिलती है, अतएव इन वस्तियों को सिद्ध वस्ति कहते हैं । अरुण दत्त ने एक वृद्ध सुश्रुत के श्लोक का उद्धरण देते हुए बतलाया है कि “सिद्ध वस्ति उन वस्तियों को कहते हैं जिनका बिना किसी प्रकार के पथ्य के प्रयोग करने से भी सफलता निश्चित मिलती है ।” जैसे, पंचमूल क्वाथ, तिल तैल, पिप्पली, मधु, सैन्धव और मधुयष्टि को एक में मिला कर वस्ति देना ।

माधुतैलिक वस्ति —यह एक प्रकार की निरूह वस्ति ही है । इसमें मधु एव तेल की विनोपता रहती है । अतः माधुतैलिक वस्ति कहलाती है । मधु-तैल समान, सेंधव एक कर्ष, सौंफ २ कर्ष, इनको एरण्डमूल क्वाथ के साथ दिया जाय तो यह निरूह रसायन, प्रमेह, अर्श, कृमि, गुल्म और आन्त्रवृद्धि का नाशक होता है । “यस्मान्मधु च तैल च प्राधान्येनात्र वर्तते । माधुतैलिक इत्येष विज्ञेयो वस्तिचिन्तकैः ” ।

युक्तरथ वस्ति :—एरण्डमूल के क्वाथ में मधुतैल-सैन्धव-वच-पिप्पली और मैन फल को मिलाकर दी गई वस्ति युक्तरथ कहलाती है । जिस प्रकार वृषभ, ऊँट एव घोड़े से जुते हुए रथ को जब चाहे चालू करदे, उसी प्रकार इन वस्तियों का भी प्रयोग सब समय किया जा सकता है, इनमें किसी प्रकार निषेध नहीं है । इसी लिए इन्हे युक्तरथ कहते हैं ।

दोषनाशक वस्ति :—दोषों के अनुसार वातघ्न, पित्तघ्न और श्लेष्मघ्न कई प्रकार की वस्तियाँ भी बनाई जाती हैं जिनका दोषानुसार प्रयोग अपेक्षित रहता है । जैसे एरण्डमूल के क्वाथ में मधु, वच, सौंफ, हिंगु, सेंधानमक, देवदारु और रास्ना मिला कर दी गई वस्ति मूत्राशयगत दोषों को दूर करती है ।

यापना वस्ति :—मधु, घृत, वसा, तैल एक-एक प्रसृत-सैन्धव १ कर्ष, हाऊवेर आधा पल इनके मिश्रण से यापना वस्ति बनती है । इन वस्तियों के द्वारा आयु का दीर्घ काल तक अनुवर्तन होता रहता है । अतः ये यापना वस्तियाँ कहलाती हैं ।

शुक्रकरण वस्ति, शुक्रवर्धक वस्ति, वाजोकरण वस्ति । तित्तिरादि मास रस की वस्ति, गोवादि मासरसों की वस्ति प्रभृति कई विशिष्ट वस्तियों का उल्लेख भी शास्त्रों में पाया जाता है ।

स्नेहवस्ति-अनुवासन वस्ति तथा मात्रावस्ति :—

स्निग्ध वस्ति के तीन भेद हैं । वास्तव में मात्रा भेद में ही ये तीन भेद होते हैं । श्री गयी नामक आचार्य ने स्पष्टतया कहा है कि जिम वस्ति में ६ पत्र (२४ तोले) स्नेह का गुदा मार्गसे प्रवेग कराया जाय वह स्नेह वस्ति कहलाती है । यदि उसकी मात्रा ३ पत्र (१२ तोले) की कर दी जाय तो उसे तो अनुवासन वस्ति कहते हैं और यदि प्रवेग्य द्रव्य की मात्रा कुछ कम अर्थात् १॥ पत्र (६ तोले) भी कर दी जाय तो उसको मात्रावस्ति कहते हैं ।

पिच्छा वस्ति :— कई प्रकार की आवश्यक वस्तियों का उल्लेख भी ग्रंथों में पाया जाता है । रोग की विभिन्न अवस्थाओं में चिकित्सा में उसका प्रयोग होता है । अतिसार की कई अवस्थाओं में पिच्छा वस्ति का प्रयोग पाया जाता है । अतिसार या प्रवाहिका में जब वायु का विवन्ध हो और थोड़ी-थोड़ी मात्रा में रक्तमिश्रित शूल के साथ बहुत बार शीघ्र इत्यादि हो उस अवस्था में पिच्छा वस्ति का उपयोग किया जाता है । इसी प्रकार चिरकालिक अतिमार में भी अनुवासन वस्ति का प्रयोग बतलाया गया है ।

सुश्रुत ने पिच्छा वस्ति का प्रयोग अनेक अवस्थाओं में किया है, उदाहरणार्थ वस्ति के उपद्रव रूप में होने वाले परिकर्तिका नामक रोग में जिसमें नाभि, वस्ति, गुदा, रोगी को कटते हुए प्रतीत होते हैं । दुर्बलता, अंगों का टूटना, पित्त का गुदा से स्राव तथा गुदा के दाह में भी पिच्छा वस्ति दी जाती है । यह दूध और घी के योग से बनाई जाती है । मलाशय में या मूत्रालय में दाह और शूल हो और कठिनाई से कफ मिश्रित रक्त का आम युक्त मल त्याग हो तो उस अवस्था में भी पिच्छा वस्ति का निर्देश है । अति उष्ण, अति तीक्ष्ण, अतिग्न्य मात्रा हो, अतिग्न्य स्वेद दिए हुए पुरुष को अतियोग के लक्षण उत्पन्न होते हैं । इसमें भी पिच्छा वस्ति का प्रयोग सुखदायक होता है ।

उत्तर वस्ति (Urethral or Vaginal douche) —

पुरुषों के मूत्र मार्ग और स्त्रियों के गर्भाशय तथा योनिस्त्रिध्वनी रोगों में जो वस्ति (पिचकारी) दी जाती है उसे उत्तर वस्ति कहते हैं ।

यन्त्र :— चरक ने उत्तर वस्ति देने में प्रयुक्त होने वाले यन्त्र का नाम पुष्प नेत्र कहा है । इसका अग्र भाग चमेली के फूल के वृन्तमद्वय या गोपुच्छाकार और सिरे में गोल-पतली होती है । पहले जो यन्त्र बनता था उसमें चमड़े के पास और बीच में एक चकती बैठाई रहती थी और अग्र भाग नरम सुवर्ण, चाँदी आदि धातु का रहता था । अग्रभाग कुंद, कनेर, चमेली आदि के फूल के डण्ठल के समान किन्तु दृढ़ होता था और सिरे पर जो नली का मुख-छिद्र होता

था वह सरसो का दाना जाने योग्य रहता था । इसके मूल भाग में चमड़े की थैली लगी रहती थी, जिसमें चार तोले द्रव आ सकता था । स्त्रियों में उत्तर वस्ति की नली १० अंगुल लम्बी होती थी और उस नली का मुख ऐसा होता था जिसमें मूँग की दाल जा सकती थी ।

आज कल ऐसी पिचकारी काँच, प्लास्टिक या धातु की बनी आती है जिसको (Urethral syringe) कहते हैं । यह बीच में पोली होती है, अग्र भाग में एक फूल के वृत्त के आकार का एक नौजल लगा रहता है, जिसका प्रवेश मूत्र या योनि मार्ग में कराया जाता है । मूल भाग में एक पिस्टन लगा रहता है जिसको दबा कर पिचकारी के अन्दर के द्रव का प्रवेश कराया जाता है । प्राचीन वस्ति यन्त्र का प्रतिनिधि आज कल का 'हुस्टन वाल्म सिरिज' है, जिससे यथावश्यक मूत्रमार्ग या योनिमार्ग से औषधि का प्रवेश कराया जा सकता है । स्त्रियों के योनि-प्रक्षालन का कार्य तो साधारण वस्ति यन्त्र द्वारा भी हो सकता है परन्तु पुरुषों में मूत्र मार्ग के प्रक्षालन के लिए धातु की बनी पिचकारी ही है ।

पुरुषों में उत्तर वस्ति देने की विधि

रोगी को स्नेहन तथा स्वेदन देकर वायु-मूत्र-मल का त्याग करके आशय के ढोला होने पर घृत और दूध मिलित यवागू को यथाशक्ति पिला कर, घुटनों के बराबर ऊँची चौकी पर सहारा (तकिया) लगाकर बिठाए । गरम तैल से वस्ति शिर को भली प्रकार मल कर इसकी मूत्रनाली को प्रहर्षित (उत्तेजित) करके समान रूप में रखकर-प्रथम शलाका से मार्ग की परीक्षा करके, पीछे से घी से स्निग्ध किए नेत्र को धीरे-धीरे ६ अंगुल प्रविष्ट करे । कई आचार्य मेहन के बराबर प्रविष्ट करने के लिए कहते हैं । फिर वस्ति को दबाए और धीरे से नेत्र को निकाल ले । फिर स्नेह के वापिस आने पर सायंकाल में बुद्धिमान वैद्य दूध, यूप या मासरस से मात्रा में रोगीको भोजन करावे । इस विधि से तीन या चार वस्ति देवे ।

स्त्रियों में उत्तर वस्ति देने की विधि

अगुद्ध रक्तस्राव के पश्चात् अर्थात् चौथे दिन से प्रारम्भ कर सोलहवें दिन तक शुद्ध ऋतु काल कहलाता है । इस काल में योनि और गर्भाशय का मुख खुला रहता है जिससे वस्ति द्वारा औषधियों के प्रयोग किए जाने पर उनके गुणों का ग्रहण सम्भव रहता है अतएव सदैव ऋतु काल में ही वस्ति देने का विधान स्त्रियों में है । आत्ययिक अवस्था में जैसे योनिभ्रश, शूल या योनिरोगों में या रक्त प्रदर में बिना ऋतु काल के भी उत्तर वस्तियाँ दी जा सकती हैं ।

योगायोग :—उत्तर वस्ति के सम्यक् योग के लक्षण, हानियाँ और उपद्रवों की चिकित्सा स्नेह वस्ति या अनुवासन के समान ही है ।

वस्ति कर्म में प्रयुक्त होने वाले प्रधान भेषज दशमूल की औषधियाँ, एरण्ड-मूल, पुनर्नवा, यव, फोल, कुलत्थ, गुडूची, मदन फल, पलाश, कत्तूण, स्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा), पच लवण ।^१

(विस्तार में ज्ञान के लिए इन औषधियों का संग्रह चरक-विमान स्थान आठवें अध्याय में द्रष्टव्य है ।

नस्य कर्म

(Insufflation or Inhalation through Nose)

निरुक्ति तथा भेद :—औषधि से सिद्ध स्नेह नासिकाओं से दिया जाने के कारण नस्य कहलाता है । यह नस्य दो प्रकार का है,

(१) शिरोविरेचन (२) स्नेहन । यह दो प्रकार का नस्य भी पाँच प्रकार का है यथा, नन्य, शिरोविरेचन, प्रतिमर्श, अवपीड और प्रधमन । इनमें नस्य और शिरोविरेचन मुख्य है । नस्य का ही भेद प्रतिमर्श है ।

शिरोविरेचन के भेद :—अवपीडन और प्रधमन है । नस्य शब्द इन पाचों के लिए होता है ।

नस्य :—इसमें जो स्नेह शून्य शिर वालो (खाली सिर की प्रतीति) में स्नेहन के लिए, ग्रीवा और स्कन्ध में बल लाने के लिए अथवा दृष्टि की निर्मलता के लिए दिया जाता है, उस स्नेह में खासकर नस्य शब्द बरता जाता है । यह नस्य (स्नेह) वात से पीडित सिर में, दात, केश, श्मश्रु के गिरने में, भयानक कर्णशूल में, कर्ण क्ष्वेड में, तिमिर, स्वरभेद, नासा रोग, मुख शोष, अववाहुक, असमय में झुर्रियों में, या बाल श्वेत हो जाने पर, वात-पित्तजन्य कष्टदायक मुखरोगों में या दूसरे रोगों में वात-पित्त नाशक द्रव्यों से सिद्ध घी, तैल, वसा या मज्जा स्नेह से नस्य देना चाहिए ।

शिरोविरेचन :—^२कफ से भरे तालु, कठ और सिर में, अरोचक और सिर के भारीपन में, शूल में, पीनस में, अर्धाविभेदक में, कृमि, प्रतिश्याय और

१ उदावर्त्तविबन्धेषु युज्यादास्थापनेषुञ्च । अतएवौषधगणात् सकल्प्यमनुवासनम् ।
मारुतघ्नमिति प्रोक्त संग्रह पाचकार्मिक ॥ (च सू २)

२ गौरवे शिरसः शूले पीर्धविसेऽद्विविभेदके । क्रिमिव्याधायपस्मारे घ्राणनाशे प्रमोह के । (च सू २)

अपस्मार मे, गंध ज्ञान के नाश मे, अन्य ऊर्ध्व जत्रुगत कफ जन्य रोगो मे । शिरोविरेचन के द्रव्यो से या उनसे सिद्ध किसी स्नेह से नस्य देना चाहिए ।

नस्य तथा शिरोविरेचन की विधि :—इन दोनो प्रकार के नस्यो को बिना भोजन कराए, भोजन के समय (अन्न काल) मे नही देना चाहिए । कफ रोगियो को पूर्वाह्न मे पित्तरोगियो को मध्याह्न मे तथा वातरोगियो को अपराह्न मे भोजन काल मे देना चाहिए ।

शिरोविरेचन के योग्य व्यक्ति का, मल-मूत्र का त्याग कराके, अल्प भोजन कराके, आकाश मे बादल न होने पर, दातुन और धूमपान से मुख के स्रोतो का शोधन कराके, हाथो को अग्नि पर गर्म करके उससे गला, कपोल, माथा इनकी मालिश और सेक करके वायु-धूप और धूल से रहित स्थान मे रोगी को पीठ पर चित लेटा कर हाथ और पैर को सीधा फैला कर सिर को कुछ नीचे की ओर लटका कर आँखो को कपडे से ढाप कर वाएँ हाथ की प्रदेशिनी अगुली (Index Finger) से नासा को उठाकर स्रोत के सीधा हो जाने पर गर्म पानी से गर्म किए स्नेह को दाहिने हाथ से सुवर्ण, चाँदी, ताम्र मिट्टी के पात्र या शुक्ति के पात्र मे रखे स्नेह को शुक्ति (सीप-सितुही) के द्वारा या रुई के फोये से सुहाता हुआ गरम स्नेह को नासिका रन्ध्र मे इस प्रकार छोडे कि उसकी एक समान धारा जाय । साथ ही जल्दीवाजी न करे । यह भी ध्यान रखे कि स्नेह नेत्रो मे न जाये ।

नेह को डालते समय रोगी सिर को न हिलाए, क्रोध न करे और न छोके और न हँसे । ऐसा करने से स्नेह ठीक प्रकार से नही पहुँचता और वाद मे उपद्रव रूप मे उसे कास, प्रतिश्याय, शिरोरोग और नेत्र रोग उत्पन्न हो जाते है । बुद्धिमान मनुष्य स्नेह नस्य को किसी प्रकार भी न पिये । यह स्नेह नस्य शृङ्गाटक मर्म तक फैल कर मुख से निकल कर आता है । कफ के उत्क्लेशित होने के भय से इसको वाम-दक्षिण पार्श्व मे बिना रोके थूक देवे ।

काल :—जब किसी विशेष रोग मे नस्य देकर स्वस्थ व्यक्ति में नस्य कर्म करना हो तो शरद् और वसन्त ऋतु मे पूर्वाह्न मे, शरद् ऋतु मे मध्याह्न मे, ग्रीष्म ऋतु मे, अपराह्न मे और वर्षा ऋतु में सूर्य के दिखलाई पडने पर प्राय सभी पचकर्मो को विशेषत नस्य कर्म को करना चाहिए । आचार्य चरक ने कहा है कि नस्य कर्म सूर्य के निकलने पर प्रात काल मे या मध्याह्न मे करे । आचार्य वाग्भट ने कफरोगो में प्रात, पित्त रोगो मे मध्याह्न मे और वायु के रोगो मे सायकाल या रात्रि मे नस्य देने का विधान किया है । वात से आक्रान्त शिरोरोग मे, हिवका, अपतानक, मन्यास्तम्भ तथा स्वरभेद मे प्रतिदिन प्रात और सायं

दो बार नस्य देना चाहिए । अन्य अवस्थाओं में एक दिन छोड़ कर नस्य देना चाहिए । नस्य का कर्म सात दिनों तक चलाना चाहिए ।

पश्चात् कर्म :—नस्य देने के उपरान्त फिर गले, कपोल आदि का स्वेद करके रोगी को धूमपान कराना चाहिए । पश्चात् नियमों का पालन करना चाहिए । धूल, धूप, धूम (धूर्वा) स्नेह, मद्य, द्रवपान, शिर से स्नान, बहुत सवारी करना, और क्रोध आदि का त्याग करना चाहिए ।

मात्रा :—विरेचन में स्नेह की मात्रा चार, छ या आठ बूँद (प्रति नासापुट के लिए) की है । इनको बल के अनुसार वरतना चाहिए । प्रदेशिनी अङ्गुलि (Index finger) को दो पोरवे (पर्व) तक स्नेह में डुबो कर उनसे निकली एक बूँद प्रथम मात्रा है । इसी प्रकार की ४-६ या ८ बूँदों (drops) को रोगी के बलाबल का विचार करते हुए वरतना चाहिए ।

स्नेह की मात्रा के भेद से इसकी तीन मात्राएँ उत्तम, मध्यम, और हीन की जाती हैं । प्रथम मात्रा या हीन मात्रा १६ बूँदों की, मध्यम मात्रा ३२ बूँदों और उत्तम मात्रा ६४ बूँदों की होती है ।

अवपीडन :—अवपीडनस्य शिरोविरेचन की भाँति अभिपण्ण (मेद-कफ से भरे शिर वाले), सर्पदंष्ट्र, मूर्च्छित पुरुषों को देना चाहिए । इसके लिए पिप्पली, विडग आदि शिरोविरेचन द्रव्यों में से किसी एक को पीस कर शर्करा, इक्षुरस, दूध, घी, मासरस में से किसी एक के साथ मिलाकर क्षीण हुए एवं रक्तपित्त के रोगियों में देना चाहिए ।

कृग, दुर्बल, भीरु तथा कोमल प्रकृति वाले पुरुष एवं स्त्रियों में शिर के शोधन के लिए सिद्ध किए स्नेह तथा अन्य द्रव्यों का कल्क हितकारी है ।

अवपीडन जैसे नाम से ही ज्ञात हो रहा है कि इसमें मरिच, शुठी आदि तीक्ष्ण द्रव्यों का कल्क बना कर निचोड़ कर उसका नस्य दिया जाता है इसीलिए अवपीडन कहलाता है ।

प्रधमन (Insufflation of Powder through Nose) —

मानसिक विकार, कृमि और विष से पीडित व्यक्तियों में नासामार्ग से फूँक मार कर चूर्ण को अन्दर में प्रविष्ट करते हैं । इसके लिए ६ अङ्गुल लम्बी दोनो ओर मुख वाली नाडो बना कर उसमें औषधि भर कर फूँक से नासा में देते हैं । यह बड़ा तीव्र प्रकार का नस्य है और दोषों को अधिक मात्रा में खींचता है, इसमें चूर्ण की मात्रा मुच्छटी (चूटकी भर) रखते हैं ।

प्रतिमर्श :—इसके दो प्रकार होते हैं । मर्श तथा प्रतिमर्श ।

प्रतिमर्श—नस्य जन्म मे लेकर मृत्यु पर्यन्त उत्तम है, क्योंकि यह प्रतिमर्श नित्य सेवन करने मे मर्श नस्य की भाँति गुणकारी है, इसमें न तो किसी प्रकार के पथ्य की आवश्यकता है और न मर्श के समान अविस्तम्भता आदि किसी प्रकार के उण्डव का भय है। प्रतिमर्श की विधि यह है कि प्रदेशिनी अङ्गुली के दो पर्वों को तैल मे डुबो कर निकाल लेने मे जो बूँद गिरती है उसका नाम बिन्दु है। मर्श नस्य की दम बिन्दु उत्कृष्ट मात्रा, आठ बिन्दु, उत्तम मात्रा ६ बिन्दु मध्यम मात्रा, और चार बिन्दु ह्रस्व मात्रा है। आचार्य मुथुन ने प्रतिमर्श की मात्रा इस प्रकार की बतलाई है—नाक मे नस्य रूप से डाला स्नेह छीकने पर मुत्र पर आ जाय वही प्रतिमर्श का प्रमाण है। इसी को प्रतिमर्श की मात्रा समझे।

नित्य प्रति वरतने के लिए नस्य मे तैल ही उत्तम है। स्वस्थ पुरुष का सिर ही कफ का स्थान होता है। दूसरे स्नेह इतने गुणकारी नहीं है जितने गुणकारी तैल है। यदि मर्श और प्रतिमर्श मे कोई भेद न हो तो कोई मनुष्य पथ्य वाले एवं आपत्तियुक्त मर्श नस्य का सेवन न करे। क्योंकि मर्श नस्य शीघ्र-कारी एवं गुणो में उत्कृष्ट है। प्रतिमर्श देर में काम करने वाला और गुणो में हीन है। जिस प्रकार कि अच्छे स्नेह के सम्बन्ध में कुटी-प्रवेश-स्थिति और वातातपरिस्थिति अथवा अनुवासन वस्ति में शीघ्रकारित्व और चिरकारित्व, गुणों की श्रेष्ठता और हीनता रहती है। इसी प्रकार मर्श एवं प्रतिमर्श में भी भेद रहता है।

प्रतिमर्श का काल :—प्रतिमर्श नस्य का उपयोग चौदह समय में करना चाहिए यथा—प्रातः विस्तर से उठने पर, दाँतों को साफ करके, घर से बाहर निकलते समय, व्यायाम, मैथुन, मुसाफिरी से थका होने पर, मूत्र-मल-कवल और अजन के पीछे, भोजन करके, वमन करके, दिन में सोकर उठने पर और सायं काल प्रतिमर्श नस्य लेना चाहिए।

इसमें प्रातःकाल विस्तर से उठकर सेवन किया प्रतिमर्श नस्य रात्रि में एकत्रित हुए, नासान्तोत में आए हुए मल को नष्ट करता है और मन को प्रसन्नता देता है। दाँतों को साफ करके लिया प्रतिमर्श नस्य दाँतों को दृढ़ एवं मुख में सुगन्ध उत्पन्न करता है। घर से बाहर जाते समय सेवन किया प्रतिमर्श नासा न्तोत को क्लिन्न रखने से बूल या घुँ के प्रभाव नहीं होने देता। व्यायाम, मैथुन या मुसाफिरी से थके हुए होने पर सेवन किया नस्य थकान को मिटाता है। मल-मूत्र त्याग के पीछे सेवन किया दृष्टि के भारीपन को दूर करता है। कवल के पीछे लिया दृष्टि को निर्मल करता है। भोजन करके सेवन किया स्त्रोतो

की निर्मलता और हल्कापन उत्पन्न करता है। वमन के पीछे सेवन किया प्रतिमर्ग नस्य स्रोतो में लगे कफ को हटा कर भोजन में रुचि उत्पन्न करता है। दिन में सोकर उठने पर लिया नस्य निद्राशेषजन्य भारीपन और मल को दूर कर चित्त की एकाग्रता उत्पन्न करता है। साय काल लिया नस्य सुख-पूर्वक नींद लाता है।

दोपानुसार स्नेह की भिन्नता :—वायुयुक्त कफ में तैल का प्रयोग शुद्ध वायु में वसा का प्रयोग, पित्त में घी का और वायुमिश्रित पित्त में मज्जा का नस्य देना चाहिए। इन चारों में तैल का ही उपयोग विशेषतः कफविरोधी होने से होता है।

नस्य कर्म के भेद :—ऊपर में विधिभेद से पाँच प्रकार के नस्य बतलाए जा चुके हैं। गुणों की दृष्टि से विवेचना की जाय तो वे मूलतः तीन प्रकार के ही होते हैं।

(१) विरेचन (२) वृहण (३) शमन। इनमें विरेचन नस्यों का प्रयोग गिर शूल, सिर की जड़ता, नेत्र के अभिष्यन्द रोग, गले के रोग, शोथ, गण्ड-माला, कृमि, ग्रन्थि, कुष्ठ, अपस्मार और पीनस में करना चाहिए।

वृहण नस्य का प्रयोग वातजन्य शिर शूल में, सूर्यावर्त्त में, स्वरक्षय में, नासागोप-आस्य शोष में, वाणी की जड़ता होने पर कठिनाई से बोलने में तथा अववाहक रोग में होता है।

शमन नस्य :—नीलिका, व्यग, केश रोग, अक्षि रोगों में अथवा आँखों में रेखा होने पर वरतना चाहिए।

सक्षेप में तीव्र सोठ, मिर्च, पिप्पली आदि से संस्कृत या बना हुआ, मधु या सैन्धव का यौगिक विरेचन नस्यों की कोटि में आते हैं और जागल मासरस से बनाए या रक्त या गोद मिश्रित नस्य वृहण होते हैं और अत्युष्ण घी और तैल, दूध या पानी से युक्त नस्य समान गुण के होते हैं।

नस्य कर्म के गुण —नस्यों से मनुष्य के जन्तु से ऊपर के रोग शान्त हो जाते हैं, इन्द्रियो में निर्मलता तथा मुख में सुगन्ध पैदा होती है। हनु, दात, शिर ग्रीवा, त्रिक, बाहु और छाती में बल आता है, बलि, झुर्रियों का पडना, पलित (केशों का पडना), खालित्य (सिर गजा होना), व्यग (झाई) भी उत्पन्न नहीं होते।

वास्तव में जन्तु से ऊपर के रोगों में नस्य वरता जाता है। शिरोरोग में इसका विशेष उपयोग होता है क्योंकि शिर का द्वार नाक है और इस नाक के मार्ग में नस्य सिर में फैलकर उन रोगों को नष्ट करता है।

जो मनुष्य यथासमय एव जास्त्रोक्त विधान के अनुसार नस्य कर्म का सेवन करता है उसकी आँख, नाक और कान नहीं मारे जाते । उसके बाल और दाढ़ी व बाल सफेद और कपिल (कुछ पीले) नहीं होते, उसके बाल झगते नहीं, वस्त्रिक विशेष बढ़ते हैं । मन्यास्तम्भ, गिर की पीटा, अर्दित, जबड़ों का जकड़ जाना, पीनस अक्षरूपारी और गिर का कापना शान्त हो जाता है । नस्य द्वारा तृप्त शिर की मिराएँ, मन्वियाँ, स्नायु और कण्डराएँ अधिक बल प्राप्त करती हैं । मुख प्रमन्न तथा पुष्ट, स्वर स्निग्ध महान और स्थिर, सभी इन्द्रियो में स्वच्छता एव अधिक बल होता है । उसकी हँसलियो (अक्षक) के ऊपर के भाग में उत्पन्न होने वाले रोग एकाएक नहीं होते । वृद्ध होने पर भी उत्तमाग (ग्रीवा के ऊपर) में बुढ़ापा बल नहीं प्राप्त करता है ।

शिरोविरेचन के अयोग्य रोगी (Contra Indications) :—
(१) अजीर्ण-पीडित, भोजन किए, स्नेह-मद्य, अधिक जल पिए, या तृषायुक्त (पीने की इच्छा वाले व्यक्ति), मिर से स्नान किए व्यक्ति, स्नान के लिए इच्छुक आर्त व्यक्ति, भूख-प्यास और थकावट से दुःखी, मद से मत्त, मूर्च्छित, शस्त्र या डंडे से चोट खाए व्यक्ति, मँथुन-व्यायाम और मद्यपान से बलान्त व्यक्ति शोक से मतम, विरिक्त, अनुवासित, गर्भिणी, नव प्रतिग्याय से पीडित व्यक्ति में, विपरीत ऋतु तथा दुर्दिनो में शिरोविरेचन नहीं करना चाहिए । यदि अत्यावश्यक अवस्था (Emergency) हो तो इनमें शिरोविरेचन करावे अन्यथा नहीं ।

शिरोविरेचन के योग्य (Indications) — उपर्युक्त अवस्थाओं के अतिरिक्त व्यक्तियों में शिरोविरेचन करे । विशेषतः शिरोरोग, दन्तरोग, मन्यास्तम्भ, गलग्रह, हनुग्रह, पीनस, गलगुण्डिका, कण्ठगालूक, शुक्र (Corneal opacity.), तिमिर (Progressive cataract.), वर्मरोग (Diseases of Eyelids), व्यंग (झाई) (Black Pigmentation), हिवका, अर्धविभेदक (Migrain), ग्रीवा, स्कन्ध-अस आस्य, नासिका, कर्ण, अक्षि—ऊर्ध्व कपाल तथा शिर के रोगों में, अर्दित (Facial Paralysis), अपतन्त्रक (Hysteria), अपतानक (Tetanus) गलगण्ड (Goiter), दन्तगूल-दन्तहर्ष (Odontitis), चलदन्त (दाँतो का हिल जाना (Pyorrhoea), अक्षिराग, अर्बुद, स्वरभेद, वाग्ग्रह (Aphasia) गद्गदकथन (Stammering) तथा ऊर्ध्वजत्रु के परिपक्व वातिक विकार । इन अवस्थाओं में शिरोविरेचन एक प्रधान कार्य है । शिरो-विरेचन के द्वारा इस दशा में जिस प्रकार मूज से सीकें निकाल ली जाती हैं और

भूज की कोई भी हानि नहीं होती है। उसी प्रकार केवल शिरोगत दोषों को नस्य निकाल लेता है। वर्णों की धातुओं को कोई भी हानि नहीं होती है।

योगायोग तथा सम्यक् योग के लक्षण.—नस्य के सम्यक् योग से सिर में लघुता, सुखपूर्वक निद्रा का आना, रोगों की शान्ति, इन्द्रियों की निर्मलता और मन की प्रसन्नता प्रभृति लक्षण दिखलाई पड़ते हैं।

अतियोग से कफ का गिरना, सिर में भारीपन इन्द्रियों का विभ्रम आदि पाया जाता है। यदि अतिस्निग्ध नस्य के कारण ये लक्षण उत्पन्न हो तो उनमें रुचण करना चाहिए।

अयोग में वायु की विपरीत गति, इन्द्रियों की रुक्षता, और रोग का शान्त होना पाया जाता है। इसमें पुन नस्य देना चाहिये।

शिरोविरेचन की औषधियाँ-अपामार्ग के बीज, छोटी पीपल, मरिच, वाय-विडङ्ग, शिग्रुबीज, सर्पप, तुम्बुरु (नेपाली धनिया), जीरा, अजवायन, अजमोदा पीलु, इलायची, रेणुका बीज, बडो इलायची, तुलसी, वन तुलसी, श्वेता, कुठेरक फणिज्झक, शिरीषबीज, हरिद्रा, सेवा नमक, काला नमक, ज्योतिष्मती, शुठी। (चर-सूत्र २)। इनके अलावे कटुतुम्बी, कडवी तोरई, प्याज, वन्दाक, कायफर का चूर्ण भी तीव्र शिरोरेचक है।



•

•

तृतीय खण्ड
चिकित्सा बीज

प्रथम अध्याय

शाब्दिक व्युत्पत्ति—‘कित् रोगापनयने’ व्याकरण के ग्रंथों में ‘कित्’ धातु का प्रयोग रोग के दूर करने के अर्थ में होता है। इसी ‘कित्’ धातु से चिकित्सा शब्द की निष्पत्ति होती है। कित् + कित् + सन् + अ केतितुमिच्छा चिकित्सा। इस शब्द का समष्टि में अर्थ होता है रोग का दूरीकरण। वातिककार ने लिखा है कि ‘कित्’ धातु का प्रयोग व्याधि के प्रतिकार, निग्रह, अपनयन तथा नाशन में होता है। फलतः इस धातु से बने शब्द चिकित्सा का भी इन्हीं अर्थों में व्यवहार होता है। “या क्रिया व्याधिहरणी सा चिकित्सा निगद्यते।”

(वैद्यकशब्दसिन्धु)

पर्याय—चिकित्सा के पर्याय रूप में कई शब्दों का व्यवहार प्राचीन ग्रंथों में पाया जाता है। उदाहरणार्थ क्रिया, कर्म, प्रतिकर्म, वैद्यकर्म, भिषक्कर्म, भिषगिजत, प्रतिपेध, प्रतीकार, प्रशमन, शमन, रोगापनयन, व्याधिहर, प्रायश्चित्त, चिकित्सित, पथ्य, साधन, औपव, प्रकृतिस्थापन, रोगोन्मूलन, निग्रह, उपक्रम, उपचार तथा उल्लाघन।

चिकित्सितं व्याधिहर पथ्यं साधनमौपधम्।

प्रायश्चित्तं प्रशमनम् प्रकृतिस्थापनं हितम्॥ (चर)

चिकित्सितं हितं पथ्यं प्रायश्चित्तं भिषगिजतम्।

भेषजं शमनं शस्तं पर्यायैरुक्तमौपधम्॥

तद्विद्यव्याख्या—१. वैद्य, औपध, परिचारक और रोगी प्रभृति चारों आवश्यक अंगों के प्रशस्त रहने पर, धातुओं के विकृत हो जाने पर, धातुसाम्य के लिये जो प्रवृत्ति होती है उस को चिकित्सा कहते हैं—

चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते।

प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते॥

२ जिस क्रिया के द्वारा शरीर के विषम हुए दोष एवं धातु समता को प्राप्त करते हैं उसे चिकित्सा कहते हैं और वही वैद्य का कर्म कहलाता है।

‘याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।

सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद् भिषजां स्मृतम्॥

क्योंकि दोषों या धातुओं का वैषम्य ही रोग कहलाता है—और उसका समान रहना ही आरोग्य है। रोग की अवस्था में विषमता को प्राप्त हुए दोष

एवं वातुवो को साम्यावस्था मे लाने के लिये की जाने वाली क्रिया चिकित्सा कहलाती है ।

‘रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यसरोगता ।’

३. व्याधि या रोग का सम्यक्तया ज्ञान करके, वेदना या तकलीफ को दूर करना ही वैद्य का वैद्यत्व, वैद्य कर्म या चिकित्सा है । वैद्य आयु का मालिक नहीं है । अर्थात् रोगी का जीवन या मरण ईश्वराधीन रहता है, वैद्य के अधीन नहीं रहता है । केवल रोगजन्य वेदना को ठीक करना ही उसके अधीन है ।

व्याधेस्तत्त्वपरिज्ञानं वेदनायाश्च निग्रहः ।

एतद् वैद्यस्य वैद्यत्वं न वैद्यः प्रभुरायुषः ॥

(ब्रह्मवैवर्त पुराण)

यथानिदानं निर्दिष्टमतिसम्यक् चिकित्सितम् ।

आयुर्वेदफलं स्थानमेतत्सद्योऽर्तिनाशनम् ॥

(अ. ह. चि. २२)

इस मंसार में कोई भी प्राणी अमर नहीं है, इसलिये मृत्यु का कोई भी निवारण नहीं कर सकता; किन्तु आयु के शेष रहने पर उत्पन्न हुए रोग चिकित्सा द्वारा अवश्य हटाये जा सकते हैं । इसलिये जब तक रोगी के कंठ में प्राण रहे रोग की चिकित्सा करते रहना चाहिए ।

न जन्तुः कश्चिदमरः पृथिव्यामेव जायते ।

अतो मृत्युरवार्थः स्यात् किन्तु रोगो निवार्यते ।

यावत् कण्ठगताः प्राणास्तावत् कार्यं चिकित्सितम् ॥

रोग तथा सर्पादि के दंश मे पीड़ित मनुष्य यदि कालप्राप्त (आयु पूरी) हो तो उसको स्वयं धन्वन्तरि भगवान् भी स्वस्थ नहीं कर सकते हैं । कालप्राप्त मनुष्य को औषधि, मंत्र, होम तथा जप इनमें से कोई भी नहीं बचा सकते हैं ।

आयुष्ये कर्मणि क्षीणे लोकोऽयं दूयते यदा ।

नौषधानि न मन्त्राश्च न होमा न पुनर्जपाः ।

त्रायन्ते मृत्युनोपेतं जरया चापि मानवम् ।

कायचिकित्सा—स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य का रक्षण तथा उसके रोगी हो जाने पर उसके रोग का प्रगमन, यही दो मुख्य प्रयोजन आयुर्वेद या चिकित्सा शास्त्र के हैं, तथा यही चिकित्सक का परम लक्ष्य है । इन दो उद्देश्यों को सम्मुख रखकर आयुर्वेद की सम्पूर्ण चिकित्सा कई विभागों में विभाजित हो जाती है । जिन्हें आयुर्वेद के अंग की संज्ञा दी जाती है । ये अंग आठ हैं, फलतः चिकित्सा भी आठ अंगों में विभाजित हो जाती है । जैसे १. चौर-फाड़ या दाह के जरिये

(यत्रोपयंत्र तथा शस्त्रानुशस्त्रो के द्वारा), जत्रु के नीचे के शरीरावयवों में होने वाले रोगों का उपचार करना (शल्यतन्त्र), २ जत्रु के ऊपर के शरीर के अवयवों की शलाका आदि के द्वारा चिकित्सा करना (शालाक्यतन्त्र), ३ देव, असुर, गधर्व, राक्षस, पितृ, पिशाच एवं नागग्रह आदि से उपसृष्ट व्यक्तियों में अर्थात् आधि या मानसिक रोगों से पीड़ित होने पर शान्तिकर्म-वलि-मंगल-होम-जप प्रभृति आधिदैविक उपचारों से रोगापनयन की क्रिया (भूत विद्या), ४ गर्भिणी परिचर्या, स्त्री रोग तथा बाल रोगों के उपचार (कौमार भृत्य) ५ सर्प-कीट-लूता एव मूषक प्रभृति जगम तथा विविध प्रकार के वानस्पतिक एव पार्थिव विषोपविष प्रभृति स्थावर प्रभावों से पीड़ित व्यक्तियों का उपचार (अगदतन्त्र), ६ स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य को स्थिर रखना या वय स्थापन, मेघा एव वल का बढ़ाना, रोग, वार्द्धक्य और मृत्यु पर विजय पाने का उपक्रम (रसायन तन्त्र), ७ अल्प शुक्र वाले पुरुषों में वीर्य का बढ़ाना, दूषित शुक्र वाले व्यक्तियों के शुक्र का सशोधन करना, क्षीण शुक्र वाले शरीरों को स्त्रीसग के लिये सक्षम करने का कर्म (वाजीकरण) तथा ८ सम्पूर्ण शरीर को प्रभावित करने वाले रोगों की अर्थात् ज्वर, रक्तपित्त, शोष, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, प्रमेह तथा अतिसार आदि रोगों के उपचारार्थ (कायचिकित्सा) है ।

प्रस्तुत विषय का सम्बन्ध प्रधानतः इसी अंतिम अंग कायचिकित्सा से ही है । भिषक् कर्म-सिद्धि नामक इस पुस्तक की रचना भी एतदर्थ ही है । परन्तु व्यवहार में व्यपदेश से अन्य अंगों का जैसे कायचिकित्सा के अंतर्गत रसायन एव वाजीकरण तथा भूतविद्या नामक अतिरिक्त अंगों या तंत्रों का भी समावेश इसमें हो जाता है ।

अथास्य प्रत्यङ्गलक्षणानि समासतः—

१. रसायनतन्त्रं नाम वय स्थापनमायुर्मैधाबलकरं रोगापहरणशमार्थं च ।
- २ वाजीकरणतन्त्रं नामाल्पदुष्टक्षीणशुष्करेतसामाप्यायनप्रसादोपचय-जनननिमित्तम् ।
- ३ कायचिकित्सा नाम सर्वाङ्गसंश्रितानां व्याधीना ज्वररक्तपित्त-शोषोन्मादापस्मारकुष्ठमेहातिसारादीनामुपशमनार्थम् ।
- ४ भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्ष पितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्ट-चेतसां शान्तिकर्मवलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम् । (सु सू १)

कायचिकित्सा की शाब्दिक व्युत्पत्ति—काय का अर्थ है सम्पूर्ण शरीर-इसकी चिकित्सा करना कायचिकित्सा है । काय की अन्य व्युत्पत्ति 'कायतीति काय' भी है । कायति का अर्थ धुक् धुक् शब्द करना है । कान को अंगुलि से बंद करने

पर एक नाद या शब्द सुनाई देता है। वह जीवित शरीर का बोधक है। इस जीवित शरीर की चिकित्सा करना ही वैद्य का प्रयोजन है। इस अर्थ में भी कायचिकित्सा, इस शब्द का प्रयोग हुआ है। काय का एक और अर्थ है जाठराग्नि। जब तक जाठराग्नि है तभी तक शरीर जीवित है—धुक् धुक् शब्द की उत्पत्ति भी इस जाठराग्नि (पेट की अग्नि) के प्रज्वलित रहने पर ही संभव रहती है। अस्तु काय शब्द से जाठराग्नि का बोध होता है।

“कायो जाठराग्निः अङ्गुलिपिहिते कर्णयुगले धुक् इति शब्द-श्रवणात् तात्स्थ्याद् वा कायशब्देन अग्निरुच्यते। उक्तं च भोजेन—

जाठरः प्राणिनामग्निः काय इत्यभिधीयते।

यस्तं चिकित्सेत्सीदन्तं स वै कायचिकित्सकः ॥ (भोज)

कायस्यान्तराग्नेश्चिकित्सा कायाचिकित्सा’

अर्थात् जीवित प्राणियो की जाठराग्नि को काय कहते हैं। इस अग्नि के विकृत हो जाने पर जो उपचार उसके सुधारने के लिये किया जाता है उसको कायचिकित्सा कहते हैं और उपचार करने वाले व्यक्ति को कायचिकित्सक कहते हैं। चिकित्सा शब्द की एक सामान्य व्याख्या प्रस्तुत करते हुए चरक ने लिखा है—‘धातुओं की विपमता होने पर, वैद्य-रोगी-औषध-परिचारक प्रभृति चारों अङ्गों से सुनज्ज होकर, धातुओं की साम्यावस्था में लाने वाली प्रवृत्ति को चिकित्सा शब्द से अभिहित किया जाता है।

चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते।

प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते ॥

(च सू ९)

वैद्यक ग्रंथों में जाठराग्नि का बहुत महत्त्व दिया गया है। गीता में भी इसे वैश्वानर कहा गया है—भगवान् ने अपने को इसी का रूप बतलाया है। यह अग्नि जब तक दीप्त रहती है कोई भी रोग नहीं होता और इसके विकृत होने पर ज्वर, अतिसार प्रभृति रोग हो जाया करते हैं। अस्तु कायचिकित्सक को उपचारकाल में सर्वोपरि ध्यान इस जाठराग्नि के ऊपर ही केन्द्रित करना होता है। चरक में लिखा है “अग्नि के शान्त हो जाने पर प्राणी मर जाता है, ठीक रहने पर नीरोग हो कर जीता है, विकृत होने पर रोगी हो जाता है अतः सब के मूल में अग्नि है।” इस अग्नि के पर्याय रूप में ‘काय’ शब्द का प्रयोग होता है। इसलिये अग्नि के विचार की प्रवाचता होने से इस अग्न का नाम ही कायचिकित्सा तत्र पड़ गया।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रित ।
 प्राणपानसमायुक्त पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ (गीता)
 आयुर्वर्णं बलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा ।
 ओजस्तेजोऽग्नय प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुका ॥
 शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः ।
 रोगी स्याद्विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते ॥ (च चि १५)
 'शमप्रकोपौ सर्वेषां दोषाणामग्निसंश्रितौ ।
 रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ ॥'

व्याधि या रोग—'विविध दुःखमादधतीति व्याधय' पुरुष को जिसके सयोग से दुःख होता है उसे व्याधि कहते हैं । तीनों दोषों (वात-पित्त-कफ) की साम्यावस्था आरोग्य और विषमावस्था रोग है ।

तत्प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम् । (पा योग दर्शन)
 तद्दुःखसंयोगा व्याधय उच्यन्ते । (सु सू १)
 रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता । (वा)
 विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते ।
 सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च । (च)
 दोषाणां साम्यमारोग्यं वैषम्यं व्याधिरुच्यते ।
 सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ॥ (भै र.)

व्याधियाँ चार प्रकार की होती हैं । १ आगन्तुक, २ शारीरिक, ३ मानसिक ४ स्वाभाविक । इनमें आगन्तुक रोग अभिघातज (आकस्मिक कारणों से), तथा शारीरिक आहार-विहार के असयम से अथवा वात-पित्त-कफ-रक्तादि की विषमता से होते हैं । मानसिक रोग क्रोध, शोक, भय, ईर्ष्या, असूया, दोनता, मात्सर्य, काम, क्रोध और लोभादि के मनोवेगों के सयम न होने अथवा इच्छा एवं द्वेष के विविध भेदों से होते हैं । इनके अलावे स्वाभाविक रोग क्षुधा, तृषा, निद्रा, वार्द्धक्य और मृत्यु आदि हैं ।

कालस्य परिणामेन जरामृत्युनिमित्तजाः ।

रोगाः स्वाभाविका दृष्टाः स्वभावो निष्प्रतिक्रियः ॥

चरक ऋषि ने रोगों के तीन प्रकार बतलाये हैं 'निजागन्तुमानसा ।' इनमें निज—शरीरदोषसमुत्थ, आगन्तुक—विष-वायु-अग्नि-सम्प्रहारजन्य तथा मानस रोग—इष्ट की सम्प्राप्ति न होने और अनिष्ट की प्राप्ति होने से उत्पन्न होते हैं । ये सभी प्रकार के रोग मन एवं शरीर दोनों का आश्रय कर उत्पन्न होते हैं । "विविधमाधि दुःखमादधाति शरीरे मनसि चेति व्याधि ।"

आगन्तुक रोग दो प्रकार के होते हैं—एक मन के दूसरे शरीर के । इन दोनों की चिकित्सा भी दो प्रकार की होती है । शारीरिक रोगों में शरीर का उपचार तथा मानस रोगों में मन सम्बन्धी उपचार जैसे गन्ध-स्पर्श-रूप-रस-गंध का सुखप्रद उपयोग हितकर होता है ।

‘आगन्तवस्तु ये रोगास्ते द्विधा निपतन्ति हि ।

मनस्यन्ये शरीरेऽन्ये तेषान्तु द्विविधा क्रिया ॥

शरीरपतितानां तु शारीरवदुपक्रमः ।

मानसानां तु शब्दादिरिष्टो वगे. सुखावहः ॥

(सु सू १)

उत्पत्ति के भेद से व्याधि के दो भेद होते हैं । पापज और कर्मज । पापज व्याधि वह है जो इस जन्म में किये गये मिथ्या आहार-विहारादि रूप पाप से उत्पन्न होती है । इसी को अन्य स्थानों पर दोषजन्य (वात-पित्त एवं कफजन्य) भी कहा गया है । पापज व्याधियाँ औषध-सेवन तथा उचित पथ्याचरण से निवृत्त हो जाती हैं । कर्मज व्याधि वह है जो निदान-पूर्वरूप-रूप आदि से निर्णय करके उचित चिकित्सा करने पर भी विनष्ट नहीं होती ।

तत्रैकः पापजो व्याधिरपरः कर्मजो मतः ।

पापजाः प्रशमं यान्ति भैषज्यसेवनादिना ॥

यथाशास्त्रविनिर्णीतो यथान्याधिचिकित्सिताः ।

न शमं याति यो व्याधिः स ज्ञेयः कर्मजो व्युधैः ॥ (भै र)

रोग प्राणियों के शरीर को कृत्रिम करने वाले, बल का क्षय करने वाले, क्रियाशक्ति को कम करने वाले, इन्द्रियों की शक्ति को क्षीण करने वाले, सर्वाङ्ग में पीड़ा पैदा करने वाले, सभी पुष्टार्थो-वर्म-अर्थ-काम-मोक्ष, के वाक्क तथा प्राण को नष्ट करने वाले होते हैं । इनकी उपस्थिति में प्राणियों को सुख नहीं मिलता है । आयुर्वेद इन अपकारी रोगों से प्राणियों को मुक्ति दिलाता है ।

रोगाः काश्यकरा बलक्षयकरा देहस्य चेष्टाहरा

दृष्टा इन्द्रियशक्तिसंक्षयकराः सर्वाङ्गपीडाकराः ॥

धर्मार्थाखिलकाममुक्तियु महाविघ्नस्वरूपा बलान्

प्राणानाशु हरन्ति सन्ति यदि ते क्षेमं कुतः प्राणिनाम् ॥

(भै. र)

व्याधि का सामान्य हेतु—काल (ऋतु, अवस्था आदि परिणाम), अर्थ (पंच ज्ञानेन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध प्रभृति व्यापार) तथा कर्म (कर्मेन्द्रियों के कर्म उत्क्षेपण-अपक्षेपण-आकुंचन-प्रसारण-नामनादि

व्यापार) का अतियोग, हीन योग या मिथ्या योग रोग पैदा करने का मूल कारण है तथा इनका सम्यक् योग आरोग्य का प्रधान कारण है ।

“कालार्थकर्मणां योगो हीनमिथ्यातिमात्रकः ।

सम्यग् योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैककारणम् ॥”

अथवा इस प्रकार भी कहा जा सकता है काल (शीत, उष्ण एव वर्षा प्रभृति ऋतु), बुद्धि (प्रज्ञा का अपराध या दोष अधर्म आदि) तथा इन्द्रियार्थों (कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रियो के कर्म) का अति योग, अयोग एव मिथ्या योग ये तीन प्रकार के कारण विविध प्रकार के मानस एव शरीर गत रोगों के उत्पादक होते हैं ।

कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च ।

द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रहः ॥

(च सू १)

दूसरे शब्दों में धी-धृति एव स्मृति का भ्रंश (बुद्धि या प्रज्ञा का अपराध या दोष), काल तथा कर्म की सम्प्राप्ति (ऋतु, अवस्था तथा अधर्म या पूर्व जन्म कृत कर्म का समय से प्रकट या व्यक्त होना) तथा असात्म्यार्थागम (असात्म्य अर्थों-इन्द्रिय-व्यापारों का अनुष्ठान) ये दुःख या रोग के सामान्य कारण हैं ।

धीधृतिस्मृतिविभ्रंशः सम्प्राप्तिः कालकर्मणाम् ।

असात्म्यार्थागमाश्चेति ज्ञातव्या दुःखहेतवः ॥

(च शा. १)

दूसरे शब्दों में इन त्रिविध कारणों को इस प्रकार भी कहा जा सकता है १. असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग (इन्द्रियो का अपने विषयों के साथ अनुचित उपयोग), प्रज्ञापराध (बुद्धि, धैर्य एव स्मृति के अनुसार कार्य न करना) तथा परिणाम (काल अधर्म तथा दैव का विपरीत होना) ।

वायु-पित्त तथा कफ ये तीन शरीरगत व्याधियों के पैदा करनेवाले दोष हैं एव मानसिक व्याधियों के पैदा करने में दो ही दोष रज और तम भाग लेते हैं ।

वायुः पित्तं कफश्चेति शारीरो दोषसंग्रहः ।

मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥

(च सू १)

व्याधि का पर्याय—व्याधि, आमय, गद, आतक, यक्ष्मा, ऽवर, विकार, रोग, पाप्मा, आवाध, तम तथा दुःख । ये रोग के नामान्तर हैं । इन शब्दों में आमय सज्ञा सुप्रसिद्ध है । चक्रपाणि ने आमय शब्द की व्युत्पत्ति दिखलाते हुए कहा है कि प्रायः रोग आम दोष से ही उत्पन्न होते हैं अतः आमय कहलाते हैं—

“प्रायेणामसमुत्थत्वेनामय इत्युच्यते ।” (चक्र)

“तत्र व्याधिरामयो गद आतङ्को यक्ष्मा ज्वरो विकारो रोग इत्यनर्थान्तरम् ।” (च नि १)

रोगः पाप्मा ज्वरो व्याधिर्विकारो दुःखसामय ।

यक्ष्मातङ्कगदावाधा. शब्दा पर्यायवाचिनः ॥ २ ॥ (अ ह नि)

चिकित्सा का सामान्य उपक्रम—जिन कारणों से रोग उत्पन्न हुआ है उन कारणों का परित्याग करना ही सामान्य चिकित्सा है । उष्णता के कारण उत्पन्न हुए रोगों में शीतोपचार एवं शैत्य के कारण उत्पन्न व्याधियों में उष्णोपचार करना युक्तिसंगत है ।

सामान्यतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम् । (सू)

हेतोरसेवा विहिता यथैव जातस्य रोगस्य भवेच्चिकित्सा । (च)

शीतेनोष्णकृतान् रोगान् शमयन्ति भिषग्विदः ।

ये च शीतकृता रोगास्तेषां चोष्णं भिषग्विजितम् ॥ (च)

शीण हुए दोषों का बढ़ाना, बढ़े हुए दोषों को घटाना, और सम दोषों को समान बनाये रखना चिकित्सा का उपक्रम है ।

“क्षीणा वर्द्धयितव्याः, वृद्धा ह्रासयितव्याः, समाः परिपाल्याश्च ।”

रोगहर औषधियों से रोगी की चिकित्सा करनी चाहिये । जैसे थके हुए का थकावट दूर करने वाली औषधियों से उपचार करे । कुण्ठ एवं दुर्बल व्यक्ति का आप्यायन—संतर्पण करे, स्थूल और मेदस्वी व्यक्तियों का अपतर्पण करे, उष्ण-भिभूत व्यक्ति का शीत से उपचार करे, शीताभिभूत का उष्ण क्रिया से उपचार करे, न्यून धातु वाले व्यक्तियों में पूरण (भरण) क्रिया से उपचार करे, बढ़े हुए दोषों में ह्रासन (कम करना) क्रिया उपयुक्त होती है, रोग के मूल कारण के विपरीत प्रयोग से उपचार करे, ठीक ढंग से स्वाभाविक या प्राकृत अवस्था में शरीर को लाने का प्रयत्न करना चाहिये । इस प्रकार यथा उपयुक्त कर्म करते हुए औषधि के योग से चिकित्सा सुन्दरतम बन जाती है ।

इदं च नः प्रत्यक्षं यदनातुरेण भेषजेनातुरं चिकित्स्याम, क्षामसक्षामेण, कुशञ्च दुर्बलमाप्याययाम, रथूलं मेदस्विन्नमपतर्पयाम, शीतेनोष्णाभिभूतमुपचराम, शीताभिभूतमुष्णेन, न्यूनान् धातून्पूरयाम, व्यतिरिक्तान् ह्रासयाम,, व्याधीन् मूलविपर्ययेण उपचरन्तः सम्यक् प्रकृतौ स्थापयाम, तेषां नस्तथा कुर्वतामयं भेषजसमुदाय कान्ततमो भवति । (चर सू १०)

दोष अथवा तज्जन्य व्याधियों के शमन के लिये शारीरिक रोगों में दैव-व्यपाश्रय तथा युक्तिव्ययाश्रय चिकित्सा करनी चाहिये और मानसिक रोगों में

ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति एव समाधि प्रभृति क्रियाओं द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए । दैवव्यपाश्रयकर्म—बलि-मगल-होम प्रभृति हैं, युक्तिव्यपाश्रय कर्मों में शरीर एवं औषधि का विचार करते हुए यथायोग्य भेषज का प्रयोग आ जाता है । ज्ञान-विज्ञान-धैर्य-स्मृति और समाधि से क्रमशः अध्यात्मज्ञान, शास्त्रज्ञान, धैर्य धारण, अनुभूत विषयो का स्मरण तथा विषयो से मन को रोककर आत्म में नियमन करना आता है ।

प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः ।

मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥

(च सू १)

उपक्रम भेद से चिकित्सा के दो प्रकार हो जाते हैं । १ सतर्पण २ अपतर्पण । दूसरे शब्दों में संतर्पण को वृहण और अपतर्पण को लघन कहा जाता है । शरीर में रस-रक्तादि धातुओं की क्रिया को जो बढ़ावे वह सतर्पण और जो कम करे या धातुओं को हल्का करे वह अपतर्पण या लघन कहलाता है ।

लघन कर्म के पुनः दो भेद हो जाते हैं १ शोधन या सशोधन २ शमन या मंशमन । जिस क्रिया के द्वारा दोष या मल बाहर निकल जाते हैं वह कर्म शोधन कहलाता है । यह कर्म पुनः पाँच प्रकार का होता है (क) निरुह वस्ति (ख) वमन (ग) विरेचन (घ) शिरोविरेचन (ङ) रक्तावसेचन (रक्त का वहाना) ।

शमन उस कर्म को कहते हैं—जो मल को बाहर नहीं निकालता, समदोषों को प्रकुपित नहीं करता, अपितु विषम धातु एवं दोषों को समान करता है । इसके भीतर सात उपक्रमों का समावेश हो जाता है । (क) पाचन, (ख) दीपन (जाठराग्नि को दीप्त करना), (ग) क्षुधानिग्रह, (भूख का रोकना), (घ) तृपानिग्रह (प्यास को रोकना), (ङ) व्यायाम (परिश्रम करना), (च) आतप (धूप का सेवन कराना), (छ) वायु के सेवन, ये शमन के सात प्रकार हैं । वृहण कर्म भी शमन का कार्य करता है । प्रायः गुरु, शीत, मृदु, स्थूल, घन, पिच्छिल, मद, स्थिर एवं श्लक्ष्ण द्रव्य वृहण होते हैं । वृहण क्रिया के द्वारा बल, पुष्टि एवं स्थिरता बढ़ती है, कृशता दूर होती है । अधिक वृहण होने से स्थूलता आ जाती है ।

उपक्रमस्य द्वित्वाद्धि द्विधैवोपक्रमो मतः ।

एकः संतर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पणः ॥

वृंहणो लङ्घनश्चेति तत्पर्यायावुदाहृतौ ।

वृंहणं यत् वृहत्त्वाय लङ्घनं लाघवाय यत् ॥

शोधनं शमनञ्चेति द्विधा तत्रापि लङ्घनम् ।
 यदीरयेद् वहिर्दोषान् पञ्चधा शोधनं हि तत् ॥
 निरुहो वमनं कायशिरोरेकोऽस्रचिस्रुतिः ।
 न शोधयति यदोषान् समान्नोदीरयत्यपि ॥
 समीकरोति विषमाञ् शमनं तच्च सप्तधा ।
 पाचनं दीपनं क्षुत्तृड्यायामातपमारुताः ॥
 वृंहणं शमनं त्वेव वायोः पित्तानिलस्य च ।

(अ ह सू १४)

गुरुशीतमृदुस्निग्धं वहलं सूक्ष्मपिच्छिलम् ॥
 प्रायो मन्दं स्थिरं श्रद्धया द्रव्यं वृंहणमुच्यते ।
 चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतात्पौ ॥
 पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम् ।

(च. सू २२)

चरक ऋषि ने सर्व रोगों की सामान्य चिकित्सा में छ उपक्रमों का उल्लेख किया है । इनका सम्यक् रूप से प्रयोग होने पर सभी साध्य रोग अच्छे हो जाते हैं । ये सिद्ध उपक्रम माने गये हैं और इनका मात्रा और काल के अनुसार प्रयोग करने का उपदेश है । इन छ. उपक्रमों का सम्यक् ज्ञान वैद्य के लिये आवश्यक माना गया है । साथ ही यह भी कहा गया है कि दोषों के विविध प्रकार के नश्वर ने भ्रांति-भ्रांति के रोग होते हैं, परन्तु उनके उत्पादन में तीन दोषों के अतिरिक्त कोई दोष नहीं भाग लेता, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के रोगों की चिकित्सा में इन छ उपक्रमों के अतिरिक्त किसी अन्य उपक्रम की आवश्यकता नहीं रहती, इन छ. उपक्रमों में ही सभी चिकित्सा में व्यवहृत होने वाले उपक्रमों का समावेश हो जाता है ।

इति षट् सर्वरोगाणां प्रोक्ताः सम्यगुपक्रमाः ।

साध्यानां साधने सिद्धा मात्राकालानुरोधिनः ॥

दोषाणां बहु संसर्गात् संकीर्यन्ते उपक्रमाः ।

षट्त्वं तु नातिवर्तन्ते त्रित्वं वातादयो यथा ॥

(च. सू २२)

ये छ उपक्रम कौन-कौन से हैं जिनके केवल एक या दो तीन या अधिक के मिश्रण ने सम्पूर्ण चिकित्सा सम्भव रहती है । ये उपक्रम निम्नलिखित हैं--

१. लङ्घन २ वृंहण ३. रुक्षण ४ स्नेहन ५. स्वेदन तथा ६ स्तंभन ।

इन कर्मों का सम्यक् रीति से जानने वाला ही वैद्य है ।

शरीर को जो कुछ भी लघु करे लघन कहलाता है, जिसमे रुक्षता, खरता, विशदता हो और शरीर को रुखा करता हो रुक्षण कहलाता है, स्निग्ध, विलयनशील, मृदु एवं क्लेद कारक द्रव्य शरीर के स्नेहन मे आते है, स्तम्भ (जकडाहट), गुरुता और शीत को दूर करने वाला एवं स्वेद लानेवाला कर्म स्वेदन कहा जाता है, शरीर की गतिमान् एवं चल वस्तुओ को रोकनेवाली क्रिया जो निश्चित रूप से रोकने मे समर्थ होती है स्तम्भन कहलाती है ।

लङ्घनं बृंहणं काले रुक्षणं स्नेहनं तथा ।

स्वेदनं स्तम्भनञ्चैव जानीते य स वै भिषक् ॥

यत्किञ्चिल्लाघवकरं देहे तल्लङ्घनं स्मृतम् ।

बृहत्त्वं यच्छरीरस्य जनयेत्तच्च बृहणम् ॥

रौक्ष्यं खरत्वं वैशद्यं यत् कुर्यात्तद्वि रुक्षणम् ।

स्नेहनं स्नेहविष्यन्दमार्दवक्लेदकारकम् ॥

स्तम्भगौरवशीतघ्नं स्वेदनं स्वेदकारकम् ।

(च सू २२)

आचार्य सुश्रुत ने लिखा है--सम्यक् प्रकार से प्रयुक्त किये गये सशोधन, सशमन, आहार एवं विहार रोगो का निग्रह करते है ।

“तेषां संशोधन-संशमनाहाराचारा सम्यक् प्रयुक्ता निग्रहहेतव भवन्ति ।” (सु सू १)

चरकाचार्य ने लिखा है कि सशोधन, सशमन और निदान का परिवर्जन (कारण का दूर करना) यही तीन कर्म प्रायः रोग को चिकित्सा मे वरते जाते है । रोगानुसार प्रत्येक मे इन उपक्रमो का यथाविधि उपयोग करना चिकित्सक का कर्तव्य है ।

संशोधनं संशमनं निदानस्य च वर्जनम् ।

एतावद् भिषजा कार्यं रोगे रोगे यथाविधि ॥

(च वि ८)

सशोधन की व्याख्या ऊपर हो चुकी है । सशमन के बारे मे इस आचार्य के मत से दो भेद होते है । १ बाह्य तथा २ आभ्यन्तर । बाह्य सशमन मे आलेप, परिषेक, कवल और गण्डूष आदि का ग्रहण हो जाता है । आभ्यन्तर सशमन मे पाचन, लेखन, बृहण एवं विपप्रशमन आदि कर्मों का समावेश है ।

आहार चार प्रकार के होते है १ पेय २ भक्ष्य ३ लेह्य और ४ चोष्य । क्रिया या गुण की दृष्टि से विचार किया जावे तो आहार तीन प्रकार के होते है—१ दोषप्रशमन २ व्याधिप्रशमन ३ स्वास्थ्यकर ।

आचार तीन प्रकार के होते हैं—(क) शारीरिक (ख) वाचिक (ग) मानसिक। इनमें उत्क्षेपण, अवक्षेपण प्रभृति कर्म शारीरिक आचार, स्वाध्याय वाचिक एवं संकल्प, चिन्तन आदि व्यापार मानसिक आचार हैं।

आहार :—पथ्य की बड़ी महिमा शास्त्र में बतलाई गई है। लोलिम्बराज कृत वैद्यजीवन में तो यहाँ तक लिखा है कि यदि रोगी पथ्य का विधिवत् सेवन करे तो उसको औषध के सेवन की कोई आवश्यकता नहीं है। अर्थात् वह पथ्य से ही अच्छा हो जायेगा। इसके विपरीत यदि वह पथ्य से न रहे, तब भी उसको औषधि सेवन की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अपथ्य से वह अपना रोग बढ़ा लेगा। फलतः औषधि सेवन का कोई भी फल नहीं होगा।

पथ्ये सति गदार्त्तस्य किमौषधनिपेवणैः।

पथ्येऽसति गदार्त्तस्य किमौषधनिपेवणैः ॥

आहार प्राणियों के बल, वर्ण और ओज का मूल है। आहार के सेवन से ही प्राणी जीवित रहता है, उसका बल बढ़ता है, शरीर का वर्ण और तेज अद्भुत बन रहा है। हिताहार और विहार पर ही उसकी कार्यक्षमता निर्भर रहती है। आहार के अभाव में इन सभी मद्गुणों का ह्रास पाया जाता है।

अस्तु बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि चाहे रोग मानसिक हो या शारीरिक सत् बुद्धि से विचार कर हित और अहित (पथ्य और अपथ्य) का ध्यान रखते हुए, धर्म-अर्थ और काम दृष्टि से जो लाभप्रद हो उस प्रकार के आहार-विहार का सेवन करे तथा जो अहित करने वाले हानि-प्रद हो उनका परित्याग करने का प्रयत्न करे। तद्विद्य मानस एव शरीर व्याधि के ज्ञाता अर्थात् वैद्यक शास्त्र अथवा उसके ज्ञाता की सलाह लेकर उसके अनुसार आहार-विहार के अनुष्ठान का प्रयत्न करे। इस तरह आत्मा, देह, कुल, काल, बल तथा शक्ति का सम्यक् ज्ञान करके तदनुकूल आहार-विहार रखने का प्रयत्न करना चाहिये।

तत्र बुद्धिमता मानसव्याधिपरीतेनापि सता बुद्ध्या हिताहितमवेक्ष्यावेक्ष्य धर्मार्थकामानामहितानामनुपसेवने हितानां चोपसेवने प्रयतितव्यम्। न ह्यन्तरेण लोके त्रयमेतन्मानसं किचिन्निष्पद्यते सुखं वा दुःखं वा तस्मादेतच्च अनुष्ठेयम्। तद्विद्यानां चोपसेवने प्रयतितव्यम्, आत्मदेशकुलकालबलशक्तिज्ञाने यथावच्चेति। (च सू ११)

हित आहार विहार करने वाला, मोच विचार कर काम करने वाला, विषय वामनायो में आमक्त न रहने वाला, दाता, सत्यवादी, क्षमावान्, वृद्ध और शास्त्रों का वचन मानने वाला तथा सबको समान भाव से देखने वाला मनुष्य नीरोग रहता है।

नरो हिताहारविहारसेवी
समीक्ष्यकारी विपयेष्वसक्तः ।

दाता समः सत्यपरः क्षमावान्
आप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ॥

आहार-स्वप्न-ब्रह्मचर्य—आहार, निद्रा तथा सयम युक्त आचरणो का बहुत महत्व शास्त्रो में बतलाया गया है । इन तीनों का उपस्तभ के रूप में वर्णन किया गया है । इनकी उपमा मकान के उपस्तभों से दी गई है जिनके आधार पर मकान खड़ा रहता है । इन तीनों का युक्तियुक्त प्रयोग स्वस्थ शरीर को अपेक्षित रहता है । रोगी मनुष्य को तो बहुत ही आवश्यक हो जाता है ।

“त्रय उपस्तभा आहार, स्वप्नो, ब्रह्मचर्यमिति । एभिस्त्रिभिर्युक्त-युक्तैरुपस्तब्धमुपस्तम्भैः शरीरं बलवर्णोपचयोपचितमनुवर्तते यावदायुः सस्कारात् संस्कारमहितमुपसेवमानस्य य इहैवोपदेक्ष्यते ।”

(च सू ११)

आहार तथा औषधि :—आहार पदार्थों के अधीन है । यह रस द्रव्यों में आश्रित रहता है एव द्रव्य ही औषधि है । आहार प्रायः रसप्रधान होते हैं और औषधियाँ वीर्यप्रधान । पुनः ये गुणों की दृष्टि से मृदु, मध्य और तीक्ष्ण तथा कार्य भेद से सशोधक एव सशामक हो जाती हैं । औषधियाँ दो प्रकार की होती हैं स्थावर तथा जगम । स्थावर के पुनः दो भेद हो जाते हैं औद्भिद तथा पार्थिव ।

जगम औषधियों में चार प्रकार के जीव आते हैं । जैसे १ जरायुज २ अण्डज ३ स्वेदज तथा ४ उद्भिद् । इनमें मनुष्य-पशु आदि जरायुज, पक्षि, सर्प अजगर प्रभृति अण्डज, कृमि, कीट आदि जीव स्वेदज तथा वीरवहूटी, मेढक आदि जीव उद्भिद् जाति के होते हैं ।

स्थावर द्रव्य चार प्रकार के होते हैं :—१ वनस्पति, जिनमें बिना फूल आये ही फल आता है । २ वृक्ष, जिनमें फूल और फल दोनों लगते हैं । ३ वीरुध्, जो फलने वाली लता-प्रतान या गुल्म का रूप लेते हैं तथा ४ औषधि, जो फल के पकने तक ही अपना अस्तित्व रखते हैं । इस वर्ग में दुर्वा प्रभृति द्रव्यों का भी ग्रहण कर लेना चाहिये जिनमें बिना फल लगे पकने या सूखने की प्रवृत्ति पाई जाती है ।

इन स्थावर औषधियों के त्वक्, पत्र, पुष्प, फल, मूल, कंद, गोद, स्वरस, दूध, तैल, क्षार, कांटे प्रभृति अग चिकित्सा में व्यवहृत होते हैं । स्थावरो का एक दूसरा भेद पार्थिव या खनिज द्रव्यों का है जिनमें सुवर्ण, रजत, लौह, मणि, मन शिला, मृत्तिका आदि द्रव्य चिकित्सा के व्यवहार में आते हैं ।

जंगम औषधियों के चर्म, नख, बाल, रक्त, मांस, मूत्र, पुरीष आदि का उपयोग रोग की चिकित्सा में होता है ।

औद्भिदं तु चतुर्विधम् ।

फलैर्वनस्पतिः पुष्पैर्वानस्पत्यः फलैरपि ।

ओषध्यः फलपाकान्ताः प्रतानैर्वीरुधः स्मृताः ॥

मूलत्वक्सारनिर्यासनालस्वरसपल्लवाः ।

क्षारा क्षीरं फलं पुष्पं भस्म तैलानि कण्टकाः ॥

पत्राणि शुद्धा कन्दाश्च प्ररोहाश्चौद्भिदो गणः । (च. सू. १)

इन द्रव्यों के अतिरिक्त कालकृत भी औषधियाँ बतलाई गई हैं । जैसे अति वायु, अवायु, घृष, छाया, ज्योत्स्ना, अन्धकार, प्रकाश, शीत, उष्ण, वर्षा, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन तथा संवत्सर इसको कालकृत औषधि की संज्ञा मुद्रुत में दी गई है । ये स्वभाव से ही दोषों के संचय, प्रकोप, प्रशमन एवं प्रतीकार में कारण और चिकित्सा में उपयोगी हैं ।

आहार एवं औषधि में कोई विशेष भेद नहीं है । जो सामान्य आहार है, वही अवस्था भेद से औषधि के रूप में प्रयुक्त हो सकता है । आहार या औषधि के चार वर्ग सुश्रुत में बताये गये हैं । १. स्यावर २. जंगम ३. पार्थिव ४ काल-कृत । तंत्र में इस चार प्रकार के वर्ग को शारीरिक रोगों के प्रकोप तथा शमन में कारण बताया गया है ।

शरीराणा विकाराणामेव वर्गश्चतुर्विधः ।

प्रकोपे प्रशमे चैव हेतुरुक्तश्चिकित्सकैः ॥ (सु सू. १)

पुरुष—कर्म पुरुष या मानव शरीर पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश तथा आत्मा के संयोग से बना है । यह चिकित्सा का अधिष्ठान है । सम्पूर्ण चिकित्सा का कर्म इसी के लिये होता है । यह प्रधान है, शेष अन्य वस्तुएँ इसके उपकरण रूप में हैं ।

पशु-चिकित्सा में जहाँ हाथी, घोड़े, कुत्ते, गाय, भैंस प्रभृति बड़े और उपयोगी पशुओं की चिकित्सा की जाती है उस स्थान पर पशु प्रधान हो जाता है और शेष अन्य द्रव्य उसके उपकरण रूप में आते हैं ।

लोक—सृष्टि दो प्रकार की है स्यावर एवं जंगम । गुणों या क्रिया की दृष्टि से विचार करें तो सम्पूर्ण स्यावर तथा जंगम सृष्टि सौम्य तथा आग्नेय भेद से दो प्रकार की होती है । दोनों प्रकार की सृष्टि पंचभूतात्मक है । प्राणधारी चार प्रकार के जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज होते हैं । इनमें प्रधानता पुरुष की दी गई है शेष अन्य द्रव्य पुरुष के उपकरण रूप में माने जाते हैं ।

इस प्रकार पुरुष व्याधि, औषध एवं क्रियाकाल की सक्षिप्त व्याख्या समाप्त हुई । आचार्य सुश्रुत ने इस पाठ की चिकित्सा बीज नाम से व्याख्या की है ।

बीजं चिकित्सितस्यैतत् समासेन प्रकीर्तितम् ।

सविशमध्यायशतमस्य व्याख्या भविष्यति ॥ (सु सू १)



द्वितीय अध्याय

चिकित्सा के भेद—चिकित्सा तीन प्रकार की होती है १ आसुरी २ मानुषी ३. दैवी । शल्यकर्म के द्वारा यत्र-शस्त्र-क्षार-अग्नि के द्वारा जो चिकित्सा की जाती है उसे आसुरी चिकित्सा कहते हैं । काढा-चूर्ण-गुटिका प्रभृति काष्ठौषधियों के द्वारा जो चिकित्सा की जाती है उसे मानुषी चिकित्सा कहते हैं तथा धातूपधानु की भस्म, खनिज द्रव्य, रसोपरसो से जो चिकित्सा की जाती है वह दैवी चिकित्सा कहलाती है । उनको क्रमशः एक दूसरे से श्रेष्ठ माना गया है । तात्पर्य यह है कि आसुरी से मानुषी और मानुषी से दैवी चिकित्सा श्रेष्ठ मानी जाती है ।

आसुरी मानुषी दैवी चिकित्सा त्रिविधा मता ।

शस्त्रैः कपायैर्लोहाद्यैः क्रमेणान्त्या सुपूजिता ॥

अधम शस्त्रदाहाभ्या मध्यमो मूलकादिभिः ।

उत्तमो रसवैद्यस्तु सिद्धवैद्यस्तु मान्त्रिकः ॥

महर्षि आत्रेय ने चिकित्सा के तीन भेद बतलाये हैं । १ दैवव्यापाश्रय, २ युक्तव्यपाश्रय, ३ सत्त्वावजय । इनमें दैवव्यपाश्रय उपक्रमो में मंत्र, औषधि, मणिधारण, मंगलकर्म, बलि कर्म, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्त्ययन, प्रणिपात तथा गमनादिक कर्मों का ग्रहण हो जाता है । युक्त व्यपाश्रय चिकित्सा में आहार-विहार-औषधि द्रव्यों की विविध योजनायें जैसे क्वाथ-चूर्ण-गुटिका-अवलेह, रस-भस्म, संशोधन तथा सशमन प्रभृति विविध आधि-भौतिक उपायो का समावेश हो जाता है ।

सत्त्वावजय—इस चिकित्सा में विशुद्ध आध्यात्मिक तत्त्वों का उपयोग आ जाता है जिस में अहित विषयो से मन का रोकना प्रधान उपक्रम होता है । इन तीनों उपक्रमों में अधिक व्यावहारिक प्रथम तथा द्वितीय उपक्रम नाम से दैव तथा युक्त व्यपाश्रय ही होते हैं । जिसमें प्रथम आधिदैविक (Metaphysical & Psychological) तथा द्वितीय आधिभौतिक (Materialistic) कहे जा सकते हैं । इसी अर्थ से लिखा मिलता है —

चरके तु द्विधा प्रोक्ता दैवयुक्तिव्यपाश्रयात् ।

शरीर के दोषों के प्रकोप से होने वाली शरीर गत व्याधियों में शरीर के आश्रय के आधिभौतिक उपचारों के प्रायः तीन प्रकार हो जाते हैं १ अन्त परिमार्जन, २ वहि परिमार्जन तथा ३ अस्त्रप्रणिधान । अन्त. परिमार्जन का अर्थ होता है, ओषधि का शरीर के भीतर प्रवेश कराके मिथ्याहार विहार में उत्पन्न दोषों का प्रमार्जन करना । वहिः परिमार्जन का अर्थ होता है ओषधि के बाह्य प्रयोग के द्वारा त्वचादि पर अभ्यंग, स्वेद, लेप, परिपेक आदि के द्वारा दोषों का प्रमार्जन या रोग का दूर करना । अस्त्रप्रणिधान का अर्थ होता है अत्यकर्मोपचिकित्सा जिसमें छेदन, भेदन, व्यवन, वारण, लेखन, उत्पाटन, प्रच्छेदन, सीवन, एषण, क्षार, अग्नि तथा जलौका प्रभृति यंत्रोपयंत्र तथा अस्त्रानुस्त्रो के द्वारा दोषों का प्रमार्जन या रोग की चिकित्सा करना ।

“शरीरदोषप्रकोपे खलु शरीरमेवाश्रित्य प्रायशस्त्रविधमोषधिमिच्छन्ति अन्त परिमार्जनं वहि परिमार्जनं अस्त्रप्रणिधानञ्चेति । तदन्त परिमार्जनं यदन्तःशरीर-मनुप्रवेष्टव्योषधमाहारजातव्याधीन् प्रमाष्टि, यत्पुनर्वहिः स्पर्शमाश्रित्याभ्यङ्गस्वेद-प्रदेहपरिपेकोन्मर्दनाद्यैरामयान् प्रमाष्टि तद्वहिःपरिमार्जनं, अस्त्रप्रणिधानं पुनश्छेदनभेदनव्यवनदारणलेखनोत्पाटनप्रच्छेदसीवनैषणक्षारजलौकसश्चेति ।”

(च. सू. ११)

चिकित्सा के चतुष्पादः—चिकित्सा के चार पैर बतलाये गये हैं, वैद्य, परिचारक, ओषधि तथा रोगी इनमें प्रत्येक पैर के चार गुण गिनाये हैं ।

भिषग् द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम् ।

चिकित्सितस्य निर्दिष्टं प्रत्येकं तच्चतुर्गुणम् ॥

वैद्य या भिषक्—गुरु के मुख से सुनकर वैद्यक शास्त्र पढा हुआ, चतुर, प्रत्यक्षक्रियात्मक ज्ञान प्राप्त किया हुआ तथा स्वच्छता-पूर्वक रहने वाला होना चाहिये ।

दक्षस्तीर्थान्तशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा शुचिर्भिषक् । (च)

वैद्य के गुणों का वर्णन करते हुए कई ग्रंथकारों ने निम्न लिखित की भाँति वर्णन किया है ।

गुरु के सन्निधान में रहकर कुशल हुआ पीयूषपाणि (जिस के हाथ में अमृत का वान हो), पवित्र, दक्ष, रोग में काल-वय-बलके अनुसान ओषध-योजना में कुशल, शास्त्र का ज्ञाता, अन्तःकरण में धैर्य वाला, क्रियाकुशल, कर्तव्यपूर्ण स्पर्हावाला यंत्र, तंत्र और मंत्र में कुशल, चतुर, वाग्मी, प्रगल्भ और नीरोग वैद्य को होना चाहिये ।

वैद्यः स्याद् गुरुसन्निधानकुशलः पोयूपपाणिः शुचिः
 प्रज्ञः कालवयोवलयौषधमदज्ञानोदितः शास्त्रवित् ।
 धीरान्तःकरणः क्रियासु कुशलः कारुण्यपूर्णः स्पृहा-
 युक्तो ... यन्त्रमन्त्रचतुरो वाग्मी प्रगल्भः शुचिः ।
 गुरोरधीताखिलवैद्यविद्यः पोयूपपाणि कुशल क्रियासु ।
 गतस्पृहो धैर्यधरः कृपालुः शुद्धोऽधिकारी भिषगोदृशः स्यात् ।

(वै जी.)

चरक संहिता में तीन प्रकार के वैद्यों का प्रसंग आता है । १ छद्मचर
 २ सिद्धसाधित ३ वैद्य के गुणों से युक्त प्राणाभिसर या जीविताभिसर । इन में
 प्रथम वर्ग तो उन वैद्यों का है, जो वैद्य के भाण्ड (वर्त्तन), औषध, पुस्तक
 या पल्लव आदि का अवलोकन (देखने) मात्र से अपने को वैद्य मान लिये
 हैं । ये वैद्य नहीं वैद्यों को छायायात्र (प्रतिरूपक) हैं । दूसरा वर्ग उन वैद्यों का
 है जो किसी श्रीमान् , यशोमान् एव ज्ञानवान् वैद्य की सेवा में रह कर उनकी
 कृपा से वैद्य नामधारी बन गये हैं—अस्तु इन को सिद्धसाधित की सज्ञा दी गई
 है । तीसरा वर्ग उन वैद्यों का है जो प्रयोग, ज्ञान, विज्ञान और सिद्धि से सम्पन्न
 हैं और दूसरे को सुख देने वाले हैं—और रोगी के प्राण की रक्षा करते हुए
 रोग को दूर करने में समर्थ होते हैं । वास्तव में यही श्रेष्ठ वैद्य हैं तथा पूर्वोक्त
 दोनों वर्ग तो केवल वैद्यनामधारी मात्र हैं ।

भिषक्छद्मचराः सन्ति सन्त्येके सिद्धसाधिताः ।
 सन्ति वैद्यगुणैर्युक्तास्त्रिविधा भिषजो भुवि ॥
 वैद्यभाण्डौषधैः पुस्तैः पल्लवैरवलोकनैः ।
 लभन्ते ये भिषक्शब्दमज्ञास्ते प्रतिरूपकाः ॥
 श्रीयशोज्ञानसिद्धानां व्यपदेशादतद्विधाः ।
 वैद्यशब्दं लभन्ते ये ज्ञेयास्ते सिद्धसाधिताः ॥
 प्रयोगज्ञानविज्ञानसिद्धिसिद्धाः सुखप्रदाः ।
 जीविताभिसरास्ते स्युर्वैद्यत्वं तेष्ववस्थितम् ॥ इति ॥

(च सू ११)

महर्षि चरक ने लिखा है—न अपने लिये, न अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये,
 अपितु प्राणियों पर दया की दृष्टि से जो वैद्य चिकित्सा करता है वह सर्वोत्तम
 है । होनहार वैद्य को चाहिये कि वह गुणों को प्राप्त करने के लिये सतत उद्योग-
 शील रहे ताकि प्राणियों के दुःखों को दूर कर उन्हें स्वस्थ बना सके । वैद्य को
 चाहिये कि पहले वह रोग की ठीक-ठीक परीक्षा करे पश्चात् विचारपूर्वक
 १२ भि० सि०

औषधि की योजना करे। विद्या-तर्क-वृद्धि-विज्ञान-स्मरणशक्ति-तत्परता-क्रिया-शीलता ये छ गुण जिस वैद्य में होते हैं उनके लिये जगत् में कुछ भी अमाध्य नहीं है। विद्या, वृद्धि, कर्म-वृष्टि, अम्यास, सिद्धि और आश्रय देना प्रभृति गुणों में से एक भी हो तो वैद्य के लिये पर्याप्त होता है। यदि सभी हो तो फिर उसका क्या पूछना। वह सर्वश्रेष्ठ वैद्य है और सर्व जीवों को मुख पहुँचाने वाला होता है। वैद्य की वृत्ति चार प्रकार की मानी जाती है लोक में भी, जीवदया (रोगी के ऊपर दया का भाव), शक्य वा अपनी चिकित्सा द्वारा माध्य रोगों में प्रीति (Interest) तथा मरे हुए व्यक्तियों में उपेक्षा का भाव ये चार वैद्य की वृत्तियाँ हैं।

नात्मार्यं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति ।
वर्त्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्त्तते ॥
भिषग्वुभूषुर्मतिमानतः स्वगुणसम्पदि ।
पर प्रयत्नमातिष्ठेत् प्राणदः स्याद्यथा नृणाम् ॥
रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम् ।
ततः कर्म भिषक् पश्चाज् ज्ञानपूर्वं समाचरेन् ॥
विद्या वितर्को विज्ञानं स्मृतिस्तत्परता क्रिया ।
यस्यैते षड् गुणास्तस्य न साध्यमतिवर्त्तते ॥
विद्या मतिः कमदृष्टिरभ्यासः सिद्धिराश्रयः ।
वैद्यशब्दाभिनिष्पात्तावलमेकैकमप्यतः ॥
यस्य त्वेते गुणाः सर्वे सन्ति विद्यादयः शुभाः ।
स वैद्यशब्दं सद्भूतमर्हन् प्राणिमुखप्रदः ॥
मैत्री कारुण्यमार्त्तेषु शक्ये प्रीतिरुपेक्षणम् ।
प्रकृतिभ्येषु भूतेषु वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधा ॥ (च.)

मुश्नत में वैद्य के लिये लिखा है कि उसे “कटे हुए, छोटे-छोटे नख-केज वाला और नाफ सुथरा होना चाहिये, नफेद कपड़े के परिधान धारण करना चाहिये, बेग अनुद्धत होना चाहिये, प्रमत्त मन ने दूसरे का कल्याण चाहने वाला, किसी को निन्दा न करते हुए सभी के प्रति मैत्री भाव से रहना चाहिये।” (चु)

द्रव्य या औषधि—के बारे में ऊपर में पर्याप्त कहा जा चुका है। यहाँ पर संक्षेपतः उसके चार गुणों का उल्लेख मात्र करना ही लक्ष्य है। श्रेष्ठ औषधि वह है जिसकी बहुत प्रकार की कल्पनायें (वनावट) बनाई जा सकें, जो अच्छे परिणामों में युक्त हो तथा जिसका रोग के अनुसार प्रयोग उचित हो।

बहुकल्पं बहुगुणं सम्पन्नं योग्यमौषधम् ।
प्रशस्तदेशसम्भूतं प्रशस्तेऽहनि चोद्धृतम् ।

युक्तमात्रं महावीर्यं गन्धवर्णरसान्वितम् ॥
कीटाद्यभक्षितं शुद्धं मृतं लौहादिकन्तथा ।

समीक्ष्य काले दत्तञ्च भेषजं परमं स्मृतम् ॥ (सु)
बहुता तत्र योग्यत्वमनेकविधकल्पना ।

सम्पञ्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणां गुण उच्यते ॥
प्रशस्तदेशसम्भूतं प्रशस्तेऽहनि चोद्धृतम् ।

युक्तमात्रं मनस्कान्तं गन्धवर्णरसान्वितम् ॥
दोषघ्नमग्लानिकरमविकारि विपर्यये ।

समीक्ष्य दत्ता कालञ्च भेषजं पाद उच्यते ॥

उपस्थाता परिचारक—इन में चार गुण अवश्य रहे । जैसे रोगी में अनुराग रखने वाला, स्वच्छता से रहने वाला, काम में भी होगियार एवं बुद्धिमान् परिचारक को होना चाहिये ।

अनुरक्त शुचिर्दक्ष बुद्धिमान् परिचारक ।

उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्त्तरि ।

शोचं चेति चतुष्कोऽयं गुण परिचरे जने ॥ (च सू ६)
स्निग्धोऽजुगुर्बलवान् युक्तो व्याधितरक्षणे ।

वैद्यवाक्यकृद्श्रान्त पाद परिचर स्मृत । (सु)

रोगी—यनी (पंने वाला), चिकित्सक की आज्ञा मान कर उसके अनुसार चलने वाला, अपने कष्ट को स्पष्टतया बतलाने वाला तथा हिम्मती या धैर्यवान् होना रोगी का श्रेष्ठ गुण है ।

आयुष्मान् सत्त्ववान् साध्यो द्रव्यवानात्मवानपि ।

आस्तिको वैद्यवाक्यस्थो व्याधित पाद उच्यते ॥ (सु)
स्मृतिर्निर्देशकारित्वमभिरुत्वमथापि च ।

जापकत्वञ्च रोगाणामातुरस्य गुणाः स्मृताः ॥ (च)

आढ्यो रोगी भिषग्वश्यो जापकः सत्त्ववानपि ॥

त्याज्य रोगी—निम्न लिखित लोगो की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये । जिस पर राजा या शासन को रोष हो अथवा राजद्रोही या शासनतंत्र के विपरीत आवाज उठाने वाले या कार्य करने वाले व्यक्ति की, अपने शरीर से ही जिसको द्वेष हो ऐसे आदमी की, सहायक सामग्री से हीन रोगी की, बबड़ाने वाले स्वभाव के मनुष्यो की, आज्ञा न मानने वाले व्याधित की, कृतघ्न, सुमूर्ख, क्रोधी, शोकाकुल,

डरपोक, कृतघ्न तथा स्वयं योग्य न होते हुए अपने को उत्तम वैद्य मानने वाले रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। ऐसे लोगों की चिकित्सा करने से अपयश ही मिलता है।

त्यजेदार्तं भिषग्भूषैर्द्विष्टं तेषां द्विपम् द्विपम् ।

हीनोपकरणं व्यग्रमविधेयं गतायुपम् ।

चण्डं शोकातुरं भीरुं कृतघ्नं वैद्यमानिनम् ॥

साध्यासाध्य विवेक—चिकित्सा कर्म में चिकित्सक के लिये यशस्वी होना तथा रोगी को स्वस्थ करने का उद्देश्य प्रमुख रहता है। चिकित्सा में प्रवृत्त होने के पूर्व वैद्य को यह देखना पड़ता है कि यह रोग साध्य है या असाध्य। क्योंकि असाध्य रोग की चिकित्सा करने से अर्थ, विद्या एवं यशकी हानि होती है, निन्दा तथा कुछ संचय भी नहीं हो पाता है। अस्तु असाध्य रोगी को हाथ में न लेना ही श्रेयस्कर होता है।

अर्थविद्यायशोहानिमुपक्रोशमसंग्रहम् ।

प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत् ॥

वैद्य को साध्यासाध्य का जानने वाला एवं विवेकपूर्वक चिकित्सा करने वाला होना चाहिये। इस तरह समय से चिकित्सा करता हुआ चिकित्सक अपने कर्म में निश्चित रूप से सफलता प्राप्त करता है।

साध्यासाध्यविभागज्ञो ज्ञानपूर्वं चिकित्सकः ।

काले चारभक्ते कर्म यत्तत् साधयति ध्रुवम् ॥ (च सू १०)

साध्यासाध्य का विचार करते हुए रोगी के चार भेद हो जाते हैं—

१ सुखसाध्य, २ कृच्छ्रसाध्य, ३ याप्य तथा ४ अनुपक्रम्य। साध्यों में पुनः अल्प, मध्यम एवं उत्कृष्ट भेद से तीन प्रकार हो जाते हैं। अमाध्य व्याधियों में इस प्रकार के विकल्प नहीं होते हैं क्योंकि विकल्प तो केवल नियत वस्तुओं में ही होता है फिर कृच्छ्रसाध्य (याप्य) तथा अनुपक्रम्य (जिसको चिकित्सा की आवश्यकता ही नहीं है) विकल्प किये जाते हैं।

सुखसाध्य—सुखपूर्वक, सरलता से थोड़े समय में जो अच्छा हो सके ऐसा रोग सुखसाध्य कहलाता है। रोगी का शरीर सब प्रकार की ओषधियों का सहन कर सके, रोगी युवा हो, पुल्लिङ्ग हो, संयमी हो, रोग मर्म स्थान में न गया हो, थोड़े कारणों से पैदा हुआ हो, रोग के पूर्वरूप एवं लक्षण कम हो, रोग में किसी प्रकार का उपद्रव न हो, दूष्य-देश-ऋतु एवं प्रकृति ये चारो पृथक्-पृथक् रूप के हो अर्थात् असमान हो, चिकित्सा के चारो पाद गुणवान् हो, सूर्य आदि ग्रह अनुकूल हो, रोग एक दोष की विकृति से उत्पन्न हो, एक मार्ग वाला हो और रोग नया उत्पन्न हुआ हो तो सुखसाध्य होता है।

सुखसाध्यः सुखोपायः कालेनाल्पेन साध्यते ।
सुखसाध्यं मतं साध्यं कृच्छ्रसाध्यमथापि च ॥
द्विविधं चाप्यसाध्यं स्याद्याप्य यच्चानुपक्रमम् ।
साध्यानां त्रिविधाश्चाल्पमध्यमोत्कृष्टां प्रति ।
विकल्पो न त्वसाध्यानां नियतानां विकल्पना ॥

(च. सू १०)

साध्योऽसाध्य इति व्याधिर्द्विधा तौ तु पुनर्द्विधा ।
सुसाध्यं कृच्छ्रसाध्यश्च याप्यो यश्चानुपक्रमः ॥
सर्वौषधक्षमे देहे यूतः पुंसो जितात्मनः ।
अमर्मगोऽल्पहेत्वग्रूपरूपोऽनुपद्रवः ॥
अतुल्यदूष्यदेशचतुर्प्रकृतिः पादसम्पदि ।
ग्रहेष्वनुगुणेष्वेकदोषमार्गो नव सुखः ॥

(अ. ह. सू)

हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य च ।
न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत् ॥
न च कालगुणस्तुल्यो न देशो दुरुपक्रमः ।
गतिरेका नवत्वश्च रोगस्योपद्रवो न च ॥
दोषश्चैकः समुत्पत्तौ देहः सर्वौषधक्षमः ।
चतुष्पादोपपत्तिश्च सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥

(चर. सू १०)

कृच्छ्रसाध्य—जो रोग कठिनाई से बहुत उपायो से और देर में अच्छा होता है, वह कृच्छ्रसाध्य या कष्टसाध्य कहा जाता है । जिसमें निमित्त-पूर्वरूप और रूप मध्यम बल के हो, काल-प्रकृति-दूष्य में से किसी एक की समानता दोष के साथ हो, गर्भिणी-वृद्ध या बालक रोगी हो, अधिक उपद्रवों से युक्त रोग न हो, शस्त्र, क्षार या अग्नि कर्म के द्वारा साध्य रोग हो, पुराना रोग हो, देश की कृच्छ्रता हो (अर्थात् देश एव रोग की अनुकूलता न हो), रोग दो मार्गानुसार हो, सभी चतुष्पादों की सम्पन्नता न हो, रोग बहुत पुराना न हो तथा रोग दो दोषों से उत्पन्न हुआ हो ऐसे रोग कृच्छ्रसाध्य होते हैं ।

निमित्तपूर्वरूपाणां रूपाणां मध्यमे बले ।
कालप्रकृतिदूष्याणां सामान्येऽन्यतमस्य च ॥
गर्भिणीवृद्धबालानां नात्युपद्रवपीडितम् ।
शस्त्रक्षाराग्निकृत्यानामनवं कृच्छ्रदेशजम् ॥

विद्यादेकपथं रोगं नातिपूर्णचतुष्पथम् ।
 द्विपथं नातिकालं वा कृच्छ्रसाध्यं द्विदोषजम् ।
 कृच्छ्रैरुपायैः कृच्छ्रस्तु महद्भिश्च चिरेण च ॥

(च सू १०)

शस्त्रादि साधने कृच्छ्र सङ्करे च ततो गदः । (वा सू १)

याप्यरोग—सुखसाध्य लक्षणो के विपरीत होने पर, पथ्य आहार-विहार के अम्यास से, आयु के शेष रहने पर जो रोग साध्य होता है वह याप्य है । यापनीय उस व्याधि को कहते हैं जिस में रोगी उपचार के आश्रित होकर जीवित रहे और उपचार के बंद होने के साथ ही रोगी मर जावे । जिस प्रकार कोई मकान की छत गिर रही हो तो उसमें ठीक प्रकार से विष्कंभ (स्तंभ) लगाकर स्थिर कर लिया जाता है, परन्तु खम्भे के हटाते ही छत गिर जाती है, मकान नष्ट हो जाता है । यही स्थिति यापन कर्म तथा याप्य व्याधियों की रहती है ।

शेषत्वादायुषो याप्यः पथ्याभ्यासाद् विपर्यये ।

(वा सू १)

यापनीयं विजानीयात् क्रिया धारयते तु यम् ।
 क्रियायां तु निवृत्तायां सद्य एव विनश्यति ॥
 प्राप्तक्रिया धारयति याप्यव्याधितमातुरम् ।
 प्रपतिष्यदिवागारं विष्कम्भः साधुयोजित ॥

(सु सू. २२)

शेषत्वादायुषो याप्यमसाध्यं पथ्यसेवया ।
 लब्धाल्पसुखमल्पेन हेतुनाशु प्रवर्त्तकम् ॥

(च सू. १०)

प्रायः इस प्रकार के रोग गहराई में, बहुत से धातुओं में, मर्मज्ञो में स्थित दीर्घकालीन एवं नित्य बढ़ने वाले होते हैं ।

गंभीरं बहुधातुस्थं मर्मसन्धिसमाश्रितम् ।
 नित्यानुशायिनं रोगं दीर्घकालमवस्थितम् ॥

अनुपक्रम्य, अर्चिकत्स्य या असाध्य—जो रोग सुखसाध्य व्याधि के लक्षणों से पूर्ण तथा विपरीत लक्षणों का हो, जिसमें विषयोत्कठा, चित्तनाश, वेचैनी, मृत्युसूचक चिह्न स्पष्ट हो, चक्षु आदि इन्द्रिया जिसमें नष्ट हो जायें वह रोग असाध्य होता है ।

अनुपक्रम एव स्यात्स्थितोऽत्यन्तविपर्यये ।

औत्सुक्यमोहारतिकृद् दृष्टारिष्टोऽक्षिनाशनः ॥

असाध्य के लिये चरक में लिखा है” त्रिदोषज व्याधियों के बारे में प्रत्याख्यान करके (रोगी के संरक्षक से उसकी असाध्यता के बारे में स्पष्टतया कहकर) चिकित्सा करनी चाहिये । जो रोग चिकित्सा के परे हो जायें, सभी मार्गों पर जिनका प्रभाव हो जाय, जिनमें विषयोत्कांठा, वेचनी, वित्तनाश और इन्द्रियों का नाश हो रहा हो, अरिष्ट लक्षणों से संयुक्त हो, रोगी दुर्बल और उसका रोग बहुत बड़ा हुआ हो, ऐसे रोग असाध्य हो जाते हैं ।

.....तद्वत् प्रत्याख्येयं त्रिदोषजम् ।

क्रियापथमतिक्रान्तं सर्वमार्गानुसारिणम् ॥

औत्सुक्यारतिसन्मोहकरमिन्द्रियनाशम् ।

दुर्बलस्य सुसंवृद्धं व्याधिं सारिष्टमेव च ॥

(च सू ११)

अस्तु वैद्य को इन प्रकार व्याधि के सम्बन्ध में सर्वप्रथम साध्यासाध्य की विवेचना करके चिकित्सा का आरम्भ करना चाहिये अन्यथा स्वार्थ, विद्या एवं यश की हानि होनी है ।

व्याधिं पुरा परीक्ष्यैवारभेत हि ततः क्रियाम् ।

स्वार्थविद्यायशोहानिमन्यथा ध्रुवमाप्नुयात् ॥

चिकित्सा की कालमर्यादा—आचार्य सुश्रुत ने बताया है कि साध्य रोगों की चिकित्सा करे, याप्य रोगों का यापन करे तथा असाध्य अथवा एक वर्ष से अधिक पुराने रोगों को प्रायः यश के इच्छुक चिकित्सकों को छोड़ देना चाहिये ।

साध्यान् साधयेद् याप्यान् यापयेद् असाध्यान्नोपक्रमेत् ।

परिसंवत्सरोत्थिताश्च विकारान् प्रायशः परिवर्जयेत् ॥

व्यवहार में “जब तक सास तब तक आश” का ही सिद्धान्त चलता है । जब तक कठ मे प्राण है, जब तक इन्द्रियाँ निष्क्रिय नहीं हुई हैं तब तक निराश न होते हुए चिकित्सा करते रहना चाहिये । कालकी गति बड़ी विचित्र है कुछ कहा नहीं जा सकता, क्या पता रोगी बच ही जावे । कई बार दैवकृपा से अरिष्ट (सद्योमारक) लक्षणों से युक्त रोगी भी बच जाते हैं । अस्तु जब तक रोगी का प्राण रहे, साँस चलता रहे तब तक चिकित्सा को चालू रखना श्रेयस्कर है ।

अरिष्ट लक्षणों के प्रकट होने पर मृत्यु ध्रुव सी हो जाती है, तथापि रसायन, तप, योग और सिद्धि के बल पर काल मृत्यु का भी क्वचित् निवारण

किया जा सकता है। इस विचार को रखकर अन्तिम साँस तक रोगी की सेवा शुश्रूषा तथा चिकित्सा से विरत न होना ही उत्तम है।

यावत्कण्ठगताः प्राणा यावन्नास्ति निरिन्द्रियः ।
 तावच्चिकित्सा कर्त्तव्या कालस्य कुटिला गतिः ॥
 तावच्चिकित्सा कर्त्तव्या यावच्छ्वसिति मानवः ।
 कदाचिह्रैवयोगेन दृष्टारिष्टोऽपि जीवति^१ ॥ (भै र)
 ध्रुवं त्वरिष्टे मरणं ब्राह्मणैस्तत् किलामलैः ।
 रसायनतपोजप्यतत्परैर्वा निवार्यते ॥
 रसायनतपोजप्ययोगसिद्धैर्महात्मभिः ।
 कालमृत्युरपि प्राज्ञैर्जीयेत नालसैनरैः ॥ (अगस्त्य)

वास्तव में रोग के उत्पन्न होते ही उस की चिकित्सा प्रारम्भ कर देनी चाहिये। रोग को छोटा समझ कर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। अग्नि, विष और शत्रु छोटे होते हुए भी कालान्तर में बृहद् रूप धारण करके मृत्यु का कारण बन सकता है। अस्तु आरम्भ से ही रोग का उपचार करना चाहिये। अन्यथा उपेक्षा या लापरवाही से साध्य व्याधियाँ याप्य एवं याप्य व्याधियाँ असाध्य तथा असाध्य व्याधियाँ रोगी के लिये प्राण का नाशक हो जाती हैं।

जातमात्रश्चिकित्स्यस्तु नोपेक्ष्योऽल्पतया गदः ।

अग्निशत्रुविषैस्तुल्यः स्वल्पोऽपि विकरोत्यसौ ॥

साव्यो याप्यत्वमायान्ति याप्या. साव्या भवन्ति हि ।

चिकित्सा का प्रयोजन (चिकित्सा फल)—चिकित्सा का कर्म कभी निष्फल नहीं जाता है। कही इससे धर्म-कार्य हो जाता है, कही पैसा मिल जाता है, कही पर मैत्री पैदा हो जाती है और कही पर यश की प्राप्ति हो जाती है। इनमें से कुछ भी नहीं मिला तो कम से कम क्रियाभ्यास (Practical experience) तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है। अर्थात् किस औषधि विशेष से, किस-व्याधि में, किस अवस्था में, लाभ या हानि हो सकती है इसका ज्ञान अवश्य ही हो जाता है।

सर्वोपरि जीवन-दान से बढकर कोई भी दान नहीं है। चिकित्सा करते हुए रोगी को लाभ होने पर, इस दान का फल सरलता से प्राप्त किया जा सकता है।

आयुर्वेद शास्त्र के पठन, पाठन, श्रवण तथा क्रियाभ्यास का फल-समुच्चय बतलाते हुए सुश्रुत में लिखा है—“किं बह मनुष्य पुण्यकर्मो है जो इस शास्त्र

को पटता, पड़ाता या प्रयोग में लाता है, उसके जीवन काल में ससार में उसका यश फैलता है और मरने के बाद वह स्वर्ग को प्राप्त करता है ।”

नन्दि पुराण में यहाँ तक लिखा है कि वैद्य यदि अपनी ओषधि-योजना से एक रोगी को भी नीरोग कर दे तो वह देहावसान के अनन्तर सात पीढ़ियों के सहित ब्रह्म लोक में निवास करता है ।

जो मूर्ख रोगी चिकित्सा करा के उसके बदले में चिकित्सक को कुछ देता नहीं है वह जो भी पुण्य करता है उसका सम्पूर्ण फल उस चिकित्सक को प्राप्त होता है ।

सधेय में रोग का विधिपूर्वक निदान करके चिकित्सा करते हुए चिकित्सक को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष (पुरुषार्थ चतुष्टय) की प्राप्ति होती है ।

क्वचिद्धर्म कचिन्मैत्री कचिदर्थः कचिदशः ।

कर्माभ्यासः कचिच्चापि चिकित्सा नास्ति निष्फला ।

नहि जीवितदानाद्धि दानमन्यद् विशिष्यते ॥

चिकित्सा की महिमा—कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि कई जितेन्द्रिय भी रोगी देखे जाते हैं । द्रव्य एवं परिचारक से सम्पन्न तथा वृद्ध वैद्यों के अनुसार चलने वाले रोगमुक्त होते हुये और बहुत बार मरते हुए दिखलाई पड़ते हैं । इसके विपरीत यथेच्छ आचरण करने वाले व्यक्ति भी रोगमुक्त होते और मरते दीख पड़ते हैं इसलिये हिताहित-सेवन तथा अचिकित्सा दोनों ही ठीक हैं । इस शका को दूर करते हुए आश्रेय का वचन है कि इस प्रकार की नास्तिक्यबुद्धि को परित्याग करना चाहिये, चिकित्सा तथा अचिकित्सा दोनों बराबर कदापि नहीं हो सकती हैं । जहाँ पर बिना भिषक्, द्रव्य, एवं उपस्थाता के रोगी अच्छा हुआ अर्थात् अचिकित्सा से स्वयमेव काल से ठीक हुआ है, वहाँ पर चिकित्सा हुई होती तो रोग में शीघ्र ही लाभ हुआ होता । चिकित्सा-साध्य रोहिणी आदि रोगों में बिना चिकित्सा के शान्ति नहीं मिलती । अस्तु चिकित्सा के समान अचिकित्सा नहीं हो सकती । रोगरूपी पक्ष में फँसे हुए मानव के लिये चिकित्सा या आयुर्वेद शास्त्र एक अवलम्बन (सहारा) होता है । मरने वाले सभी असाध्य रोगियों को ओषधि से जीवन नहीं दिया जा सकता है । तथापि रोग को दूर करने के लिये चिकित्सा की उपादेयता सिद्ध है । चिकित्सा शास्त्र के द्वारा अकाल मृत्यु हटाई जा सकती है । अस्तु रोगों में चिकित्सा की रोग नाशकता के बारे में शंका नहीं करना चाहिये ।

अकाल मृत्युकारक ज्वर आदि जो मृत्युपाश हैं, उनको नष्ट करने के लिये यह चिकित्सा शास्त्र दृढ़ है । उत्पन्न हुए रोगों से भयभीत मनुष्यों के लिये भूतारहित यह चिकित्सा शास्त्र रक्षा-सूत्र है ।

न चिकित्साऽचिकित्सा च तुल्या भवितुमर्हति ।
 विनापि क्रियया स्वास्थ्यं गच्छतां पोडशाशया ॥
 आतङ्कपङ्कमग्रानां हस्तालम्बो भिपग्जितम् ।
 जीवतं म्रियमाणानां सर्वेषामेव नोपधात् ॥
 एतद्वि मृत्युपाशानामकाण्डे छेदनं दृढम् ।
 रोगात् त्रासितभीतानां रक्षासूत्रमसूत्रकम् ॥

(वा ३ ४०)



तृतीय अध्याय

सामान्योपक्रम—जैसा कि ऊपर में बतलाया जा चुका है कि दोषों की विपमता से रोग होते हैं । दोषों की विपमता तीन प्रकार की होती है क्षयः स्थानवच्च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः दोषों के क्षीण होने, बढ़ने या स्थानान्तर-नामन से भिन्न-भिन्न रोग उत्पन्न होते हैं । एतदर्थही आचार्य ने उपदेश किया है कि क्षीण हुए दोषों को बढ़ावे, बढ़े हुए दोषों का ह्रास न करे, स्थानान्तर में गये दोषों को अपने स्थान पर ले आवे और समान दोषों का पालन करते हुए चिकित्सा करनी चाहिये । दोषानुसार एकैकश इनके उपचार विधियों का वर्णन समासत किया जा रहा है ।

वातस्कन्ध—

वायु के गुण—रुच, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद और खर इन गुणों से वायु युक्त रहता है । इनके विपरीत अर्थात् स्निग्ध, उष्ण, गुरु, स्थूल, स्थिर, पिच्छिल और श्लक्ष्ण गुण वाले द्रव्यों के उपयोग से शान्त होता है ।

रुक्षः शीतो लघु. सूक्ष्मश्चलोऽथ विशद. खर ।

विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मरुतः संप्रशाम्यति ॥

वायु के प्रकोप के कारण—व्यायाम, अपतर्पण, गिरना, टूटना, वातुक्षय, अधिक जागरण, मूत्र-पुरीषादि वेगों का रोकना, अतिशोक, ठंड, बहुत डरना, रुच और क्षोभकारक द्रव्य, कपाय, कटु एवं तिक्त द्रव्य प्रभृति कारणों से तथा वर्षाऋतु, भोजन के पचने के बाद तथा अपराह्नकाल में वायु कुपित होती है ।

व्यायामादपतर्पणान् प्रपतनाद् भङ्गात् क्षयाज्जागराद्
 वेगानाञ्च विधारणादतिशुचः शैत्यादित्रासतः ।

रुक्षक्षोभकपायतिक्तकटुकैरेभिः प्रकोपं ब्रजेद्
वायुर्वारिधरागमे परिणते चान्नेऽपराहेऽपि च ॥

वायुवृद्धि में होने वाले लक्षण—पेट का फूलना, जकड़ाहट, रुक्षता, फूटना, मयने के समान प्रतीत होना, हलचल, कांपना, सूई चुभोने के समान प्रतीत होना, गले में ठनका लगना, गले का बैठना, थकावट, विलाप करना, सरकना, पीडा होना, विदीर्ण होना, कठोरता, कान में शब्द का होना, भोजन का विषम पाक होना, गिरना, दृष्टि का विभ्रम, फरकना, इधर उधर पलटना, मुरझा जाना, अग्निद्रा, मारने के समान पीडा, दवाने के समान पीडा, नीचे झुकाना, ऊपर उठाना, मन की खिन्नता, चक्कर, जँभाई, रोमाञ्च, विच्छिन्न होना, हाथ-पैर का बार-बार फेका जाना, सूखना, जकड़ना, पोलापन, काटने के समान पीडा, लपेटने के समान प्रतीत होना, वर्ण का श्याम या लाल होना, तृषा, निद्राभग, निद्रा, तद्रा, मुँह का स्वाद कपाय प्रभृति लक्षण प्रकुपित वात में होते हैं । चिकित्सा में इन कारणों का परिहार करना चाहिये ।

आध्मानस्तम्भरौक्ष्यं स्फुटनविमथनक्षोभकम्प्रतोदाः
कण्ठध्वंसावसादौ श्रमकविलपनस्रंसशूलप्रभेदाः ।
पारुष्यं कर्षणादो विषमपरिणतिभ्रशदृष्टिप्रमोहा-
विस्पन्दोद्धट्टनानि ग्लपनमशयनं ताडनं पीडनञ्च ॥
नामोन्नामौ विपादो भ्रमपरिपतनं जृम्भणं रोमहर्षो
विक्षेपाक्षेपशोषग्रहणशुपिरताच्छेदनं वेष्टनञ्च ।
वर्षा श्यावोऽरुणो वा तृडपि च महती स्वापविश्लेपसङ्गा
विद्यात् कर्माण्यमूनि प्रकुपितमरुतः स्यात् कपायो रसञ्च ॥

उपक्रम—स्नेहन, स्वेदन, हल्का शोधन, मधुराम्ललवणरसमय भोजन, तैल की मालिश, देह का दवाना, बाँधना, सुखाना, वातघ्न औषधियों के पकाये जल से स्नान, पीठी तथा गुड के बने मद्य का सेवन, स्निग्ध तथा उष्ण द्रव्यों से सम्पन्न आस्थापन वस्तियों का उपयोग, वस्ति कर्म में उबन नियमों का पालन, आराम करना, दीपन, पाचन द्रव्यों से सिद्ध किये अनेक प्रकार के स्निग्ध द्रव्यों का उपयोग, विशेषतः मेधावर्धक मासरसों का सेवन तथा अनुवासन प्रभृति क्रियायें वातजन्य रोगों की चिकित्सा में व्यवहृत होती हैं ।

वातस्योपक्रमः स्नेहः स्वरः सशोधनं मृदु ।
स्वाद्वस्त्रलवणोष्णानि भोज्यमभ्यङ्गमर्दनम् ॥
वेष्टनं त्रासनं सेको मद्यं पैष्टिकगौडिकम् ।
स्निग्धोष्णा वस्तयो वस्तिनियमाः सुखशीलता ॥

द्वीपनैः पाचनैः सिद्धाः स्नेहाश्चानेकयोनयः ।

विशेषान्मेध्यपिशितरसतैलानुवासनम् ॥

पित्तस्कंध—पित्त के गुण—स्निग्ध, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, मर, अम्ल और कटु इन गुणों से युक्त पित्त होता है । जो रुद्ध, गीत, मृदु, सान्द्र, स्थिर, मधुर, तिक्त और कषाय रस वाले द्रव्यों के उपयोग से शान्त होता है ।

सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णञ्च द्रवमम्लं सरं कटु ।

विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ॥

पित्त-प्रकोप के कारण—कटु, अम्ल, उष्ण, विदाही, तीक्ष्ण एवं लवण रस पदार्थों के सेवन, क्रोध, उपवास, बूषका सेवन, स्त्रीसंग, तिल, अतसी, वधि, मत्स्य, मद्य, सुरा, शुक्त (काँजी) के अधिक सेवन से तथा भोजन की पच्यमानावस्था, गरद् ऋतु, ग्रीष्म ऋतु, मध्याह्न तथा अर्ध-रात्रि के काल में पित्त का कोप होता है । चिकित्सा में इन कारणों का परिहार करना चाहिये ।

कट्वम्लोष्णविदाहितीक्ष्णलवणक्रोधोपवासातप-

सोसम्पर्कतिलातसीदधिसुराशुक्कारनालादिभिः ।

मुक्ते जीर्यति भोजने च शरदि ग्रीष्मे सति प्राणिनां

मध्याह्ने च तथाऽर्द्धरात्रिसमये पित्तं प्रकोपं व्रजेत् ॥

प्रकुपित पित्त के लक्षण—फोडों का निकलना, मुँह का खट्टापन, घुँवाई डकार आना, प्रलाप, पसीने का निकलना, शरीर में दुर्गन्ध का होना, फट जाना, नगा होना, घाव का शीघ्रता से फेलना, पकना, बेचैनी, प्यास का विशेष लगना, चक्कर, गर्मी का अनुभूत, तृप्ति का होना, जाठराग्नि का दीप्त होना, आँख के आगे अँवैरा छाना, जलन, कटु-अम्ल-तिक्त रसमय मुँह का स्वाद हो जाता है । अरीर के वर्ण का पीला होना, एव खोलने के समान प्रतीत होता ये पित्त के लक्षण हैं ।

विस्फोटाम्लकधूमकाः प्रलपनं स्वेदमृतिर्मूर्च्छनं

दौर्गन्ध्य दरुणं मदो विसरणं पाकोऽरतिस्तृड्भ्रमौ ।

ऊष्मा वृत्तितमःप्रवेशदहनं कट्वम्लतिक्ता रसा

वर्णोः पाण्डुविवर्जितः कथितता कर्माणि पित्तस्य वै ॥

पित्तोपक्रम—घृतपान, मधुर एवं शीतवीर्य की ओषधियाँ, रेवन, मधुर, तिक्त एवं कषाय रसवाला भोजन तथा औषध, मुग्धित, ठंडे एवं हृदय को प्रिय लगने वाले इत्रों एवं पुष्पों का धारण, गले में माला (हार) का पहनना, वच स्यल पर मणियों का धारण, बार-बार कपूर, चंदन, खस का अनुलेपन, मायंकाल, चन्द्रमा की चाँदनी का सेवन, चूना से पुते हुए स्वच्छ महल की छत पर रहना,

मनोहर, गाना, ठंडी हवा, भेद-भाव रहित निस्संकोच मिलने वाले मित्र (जिनमे सुख पहुँचे ऐसे मित्र), संदिग्ध, मोहक वचन बोलने वाला-अल्प-वयस्क पुत्र, इच्छानुसार कार्य करने वाली सुशील प्रिय स्त्री, ठंडे जल के फोहारो से युक्त घर, भ्रमण करने योग्य वाटिका, बावली, सुन्दर घाट वाला विस्तृत स्वच्छ तालाब, नदी के तट, जिसमे कमल खिले हों और किनारे-किनारे पेड़ लगे हों ऐसे स्थल का सेवन तथा शान्त भाव पित्त के शामक उपचार है । इनमे घी तथा दूध का सेवन और विरेचन विशेष उपयोगी है ।

पित्तस्य सर्पिः पानं स्वादुशीतैर्विरेचनम् ।
 स्वादुतिक्तकपायाणि भोजनान्यौषधानि च ॥
 सुगन्धशीतहृद्यानां गन्धानामुपसेवनम् ।
 कण्ठे गुणानां हाराणां मणीनामुरसा धृतिः ॥
 कर्पूरचन्दनोशीरैरनुलेपः क्षणे क्षणे ।
 प्रदोषश्चन्द्रमा सौधं हारि गीतं हिमोऽनिलः ॥
 अयन्त्राणं सुखं मित्रं पुत्रः सन्दिग्धमुग्धवाक् ।
 छन्दानुवर्त्तिनो दाराः प्रियाः शीलविभूषिताः ॥
 शीताम्बुधारागर्भाणि गृहाण्युद्यानदीर्घिका ।
 सुतीर्थचिपुलस्वच्छसलिलाशयसैकते ॥
 सम्भोजजलतीरान्ते कायमाने द्रुमाकुले ।
 सौम्या भावाः पयः सर्पिर्विरेकश्च विशेषतः ॥

कफस्कंध—

कफ के गुण—गुरु, शीत-मृदु-स्निग्ध-मधुर और स्थिर गुण वाला श्लेष्मा होता है । जो लघु, उष्ण, रुक्ष, कटु, तिक्त, कपाय, चल और विषद गुण वाले द्रव्यो के उपयोग से शान्त होता है ।

गुरु-शीत-मृदु-स्निग्ध-मधुर-स्थिर-पिच्छिलाः ।

श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः ॥

कफ प्रकोप के कारण—गुरु एव मधुर द्रव्य, दूध एव उससे बने पदार्थ जैसे—खोवा, खड़ी, मलाई आदि, गन्नेका रस तथा उसके बने पदार्थ जैसे—गुड, चीनी-मिश्री आदि के बने पदार्थ, द्रवद्रव्य, दधि, दिन का सोना, पूवा-पूड़ी प्रभृति पकवानो का सेवन अर्थात् स्निग्ध एव सतर्पणात्मक वस्तुओ का सेवन तुषार (पालाहिम) के गिरने के समय, दिन एवं रात के प्रथम भाग मे, भोजन के तत्काल बाद तथा वसन्त ऋतु कफ के प्रकोप मे हेतु बनते हैं । चिकित्सा में कारणो का परिहार आवश्यक होता है ।

गुरुमधुररसातिस्निग्धदुग्धेलुभक्ष्य-
द्रवदधिदिननिद्रापूपसर्पिःप्रपूरैः ।

तुहिनपतनकाले श्लेष्मणः संप्रकोपः

प्रभवति दिवसादौ भुक्तमात्रे वसन्ते ॥

कफ के कार्य या लक्षण—पेट का सदा भरा हुआ जान पडना, भूख सदा निद्रा के समान मालूम होना, गुरुता, निश्चलता, गीला कपड़ा ओढ़े हुए के समान प्रतीत होना, मला का विशेष बनना, चिकनाहट, अपच, मुँह में जैसे कोई वस्तु लिप्त हो ऐसा जान पडना, ठडक लगना, खुजलाना, मुख या नाक से स्राव, किसी कार्य को देर से करना, शोथ का होना, निद्राधिक्य, मुँह का स्वाद मीठा या नमकीन, वर्ण का श्वेत होना, सदा आलस्य का लगा रहना ये लक्षण कफ के प्रकोप में पाये जाते हैं ।

तृप्तिस्तन्द्रा गुरुता स्तैमित्यं कठिनता मलाधिक्यम् ।

स्नेहापक्त्युपलेपा शैत्यं कण्डूः प्रसेकश्च ॥

चिरकर्तृत्वं शोथो निद्राधिक्यं रसौ पटुस्वादू ।

वर्णः श्वेतोऽलसता कर्माणि कफस्य जानीयात् ॥

कफोपक्रम—विधिपूर्वक तीक्ष्ण वमन तथा तीक्ष्ण रेचन कराना, तृप्त-अल्प-तीक्ष्ण एवं उष्ण वीजवाला तथा कटु-तिक्त-कपाय रस प्रधान भोजन, पुराना मद्य, स्त्रीप्रसंग, विशेष जागरण, अनेक प्रकार के व्यायाम, परिश्रम, चिन्तन, रूखा उत्सादन, बिना तेल के देह दबवाना, वमन करना, दाल के यूप का सेवन, चर्वी नागक औषधियों का उपयोग, धूमपान, उपवाम, गण्डूष और आरामतलबी का परित्याग ये सब कफके उपक्रम हैं ।

श्लेष्मणो विधिना युक्तं तीक्ष्णं वमनरेचनम् ।

अन्नं रूक्षाल्पतीक्ष्णोष्णं कटुतिक्तकपायकम् ॥

दीर्घकालस्थितं मद्यं रति प्रीतिः प्रजागरः ।

अनेकरूपो व्यायामश्चिन्ता रूक्षचिमर्दनम् ॥

विशेषाद् वमन यूपः क्षौद्रं सेदोऽन्नमौषधम् ।

धूमोपवासगण्डूषनिःसुखत्वं सुखाय च ॥

द्विदोष तथा त्रिदोष स्कन्ध-कोपकलक्षण—प्रकुपित द्विदोष या त्रिदोष के प्रकोप के कारण एव लक्षणों के लिये दो या तीन दोषों के संमर्ग होने पर उन दोनों या तीनों दोषों के प्रकुपित होने पर दोनों या तीनों दोषों के अनुसार लक्षण एक साथ मिलते हुए पाये जाते हैं ।

द्विदोषलिङ्गसंसर्गः सन्निपातस्त्रिलिङ्गकः ।

उपक्रम—द्विदोषज मे दो दोषो के उपक्रमो को मिलाकर और सन्निपातज मे तीनों दोषो के उपक्रमो को मिलाकर चिकित्सा करनी चाहिये ।

संसर्गः सन्निपातेषु तं यथास्वं विकल्पयेत् ।

सर्व रोगों मे एक एक औषधि (Specific or drug prescription in different diseases)—ज्वर मे पित्तपापडा या नागरमोथा, तृषा मे मिट्टी के ढेले को गर्म करके बुझाया जल, वमन मे लाजा (धान का लावा), मूत्ररोगो में शिलाजीत, प्रमेह मे आमलकी या हरिद्रा, पाण्डु रोग मे लौह या मण्डूर, वात-कफके विकारो मे हरड, प्लोहा एव यकृत रोग मे पिप्पली, उर.क्षत (Haem-optysic) मे लाक्षा (लाख), विष मे शिरीष, मेदोरोग और वायुरोगो मे गुग्गुलु, रक्तपित्त मे अडूसा, अतिसार मे कुटज, अर्श मे भिलावा, गर विष मे नुवर्णभस्म, कृमियो मे वायविटङ्ग, स्थूल्य मे तार्क्ष्य शोष में सुरा, बकरी का दूध एव माम, नेत्ररोग एवं वातरोगो मे त्रिफला, ग्रहणी मे तक्र, कुष्ठ मे जैर (खदिरसार), जीर सब रोगो मे शिलाजीत का सेवन हितकर होता है ।

उन्माद मे पराना घी, शोक मे मद्य, अपस्मार मे ब्राह्मी, निद्रानाश मे दूध, प्रतिग्याय मे रनाला, कृशता मे मास, वायु मे लहसुन, अगो की जकडाहट या स्तब्धता मे स्वेदन, स्कन्ध-अम एव वाहु की वेदना (विश्वाची तथा अव बाहुक) में मुडमजरी (जिगिणी) का नस्य, अर्दित मे मक्खन, उदररोगो मे ऊँटनी का दूध या ऊँट का मूत्र, शिरोरोगो मे नस्य, नवीन उत्पन्न विद्रधि मे रक्तविस्त्रावण, मुखरोगो मे नस्य एव कवल, नेत्ररोगो मे नस्य-अजन एव तर्पण, वार्द्धक्य मे दूध और घी, मूर्च्छा मे शीतल जल-वायु-एवं छाया, अग्निमाद्य मे शुक्त (सिरका) एव अदरक, थकान मे सुरा एव स्नान, दुःख के सहने योग्य एव शरीर को हृद बनाने के लिये व्यायाम, मूत्रकृच्छ्र मे गोचुर, कास मे कटकारी, पार्श्वशूल मे पुष्करमूल, वय स्थापन मे आंवला, व्रण मे त्रिफला तथा गुग्गुलु, वातरोगो मे वस्ति, पित्तरोगो में विरेचन, कफ मे मधु, पित्त मे घी तथा वायु मे तैल परमोत्तम लाभप्रद है । इस प्रकार रोगानुसार श्रेष्ठ औषधियाँ बतलाई गई हैं । उनकी देश-काल तथा बल के अनुसार यथायोग्य कल्पना करके व्यवहार करना चाहिये ।

मुस्तापर्पटकं ज्वरे तृपि जलं मृद्भृष्टलोष्टोद्भवं

लाजाश्छर्दिषु वस्तिजेषु गिरिजं मेहेषु धात्रीनिशे ।

पाण्डौ श्रेष्ठमयोऽभयाऽनिलकफेऽसीहामये पिप्पली

सन्धाने कृमिजा विषे शुकतरुर्मदोऽनिले गुग्गुलुः ॥

वृषोऽस्रपित्ते कुटजोऽतिसारे भल्लातकोऽशंसु गरेषु हेम ।
 स्थूलेषु ताक्ष्यं कृमिषु क्रिमिन्तं शोषे सुरा च्छागपयोऽनु मांसम् ॥
 अक्ष्यामयेषु त्रिफला गुडूची वातास्ररोगे मथितं ग्रहण्याम् ।
 कुष्ठेषु सेव्यः खदिरस्य सारः सर्वेषु रोगेषु शिलाह्वयञ्च ॥
 उन्मादं घृतमनवं शोकं मद्यं व्ययस्मृति ब्राह्मी ।
 निद्रानाशं क्षीरं जयति रसाला प्रतिश्यायम् ॥
 मांसं कार्श्यं लशुनः प्रभञ्जनं स्तब्धगात्रतां स्वेदः ।
 गुडमञ्जरीः खपुरो नस्यात् स्कन्धांसवाहुरुजम् ॥
 नवनीतखण्डमर्दितमौष्ट्रं मूत्र पयश्च हन्त्युदरम् ।
 नस्यं मूर्धविकारान् विद्रुधिमचिरोत्थमस्रविस्र व ॥
 नम्यं कवलो मुखजान् नस्याञ्जनतर्पणानि नेत्ररुजः ।
 वृद्धत्वं क्षीरघृते मूर्च्छा शीताम्बुमारुतच्छायाः ॥
 समशुक्ताद्रकमात्रा मन्दे वह्नौ श्रमे सुरा स्नानम् ।
 दुःखःसहत्वे स्थैर्यं व्यायामो गोक्षुरर्हितः कृच्छ्रे ।
 कासे निदिग्धिका पार्श्वशूले पुष्करजा जटा ।
 वयस स्थापने धात्री त्रिफला गुग्गुलुव्रणे ॥
 वस्तिर्वातविकारान् पैत्तान् रेकः कफोद्भवान् वमनम् ।
 क्षीरं जयति बलासं सर्पिः पित्तं समीरणं तैलम् ॥
 इत्यग्रथं यत्प्राक्तं रोगाणामौषधं शमायालम् ।
 तद्देशकालबलतो विकल्पनीयं यथायोग्यम् ॥ (वा उ ४०)



चतुर्थ खण्ड
विशिष्ट प्रतिषेध ज्वर प्रतिषेध

[illegible]

1

•

प्रथम अध्याय

ज्वर के पूर्वरूप में उपक्रम—ज्वर में सामान्य तथा विशिष्ट पूर्वरूपों के अनुसार निम्नलिखित उपक्रम करने चाहिये । लंघन या लघु भोजन—यदि कफ-पित्त या प्रतिग्याय आदि का आभास हो तो उपवास तथा वात-पित्त के दोषों का आभास हो तो लघु भोजन (मण्ड-पेया-विलेपी प्रभृति) देवे । विशिष्ट पूर्वरूपावस्था में गोघृत या वातघ्नीपथि से सिद्ध घृत गर्म कर पतला कर पिलावे । पित्तिक में विरेचन देवे तथा श्लैष्मिक में हल्का वमन करावे । द्वन्द्वज में दो दो दोषों के अनुमार उपचार तथा त्रिदोषज में तीनों दोषों का उपचार यथावश्यक करे ।^१

ज्वर में उपक्रम या चिकित्सा-सूत्र—ज्वर की चिकित्सा में सर्वप्रथम विचार इस बात का करना होता है कि ज्वर नव या तरुण है अथवा पुराण या जीर्ण । ज्वर की अवधि (Duration) से इसका निर्णय आसानी से किया जा सकता है । ज्वरोत्पत्ति से लेकर सात दिनों तक ज्वर की तरुणावस्था कहलाती है । फिर सातवें दिन से लेकर बारहवें दिन तक मध्यमावस्था तदनन्तर ज्वर की पुराणावस्था मानते हैं । तत् तीन सप्ताह के पश्चात् जब ज्वर का वेग कम हो जाता है, प्लीहा की वृद्धि और अग्निमाद्य पैदा हो जाता है । इस अवस्था को जीर्ण ज्वर कहते हैं ।^२

ज्वर की चिकित्सा में दूसरा विचार आम, पच्यमान तथा निराम प्रभृति लक्षणों की तीव्रता के (Intensity or severity of

१ पूर्वरूपे प्रयुञ्जीत ज्वरस्य लघु भोजनम् ।

लङ्घनञ्च यथादोषं विशेषे वातिके पुन ॥

पाययेत्सर्पिरेवाच्छ पित्तिके तु विरेचनम् ।

मृदु प्रच्छर्दनं तद्वत् कफजे तु विधीयते ।

द्वन्द्वजे तु द्वयं कुर्याद् बुद्ध्वा सर्वं तु सर्वजे ॥

२ आसप्तरात्रं तरुण ज्वरमाहुर्मनीषिणः ।

मध्यं द्वादशरात्रन्तु पुराणमत उत्तरम् ॥

त्रिसप्ताहे व्यतीते तु ज्वरो यस्तनुता गत ।

प्लीहाग्निसादं कुरुते स जीर्णज्वर उच्यते ॥

symptoms) सम्बन्ध में करना आवश्यक होता है । ज्वर की आमावस्या में—स्रोतस रुद्ध रहते हैं, शरीर से पसीने का निकलना बंद हो जाता है, दुग्धानाग, अरुचि, अविपाक, उदर का भारीपन, तन्द्रा, आलस्य, हृदय की अविगुह्य, ज्वर की प्रवृत्ता, ज्वर का न टूटना, मल-मूत्र आदि की सम्यक् प्रवृत्ति न होना, लालास्राव, हृल्लास, शरीर का स्तब्ध, गुरु एवं भारी होना, पुरीष का पक्व होकर न आना तथा मास का चीण न होना प्रभृति लक्षण पाये जाते हैं । पच्यमानावस्या में—ज्वर का वेग अधिक तीव्र हो जाता है, तूष्णा, प्रलाप, श्वास, उत्क्लेग तथा मल का निकलना पाया जाता है । ज्वर की निरामावस्या में—क्षुधा की प्रवृत्ति, दुर्बलता का अनुभव, शरीर का हल्कापन, ज्वर का हल्का होना तथा दोषों का निकलना ये लक्षण मिलते हैं । ज्वर की निरामावस्या सामान्यतया आठवें दिन आती है । परन्तु विशेष प्रकार के ज्वरों में सन्निपातादि में वह अधिक दिनों की भी हो सकती है ।^१

एक तीसरा विचार भी ज्वर की चिकित्सा में आवश्यक हो जाता है वह है दोषों के जनन के क्रम का । किम दोष की प्रधानता किस ज्वर में है तदनन्तर चिकित्सा क्रम को निर्धारित करना पड़ता है ।

ज्वर की तरुण, आम या पच्यमानावस्या में, तथा पित्त एवं श्लेष्मा की बहुलता में निम्नलिखित उपचार करना चाहिये । १ लघन २ वमन ३ स्वेदन ४. काल (एक सप्ताह या आठ दिनों की प्रतीक्षा), ५ यवागू तथा ६ तिक्तस ७ पाचन द्रव्य । इन उपक्रमोंका क्रमशः विचारपूर्वक प्रयोग करना चाहिये ।

एक दूसरा मूत्र भी ज्वर की सामान्य चिकित्सा के सम्बन्धमें पाया जाता है —“ज्वर के प्रारंभ में-आम दोषों की प्रवृत्ता में-लघन, ज्वरकी मध्यमावस्था में पाचन औषधियों का प्रयोग तथा निरामावस्यामें गमन औषध की व्यवस्था

१ स्रोतमा सन्निरुद्धत्वात् स्वेदं ना नाधिगच्छति । स्वस्थानात् प्रच्युते चार्गौ प्रायशस्तस्ते ज्वरे ॥ अरुचिश्चाविपाकश्च गुस्त्वमुदरस्य च । हृदयस्याविगुह्यश्च तन्द्रा चालस्यमेव च ॥ ज्वरोऽविसर्गो बलवान् दोषाणामप्रवर्तनम् । लालाप्रसेको हृल्लास क्षुब्धानो विरस मुखम् ॥ स्तब्धमुप्तगुस्त्वञ्च गात्राणा बहुमूत्रता । न विद्जीर्णा न च ग्लानिर्ज्वरस्यामस्य लक्षणम् ॥ ज्वरवेगोऽविष्कृतूष्णा प्रलापः श्वसन भ्रमः । मलप्रवृत्तिरुत्क्लेगः पच्यमानस्य लक्षणम् ॥ क्षुब्धामना लघुत्वञ्च गात्राणा ज्वर-मार्दवम् । दोषप्रवृत्तिरष्टाहो निरामज्वरलक्षणम् ॥

और ज्वर के निवृत्त हो जाने पर रोगी के बलादिका विचार करके विरेचन औषधि का उपयोग करना चाहिये ।”^१

लंघन—ज्वर में लघन कराना सर्वप्रथम उपचार है । लघन शब्द का प्रयोग यहाँ पर अनशन या उपवास कराने के अर्थ में ही सीमित है । जब ज्वर नया हो उसमें आम दोष प्रबल हो, दोषों में पित्त एवं श्लेष्मा की प्रधानता हो, तो अनशन कराना चाहिये । इस क्रिया से दोषों के पाचन में सहायता मिलती है । और अग्नि दीप्त होता है । परन्तु इसके विपरीत अवस्था के ज्वरों में जैसे—जीर्ण ज्वर, घातुक्षय के कारण होने वाले ज्वर, राजयक्ष्मा के ज्वर, भय-क्रोध-काम-शोक प्रभृति मानसिक क्षोभ से उत्पन्न ज्वर, अधिक परिश्रम या अभिघात से उत्पन्न ज्वर तथा विशुद्ध वायु के कुपित होने से पैदा होने वाले ज्वरों में उपवास या अनशन नहीं कराना चाहिये । इस अवस्था में कर्शन न कराके शमन क्रिया से उपचार करना चाहिये ।

ज्वर में उपवास कराने का लक्ष्य बालक, वृद्ध, दुर्बल और गर्मिणी में लंघन नहीं करावे । बड़े हुये दोषों का कम करना और अग्नि को प्रज्वलित करना, रहता है इस क्रिया से ज्वर का वेग कम होता है, शरीर में हल्कापन आता है एवं भूख की इच्छा जागृत होती है । परन्तु लघन या अनशन रोगी के बल के अनुसार कराना चाहिये । यदि रोगी बलवान् हो तो पूर्ण उपवास कराया जा सकता है, किन्तु दुर्बल हो तो अधिक उपवास से उसका बल टूट जाता है । आरोग्य के लिये शारीरिक बल की ही प्रधानता दी गई है । बल के टूट जाने पर आरोग्य होना संभव नहीं रहता है । लघन क्रिया का अन्तिम उद्देश्य रोगी को आरोग्य देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता है । अस्तु प्राण या बल के अविरोधी लघन से ही उपवास कराना चाहिये ।^२ अर्थात् बल के अनुसार ही रोगी को उपवास कराना चाहिये ।

लंघन-अवधि—जिस प्रकार राख से ढँकी अग्नि अन्न का पाक नहीं कर सकती, उसी प्रकार दोषों से ढकी जाठराग्नि ज्वरयुक्त रोगी को दिये गये भोजन का परिपाक नहीं कर सकती । अस्तु दोषों के परिपाक होने तक बल के अनुसार

१ ज्वरे लङ्घनमेवादावुपदिष्टमूते ज्वरात् । क्षयानिलभयक्रोधकामशोकश्रमो-
द्भवात् ॥ चर चि ३ । लङ्घनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रस । मलाना
पाचनानि स्युर्यथावस्थ क्रमेण वा ॥ ज्वरादौ लङ्घनं सामे ज्वरमध्ये तु पाचनम् ।
निरामे शमनं कुर्याज्ज्वरान्ते तु विरेचनम् । (भै र)

२ लघनेन क्षयं नीते दोषे सधुक्षितेऽनले ।

विज्वरत्वं लघुत्वञ्च क्षुब्धवास्योपजायते ।

ज्वरित को उपवास कराना चाहिये ।^१

अन्यत्र लिखा है—आँख, पेट के रोग, प्रतिश्याय, व्रण तथा नव ज्वर ये रोग (Acute Inflammatory state) प्रायः पाँच दिन के उपवास से ही ठीक हो जाते हैं ।

अक्षिकुक्षिभवा रोगाः प्रतिश्यायव्रणज्वराः ।

पञ्चैते पञ्चरात्रेण रोगा नश्यन्ति लङ्घनात् ॥

हारीत संहिता में लघन की अवधिमूचक एक बचन पाया जाता है “लघनीय ज्वर में लघन दोष और बल के अनुरूप कराना चाहिये । कहीं तो एक दिन के लघन से ही काम चल जाता है, कहीं पर दो दिनों के लघन से काम पूरा हो जाता है, क्वचित् तीन या छः दिनों तक ज्वर में उपवास कराने का विधान है ।” सामान्यतया ज्वरो में इतना लघन पर्याप्त होता है । उसके बाद लघु-भोजन देना आवश्यक हो जाता है । लघन की अधिक अवधि केवल सान्निपातिक ज्वरो में बतलाई गई है । क्योंकि इन ज्वरो में दोषों की संसक्ति एवं आम-दोष बड़ा प्रबल होता है अतएव उनमें “जब तक रोगी आरोग्य लाभ न करले “यावदारोग्यदर्शनात्” तब तक उपवास कराने का विधान है । इस प्रकार लघन या उपवास का सर्वाधिक महत्त्व सान्निपात ज्वरो में ही होता है ।

लङ्घनं लङ्घनीयानां कुर्यादोपानुरूपतः ।

त्रिरात्रमेकरात्रं वा षड्रात्रमथवा ज्वरे ॥

लंघन के गुण—नव ज्वर में वात-पित्तादिक दोष तथा शरीर की समस्त पाचक अग्नियों की स्थिति तथा प्रमाण व्यवस्थित नहीं होता है । लंघन दोषों को पचाकर ठीक-ठीक अपने स्थानों पर व्यवस्थित कर देता है । लघन से ज्वर का वेग कम हो जाता है, अग्नि दीप्त होती है, भोजन करने की इच्छा जागृत होती है, रुचि बढ़ती है और शरीर हल्का हो जाता है ।^२

सम्यक् लंघन के लक्षण—अपानवायु-मूत्र-पुरीष का ठीक समय से आना, गात्र की लघुता, हृदयका भार एवं उपलेप से रहित का अनुभव होना, डकार का आना, कंठ एवं मुख की शुद्धि, तन्द्रा एवं थकावट का न अनुभव

१. प्राणाविरोधिना चैन लंघनेनोपपादयेत् ।

बलाधिष्ठानमारोग्य यदर्थोऽय क्रियाक्रम ॥ (च चि ३)

दोषेण भस्मेनेवाग्नी छन्नेऽन्त न विपच्यते ।

तस्मादादोषपचनान्ज्वरितानु- पवासयेत् ॥ (वा चि १)

२. लघणैः क्षपिते दोषे दीप्तेऽग्नौ लाघवे सति ।

स्वास्थ्यं क्षुत्तुङ् रुचिः पक्तिर्वैलमोजश्च जायते ॥ (अ ह १)

होना, पसीने का निकलना, रसि का प्रकट होना, भूख एवं प्यास का साथ-साथ जगना तथा चित्त का प्रसन्न होना । ये लक्षण एवं चिह्न सम्यक् प्रकार से लघि रोगी में पाये जाते हैं ।

असम्यक् लंघन या अति लंघन के दोष—पहले बतलाया जा चुका है कि वायु के ज्वर, मुखशोष और भ्रम के रोगी, बालक, वृद्ध, गर्भिणी और दुर्बल रोगियों को उपवास नहीं कराना चाहिये । उपवास के बारे में यह भी ध्यान रहे कि उपवास रोगी का बल के अनुसार कम या अधिक दिनों तक कराया जा सकता है । अन्यथा उपवास कराने से रोगी में निम्न लिखित उपद्रव होने लगते हैं— जैसे—पर्वभेद, अङ्गमर्द, विषमज्वर, कास, मुखशोष, भूख का नष्ट होना, अरुचि, तृष्णा, कान एवं नेत्र की दुर्बलता, मनका सभ्रम, ऊर्ध्ववात, मूर्च्छा, देह-अग्नि-बल की हानि प्रभृति उपद्रव अति लघन के कारण होते हैं ।

हीन लंघन के लक्षण—कफ का उत्क्लेश, हृल्लास, थूक का बार-बार आना, कंठ-मुख एवं हृदय की अशुद्धि प्रभृति लक्षण हीन लघन के कारण होते हैं ।

वमन—सद्यो भोजन करनेके पश्चात् उत्पन्न ज्वरो में अथवा अधिक मधुर-गुरु-स्निग्ध-पिच्छिल पदार्थों (तृप्तिकारक पदार्थों) के सेवन से उत्पन्न ज्वरो में अथवा वमन के योग्य ज्वर में वमन कराना प्रशस्त है । ऐसा वाग्भट्टाचार्य का मत है ।^१ जिन रोगियों में कफ-प्रकोप की अधिकता हो, बार-बार उत्क्लेश हो रहा हो, दोषों की स्थिति आमाशय में हो और वहाँ से मुख द्वारा वमन के रूप में निकलने को प्रवृत्ति-युक्त हो, ऐसे दोषों को ज्वरकारक जानकर उचित समय में वमनार्ह रोगियों को वमन करा के दोषों का निर्हरण किया जा सकता है ।^२ कफकी अधिकता या चलायमानता का ज्ञान रोगी के जीमचलाने, लालासाव, अन्नविद्वेष, विसूचिका (पेट में सूई चुभने जैसा दर्द) और भोजन के पश्चात् तुरन्त ज्वर का होना प्रभृति लक्षणों से होता है । ऐसे रोगियों में वमन उचित रहता है ।

ज्वर में वमन कराने के लिये १ मदनफल चूर्ण ६ माशे, पिप्पली चूर्ण ८ रत्ती को फाँक कर ऊपर से एक पाव गर्म जल पिलाना । २ अथवा गर्मजल में थोड़ा नमक डालकर आकठ पिलाकर वमन कराना चाहिये । ३. कलिङ्ग ६ माशे और मधुयष्टि ६ माशे का चूर्ण पीकर गर्म पानी पीना या कपाय बनाकर पिलाना । ४ मधु का पानी या ईख का रस आकठ पिला कर वमन कराना ।

१ सद्योभुक्तस्य वा जाते ज्वरे सतर्पणोत्थिते ।

वमन वमनार्हस्य शस्तमित्याह वाग्भट. ॥

२ कफप्रधानानुत्क्रिष्टान् दोषानामाशयोत्थितान् ।

बुद्ध्वा ज्वरकरान् काले वम्याना वमनार्हरेत् ॥

परन्तु तरुण ज्वर में हृल्लासादि लक्षणों के अभाव में अचलायमान दोषों का वमन कर्म^१ के द्वारा निर्हरण करने से हृदय के रोग, श्वास, आनाह और मूर्च्छा प्रभृति उपद्रव होने लगते हैं ।

ज्वर में वमनकारक द्रव्य—पिप्पली, इन्द्रियव या मुलेठी को मैनफल के साथ खोलाकर उसमें मधु या सेंधा नमक मिलाकर पिलाना । अथवा परवल, नीम, कर्कोट या वेतसपत्र का काथ पिलाना । अथवा पानी में घुले सत्तू, ईख के रस, मद्य से या कल्प स्थान में कहे गये—अन्य योग्य वामक द्रव्यों से वमन कराना चाहिये ।

वमन के बाद लंघन—ज्वर का रोगी जो वमन के योग्य है, उसको वमन कराके, जो वमन के योग्य नहीं है उसको वमन बिना कराये ही उपवास कराना चाहिये । इस उपवासके द्वारा अपक्व दोषों का पाचन तथा पक्व दोषों का गमन हो जाता ।^२

उष्ण जल—ज्वरित रोगी में हेतु-काल-देश और दोष का विचार करते हुए गर्म जल पिलानेका प्रायः विधान पाया जाता है—क्योंकि ज्वर अधिकतर आमाशय के दोषों से उत्पन्न होता है और आमाशयगत विकारों के पाचन के लिये पाचन, वमन और लंघन प्रभृति कर्मों का उपदेश पाया जाता है । अस्तु पाचनार्थ उष्ण जल का ही विधान ज्वरकाल में रोगी के लिये वैद्य लोग किया करते हैं । यह उष्ण जल पिये जाने के अनन्तर वायुका अनुलोमन करता है, अग्नि को उदीर्ण करता है, शीघ्रता से स्वयं पच जाता है और कफ को शोषित करना है । सर्वोपरि थोड़ा भी पीने से तृषाको शान्त करता है । ऐसा देखा जाता है कि तृषा की अवस्था में शीतल जल जितना ही पिलाया जाता है उतनी ही प्यास बढ़ती है, परन्तु उष्ण से तृषा शान्त होती है ।

१. अनुपस्थितदोषाणा वमनं तरुणे ज्वरे ।

हृद्रोग श्वासमानाह मोहञ्च कुरुते भृगम् ॥ (भै र)

तत्रोत्थिलष्टे समुत्थिलष्टे कफप्राये चले मले ।

सहृल्लासप्रसेकान्नद्वेपकासविमूचिके ॥

सद्योभुक्तस्य सजाते ज्वरे सामे विक्षेपत ।

वमनं वमनार्हस्य शस्तं कुर्यात् तदन्यथा ॥

श्वासातीसारसम्मोहहृद्रोगविषमज्वरान् । (अ. हृ चि १)

२. कृतेऽकृते वा वमने ज्वरी कुर्याद्विशोषणम् ।

दोषाणा समुदीर्णाना पाचनाय शमाय च ॥

अस्तु प्यास लगने पर थोड़ा-थोड़ा गर्म पानी वात-कफ ज्वर के रोगियों को पीने के लिये देना चाहिये । यह गर्म जल कफ का विलयन करके प्यास को शीघ्र नष्ट करता है । अग्नि को प्रबल करता और स्रोतो को मृदु एवं विशोधन कर देता है । लीन हुए स्वेद-वायु-मल-मूत्र का अनुलोमन करता है । निद्रा-जडता एवं अरुचि को नष्ट करता है, बल को सहारा देता है । इसके विपरीत शीतल जल दोषसमूह को बढ़ाता है ।^१

यह उष्ण जल कई प्रकार का बनाया जा सकता है । जैसे, ववथित जल पानी खील जाय और उतार कर रखकर ठंडा करले और पीने को दे अथवा लवङ्ग, वायविडङ्ग, धान्यक में किसी एक द्रव्य को तीन से पाँच दाना डालकर गीला ले और ठंडा होने पर पीने को दे । कई वैद्य-परम्पराओं में अर्धवशिष्ट चतुर्थांशवशिष्ट, अष्टमांशवशिष्ट या षोडशांशवशिष्ट ववथित जल देने की भी विधि पाई जाती है । यह जल बहुत हल्का, सुपाच्य एवं दोषों का पाचक और मूत्रल हो जाता है । ऐसा जल दीपन, पाचन, ज्वरघ्न, स्रोतसो का शोधक, वरय, रुचि एवं स्वेद का वर्द्धक और ज्वरित को कल्याणप्रद होता है ।^२

उष्ण जल में इतने गुण होने पर भी एकान्तत पित्तज्वर में, बड़े पित्त में, दाह, मूर्च्छा एवं अतिसारयुक्त ज्वरों में, विष एवं मद्य से उत्पन्न ज्वरों में, ग्रीष्म ऋतु में, रक्तापित्त एवं उरःक्षत के रोगियों में उसका निषेध पाया जाता है । इन ज्वर के रोगियों में शीतल जल देना चाहिये । यदि गर्म जल देना भी हो तो उसको गीतवीर्य औषधियों से जैसे, पित्तपापडा, उशीर, चंदन आदि से संस्कारित कर ठंडा करके देना चाहिये । गर्म करके ठंडा किये जल को शृत शीत कहते हैं । इस प्रकार के औषधियों से संस्कारित और ठंडा किये जल को प्यास एवं ज्वर की शान्ति के लिये पीने को देना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त ज्वरकालमें मद्य भी पिलाया जा सकता है । जिन देशों में जल पीनेकी प्रथा नहीं है, अथवा उन व्यक्तियों में जिनमें जल के पीने का अभ्यास नहीं है अर्थात् मद्यसाम्य देश या व्यक्ति हो तो उनमें दोष और शरीर के बल के अनुरूप मद्य पिलाने की व्यवस्था करनी चाहिये ।

१ तृण्यते सलिल चोष्ण दद्याद् वातकफे ज्वरे । तत्कफ विलय नीत्वा तृष्णामागु निवर्त्तयेत् ॥ उदीर्य चाग्नि स्रोतासि मृदूकृत्य विशोधयेत् । लीन-पित्तानिलस्वेदशक्नुमूत्रानुलोमनम् ॥ निद्राजाड्यारुचिहर प्राणानामवलम्बनम् । विपरीतमत शीतं दोषसघातवर्धनम् ॥ (वा. चि १)

२ दीपनं, पाचनं चैव ज्वरघ्नमुभयञ्च तत् ।

स्रोतसा शोधनं बल्य रुचिस्वेदप्रदं शिवम् ॥ (भै १)

घर्मास्तु चानुपानार्थं तृपिताय प्रदापयेत् ।

मद्य वा मद्यसात्म्याय यथादोषं यथावलम् ॥ (च० चि ३)

स्वेदन—सभी ज्वरो मे विशेषतः सान्निपातिक ज्वर, उदर, पीनस, श्वास, जंघा-सहि-एव अस्थिवेदना युक्त ज्वरो मे, आमवात, वातिक तथा श्लैष्मिक ज्वरोमे स्वेदन कर्म प्रशस्त है । उष्ण जल का पिलाना, रोगी की शीत से रक्षा करना, उसको वस्त्रादि से आवृत करके रखना, और स्वेदल औषधियों के वाह्य एव आभ्यन्तर प्रयोग से स्वेदन का कार्य हो जाता है । इस क्रिया से स्वेद, मूत्र, मल और वात का निकलना चालू हो जाता है जिससे शरीर का हल्कापन, ज्वर के वेग का कम होना, अग्नि का जाग्रत होना प्रभृति लाभ होते हैं ।^३ इस काल मे स्वेदन विधि मे कहे गये आहार-विहारो का अनुपालन भी रोगी को करना चाहिये । स्वेदन कर्म का विशेष उपयोग वातश्लैष्मिक ज्वर तथा सान्निपातिक ज्वरो मे होता है—अस्तु उसी प्रसंग मे इसका वर्णन विशेष रूप से होगा ।

पडङ्गपानीय—ज्वरकाल मे रोगी को प्रचुर मात्रा में जल देना चाहिये । इससे शरीर का विष पर्याप्त मात्रा मे मूत्र के द्वारा निकल जाता है । जल के सम्बन्ध में ऊपर में उष्ण जल, शीतल जल या शृत-शोत जलो के पिलानेके बारे में दोषानुसार विवेचन हो गया है । अब इस स्थान पर एक ऐसे सामान्य जल का प्रयोग बतलाया जा रहा है जिसका सामान्यतया सभी ज्वरों में उपयोग किया जा सकता है । इस औषधिसिद्ध जल को पडङ्ग पानीय कहा जाता है । इसके बनाने मे मुस्त, पर्वट, उशीर, चदन, उदीच्य (सुगंधवाला) और सोठ इन औषधियों से जल का सिद्ध किया जाता है । इन औषधियों का मिश्रित १ कर्प (२ तोले) लेकर १२८ गुने जल में अर्थात् १ प्रस्थ (२५६ तोला या ३६ सेर) जल में किसी मिट्टी के वर्तन मे खोलाते हैं । पानी जल कर जब आधा शेष रहता है तो उसे चूल्हे से उतार कर शीतल कर लिया जाता है और एक शुद्ध पात्र में उसे सुरक्षित करके रख लेते हैं । ज्वर काल मे तृपा प्रतीत होने पर रोगी को थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहते हैं । इस जल को पीने के लिये अथवा पेया और यवागू आदि के बनाने में भी व्यवहार किया जा सकता है । इससे तृपा शान्त होती है, रोगी में हल्का स्वेद निकलता रहता है जिससे ज्वर का वेग कम रहता है । इस योग में गुठी के स्थान पर मृद्वीका (मुनक्का) का भी अवस्थानुसार उपयोग हो सकता है ।

१ सोदरपीनसश्वासे जङ्घापर्वस्थिगूलिनि । वातश्लेष्मात्मके स्वेद प्रशस्तः स प्रवर्त्तयेद् ॥ स्वेदमूत्रगकृद्वातान् कुर्यादग्नेश्च पाटवम् ॥ (वा चि. १)

अष्टमेनाशयेण चतुर्थेनार्धकेन वा । अथवा क्वथनेनैव सिद्धमुष्णोदकं वदेत् ॥

उष्णोदक, श्रुतगीत जल या पडङ्ग पानीय के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि या ताजे रहे वासी न हो। इसके लिये यह आवश्यक रहता है कि प्रातःकाल का बनाया हुआ जल साय काल तक चलता रहे और साय काल का बनाया जल रात में और प्रातःकाल तक चलाया जाय।

ज्वर में आहार—अब विचारणीय है कि ज्वर काल में रोगी को क्या आहार देना चाहिये। लघन का विधान होने पर पूर्णतया अनशन कराना अनुचित प्रतीत होता है। क्योंकि बलाविधान या प्राण का मूल आहार या भोजन नहीं है। “अन्न वै प्राणाः”, “कलावन्नगता प्राणाः” प्रभृति श्रुतियाँ इसकी साक्षात् हैं। एक पौराणिक कथा भी है कि कृतयुग में प्राण का अवस्थान अस्थि में रहता था—उस युग के मनुष्य (ऋषिलोग) अन्न-जल को छोड़कर तपस्या करते हुए सम्पूर्ण धातुओं के क्षयित हो जाने पर यदि अस्थिमात्र भी अर्वाशिष्ट हो जाते थे तो अश्विनीकुमार (देवताओं के चिकित्सक) उन्हें भेषज-बल से पुनर्जीवित कर सकते थे। त्रेता युग में प्राण का अवस्थान मांस धातु में हो गया था—जिससे उस युग के मुनि लोग तपस्या करते हुए सभी धातुओं को क्षयित कर लेते थे परन्तु अस्थि एवं मांस धातु उनका शेष रह जाता था तो तत्कालीन अश्विनी-कुमार उन्हें भेषज के योग से फिर जीवित कर लेते थे। द्वापर युग में प्राण का अवस्थान चर्म में हो गया था यदि उस युग के साधक तपस्वी लोग साधना करते हुए सभी धातुओं को क्षयित कर चुके हो, परन्तु उनके अस्थि, मांस और चर्म धातु सुरक्षित हो, तो उनको भेषज आदि से जीवित किया जा सकता था। जब कलियुग आया तो प्राण का अवस्थान अन्न में हो गया यदि अन्न या भोजन मनुष्य का अधिक दिनों तक छुड़ा दिया जाय तो उसका पुनर्जीवनदान वैद्य के वश का नहीं रह जाता है। इस लिये कलियुग में अनशन या उपवास प्रशस्त नहीं माना गया है।

ज्वर काल में ज्वरित को भी एकान्तत उपवास कराना ठीक नहीं है। “लङ्घन स्वल्पभोजनम्” लघन का अर्थ लघु आहार करना चाहिये। हल्का एवं पथ्य भोजन ज्वरित को अवश्य भोजनकाल में देना चाहिये। फिर भी गुरु, अभिष्यदी भोजन का उपयोग नहीं करना चाहिये तथा अकाल में भोजन नहीं देना चाहिये। इसी प्रयोजन से आचार्य सुश्रुत ने लिखा है :—

“ज्वर से पीडित मनुष्य को अरुचि होने पर भी हितकर लघु भोजन देना चाहिये। क्योंकि भोजन के समय में भूख प्रतीत होने पर भोजन न करने से रोगी क्षीण हो जाता है या मर जाता है।” ज्वर से पीडित या ज्वर से रहित मनुष्य को अपराह्ण (सायकाल) में लघु भोजन करना चाहिये, क्योंकि उस समय श्लेष्मा

क्षीण होने से शरीर के भीतर की अग्नि बढ जाने में पाचकाग्नि प्रबल हो जाती है । ऐसे समय में भोजन नहीं करने से प्रदीप्त अग्नि रस-रक्तादि वातुओं को जलाती है, जिससे वलक्षय होता है ।^१ अस्तु ज्वरित को समय से लघु भोजन देना चाहिये । इस प्रकार के लघु भोजन या हल्के हितप्रद आहार कोने से है इसका एककण विवेचन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है ।

पेया—सम्यक् प्रकार के लघन के लक्षण उत्पन्न हो जाने पर रोगी की चिकित्सा पेयादि से करे । इसमें पेया आदि को अपनी-अपनी औषधियों से सिद्ध करके देवे । प्रथम यूप या मण्ड दे, पश्चात् पेया, यवागू आदि दे । ज्वर में प्रथम छै दिनों तक अथवा जब तक ज्वर मृदु न हो जाय पेया का ही प्रयोग करना चाहिये । पेया के बारे में चरक में लिखा है कि ये पेयादि औषधियों के संयोग से तथा लघु होने में अग्नि के दीप्त करने वाले होते हैं । इनके प्रयोग से वात-मूत्र एवं पुरीष का सरण होता रहता है, दोषों का अनुलोमन होता चलता है, इनके द्रव एवं उष्ण होने से रोगी का हल्का स्वेदन होता चलता है, तृषा ग्रान्त हो जाती है । आहार का गुण होने में रोगी का बल नहीं टूटने पाता है, शरीर हल्का रहता है और ज्वर में सात्त्व्य होने से ज्वरनाशक भी होते हैं । अस्तु पेया के द्वारा ज्वर के प्रारंभ में चिकित्सा करनी चाहिये ।^२

पेयाओं में सबसे प्रथम घान्य लाज (खोली) को बनी पेया दे । इस पेया में सोंठ, बनिया, पिप्पली और सोंठ का प्रक्षेप डालकर देवे । यह लाजपेया जल्दी

१ ज्वरितो हितमश्नीयाद् यद्यप्यस्यास्त्रिभवेत् ।

अन्नकाले ह्यभुञ्जानः क्षीयते म्रियतेऽपि वा ॥

ज्वरित ज्वरमुक्तं वा दिनान्ते भोजयेत्लघु ।

श्लेष्मच्छये विवृद्धोष्मा बलवाननलस्तदा ॥ (सु चि.)

२. मुस्तर्पटकोशोरचन्दनोदीच्यनागरै । शृतगीत जल देयं पिपासाज्वर-
ग्रान्तये ॥ यद्यप्यु शृतगीतामु पङ्कजादि प्रयुज्यते । कर्पमात्रं ततो द्रव्यं साधयेत्
प्राप्त्यिकेऽम्ममि । अर्धशृतं प्रयोक्तव्यं पाने पेयादिमन्त्रिषौ ॥ ३ युक्त्वं लङ्घित
लिङ्गैस्तु त पेयामित्पाचरेत् । यथास्त्रीपवसिद्धाभिर्मण्डपूर्वाभिरादितः ॥ पङ्क
वा मृदुत्व वा ज्वरो यावदवाप्नुयात् । तस्याग्निर्दीप्यते तामि समिद्धिखि पावकः ॥
(वा चि १) । ताश्च भेषजमयोगाल्लघुत्वाच्चाग्निदीपना । वातमूत्रपुरीषाणा
दोषाणा चानुलोमना ॥ स्वेदनाय द्रवोष्णत्वाद् द्रवत्वात् तृट्प्रग्रान्तये । आहारभावात्
प्राणाय मरत्वाल्लाववाय च । ज्वरन्धनो ज्वरसात्त्व्यत्वात् तस्मात्पेयाभिरादितः
ज्वरानुपचरेद्वीमान् । (च चि ३)

पच जाती है जिस रोगी को अम्ल लेने की इच्छा हो उसमें अनारदाना या आंवला मिलाकर उसे दे । ऐसे ज्वरी जिनमें दोनो पार्श्व भाग, वस्तिभाग एवं शिरमें शूल चल रहा हो दोनो से पडङ्ग परिभाषा विधि से सिद्ध किये हुए जल से लाल साठी के चावलो की पेया बनाकर देना चाहिये । बहुत पित्त वाले या अतिसार वाले ज्वरी में लाजपेया में शुठी और मधु मिलाकर पिलावे । ज्वरातिसार की अवस्था में लाज-पेया को पृष्ठपर्णी, बला, बिल्व, सोठ, नीलोत्पल एवं धान्यक से सिद्ध करके देवे । हिव्का, श्वास एवं कास होने पर पचमूल से सिद्ध लाजपेया को पिलावे । मलावरोध एवं उदरशूल युक्त ज्वरी में चविका, पिप्पली-मूल, द्राक्षा, आंवला और मोठ में सिद्ध पेया पिलावे । ज्वर में परिकर्त्तन जैसी पीडा होने पर बेर, वृक्षाम्ल, पुश्तिपर्णी, शालपर्णी और बिल्व से सिद्ध पेया देवे । स्वेद एवं निद्रा के न आने पर तृष्णायुक्त ज्वर के रोगी में शर्करा, आंवला और सोठ से सिद्ध पेया पिलानी चाहिये । शर्करा, बेर, द्राक्षा, सारिखा, मुस्ता और चन्दन से सिद्ध पेया मधु के साथ तृष्णा, वमन, दाह और ज्वर का नाशक होती है ।

उपर्युक्त औषधियो से सिद्ध मण्ड, यूप, यवागू आदि पथ्य भी दिये जा सकते हैं । मण्ड, पेया, विलेपी और यवागू में केवल बनाने का भेद मात्र है । कल्पना के भेद से जिसमें चावल के दाने न हो ऐसे सिद्ध चावल के द्रव भाग को मण्ड कहते हैं । जिसमें कुछ कुछ चावल के दाने हो उसे पेया कहते हैं । जिसमें अधिक चावलो के दाने हो उसे यवागू कहते हैं । जिसमें चावल के दाने अधिक और पानी बहुत कम हो उसे यवागू कहते हैं तथा जिसमें का जलाश बिल्कुल सुखा दिया जाय उसे ओदन (भात) कहते हैं । शार्ङ्गधर के मत से १ भाग चावल को पाँच गुने जल में पका कर ओदन बनाना चाहिये । विलेपी—चार गुने जल में पका कर, मण्ड—चौदह गुने जल में पकाकर, यवागू को पड्गुण जल में पका कर, और अठारह गुने जल में पकाकर यूप बनाना चाहिये । इनमें क्रमशः यूप से मण्ड, मण्ड से पेया, पेया से विलेपी, विलेपी से यवागू और यवागूसे ओदन गुप्त होता है । इनका प्रयोग क्रमशः एक के बाद दूसरेका व्यवहार करना होता है । जब रोगी को प्रथम दिन यूप दिया पचने लगा तो दूसरे दिन मण्ड देना चाहिये । फिर यह भी पचने लगे तो तीसरे दिन पेया एवं यवागू आदि का क्रमशः प्रयोग करना चाहिये । ज्वर के प्रारम्भिक सप्ताह में अन्नकाल में यूप, पेया या यवागू का प्रयोग औषधि सिद्ध करके किया जा सकता है ।

मात्रा—जो मनुष्य जितना चावल खाता है उसका चौथाई परिमाण में चावल लेकर उसका मण्ड या पेया बनाकर देना चाहिये । मण्ड, पेया, विलेपी,

यवागू और ओदन बनाने के लिये पुराने चावल का प्रयोग खाम कर पुराने साठो के चावल या कोई भी लाल रंग के चावल का उपयोग करना चाहिये । मण्ड और पेया के लिये धान्यलाज (धान के खोल) का ही व्यवहार होना चाहिये । क्योंकि ज्वरकाल में इनका प्रयोग ज्वरनाशक होता है ।^१

मण्ड, पेया, विलेपी, कृगरा ये सभी यवागू कहलाती हैं । यवागू बनाने के लिये पुराने चावल को बूट देवे ताकि एक एक में प्रायः चार टुकड़े हो जायें । कृगरा (खिचड़ी) बनाने की विधि यह है कि छ. गुने जल में चावल, मूग की दाल या उड़द की दाल या तिल छोड़कर पकावे । यह न बहुत पतली या न ज्यादा गाढ़ी । यह बलकारक एवं वातनाशक होती है । जब रोगी की अग्नि तीव्र हो, मण्ड, पेया, विलेपी, यवागू, ओदन आदि क्रमशः दिया जा चुका हो तो उस रोगी को देना चाहिये ।

भोजन की पेया प्रभृति विविध कल्पनावो के होते हुए भी व्यवहार में मूग की दाल की कृगरा का अधिक प्रयोग होता है । जब रोगी की अग्नि-पाचन शक्ति बहुत क्षीण हो तो उसे जी का यूप (वाट्यमण्ड) या लाजपेया (धान के खोल का मण्ड), साबूदाना, हल्के शाको के यूप आदि दिये जाते हैं । जब ये पचने लगते हैं और रोगी की पाचन शक्ति बढ़ती है तो पतली खिचड़ी और पुनः गाढ़ी खिचड़ी देने का विधान किया जाता है । अधिक व्यावहारिक पथ्यो का विस्तार के साथ आगे वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

संतर्पण या फलरस—कई प्रकार के ज्वरोंमें पेया का निषेध आस्त्रो में पाया जाता है । जैसे मद्य के कारण उत्पन्न ज्वर में, नित्य मद्य पीने वाले मनुष्य में, ग्रीष्मकाल में, पित्त या कफ की अधिकता होने पर, रोगी को प्यास बमन और दाह अधिक होने पर तथा ऊर्ध्वग रक्तपित्त में पेया नहीं देनी चाहिये । क्योंकि पेयादि उष्ण होते हैं । इन अवस्थाओंमें शीतल पेयों की अपेक्षा रहती है । उस अवस्था में पोषण के लिये ज्वरनाशक हल्के, सुपाच्य, पुष्टिकर फलों के रस^२ (जैसे अगूर, मोसम्मी, मोठा नीबू, अनार, कागजी नीबू, गाम्भारी के फल, शहतूत, फालसा, मिश्री, मधु तथा धान के खोल के सत्तु-मिश्री और मधु से बनाये शर्बत) मिश्री या मधु का जल देना चाहिये ।

१ रक्तशाल्यादयः शस्ता पुराणाः पष्टिकै सह । यवागूओदनलाजार्थं ज्वरितानां ज्वरापहाः ॥

२. द्राक्षादाडिमकाश्मर्यपथ्यापीलुपल्लवकै । ज्वरघ्नैः । (अ संग्रह)

मासरस—अधिक परिश्रम, उपवास तथा वात इन कारणों से उत्पन्न हुए ज्वर में रोगी के क्षीण होने पर तथा अग्नि के दीप्त रहने पर उसे मासरस और चावल वा भात (तण्डुलौदन) खाने को देना चाहिये। आमिषभोजी रोगियों में लावक (जगली वटेर), कपिञ्जल (जंगली तीतर), हिरण, पृषत (हिरन की कोई जाति), शरभ, शग (खरगोश), कालपुच्छ, कुरंग, मृगमातृक प्रभृति हल्के मासों का उपयोग करना चाहिये। ज्वरकाल में कई बार प्रोटीनयुक्त आहार आवश्यक होते हैं। आज कल कई प्रकार के मासरस ज्वरकाल में व्यवहृत होते हैं। जंमेः—‘हार्डिन्यूट्रान’ (हिन्द)।^१

मासरस को रोगी की रुचि के अनुसार, अनारदाना या आँवला डालकर थोड़ा खट्टा बनाकर या बिना खट्टा किये भी दिया जा सकता है। इसके अभाव में चरने वाले बकरे के लघु अवयव के मास का रस भी दिया जा सकता है। बकरा भी जाङ्गलवत् माना गया है और मानव शरीर के लिये सात्त्विक है।

दालके यूप—मूग, मसूर, चना, कुलत्थ, मकुष्ठ इनमें से किसी एक दाल को अठारह गुने जल में सिद्ध करके आहार-काल में पोषण के लिये रोगी को दे। यह दाल का यूप कहलाता है।

शाक-यूप—परवल के पत्ते एवं फल, वैगन, करेला, कर्कोट (ककोडे, खेखसा), पित्तपापडा की पत्ती, गोजिह्वा (गाजवाँ), छोटी मूली, गुडूची की पत्ती, चौलाई, वयुवा, तिनपतिया (सुनिषण्ण), चौपतिया (चाङ्गरी), नीम का फूल, मारिप (मरसा), प्रभृति तिक्त रसवाले शाक बिना घी-तेल आदि का छौंक दिये ही यूप के रूप में बनाकर देना चाहिये।

वाट्यमण्ड (वार्ली वाटर)—जौ को कूटकर भूसी निकाल कर गूदी बनाकर फिर थोड़ा भूनकर चौदह गुने जल में उवाले और छान लेवे तो उसे वाट्यमण्ड कहते हैं। यह कफ एवं पित्त का शामक होता है। ज्वर के रोगी में अतिसार भी चल रहा हो तो उस अवस्था में बड़ा उत्तम पथ्य रहता है। इसमें थोड़ा नमक और कागजी नीबू का रस मिलाकर स्वादिष्ट भी किया जा सकता है।^२ आज कल वार्ली पर्याप्त मात्रा में बाजार में मिल जाती है। इसमें खड़े दाने वाले वार्ली का प्रयोग करना चाहिये चूर्ण क्रा नहीं।

१ उपवासश्रमकृते क्षीणे वाताधिके ज्वरे । दीप्ताग्निं भोजयेत्प्राज्ञो नर मास-
रसौदनम् ॥ लावान् कपिञ्जलानेणान् पृषताञ्छरभाञ्छशान् । कालपुच्छान् कुर-
ङ्गाश्च तथैव मृगमातृकान् ॥ मासार्थं माससात्त्व्यानां ज्वरितानां प्रदापयेत् । (सु उ ३९)
ईषदम्लाननम्लान् वा रसान् काले विचक्षण । प्रदद्यान्माससात्त्व्याय ज्वरिताय ज्वरापहान् ॥

२ सुकण्डितैस्त्वया भूष्टैर्वाट्यमण्डो यवैर्भवेत् ।

साबूदाना—इसका वर्णन आयुर्वेदिक प्राचीन ग्रंथों में नहीं पाया जाता है। यूनानी चिकित्सकों के सम्पर्क से इस का प्रवेश ज्वरकाल के पथ्य के रूप में लोक में हुआ है। साबूदाना के पेड़का फल होता है। यह बड़ा लघु, सुपाच्य एवं पित्तशामक होता है, ज्वरकाल में इसका भी मण्ड बनाकर दिया जा सकता है।

लाजमण्ड या पेया—इसका वर्णन विस्तार से ऊपर हो चुका है। यहाँ पर एक अधिक व्यावहारिक विधि का उल्लेख मात्र करना ही लक्ष्य है। घान के लावा को या भुने चावल को चौदह गुने जल में उबाल कर छान लेवे। इसे लाज-मण्ड कहते हैं। यह भी कफपित्तशामक, तृपाणामक और ग्राही होता है।

दूध का पानी—दूध को गर्म करके उसमें नीबू का रस या डमली डालकर दूध को फाड़ देवे, पश्चात् छेने को पृथक् करके केवल पानी का भाग रखले और रोगी को बीच-बीच में पिलाता चले। यह नित्य ताजा बनाना चाहिये। यह पित्त-शामक हल्का पथ्य है। जब दोष प्रबल हो, रोगी की अग्नि बहुत मंद हो, मन्थर ज्वर या सान्निपातिक ज्वर हो तो यह पथ्य उत्तम रहता है।

दूध—प्राचीन ग्रंथकारों ने नव ज्वर में दूध का निषेध किया है। नवज्वरी को पथ्य रूप में दूध नहीं देना चाहिये। इतना ही नहीं औषधि के देने की भी व्यवस्था एक सप्ताह तक ज्वर में नहीं की है। परन्तु व्यवहार में औषधि भी दी जाती है और दूध का पथ्य भी। वास्तव में औषधि का निषेध काष्ठीपथियों के अर्थ में है। 'आम दोष वाले तरुण ज्वर में भेषज के प्रयोग से ज्वर और भी बढ़ जाता है' 'भेषजं ह्यामदोपस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम्।' भेषज का अभिप्राय काष्ठीपथियों से बने, देर में पचने वाले, गुरु द्रव्य जैसे—क्वाथ, चूर्ण, कल्क आदि से है क्योंकि ज्वर में अग्नि मंद हो जाती है, आमदोष प्रबल रहता है अस्तु इन औषधियों के पचाने की क्षमता ज्वरित की अग्नि में नहीं रहती है, परिणाम स्वरूप आमदोष बढ़ जाता है, ज्वर तेज हो जाता है। अस्तु, उपवास कराना ही उत्तम उपाय रहता है। जबसे चिकित्सा में रस के योगों का प्रयोग होने लगा है, भेषज निषेध का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि ये अल्प मात्रा में प्रयुक्त होती हैं। साथ ही तीव्र पाचक होती हैं अस्तु इनका विधान किया जा सकता है। ये औषधियाँ अधिकतर विषों के संयोग से निर्मित होती हैं अस्तु त्रिपध्न पथ्य और (दूध) का निषेध भी नव ज्वर में अनुचित प्रतीत होता है। अस्तु रसौषधियों के प्रयोग काल में नव ज्वर में यदि रोगी की अग्नि अनुकूल हो और रोगी को सात्त्व्य हो तो दूध पथ्य रूप में दिया जा सकता है।

दूध गाय का उत्तम होता है। परन्तु अतिसार हो तो ज्वरित को अजा-क्षीर (बकरी का दूध) भी दिया जा सकता है। दूध को गर्म करके ठंडा करके या

पिप्पली या शुण्ठी श्रुत करके देना चाहिये । इसके लिये दूध में आधा पानी मिलाकर खोलाने के लिये आग पर रखे एक कपड़े को पोटली में एक-दो पीपल या १-२ मांसे सोठ बांधकर छोड़ दे । दूध खोल जाने पर एव पानी के थोड़ा जल जाने पर उतार ले और ठंडा करके समय-समय से दे ।

मिश्री या ग्लुकोज का जल—खौलाये हुए जल में मिश्री या ग्लुकोज का पानी मिलाकर बीच-बीच में पीने के लिये दे इससे एक उत्तम पोषण होता है ।

काल—इस प्रकार रोगी के बल और दोष का ध्यान रखते हुए छ दिन व्यतीत कर देना चाहिये । अर्थात् जिस दिन ज्वर हुआ उस दिन आरम्भ करके छः दिनो तक प्रतीक्षा करनी चाहिये । सातवें दिन लघु अन्न का मात्रा से सेवन करावे । पुन आठवें दिन से पाचन या शमन क्रिया के लिये काढा पिलावे । वास्तव में ज्वर में प्रथम छ. दिनो तक प्रारम्भ में एक-दो दिनो तक लघन पश्चात् मण्ड पेया आदि का प्रयोग करना चाहिये । और आमदोषो के कम हो जाने एवं ज्वर के हल्के होने की प्रतीक्षा करनी चाहिये । सामान्यतया इन उपक्रमो से छ दिनो में आम-दोषो का पर्याप्त पाचन हो गया रहता है । अस्तु सातवें दिन लघु अन्न देने का विधान है । पश्चात् सातवें या आठवें दिन से शेष दोषो के पाचन या शमन के लिये भेषज (काष्ठीषधियो के कषाय) का प्रयोग करना चाहिये ।^१

चरक चिकित्सा स्थान तीसवें अध्याय में ज्वरो में छ दिनो की सख्या का माहात्म्य बतलाते हुए एक वचन पाया जाता है । जो ज्वर में काल (समय) की प्रतीक्षा के महत्त्व का दिग्दर्शक है । “ज्वर में पेया छठे दिन तक, छठे दिन के पश्चात् कषाय, पश्चात् बारहवें दिन से क्षीर, पश्चात् अठारहवें दिन से घी तत्पश्चात् चौबीसवें दिन से विरेचन दोषो के बलाबल का विचार करते हुए देना चाहिये ।”^२

चरक संहिता में चिकित्सा के तृतीय अध्याय में ज्वर के सवन्ध में लिखा है कि

१ एता क्रिया प्रयुञ्जीत षड्रात्र सप्तमेऽहनि । पिबेत् कषायसयोगा-
ज्वरघ्नान् साधु साधितान् ॥ (हारीत) इति पाङ्गान्निक प्रोक्तो नवज्वरहरो
विधि । तत पर पाचनीय शमन वा ज्वरे हितम् ॥ (खरनाद) । पाचन शमनीयं
वा कषाय पाययेद् भिषक् । ज्वरित षडहेऽतीते लघ्वन्नप्रतिभोजितम् ॥
(च. चि ३)

२ ज्वरे पेयाकषयाश्च क्षीर सर्पिविरेचनम् । षडहे षडहे देय वीक्ष्य
दोषबलावले ॥ (च. चि. ३०)

मण्ड पेया प्रभृति यवागू का काल समाप्त हो जाने पर अर्थात् प्रथम सप्ताह के अनन्तर लघुभोजन दस दिनों तक ज्वर की शान्ति के लिये देना चाहिये । रोगी की अग्नि बलवती हो और कफ की अधिकता हो तो यूप का उपयोग, वात की प्रबलता हो और रोगी दुर्बल हो तो मासरस का उपयोग करना चाहिये । इस यूप या मासरस को आवश्यकतानुसार अनारदाने के बीजों को डाल कर अम्ल किया जा सकता है । फिर दस दिनों के बाद दोपों के परिपक्व हो जाने पर, कफके मद हो जाने पर, ज्वर में वात-पित्त की अधिकता रहने पर गोघृत या औषधिशृत घी का पिलाना अमृत के समान लाभप्रद होता है । परन्तु इसके विपरीत अवस्था में अर्थात् दोपों में कफाधिक्य होने पर, अलंघित रोगी में तथा दस दिनों के पूर्व घृतपान का निषेध है । इस दशा में मासरस या यूप के साथ लघु भोजन देना ही प्रशस्त रहता है ।

यदि ज्वरी में दाह और तृष्णा की अधिकता, ज्वर निराम हो गया हो, ज्वर का समय भी दो सप्ताह से अधिक हो गया हो तो रोगी को दूध पिलाना चाहिये । यदि विवन्ध रहता हो तो गाय का गर्भ कर ठंडा किया दूध और यदि पतले दस्त हो रहे हो तो बकरी का दूध देना चाहिये । निराम ज्वर में दूधरूपी पथ्य की प्रशंसा करते हुये वाग्भट ने लिखा है कि अग्नि से जले वन को जैसे बरसात का पानी जीवन देता है उसी प्रकार लघन से उत्पन्न ज्वर के रोगी के शरीर में दूध जीवन देता है और उसके ज्वर को नष्ट कर देता है :

तद्वदुल्लङ्घनोत्तमं प्लुष्टं वनमिवाम्निना ।

दिव्याम्बु जीवयेत्तस्य ज्वरं चाशु नियच्छति ॥

यदि इन उपचारों के बावजूद भी ज्वर न शान्त हो रहा हो, और रोगी का बल-मास और अग्नि क्षीण न हुई हो तो विरेचन के द्वारा उपचार करना चाहिये ।

साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि ज्वर से क्षीण रोगी में वमन करावे और न विरेचन । उसके मल के निर्हरण के लिये पर्याप्त मात्रा में गाय का दूध पिलावे या निरुहवस्ति (Enema) से कोष्ठगुद्वि करनी चाहिये । ज्वर काल में विवध होने पर अधिकतर वस्ति के द्वारा मल का निर्हरण करना ही उत्तम होता है । वस्ति दो प्रकार की होती है—रूक्ष कोष्ठगुद्वि के लिये तथा स्निग्ध पोषण तथा ज्वर के नाशन के लिये । कई प्रकार की ज्वरघ्न अनुवासन वस्तियों का पाठ अष्टाङ्ग हृदय में पाया जाता है ।

मद्योत्थज्वर, रक्तपित्त आदि में जहाँ पर पेया का निषेध है—प्रथम छ. दिनों तक तर्पण के लिये लाजसत्तू तथा फलरसों का प्रयोग करना चाहिये ।

आचार्य मुश्रुत का अभिमत यही है कि सात रात्रि के अनन्तर औषधि देनी चाहिये ।^१ इस औषधि का लक्ष्य यह होता है—“लघन, उष्णजल, शृत शीत जल, यवागू आदि के उपयोग से यदि दोष का पाचन न हो सका हो और रोगी में मुखवैरस्य, तृष्णा, अरुचि प्रभृति लक्षण विद्यमान हो तो पाचन, ज्वरघ्न एवं हृद्य कषायो के द्वारा सातवें दिनसे उपचार करे^२ ।

तृण ज्वरमे प्रथम सप्ताह तक कषाय का निषेध —आम ज्वरमे कषाय निषिद्ध है । ऐसे ज्वरमे आम दोष बढ़ा रहता है, ‘अतः’ लघन कराया जाता है, ऐसी स्थितिमें कषाय रस का सेवन कराया जाय तो दोषोका स्तम्भन हो जाता है वे अधिक कुपित होते हैं और उनका प्राकृतावस्थामें लाना दुष्कर हो जाता है । विषम स्वरूपका ज्वर पैदा होता है । वस्तुतः पचविध कषाय-कल्पनाके विचारसे (स्वरस, कल्क, शृत-शीत, फाण्ट एवं कषाय) सभी कषायोका सेवन निषिद्ध नहीं है अपितु जो कषाय, कषाय रस वाली औषधियोसे बनाये गये हैं उनका ही उपयोग निषिद्ध है । कुछ आचार्योंका मत है कि यहाँ पर निषिद्ध कषायसे उस कल्पनाका अर्थ अभिप्रेत है जो कि सोलह गुने जलमें पकाकर चौथाई अवशिष्ट रखकर (क्वाथ) बनाये जाते हैं । इस का नवज्वर में प्रथम छ दिनों तक या एक सप्ताह तक पिलाना निषिद्ध है । क्योंकि इस कल्पनामें औषधि का अश अधिक आ जाता है, स्वाद भी अरुचिकर हो जाता है, ये क्वाथ अधिकतर कटु-तिक्त रस वाली औषधियाँके योग से बनते हैं, जिन्हें स्वभावतः मनुष्य पीना नहीं चाहता, पीने से रोगी में घबराहट और बेचैनी होती है—आम ‘दोष अधिक तीव्र हो जाता है तथा ज्वर बढ़ जाता है ।

उक्त औषधियोके बने स्वरस, शृतशीत जल, शीत कषाय या फाण्टका प्रयोग तो कर ही सकते हैं क्योंकि इनमें औषधि का अश कम होता है, जल की मात्रा

१ सप्तरात्रात्पर केचिन्मन्यन्ते देयमौषधम् । लङ्घनाम्बुयवागूभिर्यदा दोषो न पच्यते ॥ तदा त मुखवैरस्यतृष्णारोचकनाशनै । कषायै पाचनैर्हृद्यैर्ज्वरघ्नै समुपाचरेत् ॥ (सु उ तत्र ३९)

२ स्तम्भ्यते न विपच्यन्ते कुर्वन्ति विषमज्वरम् । दोषा बद्धा कषायेण स्तम्भि-त्वात्तरुणे ज्वरे ॥ न तु कल्पनमद्दिश्य कषाय प्रतिषिद्धयते । य. कषाय कषाय स्यात्स वर्ज्यस्तरुणे ज्वरे ॥ च चि ३. न कषाय प्रयुञ्जीत नराणा तरुणे ज्वरे । कषायेण कुलीभूता दोष जेतु सुदुष्कर ॥ न तु कल्पनमुद्दिश्य कषाय प्रतिषिद्धयते । य. कषाय कषाय स्यात्स वर्ज्यस्तरुणे ज्वरे ॥ चतुर्भागावशिष्टस्तु य. पौडशगुणाम्भसा । स. कषाय कषाय स्यात् स वर्ज्यस्तरुणे ज्वरे ॥ फाण्टादीना प्रयोगस्तु न निषिद्ध । पाचन । (शाङ्गि०) ।

अधिक होती है, जिससे ये रुचिकर, लघु एवं शोथ पचने वाले हो जाते हैं। चतुर्गुण जलमें औषधिको छोड़कर कुछ मिनट तक आगपर रख कर मल कर छान लेने को फाण्ट (जैसे चाय बनाई जाती है) कहते हैं। छ गुने जल में औषधि को गाम को भिगो कर सुवह छान ली जाती है। उसे गीत कपाय या हिम कहते हैं। स्वरस की मात्रा अल्प रहती है और रस को औषधियों के अनुपात रूप में व्यवहृत होते हैं अस्तु इनका प्रयोग विधेय हो जाता है। शृत-गीत जल को कल्पना का ऊपर में उल्लेख हो चुका है इस में काष्ठीपधि की मात्रा अधिक गाढी (Concentrated) नहीं होती प्रत्युत हल्की (Dilute) रहती है और तरुण ज्वर में उपयोग में लाये जा सकते हैं।

इस प्रकार कई आचार्य सात दिनोंके पश्चात् औषधि देने को कहते हैं, दूसरे दस दिनोंके बाद औषधि देने का उपदेश देते हैं। कुछ लघु भोजन देने के अनन्तर भेषजका विधान करते हैं। वास्तवमें काल की प्रतीक्षा एक उपलक्षण मात्र है आम की अधिकता रहने तक औषधि नहीं देनी चाहिये। यह बात सर्वमान्य है। अवस्था भेद से तीनों पक्ष मान्य हैं।^१

भेषज तित्त रस या कपायः—इसके अनन्तर ज्वरनाशक क्वाथों का उपयोग ज्वर की चिकित्सामें करना चाहिये। क्वाथ या कपाय के बनाने की कई परिभाषायें हैं—जैसे—द्रव्य से चतुर्गुण या अष्टगुण या पौडग गुण जल छोड़ कर, खोला कर चौथाई (पादावशेष) वचा कर छान कर पिलाना। उनमें तीसरी विधि का जिममें पौडगगुण जल में औषधि को खोलाया जावे और चतुर्थांश वचा लिया जावे अधिक मान्य है। यही सर्वोत्तम है। क्वाथ के निर्माण के लिये मिट्टी के वर्तन होने चाहिये और मध्यम आंच पर क्वाथ का पाक होना चाहिये। क्वाथ में अरुचि हो तो ठंडा कर के एक तोला मधु मिला लेना चाहिये। क्वाथ का दिन में एक बार प्रातः काल में प्रयोग होना चाहिये। आवश्यकताके अनुसार सायं काल में भी उसी क्वाथ्य द्रव्य में पानी डाल कर पुनः खोला कर क्वाथविधि से जल को शेष कर पिलाना चाहिये। ज्वरघन कपाय अधिकतर तित्त रस (Bilter) होते हैं। क्वाथ्य द्रव्यों की जहाँ पर मात्रा नहीं लिखी है—समान मात्रा में लेना चाहिये और उस का जवकुट (कूट ५ छोटे छोटे टुकड़े) कर लेने चाहिये फिर २ से २½ तोला द्रव्य को लेकर उन्में ३२ तोले जलमें खोला कर ८ तोले शेष कर लेना चाहिये। साफ कपड़े

^१सप्ताहादीपधं केचिदाहुरन्ये दशाहतः ।

चिल्लध्वन्नभुक्तस्य योज्यमामोत्वणे न तु । (अ ह चि १)

मे छान कर पिलाना चाहिये । कपाय अधिकतर आम दोष के पाचक या सशामक होते हैं । इसी अर्थ मे क्वाथ का पर्याय बगला भाषा मे पाचन हो जाता है ।

ज्वर एकदोषज, द्विदोषज (ससर्गज) अथवा त्रिदोषज (सान्निपातिक) हो सकते हैं । वात, पित्त अथवा कफ शामक तो बहुत सी औषधियाँ हैं उनका उपयोग करते हुए एकदोषज व्याधियों का उपचार हो सकता है, परन्तु जब दो दोषों का समर्ग या तीनों दोषों के सन्निपात से रोग उत्पन्न हो जाय तो चिकित्सा मे कठिनाई पैदा होती है । इसका विधान यह है कि ससृष्ट दोषों मे दो दो वगै की औषधियों का संयोजन करके और सन्निपात मे सम, तर या तम दोषों का विचार करते हुए यथोक्त दोष-शामक औषधियों से उपचार करना चाहिये । क्षीण दोषों के वर्धन करने वाले योग तथा बढे हुए दोषों के ह्रास करने वाले दोषों का प्रयोग करते हुए यथायोग्य औषधियों का योग करना चाहिये ।

कुछ कपाय रूप मे प्रयोग मे आने वाले योग तथा औषधियों का संग्रह नीचे दिया जा रहा है ।^१

सामान्य योग—१ धान्य-पटोल-धान्यक एव पटोल का काढा । २. किराततिक्तादि कपाय—चिरायता, नागरमोथा, गिलोय, सोठ, पाढ, खस तथा सुगंध वाला का कपाय । ३ पथ्यादि कपाय—हरीतकी को अमलताश, आमला और निगोथ का काढा ।

विशेष योग—वातिक ज्वरमें—१ किरातादि क्वाथ—चिरायता, नागरमोथा नीम, गिलोय, छोटी-बड़ी कटेरी, गोखरू, शाल पर्णी, पृष्ठपर्णी और सोठ का काढा ।

पित्त ज्वर मे—१ पर्पटादि—पित्तापापडा, लाल चन्दन, खस और सुगंध-वाला का कपाय । २ द्राक्षादिकपाय—द्राक्षा, हरीतकी, नागरमोथा, कुटकी और अमलताश की मज्जा का काढा ।

श्लेष्म ज्वर मे—१ निम्बार्द्रादिकपाय—नीम की छाल, सोठ, गिलोय, देवदारु, कचूर, चिरायता, पुष्करमूल, पीपल, गज-पीपल तथा बड़ी कटकारी का काढा । २ चतुर्भद्रावलेहिका—कटफल, पुष्करमूल, काकडा सींगी और पुष्करमूल-समान मात्रामे लेकर महीन चूर्ण बनाकर मधु से चाटना ।

वात-पित्त ज्वर—१ पचभद्र क्वाथ—पर्पट, मुस्तक, गुडूची, शुंठी और चिरायता का काढा २ मधुकादि शीतकपाय—मुलैठी, श्वेत सारिवा, कृष्ण सारिवा.

१ ससृष्टान् सन्निपतितान् बुद्ध्वा तरतमं समै ।

ज्वरान् दोषक्रमापेक्षी यथोक्तैरौषधैर्जयेत् ।

वर्धनेनैकदोषस्य क्षपणेनोच्छ्रितस्य वा ॥ (च चि ३)

मनवका, महुवे के फूल, लाल चंदन, नीलकमल, गाम्भारी की छाल, पद्मकाठ, लोध्र, हरें, वहेरा, आंवला, कमल केसर, फालसा, खम और धाग का लावा इन द्रव्यों को सम भाग में लेकर, कूट कर शुद्ध जल में भिगोकर मिट्टी के पात्र में भर कर रात भर रख दे । प्रातःकाल में साफ हाथों में ममल कर छान कर उसमें गृहद ६ मासे और चीनी ६ मासे मिलाकर ज्वरी को पिलाना चाहिये । प्रातः-सायम् दिन में दो बार पिलावे ।

पित्तश्लेष्म ज्वर—१ पटोलादिकपाय—पटोल पत्र, नीम की छाल, हरें, वहेरा, आंवला, मधुयष्टि और वला में मिद्ध कपाय । २. अमृहताप्रक कपाय—गुडूची नीम की छाल, कुटकी, मोथा, इन्द्र जी, सोठ, परवल की पत्ती और लाल चंदन इन द्रव्यों से सिद्ध कपाय में पिप्पली का चूर्ण ४ रत्ती की मात्रा में मिलाकर पिलाना । ज्वर, छिदि, तृषा और दाह को नष्ट करता है ।

वातश्लेष्म ज्वर—१ दशमूल क्वाथ में पिप्पली चूर्ण एक माशा का का प्रक्षेप डालकर पीना । २ आरग्ववादि कपाय—अमलताश की गुद्दी, पिपरा मूल, मोथा, कुटकी, हरें के छिल्के का काढा । ३ कंटकारी मूल, गुठी, मुडूची पुट्कर मूल का काढा । कास, श्वास तथा पार्श्वगूल में लाभप्रद ।

त्रिदोषज ज्वर—इम ज्वर का स्वतन्त्रतया एक अव्याय में उल्लेख किया जायगा । यहाँ पर एक इङ्गित मात्र के लिये इस प्रकार के ज्वर में व्यवहृत होने वाले कुछ कपायों का नामोल्लेख किया जा रहा है ।

१ द्वात्रिंशाङ्ग क्वाथ—भारङ्गी, चिरायता, नीम की छाल, नागर मोथा, कुटकी, मोठावच, सोठ, पीपल, मरिच, अडूसे की पत्ती, इन्द्रायण की जड़ की छाल, रास्ना, अनन्तमूल, परवल का पत्राग, देवदारु, हल्दी, पाढल, तेहू, ब्राह्मी, दारुहल्दी, गुर्च, अगस्त, चीड़, लालकमल, त्रायमाणा, भटकटैया, वनभण्टा, कुडे, की छाल, आंवला, हरें, वहेरा और कचूरको सम भाग लेकर क्वाथ बना कर पीना ।

२ बृहत्कुट्फलादि—कायफल, नागरमोथा, वचा, पाठा, पोहकरमूल, काला जोरा, पित्तपापडा, काकडा मिङ्गी, इन्द्रयव, वनिया, कचूर, भृङ्गराज, पिप्पली, कुटकी, हरड, चिरायता, भारङ्गी, घृतभर्जित हींग, वला (वरियारा), दशमूल की ओषधियाँ और पिपरामूल इन सबको बराबर-बराबर क्वाथ बना कर घृतभर्जित हींग ३ रत्ती, आदी का स्वरस $\frac{1}{2}$ तोला मिला कर पीना ।

३ अष्टादशाङ्ग क्वाथ—चिरायता, देवदारु, गालिपर्णी, पृष्ठपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, वेल की छाल, स्योनाक, गम्भारी की छाल, पाढल, अरणी की छाल, सोठ, मोथा, कुटकी, इन्द्रजी, पुरानी धनिया, गज-पिप्पली का काढा बना कर प्रातः काल में पीना ।

नवज्वर मे वर्जनीय आहार विहार—तरुण ज्वर मे दिन का सोना, स्नान, तैल की मालिश, गुरु अन्न का सेवन, क्रोध, पूर्व दिशा की वायु का सेवन, अनेक प्रकार के व्यायाम और कपाय का प्रयोग करने वाला वैद्य अपने हाथ से सोते हुए कृष्ण नर्प को जागृत करता है। क्योंकि कपाय-पान से क्षुभित हुए दोषो का शमन करना कठिन हो जाता है।

नवज्वर में दिन मे दो बार भोजन नही देना चाहिये। कफवर्धक, भारी एवं रस-वाहक नोतो का अवरोध करने वाले अभिष्यन्दी आहार—जैसे—दही, उडद प्रभृति पदार्थो को नही देना चाहिए। ऐसे ही गुरु पदार्थ घृतपक्व आहार, गोधूम के देर मे पचने वाले भोजन तथा रात मे (खासकर ९ वजे के बाद) भोजन देना निषिद्ध है।

इसी प्रकार स्नान, प्रदेह (अगुरु-चदन आदि का शरीर में लेप), शीतल जल का परिपेक, वमन-विरेचन आदि से देह का संशोधन, दिन मे शयन, स्त्री संग, विविध प्रकार के शरीर के आयासजनक व्यायाम, कच्चे ठंडे जल का पीना, हस्त-पादादिका प्रक्षालन, किसी कारणवश क्रोध करना, हवा के झोके मे सोना, बैठना, घूमना आदि का, गरिष्ठ (देर मे पचने वाले) भोजनो का वर्जन करना चाहिये। जैसे—दूध, घी, दाल, मास, छाछ, मदिरा, मीठे और गुरु पदार्थ।

ज्वर से मुक्त होने के अनन्तर भी रोगी को जब तक पूर्ववत् बल का अनुभव न होने लगे, तब तक व्यायाम, मैथुन, स्नान और अधिक दहलना ये चार कर्म नही करने चाहिये।^१

१ स्नान विरेक सुरत कपायो व्यायाममभ्यञ्जनमह्नि निद्राम् ।

दुग्ध घृत वैदलमामिष च तक्र सुरा स्वादु गुरु द्रवञ्च ॥

अन्न प्रवात भ्रमण रुपाञ्च त्यजेत्पयत्नात् तरुणज्वरार्त्तं ।

नवज्वरे दिवास्वप्नस्तानामभ्यङ्गान्नमैथुनम् ।

क्रोधप्रवातज्यायामकपायाश्च विवर्जयेत् ॥

न द्विरद्यान्न पूर्वाह्णे नाभिष्यन्दि कदाचन ।

न नक्त न गुरुप्राय भुञ्जीत तरुणज्वरी ॥ (भै र)

सज्वरो ज्वरमुक्तश्च विदाहीनि गुरुणि च ।

असात्मान्यन्नपानानि विरुद्धानि विवर्जयेत् ॥

व्यायाममतिचेष्टा च स्नानमत्यशितानि च ।

तथा ज्वर शम याति प्रशान्तो जायते न च ॥

व्यायाम च व्यवाय च स्नान चङ्क्रमणानि च ।

ज्वरमुक्तो न सेवेत यावन्न बलवान् भवेत् ॥ च चि ३

सामान्य ज्वर में रसौषधियाँ—काष्ठौषधियों से चिकित्सा करते हुए उपर्युक्त बहुविध विचारणावों की आवश्यकता रहती है, परन्तु रसौषधियों के प्रयोग में रोगी, रोग, दोष, दृष्य, देश, काल प्रभृति बातों के परिज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती है। क्योंकि रस-चिकित्सा अचिन्त्य शक्ति से युक्त होती है। रस-चिकित्सा की प्रशंसा में हम लोग पूर्व में देख चुके हैं कि १ 'उत्तमो रमवैद्यम्नु २ 'अल्पमात्रोपयोगित्वादरुचेरप्रमङ्गत । क्षिप्रं च फल्गदातृत्वादोषविम्योऽधिको रस ॥ अर्थात् रस योगों को मात्रा अल्प होती है, अरुचि का प्रग्न नहीं उठता और जीघ्रता से रोगी को लाभ पहुँचता है, अस्तु, काष्ठौषधियों से रसौषधियों की श्रेष्ठता स्वतः सिद्ध है। फलतः कपायादिके प्रयोग में जहाँ काल का विचार अपेक्षित रहता है जैसे नव ज्वर में 'कपायस्त्वष्टमेऽहनि, वहाँ पर रस योगों का प्रारम्भ से उपयोग किया जा सकता है। उसी प्रकार नव ज्वर में सामान्यतया दूध का निषेध पाया जाता है, परन्तु रस योगों के उपयोग में नव ज्वर में दूध का निषेध उचित नहीं प्रतीत होता है क्योंकि रस योगों में अधिकतर विषों का उपयोग पाया जाता है, अस्तु क्षीर विषघ्न हो कर इस काल में अनुकूल या पथ्य के रूप में गृहीत हो सकता है। भैषज्यरत्नावलीमें उक्ति मिलती है—

न दोषाणां न रोगाणां न पुंसां च परीक्षणम् ।

न देशस्य न कालस्य काय रसचिकित्सिते ॥

फलतः सम्पूर्ण शास्त्र का जानने वाला ही क्यों न हो यदि रसचिकित्सा का जानकार नहीं है तो वह उसी प्रकार उसहास का पात्र है जिस प्रकार धर्माचरण से हीन परिणत ।

‘सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो न जानाति रसं यदा ।

सर्व तस्योपहासाय धर्महीनो यथा बुधः ॥’

मग्न ग्रन्थों में बहुत सा रस के योगों उल्लेख पाया जाता है, कुछ एक अनुभवसिद्ध योगों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है ।

मृत्युंजय रस—शुद्ध वत्सनाभ चूर्ण १ भाग, मरिच चूर्ण १ भाग, पिप्पली चूर्ण १ भाग, शुद्ध गवक १ भाग, शुद्ध सुहागा १ भाग, शुद्ध हिगुल २ भाग । आर्द्रकस्वरस में घोट कर १-१ रत्ती की गोली बना लें । वात श्लेष्मिक ज्वर या त्रिदोषज ज्वर में । अदरक के रस एवं मधु से उपयोग करे । एक पाठ कृष्ण मृत्युंजय का भी है जिसमें हिगुल के स्थान पर कज्जली का प्रयोग किया जाता है ।

२ हिगुलेश्वर रस—पिप्पली चूर्ण, शुद्ध हिगुल, शुद्ध वत्सनाभ विप । इन तीनों को खरल में डाल कर महीन पीस कर रख ले । मात्रा ३ रत्ती से, अनुपान आर्द्रक स्वरस और मधु । वातिक ज्वरमें लाभप्रद ।

३ गोदन्ती भस्म—गोदन्ती को साफ करके निम्ब पत्र स्वरस, घृत कुमारी स्वरस या करज स्वरस की भावना देकर गजपुट में भस्म कर ले । फिर पित्तिक ज्वरो में पित्त के शमन के लिये, शिर शूल को कम करने के लिये न्यतत्र या उपर्युक्त योगों में मिला कर प्रयोग करे ।

मात्रा—१-२ माणा । अनुपान—जल, दूध, मधु, घृत एवं शर्करा :

४ रसादिवटी—शुद्ध गंधक, कपूर, श्वेत चंदन, जटामासी, नेत्रवाला, नागरमोथा, खम, छोटी इलायची, नारियल—प्रत्येक सम भाग । प्रथम पारद गंधक की कज्जली करे फिर अन्य द्रव्यों को मिलावे । गुलाब जल में खरल कर दो-दो रत्ती की गोली बना ले या छाया में सुखा कर चूर्ण रूप में रख ले ।

मात्रा—२-४ रत्ती । जल, गुलाब जल या चंदनादि अर्क के साथ दाह, नृपा ८ हिक्का एवं वमनयुक्त ज्वर में लाभप्रद ।

५. त्रिभुवनकीर्ति रस—शुद्ध हिंगुल, शुद्ध वत्सनाभ, सोठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, शुद्ध टकण और पीपरामूल प्रत्येक का सूक्ष्म कपडछन चूर्ण सम भाग लेकर अदरक, तुलसी और घतूरे के रस से प्रत्येक की तीन भावना देवे कागजी नीबू के रस की ३ भावना देकर १-१ रत्ती की गोली बना कर रख ले । मात्रा—१-१ गोली दिन में चार बार-अनुपान—आर्द्रक स्वरस एवं मधु ।

उपयोग—नव ज्वर में जिसमें प्रतिश्याय नाक से स्राव मिले । (Influenza) इन्फ्लुयेन्जा में विशेष लाभप्रद यह योग है ।

६ सजीवनी योग—सजीवनी ४ वटी, शृग भस्म ४ रत्ती और शुद्ध नरसार १ माशा । मिलाकर ४ मात्रा में बाँट ले । चार-चार घंटे के अनन्तर एक-एक मात्रा गर्म पानी के अनुपान से दे । नव प्रतिश्याय, वातश्लेष्मज ज्वर, जुकाम एवं इन्फ्लुयेन्जा में यह एक शतशोनुभूत व्यवस्था है । तीन चार दिनों के उपयोग से रोगी रोगमुक्त हो जाता है ।

७ अश्वकञ्चुकी रस—जयपाल (जमालगोटा) युक्त कुछ योग नव ज्वर में प्रशस्त माने गये हैं । रोगी के बल एवं काल के अनुसार विबन्ध युक्त नव ज्वर में इनका उपयोग किया जा सकता है । जैसे ज्वरकेशरीरस, विश्वताप-हरण रस तथा अश्वकचुकी । इनका ज्वरोके अतिरिक्त अन्यत्र उदर विकारों में भी उपयोग किया जा सकता है । यहाँ पर अश्वकचुकी रस का एक पाठ दिया जा रहा है ।

शुद्ध पारद, आगपर फुलाया सुहागा, शुद्ध गंधक, शुद्ध वत्सनाभ, सोठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, हरड, बहेरा, आँवला, शुद्ध हरताल या माणिक्यरस और

घुट्ट जमाल गोटा सम भाग में ले । प्रथम पारद एव गंधक की कज्जली करे । पीछे हस्ताल मिला कर जब तक उसके मूँहम कण भी न दिग्वाड़े दे खरल कर । फिर अन्य द्रव्यों को मिलावे । फिर भागरेले के रस में २१ भावना देकर २-२ रत्ती की गोलियाँ बना ले । मात्रा—१ गोली दिन में तीन बार । अनुपान अदरक का रस, मिश्री या जल ।



द्वितीय अध्याय

त्रिदोषज ज्वर में चिकित्सा का बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है क्योंकि त्रिदोष शामक द्रव्य प्रायः नहीं होते । जो उपचार वात के लिये पथ्य होता है वह श्लेष्मा के लिये अपथ्य हो जाता है, जो औषधि पित्त में पथ्य है वे प्रायः कफ के लिये अपथ्य हो जाती है । जो तेज और कपाय द्रव्य कफपित्तहर होते हैं वे वात को करने वाले मिष्ट होते हैं । मधुर रस जो वातपित्त का शामक होता है वह कफ का वर्द्धक होता है । जो वास्तव में त्रिदोष शामक द्रव्यमाला प्रभृति कुछ औषधियाँ हैं वे बहुत थोड़ी हैं । वे भी प्रति रोग के लिये नियत नहीं हैं और निश्चित रूप से ज्वर के योगिक रूप में व्यवहृत होने वाली भी नहीं हैं । तो फिर मन्निपातज ज्वर में चिकित्सा कैसे की जावे ?

चिकित्सा सूत्र—सन्निपात से उत्पन्न ज्वरो में चिकित्सा मूत्रो का उल्लेख करते हुये चरकाचार्य ने दो प्रवान विधियाँ बतलाई हैं :—

क वर्धनेनैकदोषस्य क्षपणेनोच्छ्रितस्य वा । अर्थात् एक हीन दोष के बटाने अथवा एक बड़े दोष के क्षपण (हासन) करने से ।

ख. कफस्थानानुपूर्व्या वा सन्निपातज्वरं जयेत् । अथवा कफ स्थान का सर्वप्रथम उपचार करने के पश्चात् दूसरे दोषों के अनुसार उपक्रम करते हुए सन्निपात अन्य ज्वरो को जीतना चाहिये ।

मन्निपातज ज्वरो के पञ्चीन भेद बतलाये गये हैं । इन में क्षीण दोष में उत्पन्न बारह प्रकार के सन्निपातो में दोषों में ज्वरारम्भक गुण ही नहीं होता है, क्योंकि क्षीण हुए दोष अपने लक्षणों के हानिमात्र (अभाव) को ही उत्पन्न कर सकते हैं बिना बड़े ये ज्वरादि को पैदा नहीं कर सकते हैं । दोष जो तेरह प्रकार के त्रिदोषज ज्वर होते हैं उन में त्रिदोष-हर ज्वरजन्य द्रव्यों के अभाव में दोषों

के बटाव, घटाव या समता का विचार करते हुए चिकित्सा का निर्धारण करना पड़ता है। एतदर्थ वृद्धतर और वृद्धतम दोषों का क्षण करते हुए, एक दोष को घटाते हुए चिकित्सा की जाती है। जैसे बड़े हुए कफ एवं वृद्ध तर वातपित्त में मधुर रस की औषधि, यह वृद्धतर वात और पित्त का नाशक होते हुए क्षीण कफ को बढ़ाते हुए भी बलवान् दोष का हन्ता होने के कारण से ज्वर का नाशक होता है। इसी प्रकार बड़े कफ एवं वृद्धतर पित्त दोष में भी मधुर रस लाभप्रद होता है। अस्तु 'वर्धनेनैकदोषस्य' इस सूत्र से दो उत्पन्न या तीन उत्पन्न, हीन और मध्य दोषों से उत्पन्न दम सन्निपातों की चिकित्सा बतलाई गई।

क्षपणेनैकदोषस्य—इस भाव का द्योतक दूसरा सूत्रार्द्ध पाया जाता है, दमका उपयोग अवशिष्ट सन्निपात ज्वरों में किया जाता है। दमका भाव यह है। क अत्यन्त साघातिक जो वृद्धतर या वृद्धतम एक दोष सन्निपात की अवस्था में पाया जा रहा है उसका क्षण (ह्रासन) करते हुए जो भेषज मिले उन से चिकित्सा करे। यद्यपि इस एक दोष के क्षण का परिणाम यह होगा कि जो दो क्षीण हैं वे बढ़ जायेंगे तथापि ऐसा ही करना चाहिये क्योंकि प्रतिकार न करने से अत्यन्त वृद्धतम दोष (बड़ा हुआ दोष) सद्यो घातक हो जावेगा। अस्तु सर्वप्रथम वृद्धतम दोष का क्षण करना ही अपेक्षित रहता है। फिर क्षीण दोषों की जो वृद्धि हो गई है वह कम हानिप्रद होगी और उसका क्रमशः उपचार करना भी संभव रहेगा। इन सूत्र से अनेकोत्पन्न तीन अवशिष्ट सन्निपातों की चिकित्सा बतलाई गई।

दूसरे सूत्र का भाव यह है। कफ के स्थान से आमाशय का ऊपरी भाग ग्रहण किया गया है। स्थान ग्रहण से स्थानी कफ का भी ग्रहण हो जाता है। अस्तु सन्निपात से उत्पन्न ज्वरों में सर्वप्रथम उपचार कफ तथा कफ स्थान का करना होता है। कफस्थान आमाशय है, और सभी ज्वर आमाशय-समुत्थ ही होते हैं अस्तु सभी ज्वरों में कफ स्थान का उपचार लघन, पाचन आदि, चिकित्सा में सर्वप्रथम उपक्रम होता है तो फिर सान्निपातिक ज्वर में इस पर अधिक बल देने की क्या आवश्यकता है? इस शका का निराकरण यह है कि यद्यपि यह सूत्र सभी ज्वरों में सामान्य रूप से गृहीत है, परन्तु सन्निपात से उत्पन्न ज्वरों में इसका अर्थात् कफ स्थान की लघन, स्वेदन और पाचन प्रभृति कर्मों से उपचार का अधिक महत्त्व और उसका विशेषतया ध्यान रखना चाहिये। दूसरी बात यह है कि सभी प्रकार के ज्वर के अतिरिक्त त्रिदोषज या सन्निपात से उत्पन्न रोगों में सर्वप्रथम वात का उपचार किया जाता है, पश्चात् पित्त और तदनन्तर कफ का। वातस्यानु जयेत्पित्तं पित्तस्यानु जयेत्कफम्। परन्तु

सान्निपातिक ज्वर में यह क्रम पूर्णतया बदल जाता है । यहाँ सर्वप्रथम कफ तथा कफ स्थान का उपचार करना आवश्यक होता है । एतदर्थ नये अम्यासी को, अन्य सान्निपातिक उपचारों के साथ भ्रम न पैदा हो जाय आचार्य ने कफस्थानानुपूर्व्या वा कफस्थानानुपूर्वी उपक्रम पर अधिक जोर दिया है ।

इसके पश्चात् दोष को उल्वणता का ह्रासन या क्षीण दोष का वर्धन करते हुए उपचार का प्रारम्भ करना चाहिये ।

उपर्युक्त भाव का दूसरे शब्दों में उल्लेख करते हुए आचार्य भेलने बतलाया है कि सन्निपात ज्वर में प्रथम लघन, स्वेदन, पाचन प्रभृति कर्मों से आम और कफ का अपहरण करना चाहिये । पुन कफ के नष्ट हो जाने पर पित्त एवं वायु के प्रगमन का उपाय करना चाहिये । ^१

चिकित्सा क्रम—वात-पित्त एवं कफ इन तीनों दोषों के प्रकोप में उत्पन्न सन्निपात ज्वरों में १ लघन २ वालुका स्वेद ३ नस्य ४ निष्ठोवन ५ अवलेह तथा ६ अजनों का प्रयोग करना चाहिये । ^२.

लघन एवं उसकी अवधि—नावारण ज्वरों की अपेक्षा सान्निपातिक ज्वरों में इस उपक्रम का अधिक महत्त्व बतलाया गया है । सन्निपात ज्वरों में दोषों के बलावल का विचार करके वाताधिक्य में तीन दिन पित्ताधिक्य में पाँच दिन तथा कफाधिक्य में दस दिनों तक लघन कराना चाहिये । अथवा जब तक आम दोष या आम रसों का परिपाक न हो तब तक लघन या उपवास कराना चाहिये । अथवा जब तक रोगी आरोग्य (रोगहीन) न हो जाय तब तक लघन कराना चाहिये क्योंकि जब तक मनुष्य लघन सहन करता रहता है तब तक दोषों की प्रबलता समझनी चाहिये । आम दोषों के क्षीण हो जाने पर मनुष्य लघन को सहन नहीं कर सकता है । इस लिये लघन सहन करने की शक्ति रोगी में जब तक विद्यमान रहे लघन कराते रहना चाहिये । यही लघन की वास्तविक काल-मर्यादा है । कारण यह है कि जब तक रोगी में आम दोष की प्रबलता रहती है । उसको अन्न में अरुचि, उत्कलेज, वमन, तृप्ति प्रभृति लक्षण रहते हैं । वह खाना नहीं खा सकता है । आमदोष के पक्ष जाने पर स्वतः उसे वृक्षुक्षा पैदा होती है, अर्थात् भोजन की चाह पैदा होती है । ^३

१ सन्निपातज्वरे पूर्वं कुर्यादामकफापहम् । पश्चाच्छ्लेष्मणि मंक्षीणे गमये-
त्पित्तमारुती भेल । २. लङ्घन वालुकास्त्रेदो नस्य निष्ठोवनन्तथा । अवलेहोऽ-
ञ्जनञ्चैव प्राक् प्रयोज्य त्रिदोषजे ॥ ३. त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा दशरात्रमपि
वा । लङ्घनं सन्निपातेषु कुर्यादारोग्यदर्शनात् । दोषाणामेव साशक्तिलङ्घने वा
सहिष्णुता । नहि दोषचये कश्चित् सहते लङ्घनादिकम् ॥

स्वेदन तथा उसका परिहार—स्वेदन कर्म से पसीना निकलता है, कफ क्षीण होता है, आम का पाक होता है तथा शोफ का शमन होता है। साथ ही शरीर के बहुत से अतस्थ विष पसीने से बाहर निकल आते हैं। शरीर का ताप कम हो जाता है, शरीर भी हल्का हो जाता है।

एतदर्थ ही लिखा है कि स्वेदन के बिना सन्निपात ज्वर शान्त नहीं होता है। इस लिये सन्निपात ज्वरग्रस्त रोगियो को बार बार स्वेदन का कर्म करना चाहिये। सन्निपात ज्वर में जलीयाश या कफ का अश अधिक हो जाता है इसको कम करने के लिये अग्नि से बढ कर दूसरा कोई उपाय नहीं है। इस लिये अग्नि का स्वेदन के रूप में प्रयोग करते रहना चाहिये। यद्यपि सन्निपात ज्वर को नष्ट करने के लिये बहुत से सविष तथा निर्विष उपाय हैं, परन्तु अग्नि को उष्णता के बिना प्रायः उनका प्रभाव नहीं होता है। इस लिये सन्निपातज्वर तन्त्रोक्त रसोपरस निमित्त योगो के साथ स्वेदनादि के रूप में अथवा साक्षाद् अग्निकर्म के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। पूर्वोक्त स्वेदनादि उपचारो के बावजूद भी सन्निपातग्रस्त रोगी की मूर्च्छा दूर न होती है तो उसके पादतल या ललाट प्रदेश में अग्नितप्त रक्तवर्ण लौह-शलाका से दहन कर्म करना चाहिये।^१

सन्निपात में स्वेदन के इतने लाभप्रद होते हुए भी कुछ अवस्थाओं में स्वेदन नहीं करना चाहिये बल्कि उनमें शीतल उपचार की ही क्रिया प्रशस्त रहती है। जैसे रोगी के नेत्र लाल हों, वमन प्रलाप अधिक हो रहा हो, सिर को इधर-उधर पटक रहा हो। ऐसी अवस्थायें अधिकतर अत्युच्च ताप (Hyper pyrexia) अथवा मस्तिष्कगत रक्तस्राव (Cerebral haemorrhage) की अवस्थाओं में पाई जाती हैं। इनमें उष्णोपचार न करके शीतोपचार ही करना चाहिये।^२

स्वेदन का विधान ज्वरो में वात-श्लेष्मा की अधिकता में, आमवात में तथा सन्निपात ज्वर में पाया जाता है। स्वेदन के बहुत से प्रकार हैं। विस्तार के लिये चरक सूत्र स्वेदाध्याय देखना चाहिये। यहाँ पर कुछ प्रचलित स्वेद-विधियों का, जिनका व्यवहार आज कल होता है, संक्षेप में दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

१ न स्वेदव्यतिरेकेण सन्निपात प्रशाम्यति । तस्मान्मुहुर्मुहु कार्यं स्वेदन सन्निपातिनाम् ॥ सन्निपाते जलमयो नराणा विग्रहो भवेत् । विना बह्वशुपचारेण कस्त शोषायतु क्षम ॥ प्रयोगा बहव. सन्ति सविषा निर्विषा अपित् बह्वशुष्माण विना प्रायो न वीर्यं दर्शयन्ति ते । प्रतिक्रियाविधावेव यस्य संज्ञा न जायते । पादतले ग्लाटे वा दहेल्लोहशलाकया ॥

२ लौहित्ये नेत्रयोर्वान्तौ प्रलापे मूर्धचालने ।

न स्वेद शुभदो ज्ञेयस्तत्र शीतक्रिया हिता ॥

वालुका स्वेदन—भूने हुए वानू को कपड़े में बाँधकर पोटली बनाकर कांजो में डुबोकर तवे पर गर्म करके उस से सेके ।

२ सैन्धव पोट्टली स्वेद—सैन्धवनमक को चूर्ण करके उसको कपड़े में बाँध कर पोट्टली बनाकर तवे पर गर्म करके उससे सेंकना ।

किलाट स्वेद—वक्षस्तोद या पार्श्वगूल में खोवा को कपड़े में बाँधकर उसको पोट्टली बनाकर तवे पर गर्म करके उससे सेंकना ।

४ वेशवार स्वेद—मांस के टुकड़े को कपड़े में रख पोटली बनाकर गर्म करके सेंकना ।

५ घृत का अभ्यंग—पुराने घृत में सेंधा नमक और कर्पूर मिलाकर छाती और पमुलियों में मालिश करना ।

६ लेप—भुना हुआ चावल, बकरी की सींगी, कूठ, नोठ को एक में मिलाकर गोमूत्र में पोमकर लेप करना (अजाविडादिलेप) ।

७ सेहुण्डको पत्ती का रस और पञ्चण्डुस्वरन में मृगशृंग (बारह सिंगा) को घिस कर लेप करना । (मृगशृंगघृष्ट लेप)

८ एण्टी फ्लोजिस्टोन—(Anti plangistin) का बाँधना ।

आमज ज्वर, वातिक-श्लैष्मिक या वातश्लैष्मिक ज्वरो में, त्रिदोषज (वात श्लेष्मोत्पन्न) ज्वरो में स्तब्धता और गूल (अंगमर्द की अधिकता) में स्वेदन की क्रिया प्रगस्त है ।

नस्य—वेहोगी, तन्द्रा, प्रलाप एवं गिरोगीरव की स्थिति में नस्यो का नाक से प्रयोग करना लाभप्रद पाया गया है । जैसे—

सैन्धवादि नस्य—सैन्धानमक, सहिजन के बीज (या श्वेतमरिच), सरसो के बीज और कुष्ठ । इनका सहीन कपडहन चूर्ण बनाकर बकरी के मूत्र में पीसकर नास देना ।

मधूकसारादि नस्य—महुए के फल की गूदी, सैन्धव, वच, पिप्पली, काली मिर्च सब समान मात्रा में लेकर चौगुने जल में पीस कर छान कर नाके में छोड़ना ।

कुलवधूरस—(नं० २०) को जल में पीस कर नस्य देना । मातु-लुङ्गादिनस्य विजीरा नीबू और अदरक के रस को गुन गुना गरम करके उसमें त्रिलवण (सैन्धानमक, काला नमक और सोचल नमक) मिलाकर नस्य देना ।

त्रिकटु प्रथमन—त्रिकटु का सहीन चूर्ण बनाकर, कागज या नरकट की नली के जरिये एक सिरे पर चूर्ण रखकर नाक के छिद्र में लगाकर दूसरे सिरे से फूक दे ताकि अन्दर चला जाय ।

निष्ठीवन—मोठ, मरिच, पिप्पली और सैधवलवण बराबर मात्रा में लेकर महीन चूर्ण करके अदरक के रस में मिलाकर मुख में कण्ठ पर्यन्त भरकर रखे । जो कफ निकले उसको बार बार थूक कर निकाल दिया करे । इस प्रकार दिन में कई बार करे । इस प्रयोग से गले में, पाश्वे में और सिर में कफ भरा हो और न निकलता हो, कास-श्वास हो, गला बँठा हो, नेत्र में भारीपन हो, उल्लेश और स्तब्धता हो तो लाभ होता है ।

अंजन—तद्रा एव मूर्च्छा की स्थिति में उसके निवारणार्थ शिरीषाद्यञ्जन-शिरीषवीज, पिप्पली, काली मिर्च, मेंधा नमक, लहसुन (छिलका रहित), शुद्ध मन गिला और वच इनको बराबर मात्रा में लेकर गो-मूत्र में पीस कर बत्ती बनावे । उस बत्ती को पानी में पीस कर घिसकर अजन नेत्र में लगावे । अजन भैरव रस (र ता सग्रह) का अजन भी लाभप्रद होता है ।

अवलेह—अष्टाङ्गावलेहिका-कट्फल, पुष्करमूल, सोठ, मरिच, पीपरि, काकडासीगी, जवासा, कालाजोरा सम भाग में लेकर उसमें चतुर्गुण मधु मिलाकर रख ले । इस को थोड़ा-थोड़ा कर के बीच-बीच में चाटने से कास, श्वास, कण्ठावरोध, गले की घुरघुराहट ठीक होता है ।

शिरोऽभ्यंग—१ पुराण घृत (दस वर्ष का पुराना घी) का मस्तक और मिर पर लगाना । इस में थोड़ा कपूर मिलाकर लगाना और अधिक लाभप्रद होता है । इस प्रयोग से ज्वर का वेग कुछ कम होता है शिरोगौरव, प्रलापादि भी शान्त होता है ।

२ पुराण घृत सिर के ऊपर लगा करके काले उर्द (माष) के बल्क की मोटी टिकिया बना कर थोड़ा सेंक कर रख कर ऊपर से एरण्डपत्र रख कर बाँध देना चाहिये ।

३ हिमाशु तैल का सिर के ऊपर तथा हाथ-पैर के तलवे में मालिश करनी चाहिये ।

४ अडे (मुर्गी) की जरदी का लेप सिर के ऊपर करना प्रलाप को कम करता है ।

५ काली मुर्गी के अण्डे के पान, नस्य तथा अजन से अत्यन्त प्रवृद्ध कृच्छ्र सन्निपातमें अच्छा लाभ होता है ।^१

सन्निपात में वृहण तथा शीतल जल का निषेध—सन्निपात ज्वर में काँपते और प्रलाप करते हुए रोगी को, घृत-क्षीर-मासादि प्रभृति द्रव्य नहीं देना

चाहिये । तथा तूपा और दाह से युक्त रोगी को शीतल जल भी नहीं पिलाना चाहिये । सदैव उष्ण जल का ही प्रयोग पीने में करना चाहिये ।

त्रयोदश (१३) प्रकार के सन्निपात ज्वर में क्रिया क्रम तथा भेषज द्वात्रिंशदङ्ग, अष्टादशाङ्ग तथा वृहत् कट्फलादि कपायो का उल्लेख पूर्व में हो चुका है । ये तीनों बड़े लाभप्रद प्रसिद्ध कपाय हैं जिनका सामान्यतया त्रिदोषज ज्वरो में प्रयाग होता है ।

अब सन्निपात के तेरह भेदों के अनुसार चिकित्सा का उल्लेख किया जा रहा है । सन्निपातज ज्वर में तीव्र विषमयता होती है उस विष का विविध मस्तिष्क के केन्द्रों पर प्रभाव होकर कहीं वाधिर्य, कहीं स्वर का लोप, कहीं मूकता प्रभृति प्रमुख चिह्न मिलते हैं जो प्रवल उपद्रव के रूप में सन्निपात ज्वरो में पैदा हो जाते हैं । उस एक प्रधान उपद्रव को आधार मानकर विविध प्रकार के सन्निपातो के नाम पाये जाते हैं । इन नामों के अनुसार ही यहाँ पर शास्त्रसम्मत चिकित्सा का वर्णन किया जा रहा है ।

इस पाठको सान्निपातिक ज्वर के उपद्रवों की चिकित्सा कहा जाय तो अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है ।

१. शीताङ्ग सन्निपात—इस अवस्था में शरीर से अतिमात्रा में स्वेद निकलकर शरीर का तापक्रम प्राकृत से बहुत कम हो जाता है । इस उपद्रव से सम्यक् रीति से सावधानी न रखने पर रोगी की मृत्यु हो जाती है । अस्तु कई प्रकार के उद्वर्तन तथा उष्ण द्रव्यों के योग से बने कपायो का उपयोग आवश्यक होता है । एतदर्थ—

भास्वनमूलादि क्वाथ—मदार की जड़, त्रिकटु, जीरा, भारङ्गो, कंटकारी, पुष्करमूल इन सब द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर क्वाथ बनाकर गोमूत्र मिलाकर पिलाना चाहिये । इस प्रयोग से अंग का ठंडा होना, कफ की वृद्धि, मूर्च्छा प्रभृति उपद्रव ठीक हो जाते हैं ।

शीताङ्गहर उद्वर्तन—खेसरा की जड़ का चूर्ण, कुल्थी, पिप्पली, वच, कट्फल, काला जीरा, चिरायता, चीता, सुगन्धवाला और हरीतकी इनके चूर्ण का शरीर पर मलना लाभप्रद होता है ।

स्वेद्गमोपचार—यदि सन्निपात की इस अवस्था में स्वेद बहुत निकलने लगे तो ऐसी स्थिति में अजवायन, वच, सोठ, पिप्पली और मगरैल (कृष्ण

दु साधन. सन्निपात प्रवलोऽप्याग्नेव गममेति । (भे द)

वातपित्तोत्वणे चैव घृतं योज्यं पुरातनम् ।

अभ्यङ्गाच्छमयत्यागु सन्निपातं सुदारुणम् ।

जीरक) का कपडछन महीन चूर्ण बनाकर उसका उद्धूलन (चूर्ण का रगडना -Dusting) करना चाहिये । अथवा भुनी हुई कुलथी या रहर के चूर्ण (सत्तू) का गरीर में मालिश करनी चाहिये अथवा कट्फल के चूर्ण की हाथ, पैर और तलवे में हल्के हाथों से मालिश करनी चाहिये । इससे स्वेद का शोषण होता है और शरीर गर्म हो जाता है, शीताङ्ग कम हो जाता है ।

तन्त्रिक सन्निपात—विषमयता के कारण यह भी उपद्रव होता है, जिसमें रोगी अर्द्धनिद्रित अवस्था में पड़ा रहता है । अस्तु इस अवस्था में अन्य उपचारों के साथ उसकी तन्ना को दूर करने के लिये कई प्रकार के नस्यो और अजनों का प्रयोग शास्त्र में पाया जाता है । उदाहरणार्थ—

क गुण्ठी, पिप्पली, काली मिर्च इन द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर महीन चूर्ण करके अगस्त्य के फूल के रस में पीसकर उसका रस नाक में टपकाने से या चूर्ण का नस्य देने से कार्य होता है ।

ख घोडे की लार, सेधा नमक, कपूर, मैनसिल, पिप्पली और मधु का अजन लगाने से सन्निपातज तन्ना एव निद्रा दूर होती है ।

३ प्रलापक सन्निपात—सन्निपात या तीव्र ज्वरो में यह एक प्रधान उपद्रव पाया जाता है । विषमयता की अधिकता की वजह से रोगी असम्बद्ध बातें करता है, अटपट बकता है, चिल्लाता है और शय्या से उठता और भागता है । प्रलाप मद या तीव्र स्वरूप भेद से कई प्रकार का हो सकता है । इस अवस्था में मस्तिष्क पर सशामक प्रभाव दिखलाने वाले योगों का उपयोग लाभप्रद होता है । अस्तु, तगरादिकषाय—तगर, पित्तपापडा, अमलताश, नागरमोथा, कुटकी, लामज्जक, असगध, ब्राह्मी, द्राक्षा, श्वेत चदन, दशमूल की औषधियाँ तथा शखपुष्पो इन द्रव्यों का क्वाथ बना कर देना शीघ्र लाभप्रद होता है ।

४ रक्तष्टीवी सन्निपात—इस अवस्था में रक्तष्टीवन (Rusty sputum) पाया जाता है, कई बार तीव्र श्वसनक ज्वर (Acute pneumonia) यह लक्षण प्रमुखतया मिलता है । चिकित्सा में १ रोहिषादि कषाय—रोहिसघास, अडूसा, पित्तपापडा, फूल प्रियङ्गु तथा कुटकी इन सब द्रव्यों को सममात्रा में लेकर क्वाथ विधि से क्वाथ बनाकर मिश्री डाल कर पीना ।

पद्मकादि कषाय—पद्मकाष्ठ, लाल चदन, पित्तपापडा, नागरमोथा, जाति (चमेली का फूल), जीवक, सफेद चदन, सुगंधवाला, मुल्लैठी और नीम की पत्ती के कषाय का उपयोग ।

५ भुग्ननेत्रचिकित्सा—सन्निपात की इस अवस्था में विषमयता की अधिकता से रोगी निद्रित सदृश अधखुले नेत्र से स्तब्ध पड़ा रहता है । होण में

लाने के लिये नस्य का प्रयोग उत्तम रहता है। जैसे-असगंध, मेंधा नमक, वच, महुए का सार, काली मिर्च, पिप्पली, शुठी, लहसुन इन द्रव्यों को गोमूत्र में पीस कर छान कर नाक में टपकाना।

६ जिह्वक सन्निपात—विषमयता के कारण इस सन्निपात में जिह्वा की पेशियों का घात हो जाता है (Glaso pharyngeal paralysis) जिससे जिह्वा स्तब्ध हो जाती है। रोगी जीभ को बाहर नहीं निकाल सकता है और न कुछ निगल ही पाता है। अस्तु इस अवस्था में अन्य उपचारों के साथ कवल धारण कराना (Gargle) चाहिये। १ किरातादि कवल—चिरायता, अकरकरा, कुलिब्जन, कचूर, पिप्पली का चूर्ण करके उसमें सरसों का तेल तथा विजौरा नीबू, कागजी नीबू प्रभृति अम्ल द्रव्यों का रस डाल कर कल्क बना कर या काढा बनाकर मुँह में भरने के लिये देना हितकर होता है।

जिह्वा के फट जाने पर उस पर मुनक्का को पीस कर उसमें थोड़ा मधु और घृत मिलाकर लेप करना चाहिये।

७ संधिक सन्निपात—इस में विषमयता के कारण संधियों में तीव्र पीडा, जाँघों में जडता, मन्यास्तम्भ, अत्यधिक क्लान्ति, क्वचित् पक्षाघात प्रभृति उपद्रव हो जाते हैं। एतद् दूरीकरणार्थ इसमें वचादि क्वाथ का अन्तः प्रयोग विशेषतया लाभप्रद होता है।

वचादि कपाय—वच, पित्तपापडा, जवासा, सैरेयक, गिलोय, अतीस, देवदारु, नागरमोथा, सोठ, विवारा, रास्ना, गुग्गुलु, बड़ी दन्ती, एरण्ड और गतावरी का क्वाथ।

८ अभिन्यास ज्वर—सन्निपात में एक तीव्र विषमयता (Severe toxæmia) की अवस्था है। इसमें कारव्यादिकपाय, मातुलुङ्गादि कपाय—अथवा शृङ्ग्यादि कपाय (भै र) का प्रयोग उत्तम माना गया है। कारव्यादि कपाय—कलौजी, पुष्करमूल, एरण्ड की जड, त्रायमाण, सोठ, गुडूची, दशमूल, कचूर, काकडासीगी, दुरालभा, भारङ्गी और पुनर्नवा। सम मात्रा में लेकर २ तोले द्रव्य का ३२ तोले गोमूत्र में क्वाथ बनाकर चतुर्थांश शेष रहने पर उतार कर पिलावे। इससे स्रोतस्रो का अवरोध दूर होकर तन्त्रा, प्रलाप, भ्रम आदि में लाभ होता है।

९ कंठकुब्ज सन्निपात—इस प्रकार में विषमयता की वजह से मूकता आ जाती है। चिकित्सा में फलत्रिकादि कपाय का प्रयोग उत्तम रहता है। जैसे, त्रिफला, त्रिकटु, नागरमोथा कुटकी, इंद्रजी, वासा और हल्दी का कपाय।

१० कर्णिक सन्निपात—इस प्रकार मे कान के मूल के पास मे एक गाँठ या सूजन पैदा होती है। इसलिये कर्णमूल सन्निपात भी कहा जाता है। यह अवस्था मुख की सफाई (गर्मजल या लवण विलयन या 'डेटाल' या 'सेवलान' के पानी से) न रखने की वजह से उत्पन्न होती है जिससे कर्णमूल ग्रन्थि (Parotid Gland) मे व्रण शोफ पैदा हो जाता है।

यह एक सन्निपात ज्वर का आम उपद्रव है जो ज्वर के आदि मे, मध्य मे या अन्त मे रोगी की जीवनीय शक्ति (Vitality) के ऊपर पैदा हो सकता है। प्रारम्भ मे रोगी की जीवनीय शक्ति या बल अधिक होता है अस्तु शोथ साध्य रहता है। मध्य में मध्यम बल रहता है अस्तु रोग कृच्छ्र साध्य होता है। और अन्त में जब बल, जीवनीय शक्ति या रोग की प्रतिकारक शक्ति बहुत कम हो जाती है तो शोथ का उपशम कठिन होकर रोग असाध्य हो जाता है। जीवनीय शक्ति के अनुसार प्रारम्भ का साध्य, मध्य का कृच्छ्र साध्य तथा ज्वर के अन्त मे होने पर असाध्य माना जाता है। यदि ज्वर के अन्तमे कर्णमूल शोथ हो तो कोई रोगी कभी कभी वच जाता है। प्रारम्भ मे रोगी की जीवनीय शक्ति या बल अधिक होता है अस्तु शोथ साध्य रहता है। मध्य मे मध्यम बल रहता है अस्तु रोग कृच्छ्रसाध्य होता है। और अन्त मे जब बल, जीवनीय शक्ति या रोग की प्रतिकारक शक्ति बहुत कम हो जाती है तो शोथ का उपशम कठिन होकर रोग असाध्य हो जाता है।^१ ज्वरादि मे होने वाले कर्णमूल शोथ को सज्वर पापाण गर्दभ रोग या Mumps कहा जा सकता है। जो एक मुखमाध्य मर्यादित रोग है और एक सप्ताह या दस दिनों मे अच्छा हो जाता है।

उपचार—सन्निपात ज्वर के अन्य उपचारों के साथ साथ निम्नलिखित विविष्ट उपचारों को बरतना चाहिए। रोगी को मुख सफाई (Mouth hygiene) पर पर्याप्त ध्यान देना चाहिये। गर्म जल, नमक मिश्रित गर्म जल, 'डेटाल' या 'सेवलान' के पानी से या कषायों का कवल (कुल्ली) बीच बीच मे ज्वर काल मे कराते रहना चाहिये। यदि शोफ सामान्य हो तो प्रारम्भिक उपचार मे कई प्रकार के लेप हैं उन्हें पानी मे पीसकर गुनगुना करके लेप करना चाहिये। जोक लगा कर रक्तावसेचन करना चाहिये। यदि शोफ का शमन इन उपायों मे न हो और उसमे पाक या पूयोत्पत्ति न हो जावे तो शस्त्र क्रिया से चीर लगा कर मवाद (पूय) को निकालना चाहिये। पश्चात् पूय के निर्हरण

१ सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुण । शोफ सजायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते ।

ज्वरादितो वा ज्वरमध्यतो वा ज्वरान्ततो वा श्रुतिमूलशोथ ।

क्रमेण साध्य खलु कृच्छ्रसाध्यस्ततस्त्वसाध्य कथितो भिषग्भि ॥

हो जाने पर उसका बोधन एवं रोपण का व्रणवत् उपचार करना चाहिये । निम्न-लिखित उपक्रमों को क्रमशः वरतना चाहिये ।

१ घृतपान—पचतिक्त सिद्ध गोघृत का पिलाना ।

२ कवलग्रह—भारगी, जयन्ती, पुष्करमूल, कटकारी, त्रिकटु, वच, नागर मोथा, काकडासीगी, कुटकी और रास्ना (भारङ्गादि कपाय) से कुटली कराना और पिलाना लाभप्रद होता है ।

३. लेप या प्रदेह—कुलत्थ, कट्फल, गुठों, कारवी (कलौजी) इन द्रव्यों की बराबर मात्रा में लेकर पानी से पीस कर गरम करके बार बार (दिन में दो-तीन बार) लेप करना चाहिये । दशाङ्ग लेप (च द)

हिंम्वादि लेप—हींग, हल्दी, दारुहल्दी, इन्द्रायणकी जड़, सेंधा नमक, देव-दारु, कूठ और मदार का दूध इन को एकत्र पीस कर गर्म करके शोथ पर लेप करना । अर्कादि लेप—मदार का दूध, भिलावा, चित्रक की जड़, गुड, दन्ती की जड़, कूठ, हीराकासीस इन द्रव्यों को पीस कर लेप करना ।

४ नस्य—सेंधा नमक और पिप्पली को चतुर्गुण जल में पीस कर गर्म करके छान कर नाक में छोड़ना ।

५ रक्तावसेचन—कर्णमूल शोथ पर जोक लगाकर रक्त का निकालना प्रशस्त है ।

६ वमन—मैतफल का चूर्ण ६ माणो पिप्पली चूर्ण ८ रस्ती को फाँककर एक पाव गर्म जल पिलाकर वमन कराना अथवा गर्म जल में थोड़ा सेंधा नमक मिलाकर आकठ पिलाकर वमन करा देना भी उत्तम होता है । १

११. चित्तभ्रम या चित्तविभ्रम सन्निपात—सन्निपात की विषमयता के कारण इस अवस्था में रोगी में चित्तविभ्रम पैदा हो जाता है, स्मरणशक्ति का अभाव, परिचितों को न पहचानना, भूतदोष, सिर और नेत्रसम्बन्धी पीड़ा, बेहोशी और चक्कर आदि प्रमुख उपद्रव रहते हैं । इस अवस्था में रोगी को चेतना में लाने के लिये प्रचेतना गुटिका का अजन और विविध प्रकार के कपायों का विधान पाया जाता है । जैसे—प्रचेतना गुटिका—पिप्पली, काली मिर्च, वच, सेंधा नमक, करज के बीज, धतूरा के फल, त्रिफला, सरसो, हींग और

१ रक्तावसेचनं पूर्वं सर्पिष्पानैश्च त जयेत् ।

प्रदेहं कफवातघ्नैर्वमनैः कवलग्रहैः ॥

प्रलेपस्ततस्त नयत्यल्पमेक समुद्रिक्तशोथञ्च रक्तावसेक ।

सुपक्वे च गस्त्रक्रिया पूयजित्सा व्रणत्व गते चोचिता तच्चिकित्सा ॥

सोठ । इन द्रव्यों को बकरी के मूत्र में पीसकर गोली बनाकर रख लेना चाहिये । इसे प्रचेतना गुटिका कहते हैं । इसके अजन से अचेत रोगी में चेतना जाग्रत होती है ।

मृद्वीकादि कपाय—मुनक्का, देवदारु, कुटकी, नागरमोथा, आमलकी, हरीतकी, गुडूची, अमल ताश, चिरायता, पित्तपापडा और पटोल पत्र का क्वाथ अथवा ब्राह्मी, पाढल, पटोल पत्र, सुगंधवाला, पर्पट, हरीतकी, अमलताश, कुटकी और गजपुष्पी (दूर्धुरदलादि कपाय) का पिलाना उत्तम होता है ।

१२ रुग्दाह सन्निपात—इस प्रकार में सन्निपातज विषमयता के कारण ज्वर का वेग अधिक होता है, दाह, तृषा की अधिकता होती है । अस्तु उपचार में वात-पित्त शामक उपाय करना पड़ता है । एतदर्थ निम्नलिखित क्रियाक्रम उत्तम पाये जाते हैं ।

१ पडङ्ग पानीय—खस, रक्तचदन, सुगंधवाला, ब्राह्मा (मुनक्का), खंयला और पित्तपापडा इन सब द्रव्यों का पानीय विधि से पानीय बनाकर पीने के लिये देना चाहिये ।

२ लेप—बेर की पत्तियों को दही के साथ पीसकर अथवा कपूर, सफेद चदन तथा नीम के पत्रों को तक्र के साथ पीसकर लेप करने से दाह शान्त होता है । अथवा नीम की पत्तियों को पीसकर एक हड्डिका में रख कर पानी मिलाकर मथन करने से जो फेन उठता है उस फेन का लेप भी दाह का शामक होता है ।

३ अवगाहन—शीतल जल में सौ बार घुले हुए गाय के घी में, सफेद मलय गिरी चदन को घिसकर मिलाकर पूरे वदन में लेप कर, पश्चात् कमल और कुमुदिनी के पुष्प की माला धारण कर के ठंडे जल से पूर्ण पात्र में बिठाना और डुबकी लगाकर स्नान करने से शरीर का दाह शीघ्र शान्त होता है ।

४ अवशुण्ठन—रुग्दाह ज्वर वाले रोगी को काजी से भीगे हुए वस्त्र के अथवा गाय के तक्र में भिगोये हुए वस्त्र के उढाने से दाह दूर होता है और ज्वर का वेग हल्का हो जाता है । अत्युच्च तापक्रम (Hyperpyrexia) में ठंडे जल में या बरफ के पानी में तौलिया भिगोकर निचोडकर पूरे शरीर का परिमार्जन (Cold sponging) भी इसी प्रकार की क्रिया है ।

५ हिमपुटक (Ice-cap)—सिर के ऊपर बरफ से भरी थैली का रखना भी दाह और ज्वर को कम करता है ।

६ आहार-विहार—दाह और वमन से पीडित दुर्बल और निराहार रहने वाले रोगी को भोजन में दान के खील का सत्तू, मिश्री और पानी मिलाकर पीने के लिये देना चाहिये ।

खिले हुए कमलो से युक्त बावलियों में नाव पर रखना या छूटते हुए फुहारों से युक्त सुन्दर गृह में । शरीर में सफेद चदन का लेप किये हुए स्त्री का सम्पर्ग, मुक्ता की माला का धारण प्रभृति विहार दाह के शामक रूप में कहे गये हैं ।

१३ अन्तक सन्निपात—सन्निपात की साधातिक अवस्था—जिसमें कोई उपचार लाभप्रद न सिद्ध हो तो अतक या नाशक सन्निपात कहलाता है । इसमें युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा का आश्रय पूर्णतया निष्फल रहता है । ऐसी अवस्था में दैवव्यपाश्रय उपायो का अवलम्बन ही एकमात्र साधन शेष रह जाता है । ऐसी अवस्था में उपवास, उष्णोदक यूपानादि का प्रयोग अकिञ्चित्कर होता है । केवल एक मात्र भगवान् का भरोसा रह जाता है । अस्तु भगवदाराधना करनी चाहिये । क्योंकि वही मृत्यु को जीत सकते हैं, उन्हीं का नाम मृत्युञ्जय है । (मृत्युञ्जय अथवा महा मृत्युञ्जय का जप प्रभृति उपायो का आश्रय लेना उचित रहता है ।)

सन्निपात ज्वरों में—सामान्य-पथ्य-पंचमुष्टिक यूप—जौ, वैर, कुलथ, मूग और धाँवला इनमें से प्रत्येक को एक एक ताला लेकर अष्टगुण जल (४० तोले) में पाक करे और आधा शेष रहने पर उतार ले । यह पंचमुष्टिक यूप कहलाता है । यह त्रिदोषज ज्वरों में लाभप्रद और हल्का पोषण के रूप में दिया जा सकता है । कुछ लोग मुद्गपर्णी, बालमूली या शुठी के योग से भी इस यूप को बनाते हैं । १

सान्निपातिक ज्वर में रस के योग
श्वसनक ज्वर (न्युमोनिया तथा प्लुरिसी) में

१ ज्वरार्यभ्र—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, अभ्रभस्म, ताम्रभस्म, शुद्ध वत्सनाभचूर्ण प्रत्येक एक तोला, शुद्ध घृतरे का बीज २ तोला और त्रिकटुचूर्ण ५ तोला । प्रथम पारद एवं गंधक की कज्जली बनाकर शेष द्रव्यों का कपडछान चूर्ण मिलाकर जल में घोटकर २-२ रत्ती की गोलियाँ बना ले । मात्रा १-२ गोली प्रति चार घंटे पर दिन में कई बार । अनुपान—अदरक, तुलसी का रस एवं मधु । इस योग में कफनि सारण के विचार से प्रतिमात्रा में यवक्षार २ रत्ती और शुद्ध टकण या शुद्ध नरसार भी २ रत्ती मिलाकर दिया जा सकता है । जैसे ज्वरार्यभ्र २ रत्ती, शुद्ध टकण २ रत्ती, यवक्षार २ रत्ती मिश्रित १ मात्रा ।

हिगुकर्पूरवटी—धी में भुनी होगी १ भाग, कपूर १ भाग और कस्तूरी

१ यवकोलकुलत्थाना मुद्गामलकशुण्ठयो । एकैकं मुष्टिमाहृत्य पचेदष्टगुणे जले ॥
पञ्चमुष्टिक इत्येष वातपित्तकफापहः । शस्यते गुल्मगूले च श्वासेका से च शस्यते ॥

द्वि भाग सब को एकत्र घोटकर गोलियाँ बना ले । कपूर और हींग को एक में घोटने से गोली बनने लायक हो जाता है । यदि आवश्यकता हो तो थोड़ी मधु मिला ले ।

अनुपान—पानी से या अदरक के रस और मधु में घोल कर दे ।

इसके उपयोग से नाडी एवं श्वास की गति सुधरती है, छाती का दर्द (उर शूल एवं वक्षस्तोद) कम होता है, कफ पतला होकर निकलने लगता है । रोगी के हाथ-पैर का फेकना, कपड़ा फेकना, उठना-बैठना, बकना कम होता है ।

वाल्श्वसनक (त्रांकोन्यूमोनिया में)—शृंग सिन्दूर—रस सिन्दूर या स्पर्श सिन्दूर ३ रत्ती तथा शृंगभस्म १ रत्ती, शुद्ध टकण १ रत्ती को मात्रा में मिलाकर, ऐसी एक मात्रा बनावे । दिन में चार, चार घंटे के अन्त पर गुडची के स्वरस और मधु के अनुपान में । वच्चो के श्वसनक ज्वर में इससे उत्तम लाभ होता है ।

छाती पर लेप—उपर्युक्त अतः उपचारो के साथ ही श्वसनक ज्वरो से युक्त रोगियों में सीने पर कई प्रकार के लेप भी बड़े उत्तम होते हैं । जैसे-वारह सिंगे की सींग को प्याज के रस में घिसकर लेप करना, पुराने घृत में सेधानमक और कपूर मिलाकर सीने पर आगे-पीछे और पार्श्व में लेप करना । केवल पंच-गुण तैल में थोड़ा ऊपर से कपूर मिलाकर छाती पर मालिश करना ।

अजाचिडादि लेप—चावल को भूनकर, बकरी की सींगी, कूठ को गोमूत्र में पीसकर आग पर गर्म करके सीने पर लेप करना ।



तृतीय अध्याय

आगन्तुक ज्वरोपचार

क्रियाक्रम—लघन का निषेध—आगन्तुक कारणों से उत्पन्न ज्वरो में रोगी को लघन नहीं कराना चाहिये । आगन्तुक ज्वर का अर्थ होता है—चिन्ता, शोक, क्रोध, प्रहार, भय, भूत-प्रेत, श्रम अथवा औषधि के (वनस्पतियों के पराग की) गंध से होने वाले ज्वर । इन ज्वरो में उपवास न कराके मासरस के साथ चावल का भात खाने को देना चाहिये ।^१

१ आगन्तुज्ज्वरे नैव नर कुर्वीत लङ्घनम् । (भै र)

१ अभिघातज-ज्वर—चोट लगजाने, गिर जाने या किसी अभिघात से उत्पन्न ज्वरो में घृत और तैल का अभ्यंग तथा मासरस और तण्डुलोदन देना चाहिये । यदि कोई व्रण हो गया हो तो व्रणवत् उपचार करना चाहिये ।

२ अभिचार या अभिशापज-ज्वर—ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध, सिद्ध और पतिव्रता स्त्री का अपमान करना, अभिचार और उनके घाप से उत्पन्न ज्वर अभिगापज कहलाते हैं । इस अवस्था में दैव-व्यपाश्रय चिकित्सा का आश्रय लेने से ज्वर ठीक होता है । अस्तु, होम, प्रायश्चित्त, स्वस्त्ययन तथा अन्य मागलिक कर्म द्वारा उपचार करना चाहिये । उत्पात तथा ग्रह-पीडा जन्य व्याधियों में भी यही उपक्रम लाभप्रद सिद्ध होता है ।

३ क्रोधज-ज्वर—क्रोध में उत्पन्न ज्वरो की शान्ति के लिये पित्त-शामक क्रियाये करनी चाहिये । रोगी के इच्छित पदार्थों की पूर्ति करना, आश्वामन देना तथा अच्छे एवं अनुकूल वचनों से रोगी की तसल्ली करना, उपचारों में समाविष्ट है ।

४ काम-शोक-भय ज्वर—इन कारणों से उत्पन्न ज्वरो में वातशामक औषधियों के प्रयोग तथा मन को हर्षित करने वाली क्रियाओं का प्रयोग करना चाहिये । अभिमत पदार्थ या इष्ट पदार्थ की प्राप्ति से क्रोध ज्वर नष्ट होता है । और क्रोधजनक कारणों से कामवासनाजन्य ज्वरो का गमन होता है । काम और क्रोध इन दोनों भावों से भय और शोक जन्य ज्वर शान्त होता है । आपघ्न के रूप में पित्तशामक भेषज जैसे सुगंधवाला, कमल, श्वेतचंदन, खस, दालचीनी, धनिया, जटामासी का क्वाथ काम ज्वर में लाभप्रद होता है ।

५ भूतज ज्वर—भूत विद्या का विषय है । तदनुसार वधन, ताडन, आवेश प्रभृति कर्मों द्वारा उपचार करना उत्तम रहता है ।

६ मानस ज्वर—मानस ज्वर में ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, वृत्ति और समाधि (चित्त की एकग्रता) द्वारा उपचार करना चाहिये । विधिपूर्वक सहदेवों मूल को कंठ में बाँधकर रखने से तीन या चार दिनों में भूत-प्रेत प्रभृति कारणों से उत्पन्न ज्वर शान्त होते हैं ।

शापाभिचाराद् भूतानामभिपङ्गाच्च यो ज्वरः ।

दैवव्यपाश्रयं तत्र सर्वमौषधनिष्यते ॥

(चरक चि ३)

विषमज्वरोपचार

क्रियाक्रमः—१ विषमज्वर प्रायः त्रिदोषज हुआ करते हैं अस्तु इन ज्वरों में दोषकीउल्लवणता (विगेषता या अविकता) का विचार करते हुए तदनुकूल

चिकित्सा की व्यवस्था करनी चाहिये । वात की प्रधानता होने पर घृतपान और अनुवासन वस्ति का प्रयोग, पित्त की प्रधानता होने पर औषधिसिद्ध दूध या घी का प्रयोग तिक्त और शीत गुण भूयिष्ठ औषधियों का प्रयोग तथा कफ की प्रधानता होने पर वमन, लघन, पाचन एवं उष्णवीर्य भेषज का प्रयोग करना चाहिये ।^१

२ विषम ज्वर में ऊर्ध्व तथा अधोमार्ग से शोधन प्रशस्त है अर्थात् रोगी को वमन तथा विरेचन करावे ।

३ स्निग्ध एवं उष्ण भोजन तथा आहार-विहार की व्यवस्था करनी चाहिये ।

मधुनादि कषाय—मधुयष्टि, लाल चदन, मुस्तक, आमलकी, धान्यक, खस, गुडूची और पटोल का कषाय मधु और चीनी मिलाकर पीना ।

शिशिरादिकषाय. (वैद्यजीवन)

सशिशिरः सघनः समहौषधः सनलद्रुः सकणः सपयोधरः ।

समघुशर्कर एष कषायको जयति बालमृगाक्षि तृतीयकम् ॥

संततादि विषम ज्वरो में पच कषाय—१ इन्द्र जो, पटोल, कुटकी, तीनों का सममात्रा में सम्मिलित कषाय सतत ज्वर में लाभप्रद । २ पटोलपत्र, अनन्त मूल, मुस्तक, कुटकी और पाठा इनका सममात्रा में सम्मिलित प्रयोग सततक ज्वर में ३ नीम की छाल, पटोल पत्र, मुनक्का, हरीतकी, विभीतक, आंवला, मोथा तथा इन्द्र जो इनका सम्मिलित सममात्रा में प्रयोग अन्येद्युष्क ज्वर में लाभप्रद ४ चिरायता, गुडूची, लाल चदन और सोठ इन चारों का सममात्रा में ग्रहण कर सम्मिलित प्रयोग तृतीयक ज्वर में । ५ गुडूची, आंवला और मोथा इन तीनों का सममात्रा में गृहीत प्रयोग चातुर्यक ज्वर में लाभप्रद होता है । क्वाथ के लिये औषधिद्रव्य २ तोले लेकर ३२ तोले जल में पकाकर ८ तोले शेष रहने पर उतारे और मधु मिला कर पिलाना चाहिये । विषम ज्वर में प्रयुक्त होने वाले ये पच कषाय हैं—जो बड़े प्रसिद्ध और प्रायः सभी वैद्यक ग्रंथों में इनका पाठ पाया जाता है ।^२

१. विषमेष्वपि कर्तव्यमूर्ध्वं चाधश्च शोधनम् । स्निग्धोष्णरन्नपानैश्च शमये द्विषमज्वरम् । वातप्रधान सर्पिभिर्वेस्तिभिः सानुवातैः । विरेचनं च पयसा सर्पिषा सकृतेन च ॥ विषमं च तिक्तशीतैर्ज्वरं पित्तोत्तरं जयेत् । वमनं पाचनं रुक्षमन्न-पानञ्च लङ्घनम् । कषायोष्णञ्च विषमं ज्वरे शस्तं कफोत्तरे ।

२ कलिङ्गक पटोलस्य पत्रं कटुकरोहिणी । पटोल शारिवा मुस्त पाठा कटुक-रोहिणी । निम्ब पटोल मृद्वीका त्रिफला मुस्तवत्सकी । किराततिक्तममृता चन्दन विश्वभेषजम् ॥ गुडूच्यामलक मुस्तमर्धश्लोकसमापना ॥ कषाया शमयन्त्याशु पञ्च पञ्चविधान् ज्वरान् ॥ सततं सतताग्रेद्युस्तृतीयकचतुर्थकान् ॥ (च. चि. ३)

विषमज्वर से एकौपधिप्रयोगः—१. कालाजीरा और गुडका सेवन । २ लहसुन की चटनी बनाकर उसको तिल तैल पकाकर सेवन, दीर्घकालीन वात रोग तथा विषम ज्वर में सेवन । ३. त्रिफला कपाय और गुडकी चायनी बनाकर सेवन या केवल त्रिफला^१ चूर्ण और गुड का सेवन । ४. हरीतकी चूर्ण और मधु का सेवन । ५ लहसुन की चटनी एव घी का सेवन । ६ वर्धमान पिप्पली का सेवन विनोपत जीर्ण विषम ज्वर में जब यकृत और प्लीहा की वृद्धि हो । इसमें एक, दो या तीन पिप्पली को दूध के साथ पीम कर सेवन प्रारंभ करना होता है, फिर उसी क्रम से प्रति एक, दो या तीन की वृद्धि करते हुए ग्यारह या डक्कीस दिन तक चलाकर फिर क्रमशः उसी क्रम से कम करते हुए प्रारम्भिक मात्रा पर रोक देना चाहिये । रोगी के बल और काल का विचार करके मात्रा का प्रारंभ एक, दो या तीन से करना चाहिये । ७ पट्पल सर्पिका सेवन । ८ उष्ण दूध में तिल तैल, घी, विदारीकद तथा गन्ने का रस मिलाकर सेवन । ९ छोटीपीपल, मिथ्री, घी, मधुको गर्म करके ठंडा किये दूध में मिलाकर मथकर (पंचसार) का सेवन । १० शोफाली स्वरस और मधु का सेवन । ११ नाई वनस्पति का कपाय सेवन । १२ निम्ब पत्र ५ पीतकर नित्य लेना या नीम की छाल का कपाय ३ छटाँक का सेवन । १३ तुलसी का कपाय । इसमें कृष्ण तुलसी अधिक श्रेष्ठ है । १४ द्रोण-पुष्पी का कपाय या स्वरस । १५ चम्पा के फूल का रस ।

विषम ज्वर के वेग को रोकने की औपधियाँ—विषम ज्वरों में ज्वर के पूर्व में जाड़ा या हल्की सिहरन होती है—पश्चात् तीव्र ज्वर हो जाता है । वेग या दौरे रोग में प्रायः पाये जाते हैं । वेगों का काल भी नियत सा रहता है कभी अनिश्चित भी होता है । ज्वर के दौरा या वेग आने के पूर्व कई औपधियाँ हैं, जिनका प्रयोग करने से वेग रुक जाता है । दो-तीन बार ऐसे वेगों को रोक देने से प्रायः ज्वर में लाभ भी हो जाता है । कुछ एक ऐसे भेषजों का नाम नीचे दिया जा रहा है—

१. शुद्ध स्फटिका—(लाल फिटिकरी हो तो अधिक उत्तम) कच्ची फिटिकरी को गर्म तवे पर भूनकर खील बना ले पश्चात् उसका महीन चूर्ण कर ले । प्रातः काल में ज्वर के वेग के पूर्व १ माशा की मात्रा में बताने में रखकर रोगी को खिलादे । ज्वर प्रायः नहीं आता है । २ मार्जारविष्टा का दूध के

१. भवति विषमहन्त्री चेतकी क्षौद्रयुक्ता । नान्यानि मान्यानि रसौपधानि परन्तु कान्ते न रसोनक्त्वात् । तैलेन युक्तो ह्यपर प्रयोगो महासमीरे विषमज्वरे च । गुटप्रगाटा त्रिफला पिवेद्वा विषमादित् । मधुना सर्वज्वरनुच्छेफालीदलजो रस ॥

साथ पिलाना इसी प्रकार का कार्य करता है अथवा ३ वैल का गोवर दधिमण्ड के साथ या मद्य के साथ नमक मिलाकर पिलाना भी ज्वर के वेग को रोकता है ।^१ ४ धतूर के कोमलपत्रछोटे-छोटे दो या तीन, गुड और मरिच पाँच दाने का ज्वर के पूर्व सेवन करना ।

५ सुवर्चला (हुरहुर) स्वरस-ज्वर आने के पूर्व हाथ-पैर नखों में लगाना ६ कुकुरौधै का स्वरस दस बूद लगे पान के बीड़े में रख कर चूसना । ७ मदार के पुष्प की एक कलौ एक तोले गुड में रखकर एक-एक घटेके अंतर से ज्वर आने के पूर्व तीन बार देना उत्तम रहता है ।

ऊर्ध्व शोधन (वमन)—इन्द्रजौ, मदनफल, मधुयष्टि का कपाय पिलाने से अथवा इन द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर ६ माशे चूर्ण को फँका कर ऊपर से एक पाव गर्म जल पिलाने से वमन होता है और ज्वर शान्त हो जाता है । विषम ज्वर में अपने आप वमन होता है, उत्केश अधिक हो तो इस वामक योग का प्रयोग करना चाहिये ।

अध शोधन (रेचन)—रोगी का स्नेहन और स्वेदन करके ज्वर आने वाले दिन को प्रातः काल में कासमर्द, वनजवायन, निशोध और कुटकी कपाय पिलाने से रेचन हो जाता है और ज्वर का शमन हो जाता है । विदग्ध युक्त विषमज्वर में व्यवहृत होने वाले कई जयपाल के यौगिक हैं, इनके प्रयोग से यह कार्य सिद्ध होता है, जैसे—ज्वर केशरीरस, शीतारि रस, अश्वकंचुकी रस, शीतारिरस (भै र) दो रस्ती की मात्रा में दिन में दो या तीन बार ।

अंजन—

विषमज्वरघ्न अंजन—सैन्धव, छोटी पिप्पली के दाने, मन गिला इन सबों को तैल में पीस कर अंजन करना ज्वर के वेग को रोकता है । कान की मैल की बत्ती बनाकर तिलतैल से पूर्ण सकोरे में रख कर दीपक जलाकर इस दीपक की ज्वाला के ऊपर युक्तिपूर्वक एक वर्त्तन ओंथाकर रखकर उसके कज्जल का सग्रह करे । इस अंजन को तृतीयक ज्वर के रोगी में उसके दोनों नेत्रों में रात में अंजन करे । ज्वर दूर होता है ।

औषधि-धारण—कुछ ऐसी दिव्य औषधियाँ हैं, जिनके मूल को सूत्र में बाँधकर धारण करने मात्र से विषम ज्वर नष्ट होता है । ये औषधियाँ अपने प्रभाव से कार्य करती हैं । युक्ति या तर्क से इनकी अचिन्त्य शक्ति का ज्ञान नहीं होता है ।

१ पयसा वृषदशस्य शकृद्वेगागमे पिवेत् ।

वृषस्य दधिमण्डेन सुरया वा ससैन्धवम् ॥ (भै र)

उदाहरणार्थ—१ काकजंघा, बला, व्यामा, ब्रह्मदण्डी (भार्गी), लज्जावती, पृष्णि-
पर्णी, अपामार्ग तथा भृगराज । इन आठ औषधियों में से किसी एक को पुष्प-
नक्षत्र में उखाड़कर उसके मूल को लाल सूत्र से वेष्टित करके पुरुष के दाहिने हाथ
अथवा स्त्री के बायें हाथ में बाँध कर धारण करने से नित्य आने वाला विषम
ज्वर दूर होता है । (भै. र.)

२ उल्लू के दाहिने पाँख को कच्चे श्वेत डोरे में बाँधकर रोगी के बायें कान
में बाँधने से भी यही फल होता है ।

३ कर्कट (केकडा) के विल की मिट्टी का माथे पर तिलक करने से भी
यही फल होता है—इसमें तर्क नहीं करना चाहिये और इनके प्रभावों को देखना
चाहिये ।

४ अपामार्ग की जड़ को लाल रंग के सात मूत्रों से लपेट कर रविवार के
दिन कटि में बाँधने से ऐकाहिक ज्वर में लाभ देखा गया है ।

५ सभी प्रकार के विषम ज्वर में जयन्ती मूल को इसी प्रकार बाँध कर
धारण करना भी लाभप्रद होता है । (भै. र.)

६ मकोय की जड़का कान में बाँधना भी रात्रि ज्वर में लाभप्रद पाया
गया है ।

चातुर्थक ज्वर में विशेष क्रियाक्रम—चातुर्थक ज्वर एक बड़ा ही
हठीला ज्वर होता है । बहुविध उपचारों के बावजूद भी शान्त नहीं होता है ।
इस में रोगी मन से बहुत कमजोर हो गया रहता है । निश्चित समय पर उमको
ज्वर का वेग अवश्य सता देता है । अस्तु कुछ विविध उपक्रमों का आश्रय
लेना पड़ता है ।

नस्य—१ गिरीप पुष्प के स्वरस में हरिद्रा, दारुहरिद्रा इनका चूर्ण और घृत
मिला कर खरल में आलोडित करके नस्य देने से लाभ होता है । २. अगस्त्य पत्र
स्वरस और हींग का नस्य भी ऐसा ही कार्य करता है । ३ अगस्त्यपत्र स्वरस
में हरिद्रा, दारु हरिद्रा तथा घी को आलोडित करके भी नस्य का विधान है ।
४ केवल अगस्त्यपत्र स्वरस का नस्य भी लाभप्रद होता है ।

मुख से प्रयोज्य औषधि—१ रोगी के बलावल के अनुसार शुद्ध मृत
हरिताल भस्म $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{2}$ रत्ती की मात्रा में दिन में तीन बार श्वेत वत्स और श्वेत
वर्ण की गाय के दूध के साथ रविवार को देने से ज्वर नष्ट होता है ।

२ महाज्वराङ्गुश—शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध वछनाग १ भाग, शुद्ध गंधक
१ भाग, शुद्ध धतूरे का बीज ३ भाग, काली मिर्च ४ भाग, सोठ ४ भाग, छोटी
पीपल ४ भाग । प्रथम पारद एवं गंधक की कज्जली करे पश्चात् अन्य औषधियों

का कपड छान चूर्ण मिलावे । फिर सत्यानाशी के स्वरस को तीन भावना देकर २ रत्ती की गोलियाँ बना ले । मात्रा १ से २ गोली । अनुपान-कागजी नीबू या जम्बोरी नीबू के रस या अदरक के रस के साथ दे । (यो र)

३ श्वेत अर्क या करवीर मूल को दो रत्ती की मात्रा में तण्डुलोदक से देना भी लाभप्रद होता है । इसको जड की अश्विनी नक्षत्र में उखाड़ने का विधान है ।

४ चातुर्थकारि रस (भे २) मात्रा २ रत्ती । अनुपान चम्पा के पुष्प का रस ३ माशे या शेफाली का स्वरस ३ माशे और मधु ६ माशे । दिन में दो या तीन बार ।

५ पेया—चाङ्गोरी (तिन पतिया) की एक सहस्र पत्तियों को लेकर कपाय बनावे, फिर इस कपाय में पेया विधि से चावल के कण डाल कर पेया बनावे । इसमें गोघृत डाल कर पिये तो चातुर्थक ज्वर नष्ट होता है ।

६ धतूर के कोमल तीन पत्ते, गुड १ तोला और काली मिर्च ५ दाने मिला कर पीस कर गोली जैसा बना ले । ज्वर के आने से दो घटे पूर्व रोगी को खिला देना चाहिये । पीने के लिये उसे पानी नहीं देना चाहिये । अगर तृपा से अधिक व्याकुल होवे तो उसे दूध दिया जा सकता है । एक दिन के प्रयोग से ज्वर प्रायः ठीक हो जाता है ।

७ कुटकी मूल को अर्कचौर में भावित करके सेवन करना तृतीय और चातुर्थक दोनों में लाभ करता है ।

धूप—ज्वर के पारी वाले दिन भृगराज स्वरस में काले किये हुए वस्त्र में गुग्गुलु और उलूक पक्षी की पाँख को अच्छी तरह से बाँधकर निर्धूम अङ्गारे पर रख देना चाहिये । समीप में रोगी को बैठा कर उसके धुएँ से रोगी को धूपित करने से ज्वर का नाश होता है ।

विषम ज्वर में दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का माहात्म्य—सभी विषम ज्वरों में विशेषतः तृतीयक तथा चातुर्थिक ज्वर में आगन्तुक अर्थात् भूतादि का अनुबन्ध पाया जाता है । अस्तु, केवल गुक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा से लाभ की पूरी आशा नहीं की जा सकती है उसमें दैवव्यपाश्रय अथवा आधिदैविक चिकित्सा का आश्रय लेना भी अवश्यम्भावी हो जाता है । एतदर्थ मन्त्रधारण, इष्ट देवता की उपासना, जप, होम, मंगल कर्म, औषधि धारण, स्तोत्र पाठ प्रभृति कर्मों को करना चाहिये । सोम का पूजन, विष्णु का पूजन, ब्रह्मादि का पूजन लाभप्रद रहता है ।^१

१ कर्म साधारण जह्यात् तृतीयकचतुर्थको । आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे ॥ विष्णु सहस्रमूर्धनि चराचरपति विभुम् । स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वान् व्यपोहति ॥

(चर चि ३)

जब किसी भी युक्ति से विषम ज्वर का अनुबंध नहीं टूटता तो ये उपाय अवश्य रोग को दूर कर सकते हैं ।

विषम ज्वर में प्रयुक्त होने वाले कुल योग—१. सप्तपर्णसत्त्वादि चट्टी—सप्तपर्ण घन सत्त्व १० तोले, कुपोलु घन सत्त्व १० तोले, जेवायन घन सत्त्व १० तोले, करज बीज की गूदी ४० तोले । सबको खरल कर मटर के बराबर की गोली बनाले । मात्रा—१ से २ गोली दिन में तीन बार या चार बार जल से ।

तुवरीमल्ल योग—मफेद फिटकिरी का चूर्ण ६ तोले, शुद्ध सखिया १३ मासे लेकर, तवे पर फिटकिरीका चूर्ण रख उसके मध्य में सखिया रख कर मद आंच देवे । जब फिटकिरी का लावा बन जावे तो तवा को आंच से उतार कर रख लेवे । औषध के शीतल हो जाने पर खरल में घोट लेवे । मात्रा ३ रत्ती से १ रत्ती तक अनुपात घृत ६ मासे । इसे ज्वर काल में न देकर निर्व्वर अवस्था में देना चाहिये । ज्वर के आने के पूर्व एकमात्रा भी देने से प्रायः ज्वर का वेग रुक जाता है । औषध पकाते समय धुँवा वैद्य के मुँह पर नहीं लगना चाहिये ।

○ **हरीतक्यादि चट्टी—**बड़ी हरड का टल, शुद्ध सखिया, काली मिर्च तीनों सम भाग लेकर जल से मर्दन करके मरसो के बराबर की गोलियाँ बनाले । ज्वर के उतरने के बाद १-२ गोली गाय के दूध से दे । इसके सेवन से पारी वाला ज्वर उतरता है ।^१

३. सुदर्शन चूर्ण—हरड, बहेरा, आँवला, दारु हल्दी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, कचूर, मोठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, पीपरामूल, मूर्वा, गिलोय, धमासा, कुटकी, पित्तपापटा, नागर मोथा, त्रायमाण, नेत्रवाला, अजवायन, इन्द्रियव, भारङ्गीमूल, शिशुबीज, आग पर फुलाई हुई फिटकिरी, वच, दालचीनी, पद्माक्ष, खस, सफेद चदन, अतीस, बलामूल, सरिवन, पिठवन, वायविडङ्ग, तगर, चित्रक,

सोमं मानुचर देवं समातृगणमीश्वरम् । पूजयन् प्रयत शीघ्रं मुच्यते विषमज्वरात् ॥
ब्रह्माणमग्निनाविन्द्र हुतभक्ष हिमाचलम् । गङ्गा मरुङ्गणांश्चेष्टान् पूजयन् जयति ज्वरम् ॥
भक्त्या मातुः पितुश्चैव गुरुणा पूजनेन च । ब्रह्मचर्येण तपसा पुराणश्रवणेन च ॥
जपहोमैश्च दानैश्च सत्येन नियमेन च । ज्वराद्विमुच्यते शीघ्रं साधूना दर्शनेन च ॥

(भै र)

१ हरीतकीगन्धमूलवेल्लजाना कुर्याद्विटी वारिणि सर्पपाभाम् ।

वेग रुणद्धि प्रथम प्रदत्ता ज्वरस्य वेलेव महाम्बुरागिम् ॥

(सिद्ध भेषजमणिमाला)

देवदारु, चव्य, पटोल पत्र, कालमेघ, करज के फल की मज्जा, लवङ्ग, वश लोचन, काकोली, कमल, तेज पत्र, जावित्री और तालीश पत्र । सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर चूर्ण करे । फिर सब चूर्ण का जितना प्रमाण हो उससे आधा चिरायते (किरात) का कपडछान चूर्ण मिलाकर बोतल में भर ले । मात्रा—३ से ६ माशे । अनुपान—ठंडा जल ।

उपयोग—सभी ज्वरो में विशेषतः नये या पुराने विषम ज्वरो में अधिक लाभप्रद योग है । इसका चूर्ण के रूप में, फाण्ट के रूप में या हिम के रूप में भी प्रयोग किया जा सकता है । ज्वर का वेग कम करने के लिये एक उत्तम योग है । सतत ज्वर के रोगियोमें तीन सप्ताह की मियाद पूरी होने पर भी अगर ज्वर का अनुबन्ध न टूटता हो तो इस फाण्ट के उपयोग से उत्तम लाभ होता है । (शा.ध.)

४ **सुदर्शन मिश्रण**—सुदर्शन चूर्ण १० तोला, सोडा वायकार्ब २॥ तोला, शुद्ध कुपीलु चूर्ण १ तोला, आग पर फुलाई लाल फिटकिरी १॥ तोला (शुद्ध स्फटिका) अच्छी तरह एकत्र मिलाकर रखले । मात्रा १-३ माशे । अनुपान जल । **उपयोग**—शीत के साथ आने वाले ज्वर । (सि यो स)

— ५ **विषमुष्ट्यादि वटी**—शुद्ध कुचला का चूर्ण और काली मिर्च का चूर्ण सम भाग में लेकर इन्द्रायण के फल के रस में भावना देकर दो-दो रत्ती की गोलियाँ बनावे । मात्रा १-२ गोली । अनुपान शीतल जल । विषम ज्वर, विबध, तथा वात ज्वर में लाभप्रद ।^१

विषम ज्वर में पथ्य—विषम ज्वर में लघन का कोई विशेष महत्त्व नहीं है । ज्वर काल में उपवास कराना चाहिये अन्यथा ज्वरमुक्तावस्था में सुपाच्य और हल्के अन्न की व्यवस्था करनी चाहिये । विषम ज्वर में मद्य और मास-रसो का प्रयोग विशेषतः बतलाया गया है । पथ्य में अधिक गेहूँ, जी की रोटी, परवल, वास्तूक, करैले, मूँग, चने की दाल, नीबू, मोसम्मी प्रभृति फल, सूखे मेवे देने चाहिये । माससात्म्य व्यक्तियों में मुर्गा, तीतर और मयूर का मास खाने को देना चाहिये ।

पुनरावर्त्तक ज्वरप्रतिषेध (Relapsing fever)—जिन ज्वरो में बार बार पुनरावर्त्तन पाया जाता है । उनमें सामान्य विषम ज्वर का उपचार उत्तम रहता है । तिक्त द्रव्यों का उपयोग, गोघृत का उपयोग एवं तिक्त द्रव्यों से सिद्ध घृतों का उपयोग करना चाहिये । चरक में किराततिक्तादि कपाय

१ सशोधिताना विषमुष्टिकाना तुल्याशमारीचरजोयुतानाम् ।

वटयो विशालाफलवारिवद्धा विबन्धवातज्वरमुद्धरन्ति ॥

का मेवन कराने का विधान भी पाया जाता है। यह पुनरावर्त्तिक ज्वर में एक मिष्ट प्रयोग है —

किराततिक्तकं तिक्ता सुस्तं पर्पटकोऽमृता ।
घ्नन्ति पीतानि चाभ्यासान् पुनरावर्त्तिकं ज्वरः ॥

अर्थात् चिरायता, कुटकी, नागरमोथा, पित्तपापडा और गुडूची को जोकुट कर के २ तोले लेकर ३२ तोले में खीलाकर ८ तोले जैप रहने पर उतार कर ठंडा कर मधु मिलाकर कुछ दिनों तक पीने से या कई मासों तक अभ्यास कराने से बार बार आवर्त्ति करने वाला ज्वर दूर होता है ।

मन्थर ज्वर (Typhoid) प्रतिषेध—आंत्रिक ज्वर, मन्थर ज्वर या सतत ज्वर एक मर्यादित (मियादी) सन्निपातज ज्वर का ही भेद है । इनमें ज्वर लगातार तीन या चार सप्ताह तक चलकर स्वयं शान्त होता है । इस रोग का विनिश्चय प्रायः प्रथम सप्ताह के अनन्तर ही होता है । इस ज्वर में प्रायः दो प्रकार के क्रम वाले रोगी मिलते हैं—एक वे जिन में (विषय) या कब्ज रहता हो दूसरे वे जिनमें अतिसार चल रहा हो । इन दोनों क्रमों में चिकित्सा एवं पथ्य व्यवस्था का भेद करना होता है ।

आधुनिक युग में इस रोग की चिकित्सा में 'क्लोरेमाईसेटिन' या उस वर्ग की किसी अन्य औषधि का उपयोग होता है—जिस से ज्वर अपेक्षाकृत कुछ शीघ्रता से दूर होता है । तथापि इस में कई दोष भी पाये जाते हैं—जैसे ज्वर का पुनरावर्त्ति ज्वर के छूट जाने पर पुनः आने की संभावना तथा औषधि की विषाक्तता का कुपरिणाम । आयुर्वेद की चिकित्सा में इन दोनों दोषों से रहित एव निरापद है । इस में समय कुछ अधिक जरूर लगता है, परन्तु रोग का स्थायी एव चिरकालीन प्रतिकार हो जाता है ।

वस्तुतः मन्थर ज्वर की चिकित्सा में तीव्र ज्वरघ्न उपचार की आवश्यकता नहीं पड़ती है, रोगी को शुश्रूषा एवं पथ्य-व्यवस्था इस स्वरूप की की जाती है जिसमें उसे कोई उपद्रव न हो और ज्वर निरुपद्रव अपने काल पर पहुँचकर छूटे । इस काल में फुफ्फुस, हृदय, मुख, आंत्र तथा मस्तिष्कसम्बन्धी उपद्रवों का भय रहता है एतदर्थ जव रोगी चिकित्सा में आवे उसके रोग का विनिश्चय हो जावे तो तत्काल निम्नलिखित क्रम पर रख देना चाहिये । १. पूर्ण विश्राम २. पीने के लिये लवङ्गोदक या पडङ्गुपानीय देना चाहिये । ३. सहिजन का कपाय बनाकर रख देना चाहिये उम से बीच-बीच में कुल्ली करते हुए रोगी अपने मुख की नफाई रखे । ४. रोगी को पथ्य में यदि कब्ज हो ती गाय का दूध, गर्म करके ठंडा होने पर थोड़ा पानी मिलाकर पिलाना चाहिये । थोड़ा मिश्री या ग्लुकोज का

उद्याने जल में गर्वत बनाकर रख कर बीच बीच में पिलाना चाहिये । सूखे फलों में मुनक्ता देना चाहिये । हरे फलों में सतग, मोसम्मी और अगूर देना चाहिये । यदि रोगी में अतिनार, पतने दन्त चल रहे हो तो दूध न देकर दूध को फाड़ कर उन का पानो पीने को देना, लुकोज या मिश्रो का पानी भी दिया जा सकता है । बालों बाहर नमकीन बनाकर नीबू का रस डाल कर देना चाहिये । फलों में हरे फलों के रस—नीबू, मोसम्मी, सतरे का रस—देना चाहिये । बकरी का दूध मित्र नके तो रोगी को अधिक अनुकूल पड़ता है ।

औषधि में—अभ्रक भस्म २ रत्ती
शु टकण २ रत्ती
शुक्ति भस्म २ रत्ती या
मुक्ता भस्म १ रत्ती
मिश्र ४ मात्रा

जायफल, जावित्री और लौंग के चूने प्रत्येक २-२ रत्ती और मधु ६ माशे के साथ । या भुनाजोरा के चूर्ण और मधु से प्रति चार-चार घंटे पर ।

यदि रोगी दुर्बल हो तो इस योग में रस सिन्दूर १ रत्ती मिलाकर देना चाहिये । इस योग से रोगी में ज्वर का क्रम निरुपद्रव चलना रहता है । अपने-अपने मियाद के पूरे होने पर रोगी रोग मुक्त हो जाता है ।

योग—यदि इसके स्थान पर कोई योग देने का विचार रहे तो अतिसार युक्त मत्त ज्वर में सिद्ध प्राणेश्वर रस का उपयोग ४ रत्ती की मात्रा में प्रति छह घंटे पर दिन में तीन बार भूने जोरा के चूर्ण एवं मधु के अनुपान से देना उत्तम रहता है । यदि रोगी में विषय हो तो सौभाग्यवटी उपयोग करना चाहिये । सन्निपाताधिकार का यह उत्तम एवं सिद्ध योग है जो मन्थर ज्वर में अव्यर्थ सिद्ध होता है ।

सौभाग्यवटी—शुद्ध सुहागा, शुद्ध वत्सनाभ, श्वेत जोरक, सैधव, रुचक, विड, औद्भिद और मामुद्र (पाँचो लवण), त्रिकटु, त्रिकला, अभ्रक भस्म, शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक समभाग । प्रथम पारद एवं गंधक को कज्जलो बनाकर अन्य द्रव्यों के सहित चूर्णों को मिलाकर निम्नलिखित द्रव्यों के कपाय से सात सात भावना दे । श्वेतपुष्पा निर्गुण्डी, नीलपुष्पा निर्गुण्डी, भृगराज, अडूसा, अपा-मार्ग । फिर २-२ रत्ती की गोलीयाँ बनाकर सुखाकर रख ले । अनुपान—अदरक का रस, तुलसी का रस, जायफल एवं जावित्री के चूर्ण, ७-१ लौंग के पानी से दे ।

कस्तूरी भैरव रस (लघु)—शुद्ध हिंगुल, शुद्ध वच्छनाग, शुद्ध टकण, जायफल, जावित्री, कस्तूरी और कपूर सम भाग । पान के रस में मर्दन कर १-१ रत्ती की गोलीयाँ बनाकर छाया में सुखाकर रख ले ।

१६ भि० सि०

बृहत् कस्तूरीभैरव रस—कस्तूरी, कपर्, ताम्रभस्म, वाय के फूल, केंवाच के बीज, रौप्य भस्म, मुवर्ण भस्म, मुक्ता पिष्ट, प्रवाल भस्म, लौह भस्म, पाठा, वाय विडङ्ग, नागर मोथा, नांठ, खस, मुद्ग हस्ताल, माणिक्य रस, अन्न भस्म एवं आंवला सब द्रव्य सम भाग ले । मदार के पत्र स्वरूप में तीन दिन मर्दन करके २-२रत्ती की गोलीयाँ बना ले । मात्रा—१ गोली दिन में तीन बार । अनुपान पान के रस और मधु से ।

उपयोग—उपर्युक्त दोनों योगों का सभी प्रकार के सन्निपात ज्वरों में उपयोग करे । विशेषतः मंथर ज्वर में दूसरे सप्ताह के अंत और तीसरे सप्ताह के प्रारंभ में इसका प्रयोग करे । यह अमृत तुल्य गुणकारी योग है । शरीर का ठंडा पडना, नाड़ी की झीगना, अधिक पसीना आना, प्रलाप, तंद्रा, हृर्दावर्त्य, श्वाम कृच्छ्र आदि उपद्रवों में नद्यो लाभ प्रद रहता है । अनुपान रूप में यथावश्यक अदरक, पान, वाना, लवङ्ग, ब्राह्मी, जटा मासी, तगर, जखपुष्पी इनमें से किसी एक के अनुपान में दे । मूत्रिका रोग में देवदावादि कपाय (भै र प्रदर रोग) के अनुपान से इसका उपयोग करे ।

यदि इस ज्वर के रोगी में प्रलाप बहुत हो अथवा दूसरे सान्निपातिक ज्वर में भी प्रलापाधिक्य पाया जावे तो बृहत् कस्तूरी भैरव रस का प्रयोग करना चाहिये । वात रोगाधिकार में पठित रमराज, योगेन्द्र, बृहद्वात चिन्तामणि रस, कृष्ण चतुर्मुख या चतुर्भुज का भी यथालाभ एक या एकाधिक का उपयोग लाभप्रद रहता है । इन योगों के अनुपान रूप में निम्नलिखित कपाय का प्रयोग निश्चित लाभप्रद रहता है —

तगरादि क्वाथ—तगर (आनासून), पित्तपापडा, अमलताश का गूदा, नागरमोथा, कुटकी, जटामासी (वालछड), असगव, ब्राह्मी, मुनक्का, लाल चन्दन, दण्डमूल (सरिवन, पिठवन, गोखरु, भटकटैया, बड़ी कटेरी, बेल, गाम्भारी, बरणी, सोनापाठा, पाटलमूल) और जंखपुष्पी । इन सभी द्रव्यों को सम भाग लेकर जीकूट करे । १ तोले द्रव्य को १६ तोले जल में खीलावे, ४ तोला घेप रहे तो कपड़े में छान कर देवे । यदि रोगी को पतले दस्त आते हों तो इसमें से कुटकी, अमलताश और मुनक्का निकाल कर इसका प्रयोग करे ।^१

१ सतगरवरतिक्ता रेवताम्भोदतिक्ता नलदतुरगगंधाभारतीहारहरा ।
मलयजदण्डमूलीजखपुष्प्य मुपीताः प्रलपनमपह्न्यु पानतो नातिद्वरात् ॥
(त्रिगती)

यदि मियाद पूरी हो जाने के बाद भी मन्थर ज्वर न टूट रहा हो तो उसमें कफ का उपद्रव (Lung complication) की संभावना रहती है अस्तु तदनुकूल ज्वरार्यत्र, रसमिन्दूर, शृंग भस्म आदि का योग औषधि एवं अनुपान में करना चाहिये। कई बार विषम ज्वर का अनुबन्ध भी ज्वर को टूटने नहीं देता है। उन अवस्था में सुदर्शन चूर्ण (विषम ज्वर में प्रोक्त) का फाण्ट बनाकर औषधि के सहपान रूप में देना चाहिये। एतदर्थ सुदर्शन चूर्ण ३ माशे लेकर खोलते पानी में चाय जैसे बना लेना चाहिये और छानकर कई बार प्रधान औषधि के अनुपान रूप में देना चाहिये।

यदि ज्वर का २ में विषम हो तो 'ग्लिसरीन संपाजिटरी' (गुदवर्त्ति), या ग्लिसरीन मिरिञ्च १ औंस ग्लिसरी गुदा में चढ़ाकर कोष्ठशुद्धि करनी चाहिये। कई में लवण जल की स्थापनवस्ति (Enema) देने की भी आवश्यकता पड़ती है। भस्मक कोई रेचक औषधि मुख से न देकर मुनक्का, अजीर, गुलकंद, अगूर आदि मिलाकर ही रोगी को कोष्ठशुद्धि कर लेनी चाहिये। यदि रेचक देना ही हो तो अमलताग की गुद्दी औषधि के अनुपान रूप में देने से कार्य हो जाता है।

तीन सप्ताह के अनन्तर रोग का क्रम चलता रहे तो रोगी को हल्का नुपाच्य पथ्य दते हुए जीर्ण ज्वरवत् चिकित्सा करनी चाहिये।



पंचम अध्याय

जीर्ण ज्वर प्रतिषेध

तीन सप्ताह के बाद जो ज्वर गम्भीर धातुओं में प्रविष्ट होकर मंद हो जाता है और जिसमें प्लीहावृद्धि या यकृतवृद्धि हो जाती है, अग्नि मंद हो जाती है उसे जीर्ण ज्वर कहते हैं।^१

क्रियाक्रम—चिकित्सा सूत्र—क्षीर—जीर्ण ज्वर में कफ के क्षीण हो जाने पर दूध अमृत के समान विशेष गुणकारी होता है। गोदुग्ध के अतिरिक्त बकरी

१ त्रिसप्ताहाद् व्यतीते तु ज्वरो यस्तनुता गत ।

प्लीहाग्निसाद कुस्ते स जीर्णज्वर उच्यते ॥

के दूध का भी प्रयोग किया जा सकता है । यदि ये दोनों दूध उपलब्ध न हों तो भैंस का दूध भी पानी मिलाकर हटका करके लिया जा सकता है । दूध का प्रयोग गर्म या गर्म करके ठंडा किया हुआ (जलशीत) अथवा धारोष्ण अथवा औषधि में मिद्ध करके किया जा सकता है ।

क्षीर सर्व प्रकार के जीर्ण ज्वरों का प्रशमन करता है । इस लिये प्रतिदिन मन्दोष्ण, शीत तथा औषधि से पकाकर उसके देने की व्यवस्था करनी चाहिये । क्षीर के पाक की विधि यह है कि द्रव्य से आठगुना दूध और दूध से चार गुना पानी छोट कर दूध को पकावे, जब पानी जल जावे, दूध मात्र ही शेष रहेतो उतार ले, और औषधि को छान करके दूध पीने के लिये रोगी को दे । इस प्रकार पचमूल से, त्रिकटुक बला-वटकारी-गुड और सोठ से पकाकर अथवा पुनर्नवा से पाक करके देना चाहिये ।^२

घृत—जब ज्वर लघन, पेया, कषयादि के प्रयोग में शान्त नहीं होता है तब उम रक्त रोगी के लिये औषधिमिद्ध घृत अथवा केवल गोघृत का उपयोग पिलाने के लिये करना चाहिये क्योंकि ज्वर को उत्पन्न करने वाली ऊष्मा रक्त गुण वाली होती है और उम ऊष्मा (ताप) के अधिक काल तक रहने में रोगी के शरीर में रुद्धता आ जाती है जो कफ और रम-रक्तादि के क्षोण होने से वायु की वृद्धि में कारण होती है । अतः ज्वर के अनुबन्ध स्वरूप उम वायु को शान्त करने के लिये स्नेह का प्रयोग आवश्यक हो जाता है । अतएव पुराण ज्वरों घृत का सेवन कराना चाहिये । वाग्भट ने महत्त्वहीन घृत का अम्यंग जीर्ण ज्वर में दाह की अवस्था में बतलाया है “दाहे महत्त्वहीनेन सर्पिषाऽभ्यङ्गमाचरेत् ।”

ज्वराधिकार में पठित विविध कषाय एवं चूर्ण का प्रयोग घृत मिश्रित करके जीर्ण ज्वर में किया जा सकता है । इनमें ज्वर का शमन होता है, जाठराग्नि दीप्त होती है और बल की वृद्धि होती है । पिप्पल्यादिवृत—पिप्पली, चंदन, मुस्तक, ताम्र, कुटकी, इन्द्रजौ, भूम्यामलकी, अनन्तमूल, अतीस, शालपर्णी, मुनक्का, आंवला, निम्बपत्र, त्रायमाणा और कंटकारी में मिद्ध घृत । मात्रा १ तोला दिन में

२. जीर्णज्वरे कफे क्षीणे क्षीरं स्यादमृतोपमम् । पेयं तदुष्णं शीतं वा यथास्वं शेषजं शृतम् ॥ चतुर्गुणेनाभ्रसा च शृतं ज्वरहरं पयः । धारोष्णं वा पयः शीतं पोत जीर्णज्वरं जयेत् ॥ जीर्णज्वराणां सर्वेषां पयः प्रशमनं परम् । पेयं तदुष्णं शीतं वा यथास्वमौषधैः शृतम् ॥ (च)

तीनपार जल, दूध या ज्वरनाशक किसी द्रव्य से इसी प्रकार गुडूच्यादि घृत का प्रयोग परम लाभप्रद होता है ।^१

अनुवासन—ज्वर की पुराण या जीर्णविस्था में जब कफ एव पित्त चीण हो गये हो, अग्नि प्रबल हो, रोगी का पाखाना रुच और वद्ध (गाँठदार) हो गया हो तो अनुवासन देना चाहिये ।^२ सिद्धि स्थान में चरक में बहुत से अनुवासन वस्त्रियों का उल्लेख है उनमें से किसी एक का जो ज्वरघ्न हो उपयोग करना चाहिये । अष्टाङ्ग हृदयकार ने एक ज्वरघ्न अनुवासन वस्ति का सामान्य उपदेश दिया है । वह इस प्रकार का है—जीवन्ती, मैनफल, मेदा, पिप्पली, मधुयष्टि, चच, ऋद्धि, राम्ना, बला, चिन्व, शतपुष्पा, गतावरो इन सब द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर पीतकर—दूध, जल, तैल और घी मिलाकर सिद्ध करे । इसमें दूध का चार भाग, जल या चार भाग, घी और तैल का एक-एक भाग होना चाहिये और द्रव्य या कल्क आधा भाग होना चाहिये । इस प्रकार सिद्ध किये स्नेह का गुदा मार्ग से वस्ति द्वारा प्रवेश कराना चाहिये ।

ऊर्ध्व विरेचन या शिरोरेचन—जीर्ण ज्वर में शोधन के लिये विरेचन नम्य देना चाहिये । इससे सिर का दर्द, गुरुता (भारीपन) एव कफ नष्ट होता है, अन्न में रुचि पैदा होती है, इन्द्रिया चेतन्य युक्त और प्रसन्न होती है । शून्य निर (छाती निर) में स्निग्ध नस्य देना चाहिये ।^३

अभ्यग तथा परिपेक—शीत और उष्ण उपचार की विवेचना करते हुए ओषधि से मिद्ध तैलो का अभ्यग, प्रदेह (लेप), परिषेक (Sponging) तथा अवगाहन (जल, दूध या सिद्ध तैल से भरे पात्र में डुबकी लगाकर स्नान)

१ ज्वरा कपार्यर्वमनैलङ्घनैर्लघुभोजनै । रुचस्य ये न शाम्यन्ति सर्पिस्तेषा भिपजितम् ॥ रुक्ष तेजोज्वरकर तेजसा रुक्षितस्य च । य स्यादनुवलो धातु स्नेहमाद्य न चानिल ॥ कपाया सर्व एवैते सर्पिषा सहयोजिता । प्रयोज्या ज्वरशान्त्यर्थमग्निमधुक्षणा शिवा ॥

गुडूच्या क्वाथकल्काभ्या त्रिफलाया वृषस्य च ।

मृद्वीकाया बलायाश्च मिद्धा स्नेहा ज्वरच्छिद ॥ (भे)

२ ज्वरे पुराणे सक्षीणे कफपित्ते दृढाग्नये । रुक्षवद्धपुरीषाय प्रदद्यादनुवासनम् ॥ (च)

३ गौरवे शिरस शूले विवद्वेष्विन्द्रियेषु च ।

जीर्णज्वरे रुचिकर दद्यान्मूर्धविरेचनम् । (चर)

शिरोरुग्गौरवश्लेष्महरमिन्द्रियवोदनम् ।

जीर्णज्वरे रुचिकर दद्यान्नस्य विरेचनम् । स्नैहिक शून्यशिरस ॥ (वा)

अवस्थानुसार यथायोग्य जीर्ण ज्वर के रोगियों में कराना चाहिये । इस प्रयोग से तीन लाभ होते हैं—(क) वह्निर्मांसगत (त्वचा गत) ज्वर का गमन होता है । (ख) शरीर के अंगा को सुख मिलता है और बल बढ़ता है । त्वचा से इन स्नेहों का शोषण होकर कई पोषक तत्त्वों की प्राप्ति (Vit A D specially) होती है, शरीर पृष्ठ होता है । (ग) त्वचा का रक्षण होने में जो वर्ण विकृत हो गया रहता है वह प्राकृतावस्था में आ जाता है । वायुमय में लम्बी अवधि तक उपवासमादि के कारण जीर्ण ज्वर में मभी तन्तु वृद्धिमान रहते हैं—इन क्रियाओं से इन वृद्धिमान तन्तुओं का शीघ्रता से आप्यायन होता है, जिससे बल बढ़ता है ।^१

जीर्ण ज्वरों में लाक्षादि तैल, महालाक्षादि तैल, चंदनादि तैल, अगुर्वादि तैल अथवा पट्कट्वर तैल या चन्दनबला लाक्षादि तैल की मालिश पूरे शरीर भर में हल्के हाथों में करनी चाहिये । इन तैलों के लिये शोषण के पर्याप्त अवसर दो-तीन घण्टे का देना चाहिये । पश्चात् रोगी बहुत क्षीण न हो तो गर्म पानी में तैलियों को भिगो कर निचोड़ कर पोछ देना चाहिये । इन तैलों के प्रयोग के सम्बन्ध में थोड़ा विचार अपेक्षित रहता है । जैसे यदि रोगी को जाड़ा बहुत लगता हो तो उमरे उष्ण द्रव्यों से सिद्ध तैल का अम्यग जैसे अङ्गारक तैल (चा. सं.) या अगुर्वादि तैल (चर) का अम्यग कराना चाहिये । यदि दाहादि लक्षण मिलें तो चंदनादि तैल (चर) या लाक्षादि या चंदनबला लाक्षादि तैल (भै. र) का अम्यग कराना चाहिये ।^२

धूपन—नव ज्वर तथा जीर्ण ज्वर इन दोनों अवस्थाओं में धूपन का उपयोग किया जा सकता है । परन्तु जीर्ण ज्वर में यह विशेष लाभप्रद पाया गया है । इस क्रिया के द्वारा त्वचागत ज्वर स्वेद के द्वारा उतर जाता है । अष्टाङ्ग धूप, अपराजित धूप तथा माहेश्वर धूप के नाम में कई पाठ भैषज्यरत्नावली में पाये जाते हैं । इन में से किसी एक का प्रयोग रोगी के शरीर के धूपन के लिये करना चाहिये । धूपन के अनन्तर पसीना बहुत आता है, उसको सूखे वस्त्र से पोछ देना चाहिये फिर उसको ठंडा हवा के झोंके आदि में रखा करनी चाहिये ।

१ अम्यङ्गाश्च प्रदेहाश्च परिपेकावगाहने । विभज्य जीतोष्णकृत कुप्यङ्गी-
र्णज्वरे भिषक् ॥ तैरागु प्रथम याति वह्निर्मांसगतो ज्वर । लभन्ते मुखमङ्गानि
बल वर्णश्च वर्द्धते ॥ (च)

२ लाजामधुकमजिष्ठामूर्वाचन्दनसारिवा ।

तैलं पट्कट्वरं नाम ह्यम्यङ्गाज्ज्वरनाशनम् ॥

लाक्षाहरिद्रामञ्जिष्ठाकल्केस्तैलं विपाचितम् ।

पङ्गुणेनारनालेन दाह्यतीतज्वरापहम् ॥

अजन—यदि क्षोर, घृत, अभ्यगादि विविध प्रयोगो के करने पर भी ज्वर का गमन नहीं हो रहा है तो उसमें आगन्तुक का अनुबध (भूतानुबध या प्रेतानुबध) समझना चाहिये और एतदर्थ उम रोगी में अंजन का प्रयोग करना चाहिये। अजन के कई पाठ सन्निपात ज्वर के प्रसंग में आते हैं—जैसे अजन भैरव रस। इसका अजन लगाने से ज्वर की शान्ति होती है।^१

वमन विरेचन का निषेध—ज्वर से क्षीण हुए जीर्ण ज्वर के रोगी में पर्याप्त घातुओं का नाश हो गया रहता है। सर्व घातुक्षय से युक्त रोगी का मल ही बल होता है। अस्तु इम मल को निकालने के लिये कदापि वमन और विरेचन नहीं देना चाहिये। उसको पर्याप्त मात्रा में गाय का दूध, मुनक्का देना चाहिये, इसी से पेट माफ हो जाता है। यदि बहुत कब्ज हो तो निरूहण क्रिया से अर्थात् ग्लिसरीन की वत्ती (Glycerine suppository), ग्लिसरीन को पिचकारी (Glycerine Syringe) से एक या दो औंस ग्लिसरीन पाखाने के रास्ते से चढ़ाकर, या सेलाइन या सोप वाटर एनोमा (नमक या साबुन का पानी गुदा मार्ग से चढ़ा कर) या दशमूल कपाय की वस्ति देकर कोष्ठ की शुद्धि कर लेनी चाहिये। यदि मृदुरेचन देना हो तो गुलकद, मुनक्का, मुलेठी या अमलताश की गुट्टी मात्रा से खिला कर पेट को साफ करा देना चाहिये।

निरूहण की क्रिया से ज्वर कम होता है, रोगी के बल एवं अग्नि की रक्षा होती है और अन्न में रुचि जागृत होती है।^२

जीर्ण ज्वर में योग—१ सशमनो वटो (गुडूची घन वटी)—अगूठे जैसे मोटी मिलीय को लेकर, पानी से धोकर चार-चार अंगुल के टुकड़े काट ले। फिर एक कलईदार पोतल के कड़ाहे में या लोहे के कड़ाहे में चतुर्गुण जल में खोलावे, चौथाई शेष रहने पर उतार कर छान ले। फिर इस द्रव को कलईदार कड़ाहे में डाल कर अग्नि पर चढ़ावे। जब द्रव गाढ़ा हो कर हलवे जैसा हो जावे तो

१ धूपनाञ्जनयोगैश्च यान्ति जीर्णज्वरा शमम् ।

त्वद्मात्रशेषा येषाञ्च भवत्यागन्तुरन्वय । (च)

पलङ्कपा निम्बपत्रं वचा कुष्ठहरीतकी ।

सयवा. सर्पपा सर्पिर्धूपन ज्वरनाशनम् ॥ (भै)

२ ज्वरक्षीणस्य न हित वमन न विरेचनम् ।

काम तु पयसा तस्य निरूहैर्वा हरेन्मलान् ॥

निरूहो बलमग्निञ्च विज्वरत्वं मुद रुचिम् ।

परिपक्वेषु दोषेषु प्रयुक्तं शीघ्रमावहेत् ॥ (च)

२-२ रत्ती की गोली बना ले । मात्रा एवं अनुपात ५ से २० गोली तक । दिन में चार-पाँच बार जल के साथ दे । जिमी भी जीर्ण ज्वर में इसका निबंक प्रयोग किया जा सकता है । राजयदना के ज्वर में इसका उपयोग अच्छा होता है । प्रमेह, ज्वेत प्रवर, मन्त्राग्नि, दीर्घत्व और पाण्डु रोग में इसके प्रयोग में अच्छा नाम होता है । यह एक कल्प एवं रसायन योग है । (नि. यो. मं.)

२. मकरासृत योग—मकरध्वज ३ रत्ती और गुड़ूची सन्ध १ मात्रा मिश्रित १ मात्रा । इस योग का उपयोग अत्युच्च तापक्रम (Hyperpyrexia) में एक-एक छंटे के अंतर में देने से तापक्रम एक-दो अंश कम हो जाता है । रोगी की सतहों में रखा होता है । इसका प्रयोग इस योग का जीर्ण ज्वर में उत्तम होता है । दीर्घकालीन ज्वर जो विविध योगों के भेदन से ओझ न हो रहा हो इसके कुछ ही दिनों के उपयोग से उसमें सुधार होता है । अनुपात मधु या घृत एवं मिश्री के साथ । दिन में दो या तीन मात्रा देनी चाहिये । इसके योग में मकरध्वज के स्थान पर अन्य कृपापत्र रसायन जैसे रम-सिन्दूर या स्वर्ग-सिन्दूर भी मिलाया जा सकता है ।

३. वसन्त साल्पती—मुवर्ण भस्म या सोने के बरक १ तोला, मोती की पिष्टि २ तोला, शुद्ध द्विगुल ३ तोला, काली मिर्च का कपटछन चूर्ण ४ तोला, शुद्ध कपरिंग या जसद भस्म ८ तोला । गात्र के द्वय या छाछ से (२ तोले द्वय में निकाले) एक दिन तक मर्दन करे । फिर कागजी नीबू के रस की भावना तब तक दे जब तक उसकी चिकनई न दूर हो जावे । सामान्यतः मक्खन की चिकनई दूर करने के लिये लगभग १०० निम्बूयों की आवश्यकता होती है । फिर १-२ रत्ती की गोली बना ले । मात्रा १-२ गोली प्रातः नाय त्रिप्ली चूर्ण २ रत्ती मधु या घृत के साथ । यह योग जीर्ण ज्वर, राजयदमा तथा ज्वर दीर्घत्व में लाभदायक है ।

४. पुटपक विषमज्वरान्तक लौह—प्रबल पारद एवं गंधक १-१ तोला लेकर कज्जली करे । फिर इसको पपटी बनावे । पीछे खरल कर मर्दन करे । फिर नृपन चूर्ण होने पर उसमें मुवर्ण भस्म १ तोला, लौह भस्म २ तोला, ताम्र एवं लौह भस्म प्रत्येक २ तोला, शुद्ध मोहागा, शुद्ध मोना गेरु, वंग भस्म, त्रवाल भस्म प्रत्येक ३ तोला, मुक्ताणिष्टि, जंल भस्म और शुक्ति भस्म प्रत्येक १ तोला । मधु को एकत्र करके सम्मानु की पत्ती, बतुरे की पत्ती एवं कालमेव की पत्ती के स्वर्ण में एक-एक दिन तक भावित करके द्रव्य को सीपी के दो टुकड़ों के भीतर सज्जुट करके उसके ऊपर कपटछिन्दी कर निर्धूम अङ्गार (निर्धूम बरछे की लौ) पर पाक करे । जब वे लाल हो जावें तो आग से

निकाल कर ठडा करे । सम्पुट को खोल कर द्रव्य को पीस कर रख ले । मात्रा १-२ रत्ती अनुपान—भनेजीरे का चूर्ण १ माशा और मधु । जीर्ण ज्वर, पाण्डु रोग, प्रमेह में लाभप्रद । यह बल्य एव रसायन योग है ।

५ अपूर्व मालिनी वसन्त—(प्रमेहाधिकार) जीर्ण ज्वर में यह भी एक लाभप्रद योग है ।

जीर्ण ज्वर में व्यवस्था पत्र—स्वर्ण वसन्त मालती १-२ रत्ती, शिला-जत्वादि या चदनादि या यक्ष्मादि या सर्वज्वरहर लौह ३ रत्ती, त्रिवर्ग भस्म १-२ रत्ती, प्रवाल १-२ रत्ती, शृङ्ग भस्म १-२ रत्ती, गुडूची सत्त्व १-२ माशा, सितोपलादि चूर्ण ३-४ माशे मिलाकर पीस कर तीन मात्रा बनाले, अनुपान—घृत और मधु या केवल मधु, दिन में तीन बार । द्राक्षारिष्ट, अश्वगधारिष्ट, बलारिष्ट या दशमूलारिष्ट भोजन के बाद २ चम्मच दवा एव बराबर पानी मिला कर । चन्द्रप्रभावटी (अर्श या प्रमेहाधिकार) १ गोली रात में सोते वक्त दूध से । चदनबलालाक्षादि तैल, लाक्षादि तैल या महालाक्षादि तैल का पूरे शरीर पर अभ्यग कराना चाहिये । मिर पर हिमाशु तैल का अभ्यग कराना चाहिये । इस व्यवस्था से सभी जीर्ण ज्वरों में विशेषतः राजयक्ष्मा के ज्वरों में सुन्दर लाभ देखने को मिलना है ।



पष्ठ अध्याय

ज्वरातिसार प्रतिषेध

“यदि पित्तज ज्वर में अतिसार हो जाय अथवा अतिसार के रोगी में ज्वर हो जाय ऐसी अवस्था में दोष और दूष्य (पित्त दोष, पित्तरूप अग्नि दूष्य) इन दोनों के समान होने के कारण आयुर्वेदजो ने इस रोग को ज्वरातिसार की सजा दी है ।”^१ ज्वरातिसार में ज्वर और पुरीष का अतिसरण ये दो ही प्रमुख लक्षण पाये जाते हैं । इन दोनों की उत्पत्ति में आम दोष ही कारण के रूप में होता है । यह आम दोष अग्नि का विनाश करके ज्वरातिसार रोग पैदा करता है ।

ज्वरातिसार की उत्पत्ति में पित्त का प्रकोप होना प्रधान कारण माना गया है और उसीसे आम दोष की वृद्धि हो कर रोग पैदा होता है । ऐसी अवस्था में शका यह होती है कि पित्त साक्षाद् अग्नि स्वरूप है और आग्नेय गुण से युक्त होना है तो उसका वृद्धि से अग्निनाश क्यों कर होता है तथा आमदोषता रस में कैसे आ सकती है ? इस शका का समाधान यह है कि पित्त आग्नेयगुणभूयिष्ठ होते

१ पित्तज्वरे पित्तभवेऽतिसारे तथाऽतिसारे यदि वा ज्वर स्यात् । दोषस्य दूष्यस्य च साम्यभावात् ज्वरातिसार कथित भिपग्निः ॥

हुए भी ठव स्वरूप का होता है अस्तु वह अग्नि का नाश कर कर देता है । जैसे ठव स्वरूप प्रतप्त जल अत्युष्ण होने से अग्नि पर छोड़े जाने पर अग्नि को बुझा देता है । अब इस बड़े पित्त में पाचकाग्नि मंद पड़ जाती है या बुझ जाती है । फलतः आम दोष बढ़ता है और ज्वरातिमार उत्पन्न हो जाता है । अस्तु चिकित्सा में लंघन-पाचन का कर्म श्रेष्ठ रहता है ।

क्रिया क्रम—१ ज्वरातिसार में प्रारंभ में लंघन और पाचन आम दोषों की प्रवृत्ति को कम करने के लिये करना चाहिये । २ ज्वर और अतिमार की जो भिन्न भिन्न चिकित्सा कही गई है उन्हीं दोनों क्रियाक्रमों के मिलित योगों का ज्वरातिसार की चिकित्सा में प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि मिलित उपक्रम प्रायः एक दूसरे के विरुद्ध पड़ते हैं और रोग को बढ़ा देते हैं । जैसे, प्रायः ज्वर-हर औषधियाँ भेदक होती हैं फलतः ज्वरातिमार के रोगी में प्रयुक्त होकर अतिमार को बढ़ा देंगी और अतिमार रोग में पलित औषधियाँ प्रायः ग्राही या स्तम्भक होती हैं जो ज्वरातिमार में प्रयुक्त होकर अतिसार का निग्रह करके ज्वर को बढ़ा देंगी । अस्तु ज्वरातिसार की चिकित्सा में विविध उपक्रमों को लेकर चलना पड़ता है । जिसमें ज्वर तथा अतिमार दोनों के लक्षणों का साथ साथ ध्यान होता चले । १ मज्जर प्रवाहिका में भी ज्वरातिसारवत् ही क्रियाक्रम रखना चाहिये ।

३ पेया—लंघन करने के पश्चात् ज्वरातिसार में पेयादि का क्रम हितकारी होता है । अतः पृथग्शी, बला, वित्र के फटका गूदा, मोठ, कमल पत्र, धनिर्या इनको समभाग में लेकर एक तोला की मात्रा में लेकर बर्तन में तोले पानी में पकाकर आधा औंस रहने पर उतार कर छान ले । फिर इस पानी में धान्य लाज या तण्डुल का कण डाल कर पेया बना कर उनमें थोड़ा अनार का रस या (अनारदाने का रस) मिलाकर रोगी को पीने को दे ।

४ नागरादि कपाय—नागर (गुठो), अतीम, मुस्तक, अमृता, चिरागना, कुटज की छाल का कपाय—ज्वरातिसार का घामक होता है ।

५ इन्द्रप्रव, देवदान, कुटकी और गज-पीपल अथवा गोक्षुर, पिप्पली, धान्यक, बैंग की मज्जा, पाठा, तथा अजवायन का क्वाथ—ज्वरातिसार एवं दाह का घामक होता है ।

१. ज्वरातिसारिणामादौ कुर्यात् लङ्घनपाचने । प्रायेस्तावामसम्बन्धं विना न भवतो यत ॥ ज्वरातिसारिणा प्रोक्तं भेषजं यत् पृथक्-पृथक् । न तन्मिलितयोः कार्यमन्योऽन्यं वर्धयेच्चत ॥ प्रायो ज्वरहरं भेदि स्तम्भनं अतिमारनुत् । अतोऽन्योऽन्यविरुद्धत्वाद् वर्धनं तन् परस्परम् ॥ ज्वरातिमारं पेयादिक्रमं स्यात्लङ्घिते हितः ।

६ कलिङ्गादि गुटिका—इन्द्रजव, नीम की छाल, वेल के फल की गूदी, वाम की गुठली, वैथ का गूदा, रसाञ्जन, लाक्षा, हरिद्रा, दासहरिद्रा, नेत्रवाला, कायफर, मोना पाठा, लोव, मोचरस, शख भस्म, धाय का पुष्प, बटाङ्कुर इन द्रव्यों को मम परिमाण में लेकर तण्डुलोदक में पीस कर ३ माशे की गुटिका बना कर छाया में सुखाकर रख ले। जल से १-१ गोली दिन में तीन बार या चार बार दे तो ज्वरातिसार तथा रक्तस्राव में लाभप्रद होता है।

रसयोग चिकित्सा—सिद्ध प्राणेश्वर रस —शुद्ध गन्धक ४ भाग, पारद ४ भाग, अन्नक भस्म ४ भाग, मज्जिधार १ भाग, शुद्ध टकण १ भाग, यवक्षार, १ भाग, मन्थव लवण १ भाग, रुचक लवण १ भाग, विड्मलवण १ भाग, औद्धिद लवण १ भाग, सामुद्रलवण १ भाग, हरीतकी, विभीतक, आमलकी, शुठो, मरिच, पिप्पली, श्वेत जीरा, स्याह जीरा, चित्रक की जड़, यमानी, घृतभजित हींग, वायविडङ्ग, विजैसार और सौंफ में से प्रत्येक एक एक भाग। मात्रा— ४ रत्ती में १ माशे। अनुपान—पान के रस के साथ।

कनकसुन्दर रस—हिंगुल, मरिच, गन्धक, टकण, पिप्पली, वत्सनाभ।

धतूर का बीज—समपरिमाण में लेकर विजया-स्वरस में भावित कर २ रत्ती की गोली निर्माण करे। अनुपान—भृष्ट जीरक + मधु।

आनन्दभैरव रस—शुद्ध हिंगुल, वत्सनाभ, सौंठ, मरिच, पिप्पली, शुद्ध टकण, गन्धक। इन्हें मम भाग ले। प्रथम हिंगुल एवं गन्धक की कज्जली बनाकर शेष द्रव्यों को मिला दे। जम्बीरी नीबू के रस से भावित कर १-२ रत्ती की गोली बना ले। छाया में सुखाकर शीशी में रख ले। अनुपान—अदरक के रस और मधु से या भुनाजीरा के चूर्ण और मधु में।

ज्वरातिसार में उपवास करना अधिक उत्तम रहता है तथापि पाचनार्थ एवं पोषणार्थ पथ्य—पूर्वकथित पेया का उपयोग करे। वाल्मीवाटर नमकीन बनाकर नीबू का रस डाल कर पिलावे। अनार या वेदाने का रस पिलावे। बकरी का दूध पीने को दे।



सप्तम अध्याय

अतिसार प्रतिपेध

अग्निमाद्य होने से बड़े हुए द्रव धातु से युक्त मल वायु से प्रेरित होकर जब गुदामार्ग से बार बार निकलता है तो उसे अतिसार कहते हैं। यह कारण

भेद ने वातिक, पैत्तिक, श्लेष्मज, त्रिदोषज, शोकज और आमज छ प्रकार का होता है ।

क्रियाक्रम—अतिसार की चिकित्सा में सर्वप्रथम विचार यह करना होता है कि इसमें आमदोष युक्त है या पक्व । अस्तु चिकित्सक के लिए दोनों प्रकार के लक्षण एवं चिह्नों में अवगत होना आवश्यक होता है क्योंकि दोनों अवस्थाओं में क्रियाक्रम का पर्याप्त भेद करना पड़ता है । जैसे, आमातिमार की अवस्था में स्तम्भन या ग्राही योगों को नहीं दिया जाता है, केवल लंघन और पाचन प्रभृति उपचारों से ठीक करना पड़ता है, परन्तु पक्वातिमार की अवस्था में रोगी में मग्राही औषधि का योग आवश्यक हो जाता है । अतएव सर्वप्रथम आम और पक्व की जानकारी आवश्यक हो जाती है ।

आम और पक्व शब्द एक पारिभाषिक अर्थ में शास्त्र व्यवहृत होता है । अतिमार में आमावस्था अतस्यविष (Internal toxins) के अर्थ में और पक्वावस्था निर्गत अतस्य विष के अर्थ में प्रयुक्त होता है । तथापि आम और निराम के विनिश्चय के लिये कुछ लक्षण तथा चिह्न निर्धारित हैं । जैसे—

अतिसार में आम तथा पक्व मल का भेद—१ आमदोष युक्त विष्टा गुरु होने के कारण जल में डालने से डूब जाती है तथा पक्वातिमार या पक्व-मल युक्त अतिमार में मल के परिपक्व होने की वजह से लघु होने से जल में डालने से उसपर तैरती है । परन्तु कई बार आम दोष युक्त मल में भी जलीयाय अविक होने से वह जल में मिलकर तैरता है और पक्व मल अधिक कफ युक्त, शीत, और घना होने के कारण पानी में डूब जाता है । इसलिये लक्षण के अनुसार भी आम-पक्व की परीक्षा कर लेनी चाहिये । जैसे—
२ अतिमार की आमावस्था में जो पुरीष निकलता है उसमें अत्यन्त दुर्गन्ध होती है, उदर में आटोप (गुड गुड शब्द होता है, पेट फूला आध्मान युक्त) रहता है, पेट में अग्नि (मुई चुभोने जैसी वेदना), हृल्लास और कफ का मुख से स्राव प्रभृति लक्षण मिलते हैं । इन लक्षणों के अभाव में या विपरीत लक्षणों की उपस्थिति में निरामता या पक्वता समझनी चाहिये ।^१

१ आमपक्वक्रम हित्वा नातिमारे क्रिया यत् । अतः सर्वातिसारेषु ज्ञेयं पक्वाम-
लक्षणम् ॥ मज्जित्यामं गुरुत्वाद्विष्टं पक्वा तूलवते जले । विनातिद्रवसंधानशेत्य-
श्लेष्मप्रद्रूपगात् ॥ गच्छद् दुर्गन्धि नाटोपविष्टं भात्तिप्रमेकिन । विपरीतं निरामं तु
कफात् पक्वं च मज्जति ॥

वस्तुन शरीर में किसी भी प्रकार की विषमयता (toxaemia) के उत्पन्न होने पर उसको दूर करने के लिये अतिसार एक प्राकृतिक साधन है । पतले दस्त होने से शरीर से बहुत प्रकार के विष निकल जाते हैं, शरीर का शोधन हो जाता है । इसको प्रारम्भ में ही बढ़ कर देने से या अतिसार के रोकने से शरीर के भीतर आम दोष या अन्तस्थ विष अधिक मात्रा में बढ़ कर शोथ, पाण्डु, प्लीहा, कुष्ठ, गुल्म ज्वर, दण्डक, अलमक, आध्मान, ग्रहणी और अर्श प्रभृति बहुत से रोग या उपद्रव को पैदा करता है, अस्तु प्रारम्भ में अर्थात् आमदोष की दशा में अतिसार का स्तम्भन नहीं करना चाहिये । परन्तु शरीर के आम या अन्तस्थ विष के निकल जाने के अनन्तर ग्राही औषधियों का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है क्योंकि अतिमार में मल के निकलने के साथ ही साथ द्रव धातु (जल), लवण और चार धातु का भी सरण होता है । जिसके परिणाम स्वरूप जलाल्पता या द्रवधातुक्षय (Dehydration) हो कर रोगी की मृत्यु हो जाती है । अस्तु पक्व अतिसार में पुरोपसग्रहणीय या स्तम्भक औषधियों का योग कर यथाशीघ्र पतले दस्त को बढ़ कर देना चाहिये ।^१

कई बार अतिसार के प्रवृत्त होने पर द्रव-धातु-क्षय से रक्षा करने के निमित्त तथा रोगी के प्राण रक्षार्थ आमावस्था में भी अतिसार का स्तम्भन आवश्यक हो जाता है । अस्तु रोगी की धातु की दशा तथा बल देखते हुए यदि अतिसार बड़ा प्रवृत्त हो तो दो-तीन दस्त के बाद ही उसकी आमावस्था में भी ग्राही भेषजों का प्रयोग शास्त्र सम्मत है ।^२

अत्यन्त क्षीण धातु और बल वाले रोगियों में अतिसार के स्तम्भन के लिये ही औषधि देनी चाहिये, उसके लिये लघु और पाचन आदि क्रमों की प्रतीक्षा नहीं चाहिये ।

आमातिसार—१ प्रारम्भ में लघन एवं पाचन करना, पश्चात् स्तम्भन करना चाहिये । पथ्य में प्रद्रव और लघु भोजन देना चाहिये । रोगी बलवान्

१ न तु सग्रहण दद्यात् पूर्वमामातिसारिणे । दोषा ह्यादौ रुद्धयमाना जनयन्त्यामयान् बहून् ॥ शोथपाण्ड्वामयप्लीहकुष्ठगुल्मोदरज्वरान् । दण्डकालसकाध्मानग्रहण्यर्शोर्गदास्तथा । पाकोऽसकृदतीसारो । ग्रहणीमार्दवाद्यथा । प्रवर्तते तदा कार्यं क्षिप्रं साग्राहिको विधिः ॥

२ क्षीणधातुबलार्त्तस्य बहुदोषोऽतिनि सृत् । आमोऽपि स्तम्भनीयः स्यात् पाचनान्मरण भवेत् ॥

हो तो लघन बड़ा ही उत्तम होता है । उसी ने उसके बड़े हुए दोष का शमन और आम का पाचन भी हो जाता है ।^१

२ जल प्रयोग—अतिसार में कच्चा ठंडा जल देना ठीक नहीं रहता, अस्तु उसको औषधिशृत जल देना चाहिये । अत एव मुगंधवाला तथा शुंठी या मुस्तक तथा पर्पट या नागरमोथा तथा सुगंध वाला के योग से सस्कृत अर्थात् पडङ्गपानीय विधि में बनाया जल पीने को देना चाहिये । इसके अभाव में साँफ का अर्क, पुदीने का अर्क या जेवायन का अर्क बीच-बीच में तृपा की शान्ति के लिये देना चाहिये ।^२

३ शालपर्णीदि पडङ्गपानीय—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कंटकारी, बला, गोक्षुर, विल्व, पाठा और मोठ इन द्रव्यों को समपरिमाण में मिला कर पडङ्गपानीय विधि से कपाय बना कर रख ले । तृपा में रोगी को पीने को दे । फिर इसी कपाय में मण्ड, पेया और यवागू आदि पथ्य सिद्ध करके रोगी को पथ्य के रूप में अन्न काल में देना चाहिये ।

४ लघन एक दो वक्ता तक कराके रागी को पीने के लिये उपर्युक्त कपायो में मित्र मण्ड, पेया, विलेपी, यवागू प्रभृति पथ्य समय से क्षुधा लगने पर भोजन के काल में देना चाहिये । अतिसार के रोगियों मसूर की दाल (यूप) सर्वोत्तम पथ्य माना गया है । इसी प्रकार धान्य लाज के सत्तू का प्रयोग भी उपर्युक्त कपाय में घोल कर मिश्री मिलाकर या सेंधा नमक मिला कर अतिसार में हितकर माना गया है ।^३

१ आमे विलघन शस्तमादौ पाचनमेव च । कार्यं चान्नगनस्यान्ते प्रद्रवं लघु भोजनम् ॥

२ ह्येवैरशृङ्गवेराम्या मुस्तपर्पटकेन वा । मुस्तोदीच्यशृत तोय देयं वापि पिपासवे ॥

३ युक्तेऽन्नकाले क्षुत्क्षाम लघून्यन्नानि भोजयेत् ।

औषधसिद्धा पेया लाजाना शक्तवोऽतिसारहिता ।

वस्त्रप्रक्षुत्तमण्ड पेया च मसूरयूपश्च ।

शालपर्णी पृश्निपर्णी बृहती कण्टकारिका ।

बलाश्वद्रष्ट्राविल्वानि पाठानागरधान्यकम् ।

एतदाहारसंयोगे हितं सर्वातिसारिणाम् ।

धान्यक नागर मुस्त वालकं विल्वमेव च ॥

आमशूलद्विदन्वच्चं पाचनं वह्निदीपनम् ।

इदं धान्यचतुष्कं स्यात् पौष्टे शुण्ठी विना पुनः । (भै. र.)

५ पाचन के लिये कई व्वाथो का प्रयोग उत्तम रहता है—जैसे नागरादि व्वाथ-गुठी, अतीस, मुस्तक अथवा धान्यक और सोठ से बने कपाय का योग नये शूल युक्त अतिसार में लाभप्रद रहता है । धान्यपचक या धान्यचतुष्क-कपाय-धान्यक, गुण्ठी, मुस्तक, नेत्रवाला, त्रिलवमज्जा इन पाव द्रव्यों का व्वाथ धान्य-पञ्चक कहलाता है । यह आमानिसार में आम का पाचक, विवध को नष्ट करने वाला, शूल का शामक तथा पाचकाग्नि को दीप्त करने वाला होता है । धान्यपचक में से गुठी को निकाल कर शेष चार द्रव्यों से बने कपाय को धान्य चतुष्क कहते हैं । इसका प्रयोग पित्तातिसार में अधिक लाभप्रद होता है । वत्सकाटि कपाय—इन्द्रयव, अतिविषा, बिल्व, सुगंध वाला, गुण्ठी, मुस्तक का बना कपाय आमयुक्त, शूलयुक्त अतिसार, रक्तातिसार तथा जीर्ण अतिसार या प्रवाहिका में लाभप्रद होता है ।^१

दोपानुसार व्यवस्था—अतिसार में स्तम्भन के लिये कुटजादि कपाय—इन्द्रयव, दाडिम फल के छिलके, मोथा, धाय के फूल, बेल की मज्जा, नेत्रवाला, लोध्र, रक्त चंदन एवं पाठा का कपाय अतिसार तथा रक्तातिसार को बंद करता है । यदि अतिसार में वायु की अधिकता हो तो वच, अतीस, मुस्तक, इन्द्र जी और कुटज की छाल का कपाय (वातातिसार में वचादि व्वाथ), यदि पित्त की अधिकता हो तो किरात, इन्द्रयव और रसाञ्जन का व्वाथ मधु मिला कर अथवा अतीस, कुटज की छाल, इन्द्रयव का समपरिमाण में चूर्ण बनाकर चावल के पानी और मधु के साथ (पित्तातिसार में किराततिकादि कपाय या अतिविषादि चूर्ण) और श्लेष्मा की अधिकता हो तो घृतभृष्ट हिगु, कालानमक, त्रिकटु, अतिविषा और मुस्तक का कपाय बना कर इन्हीं द्रव्यों के चूर्ण का उष्ण जल से (श्लेष्मातिसार में) हिग्वादि चूर्ण का प्रयोग करना चाहिये । अतिसार में यदि दो दो दोषों का मसर्ग पाया जावे तो द्विदोषशामक ओषधियों का योग करके चिकित्सा करनी चाहिये ।

पुटपाक प्रयोग—दोषों का भले प्रकार से पाक हो जाने पर, वेदना के कम हो जाने पर, दीप्त अग्निवाले मनुष्य के लिये, चिरकालीन अतिसार के रोगों में पुट-पाक सिद्ध ओषधियों का उपयोग करना चाहिये । जैसे कुटज पुटपाक या स्योनाक पुटपाक या दाडिम पुटपाक । यहां पर एक कुटज पुटपाक का विधान दिया जा रहा है—‘स्निग्ध और स्थूल कृमि आदि से अभक्षित को ताजी और गीली

१ सवत्सक सातिविष सविल्व सोदीच्यमुस्तश्च कृत कपाय ।

सामे सशूले च सशोणिते च चिरप्रवृत्तेऽपि हितोऽतिसारे ॥ (भै. र.)

लेकर छोटे-छोटे टुकड़े करके तण्डुलोदक में पीसकर करक (लुगदी) के रूप में बना ले । पश्चात् इमका गोला कर उसके ऊपर में जामुन पत्र या पलाय पत्रों का आवरण लगा कर कुश में बाँध दे । फिर उसके ऊपर चिकनी मिट्टी का प्रानी में पंक बनाकर, दो अंगुल मोटा लेप करके अग्नि के अगारो में रख दे । जब पक कर ऊपर की मिट्टी लाल रंग की हो जाय तो बाहर निकाले और ऊपर का वेष्टन हटा कर कल्क का रस निकाल कर इम रस में मधु मिला कर अनिसार में पीड़ित रोगी को पिलावे । मात्रा ४ तोले दिन में एक या दो बार । इसी विधि से न्योनाक या दाडिम के फलों का भी पुटपाक-स्वर्ग निकाला जा सकता है ।

कुटजावलेह या कुटजाष्टक का प्रयोग भी उत्तम रहता है । कुटज की छाल का काड़ा बनाकर उसमें मोचरस, पाठा, मजीठ या लज्जानु के बीज, अतीम, नागर-मोथा, कच्चे त्रिवृफल की मज्जा, घाय का फूल महीन कर बराबर परिमाण में ढालकर मिलाकर गाढ़ा कर लेना चाहिये । इस योग को $\frac{1}{2}$ से २ तोले की मात्रा में दिन में दो या तीन बार चावल के मण्ड, बकरी के दूध या शीतल जल से पीने से विविध प्रकार का अतिमार अच्छा होता है ।

छागी दुग्ध—जीर्णातिसार में बकरी का दूध बड़ा लाभप्रद होता है । दूध का प्रयोग या तो औषधि से मिट्ट करके या केवल तीन गुने जल में उवाले कर दूध मात्र शेष होने पर पिलाना चाहिये ।

भय-शोकातिसार—भय और शोक के कारण उत्पन्न अतिमार में वानाति-सारवत् चिकित्सा करनी चाहिये । सर्वप्रथम इन रोगियों में हर्षण (हर्षोत्पादन) तथा आश्वासन (नान्त्वना देना) प्रभृति उपचारों से मन को प्रमन्न करना चाहिये । पश्चात् वातातिसारवत् चिकित्सा करनी चाहिये ।

पृश्निपर्ण्यादि कपाय—पृश्निपर्णी, बला, त्रिवृ, घान्यक, उत्पल, मोठ, वायविडङ्ग, अतीस, नागरमोथा ।

देवदारु, पाठा इन्द्रजी—इन द्रव्यों के क्वाथ में मरिच के चूर्ण का प्रक्षेप टालकर पिलाना ।

रक्तातिसार प्रतिषेध—१ त्रिवृ-मज्जा (आग में भुने बेल या उवाले बेल की मज्जा) और पुराने गुड़ का सेवन ।

२ गाल की छाल, बेर की छाल, जामुन की छाल, पियाल की छाल, आम की छाल या अर्जुन की छाल में से किसी एक का ६ मासे चूर्ण लेकर मधु में मिलाकर दुग्ध के साथ सेवन ।

३ लालचंदन का चूर्ण ६ मासे चीनी और शहद मिलाकर चावल के पानी के साथ सेवन ।

४ दाडिम के फलका छिल्का तथा कुटजत्वक् का कषाय मधु और चीनी के साथ सेवन ।

५ जम्बु, आम्र, आमलकी का स्वरस निकालकर शहद मिलाकर दूध से प्रयोग ।

६ बकरी के दूध में पकाये कच्चे वेल की मज्जा का मोचरस और इन्द्र जी मिलाकर सेवन ।

७ वन तण्डुलीयक का चावल के धोवन के साथ प्रयोग ।

८ शतावरी का दूध के साथ सेवन ।

९ कुटजत्वक् कषाय में अतीस मिलाकर सेवन ।

१० कृष्ण तिल के चूर्ण में चतुर्थांश शर्करा मिलाकर बकरी के दूध के साथ

✓ ११ विल्वदि चूर्ण—विल्व, मस्तकी, घाय के फूल, पाठा, शुण्ठी, मोचरस-गुड और तक्र के साथ सेवन । दुर्जय अतिसार का भी शमन करता है ।

१२ वटाङ्गुर या वट—प्ररोह का तण्डुलोदक के साथ सेवन ।

१३ अकोठ मूल (ढेरा) ६ माशे का चावल के धोवन के साथ सेवन । नवीन या पुराने रक्तातिसार में सद्यः लाभप्रद होता है ।

✓ १४ विशल्यकरणी (अयापान) या कुकुरद्रु (कुकरीधा) का स्वरस या कषाय सद्यः रक्तस्तम्भक होता है । रक्तातिसार रक्त प्रवाहिका, रक्तार्श, रक्त प्रदर रक्त तथा अतिसार में इसके स्वरस या कषाय का प्रयोग करे । श्वेत कुकरीधा अधिक श्रेष्ठ होता है ।

१५ नागकेसर या केसर का मक्खन या शहद के साथ सेवन रक्तस्तम्भक होता है ।

१६ रसाञ्जनादि चूर्ण, रसाञ्जन, इन्द्रियव, अतीस, कुटज कीछाल, धातकी पुष्प और शुठी का सम परिमाण में लेकर बनाया चूर्ण । मात्रा, ३ माशे । अनुपान, तण्डुलोदक और मधु । रक्तातिसार तथा अतिसार में लाभप्रद ।

उपद्रवों की चिकित्सा—गुददाह—बारबार पुरीष त्याग करने से गुद के श्लेष्मलकला व्रणित या विदार युक्त हो जाती है । जिससे रोगी को शौच-त्याग में वेदना और दाह होता है । एनर्थ १ पटोल और मुलैठी का कषाद बनाकर उसमें अजाक्षीर मिलाकर प्रचालन तथा २. गुदवर्त्ति घतूरे की जड़, इन्द्रजौ और अफीम सम-परिमाण में लेकर दो रत्ती की मात्रा में वर्त्ति बनाकर गुदा में धारण करना लाभप्रद होता है ।

गुदभृंश—वाङ्गरीघृत (चर) तिन पतिया के स्वरस से सिद्ध गोघृत का सेवन । मात्रा १ से २ तोले बकरी के दूध में डालकर । मृषिक तैल (सु) का स्थानिक प्रयोग भी उत्तम होता है ।

मूच्छा तथा तृपा के उपद्रव में—जामुन, आम के पल्लव या छाल (ऐसे पेड़ जिनमें फूल और फल न आये हो) । उगीर, वटाङ्कुर, प्रियङ्गु, मुस्तक, पटोल पत्र और वान्यक के योग से बने कपाय का मधु के साथ सेवन ।

अतिसार में नाभि प्रलेप—कई बार उदर और नाभि प्रदेश पर लेप करने से अतिसार में शमन होते देखा गया है । अतिसार की तीव्र अवस्था में अन्य भेषजों के साथ या स्वतंत्रतया भी इन लेपों का प्रयोग किया जा सकता है । ये बड़े अद्भुत और इष्ट फल योग हैं । जैसे—

१ नाभि के चारों ओर आमकी के कल्क को एक क्यारी बनाकर उसमें अदरक का स्वरस भर देना ।

२. जायफल को घिसकर लेप करना पूरे उदर विशेषतः नाभि पर । यह प्रयोग वालको में बड़ा लाभप्रद होता है ।

३ आम की छाल को काजी से पीसकर नाभि पर लेप करना ।

यह अफीम एवं भाग रहित उत्तम पाचक ग्राही योग है । जहाँ पर भांग और अफीम युक्त योगों से लाभ न हो इनका प्रयोग करना चाहिये ।

कपूरादि वटी—कपूर, शुद्ध अफीम, नागरमोथा, मेका हुआ इन्द्र जी, जायफल, शुद्ध हिंगुल, और शुद्ध टकण । प्रथम हिंगुल, अफीम और कपूर को जल से मर्दन करे । फिर अन्य औषधियों का सूक्ष्म कपड़छान चूर्ण मिलावे । तीन घंटे तक जल से मर्दन करके २-२ रत्ती की गोलियाँ बना ले । मात्रा-१-२ गोली । अनुपान—जल या चावल के पानी के साथ यह तीव्र ग्राही योग है । अतिसार में सद्यः स्तब्ध के लिये इसका उपयोग करना चाहिये ।

अगस्ति सूतराज—शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गंधक १ तोला, शुद्ध हिंगुल २ तोला, शुद्ध घृतूर का बीज ४ तोला, शुद्ध अफीम ४ तोला । भृंगराज स्वरस के साथ भावित कर २-२ रत्ती की गोली बना ले । त्रिकटु चूर्ण ४ रत्ती और मधु मिला कर १-२ गोली का दिन में दो-तीन बार प्रयोग करे । सब प्रकार के वमन, शूल एवं अतिसार में लाभप्रद रहता है । काली मिर्च ४ रत्ती और घी १ तोला के अनुपान से प्रवाहिका में उत्तम कार्य करता है । इसका स्वतंत्र या निम्नलिखित व्यवस्थापत्र के अनुसार मिश्रण बना कर अतिसार तथा प्रवाहिका में उपयोग करना लाभप्रद पाया जाता है —

रामबाण रस	४ २०
महागंधक	४ २०
शंखभस्म	२ २०
वराट भस्म	२ २०
अगस्ति सूतराज	४ २०

विश्व ४ मात्रा—मरिच ४ र० और मधु ६ माशे के साथ ।

जातिफलाद्यावटी—पारद और गंधक की कज्जली से रहित, परन्तु धतूर एव अहिफेन युक्त योग है । शूलयुक्त अतिसारप्रवाहिका तथा ग्रहणी मे लाभप्रद रहता है । योग—जायफल, शुद्ध टकण, अन्नक भस्म, धतूर के बीज सभी द्रव्य समान और धतूर द्विगुण अहिफेन (शुद्ध) सबको एकत्र महीन पीस कर गंधप्रसारणी स्वरस की भावना । मात्रा ३ रत्ती । मधु से ।

ग्रहणी रोग प्रतिषेध

व्याख्या—पचन सस्थान के विकारो मे एक अन्यतम या प्रधान विकार ग्रहणी रोग है । वास्तव मे पचन सस्थान मे दो ही प्रमुख अंग पाये जाते हैं । एक वे जिनका सम्बन्ध खाये हुए अन्न का ठीक प्रकार से पाचन से है, दूसरे वे अंग जिनका सम्बन्ध सम्पाचित अन्न रस का सम्यक् रीति से शोषण करना है । इस प्रकार पूरे पाचन सस्थान मे दो ही क्रियाओ का समावेश होता है । १ पाचन (Digestion) २ शोषण (Absorption) ।

अनुभव बतलाता है कि सर्वप्रथम पचने की क्रिया ही दूषित होती है । इसके दूषित होने से विविध प्रकार के अजीर्ण (Dyspepsia) अग्निमाद्य प्रवाहिका, आमातिसार, अतिसार प्रभृति रोग होते हैं । ये रोग यदि अधिक दिनों तक चलते रहे और उनका सम्यक् रीति से उपचार न हो तो ये दूसरे पाचन अवयवो को भी दूषित कर देते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि अन्न रस का शोषण ठीक रीति से नहीं हो पाता है । इस शोषण के अवयवो मे ग्रहणी एक प्रधान अवयव है जब इस अवयव की दुष्टि हो जाती है तो रोग को ग्रहणी रोग कहते हैं । ग्रहणी कहने से पक्वाशय (Duodenum), लघ्वन्न तथा बृहदन्न का ग्रहण समझना चाहिये । इन अवयवो की दुष्टिसे तद् तद् अंगो की क्रिया भी दूषित हो जाती है ।

इसी लिये गास्त्रिकारो ने बताया है कि अतिसार अथवा प्रवाहिका के ठीक हो जाने पर भी रोगी की अग्नि मंद हो जाती है—इस मन्दाग्नि के काल मे रोगी को पथ्य और लघु भोजन प्रभृति आहार-विहार के ऊपर रहना चाहिये । अगर अतिसार या प्रवाहिका से निवृत्त रोगी ने अपने पथ्यादि की व्यवस्था ठीक नहीं रखी तो विपमाग्नि पैदा हो जाती है—जिसमे कदाचित् सम्यक् पाक हो जाता है और कई बार ठीक पाक नहीं होता है पुन इस विपमाग्नि का परिणाम ग्रहणी रोग पैदा होना होता है । कहने का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण प्रकार से पचनसम्बन्धी रोग का अंतिम परिणाम ग्रहणी रोग है । इस अवस्था मे रोगी के पचन तथा शोषण की दोनों क्रियायें ही विकृत हो जाती है । फलतः

—रोग कष्टसाध्य हो जाता है। रोग में निवृत्त होने के अनन्तर भी पुनरावृत्ति (Relapses) की संभावना रहती है। अस्तु सम्पूर्ण पचन संस्थान का नवीनीकरण (Over Having) करना ग्रहणी चिकित्सा का लक्ष्य रहता है।

ग्रहणी में चिकित्साक्रम भी दो प्रकार का रखा जाता है—एक वातातपिक (Ambulatory or Outdoor treatment) और दूसरा कुटी प्रावेनिक (Indoor Hospital)। यदि रोग नया हो विकृति बहुत बड़ी हुई न हो तो सामान्य उपचारों में प्रायः रोगी ठीक हो जाता है, परन्तु बहुत बड़े हुए रोग में विविध उपक्रमों में उपचार चिकित्सालय में रख कर कल्प-क्रम से करना होता है।

सामान्य क्रियाक्रम—जैसा कि प्रारंभ में ही बताया जा चुका है कि ग्रहणी वह व्याधि है जिस में पाचन तथा शोषण नामक उभयविध कार्य दूषित हो जाते हैं (A syndrome of Indigestion and Malabsorption) अस्तु ऐसी चिकित्सा जो अजीर्ण (Dyspepsia) को भी ठीक करे साथ ही नाथ अतिसार (Diarrhoea) को संभाले ऐ। उपचार करना अपेक्षित होता है। अस्तु आम तथा निराम दोनों अवस्थाओं का विचार करके चिकित्सा का प्रारंभ करना चाहिये।^१ यदि आम रस की प्रवृत्ति हो तो रोगी का स्नेहन और स्वेदन करके वमन और विरेचन देकर शुद्धि करनी चाहिये। पञ्चात् लंघन, दीपन और पाचन प्रभृतिक्रियाओं में उपचार करना चाहिये। पंचकोल से शृतपेया का सेवन भी कराना चाहिये।

आमावस्था में उपक्रम—आहार के विदग्ध होने से आध्मान, लाला प्रमेह, उदर गूल, गले में जलन, अरुचि और गौरवादि लक्षणों की उपस्थिति से ग्रहणी रोग में आम दोष की विद्यमानता समझना। अस्तु इसके निर्वहण के लिये रोगी का स्नेहन, स्वेदन करके वमन करा देना चाहिये। दो चार वमन हो जाने से आमाशय गत आम दोष निकल जाता है। वमन कराने के लिये मदन फलके कषाय में पिप्पली और सर्पप का कल्क मिलाकर देना चाहिये अथवा केवल गर्म जल और मेघा नमक मिलाकर पिला कर वमन करा देना चाहिये। यदि आम दोष कोष्ठ में लीन हो और पक्वाशय में स्थित हो तो दीपन औषधियों के साथ कुछ रेचक औषधियों को मिला कर कोष्ठ की शुद्धि करा देनी चाहिये। यदि आम दोष

१ ग्रहणीमाश्रितं दोषमजीर्णवदुपाचरेत् । अतीसारोक्तविधिना तस्यामं च विणचयेत् ॥ शरीरानुगते सामे रसे लङ्घनपाचनम् । विगुह्यमाशयायास्मै पंचकोलादिभिश्चर्तम् । दद्यात् पेयादि लघ्वन्त पुनर्योगाच्च दीपनान् ॥

युक्त रस शरीर में व्याप्त हो तो लवण और पाचन औषधियों के द्वारा आम दोष का पाचन करना अपेक्षित रहता है। जब आशय या कोष्ठगत आम दोष निकल जावे तो पचकोल (पिप्पली, पिप्पली मूल, चव्य, चित्रक, नागर) प्रभृति दीपन एवं पाचन औषधियों के क्वाथ, कल्क या प्रक्षेप से सिद्ध पेया, मण्ड, आदि लघु अन्न रोगी को सेवन करना चाहिये।^१

पक्वावस्था में क्रियाक्रम—वात ग्रहणी जब दीपन और पाचन औषधियों के प्रयोग से आम का पाचन हो जावे तो वातिक ग्रहणी में दीपन और पाचन औषधियों से मिद्ध या युक्त गोघृत का प्रयोग करे। जब जाठराग्नि दीप्त हो जावे, तो दो-तीन दिनों तक स्नेहन (घी पिलाकर और तैल का अभ्यग करके) आस्थापन वस्ति, दशमूल कषाय ३२ तोले, सैधव ६ माशे मधु १ तोला और तिल तैल ८ तोले सबको एक मथनी से मथकर और वस्ति यत्र में भर कर गुदा द्वारा देना चाहिये। इसके बाद वायु के शान्त हो जाने पर, मल के ढीला हो जाने पर एरण्ड तैल या क्षार युक्त तैल्वरु घृत (चरक) से विरेचन करना चाहिये। शोथन के बाद कोष्ठ के रुक्ष होने से मल बद्ध होकर गाँठदार हो जाता है अस्तु उसके निकालने के लिये दीपन एवं अम्ल रस युक्त तथा वात नाशक द्रव्यों से सिद्ध तैल का मात्रा में (१२ तोले की ह्रस्व मात्रा नारायण तैल की) अनुवासन वस्ति (Retention Enema) देना चाहिये। इस प्रकार निरुहण, विरेचन तथा अनुवासन के बाद रोगी को दीपन औषधियों से संस्कृत लघु भोजन तथा सिद्ध घृतों के प्रयोग से रोगी को स्वस्थ करना चाहिये।^२

वातिक ग्रहणी के रोगियों में तीव्र विबन्ध और अतिसार पर्यायक्रम से चलते रहते हैं। रोगी दिनों-दिन रुक्ष और क्षीण होता चलता है। अतिसार की चिकित्सा

१ ग्रहणीमाश्रित दोष विदग्धाहारमूर्च्छितम् । सविष्टम्भप्रसेकार्त्तिविदाहारुचिगौरवे । आमलिङ्गान्वित ज्ञात्वा सुखोष्णेनाम्बुना हरेत् । फलानां वा ॥

२ ज्ञात्वा तु परिपक्वाम मास्तग्रहणीगदम् । दीपनीययुत सर्पि पाययेताल्पशो भिषक् ॥ किञ्चित् सधुक्षिते त्वनौ सक्तविण्मूत्रमास्तम् । द्वयह त्र्यह वा सस्नेहय स्विन्नाभ्यक्त निरुहयेत् ॥ तत एरण्डतैलेन सर्पिषा तैल्वकेन वा । सक्षारेणानले शान्तेस्तदोष विरेचयेत् । शुद्ध रूक्षाशय बद्धवर्चस चानुवासयेत् ॥ दीपनीया-म्लवातघ्न सिद्धतैलेन मात्रया ॥ निरुद्ध च विरिक्त च सम्यक् चैवानुवासितम् लव्वन्न प्रतिशुभुक्त सर्पिरभ्यासयेत् पुनः ।

के साथ साथ उनकी कोष्ठगत रक्षता को दूर करने के लिये दीपन तथा पाचन औषधियों ने युक्त घृत का प्रयोग भी आवश्यक रहता है। आन्त्रगत रक्षता को दूर करने के लिये तथा आंत्रों के स्नेहन के लिये सिद्ध घृत, निरुहण एवं अनुवामन प्रभृति उपाय प्राचीनों ने बतलाया है। वातिक ग्रहणी की चिकित्सा करते समय रोगी में गाढपुरीषता की कठिनाई पैदा होती है। गाढविट्कता की वजह से कई बार के छिल जाने से दरारें पड़ जाती हैं। गुदा व्रणयुक्त या विदारयुक्त (Fissures) हो जाती है जिसमें रोगी को न पतले दस्त में ही आराम मिलता है और न गाँठ दार या बँधे मल के निकलने से ही। दोनों अवस्थाओं में रोगी को पुरीष-त्याग में कठिनाई होती है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये एक सरल उपाय 'लिविड पैराफीन' का प्रयोग है। यह एक खनिज तैल है जिसका आत्र की श्लेष्मल कला से गोपण नहीं होता है और न यह किसी पाचन रस को ही विकृत करता है—किसी औषधि के साथ इसका विरोध भी (Incompatibility) फलत नहीं होता है। अस्तु इनका उपयोग ग्रहणी चिकित्सा-काल में वैद्यक औषधियों के साथ भी किया जा सकता है। इसका सर्वोत्तम काल भोजन के पूर्व मुख में एक दो चम्मच भर कर पहले लेना पश्चात् भोजन करना ठीक पड़ता है। इस से आमाशय से लेकर गुद पर्यन्त सम्पूर्ण श्लेष्मल कला का स्नेहन (Oiling) हो जाता है। इन का प्रयोग लगातार एक पक्ष तक करके पश्चात् यथावश्यक कोष्ठ के नियमित हो जाने पर कभी कभी कर लेना चाहिये। घृत और सैन्धव का उष्णोदक से मेवन करना भी एक उत्तम उपाय ग्रहणी को^१ कठिन, गुष्क, रूक्ष या गाढदार मल की अवस्था में पाया गया है।

पित्त-ग्रहणी में क्रियाक्रम—पित्त ग्रहणी में अग्नि के बुझाने वाले द्रवा-शाधिक पित्त को अपने स्थान में स्थित किन्तु उत्कलित जान कर वमन या विरेचन द्वारा निकाले। तथा विदाह न उत्पन्न करने वाले, तिक्त रस युक्त लघु अन्न (पेया, विलेपी आदि) खाने को दे, रोगी की जाठराग्नि दीप्त करने के लिये तिक्त रस प्रदान चूर्ण अथवा तिक्तरसामक द्रव्यों से सिद्ध घृत खिलावे।^२

१ नितान्तदुष्टेर्मरुतो मलं यदा नरो विमुञ्चेत् कठिनं च रुक्षम् । समैन्धवं सर्पिरिहोपधं नदा प्रयोजयेत् तस्य गुभाय वैद्य । (भै र)

२ स्वथानागतमुत्कलितमग्निनिर्वापक मिषक् पित्तं ज्ञात्वा विरेकेण निर्हरेद्वमनेनवा । अविदाहिभिरन्नेञ्च लघुभिस्तिक्तमंयुतैः तस्याग्निदीप्तये चूर्णैः सर्पिर्भवा सतिक्तकैः ॥

कफ ग्रहणी में क्रियाक्रम—कफ से दूषित ग्रहणी में यथाविधि वमन करा के कटु, अम्ल, लवण चार तथा तीक्ष्ण द्रव्यों का सेवन कराके जाठराग्नि दीप्त करे ।^१

त्रिदोष-ग्रहणी-में क्रियाक्रम—त्रिदोषों से दूषित ग्रहणी में विधिपूर्वक पचकर्म कराके दीपन घृत, चार, आसव, अरिष्ट का प्रयोग करे । वातादि ग्रहणी की जो चिकित्सा बतलाई गई है उसे पर्याय क्रम से पृथक् पृथक् अथवा तीनों को मिलाकर दोषों की विशेषता के अनुसार उपचार करे ।^२

सामान्य औषध योग—ग्रहणी में प्रारम्भ में स्नेह, स्वेदन और लघन कराने के पश्चात् जाठराग्नि को दीप्त करने वाले योगों का प्रयोग लाभ करता है—जैसे—पाचन के लिये चूर्ण, लवण प्रधान ओषधियाँ (लवण-भास्कर), क्षार प्रधानयोग, मधु का उपयोग, अरिष्ट, आसव (कुटजारिष्ट, तक्रारिष्ट, मूलासव आदि), जाठराग्नि वर्धक घी (पिप्पल्यादि घृत, पट्पल घृत) तथा तक्र के विविध प्रकार के योगों का सेवनक दोषानुसार यथावश्यक ग्रहणी रोग में करना चाहिये ।^३

ग्रहणा रोग में तक्र प्रयोग—ग्रहणी रोग में तक्र (मट्ठा) ग्राही, दीपन और लघु होने के कारण तथा आन्त्र की शोषण क्रिया को बढ़ाने वाले होने के कारण श्रेष्ठ माना गया है । विपाक में मधुर होने से यह पित्त को कुपित नहीं करता अर्थात् पित्त ग्रहणी में मीठा करके तक्र का सेवन करे । कषाय रस, उष्ण विकासि और रुक्ष होने की वजह से कफ में हितकर होता है अस्तु कफज ग्रहणी में मक्खन निकाला रूखा ही सेवन किया जा सकता है । मधुर, अम्ल और सान्द्र (गाढा) होने से तक्र वातिक ग्रहणी में भी लाभप्रद रहता है । तक्र प्रयोग में ताजा का ही उपयोग करना चाहिये क्योंकि यह विदाह नहीं पैदा करता है । तक्र मीठा, कुछ खट्टापन लिये हुए ताजा और गाढा प्रयोग में लाना चाहिये ।

१ ग्रहण्या श्लेष्मदुष्टाया वमिताय यथाविधि । कट्वम्ल लवणचारै स्तीक्ष्णैश्चाग्नि विवर्धयेत् ।

२ त्रिदोषे विधिवद् वैद्य पञ्चकर्माणि कारयेत्, घृत क्षारासवारिष्टान् दद्याच्चाग्निविवर्धनान् ॥ क्रियावाचानिलादीना निर्दिष्टा ग्रहणी प्रति, व्यत्यसात्ता समस्ता च कुर्याद् दोषविशेषवित् ।

३ तक्रं तु ग्रहणीदोषे दीपन ग्राहि लाघवात् । श्रेष्ठ मधुरपा कित्वान्न च पित्त प्रकोपयेत्, कषायोष्णविकासित्वाद् रौक्ष्याच्चैव कफे मतम् ।

वस्तुतः वात ग्रहणी में बिना मक्खन निकाला (मान्द्र), पित्त ग्रहणी में कुछ मक्खन निकाला (अल्पमान्द्र) और श्लैष्मिक ग्रहणी में पूरा मक्खन निकाला तक्र (असान्द्र) का प्रयोग करना चाहिये, यदि रोगी की पाचन शक्ति अत्यन्त क्षीण हो तो मर्दव मक्खन निकाला ही तक्र प्रयोग में लाना चाहिये। तक्र बनाने के लिये ताजे दही में चतुर्थांश गर्म कर के ठंढा किया जल (शृतशीत जल) मिलाकर मथकर बनाने का विधान है। यदि अधिक लघु करना हो तो उसमें अधिक जलाश भी आवश्यकतानुसार दिया जा सकता है।^१

त्रातिक ग्रहणी में—१ शालपर्णी, बला, वित्त, धान्यक और गुठी का कपाय (शालपर्ण्यादि कपाय)।

हिरवष्टक चूर्ण (त्रिकटु, अजमोद, सैन्धव, श्वेत जीरक और कृष्ण जीरक, वृत भिजत हिंगु। वृत के साथ मिलाकर भोजन के पूर्व।

पैत्तिक ग्रहणी में—१. हरीत की, रसाञ्जन, गुठी, घातकीपुष्प, कुटकी, इन्द्रजी, मुस्तक, कुटजकी छाल और अतीस का सेवन। (हरीतक्यादि कपाय)

२ रसाञ्जनादि चूर्ण—रसाञ्जन, अतीस, इन्द्रियव, कुटज की छाल, धाय के फूल, गुठी, समभाग में चूर्ण। मात्रा २ से ४ माशे। अनुपान तण्डुलोदक।

श्लैष्मिक ग्रहणी में—मैन्धव कचूर, गुठी, मारच, पिप्पली, हरीतकी, सज्जी-धार, यवचार, पिप्पलीमूल, विजौरा नीवू। मात्रा-३ से ६ माशे। अनुपान-जल।

व्यावहारिक चिकित्सा—ग्रहणी जैसा कि प्रारम्भ में बतलाया जा चुका है कि अजीर्ण तथा अतिसार को एक बहुत बड़ी हुई अवस्था है। इसमें औषधी-पचार से लाभ हो जाने पर पुनरावर्त्तन (Ralapses) की संभावना रहती है। अस्तु पथ्य के ऊपर सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। रोगी के रोगमुक्त होने के अनन्तर भी उसे पथ्य-सेवन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता रहती है। व्यावहारिक क्षेत्र में दो प्रकार के रोगी आम तौर से मिलते हैं। एक जिनका रोग बहुत बड़ा हुआ नहीं है, खाते-पीते और चलते-फिरते रह सकते हैं। दूसरे जिनमें रोग बहुत बड़ा हुआ है, उपद्रव तथा दुर्बलता-बहुत बड़ी हुई है। इनमें चलते-फिरते रोगियो (Ambulant type) में तो वातातपिक चिकित्सा (Outdoor treatment) आसानी से दी जा सकती है। इनकी चिकित्सा में लघु और गुपाच्य आहार देते हुए चिकित्सा की जाती है। इस क्रियाक्रम को सान्नि चिकित्सा क्रम (भोजन या अन्न देते हुए चिकित्सा करना) कहते हैं।

दूनरा वर्ग उपद्रुत ग्रहणी रोगियो का होता है। जिनमे रोगी को चिकित्सालय मे प्रविष्ट करके वैद्य के साक्षात् निरीक्षण मे रहते हुए बिना अन्न के (निरन्न-चिकित्सा) चिकित्सा करने की आवश्यकता रहती है। इन रोगियो को अन्न व्यतिरिक्त दूध, तक्र या दूध और फल के ऊपर रखकर चिकित्सा की जाती है।

ग्रहणी की चिकित्सा मे बहुत प्रकार के चूर्ण, कपाय, गुटिका, मोदक, अवलेह, रसक्रिया प्रभृति काष्ठौषधियो के योग (काष्ठौधि पाचन) तथा पारद-गंधक की कज्जली, पर्पटी तथा रसौषधियो के बहुत से योग (पारद के पाचको) का व्यवहार पाया जाता है। साधारण रोगियो मे काष्ठौषधियो के पाचको से ही रोग ठीक हो जाता है, परन्तु जब रोग अधिक बढा हुआ रहता है तो काष्ठौषधियो के पाचको से काम नही चलता है। ये स्वयं पचन-संस्थान के लिये भारभूत हो जाती है। इस अवस्था मे पारद के पाचक योगो को आवश्यकता पडती है। ये पारद के पाचन भी बहुत प्रकार के होते हैं जैसे—पारा-गंधक को कज्जलो के साथ अन्यान्य भस्म तथा काष्ठौषधियो के योग से बने योग तथा पारद-गंधक की कज्जली या उससे बने पर्पटी के योग। अस्तु पारद के पाचको मे भी कुछ ऐसे योग हैं जिनका उपयोग केवल चलते-फिरते रोगियो मे सुपाच्य अन्न या आहार देते हुए चिकित्सामे किया जाता है।

कुछ ऐसे भी योग हैं जिनका सामान्य प्रयोग न होकर कल्प-चिकित्सा के रूप मे ही प्रयोग किया जाता है। इन औषधियो मे अधिकतर पर्पटी के योग ही व्यवहृत होते हैं। इसके लिये रोगी को दूध या तक्र पर रखकर रोगी एव रोग के बलाबल का विचार करते हुए एक छोटी मात्रा से आरभ करके क्रमश बढाते हुए एक सीमित मात्रा तक ले जाते हैं, पुन क्रमश घटाते हुए आरभ के मात्रा पर ले आकर दवा देना बंद कर देते हैं। इस विधि को वर्धमान पर्पटी प्रयोग या पर्पटीकल्प-प्रयोग कहा जाता है। इस प्रकार दो प्रकार की चिकित्सा का प्रयोग ग्रहणी रोगमे विशेषत पर्पटी के सम्बन्ध मे करना होता है। १ सामान्य प्रयोग तथा २ विशेष प्रयोग था पर्पटी कल्प।

सामान्य प्रयोग या वातातपिक चिकित्सा—(Outdoor treatment) या सान्निचिकित्सा—

आहार—रोगी को लघु और सुपाच्य आहार देना चाहिये। एतदर्थ सर्व प्रथम रोगी की चिकित्सा मे आने के साथ ही उसे मण्ड पर तीन दीनो तक रख कर औषधि का प्रारभ करना चाहिये। मण्ड के लिये धान्य लाज या चावल की लाई, पुराना चावल या पुराने साठी के चावल का उपयोग करना चाहिये। फिर उससे गाढा पथ्य कुछ अन्नयुक्त मण्ड जिसे विलेपी कहते हैं तीन दीनो तक देना

चाहिये । इस पथ्य का भी मम्यक् पाक होने लगे तो चावल का गीला मण्डयुक्त ओदन (भात) या मसूर या मूंग की दाल युक्त पतली खिचड़ी बनाकर एक दो सप्ताह तक देना चाहिये । रोगी का अग्नि बल अच्छा हो तो चिकित्सा का प्रारम्भ पतली खिचड़ी के आहार से भी किया जा सकता है । मण्ड, पेयादि अन्नो को रोगी की रुचि के अनुसार नमकीन (सेंधा नमक और भुना जीरा से संयुक्त करके) अथवा मीठा बनाकर मिश्री मिलाकर दिया सकता है ।

इसके पश्चात् पचन की दशा के सुधरने पर रोगीको चावल-दाल देना चाहिये । जब यह पचने लगे तो उसको एक समय चावल-दाल दूसरे समय रोटी-दाल पथ्य रूपमें देना चाहिये । इस सादे आहार पर वाद में रोगी को रोगमुक्त होने पर भी रखना चाहिये । अधिक गरिष्ठ भोजन, घी या तेल में तली पूड़ी, पूवा, माल पूवा, जलेबी आदि, अधिक मात्रा में शाक-सब्जी, पत्र-शाक, गर्म मसालेदार भोजन का मदा के लिये परिहार करना आवश्यक होता है ।

ग्रहणी रोगी के आहार को सदैव पचकोल युक्त करके देना चाहिये । इसके लिये विधि यह है कि पचकोल का चूर्ण पयपित मात्रा में बनाकर एक शीशी में भरकर रख लेना चाहिये और एक से मागे की मात्रा में मण्ड, पेया, विलेपी, यवागू, खिचड़ी, दाल में छिड़क लेनी चाहिये । इस दीपन पाचन योग से संस्कृत पथ्य मुपाच्य और लघु हो जाता है । अग्नि दीप्त होती चलती है । अस्तु इसका प्रयोग रोगी को पथ्य में करना सदैव लाभप्रद होता है ।

ऊपर में ग्रहणी रोग में तक्र की प्रशंसा हो चुकी है । तक्र इस रोगी को अग्नि बल के अनुसार प्रारम्भ से ही देना शुरू कर देना चाहिये । अन्न काल में तथा दिन के अन्य भाग में इसका उपयोग लाभप्रद रहता है । तक्र को रोगी की रुचि के अनुसार पंचकोलयुक्त या भुनाजीरे का चूर्ण और सेंधा नमक युक्त करके देना चाहिये । यदि रोगी को नमकीन तक्र रुचिकर न प्रतीत हो तो मिश्री मिलाकर, या केवल सादा, परन्तु पंचकोल से संयुक्त करके देना चाहिये ।

ग्रहणी के रोगी में अन्न में रुचि जागृत करने के लिये कागजी नीबू या नीबू का अचार दिया सकता है । इससे अन्न में रुचि पैदा होती है और पेया यदि पथ्य का परिपाक भी उत्तम होता है । पके अनार या वेदाना का रस भी उत्तम पाया गया है—अस्तु अन्नकाल के अतिरिक्त समय में दिन में भूख लगने पर उसे वेदाना का रस, मिश्री या मधु देना चाहिये ।

शाक-सब्जी का प्रायः प्रयोग नहीं करना चाहिये, विशेषतः पत्रशाको का । क्योंकि इनके दुर्जर होने से अतिसार में सहायता मिलती है । गूलर या प्याज के शाक भी दिया जा सकता है । परन्तु इसका प्रयोग कुछ विलम्ब से सप्ताह दो

सप्ताह के अनन्तर किया जा सकता है। ऋतु के अनुसार कच्चे खरबूजे का शाक भी लाभ, प्रद होता है। यदि पर्पटी या कज्जली का योग न चल रहा हो तो केले के शाक का उपयोग किया जा सकता है अन्यथा नहीं करना ही उत्तम रहता है।

शुद्ध देशी घृत का प्रयोग भोजन में मिलाकर किया जा सकता है क्योंकि अल्पमात्रा में दिया गया घी अग्नि का वर्धक होता है। पीने के लिये खोलाकर ठंडा किया हुआ जल, अथवा सौफ का अर्क मिल सके तो देना उत्तम रहता है। नारिकेल जल तृषा में देना प्रशस्त है।

ग्रहणी-चिकित्सा-में प्रयुक्त होने वाले योग—सामान्यतया अधोलिखित योगों में से किसी एक का प्रयोग योग्य अनुपान से करने से और ऊपर में कथित पथ्य के सेवन से रोग अच्छा हो जाता है।

१. कपित्थाष्टक चूर्ण—यमानी, पिप्पली मूल, दालचीनी, सूक्ष्मैला, तेज-पत्र नागकेसर, शुठी, मरिच, चित्रकमूल, सुगंधवाला, धनिया, सौवर्चल, लवण में से प्रत्येक एक तोला तथा ^{वृक्षाम्ल} धातकी पुष्प, पिप्पली, विल्व फल को मज्जा, अनारदाना और तिन्दुक फल में से प्रत्येक का ^३ तोला, मिश्री ६ तोला और कपित्थफल की मज्जा ८ तोले। मात्रा २ से ४ माशे। अनुपान-मट्ठे के साथ।

२ वृद्ध गंगाधर चूर्ण—गगाधर चूर्ण नाम से कई पाठ भैषज्यरत्नावली में सगृहीत है। जैसे स्वल्प गगाधर चूर्ण, मध्यम गगाधर चूर्ण (अहिफेन युक्त), मध्यम गगाधर चूर्ण तथा वृद्ध गगाधर चूर्ण। इनमें वृद्ध गगाधर चूर्ण का प्रयोग अधिकतर प्रचलित है। योग इस प्रकार है—नागरमोथा, सोना पाठा, सोठ, घाय के फूल, लोध्र, नेत्रवाला, विल्वमज्जा, मोचरस, पाठा, इन्द्रयव, कुटज की छाल, आम की गुठली, मजिष्ठा और अतीस इन द्रव्यों का समपरिमाण में बना चूर्ण। मात्रा-१ से ३ माशे, अनुपान-तण्डुलोदक और मधु।

लवङ्गाद्य चूर्णम्—लवङ्गाद्य चूर्ण नाम से कई पाठ भैषज्यरत्नावली में सगृहीत है। जैसे स्वल्प लवङ्गाद्य, वृद्ध लवङ्गाद्य तथा महत् लवङ्गाद्य (अभ्रक लोह और कज्जली युक्त) इन में स्वल्प लवङ्गाद्य विशुद्ध काष्ठीषधि योग उत्तम है। इसमें निम्नलिखित घटक पाये जाते हैं। इसका दुर्बल रोगियों में अम्लपित्त एवं ग्रहणी उभय प्रकार के रोगियों में व्यवहार किया जा सकता है। लवङ्ग, अतीस, मुस्तक, वाल विल्व मज्जा, पाठा, मोचरस, श्वेत जीरक, धातकीपुष्प, लोध्र, इन्द्रयव, नेत्रवाला, धान्यक, राल, काकडासीगी, छोटी पिप्पली, शुठी, मजिष्ठा, यवचार, सैन्धव, रसोत, समपरिमाण में गृहीत चूर्ण। मात्रा-३ माशे। अनुपान-जल।

नायिका चूर्ण—इसी का दूसरा नाम ग्रथान्तरमें लायी चूर्ण आया है। लय 'ग्रहणे' घातु से लायी गव्द की निष्पत्ति होती है इसका अर्थ है अतिसार का ग्रहण करने वाला योग। इस चूर्ण में पारद-गवक की कज्जली पड़ी हुई है साथ ही अन्य काण्ठीपधियों के साथ भाँग का चूर्ण भी पड़ा हुआ है। धुवानाश युक्त ग्रहणी में मट्टे के अनुपान से प्रयुक्त होकर लाभप्रद सिद्ध होता है।

स्वल्पनायिका चूर्ण और **वृहद् नायिका चूर्ण** नामक दो पाठ मिलते हैं। इन में स्वल्प नायिका चूर्ण का व्यवहार अधिकतर होता है। इसके घटक इस प्रकार हैं। शुद्ध पारद ४ माशे गवक, ८ माशे ले कर कज्जली बनाले। इस कज्जली में मैवव, सीवर्चन्, विड, खनिज और समुद्रलवण में से प्रत्येक एक-एक तोला, शुठी, मरिच और पिप्पली का भी एक-एक तोला चूर्ण तथा शुद्ध भाग (विजया) मात्रा का पाँच तोले मिलाकर महीन चूर्ण बनावे। १ माशे से ३ माशे तक अनुपान तक्र या काजी।

जातीफलादि चूर्ण—विजया के योग से निर्मित यह भी योग है, परन्तु इसमें कज्जली नहीं पड़ी है। बड़ा उत्तम योग है। इसके घटक इस प्रकार वे हैं—जातीफल, वायविडङ्ग, चित्रकमूल, तगर, तालीगपत्र, श्वेत चदन, शुठी, लवङ्ग, जीरा, कर्पूर, हरड, आंवला, मरिच, पिप्पली, वगलोचन, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपात, नागकेसर प्रत्येक एक-एक तोला और शुद्ध भाग की पत्ती २८ तोले और पूरे चूर्ण के परिमाण अर्थात् ४७ तोले मिश्री या चीनी। मात्रा-३ से ४ माशे। अनुपान-जल, तक्र।

इन प्रचलित चूर्णों के अतिरिक्त कुछ अन्य चूर्ण जैसे—ग्रहणी गार्दूल चूर्ण, जोरकाय चूर्ण, मार्कण्डेय चूर्ण (अहिफेन युक्त) तथा तालीशाय चूर्ण भी ग्रहणी अधिकार में पठित हैं। इन चूर्णों के अतिरिक्त वार्त्ताकुगुटिका (वैगन), मुण्ड यादि गुटिका, कचटावलेह (जलपिप्पली), दशमूल गुड, कल्याण गुड, कुष्माण्ड गुड प्रभृति कई उत्तम योगों का पाठ है।

मोदक—ग्रहणी अधिकार में कई मोदकों का पाठ पाया जाता है। ये मोदक अधिकतर ग्रहणी की रोगमुक्तावस्था (Cenvalescent stage) में अधिक लाभप्रद होते हैं। जलपान जैसे मुवह-शाम दूध के साथ लेने का विधान है। ये मोदक रसायन तथा वाजीकरण के गुणों से सम्पन्न होते हैं। ग्रहणी में काम शक्ति की क्षीणता प्राय आती है। उस समय इन मोदकों की आवश्यकता प्रतीत होती है। कई बार श्रीमान् व्यक्तियों की चिकित्सा में इस प्रकार की कल्पनावों की आवश्यकता पड़ती है। आवश्यकता के अनुसार इनका ताजा निर्माण करना चाहिये। इनमें ग्राही औपधियाँ पड़ी हुई हैं, साथ ही विजया भी पड़ी

है। इनसे अग्नि का दीपन, आम का पाचन तथा द्रवधातु-मरण का ग्रहण तथा दीर्घस्नान भी एक साथ ही सम्भव रहता है। मोदको में श्री कामेश्वरमोदक, मेथी मोदक, बृहद्मेथी मोदक, मदनमोदक, मुस्तादि मोदक, कामेश्वर मोदक, जीर कादि मोदक, (वग, अभ्र, लोह, युक्त), बृहज्जीर कादि मोदक तथा अग्नि कुमार मोदक। इन मोदको को मात्रा- $\frac{1}{2}$ तोले से १ तोले तक। अनुपान-शीतल जल या दकरी का दूध।

रसयोग—हसपोट्टली रस, ग्रहणीकपाट पोट्टली रस, अग्निकुमार रस। ग्रहणीगजेन्द्ररस। ग्रहणीशार्दूल रस।

ग्रहणी कपाट रस—इस नाम से कई योग भैषज्यरत्नावली में अभिहित हैं। जैसे ग्रहणीकपाट रस (स्वल्प अहिफेन युक्त), ग्रहणीकपाट रस द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पचम, ग्रहणीवज्रकपाट रस, ग्रहणीवज्रकपाट रस (बृहद्—रजत, लोह, मुवर्ण और मुक्ता युक्त) तथा संग्रहग्रहणीकपाट रस (मुक्ता-स्वर्ण-अन्नक-वराट भस्म युक्त—अत्रक्षय में विशेष लाभप्रद—जहाँ पर ग्रहणी के नाथ मदज्वर भोचिरकालीन हो।) तथा वज्रकपाट रस (अहिफेन युक्त)।

महागर्धकम्—ममपरिमाण में शुद्ध पारद तथा शुद्ध गंधक की कज्जली बनाकर लोह की कलछी में डाल कर मद आँच पर गर्म करे। फिर उसे पतला करके उसमें वरावर मात्रा में जायफल, जावित्री, लवङ्ग, नीम की पत्ती, सिन्दुवार की पत्ती, इलायची के दाने का महीन चूर्ण मिला लेना चाहिये। फिर पानी मिलाकर खरल में घोट कर एक कर लेना चाहिए। फिर शुद्ध की हुई मोती के सीप के सम्पुट में (भली प्रकार कपडमिट्टी करके अर्थात् दो सीप के भीतर भर कर उसके ऊपर केले का पत्ता लपेट कर दो अंगुल मोटा कपड़े और मिट्टी का लेप कर के) अग्नि में पाक करना चाहिये। फिर पुटपाक हो जाने पर उसके आवरण को दूर करके शुक्ति समेत औषधि को खरल कर के महीन चूर्ण को शीशी में भर कर रख लेना चाहिये। मात्रा—३ रत्ती से ६ रत्ती तक। बालको के अनेक रोगों से रक्षा करने के लिये एक महौषध है। इस में शुक्ति की राख पर्याप्त मात्रा में रहती है—जो जीव की हड्डी का राख (Bone charcol) और आन्त्र गत वायु का शोषण (Gasabsorbent) होकर अतिसार में अद्भुत लाभ दिलाती है। बड़ों में भी इसका प्रयोग हो सकता है, परन्तु बालातिसार या बाल-ग्रहणी में यह विशेषतया लाभप्रद है।

वटिका—वैद्यनाथ वटिका, रसाभ्रवटी, महाभ्रवटी (मन शिला तथा कृष्ण सर्पविषयुक्त), पानीयभक्तवटिका प्रभृति योग उत्तम हैं। इसी प्रकार शम्बू कवटी, दुग्धवटी, जाती फलाद्य वटी भी अच्छे योग हैं। शम्बूकादिवटी-शम्बूक

(घोघे) की भस्म और नैवानमक समान मात्रा में लेकर मनु मिलकर गोली एक मागे की बनावे । वात-ग्रहणी में उत्तम योग है । वालको के गोघ रोग (सूखा रोग) में अतिसार या ग्रहणी की स्थिति में स्वतंत्र या महागंधक का योग करके प्रयोग करना बड़ा उत्तम फल देता है ।

दुग्धवटी—इसके दो पाठ हैं । प्रथम में हिंगुल और वूतरबीज है, दूसरे में नहीं है । प्रथम में अभ्रक, लौह भस्म नहीं है । दूसरे में है । प्रथम में विजया स्वरस की भावना है । दूसरे में केवल क्षीरकां । दोनों का प्रयोग शोथ और ग्रहणी में बतलाया गया है । भैषज्यरत्नावली में दोनों पाठ मिलते हैं । प्रथम पाठ अधिक श्रेष्ठ अनुभव में पाया गया है । इसके घटक निम्न लिखित हैं—
शुद्ध हिंगुल १ तोला, लींग, अफीम, बत्सनाभ, जायफल और वूतर के बीज प्रत्येक दो-दो तोले । विजया के स्वरस की भावना । मात्रा-मूंग के बराबर की गोली । अनुपान—दूध । प्रयोग-काल में जल, एव लवण का परिहार । तृपादिक्य नारिकेल जल या गतपुष्पार्क, पुनर्नवार्क या काकमाचो अर्क । यह योग शोथ रोग में अथवा शोथ से उपद्रुत ग्रहणी में विशेष लाभदायक है ।

पीयूषवल्लो रस—शुद्ध समपरिमाण में पारद-गंधक की कज्जली, अभ्रकभस्म, लौह भस्म, रजत भस्म, शुद्ध टंकण, रसाञ्जन, स्वर्णमाक्षिक भस्म, लवङ्ग, श्वेत चन्दन, पाठा, श्वेत जीरक, धान्यक, वाराहक्रान्ता, अतीस, लोत्र, कुटजत्वक्, इन्द्रिय, जायफल, गुंठी, विल्वफल मज्जा, वूतर केबीज, दाडिमबीज, मजिष्ठा, घातकी पुष्प और मोठाकूठ सभी द्रव्य समान ।

भृंगराज स्वरस की सात भावना देकर बकरो के दूध में पीसकर चने के बराबर की गोली । अनुपान—विल्व मज्जा ३ तो + गुड १ तोला । यह बड़ा ही उत्तम योग है । अनुपान के रूप में ठंडे जल, इसबगोल का लुआव या वेल का शर्बत भी दिया जा सकता है ।

श्री नृपतिवल्लभ रस—जातीफल, लवङ्ग, मुस्तक, छोटी इलायची, शुद्ध टंकण, वृत्तर्भजित हींग, जीरक तेजपात, अजवायन, सोठ, लौह भस्म, ताम्र भस्म, शुद्ध पारद और गंधक प्रत्येक चार-चार तोले और काली मिर्च ८ तोले । प्रथम पारद और गंधक की कज्जली बनावे पश्चात् उसमें अन्य भस्म और वनस्पतियों के सूक्ष्म कपड्यन चूर्ण मिलाकर आमलकी स्वरस की सात भावना देकर तीन-तीन रत्ती की गोली बनावे । मात्रा—१-२ गोली । अनुपान—जल या तक्र ।

नृपतिवल्लभ रस के अन्य पाठ भी बृहद् नृपतिवल्लभ रस (राजवल्लभ रस पर्याय नाम), महाराज नृपतिवल्लभ रस (स्वर्ण, रजत और विजया युक्त),

तथा महाराज नृवल्लभ रस (स्वर्ण एव रजत युक्त) भैषज्यरत्नावली में पाये जाते हैं। ऊपर वाला पाठ एक उत्तम अल्पव्यय साध्य योग है।

रसेन्द्र चूर्ण—रससिन्दूर, वशलोचन, मुक्ताभस्म, स्वर्णभस्म तथा अहिक्केन का योगिक। मात्रा—४ रत्ती एक बार रात्रि में सोते समय दूध से।

अग्निसूनुरस—रूपद भस्म १ तोला, शख भस्म १ तोला सम प्रमाण पारद-गंधक ने बनी कज्जली १ तो, मरिच चूर्ण ३ तोले। सबको निम्बू के रस में खरल में रख भावितकर सुखाकर शीशी में रख ले। मात्रा—१ माशे। अनुपान—पिप्पली चूर्ण तथा घृत।

पर्पटी के योग—रस पर्पटी—द्रव्य और निर्माण विधि—हिंगुल से निकाले पारद को क्रमशः जयन्ती, एरण्ड और मकोय के स्वरस से एक दिन मर्दन करके गर्म जल में धोले। गंधक का मोटा चूर्ण करके उसको सात दिनों तक भृगराज केन्दुरन में भिगोकर रखे। फिर उसको सुखाकर, भीतर से घृतलिप्त लाह की कटाही में रख कर आग पर चढ़ाकर पिघलावे। फिर इस पिघले गंधक को छाने। छानने के लिये एक ऐसा घट ले जिसमें भृगराज स्वरस आधा भरा हो और उसके मुह के ऊपर मजबूत कपड़ा बँधा हो। छानने से गंधक घड़े में भृगराज में जाकर बैठ जायेगा फिर इस गंधक को निकाल कर गर्म जल से धोकर सुखा ले। इस प्रकार ने शुद्ध किये पारद और गंधक का सम भाग लेकर खरल में मर्दन करके कज्जली बनावे। कज्जली बनाने में तब तक मर्दन करे जब तक पारद के कण (चन्द्रिका) अदृश्य न हो जाय। पर्पटी बनाने के लिये इस कज्जली को अब एक बड़े लोहे के कलछी में लेकर अग्नि पर रख पिघलावे। द्रव्य को लोहे के दंड से चलाता रहे। जब कज्जली द्रव हो जाय तब उसको जमीन पर गोबर बिछाकर उसके ऊपर केले का पत्ता बिछाकर उस पर ढाल दे। ढालने के साथ ही दूसरे केले के पत्ते से उसको ढके और दबा दे। जब पर्पटी ठडी हो जाय तो शीशी में भरकर रख दे। सेवन कराने के समय पर्पटी का महीन चूर्ण बनाकर प्रयोग करना चाहिये।

विविध पर्पटियाँ—इसी विधि से स्वर्णपर्पटी, (स्वर्ण-भस्म की अतिरिक्त योग से), लौह पर्पटी (लौह भस्म का अधिक योग) करके मण्डूर पर्पटी (मण्डूर भस्म के विशेष योग से), गगन पर्पटी (अभ्रक भस्म कज्जली के अतिरिक्त मिलाकर), ताम्र पर्पटी (ताम्र भस्म का अधिक योग करके), पचामृत पर्पटी (लौह भस्म, अभ्रभस्म, ताम्र भस्मो का कज्जली के अतिरिक्त योग से), विजय पर्पटी (रजत, सुवर्ण, मुक्तापिष्टि, वैक्रान्त, ताम्र, अभ्र, भस्म-यदि प्राप्य हो तो हीरक भस्म भी इन द्रव्यों के अधिक योग से निर्मित) नामक विविध पर्पटियाँ भी बनती हैं।

मात्रा और अनुपान—सामान्य प्रयोग में २ से ४ रत्ती तक पर्पटियों की मात्रा प्रतिदिन लगातार डेढ़ से दो मास तक करना चाहिये। विशेष प्रयोग में जब पर्पटी का कल्प प्रयोग या वर्धमान प्रयोग चल रहा तो मात्रा एक रत्ती से प्रारम्भ करके, एक-एक रत्ती की मात्रा प्रतिदिन बढ़ाते हुए अथवा दो दिनों के अंतर में प्रतिदिन बढ़ाते हुए दस में चारह रत्ती तक रोगी का बलादि देखकर देने का विधान है। फिर रोगी के अच्छा होने तक वही मात्रा देता रहे। अर्थात् जब दस्त बंद हो जाय, पाचन सुधर जाय, अग्नि दीप्त हो जाय, आत्रकूजन (वायु के कारण) शान्त होने लगे तो प्रतिदिन या हर तीसरे दिन एक-एक रत्ती की मात्रा घटाकर एक रत्ती की मात्रा पर रोगी को लावे। कुछ दिनों तक यह मात्रा चलती रहे। रोगी स्वस्थ हो जाय तो औषध छुड़ा दे। दिन में एक ही खुराक में अधिक मात्रा की औषधिकी (८ रत्ती या १० रत्ती) न देकर दिन में कई बार में विभाजित करके दो रत्ती से तीन रत्ती तक प्रति मात्रा देते हुए तीन या चार बार में देना उत्तम रहता है। सामान्यतः वर्धमान पर्पटी कल्प प्रयोग में ४० से ६० दिन लग जाते हैं।

अनुपान—भुना जीरा का चूर्ण १॥ से ३ मासे और घी में भुनी हींग ३ रत्ती मिलाकर दे। या भुना जीरे का चूर्ण और शहद के साथ दे। ऊपर से दूध, दाउम, छाछ, मोमम्मी मोठा नीबू या नारिकेल जल दे।

उपयोग रसपर्पटी—सब प्रकार के पचन विकारों (जाठराग्नि के दोषों) में रसपर्पटी का उत्तम औषधि है, ग्रहणी, जीर्ण अतिसार, जीर्ण प्रवाहिका और अग्निमाद्य में इसके प्रयोग से विशेष लाभ होगा है।

स्वर्ण पर्पटी—जाठराग्नि को दीप्त करने वाली, बलकारक और शरीर को पुष्ट करने वाली पर्पटी है ग्रहणी, सर्व प्रकार के क्षय रोग विशेषतः आत्र के क्षय में इससे विशेष लाभ होता है।

लौह पर्पटी—सूतिका रोग, प्लीहा, वृद्धि, यकृद्बृद्धि, अग्निमाद्य, पाण्डु रोग अम्ल वित्त और उदरशूल में विशेष लाभ पद होता है।

मराटूर पर्पटी—पाण्डु रोग, तपीहा के रोग, शोथ, मन्दाग्नि यकृद्दीर्बल्य में विशेष लाभपद रहती है।

गगन-पर्पटी—मदाग्नि, पाण्डु रोग, राजयदमा, खाँसी और श्वास युक्त ग्रहणी रोग में विशेष लाभप्रद होता है।

विजय पर्पटी—कृच्छ्र साध्य ग्रहणी रोग, उपद्रव युक्त राज यदमा, पाण्डु रोग, प्लीहा के रोग, हृद्रोग, अम्लपित्त अथवा जीर्ण ज्वर युक्त ग्रहणी रोग में विजय पर्पटी एक उत्तम औषधि है। सुलभ हो तो इसी पर्पटी का प्रयोग और

रोगी न्ययनाप्य इस औषधि का प्रबंध कर सकता हो, तो कल्प रूप में करना सर्वोत्तम रहता है ।

पंचामृत पर्पटी—पर्पटी योगों में यह एक अल्पव्ययसाध्य उत्तम योग है । अविग्रह रोगों का व्यवहार कल्प योगों में चिकित्सक करते हैं । इसमें वज्र, ताम्र और प्लीहा भस्म का योग हो जाने से औषधि की क्रिया जीर्ण-ग्रहणी रोगमें बड़ी उत्तम होती है । जीर्णातिमार, पाण्डु रोग, अरुचि, मंदाग्नि और ग्रहणी रोगमें उपाय प्रयोग करना चाहिये । पंचामृत पर्पटी के प्रयोग से भूय बढ़ती है ।

ताम्र पर्पटी—यकृत के रोग, प्लीहा की वृद्धि और उदर के रोगों में एक उत्तम औषधि है । साह्य में लिखा है कि ताम्र पर्पटी—छोटी इलायची और भुने जीरे के चूर्ण के साथ पुराने ग्रहणी रोग को, त्रिफला चूर्ण और मधु के साथ प्रमेह और पाण्डु रोग को, एरण्ड तैल के साथ सम्पूर्ण प्रकार के उदर-शूलों को और वातुचो के चूर्ण के साथ मेहन करने से दह और श्वित्र को दूर करती है ।

निरन्न चिकित्सा-पथ्य—वर्धमान पर्पटी प्रयोग में शरीर का एक कल्प (नवीनीकरण या कायाकल्प) हो जाता है । रोगी को पूर्ण विश्राम से विस्तर पर रचना होता है । उसके पचन मस्थान को मुख से लेकर गुदा पयन्त आमा-जघान्य प्रभृति अवयवों को पूर्ण विश्राम देने के लक्ष्य से रोगी को अन्न, जल, लक्षण, मगाले प्रभृति सामान्य ठोस भोजन को पूर्णतया बंद कर दिया जाता है । उनको केवल द्रवाहार दूध अथवा तक्रपर रख कर (Bland diet) चिकित्सा की जाती है । इस चिकित्सा का लक्ष्य पचन मस्थान की पुरानी श्लेष्मल कला को हटा कर उसके स्थान पर नये श्लेष्मल कला का निर्माण तथा शोषणाद्वारा का पुनर्जनन और अधिक कार्यक्षम बनाना रहता है । इस तरह इस कल्प चिकित्सा के परिणाम स्वरूप पचन तथा शोषण की दोनों क्रियायें प्राकृत हो जाती हैं ।

सर्वप्रथम यह निर्णय करना चाहिये कि तक्र और दूध इनमें से कौन सा द्रव पदार्थ रोगी के अनुकूल पड़ता है, तब किसी एक पर रख कर चिकित्सा का प्रारंभ करना चाहिये । जिस रोगी की अग्नि बहुत मंद है, पाचन की शक्ति बहुत क्षीण है और जिसके कोष्ठ में वायु की अधिकता है उसको तक्र विशेष हित करता है । इसके विपरीत जिसके कोष्ठ में वायु विशेष नहीं है और अग्नि अधिक मंद न हो उसे गोदुग्ध पर रखना चाहिये । दूध से शक्ति शीघ्र आती है । परन्तु तक्र लघु होने से पचन शीघ्र सुधरता है और मल जल्दी बँध जाता है ।

प्राकृति तथा प्राप्यता (Availability) का भी विचार करना चाहिए । कभी कभी तक्र या दुग्ध में से किसी एक का प्रारंभ कराने पर रोगी

के पथ्य की प्रतिकूलता का ज्ञान होता है तो पथ्य का विपर्यय कर देना चाहिये । अर्थात् दूध बंद करके तक्र या तक्र बंद करके दूध पिलाना प्रारंभ कर देना चाहिये । स्त्रियो में दूध स्वभावतः कम रुचिकर होता है उन्हें प्रायः तक्र ही अनुकूल पड़ता है । पित्त प्रकृति वालों को गाय का दूध या अजादुग्ध अधिक हितकर होता है । हृदय की दुर्बलता होने पर तक्र की अपेक्षा दूध अधिक हितकर होता है । क्रिमियुक्त ग्रहणी रोग में दूध की अपेक्षा तक्र अधिक लाभप्रद पाया जाता है । अर्गोविकार युक्त ग्रहणी में भी तक्र उत्तम पथ्य रहता है । गोधुयुक्त ग्रहणी में दूध का पथ्य उत्तम रहता है ।

तक्र गोदुग्ध से नित्य ताजा बनाना चाहिये । बढिया जमे दही का ही तक्र देना चाहिये । थोड़ा थोड़ा करके नियमित समय पर तक्र या दूध पिलाना चाहिये जिममें रोगी का बल न घटे, जीत्र पचे और झुवा बढनी चले । दूध उवाला हुआ पतलाही पीने को देना चाहिये । बहुत गाढा करके नहीं देना चाहिये । तक्र बनाने में शास्त्रीय विधान दही में चतुर्थांग उवाल कर ठंडा किया हुआ जल मिलाकर मथन करके धोल बनाकर देने का है, परन्तु आवश्यकतानुसार उसमें जल कुछ अधिक भी मिलाया जा सकता है । वातिक ग्रहणी में पूर्ण नवनीत युक्त तक्र, पैत्तिक में मध्यम नवनीत युक्त (अर्थात् कुछ निकाल कर नवनीत) और शैष्मिक ग्रहणी में पूर्णतया नवनीत हीन तक्र देना चाहिये । दूध या तक्र में थोड़ा पंचकोल चूर्ण एक मासे की मात्रा में मिलाकर लेना उत्तम रहता है । यदि दूध या तक्र रुचिकर न प्रतीत हो तो थोड़ी मिश्री डालकर भीठा करके दिया जा सकता है ।

तृपा के शमन के लिये प्रायः दूध या तक्र का पी लेना ही पर्याप्त रहता है, परन्तु ग्रीष्म ऋतु में यदि तृपा अधिक लगे तो रोगी को नीफ का अर्क या नारिकेल जल या शृत-शीतजल पीने के लिये दिया जा सकता है । फलो में अनार का रस पीने को दिया सकता है ।

पर्पटी प्रयोग विधि—इस निरन्त चिकित्सा में पर्पटी नामक औषधि का सेवन एक विशेष क्रम से एक विशिष्ट अवधि तक कराया जाता है । कई पर्पटियों के नाम ऊपर में उल्लिखित हैं । उनमें सर्वोत्तम विजय पर्पटी है, यह यदि सुलभ न हो तो पंचामृत पर्पटी हर हालत में बहुत अच्छी है । यकृद्विकार, रक्ताल्पत्व, जीवादि उपद्रवयुक्त ग्रहणी में इन का प्रयोग विशेष लाभप्रद रहता है । स्वर्ण-पर्पटी—मंग्रहग्रहणी या मदज्वर युक्त ग्रहणी या क्षयज ग्रहणी में यह औषध लाभप्रद रहती है । यह हृद्य एवं बलवर्धक होती है ।

पर्पटी सेवन कराने की शास्त्रीय विधि का ऊपर में उल्लेख हो चुका है । जिसमें १ रत्ती से मात्रा का आरम्भ करके प्रतिदिन एक ही रत्ती बढ़ाते हुए कुल दस रत्ती तक ले जाते हैं पुन कुछ दिनों तक इस मात्रा को चालू रख कर क्रमशः एक एक रत्ती घटाते हुए एक रत्ती पर लाकर पर्पटी का सेवन बंद कर देते हैं । पश्चात् कुछ चूर्ण, गुटिका, मोदक, आसवारिष्ट का प्रयोग करते हुए रोगी को प्रकृतस्थ कर लिया जाता है । स्वर्गीय वैद्य यादव जी त्रिक्रमजी आचार्य इसी क्रम के पक्षपाती थे ।

हिन्दू विश्वविद्यालय काशी के आयुर्वेदानुसंधान विभाग के सचालक प० राजेश्वर दत्त जी शास्त्री का क्रम किंचित् इससे परिवर्तित है । यही क्रम हम लोगो को भी मान्य है । इसमें पर्पटी सेवन के एक दिन पूर्व रोगी को कृष्ण बीज चूर्ण ६ माशे की मात्रा में कोष्ण दूध के साथ खिलाकर सचित मल को निकाल देना चाहिये । तत्पश्चात् पर्पटी एक एक रत्ती की दो मात्रा बनाकर भुने जीरा का चूर्ण ४ रत्ती से १ माशा और मधु ३ से ६ माशे तक मिलाकर प्रातः-सायम् देना चाहिये । इस प्रकार दो दिनों तक देकर तीसरे दिन एक रत्ती और बढ़ाकर ३ रत्ती को तीन मात्रा में बाँटकर प्रातः, मध्याह्न और सायं देना चाहिये । यह क्रम भी दो दिनों तक चले । इस प्रकार हर तीसरे दिन एक एक रत्ती की मात्रा बढ़ाता चले और पर्पटी की मात्रा अधिक होने पर चार बार, पाँच बार या छ बार में समय का विभाग करके दिन में देवे । जब पर्पटी बारह रत्ती तक पहुँच जावे तब बढ़ाना बंद कर देवे । यदि इस मात्रा के पहुँचने पर भी मल बँध न रहा हो, दस्त पतले हो रहे हों तो यही मात्रा एक सप्ताह तक स्थिर रखे । इसके बाद एक एक रत्ती प्रतिदिन घटाता चले जब तक कि पर्पटी प्रारम्भिक मात्रा (२ रत्ती) तक न पहुँच जावे । इस आरोहावरोह क्रम में रोगी को कोष्ठवद्धता हो तो हरीतकी चूर्ण ६ माशे देकर कोष्ठशुद्धि कर ले ।

कई बार रोग के हल्का होने पर बारह रत्ती तक पहुँचने के पूर्व ही छ या आठ या दस रत्ती तक पहुँचते ही मल बँध जाता है, भूक बढ़ जाती है, रोगी अपने को स्वस्थ अनुभव करने लगता है तो उसी मात्रा पर पर्पटी को रोक देना चाहिये । चार, पाँच दिनों तक उसी मात्रा पर स्थिर रखकर आगे न बढ़ावे और ह्लासन या घटाने का क्रम चालू कर देना चाहिये । और रोगी को प्रारम्भिक मात्रा पर ले आना चाहिये । इस वर्धमान तथा ह्लासवान पर्पटी की प्रयोगविधि को पर्पटी कल्प कहा जाता है ।

पर्पटी की मात्रावृद्धि के साथ साथ, रोगी क्षुधा और अग्निबल का विचार करते हुए एक एक पाव दूध या उत्तने ही का बना तक्र भी बढ़ाता चले । दूध या

तक्र की वृद्धि प्रतिदिन या कुछ कुछ दिन ठहर कर भी की जा सकती है । इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि बढ़ाने में इतनी मात्रा न हो कि रोगी को अजीर्ण हो जावे । मात्रा इतनी देनी चाहिये कि कुछ कुछ बुभुक्षा बनी ही रहे । पपटी के घटाते समय पुनः दूध या तक्र की मात्रा घटाने की आवश्यकता नहीं रहती है, जितना रोगी पी सकता हो और पचा सकता हो पिलाते रहना चाहिये । दम, बारह सेर दूध या इतने का बना तक्र पी लेना एक साधारण बात है । कई बार बीस मेर या अधिक दूध पीते भी रोगी देखे गये हैं । यदि पपटी वृद्धि के साथ दूध पीने की क्षमता रोगी की अधिक न बढ़े तो चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं रहती है । चार सेर या पाँच सेर तक दूध पर्याप्त है ।

संसर्जन क्रम—^१ पपटी कल्प के समाप्त हो जाने पर सहसा प्राकृत भोजन पर रोगी को नहीं लाना चाहिये । अपितु संसर्जन करते हुए प्राकृत आहार पर लाना चाहिये । जैसे प्रथम दिन लाजमण्ड, दूसरे दिन लाजपेया । तीसरे दिन पुराने गालि या साठी के २॥ तोले चावल की पेया । चौथे दिन ४ तोला चावल । पाँचवे दिन १ छटाँक चावल की पेया । भूख बढ़नी चले तो छठे दिन उतने चावल की विलेपी । यदि अन्न का सम्यक् परिपाक होता चले तो क्रमशः चावल की मात्रा बढ़ाता चले, परन्तु एक पाव तक पहुँच जावे तो बढ़ाना बंद कर दे । इन पथ्यों को पचकोल युक्त करके लेना उत्तम रहता है । चावल का सेवन दूध या तक्र से यथाक्रम मोठा या नमकीन करके करना चाहिये । तक्र को रुचिकर बनाने के लिये भुने जीरे का चूर्ण और नमक मिलाकर भी लिया जा सकता है । इसके बाद मूग, अरहर या मसूर की पतली दाल बिना घी-मसाले से छाँकें और उसके बाद घी, मसाले युक्त छाँक (जीरे की) लगाकर देना चाहिये । शाक-सब्जियों में पलाण्डु, खरबूजे, गूलर आदि देने चाहिये । पत्र शाक, मूल शाक (जड़) तथा अन्य कई बातों का परहेज पपटी कल्प के अनन्तर रोगी को करना चाहिये । जैसे—निम्बादि पत्र शाक, अम्ल (खटाई), काजी, केले का फल, पत्र शाक, जड़ के शाक, खीरा, ककड़ी, तरौई, कुप्माण्ड, करैला, तरबूज आदि नहीं खाने चाहिये । माय ही रात्रि-जागरण तथा स्त्रीमग का भी निषेध है ।

मास-सात्म्य व्यक्तियों में मृग, तीतर, लवा, मुर्गा, छोटी मछली, बकरे को मिठ करके शोरवा देना चाहिये । जब खिचड़ी, चावल, दाल आदि रोगी को पचने लगे तो रोटी-दाल भी सेवन को देना चाहिये । पूड़ी, परावठे,

१. पेया विलेपीमकृतं कृतञ्च यूपं रम द्वित्रिरथैकगश्च ।

क्रमेण सेवेत विगुदकाय प्रधानमध्यावरणद्विगुद ॥ (च सि १.)

पूवे, घेवर आदि घी या तेल के तले पदार्थों का परहेज हमेशा ही करना चाहिये । अन्य भी इस प्रकार के दुर्जर और गरिष्ठ भोजनों का सेवन ग्रहणी रोग से मुक्त को मदेव नहीं करना चाहिये । अन्न के प्रारम्भ हो जाने पर दूध और तक्र की मात्रा क्रमशः कम कर देनी चाहिये । परन्तु एक बारगी नहीं बन्द करना चाहिये । ग्रहणी के रोगी में रोगमुक्तावस्था के अनन्तर भी दही, तक्र और दूध के सेवन का क्रम सदा बनाये रखना उत्तम है ।

ग्रहणी रोग में प्रयुक्त सिद्ध घृत—विल्वगर्भ घृत, शुठीघृत, नागरघृत, चित्रक घृत, विल्व घृत, मरिचाद्य घृत, पट्पल घृत, महापट्पल घृत तथा चाङ्गेरी घृत ।

चाङ्गेरी घृत—पचकोल, गोक्षुर, धान्यक, विल्वमज्जा, पाठा, अजवायन । इन द्रव्यों का समभाग में लेकर पीस कर कल्क बना ले । फिर इस कल्क से चतुर्गुण घृत, घृत से चतुर्गुण चाङ्गेरी का स्वरस अथवा क्वाथ तथा घृत से चतुर्गुण दही और उतना ही पानी लेकर सबको कलईदार कड़ाही में रख घृत को सिद्ध कर ले । यह योग अर्शरोग, जीर्ण-प्रवाहिका, गुदभ्रश तथा ग्रहणी में लाभ करता है । मात्रा १-२ तोले । अनुपान अजाक्षोर या गोदुग्ध के साथ ।

ग्रहणी रोग में प्रयुक्त होनेवाले तैल—विल्व तैल, ग्रहणीमिहिर तैल, वृहद् ग्रहणीमिहिर तैल, दाडिमाद्य तैल । इन तैलों में से किसी एक का अभ्यंग तथा पान लाभ-प्रद होता है ।

ग्रहणी में प्रयुक्त आसवारिष्ट-तक्रारिष्ट, पिप्पल्याद्यासव तथा कुटजारिष्ट ।

कुटजारिष्ट—कुटजकी छाल ५ सेर, मुनक्का २॥ सेर, महुए का फूल आधा सेर, गाम्भारी की छाल आधा सेर, जल १ मन ११ सेर ३ छटाँक । क्वाथ बनाकर चतुर्थांश शेष करे । फिर इसे एक घट में रख कर उसमें धाय का फूल १ सेर, गुड ५ मेर मिलाकर । १ मास तक सधान । मात्रा २ तो० । अनुपान समान जल मिलाकर भोजन के पश्चात् ।

ग्रहणी में एक व्यवस्था पत्र—१ पचामृत पर्पटी ३ र०, अजीर्णकटक ३ र०, लाची चूर्ण २ माशा मिलाकर ३ मात्रा मधु से दिन में तीन बार । २ कुटजारिष्ट भोजन के बाद २ चम्मच समान जल मिलाकर ।

आठवाँ अध्याय अशोरोग प्रतिषेध

क्रियाक्रम—अशो रोग को विनष्ट करने के लिये चार प्रकार से चिकित्सा की जाती है। भेषज, शस्त्र, क्षार तथा अग्नि। इनमें आद्य अर्थात् भेषज चिकित्सा ही अपना प्रतिपाद्य विषय है। आचार्य सुश्रुतने इनकी चतुर्विध साधनोपाय नाम से व्याख्या की है और बतलाया है कि अचिरकालजात (जो चिरकाल से न हो), अल्प दोष, लक्षण एवं उपद्रवों से युक्त तथा अदृश्य अशो में प्रायः भेषज के द्वारा उपचार करना उत्तम रहता है। मृदु अक्षुर युक्त, फैले हुए (प्रसृत), गहराई में पहुँचे हुए (अवगाढ एव उच्छ्रित) अशो के अक्षुरो में अथवा वातश्लेष्मज या रक्त-पित्त दोषयुक्त अवस्था में क्षार कर्म के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। कर्कश-स्थिर-स्थूल और कठिन (कड़े) अर्गाङ्कुरो में अथवा वातश्लेष्मज दोषयुक्त अर्ग में अग्नि-कर्म के द्वारा उपचार ठीक रहता है तथा तनुमूल (पतले जड़ वाले), उठे हुए (उच्छ्रित) एवं क्लेदयुक्त सभी प्रकार के दोषोत्पन्न अर्गाङ्कुरो में शस्त्रकर्म के द्वारा उपचार करना उत्तम रहता है। (सु चि. ६)^१

चरक ने भेषज (औषधि-योग) से अशो की चिकित्सा करने को सर्वोत्तम साधन माना है तथा उसकी अधिकार-पूर्ण प्रगमा भी की है। काय-चिकित्सा के समर्थक होने के कारण उन्होंने अपने भेषज-साधन को सुखोपाय और अदारुण कर्म नाम से प्रगसा की है और अशोकी समूल निवृत्ति के लिये भेषज-साधन को हेतु भी माना है। दूसरे साधनोपायो को अर्थात् शस्त्र-क्षार एव अग्नि-कर्म को उतना उपयुक्त न मानते हुए इन क्रियाओं से चिकित्सा करने की पद्धति की चुटकी भी ली है। उनका कथन है कि कुछ लोगों का कहना है कि अशो के मस्रो को काटकर निकालना चाहिये। दूसरे क्षार के द्वारा जलाने की सलाह देते हैं और अन्य लोगो ने अग्नि के द्वारा दाह का विधान बतलाया है। इसमें सन्देह नहीं ये सभी मत बड़े आचार्यों के हैं तथा तन्त्रसम्मत हैं। साथ ही कर्म करने वाले चिकित्सक भी दृष्टकर्मी और प्रत्यक्षाभ्यासी व्यक्ति होते हैं और तीनों क्रियायें अर्ग के प्रतिकार रूप में प्रचलित हैं। परन्तु नैजो अनुभव में इनकी क्रियाओं के द्वारा कई प्रकार के उपद्रव होते देखे गये हैं। जैसे, दारुण गुदभ्रश (Prolapse of Rectum), पुस्त्वोपघात (Impoteny), गुदपाक

१. दुर्गमिना साधनोपायचतुर्धा परिकीर्त्तित ।

भेषजक्षारशस्त्राग्निकर्म चाद्यन्तु सम्मतम् ॥

(Proctitis), आध्मान, दारुण शूल, रक्तातिसार (Haemorrhagea) तथा अर्शका पुनरुद्भव (Relapses) तथा कई बार इन कर्मों में असावधानी से मृत्यु तक हो जाती है । अस्तु, जो कर्म सुविधापूर्वक किया जा सके उसी कर्मों का उल्लेख हम करते हैं जिनसे अर्श जड़ के साथ नष्ट हो जाते हैं ।^१

अर्श रोगों में प्रधान कारण मन्दाग्नि (अग्निमदता) रहती है । अर्श, अति-मार तथा ग्रहणी तोनो रोग एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं और बहुधा एक दूसरे के उत्पादक रूप में पाये जाते हैं । उन सबों की उत्पत्ति में अग्निमदता ही प्रधान हेतु के रूप में पाई जाती है । अग्नि के मंद होने पर ये उत्पन्न होते हैं और अग्नि के दीप्त होने पर ये स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं । अस्तु इन रोगों के उपचार में अग्नि को दीप्त करने के लिये जो भी उपचार प्रशसित हैं उनका उपयोग करना चाहिये ।^२

अस्तु अर्श की चिकित्सा में १ वातानुलोमक (वायु के अनुलोमन के लिये), २ अग्नि के बल को बढ़ाने के लिये (अग्निवर्धक) ३ विवधहर (कोष्ठ की बद्धता को दूर करने के लिये) जो अन्न, पेय तथा भेषज द्रव्य हैं उनका प्रयोग नित्य अर्श में करना चाहिये ।^३ यदि अर्श रोग का अतिसार (पतले दस्त) आ रहे हो तो वातातिसारवत् चिकित्सा करे और अगर पुरीष बद्ध या गाँठदार हो तो उदावर्त्त रोग के सदृश उपचार करना चाहिये ।^४

अर्श रोगों के छ प्रकार शास्त्र में (वात-पित्त-कफ-रक्त-त्रिदोष और सहज भेद में) बतलाये गये हैं, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से दो ही भेद कर लेना पर्याप्त होता है कि अर्श शुष्क है या स्रावी ? शुष्क अर्श अधिकतर गुदा की बाह्य बलियों

१ तत्राहुरेके शस्त्रेण कर्त्तनं हितमर्शसाम् । दाह क्षारेण चाप्येके दाहमेके तथाग्निना ॥ अस्त्येतद् भूरितन्त्रेण धीमता दृष्टकर्मणा । क्रियते त्रिविधं कर्म भ्रशस्तन सुदारुणम् ॥ पुस्त्वोपघात श्वयथुगुदे वेगविनिग्रह । आध्मान दारुण शूल व्यथा रक्तातिवर्त्तनम् ॥ पुनर्विरोहो रुढाना बलेदो भ्र शो गुदस्य च । मरणा वा भवेच्छीघ्रं शस्त्रचाराग्निविभ्रमात् ॥ यत्तु कर्म सुखोपायमल्पभ्र शमदारुणम् । तदर्शसा प्रवक्ष्यामि समूलाना निवृत्तये ॥ (च चि १४)

२ अर्शोऽतिसारा ग्रहणीविकारा प्रायेण चान्योऽन्यनिदानभूता । सन्नेऽनले सन्ति न सन्ति दीप्ते रक्षेदतस्तेषु विज्ञेयतोऽग्निम् ॥

३ यद् वायोरानुलोम्याय यदग्निबलवृद्धये । अन्नपानीषधद्रव्य तत्सेव्यं नित्यमशसै ॥

४ वातातिसारवद् भिन्नवर्त्तस्यशस्युपाचरेत् । उदावर्त्तविधानेन गाढविट्कानि चासकृत् ॥

में स्थित होते हैं उनके मस्से (अकुर) दृश्य होते हैं और उनमें वेदना अधिक होती है (वादी ववासीर) । त्वावी अर्थात् प्रायः गुदा के मध्य या अन्तः बलियों में पैदा होते हैं, उनके अंकुर (मस्से) दिखलाई नहीं पड़ते (अदृश्य होते हैं)— इनमें वेदना अल्प या नहीं रहती है, रक्तस्राव ही एक प्रमुख लक्षण पाया जाता है । गुष्क में वायु और श्लेष्मा दोषों की प्रबलता होती है और त्वावी अर्गों में रक्त और पित्तदोषों की प्रबलता पाई जाती है ।

अस्तु दृश्य गुष्कार्गों में तीक्ष्ण द्रव्यों से निर्मित प्रलेपादि, अम्यग, स्वेद, सेक, अवगाहन, वृषन, उपनाह, गुदवर्त्ति तथा रक्तावसेचन प्रभृति स्थानिक उपचार, तीक्ष्ण पाचन द्रव्यों के अंतः प्रयोग से उपचार करना चाहिये । अदृश्य त्वावी अर्गों में रक्तपित्त (अधोग) मृदु मृदु एवं पित्तनामक आभ्यन्तर प्रयोग से उपचार करना चाहिये ।^१ इसमें मृदु वमन और रेचन कर्म लाभप्रद रहता है । कोष्ठशुद्धि का ध्यान रखना सभी प्रकार के अर्गों की चिकित्सा में प्रधान लक्ष्य होना चाहिये । दोषभेद से विचार करें तो वातिक में स्नेहन-स्वेदन, पैत्तिक में रेचनादि, श्लैष्मिक में वमनादि, मिश्र दोषों से उत्पन्न में मिश्रित तथा पित्त-सदृश ही क्रिया रक्तज अर्गों में प्रकीर्त्तिता है ।

रक्तार्ग में रक्त-पित्तनामक उपचार करे । अर्ग में निकलने वाले रक्त की प्रारम्भ में उपेक्षा करनी चाहिये और उसको निकलने देना चाहिये—क्योंकि प्रारम्भ में जो दूषित रक्त निकलता है—उसके रोकने में बहुत तरह के कामलादि उपद्रव होने लगते हैं—अस्तु प्रारम्भ में रक्त के रोकने के लिये स्थानिक या मार्बदेहिक रक्तस्तम्भक उपचार नहीं करना चाहिये । परन्तु दुष्ट रक्त के निकल जाने पर रक्त का संग्रहण करना चाहिये । अथवा यदि रक्तस्राव तीव्र हो तो आत्ययिक अवस्था समझ कर उसका संग्रहण प्रारम्भ में भी किया जा सकता है ।

रक्तार्ग की चिकित्सा में जाठराग्नि को उद्दीप्त करने के लिये, रक्त के संग्रहण (स्मभन) के लिये तथा दोषों के लिये तिव्र रसात्मक द्रव्यों का उपयोग करना चाहिये । रक्त के अधिक झुत हो जाने में वायु की वृद्धि अधिक हो जाती है ऐसी स्थिति स्नेहमाध्य रहती है अस्तु-पिलाने, मालिश तथा अनुवासन के लिये स्नेह का प्रयोग करना चाहिये । पित्तोत्पन्न रक्तस्राव में,

१ गुष्कार्गना प्रलेपादिक्रिया तीक्ष्णा विधीयते । त्वाविणा रक्तमालोक्य क्रिया कार्याल्लपेत्तिकी ॥ स्नेहा. स्वेदादयो वाते पित्ते स्यू रेचनादयः । कफे चान्त्यादयोऽर्शं मु मिश्रे मिश्रा. प्रकीर्त्तिताः ॥ पित्तावद् रक्तजे कार्यः प्रतिकारोऽर्शसि ध्रुवम् । (च.)

दुर्बल रोगी में जिनमें वात-कफ का अनुबन्ध नहीं हो और ग्रीष्मकाल हो तो उनका स्तमन तत्काल करना चाहिये ।

रक्तजे पित्तवेशेष्याद्रक्तपित्तहरी क्रिया ।

प्रवृत्तमादावर्शोभ्यो यो निगृह्यात्यबुद्धिमान् ।

शोणितं दोषमलिनं तद्गोवाञ्जनयेद्बहून् ॥

तस्मात्क्षुते दुष्टरक्ते रक्तसंग्रहणं मतम् ।

कालं तावदुपेक्षेत यावन्नात्ययमाप्नुयात् ॥

अग्निसंदीपनार्थञ्च रक्तसंग्रहणाय च ।

दोषाणां पाचनार्थञ्च परं तिक्तैरुपाचरेत् ॥

यत्तु प्रजीणदोषस्य रक्तं वातोत्प्लवणस्य च ।

वर्त्तते स्नेहसाध्यन्तत्पानाभ्यङ्गानुवासनैः ॥

यत्तु पित्तोत्प्लवणं रक्तं घर्मकाले प्रवर्त्तते ।

स्तम्भनीयं तदेकान्तान्न चैद्वातकफानुगम् ॥ (चर),

अर्श रोग में तक्र—तक्र का निरन्तर सेवन करने से अर्श रोग नष्ट हो जाता है और नष्ट हो जाने पर पुन नहीं उत्पन्न होता है । ग्रहणी और अति-नार रोग में भी तक्र सेवन की प्रगसा हो चुकी है । अब यहाँ अर्श समान उत्पादक हेतु होने को वजह से पुन उसका विधान किया जा रहा है । चरकने लिखा है कि जब पृथ्वी में एक बार घास को निकाल कर उसकी जड़में तक्र छोड़ने से पुन नहीं उगता फिर दीप्त जाठराग्नि वाले पुरुषका शुष्क अर्श तक्र के उपयोग से कंसे-शेष रह सकता है ? तक्र के निरन्तर प्रयोग से भी सभी त्रोट शुद्ध हो जाते हैं, पाचन शक्ति तीव्र होती है, अन्न का सम्यक् परिपाक होने से पक्व रस पैदा होता है । उस से रक्त, मामादि धातुओं की यथाक्रम सम्यक् वृद्धि होती है । शरीर पुष्ट होता है । शरीर में बल-वर्ण-कान्ति का उदय होता है । मन में प्रसन्नता आती है, वस्तुतः वातश्लेष्मोत्प्लवण अर्श के लिये तक्र से बढ कर कोई औषध नहीं है । अर्श के रोगियों में जिनकी अग्नि बहुत मंद है उनमें कुछ दिनों तक अन्न न देकर तक्र पर ही रखना चाहिये और जब अग्नि दीप्त हो जाय तो तक्र के साथ लघु भोजन रोगी को देना चाहिये ।

अग्नि के बल तथा दोष का विचार करते हुए तक्र का भी प्रयोग करना उत्तम रहता है । जैसे, यदि पचन शक्ति पर्याप्त हो तो अनुद्धृत स्नेह तक्र (बिना मक्खन निकाला), यदि पचन शक्ति मध्यम हो तो अर्धोद्धृत स्नेह (आधा मक्खन निकाला) तक्र और अग्नि बहुत मंद हो तो रूक्ष (पूरा मक्खन निकाला) तक्र पीने को दे । दोषानुसारवात की अधिकता में अनुद्धृत स्नेह,

पित्त की अधिकता में मध्योद्भूत तथा कफ की अधिकता में पूर्णोद्भूत या रुक्ष तक्र पीने को देना चाहिये ।

तक्र को चित्रकमूल चूर्ण के साथ मिश्रित करके पिलाने का नियम है । इसके लिये एक विधि यह कि चित्रक के जड़ के कल्क को मिट्टी की हडिया के भीतर लेप कर के मुखालेवे और उसमें तक्र डालकर पी जावे अथवा उसमें यथाविधि गोदुग्ध छोडकर दही जमा ले, उस दही या तक्र का सेवन करे । यह अर्गोहर प्रयोग होता है । यह संभव न हो तो चित्रकमूल चूर्ण (एक माशा, तक्र में मिलाकर पी जावे ।^१ अथवा अजवायन ३ माशे । विडलवण ३ तोला तक्र में मिलाकर भोजन के बाद सेवन करना कोष्ठवद्धता को दूर करता है ।^२

शुष्कार्श में भेषज—आभ्यन्तर प्रयोग—

गुडहरीतकी—६ माशे हरीतकी और एक तोला गुड मिलाकर प्रातः काल सेवन ।

२ एक द्रोण गोमूत्र में हरीतकी के सौफल्यो का स्वेदन करके एक एक का मुवह-गाम ब्रह्मचर्य रखकर सेवन ।

३ सगुड़ कणा अभया—गुड़ १ तोला, पिप्पली ४ रत्ती और हरीतकी ६ माशे मिश्रित सेवन ।

४ त्रिवृत् (निगोय) ३ माशे या दन्तीमूल का चूर्ण ३ माशे तथा गुड़ १ तोला के साथ सेवन । ५ तिल आरुष्कर—तिलका चूर्ण ६ माशे और गुड़ भस्मातक एक माशा मिश्रितकर तक्र या गोदुग्ध या शीतल-जल से सेवन । ६ तिलभस्मातक-कालो तिल, गुड़ भस्मातक तथा गुड़ का समान मात्रा में बना योग दो माशे भर की मात्रा में गोली बनाकर सेवन । ७ चित्रक मूल का मट्टा या सीधु के साथ सेवन । ८ तक्र या मट्ठे के साथ जीके सत्तू का नमक मिलाकर सेवन । ९

१ त्वच चित्रकमूलस्य पिष्ट्वा कुम्भं प्रलेपयेत् । तक्र वा दधि वा तत्र जातमर्गोहरं पिबेत् ॥ वातग्लेष्मार्गसा तक्रात्पर नास्तोह भेषजम् । तत्प्रयोज्यं यथादोषं सन्नेहं रुक्षमेव वा ॥ रुक्षमर्गोद्भूत स्नेह यतश्चानुद्भूतं धृतम् । तक्र दोषान्नि-वल्वित् त्रिविधं तत्प्रयोजयेत् ॥ भ्रमावपि निपिकं तद्वहेत्तक्र तृणोलुपम् । किं पुनर्दोषिकायान्ने शुष्काण्यर्गानि देहिन् ॥ श्रोतं मु तक्रगुद्वेषु रस साम्यमुपैति यः । तेन पुष्टिर्वल वर्णः प्रहर्षश्चोपजायते ॥ नास्ति तक्रात्परं किंचिदोषं कफवातजे । पित्तेदहस्तक्र निरन्तो वा प्रकामतः ॥ अव्यर्थं मन्दकायान्नेस्त-क्रमेवावचारयेत् । (चर)

२ त्रिविवन्धे हित तक्रं यमानीविडमयुतम् । (भै र)

पंचकोल, विडङ्ग, हरीतकी चूर्ण युक्त तक्र का एक मास तक निरन्तर रहकर सेवन । १० शृङ्गवेर (अदरक), पुनर्नवा और चित्रक से सिद्ध दूध का सेवन । ११ चित्रक मूल और चारोदक से यव के ओदन (भात) का सेवन ।

१२ पुटपक्व शूरण प्रयोग—शूरण के ऊपर मिट्टी का २ अंगुल मोटा लेप कर अग्नि में पकाकर भर्त्ता बनाकर नमक और तेल के साथ सेवन ।

१३. वैगन (भण्टा) का भर्त्ता बनाकर सेवन ।

भेषज-योग—चिरविल्वदिक्षाय—चिरविल्व (करजकी गुद्दी), पुनर्नवा, चित्रक मूल, अभया, छोटी पीपली, सोठ तथा सैधव के सम भाग में सिद्ध कषाय का सेवन ।^१

लवणोत्तमादिचूर्ण—सैन्धवलवण, चित्रकमूल, इन्द्र जी, करञ्ज बीज की मज्जा, वकायन के बीज की गुद्दी समभाग में चूर्ण । मात्रा ३ माशे—६ माशे । अनुपान तक्र (मट्ठे) । एक सप्ताह के प्रयोग से पर्याप्त लाभप्रद ।^२

—समशर्करचूर्ण—छोटी इलायची १ तोला, दालचीनी २ तो तेजपत्र ३ तोला, नागकेसर ४ तोला, काली मिर्च ५ तोला, पीपरी ६ तोला, सोठ ७ तोला सब के बराबर मिश्री मिलाकर बनाया चूर्ण । मात्रा ३ माशे से ६ माशे की अनुपान जल । श्वास कास, अर्श तथा अग्निमाद्य में लाभप्रद ।^३

भल्लातक अथवा कुटजत्वक्—शुष्कार्श में भल्लातक और रक्तार्श में कुटजत्वक् का योग सर्वोत्तम हैं । सभी प्रकार के अर्श में सभी ऋतुओं में शक्ति-वर्द्धक, अग्निवर्धक और मलशोधक आहार और पथ्य देना चाहिये ।^४

उपर्युक्त प्रयोगों द्वारा अग्नि दीप्त होती है और—कारण के नाश से कार्य का नाश—इस सिद्धान्त के अनुसार अर्शङ्कुर नष्ट होते हैं । अर्शङ्कुरों पर कई प्रकार के अभ्यंग, लेप आदि का प्रयोग भी लाभप्रद होता है । ऐसे कुछ योगों का नीचे उल्लेख किया जा रहा है ।

१ चिरविल्वपुनर्नववल्ह्यभयाकणनागरसैन्धवसाधितकम् ।

गुदकोलभगदरगुल्महर जठराग्निविवर्धनमाशु नृणाम् ॥

२ लवणोत्तमवह्निक्कलिक्लयवान् चिरविल्वमहापिचुमर्दयुतान् ।

पिव सप्तदिन मथितालुलितान् यदि मर्दितुमिच्छसि पायुगदान् ॥

३ शुष्ठीकणामरिचनागदलत्वगेल् चूर्णीकृत क्रमविवर्द्धितमूर्ध्वमन्त्यात् ।

खादेदिदं समसितं गुदजाग्निमाद्यकासाश्चिश्चसनकण्ठहृदामयेषु ॥

(भे र)

४ शुष्केषु भल्लातकमग्नचमुक्त भेषज्यमाद्रेषु च वत्सकत्वक् ।

सर्वेषु सर्वर्तुषु कालशेयमर्शसु वल्यं च मलापहञ्च ॥

ब्राह्म या स्थानिक प्रयोग—अभ्यंग तथा स्वेद—स्तब्धता, शोक और गूल से युक्त गुष्कार्ण मे पचगुण तैल या पिप्पल्यादि तैल (चित्रक-यवक्षार-वेल से यथाविधि सिद्ध तैल) का अभ्यंग करके सोवा और घोडवच की पोट्टली या भाँग की पत्ती की पोट्टली बनाकर या सहिजन के छाल की पोट्टली बनाकर आग पर तवा रख कर उस पर गर्म करके सेंक करना । सेक—वासक, अर्क, एरण्ड, विल्व के पत्रों का काढा बना कर गुनगुने (कोष्ण जल से) अर्गोङ्कुरों का धोना । अवगाहन—झरवेर या वित्त के, छाल की काढे को कोष्ठक (Tub) में भर कर कुछ समय तक उसमें बैठना आर्गोङ्कुरगत शोथ और वेदना का शामक होता है । धूपन—सम भाग मे गुग्गुलु, भूर्जपत्र, देवदाली (वन्दाक), धी, गर्करा लेकर आग मे छोडकर गुदाङ्कुरों पर धुवा देना अथवा मनुष्य के बाल, साँप की केचुल, विडाल का चमडा, मदार की जड और गमीपत्र, समभाग मे लेकर आग पर छोड कर मस्तो पर धुवाँ देना । लेप-अर्कक्षीरादि लेप—अर्क क्षीर (मदार का दूध), स्नुहीक्षीर (मेहुडका दूध), कडुवी लौकी की पत्ती, करञ्ज का फल सब समभाग मे लेकर बकरी के मूत्र मे पीस कर अकुरों के ऊपर लेप करना । हरिद्रादि लेप—हरिद्राका चूर्ण, कडवी तरौई की पत्ती, बीज या जड का चूर्ण बराबर बराबर लेकर सरसो के तेल मे मिलाकर लेप करना । स्नुही क्षीर और हरिद्रा के चूर्ण का लेप अथवा दन्ती बीज, तूतिया या कामीस, कव्तर या मुर्गे की विण्ठा और गुड को एक में पीस कर लेप करना । उपनाह—भाँग, कुकुरीधा की पत्ती, महुवे का फूल या केवल कुकुरीधा को पानी में पीस कर टिकिया जैसे बनाकर गर्म करके मस्तो पर बाँधना अथवा चक्रमर्द के बीज को पीस कर गर्म करके बाँधना । गुदवर्ति—कडवी तुम्बी के बीज, गिरीप के बीज, खारोलवण या माभर लवण, कडुवी तरौई के बीज की गुद्दी और गुड मिलाकर पिबला कर लम्बी वृत्ति (Suppository) बनाकर गुदा में धारण करना । पिचुधारण—कामीसाद्य तैल (शा स.) या पिप्पल्यादि तैल की रुई में प्लोत बनाकर गुदा मे धारण करना । जलौका—उपयुक्त उपायो से यदि अर्गोङ्कुरगत वेदना, शोक और स्नभ का गमन न हो तो जलौका (जोक) लगाकर दूषित रक्त को निकालना चाहिये । अथवा सर्वप्रथम फूले हुए अर्गोङ्कुरों का दूषित रक्त जोक से निकलवा कर पश्चात् ये लेप, सेक आदि उपचारों को बरतना चाहिये ।

रक्तस्रावी अर्श मे आभ्यन्तर भेषज—१. अपामार्ग मूल को मरिच, मिश्री और चावल के पानी के साथ पिलाना । २. दूध के साथ सतावरी का सेवन । ३. कुटज और वदाक मूल का कल्क महुँ के साथ लेना । ४. काले तिल

का ६ माशे प्रतिदिन शीतल जल मे प्रात काल मे सेवन । अथवा कालातिल १ तोला, शक्कर १ तोला वकरी के दूध के साथ सेवन । १४ अभ्यास—नवनीत (मन्जन) और तिल के अभ्यास मे, केशर, नवनीत और मिश्री के अभ्यास से, सारयुक्त दधि का मथकर सेवन के अभ्यास से अर्थात् नित्य सेवन करने से रक्तार्श रोग दूर होता है ।^१

५ असली नागकेशर या केशर का मक्खन और मिश्री के साथ सेवन । ६ वनतण्डुलीयक का तण्डुलोदक से सेवन (वन चौलाई की जड़ ६ माशे, मधु ३ माशे, मिश्री ३ माशे, तण्डुलोदक एक छटाँक छानकर पिये) ७ मण्डूकपर्णी का स्वरम मधु के साथ मिलाकर सेवन । ८ कच्ची मूली का चीनी के साथ सेवन या पलाण्डु का सेवन । ९ कुटज की छाल, बिल्वफल-मज्जा और शुठी का सेवन । अथवा केवल कुटज की छाल को तक्र के साथ पीसकर सेवन । १० गेन्द्रे के फूल और पत्ती का स्वरस ६ माशे दिन मे दो बार रक्तार्श मे लाभप्रद पाया गया है । ११ दाडिम (अनार) फल के छिलके को पीसकर चीनी के साथ सेवन । १२ असली केशर या नागकेशर ४ रत्ती की मात्रा मिश्री और चावल के पानी के साथ देना भी लाभ-प्रद होता है । १३ कमलिनी का कोमल पत्र पीसकर वकरी के दूध और मिश्री के साथ पीना ।

भेषज योग—

१ नागकेशर योग—नागकेशर, सूतखरावी (दमउल अखवेन) का सम-मात्रा मे बना योग । २ माशे । अनुपान शीतल जल, वकरी का दूध या चावल के जल के साथ ।

२ चंदनकिरातादि कषाय—रक्त चदन, चिरायता, जवासा, सोठ, इन्द्र जी, कुटज की छाल, खस, अनार के फल का छिलका, दाहहल्दी, नीम की छाल, लज्जालु, अतीस और रसोत समभाग मे लेकर यथाविधि ब्वाथ । शीतल होने पर मधु मिलाकर एक छटाँक की मात्रा मे दिन मे तीन बार सेवन रक्त का सद्यः सप्राहक होता है ।

३ समझादि चूर्ण—मजोठ, नील कमल, मोचरस, लोध्र, कालीतिल, श्वेत चदन, लाजवती । समभाग चूर्ण । मात्रा ३ माशे । अनुपान अजाक्षीर ।

वाह्य धूपन—नृकेशादि धूम (जिसका उल्लेख ऊपर मे शुष्कार्श मे हो चुका है ।) अथवा राल-कर्पूर धूम राल एव कर्पूर को अग्नि मे जलाकर गुदा

१. नवनीततिलाभ्यासात् केशरनवनीतशर्कराभ्यासात् ।

दधिसरमथिताभ्यासाद् गुदजा शाम्यन्ति रक्तवहाः ॥

(भे २)

का धूपन करने से रक्तस्राव बंद होता है । दाहशामक अभ्यंग—दाह के निवारण के लिये गतघीत अथवा सहस्रघीत घृत का लेप अगुली की सहायता से गुदा में करना । अवगाहन—यदि अधिक रक्तस्राव हो और गुदा में दाह हो तो, मधुयष्टि, खम, पद्म काष्ठ, रक्त चंदन, कुश और कास की जड़ के उवाले शीतल जल को टब में भर दे और उसमें रोगी को कुछ देर के लिये बैठावे । पिचुधारण—कई बार रक्तार्ण में अत्यधिक रक्तस्राव होने लगता है और वह बंद नहीं होता उस अवस्था में वर्फ में तर करके कपड़े की वर्त्ति (Gawge) या उदुम्बर सार में भिगीयी वर्त्ति को गुदा में भरना लाभप्रद रहता है । रसोत और गोघृत, राल और गोघृत, मफेद चंदन का घृष्ट और गोघृत अथवा नीलोत्पल चूर्ण और गोघृत का गुद वलियों में लेप भी लाभप्रद रहता है । पिच्छा वस्ति—जवासा, कुश और कास की जड़, मेमर का फूल, वरगद, गूलर और पीपल का गुंग प्रत्येक दो-दो पल, जल ३ प्रस्थ, गोदुग्ध १ प्रस्थ सबको एक में पकावे जब दूध मात्र अवशिष्ट रहे तो छान ले । उसमें सेमल की गोद, लाजवन्ती, चंदन, नीलोफर, इन्द्रजौ, फूल प्रियगु और कमल की केसर का कल्क छोड़कर मथकर वस्ति यंत्र में भरकर वस्ति दे । यह योग मद्य. रक्तस्तम्भक होता है और रक्तार्ण के अतिरिक्त प्रवाहिका और गुद-भ्रंश में भी उपयोगी है ।

अर्श रोग में व्यवहृत होने वाले प्रसिद्ध एवं दृष्टफल योग—

मोदक—नागरादि मोदक, अगस्ति मोदक, स्वल्प गूरुण मोदक तथा,

वृद्धत सूरण मोदक—सूरणकंद (ओल या जमीकंद) १६ भाग, चित्रक की जड़ ८ भाग, शुठी चूर्ण ४ भाग, कालीमिर्च का चूर्ण २ भाग, त्रिफला चूर्ण ४ भाग, पिप्पली, पिप्पली मूल, तालीश पत्र, शुद्ध भल्लातक, वायविडङ्ग प्रत्येक ४ भाग, मुमलीकंद ८ भाग, वृद्धदारुक (विधारे के बीज का चूर्ण) १६ भाग, छोटी एला ४ भाग । इन सभी द्रव्यों की मिश्रित मात्रा के द्विगुण पुराना गुड । मात्रा २ तोले । अनुपान दूध । इस योग के लम्बे समय तक प्रयोग करने से बिना किसी शस्त्र कर्म के ही अर्शोच्छुर नष्ट हो जाते हैं और अग्नि दीप्त होती है ।

काङ्कायन मोदक—हरीत की चूर्ण ४ तोले, जीरक, मरिच, पिप्पली प्रत्येक १ तो, पिप्पली मूल दो तोले, चव्य का चूर्ण ३ तोले, चित्रक चूर्ण ४ तोले, शुठी चूर्ण ५ तोले, शुद्ध यवक्षार २ तोले, शुद्ध भल्लातक ८ तोले, सूरण कंद १६ तोले । इस चूर्ण से द्विगुण पुराना गुड (१ सेर) लेकर भली प्रकार में आलोडित कर पूरा करे । ४ माशे की मात्रा में मोदक बना ले । प्रातः १ या दो मोदक । शीतल जल या तक्र से ।

कुजट लेह—कुटज का कपाय बनाकर उसमें गुड, घृत मिलाकर गाढ़ा करना उसमें निम्नलिखित द्रव्यों का प्रक्षेप—शुद्ध भल्लातक, वायविडङ्ग, त्रिकटु, त्रिफला, रसाञ्जन, चित्रक मूल, इन्द्र जी का चूर्ण, वचा, अतीस तथा विल्व फल भज्जा समभाग में । इस लेह में घृत और गृहद मिलाकर रख ले । मात्रा १ तोला । अनुपान घृत, मधु तक्र या जल । सभी प्रकार के अर्श में, ग्रहणी, अम्लपित्त तथा अतिसार रोग में भी लाभप्रद होता है ।

श्री बाहुशाल गुड—त्रिवृत्, दन्तीमूल, चव्य, गोसह, चित्रकमूल, कचूर, इन्द्रायण की मूल, नागरमोथा, शुण्ठी, वायविडङ्ग, हरीतकी प्रत्येक एक तोला, शुद्धभल्लातक ८ तोले, वृद्धदारुक का शुद्ध बीज ६ तोले, शुद्ध शूरण कद १६ पल । इन द्रव्यों का क्वाथ बनाकर उसमें सवा ६ सेर पुराना गुड डालकर अग्नि पर चढ़ाकर गाढ़ा करे । पुन उसमें निम्न लिखित आठ द्रव्यों का प्रक्षेप छोड़कर एक में मिलाकर रखे । प्रक्षेप द्रव्य-त्रिवृष्टमूल २ तोले, चव्यचूर्ण २ तोले, शूरणकद चूर्ण २ तोले, चित्रक मूल चूर्ण २ तोले, सूक्ष्मैला, दालचीनी, मरिच और गजपिप्पली चूर्ण प्रत्येक ६ तोले (मात्रा १ तोले) प्रतिदिन शीतल जल से । यह एक मिद्ध योग है । इसके लम्बे समय तक छ. मास या एक वर्ष के प्रयोग में अर्श रोग अवश्य नष्ट होता है ।

दन्त्यरिष्ट—दन्ती, चित्रक, लघुपचमूल (शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, वृहती, कटकारिका, गोधूर), वृहत् पचमूल (विल्व, अग्निमथ, सोनापाठा, पाटला, गाम्भारी), इनमें प्रत्येक का चार-चार तोले, तथा त्रिफला १२ तोले । इन द्रव्यों का यवकुट करके क्वाथ्य द्रव्य, जल १२ सेर, १२ छटाँक ४ तोले । क्वाथ करके चतुर्थांश अवशिष्ट जल में ५ सेर पुराना गुड मिलाकर घट में भर आसवारिष्ट विधि से सधान एक मास तक करे । फिर छानकर बोतल में भर कर प्रयोग करे । मात्रा २॥ तोले । अनुपान समान जल मिलाकर । दोनों समय प्रधान भोजन के बाद । यह तीव्रवातानुलोमक और विवधहारक (मलशोधक) होता है । जीर्ण विवध और अर्श के रोगियों में समान भाव से उपयोगी है ।

अभयारिष्ट—गुठली रहित हरीतकी फल ५ सेर, मुनक्का २½ सेर, वायविडङ्ग और मधूक पुष्प (महुवे का फूल) प्रत्येक आधासेर । इन द्रव्यों को १२ सेर, १२ छटाँक ४ तोले अर्थात् १ द्रोण जल में अग्नि पर चढ़ाकर चतुर्थांश-शावणिष्ट क्वाथ बनावे । पश्चात् शीतल होने पर आसव विधि से ५ सेर पुराना गुड मिलाकर निम्नलिखित प्रक्षेप द्रव्यों को डाल कर सधान करे । प्रक्षेप द्रव्य-गोक्षर, त्रिवृतमूल, धान्यक, धातकी पुष्प, इन्द्रवारुणी, चव्य, शतपुष्पा, गुण्ठी,

दन्तीमूल, मोचरस प्रत्येक का ८ तोले चूर्ण । एक मान तक मंधान (मंत्रि-
वधन कर के जमीन में गाड़ कर रखकर) करके निकाले और छानकर बोनलो
में भर दे । मात्रा २ से ४ तोले । अनुपान समान जल में भोजन के अनन्तर ।
यह भी एक मिष्ट योग है, अर्घ रोगियों में प्रयुक्त होकर अग्नि का वर्धन, मल
का मोचन और वायु का अनुलोमन करता है । जीर्ण विवंध के रोगियों
(Chronic Constipation) में बड़ा लाभदायक रहता है ।

मुनिपण्ण चाङ्गेरीधृत—चतुष्पप्पा, दन्तीमूल, बन्हरिडा, पृथ्विपर्णी,
गोधुर, बटाचूर, उदुम्बर की कोमल पत्तियाँ, अरक्य (पीपल) के कोमल
पत्र । इन द्रव्यों का दवाय । इस दवाय में निम्नलिखित ओषधियों के कल्क
छोड़े—जीवंती, कुटकी, पिप्पली, पिप्पलीमूल, काली मिर्च, देवदारु, इन्द्रियव,
सेमलपुष्पी, औरका कोली, नालचंदन, श्वेतचंदन, रसोत, कायफल, चित्रकमूल,
नागरमोथा, फूल प्रियंगु, अतीम, चालपर्णी, लाल कमल का केसर, मंजिष्ठा,
छोटी कटेरी, कच्चे विल्व फल की मज्जा, मोचरस और पाठा समभाग में लेकर
शिला पर पीसकर मिलावें । पुन इसमें चीपतिया (मुनिपण्णक) तथा
तिनपतिया (चाङ्गेरी) का स्वरस मिलाकर गोधृत को धृतपाक विधि से
पकावे । इस योग का प्रयोग अर्घ, ग्रहणी, जीर्ण प्रवाहिका तथा गुदभ्रंश में
बड़ा उत्तम रहता है ।

कासीसाद्य तैल—कासीस, दन्तीमूल, सैन्धव, कनेर की जड़—प्रत्येक
१ पाव लेकर पीसकर कल्क बना ले । पुन इस कल्क को ४ सेर तिल, तैल काञ्जी
१६ सेर, अर्कज्वर १ पाव डालकर सिद्ध करे । इसके स्थानिक उपयोग से
अर्घ के मस्से कटकर गिर जाते हैं ।

पिप्पल्याद्य तैल—छोटी पीपल, मधुयष्टि, विल्वफल मज्जा, चतुष्पप्पा,
मदनफल, वच, कूठ, गुण्ठी, पुष्करमूल, चित्रकमूल, देवदारु-समभाग में लेकर
कल्क । इस कल्क से चतुर्गुण तिल, तैल त्रिल तैल से द्विगुण गाय का दुग्ध और
चतुर्गुण जल डालकर अग्नि पर चढ़ाकर सिद्ध करे । इस तैल का गुदा में
पिचु वारण या गुदान्त भरण (Rectal Injection) अर्शोगत वेदना
का शामक होता है ।

अशोवेदनान्तक लेप—चतुर्धृत धृत १ भाग, देशी कपूर $\frac{1}{2}$ भाग,
पिपरमेण्ट $\frac{1}{4}$ भाग, श्यामाल (यमानीसत्त्व) $\frac{1}{4}$ भाग । इसके लेप से गुदागत
जह और वेदना का शमन होता है । इसमें साजूकल $\frac{1}{2}$ भाग और अट्फेन
 $\frac{1}{2}$ भाग मिलाने से वेदना का शमन और शीघ्र होता है ।

रस के योग : अर्श कुठार रस—शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गंधक २ तोला, लौहभस्म, ताम्रभस्म, प्रत्येक दो तोला, दन्तीमूल चूर्ण, त्रिकटु चूर्ण, सूरणकद चूर्ण, वशलोचन चूर्ण, सैन्धव लवण, शुद्ध टकण, यवक्षार, इनमें प्रत्येक ५ तोले, स्नुही-क्षीर ८ तोले । पहले कज्जली बनाकर पश्चात् इन चूर्णों को छोड़कर महीन पीसकर—३२ तोले गोमूत्र में मिलाकर अग्नि पर चढ़ा दे, समग्र औषधि का पिण्ड रूप आने तक पाक करे । फिर सुखाकर चूर्ण रूप में पीसकर शीशी में भर ले । मात्रा १ माशा । अनुपान गुलकद या १० मुनक्के की चटनी से । यह एक सुन्दर योग है—अर्श के प्रकोपकाल में (Inflamed piles) प्रयुक्त होकर तीन दिनों में पर्याप्त लाभ दिखलाता है ।

चन्द्रकुठार रस—शुद्ध पारद २ तोला, शुद्ध गंधक २ तोला, लौह भस्म २ तोला, गुण्ठी, मरिच, पिप्पली, दन्तीमूल, मीठा कूठ, प्रत्येक का एक-एक तोला, कलिहारीमूल चूर्ण, यवक्षार, सैन्धव, शुद्ध सुहागा (टकण), गोमूत्र ३२ तोले, स्नुही क्षीर ३२ तोले । खरलकर पिण्डीभाव तक पाक । फिर शीतल हो जाने पर मुखा कर चूर्ण रूप या वटी रूप में बना ले । मात्रा २ रत्ती प्रातः सायम् । गुलकंद या १० मुनक्के की चटनी से ।

निस्त्योदित रस (भल्लातक युक्त)—रससिन्दूर, अभ्रक भस्म, लौह भस्म, ताम्र भस्म, शुद्ध वत्सहाभ विष प्रत्येक १ तोला शुद्ध भल्लातक चूर्ण ६ तोले । सब एकत्र महीन घोट पीस कर सूरणकद और मानकद के स्वरस से तीन दिनों तक भावना दे । सुखा कर शीशी में भरले । मात्रा १ माशे । घृतके साथ ।

चन्द्रप्रभा गुटिका—वायविडङ्ग, त्रिकटु, त्रिफला, देवदारु, चव्य, चिरायता, पिप्पलीमूल, मुस्तक, कचूर, वच सुवर्णमाक्षिक, सैन्धव, यवक्षार, हरिद्रा, दारु-हरिद्रा, नेपाली धनिया, प्रत्येक एक तोला, शुद्ध शिलाजीत ३२ तोले, शुद्ध गुग्गुल ८ तोले, लौह भस्म ८ तोले लेकर पीस कर वस्त्र से छानी हुए वशलोचन, दन्ती-मूल, दालचीनी या त्रिसुगंध (छोटी इलायची, दालचीनी, तेजपत्र) सब को अच्छी तरह घोट कर ४ रत्ती की गोलियाँ बना ले । यह एक सिद्ध योग है जिमका प्रयोग बहुत प्रकार के रोगों में होता है । विशेषतया मधुमेह, बहुमूत्र (Diabetes), पौरुषग्रन्थिवृद्धि (Enlarged Prostate), रक्ताल्पता, दीर्घत्व तथा अर्श रोग में लाभप्रद पाया गया है । मात्रा—१-२ गोली । अनुपान—क्षीर ।

यष्ट्यादि चूर्ण या मधुयष्ट्यादि चूर्ण—मधुयष्टि, सनाय की पत्ती प्रत्येक २ भाग, सौंफ, दारुहरिद्रा और शुद्ध गंधक प्रत्येक एक भाग, मिश्री १६ भि० सि०

७ भाग, सबो को मिलाकर बना मिश्रित चूर्ण । मात्रा ६ मागे । अनुपान जल या दूध । यह एक मृदु रेवन (Mild purgative) है । अर्घ के रोगियों को प्रकोपावस्था में एक सप्ताह तक नित्य प्रयोग करने से मल का गोचन करके बड़ा लाभप्रद होता है ।

अर्शोघ्नी वटी—नीमके फल की गुट्टी २ भाग, महानिम्ब (वक्रायन) के फल की गुट्टी २ भाग, खूनखरावा २ भाग, तृणकान्त (कहरवा) की गुलाब जल से घुटी हुई पिष्टि १ भाग, शुद्ध रसीत ६ भाग लेकर महीन पीसकर । तीन-तीन रस्ती की गोलियाँ बना ले । मात्रा १ से २ गोली तीन बार जल में ।

कुष्ठ व्यवस्थापत्र—शुष्कार्घ में अर्घ कुठार रस १ मागे की दो मात्रा में बाँटकर मुवह-शाम गुलकद या मुनक्के की चटनी से । अर्घकुठार के साथ या नित्योदित रस २ रस्ती मुवह-शाम या काङ्कायन मोदक या चंचत्कुठार रस ४ रस्ती मुवह और शाम भी दिया जा सकता है । अमयारिष्ट या दन्त्यरिष्ट भोजन के बाद दोनों समय दो से चार चाय की चम्मच भर समान जल मिला कर । रात्रि में सोते वक्त यष्टयादि चूर्ण ६ मागे गर्म जल या दूध से लगातार एक सप्ताह तक ।

स्रावी अर्श या रक्तार्श में—अर्शोघ्नी वटी १ से २ गोली दिन में तीन बार ठंडे जल से । भोजनोत्तर अमयारिष्ट या दन्त्यरिष्ट । यष्टयादि चूर्ण लगातार चार दिनों तक ६ मागे की मात्रा में दूध या जल में । पञ्चात् चन्द्रप्रभागुट्टिका का लम्बे समय तक प्रयोग करना चाहिये । २ गोली रात में सोते वक्त दूध से ।

पथ्य—पुराना चावल, गेहूँ, जौ, मूँग की ढाल, गाय का दूध, मक्खन, घृत, तक्र, पत्रशाको में (व्युवा, पुनर्नवा, पटोलपत्र, चणक), फल-शाको में सभी विशेषतः लौकी, परवल, कच्चा पपीता, बैंगन, पका टमाटर (विशेषतः रक्तार्शमें), भण्डा का भर्ता, कंद शाको में जलजम, मूली, मूरण, पलाण्डु, भासो में मुर्गा, वत्तक, लवा, बटेर, तीतर, हिरण और बकरे का मासरस (सामान्यतया मासरस सभी विषयकर होते हैं अस्तु उनका प्रयोग कम करना तथापि हल्के और मुपाच्य मासरसों का उपयोग किया जा सकता है ।) सेंधव लवण, धनिया, जीरा, सोठ, अज-त्रायन, लहसुन, काली मिर्च, हल्दी, आँवला, कपित्थ आदि मसाले व्यवहार में लाने चाहिये । फलों में पका पपीता, बीज रहित अमरुद, मुनक्का, किशमिश, अजीर, आँवले का प्रयोग पथ्य है । रक्तार्श के रोगियों में विशेषतः तिनपतिया, चौपतिया, वरगदका अक्रुर, कमल की पंखुड़ी, विस (कमलनाल), कच्चा केला, फलों में अनार, मोसम्मी, पिण्ड खजूर, किशमिश, पका गूलर आदि विशेष लाभ-प्रद रहते हैं ।

अपथ्य—गर्भ मसाले, मिर्च-राई और सरसो का अधिक सेवन, विवधकर तथा गुरु पदार्थ-पूड़ी, हलुवा, चना, मसूर, उडद, अचार, सेम, बोडा, अरुई, आलू प्रभृति कदशाक, मत्स्य, गूकर, पालतू जानवर प्रभृति गरिष्ठ मांसो का परित्याग अर्श रोग में करना चाहिये । इसके अतिरिक्त अधिक स्त्रीसग, जानवर के पीठ की नवारी, उत्कटुकासन, मल-मूत्र के वेगो का धारण, आस्थापन वस्ति का बार-बार प्रयोग प्रभृति आचरणो को छोड़ देना चाहिये ।^१



नवौं अध्याय

अग्निमान्द्य-प्रतिषेध

क्रियाक्रम

जाठराग्नि—चार प्रकार की होती है । सम (प्राकृत), विपम (कभी पाक हो कभी न हो), तीक्ष्ण (अतिमात्रा में पाचन की शक्ति बढ़ जाना) तथा मन्दाग्नि (जिसमें अन्न का परिपाक न होवे) । इनमें प्राकृत या समाग्नि प्राकृतिक जठराग्नि का बोधक है यह कोई विकार नहीं है—इसका सम्यक्तया ठीक बनाये रखने का प्रयत्न प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिये । शेष अग्नि के विभेद अर्थात् विपम, तीक्ष्ण या मन्द वैकारिक अवस्थायें हैं—जिनका सम्यक्तया उपचार करते हुए प्राकृत या समाग्नि के रूप में लाना चिकित्सक का प्रधान उद्देश्य रहता है । पुन इन तीन वैकारिक अवस्थाओं में तीक्ष्णाग्नि या भस्मक का उपचार विलकुल पृथक् या स्वतन्त्र रूप का है । अस्तु इसका पृथक् उल्लेख किया जायगा । विपमाग्नि तथा मन्दाग्नि ये वास्तव में दो ही रोग प्रधान हैं जिनकी चिकित्सा का वर्णन इस अग्निमान्द्य नामक प्रतिषेध अधिकार में विधेय है ।^२

अग्निभेदो का दोषानुसार विचार किया जावे तो कफदोष की अधिकता से अग्नि मद, पित्त दोष की अधिकता से अग्नि तीक्ष्ण, वातदोष की अधिकता से अग्नि विपम तथा तीनों दोषों के समान रहनेसे अग्नि सम या स्वाभाविक रहती है । अस्तु उपचार काल में काय-चिकित्सा में जठराग्नि का सर्वाधिक महत्त्व है । सैकड़ों दोषों के कुपित हो जाने तथा अनेक रोगों के उत्पन्न हो जाने पर भी कायाग्नि की रक्षा करते रहने से जीवन की रक्षा हो जाती है । अर्थात् पाचकाग्नि

१ वेगावरोधस्त्रीपृष्ठयानान्युत्कटुकासनम् ।

यथास्व दोषल चान्नमर्शं सु परिवर्जयेत् ॥ (सु चि २)

२ मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विपम समश्चेत् चतुर्विधः । कफपित्तानिलाधिकात्तत्साम्याज्जाठरोऽनलः ॥ समस्या रक्षण कार्यं विपमं वातनिग्रहः । तीक्ष्णे पित्तप्रतीकारो मन्दे श्लेष्मविशोषणम् ॥

के ठीक या स्वस्थ न रहने पर कुपित हुए अनेक दोष अथवा रोग, रोगी का कोई बड़ा अनिष्ट नहीं कर सकते, परन्तु पाचकाग्नि के विपम होने से बहुविध दोषों का कोप होकर विविध रोग हो जाते हैं—जो रोगी के लिये प्राणघातक भी सिद्ध हो सकते हैं। अस्तु कायचिकित्सा तन्त्र में समस्त रोगों की चिकित्सा में पाचकाग्नि या जाठराग्नि की रक्षा करना मुख्य मन्त्र या सार है। एतदर्थ पाचकाग्नि को साम्यावस्था (स्वाभाविक अवस्था) में रखने के लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।^१

अग्निभेदों का दोषानुसार विचार किया जाय तो कफ दोष की अधिकता से अग्नि मंद, पित्त दोष की अधिकता से अग्नि तीक्ष्ण, वात दोष की अधिकता से अग्नि विपम तथा तीनों दोषों के समान रहने पर अग्नि सम या स्वाभाविक रहती है। अस्तु उपचार-काल में इस बात का भी विचार अपेक्षित रहता है। इनमें समाग्नि अर्थात् स्वाभाविक अग्नि की उचित आहार-विहारादि से रक्षा करना, विपम होने पर वायु का निग्रह करना, तीक्ष्णाग्नि में पित्त का शमन करना तथा मन्द अग्नि होने पर बड़े और दूषित कफ का शोषण या शोधन करना चाहिये।

मन्दाग्नि या विपमाग्नि की चिकित्सा में अग्नि को दीप्त करनेवाले योगों को देना चाहिये। मन्द अग्नि को कटु-तिक्त और कषाय रसात्मक द्रव्यों का सेवन करके उद्दीप्त करना चाहिये और विपमाग्नि को स्नेहाम्ल-लवणादि द्रव्यों से वात का गमन करते हुए सम या स्वाभाविक अवस्था में लाना चाहिये।^२

मन्दाग्नि तथा विपमाग्नि में व्यवहृत होनेवाले एवं अग्नि को दीप्त करनेवाले योग—१ हरीतकी तथा शुण्ठी चूर्ण प्रत्येक ३ मासे का पुराने गुड एक तोला के साथ मिलाकर सेवन अथवा सेन्धा नमक २ मागे के साथ मिलाकर सेवन करना उत्तम रहता है।

२ पिप्पली (१ मासे) का चूर्ण पुराने गुण्ड (६ मासे) मिलाकर सेवन करना भी अग्नि को दीप्त करता है। अथवा पिप्पली को निम्बुस्वरस में भिगोवे, उसके तर हो जाने पर उसमें चतुर्थांश काला नमक मिलाकर निम्बु के रस में घोट कर गोली बना ले। पुनः ३-गोली का सेवन करे।

३ यवक्षार २ मागे, शुण्ठी चूर्ण ४ मासे गोघृत मिलाकर प्रातः काल में सेवन अथवा शुण्ठी चूर्ण घृत के साथ।

१ सारमेतच्चिकित्साया परमनेच्च पालनम्। तस्माद्यत्नेन कर्तव्यं बह्वैस्तु प्रतिपालनम् ॥ अस्तु दोषगत क्रुद्ध सन्तु व्याधिगतानि च। कायाग्निमेव मतिमान् रक्षन् रक्षति जीवितम् ॥ (भै र)

२ सममग्निं भिषग् रक्षेदन्नपानैर्नृणा हितै। मन्दं स वर्धयेदग्निं कटुतिक्त-कषायकै। स्नेहाम्ललवणाद्यैश्च विपमाग्निमुपाचरेत् ॥ (च)

४ पातक के मण्ड में घी में भुनी हींग और काला नमक मिलाकर सेवन ।

५ भोजन के पूर्व लवण और अदरक का सेवन—अग्नि का संदीपन, जिह्वा और मूत्र का निर्मोचन बना हुआ होता है ।

हिंयष्टक चूर्ण—शुण्ठी, मरिच, पिप्पली, अजमोदा, सैन्धव, श्वेत जीरा, राज जीरा और घृत में भुनी हिंग । सब सम भाग में बना चूर्ण । मात्रा २ माशे में ४ माशे । अनुपान घृत में मिलाकर भोजन के साथ प्रथम कवल में सेवन । यह प्रसिद्ध राग है, पाठराग्नि को दीप्त करता है ।

भास्कर लवण—पिप्पली, पिप्पलीमूल, धान्यक, काला जीरा, पीसा हुआ नींबू, तिल, त्रिफल, तैजपत्र, तालीश पत्र, नागकेसर प्रत्येक का चूण ८ तोले । मोदक (काला नमक) २० तोले, काली मिर्च, श्वेत जीरा, शुण्ठी प्रत्येक का चूर्ण चार तोले, दालचीनी, छोटी इलायची प्रत्येक का चूर्ण २ तोले, समुद्र लवण ३२ तोले, अनारदानों का चूर्ण १६ तोले, अम्लवेत ८ तोले । सभी द्रव्यों का उपर्युक्त प्रमाण में बना महीन चूर्ण । मात्रा २ माशे से ४ माशे ।

अनुपान—गुग्गुलु, बाजी, श्वेत, जंगली पशु-पक्षियों के मांसरस अथवा केवल गर्म जल । यह एक प्रसिद्ध योग है इसके सेवन में अग्नि दीप्त होती है फलतः मन्दग्नि के कारण उत्पन्न होनेवाले अर्श, अतिमार, गहणों, विषय आदि सभी रोगों में लाभप्रद है । इस चूर्ण का नाम आविष्कारक के नाम पर आधारित है । भास्कर नामक ज्ञानार्थ ने नसार के कल्याणार्थ सर्वप्रथम चिकित्साशास्त्र में इस योग का प्रयोग बताया था । इस योग में लवणों को निकालकर अलवण-भास्कर चूर्ण बनाया जा सकता है, जिनमें लवण अपथ्य हो विशेषतः मधुमेह के रोगियों में अग्निमान्य होने पर प्रयोग में लाना उत्तम रहता है ।

जुधावटी—शुद्ध टकण, शुण्ठी, मरिच, पिप्पली, सज्जीखार, यवाखार, आवला, हरीतकी, विभीतक का छिन्का, लींग, चीते की जड़, चव्य, पचलवण, तिलिन्दीक, गुग्गुलु अनारदाना, सोठ भुनी, लौह भस्म, भीमसेनी कपूर सम भाग लेकर चूर्ण करे पश्चात् अम्लवेत के काढ़े से, अदरक के रस, नीबू के रस से तथा अजवायन के काढ़े से तीन-तीन बार भावना देकर चना के बराबर की गोली । दिन में तीन-चार गोली जल से ।

जुधामागर लवण—घी में तली भूरी सोठ ४ छटाँक, काली मिर्च २ छटाँक, पोपरि २॥ तोला, भुना जीरा २ छटाँक, अजवायन २ छटाँक, बड़ी इलायची का बीज १॥ छटाँक, लींग १॥ छटाँक, सज्जीखार १॥ छटाँक, जवाखार १ छटाँक, सेंधा नमक १॥ छटाँक, काला नमक १॥ छटाँक, घी में भुनी तलाव हींग १४ माशे । सब का कपडछन चूर्ण । मात्रा ३ माशे । अनुपान उष्णोदक ।

○ जरणादि चूर्ण—मगरैल, कालानमक, गुठी, पिप्पली, कालीमिर्च, सैन्धव, भुनी अजवायन, धी मे भुनी हींग, छोटी हरे प्रत्येक एक तोला और निगोध ४ तोले लेकर । कपडछन चूर्ण बनावे । मात्रा १ से ३ माशे । अनुपान उष्ण जल । प्रातः-सायम् । जब रोगियो मे कोष्ठवद्धता रहती हो (sluggish Liver Function) इस चूर्ण का प्रयोग हितकर है । (चि आ)

शतपट्यादि चूर्ण—गुलाब के फूल २० भाग, मोथा, जीरा, ध्वेत चन्दन, छोटी डलायची, कवावचीनी, गिलोयका सत्त्व, खसखस, खस, वगलोचन, इसव-गोलकी भूसी, गोखरू, दालचीनी, तमालपत्र, नागकेसर, मारिवा, कमलगट्टा, नोलोफर, कमल के फूल और तीखुर प्रत्येक एक भाग और मिश्री ४० भाग लेकर कपडछन चूर्ण । यह एक मधुर पाचक है विशेषतः विदग्धाजीर्ण, अग्निमाद्य तथा जीर्ण विवध (sluggish Liver Function) मे लाभप्रद होता है । मात्रा १॥ माशा मे ३ माशे । अनुपान जल । (सि यो स)

रस के योग-अग्निपुण्ड्री वटी—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, वत्सनाभ अजमोद, हरीतकी, विभीतक, आमलकी, सज्जीखार, यवाखार, चित्रकमूल की छाल, मैधव, जीरा, सोचल (काला नमक), वायविडङ्ग, सामुद्र लवण, गुण्ठी, छोटी पीपल, कालीमिर्च सभी सम भाग मे और सबके बराबर शुद्ध कुपीलु (कुचिला) । जम्बीरी निम्बुके रस में तीन दिनो तक मर्दन करके तीन-तीन रस्ती की गोलियाँ । भोजन के बाद २ गोली । गर्म जल से । यह एक उत्तम योग है, आत्र की क्रियाको सुधार कर (Intestinal toner) विवध को दूर करता है और अग्नि को दीप्त करता है ।

अग्निकुमार रस—शुद्ध, पारद, शुद्ध गंधक (कज्जली), शुद्ध टकण प्रत्येक का १ भाग, शुद्ध वत्सनाभ का चूर्ण, कपर्द भस्म, शंख भस्म, प्रत्येक ३ तोले तथा काली मिर्चका चूर्ण ८ भाग । जम्बीरी नीबू के रस मे भावना देकर २ रस्ती की गोलियाँ । अनुपान अदरक का रस या नीबू का रस ३ माशे, मधानमक ४ रस्ती मिलाकर एक मे दो गोली प्रातः-सायम् ।

श्री रामवाण रस—शुद्ध पारद और शुद्ध गंधक की सममात्रा में वनी कज्जली, लवङ्ग चूर्ण, शुद्ध वत्सनाभ विष चूर्ण, प्रत्येक एक एक तोला, कालीमिर्च २ तोले भर, जायफल का चूर्ण आधा तोला । मात्रा ४ रस्ती मे १ माशा । अनुपान भृष्टजीरक और मधु । कुम्भकर्ण रूपी ग्रहणी रोग, खरदूपण रूपी आम-वात तथा रावण रूपी अग्निमाद्य रोग विनष्ट करने के लिये यह राम के वाण सहस्र प्रत्यात 'रामवाण' रस है ।

क्रव्याद् रस—शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गधक २ तोला, ताम्रभस्म $\frac{1}{2}$ तोला, लौहभस्म आधा तोला । प्रथम पारद और गधक को घोट कर महीन कज्जली करे फिर उसमें ताम्रभस्म, लौह भस्म को मिश्रित कर खरल करे पश्चात् लौहकी कलछी में लेकर पिघलावे पिघलनेपर उसकी पर्पटी बनावे । फिर एक कलई-दार लौह के वर्तन में जम्बीरीनीवू का रस ५ सेर लेकर उसमें पर्पटी को चूर्ण करके मिलावे । फिर उसको अग्निपर चढाकर पाक करे जब जम्बीरीनीवू का रस जल जाये । तो उसमें पचकोल अथवा अम्लवेत का कपाय छोडकर धीरे-धीरे पकावे । फिर इस औषधको कडाही में से निकाल कर खरल में डाल देवे । फिर उसमें शुद्ध टकण १६ तोले, विड लवण ८ तोले, काली मिर्च का चूर्ण ४० तोले डालकर चणकाम्लकी सात भावना देकर ४ रत्ती की गोलियाँ बनाकर सुखाकर शीशीमें रख ले । मात्रा ४ रत्ती, तक्र और सेधानमक क अनुपान से भोजन के बाद । यह परम अग्निदीपक योग है । इसके सेवन काल में किसी प्रकार के पथ्य का विचार न करते हुए गुरुपाको पदार्थों-मांस खडी, मलाई, पूडी, पराठे, उडद और घृत-तैल के तले भोजन का सेवन किया जा सकता है ।

तीक्ष्णाग्नि या भस्मक-चिकित्सा

क्रियाक्रम—तीक्ष्णाग्नि का उपचार मन्दाग्नि की चिकित्सा के ठीक विपरीत पडता है । अग्नि को प्राकृत या समावस्था में लाने के लिये अग्नि को मंद करने का उपचार इस अवस्था में करना पडता है । अस्तु, तीक्ष्ण अग्नि को सम करने के लिये दधि, दूध और पायस का अधिक प्रयोग करना चाहिये । गुरु, सान्द्र, मन्द, शीतल अन्न-पान से तीक्ष्णाग्नि को शान्त करना चाहिये । पित्त के सशमन के लिये विरेचन देना चाहिये । जो द्रव्य मधुररस, मेदोवर्द्धक (चरबीदार), कफवर्द्धक और देर में पचने वाला है, वह हितकर होता है । भोजन करके दिन में सोना (दिवास्वाप) इसमें पथ्य होता है । तीक्ष्णाग्नि का ही पर्याय भस्मक या अत्यग्नि भी है । रोगी जो कुछ खाता है वह शीघ्र पच जाता है, और भूख शीघ्र ही लग जाती है । अतः अजीर्णावस्था में भी भोजन बार बार खिलाते रहना चाहिये ताकि बिना भोजन के यह तीक्ष्णाग्नि रोगी को उपहत न कर दे ।^१

१. तीक्ष्णमग्निं दधिक्षीरपायसै समता नयेत् । त भस्मक गुरुस्निग्धसान्द्र-मन्दहिमादिभिः ॥ अन्नपानैर्नयेच्छान्तिं पित्तघ्नैश्च विरेचनैः । यत्किञ्चिन्मधुरं मेघं श्लेष्मलं गुरुं भोजनम् ॥ सर्वं तदत्यग्निहितं भुक्त्वा प्रस्वपनं दिवा । मुहुर्मुहुरज्जीर्णं पि भोज्यान्वस्योपचारयेत् ॥ निरिन्वनोऽन्तरं लब्ध्वा यथैतं न निपातयेत् । (च)

अत्यग्नि चिकित्सा में व्यवहृत योग—१ उदुम्बर की छाल २ तो० स्त्रीस्तन्य के साथ पीस कर पिलाना अथवा उदुम्बर की छाल का कल्क, चावल, स्त्रीस्तन्य में खीर बनाकर सेवन ।

त्रिवृतादिक्षीर—निजोव, लम्लाग की गुद्दी एक-एक तोला, दूध १६ तोला, जल ६४ तोला । अग्नि पर चढ़ाकर पचावे जब दूधमात्र (१६ तोले) बेष रहे तो उनार कर टंडा होने पर पिलावे ।

अपामार्ग-तरण्डुलक्षीर—अपामार्ग का बीज, भैंस के दूध में पकाकर, चक्कर और घी मिलाकर खीर बनाकर सेवन । इस प्रयोग से बार-बार भूख लगना बन्द हो जाता है ।

अजीर्ण-प्रतिपेध

क्रियाक्रम—अजीर्ण ६ प्रकार का हो सकता है । १ आमजीर्ण कफा विक्र से होता है २ विदग्वाजीर्ण में पित्त दोष की प्रबलता होती ३ विष्टधा जीर्ण में वात दोष की अधिकता होती है । और ४ रसदोषजीर्ण एक विशेष प्रकार का अजीर्ण है जिसमें आम रस का संचार होकर शरीर में गुन्ता, शोथ प्रभृति लक्षण उत्पन्न होते हैं । इन चारों विभेदों के अतिरिक्त ५. दिनपाकी और ६. प्राकृताजीर्ण नामक भी दो अजीर्ण-भेद बतलाये गये हैं जो प्रायः निर्दोष होते हैं और जिनमें किसी विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नहीं पड़ती है । सामान्य पाचन योगों में ठीक हो जाते हैं ।

वस्तुतः सभी अजीर्णों में सामान्य उपचार अपतर्पण है । अल्प दोष होने पर (अपचन हल्का) होने पर केवल लंघन या उपवास करा देना पर्याप्त होता है, मध्यम दोष होने पर लंघन के साथ पाचन के लिये औषध-प्रयोग भी अपेक्षित रहता है, परन्तु दोष की प्रबलता होने पर (तीव्र अजीर्ण में) शोधन (वमन अथवा विरेचन या दोनों) करना समुचित रहता है जिसमें दोष का पूर्णतया निर्मूलन हो जाय । चास्य में इस क्रियाक्रम का विस्तार से उल्लेख इस प्रकार का पाया जाता है ।

आमाजीर्ण में वमन, विदग्वाजीर्ण में लघन, विष्टधाजीर्ण में स्वेदन और रसदोषजीर्ण में नूव सोना हितकर होता है । १

१. शान्तिरामविक्रागणा भवति त्वपतर्पणात् । त्रिविधं त्रिविधे दोषे तत्समीक्ष्य प्रोजयेत् ॥ तत्राल्पे लङ्घनं गस्तं मध्ये लङ्घन-पाचनम् । प्रभूते शोधनं तद्धि मूगदुग्धमूल्येन्मलान् ॥ (वा) । तत्रामे वमनं कार्यं विदग्धे लङ्घनं हितम् । विष्टधे स्वेदनं गस्तं रसदोषे शयीत च ॥ (भा प्र.) लङ्घनं वमनं वाऽऽमे

अजीर्ण चिकित्सा में एक लोकोक्ति बहुत प्रसिद्ध है “अजीर्णस्य किमीपवम् वमन, विरेचन, निद्रा वारि अथवा वमन विरेचन पन्था वारि ।” अर्थात् अजीर्ण की चिकित्सा में वमन, विरेचन, सोना, रास्ता चलना और शीतल जल का पीना सदा पथ्य है । सोने की क्रिया को सर्वाधिक अजीर्णनाशक और सब प्रकार के अजीर्णों में प्रशस्त माना गया है जैसे —‘हीग, त्रिकटु और सैन्धव का उदर पर लेप कर के दिन में सोने से सभी अजीर्ण शान्त होते हैं ।’ आलिप्य जठरं प्राज्ञो हिङ्गुच्यूपणसैन्धवैः । दिवास्वप्नं प्रकुर्वीत सर्वाजीर्णविनाशनम् ।’ अस्तु दिवास्वाप मव अजीर्ण रोग में एकान्तत पथ्य माना गया है ।

आमाजीर्ण में लघन कराना चाहिये । यदि दोषाधिक्य हो तो वमन करावे तथा पीने के लिए धनिया-सोठ से पकाया जल देवे । विटग्धाजीर्ण में वमन करावे यदि दोष उत्कट न हो तो लङ्घन मात्र से शान्त करे, पीने के लिये ठंडा जल देवे । त्रिष्टग्धाजीर्ण में उदर पर पर्याप्त स्वेदन करे तथा पीने को सेंधा नमक मिला हुआ गर्म जल देवे । रसशेषाजीर्ण में विना कुछ खिलाये ही जहाँ वायु विशेष न हो ऐसे स्थल पर दिन में सुलावे । इसके बाद भूख लगने पर लघु भोजन दे । अन्य भी वायु-शामक उपचार करे ।

आमाजीर्ण-प्रतिपेध—आमाजीर्ण में वमन कराने के लिये दवा और लवण जल से वमन कराना चाहिये । अथवा पिप्पली, वच और सैन्धव का चूर्ण शीतल जल में मिलाकर पिलाना चाहिये । धान्यक और शुण्ठी से पकाया जल पीने को देना चाहिये । इस से शूल की शान्ति होती है और वस्ति का शोधन होता है । आचार्य सुश्रुत ने अजीर्ण रोग की सामान्य चिकित्सा बतलाते हुए लिखा है यदि सोकर उठने पर प्रातःकाल में अजीर्ण की शका हो तो दिन में उपवास करा देना चाहिये, परन्तु यदि रोगी अधिक कामकाजी व्यक्ति हो और उसमें उपवास कठिन हो तो हरीतकी ३ मात्रे, शुण्ठी २ मात्रे, और सैन्धव १ मात्रा मिश्रित चूर्ण की एक मात्रा शीतल जल से सर्वप्रथम पिला देना चाहिये और अन्न-काल में उसको लघु एवं परिमित अन्न नि शक होकर भोजन कर लेना चाहिये ।^१

धान्यशुण्ठीजल तथा । विष्टग्धे वमनं यद्वा लङ्घन शिशिरोदकम् ॥ विष्टग्धे स्वेदन कार्यं पेयञ्च लवणोदकम् । रसशेषे दिवास्वापो लङ्घन वातवर्जनम् ।

१ भवेद्यदा प्रातरजीर्णशका तदाभया नागरसैन्धवाभ्याम् । विचूर्णिता शीतजलेन भुक्त्वा भुञ्ज्यादशङ्क मितमन्नकाले ॥ (भैष)

भवेदजीर्णं प्रति यस्य शका स्निग्धस्य जन्तोर्वलिनोऽन्नकाले ।

प्रातः स शुठीमभयामशको भुञ्जीत संप्राश्य हितं हितार्थी ॥ (सु)

पाचन चूर्ण—काला नमक १ भाग, काली मिर्च १ भाग, शुद्ध नीसादर १ भाग, शुद्ध हींग $\frac{1}{4}$ भाग । मात्रा—३ माशे । उष्ण जल से ।

विडलवण वटी—काला नमक, सेधा नमक प्रत्येक २० तोले, अजवायन, काली मिर्च, छोटी पीपल, चित्रकमल, अजमोद, धनिया, डाँसरिया (यूनानी गिर्द समाक), सूखा पुदीना, घृत में भुनी हींग, पीपरामूल, नीसादर प्रत्येक १० तोले । सब द्रव्यों का सूक्ष्म कपडछान चूर्ण कर कागजी नीबू के रस की तीन भावना देकर चने के बराबर की गोलियाँ । (सि यो सं)

विदग्धाजीर्ण-प्रतिपेध—शीतल जल को थोड़ी-थोड़ी मात्रा में बार-बार पीने में विदग्ध अन्नपाक शीघ्र ही हो जाता है—क्योंकि जल स्वभाव से शीतल होने में प्रकुपित पित्त को नष्ट कर देता है । और जल से अन्न विलिप्त होकर नीचे की ओर (क्षुद्रात्र एवं बृहदन्न) की ओर चला जाता है पश्चात् मलाशय से बाहर होकर सुखपूर्वक उत्सर्जित हो जाता है ।

भोजनोपरान्त यदि भुक्त द्रव्य से विदाह हो एव तज्जन्य हृदय, कोष्ठ तथा गला जलता हो तो हरीतकी, मुनक्का और मिश्री सम भाग में मधु के साथ मिलाकर चाटना चाहिये । काजी में दोलायत्र की विधि से स्विन्न हरीतकी और पिप्पली और सेधा नमक मिलाकर सेवन करने से मुख से धुए युक्त डकारों का निकलना वन्द होता, अजीर्ण शान्त होकर क्षुधा जागृत होती है ।

शतपत्र्यादि चूर्ण—(पूर्वोक्त) ३ माशे की मात्रा में अथवा अविपत्तिकर चूर्ण (अम्लपित्ताधिकार) ३ माशे की मात्रा में दिन में दो-तीन बार ।

द्राक्षादि योग—मुनक्का ६ माशे, हरीतकी चूर्ण ६ माशे, चीनी ६ माशे, मधु १ तोला । मिला कर चाटना ।

क्षारराज—ताड़ के पुष्प की भस्म १ भाग, असली यवक्षार १ भाग, सजिका धार १ भाग, बराट भस्म $\frac{1}{2}$ भाग, शंख भस्म $\frac{1}{2}$ भाग, श्वेत कुष्माण्ड चार १ भाग । एक में बारीक घोट कर चूर्ण रखे । मात्रा—२ माशा, चीनी का शर्वत १ छटाक में मिलाकर ऊपर से $\frac{1}{2}$ नीबू का रस डाल कर फेंक उठते ही पिये । एक जीशे के वर्त्तन में शर्वत को रखे । (चि आ)

विष्टग्धाजीर्ण प्रतिपेध—स्वेदन, दिवास्वाप तथा वायुशामक योग । जैसे—

१. हिंवाष्टक चूर्ण—३ माशे गर्म जल से । २. हिंवादिचटी (कुपीलुयुक्त) अजीर्ण में सामान्यतया प्रयुक्त होने वाले कुछ योग—

जम्बीर लवणवटी—जम्बीरी या कागजी नीबू का रस १२० तोले, सेधा नमक १२ तोले, सोठ २॥ तोले, अजवायन २॥ तोले, सज्जीखार

२॥ तोले, छोटी पीपल २॥ तोले, घृत भर्जितहीग २॥ तोले, करजवे के बीज की गुद्दी २॥ तोले, काली मिर्च २॥ तोले, छिला हुआ लहसुन २॥ तोले, पुनर्नवा का मूल २॥ तोले, सफेद (पीली) सरसो २॥ तोले, जरा सेंका हुआ जोरा २॥ तोले, अतीस २॥ तोले, सामुद्र लवण २॥ तोले । (सि यो सं)

निर्माणविधि—स्वच्छ कपडे से छुने जम्बीरी या कागजी नीवू के रस में सेधा नमक डाल कर एक काँच के वर्तन में भर कर चार दिनों तक धूप में रखे । पाँचवे दिन उस रस को मिट्टी के वर्तन में रख कर मद आँच पर पकावे और लकड़ी के हट्ये से हिलाता रहे जब रस गाढ़ा हो जाय तो उसमें अन्य द्रव्यों का सूक्ष्म कपडछन चूर्ण मिलाकर नीचे उतार कर ठंडा होने पर, ३-३ रत्ती की गोलियाँ बना कर मुखा ले । मात्रा-अनुपात-२ या तीन गोली यथावश्यक जल से दिन में तीन या चार बार । उपयोग—ये गोलियाँ उत्तम पाचन और दीपन हैं । मन्दाग्नि, अरुचि, पेटका दर्द, अजीर्ण के सभी प्रकारों में और आध्मान में लाभप्रद पायी गई है ।

कुवेराक्षादि वटी—वालू में भुना करज (कटु) बीज १ तोला, मट्ठे में भिगो कर धोकर घी में भून कर लहसुन १ तोले, सोठ १ तोला, घी में भुनी हीग १ तोला, शुद्ध सुहागा १ तोला । सहिजन के रस या काढ़े में खरल करके ४-४ रत्ती की गोली बनाकर । सभी प्रकार के अजीर्ण और उदरशूल में लाभप्रद ।

चित्रकादि वटी—चित्रक के मूल की छाल, पिप्पलीमूल, सज्जीखार, यवाखार, सेधा नमक, काला नमक, सामुद्र लवण, साँभर लवण, नौसादर, शुण्ठी, काली मिर्च, छोटी पीपल, घी में सेकी हीग, अजमोद और चव्य प्रत्येक सम भाग । एकत्र चूर्ण करके कागजी नीवू, विजौरा नीवू, खट्टे अनारदाने के कषाय से ३ दिन तक मर्दन करके १ माशे की गोली । २ से ४ गोली भोजन के बाद जल से । यह एक अच्छा पाचन और दीपन योग है । विषमाग्नि में विशेष लाभप्रद होती है ।

महाशंख वटी—सेधा नमक, काला नमक, सामुद्र लवण, साँभर लवण, नौसादर, घी में भुनी हीग, शंख भस्म, इमली का क्षार (टार्टरिक एसिड), सोठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, शुद्ध गंधक, शुद्ध पारद और शुद्ध वत्सनाभ । सबका सम भाग में चूर्ण बनाकर विजौरा नीवू, अनारदाने (खट्टे) और कागजी नीवू की सात भावना देकर दो दो रत्ती की गोलिया । भोजनोपरान्त १-२ गोली ।

अजीर्णकण्टक रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, शुद्ध वत्सनाभ १-१ तोला, काली मिर्च का चूर्ण ३ तोले । कज्जली बना कर चूर्णों को मिला कर पीम कर कण्टकारी फल स्वरस या कषाय से २१ बार भावित करना चाहिये । २ रत्ती

की गोली । अनुपान कण्टकारी स्वरस या नीबू के रस के साथ । अजीर्ण या विमूत्रिका के कारण होने वाले वमन में लाभप्रद ।

अजीर्णारि रस—गुठ्ठ पारद, गुठ्ठ गंधक एक-एक तोला, हरीतकी २ तोले, सोठ, पिप्पली, काली मिर्च, संभव ३-३ तोले । गुठ्ठ भाग का चूर्ण ४ तोले । निम्बु स्वरस से ७ भावना । मात्रा २ से ४ रत्ती । अनुपान कागजी नीबू के रस से । यह योग अग्नि को दोषत करता है । पचन शक्ति को बढ़ाता है ।

गंधक बटी—गुठ्ठ पारद, १ तोला, गुठ्ठ गंधक २ तोले, गुठ्ठो २ तोले, लवङ्ग और मरिच चार-चार तोले, मेधा नमक और मोचल नमक प्रत्येक १२ तोले, चुक्र और मूली का धार प्रत्येक ८ तोले । नीबू के स्वरस को ७ भावना देकर ४-४ रत्ती की गोलियाँ बनावे । नमस्त अजीर्ण और अरुचि में लाभप्रद ।

रसशेषाजीर्ण-प्रतिषेध—इन अवस्था में रोगी को पूर्ण विश्राम कराना चाहिये । उपवास करावे और दिन में पर्याप्त सोने का उपदेश करना चाहिये । औषधि के रूप में मण्डूर भस्म और जल भस्म क्रमशः १ माघा और २-२ रत्ती मिला कर दिन में एक या दो बार त्रिफला चूर्ण २ माघे और मधु देना चाहिये । रोगी को दूध और रोटी के पथ्य पर लवणवर्ज्य आहार पर रखना चाहिये । हींग, मोठ, मरिच, छोटी पीपल और मेधा नमक को पानी से पीस कर उदर पर लेप करके दिन में पर्याप्त रोगी को सुखावे ।^१ आमतौर से सभी अजीर्णों में शूलघ्न औषधियों का निषेध पाया जाता है ।^२

अजीर्ण भेद-प्रतिषेध

अजीर्ण के कई अन्य प्रकार अलमक, विलम्बिका और विमूत्रिका की अवस्थाएँ पाई जाती हैं । इन में भी अजीर्णवत् ही उपचार का क्रम रखना चाहिये । उनका विशिष्ट क्रिया-क्रम पृथक्-पृथक् दिया जा रहा है । विलम्बिका तथा अलमक-प्रतिषेध-क्रियाक्रम—विलम्बिका और अलमक में वमन और विरेचन कारक औषधियों को मिलाकर आस्थापन अथवा गुदवर्त्ति (Suppository) कराके दोष का शोधन तथा वायु का अनुलोमन करना उद्देश्य रहता है । अलमक में फलवर्त्ति, वमन, स्वेदन तथा अपतर्पण चिकित्सा हितकर होती है ।^३

१. काम दिवा स्वापयेत् । आलिप्य जठर प्राज्ञो हिगुव्यूपनसंभवै । दिवा-स्वप्न प्रतुर्वीत सर्वाजीर्णविनाशनम् ॥ (भै र.)

२. तीव्रातिरपि नाजीर्णो पित्तेच्छूलघ्नमौषधम् ।
आमगन्तोऽनलो नाल पक्नु दोषोपधाशनम् ॥ (अ ह.)

३. विलम्बिकालमकयोर्द्विधा शोधनं हितम् । नालेन फलवर्त्या च तथा शोधनशेषजैः ॥

अलसक की भाँति ही विलम्बिका की चिकित्सा की जाती है, परन्तु अलसक को अपेक्षा विलम्बिका अधिक दुःसाध्य और सद्योघातक होती है ।

अलसक में न वमन होता है न रेचन ; फलतः अंतः विषमयता के कारण रोगी तडपता रहता है । अस्तु, सेधानमक मिलाकर आकठ पिलाना चाहिये अथवा शुद्ध ककुष्ठ २ माशा खिलाकर वमन करादे । उसके बाद उदर को खूब सेकना चाहिये । कई बार आस्थापन या गुदवर्त्ति के जरिये कोष्ठ की शुद्धि करनी चाहिये । कई बार जयपाल अथवा स्नुहीक्षीर-मिश्रित योगो के सेवन से जैसे नाराच रस, इच्छाभेदी या बिन्दु घृत (स्नुहीक्षीर सिद्ध घृत) के प्रयोग से उत्तम लाभ देखा जाता है । इन औषधियों के सेवन से वमन और विरेचन दोनों शोधन कर्म सम्पन्न हो जाते हैं । रोगी की विषमयता दूर हो जाती है ।

यदि आनाह या आध्मान और उदरशूल अधिक हो तो दारुषट्कलेप (देव-दारु, वच, कूठ, सौफ या सोये का बीज, हींग, सेधानमक समभाग) का काजी या सिरके से पीस कर गर्म करके उदर पर लेप करना उत्तम होता है । जौ के आटे में यवाखार मिला कर मट्ठे से पीस कर लिट्टी जैसे बनाकर एक तरफ से तवे पर सेककर जिधर नहीं सेका है उस ओर से उदर बाँधना बड़ा उत्तम उदरशूल और आध्मान का शामक होता है ।^१ उदर के स्वेदन के लिये गर्म पानी का बोटल (Hot water Bag) भी दिया जा सकता है ।

विसूचीप्रतिषेध-क्रियाक्रम—‘विसूच्यामतिसारवत्’ अर्थात् विसूचिका में अतिसारवत् चिकित्सा करनी चाहिये । विसूचिका में वमन भी होता है और अतिसार भी । फलतः शरीर के द्रव धातु का अतिमात्रा में निःसरण होने लगता है । जिसके फलस्वरूप द्रव-नाश (Dehydration) होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है ।

विसूचिका में वमन और अतिसार को शीघ्र बंद करने की आवश्यकता नहीं रहती है बल्कि प्रारम्भ में उसकी उपेक्षा करनी चाहिये । क्योंकि वमन और रेचन से आमदोष (Toxins) निकलते रहते हैं । यदि उनको सहसा बंद कर दिया जावे तो आमदोषज बहुविध उपद्रव होने लगते हैं । अस्तु जब कुछ वमन और विरेचन हो जायँ उसके पश्चात् रोगी का दीपन, पाचन एवं ग्राही औषधियों का प्रयोग करते हुए उपचार करना चाहिये ।^२

१ सरुक् चानद्धमुदरमम्लपिष्टैः प्रलेपयेत् । दारुहैमवतीकुण्डशताह्वाहिज्जु सैन्धवं ॥ तक्रेण पिष्टं यवचूर्णमुष्णं सक्षारमर्तिं जठरे निह्न्यात् । (वर)

२ विसूचिकाया वमित विरिक्तं सुलघितं वा मनुजं विदित्वा । पेयादिभिर्दीपन-पाचनैश्च सम्यक् क्षुधार्त्तं समुपक्रमेत् ॥ (भे र)

सबसे उत्तम यह होता है—वमन एव रेचन में से किसी एक को पहले बंद करे साथ ही द्रव-नाश (Dehydration) न पैदा होने पाये इसकी व्यवस्था करनी चाहिये। वमन को बंद करने के लिये सर्वप्रथम यह आवश्यक होता है कि रोगी को पूर्ण लंघन कराया जाय। उसको पीने के लिए धान्यपंचक कपाय, या जतपुष्पाक या जेवायन का अर्क या कर्पूरास्वु (देशी कपूर ५ तोला, ववथित जल ३० सेर में ढोडकर रख दे सात दिन के पञ्चात् निकाले और छानकर रख ले यह कर्पूरास्वु है) अथवा इमली का पानी (पुरानी इमली ८ छटाँक जल ४ मेर खौलाकर आधा जेप रखे शीतल होने पर प्रयोग करे, या निम्ब जल (स्वच्छ जल में $\frac{1}{4}$ भाग नीम की पत्ती को पीसकर छानकर गीली में भर कर रखा जल) अथवा नीबू का पानी (१ पीण्ड दोतल जल में एक कागजी नीबू का रस छोड़कर बनाया), अश्वत्थोदक (पीपल की सूखी छाल से शृत या अगारे से बुझा जल) थोड़ा-थोड़ा चम्मच से बार बार देना चाहिये। एक बार में अधिक पानी पिलाने से वमन को सहायता मिलती है। अस्तु, चम्मच से थोड़ा थोड़ा जल पिलावे।

इस प्रकार के जल—प्रयोग से वमन, तृषा और दाह की शीघ्र शान्ति होती है।

कर्पूरधारा—रोगी को प्रारंभ में अमृत धारा या कर्पूरधारा (देशी कपूर पोदिकासत्त्व (पिपरमेण्ट), यमानीसत्त्व (धायमोल) समभाग में मिला कर बना द्रव) बताने में रखकर ३ बूंद देना चाहिये। एक-दो बार के प्रयोग से वमन बंद हो जाय तो ठीक है अन्यथा अधिक प्रयोग नहीं होना चाहिये क्योंकि इसके अतियोग से वृक्क की क्रिया में बाधा होकर मूत्रावसाद का भय रहता है।

लशुनादिवटी—छिलकानिकाला हुआ लहसुन २ भाग, स्याहजीरा, सफेद जीरा, गुट्ट गंधक, मेंधानमक, मोठ, कालीमिर्च, छोटी पीपल और घी में भुनी होगी १-१ भाग। चूर्ण करके निम्बुरम से मर्दन करके ४ रत्ती की गोलियाँ। मात्रा एव अनुपान १, १, गोली निम्बू के रस के साथ प्रति आवे से एक घंटे पर। प्रारंभिक अवस्था में इस योग से बड़ा उत्तम कार्य होता है। इससे वमन बंद होता है और क्रमशः अतिसार का गमन होता है।^१

अजीर्णकटक रस—(पूर्वोक्त) छदि या वमन के गमन के लिये यह उत्तम योग है इसका सबसे अद्भुत लाभ कटकारी स्वरस से देने पर पाया जाता है। परन्तु कटकारी स्वरस के अभाव में निम्बू के (कागजी) रस से भी दिया

१ लशुनगन्धकसैन्धवजीरकत्रिकटुरामठचूर्णमिदं समम् । सपदि निम्बुरसेन विमूचिका हरति भो रतिभोगविचक्षणे ॥ (वै. जी)

जा सकता है । जब तक वमन बंद न हो जावे जल्दी जल्दी दे । जब वमन बंद हो जावे तो ३, ३ घंटे के अंतर से दे ।

संजीवनीवटी^१—विडङ्ग, शुठी, मरिच, हरीतकी, चित्रक, विभीतक, वचा, गुडूची, भल्लातक (शुद्ध), शुद्ध वत्सनाभ-समभाग में लेकर गोमूत्र में पीसकर एक-एक रत्ती की गोलियाँ बना ले । अनुपान अदरक का रस या केवल जल । मात्रा अजीर्ण युक्त में एक गोली, विसूचिका में दो-दो गोली, सर्प काटे ढ़ेगी में तीन-तीन और सन्निपात के रोगियों में चार-चार गोलियों को एक साथ देवे । अतिसार एवं हृदि के अधिकार में पठित योगो का प्रयोग भी वमन की शान्ति के लिये करना चाहिये ।

भेषज—१ अपामार्ग मूलको जल में पीसकर उसका स्वरस पिलाना ।
२ करैले की पत्ती का या फल का रस उसमें तिलतैल मिलाकर पिलाना
३ छोटी मूली का रस और पिप्पली चूर्ण २ रत्ती को मिलाकर पिलाना ।

३ **पाथरचूर-पापाण भेद**—जिसको स्थानिक भापा में जेवायन पत्ता कहते हैं और वगदेशीय भापा में पाथरचूर कहते हैं । इसका पत्र-स्वरस १ चम्मच पन्द्रह-पन्द्रह मिनट के अंतर से देने पर वमन रुक जाता है । यह औषध विसूचिका में बड़ी लाभ-प्रद होती है । यह एक सिद्ध भेषज है जिसका प्रयोग दृष्टफल है ।

४ **पलाण्डु**—प्याज को कूचकर स्वरस निकाल कर पिलाने से भी विसूचिका की प्रारम्भिक अवस्था में लाभ होता है ।

५. **आम्रास्थिकाथ**—आमकी गुठली की मज्जा और विल्व फल को मज्जा का काढा मधु-मिश्री मिला कर पीना बड़ा लाभप्रद पाया गया है । इससे वमन एवं अतिसार दोनों का शीघ्र शमन होता है ।

कुछ अन्य सिद्ध फलयोग—

अर्कवटी—मदार के जड़की छाल छाया-शुष्क, कालीमिर्च, सेधानमक, समभाग चूर्ण नीबू के रस में चना के बराबर बनी गोलियाँ । इसको एक-एक घंटे पर देने से लाभ होता है । (चि आ.)

विसूचीभञ्जन वटी, (सि भे. म मा)—काली मिर्च, नीबू के बीज, भुनी छोटी हरड, जहरमोहरा खताई, दरियायी नारियल, मदार के जड़की

२. एकामजीर्णयुक्तस्य द्वे विसूच्या प्रदापयेत् । तिस्रो भुजगदष्टस्य चतस्र सन्निपातिन ॥ सजीवनी वटी (गुटिका जीवनी) नाम्ना संजीवयति मानवम् ॥

(शा. स.)

छाल, पियावामा के जड़ की छाल मव सम भाग में लेकर कपड्डन चूर्ण कर अदरक के रस से घोटकर चने के बराबर गोलियाँ बनावे । एक-एक घंटे पर इसका प्रयोग विसूचिका में बड़ा चमत्कारिक प्रभाव दिखलाता है ।

अंजन प्रयोग—विसूचिका एक अत्यन्त तीव्र रोग है—इसमें वमन इतना तीव्र होता है, कि औषधिका कोई प्रभाव ही नहीं दिखलाई पड़ता है । जो औषधि दी जाती है वमन हो जाता है, पानी पिया जाता है वह भी कं से निकल जाया करता है । अस्तु, बहुत प्रकार के योगों की कल्पनायें की गई हैं । औषध के कं द्वारा निकलजाने पर पुन औषधि को देते रहना चाहिये । एक औषधि योग अनुकूल नहीं पड़ रहा है तो दूसरा योग दिया जा सकता है । कई बार अजन (नेत्र में औषधि) लगाने से अद्भुत लाभ देखा जाता है । वमन और अतिसार की शृंखला टूट जाती है । यहाँ पर दो पाठ दिये जा रहे हैं—किमी एक का प्रयोग करे ।

व्योपादि गुटिकाञ्जन—त्रिकटु, करञ्ज के फलकी गुटो, हरिद्रा, विजोरे नीबू की जड़ को पीस कर गोली बनाकर छाया में शुष्क करके रखे । अंजन गुटिका—महुए का फूल, अपामार्गवीज, अपराजिता के मूल, हल्दी और त्रिकटु । गोली बनाकर रखले । गोली पत्थर पर पानी से बिस कर नेत्र में लगावे । इस अजन का प्रभाव स्वतन्त्र नाडी मण्डलपर होकर आमाशयत्रयी की क्षुब्धता शान्त हो (Irritation) जाती है और फलतः वमन तथा अतिसार बंद हो जाता है ।

विसूचिका में वमन तथा अतिसार की अधिकता से द्रवधातु का नाश होता चलता है । द्रवनाश (Dehydration)—परिणामस्वरूप रोगी में उदर में दाह, तृषाविक्य, खट्टी (हाथ-पैर में टाँस या ऐंटन), मूत्रावसाद (Suppression of urine), नाडी और हृदय की दुर्बलता, त्वचाकी रूक्षता, नेत्रों की भीतर की ओर घिसकर अन्तः प्रविष्ट हो जाना—ये उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं । यह अवस्था घातक होती है । इसमें शिरामार्ग द्वारा लवण जल (Saline Infusion) एक मात्र उपाय जेप रहता है । इसका सिद्धान्त यह है कि शरीर से जिन धातुओं का अत्यधिक सरण हो गया है उनकी पूर्ति करना । द्रवनाश में जल, लवण, क्षार की कमी हो जाती है और इन्हीं द्रव्यों के अतः भरण शिराद्वारा करने से स्थिति सुधरती है । वचिन्तु निम्न लिखित योगों से भी लाभ होता है ।

विसूचीविध्वंसन रस—गुड टंकण, सुवर्णमाक्षिक भस्म, शुठीचूर्ण, शुद्ध पारद, शुद्ध गवक, शुद्ध कृष्ण सर्पविष तथा हिंगुल सब समभाग । पहले पारद और गवक की कज्जली बनाकर उसमें शेष द्रव्यों के सूक्ष्म चूर्णों को मिलाकर जम्बोरीनीबू के रस में घोटकर सर्पप के बराबर की गोलियाँ बनाले । मृत सजीवनी सुरा या ब्राण्टी के साथ इसकी एक-एक गोली का प्रयोग करे तो यह

सर्वोपद्रव युक्त, त्रिदोषज अतिसार या विसूचिका में भी लाभ करती है। वस्तुतः वह अंतिम उपचार है। सर्पविष के प्रभाव से शिरागत रक्तस्कन्दन (Coagulation) रुक जाता है और रोगी की प्राणरक्षा सम्भव रहती है।

खल्ली—दालचानी, तेजपात, अगर, रास्ना, सहिजन की छाल, कूठ, वच और सोवा के बीज समभाग में लेकर काजी में पीसकर उबटन लगाना। अथवा नारायण तैल, ईस का सिरका समभाग मिलाकर पूरे शरीर में रगड़ना।

मूत्रावसाद—विसूचिका में यह उपद्रव जलाशय के अधिक निकल जाने से तथा हृदय की दुर्बलता से उत्पन्न होता है। अस्तु, थोड़ा २ द्रव देते हुए, हृद्य औषधियों के प्रयोग (स्वर्णसिन्दूर, रस सिन्दूर अथवा मकरध्वज) चालू रखना चाहिये और समय की प्रतीक्षा करनी चाहिये। रोग के सुधार होने पर मूत्र का आना प्रारम्भ हो जाता है। मूत्रावसाद में मूत्रोत्सर्जन में शीघ्रता लाने के लिये कुछ स्थानिक उपचार भी प्रशस्त रहते हैं। जैसे—१. पेडू पर गर्म पानी के बोतल (Hot water Bag) का सेक कई बार। २. चूहे की लेडी, चूहे के बिल की मिट्टी, केले की जड़, कलमीशोरा को ठंडे पानी में पीस कर उदर के अगले भाग मूत्राशय-क्षेत्र के ऊपर (पेडू पर) लेप करने से भी मूत्र का वनना और उत्सर्जन प्रारम्भ हो जाता है। विसूचिका में वमन, अतिसार के वन्द हो जाने पर मूत्र का उत्सर्जन न होना एक अरिष्ट लक्षण है। जब मूत्र-त्याग प्रारम्भ हो जाय फिर रोगी के स्वस्थ होने में कोई भी शंका नहीं रहती है। ३. स्वर्णसिन्दूर ३ रत्ती, संजीवनी १ बटी मिलाकर प्रति तीन घण्टे पर देते रहना चाहिये। साथ ही गतपुष्पार्क में मूत्रसंजीवनी सुरा १० बूँद से ३० बूँद तक मिलाकर देना चाहिये। ये औषधियाँ हृदय में बल देती हैं, पाचन होती हैं, जलाशय की पूर्ति करती हैं और रोगी में मूत्र-त्याग की प्रवृत्ति को जागृत करती हैं। सभी उपद्रवों के शान्त होने पर भी जब तक मूत्रावसाद न दूर हो जावे रोगी की ओर से निश्चिन्त चिन्त नहीं होना चाहिये।

पथ्य—अजीर्ण और अग्निमाद्य में पथ्य समान ही रखना पड़ता है। पुराना चावल, धान्यलाज, मण्ड, पेया, विलेपी, यवागू, ओदन, जौ या गेहूँ की दलिया, मूँग की दाल, मूँग की दाल की कुशरा, लौकी, परवल, करैला, नेनुवा, तरौई, मूली, अदरक, सेंधानमक, काला नमक, तक्र, सिरका, तीतर-लवा-बटेर-मूँग के मासरस प्रभृति यथावश्यक रोगी को पथ्य रूप में देना चाहिये। लघु एवं परिमित आहार देना चाहिये। हल्दी, धनिया, काली मिर्च, हरा मिर्च, जीरा प्रभृति अग्निवर्धक मसालों का व्यवहार भोजन में लाना चाहिये। पीने के लिये गर्म करके ठंडा किया जल देना चाहिये।

अपथ्य—विरुद्ध, असात्म्य, विवधकारक, गुरु भोजनो का जैसे—नया अन्न, हलुवा, पूड़ी, पूआ, उडद और चने की दाल, आलू, अरुई प्रभृति जड़ के शाक, गरिष्ठ मास और मत्स्य, वासी मास आदि दुर्जर पदार्थ अग्नि की मंदता रहने पर अपथ्य होते हैं, परन्तु तीक्ष्णाग्निमें इम प्रकार के पदार्थ पथ्य रूप में निर्दिष्ट हैं ।

०

दसर्वा अध्याय कृमिरोग-प्रतिपेध

विषय-प्रवेश—वैकारिक अवस्था में पाई जाने वाली (Pathological) जरीरगत क्रिमियो की उपजातियों का उल्लेख वैद्यक ग्रंथों में पाया जाता है 'विगति कृमिजातयः' । 'ये वीम उपजातियाँ विविध श्लेष्मवर्धक आहार-विहार अथवा अपथ्यों के सेवन में उत्पन्न (Acquired) होती हैं । इनके अलावे बहुत सी कृमियों की उपजातियाँ सहज (Congenital) भी पाई जाती हैं ।

निदान या कारण की दृष्टि से विचार किया (Clinically) जाय तो इनको चार प्रकारों में वर्णन करना ही पर्याप्त होता है । १. पुरीपज, २. श्लेष्मज, ३. शोणितज ४. मलज ।

मलज—मल के बाह्य तथा आन्तर्य दो भेद से दो प्रकार की कृमियाँ हो जाती हैं । इन में बाह्य मल में पैदा होने वाली कृमियों को ही मलज कृमि कहा जाता है । बाह्य मल में कृमियों के उत्पन्न होने का मूल हेतु स्वच्छता का अभाव या नफाई का न रहना है । स्वच्छता के अभाव में केश, दाढ़ी, त्वचा के लोम, (पद्म Eyelashes) तथा वस्त्र में अणु से लेकर तिल के परिमाण तक के बिना पैर के, बृहत् पैर के—गूका (जूआ), लिंखा (लीख), पिपीलिका (ढोल), चिल्लर आदि नामों से अभिहित बहुत प्रकार की कृमियाँ पैदा हो सकती हैं । इनकी वजह से खुजली, दृष्ट, पामा, जीतपित्त, कोठ (urticarial Patches), फोड़े, फुन्सी आदि उत्पन्न हो जाते हैं । इनकी चिकित्सा में मल उत्पन्न करने वाले कारणों को दूर करना, सफाई के द्वारा मल को दूर करना तथा पैदा हुई कृमियों को मारना या पकड़-पकड़ कर खींच कर दूर करना ही उपचार है । मलज कृमियों में Pediculosis, Acarus, Scabies, Ringworm आदि गृहीत हैं । गदगी से पसीने, नख, त्वचा के मैल या मल में पैदा होने में मलज कहलाती है ।

शोणितज या रक्तज—रक्तवह सस्यान में गिरा, वमनी तथा रस-वाहिनियों (Lymphatics) में पाई जाने वाली अत्यन्त सूक्ष्म, चर्मचक्षु से अदृश्य (परन्तु अणुवीक्षण दर्शनयंत्र से दृश्य) वृत्ताकार और बिना पैर की ये

• कृमियाँ होती हैं। इनके नाम क्रमशः केशाद (केशों को खाने वाली), लोमाद (लोमों को खाने वाली), लोमद्वीप (लोगों के कूपों में रहने वाली), सीसुर (मद्योत्प) तथा औडुम्बर उडुम्बर के कीड़े जैसे तथा जन्तुमार (जीवों को मारने वाली) हैं। इन कृमियों के प्रभाव से केज, दाढ़ी, पक्ष्म के बाल झड़ जाते हैं (Alopecia universalis), व्रण प्रदेश में कण्डू और हर्प पैदा करती हैं। यदि अधिक सस्या-वृद्धि हो तो त्वक्, मिरा, स्नायु, मांस, तरुणास्थि प्रभृति अतस्थ अवयवों को भी प्रभावित करती हैं। इन अंगों में शोथ, कोथ और कर्दम (Oedema, Necrosis or Gangrene) पैदा कर इन अवयवों को खा जाती हैं। इनका प्रभाव म्यानिक्त न होकर सार्वदैहिक होता है। अस्तु, इनमें कुष्ठवत् रक्तशोधक (Blood Purifier) औषधियों की व्यवस्था करनी चाहिये। श्लेष्म (Microfilarae) तथा कुष्ठ रोग में इस प्रकार की कृमियाँ बहुलता से मिलती हैं।

श्लेष्मज—मधुर-रसात्मक द्रव्य, मिष्टान्न, क्षीर, गुड, तिल, दधि, मत्स्य, आनूपमाम, पिष्टान्न, पायस (परमान्न), कुमुम्भ स्नेह (बरें का तेल), अजीर्ण में भोजन करना, पूतियुक्त (सटो, गली, बासी अन्न का सेवन), क्लिन्न या अतिद्रव्य भोजन (अधिक जल, गुड आदि के योग से बने अन्न), सकीर्ण भोजन (मलादि-मिश्रित घृणाजनक अन्न का सेवन), विरुद्ध अन्न (कई प्रकार के विरोधी भोजन वतलाये गये हैं जैसे—दूध के साथ मछली का सेवन, दूध के साथ नमक का खाना आदि), असात्म्य अन्न (जिस प्रकार के भोजन का अभ्यास न हो ऐसे अन्न का सेवन), बिना उबाले जल का पीना, दिवास्वाप प्रभृति कारणों से श्लेष्मजात कफज कृमियाँ उत्पन्न होती हैं। इन का प्रधान आवास आमाशय में होता है। वहाँ से अपने अण्डे वच्चों से बढ़ती हैं तथा आकार-प्रकार से स्वयं बढ़ती हुई ऊपर और नीचे को चलती हैं। ऊपर की ओर से चल वे मुख और नासाद्वार से नीचे की ओर चलनी हुई मलद्वार से निकलती रहती हैं। ये कई प्रकार की आकार और परिमाण की हो सकती हैं, कुछ पतली, लम्बी, कुछ मोटी और दीर्घ, वृत्ताकार, कुछ केचुवे सदृश (गण्डूपादाकृतयः), अणु और दीर्घ होते हैं। इनके वर्ण भी कई प्रकार के सफेद, लाल या ताम्र वर्ण के होते हैं। प्रभाव तथा आकार के अनुसार इनके नाम भी विविध हैं। अत्रादा (आतको खाने वाली), उदरादा (उदर को खाने वाली), हृदयचरा हृदयादा—(हृदय में चलने वाली या हृदय को खाने वाली), कई बार कृमियों के अण्डे रक्तवह सस्थान से चक्कर काटते हुए हृदय में पहुँचकर हृद्रोग पैदा करते हैं।

चुरदः (चू राख करेवाले या चुरनेवाले), दर्भपुष्पाः (दर्भ के आकार वाली), सौगंधिका (विम या कमलनाल के समान गंधवाली), महागुदा (बहुत बड़े आकार की गुदा में निकले वाली कृमियाँ (जैसे Tape worm या स्कीत कृमि)। इन कृमियों के कारण ज्वर, मूर्च्छा, जृम्भा, च्वयु (छीको का आना), आनाह (पेट का फूलना), अङ्गमर्द (अंग में पीडा), हृल्लास (मिचली आना), आस्यस्त्रवण (मुंह में पानी भरना या लार का अधिक गिरना), अरोचक (अन्न में अरुचि), अविपाक (अन्न का पाक न होना), छर्दि (वमन), शरीर की कृशता और त्वचा की रस्पता (रूखता या चर्कगता) प्रभृति लक्षण या चिह्न पाये जाते हैं।

पुरीपज—पुरीपज कृमियाँ भी प्रायः उन्हीं कारणों से उत्पन्न होती हैं, जिन कारणों से ब्लेम्पज कृमियाँ। ये अधिकतर पक्वाणय (क्षुद्रान्त्र, वृहदन्त्र तथा मलाशय) में पाई जाती हैं। और वही पर बढ़ती हैं और बढ़कर प्रायः अवो-मार्ग में निकलती हैं। इनके क्वचित् आमाशयाभिमुख होने पर रोगी के निश्वास तथा उद्गार में पुरीपगवो बदबू आती है। ये कृमियाँ अधिकतर ज्वेत, ऊन के बराबर की दीर्घता की होती हैं। कुछ स्थूल और गोल घेरे की भी हो सकती हैं। क्वचित् व्याव, नील या हरित वर्ण की भी हो सकती हैं। इनके नाम विशेष प्रकार की गति करने वाली कर्करुक एवं मकरुक, चाटने वाली लेलिह, झूल पैदा करने वाली सगूलक तथा मद्योत्थ सौमुराद। इनके प्रभाव में पुरीपभेद, काव्य, पारुष्य, लोमहर्ष, गुदा में कण्डु प्रभृति लक्षण प्रचानत इन कृमियों में युक्त व्यक्तियों में मिलते हैं। इनके परिणाम से गुदनिष्क्रमण (गुद-भ्रंश) पाया जाता है।

आचार्य मुशुनने कृमिरोगों के उत्पादक कारणों का बहुत सारगर्भित सक्षिप्त वर्णन दिया है। उन्होंने लिखा है—उडद, अम्ल और लवण, गुड और शाको (पत्र शाको) के सेवन से पुरीपज कृमियाँ, मास, मत्स्य, गुड और क्षीर के अधिक सेवन से ब्लेम्पज कृमियाँ उत्पन्न होती हैं।

आमाशयात्र कृमि (Intestinal Parsites)

इस प्रकार चरक के मत से चार प्रकार की कृमियों का आख्यान समाप्त हुआ। अब जरा व्यावहारिक दृष्टि से भेद किया जाय तो कृमियों को दो वर्गों में बाँट सकते हैं। १ बाह्य २ आन्तरिक। बाह्य कृमियाँ वे हैं जो बाह्य त्वचा पर, केश, नाव, रोग, श्मश्रु के सन्निधान में या वस्त्र आदि में पाई जाती हैं। यह चरकोक्त मलज कृमियों का वर्ग है। दूसरा वर्ग आन्तरिक आत्रगत कृमियों का है। वे आमाशयान्त्र प्रदेश में पाई जाती हैं और वही रहकर वृद्धि करती तथा विविध लक्षणों को पैदा करती हैं। उपर्युक्त पुरीप और कफज कृमियों का

समावेश इस आत्र कृमि के वर्ग में ही हो जाता है। आभ्यन्तर कृमियों का ही एक दूसरा वर्ग रक्तज कृमियों का हो सकता है। जिनसे श्लीपद और कुछ प्रभृति रोग होते हैं। आभ्यन्तर कृमियों में आमाशयांत्रगत कृमियों का Intestinal Parasites नाम से आधुनिक ग्रंथों में वर्णन पाया जाता है। रक्तज कृमियों का वर्णन श्लीपद रोग या कुछ रोग के अधिकार में आगे किया जायगा। इस अध्याय में अपना प्रतिपाद्य विषय केवल आंत्रगत कृमियों तक ही सीमित रखना अपेक्षित है।

आंत्रगत कृमि (Intestinal Worms) की श्रेणी में प्रमुखतया पाई जाने वाली आधुनिक युग के शोधों पर आधारित तथा व्यवहार क्षेत्र में अविक पाई जाने वाली चार प्रकार की कृमियाँ प्रमुखतया पाई जाती हैं। १ अकुशमुख कृमि (Hook worms), गण्डूपद कृमि (Round worms), सूत्र कृमि (Thread worms) तथा स्कीतकृमि (Tape worms), ये सभी प्राचीनोक्त श्लेष्मज और पुरीपज श्रेणी के भीतर ही समाविष्ट हो जाते हैं।

प्राचीन निदान को समझने के लिये आधुनिक शोधों के आधार पर इनके उपसर्ग-विधि पर एक सत्तिष्ठ कथन प्रासंगिक प्रतीत होता है। एतदर्थ इनके पृथक् पृथक् समुत्थान स्थान, संस्थान, वर्ण, नाम, प्रभावादि का उल्लेख किया जा रहा है।

अकुशमुख कृमि—श्लेष्मज कृमियों के वर्ग में अन्त्राद नाम से सभ्यतः प्राचीन संहिताओं में इसी कृमि का उल्लेख आता है। अकुशमुख कृमि से उपसृष्ट व्यक्ति के मल-पुरीप (पाखाने) में इनके अण्डों की उपस्थिति पाई जाती है। ये अण्डे गीली भूमि में पड़े रह कर तीन दिनों में इल्ली (Larval) का रूप धारण कर लेते हैं। इसके पश्चात् इनका और भी रूपान्तर होता है। इस अवस्था में ये तीन-चार मास तक जीवित रह सकती हैं। यदि कोई व्यक्ति नगों पर उस स्थान पर जाता है तो इल्लियाँ उसकी त्वचा के द्वारा प्रविष्ट होकर लसीका-वाहिनियों और सिराओं से होते हुए *दक्षिण निलय में पहुँच जाती हैं। वहाँ से रक्त द्वारा फुफ्फुस को फिर फुफ्फुस से कंठनाली तक जाती है वहाँ से पुनः अन्न-प्रणाली में फिर वहाँ से चलकर अन्ततः गत्वा अपने स्थायी आवास-स्थान पक्वामाशयान्त्र (Duodenum and jejunum) में आकर स्थित हो जाती है। दो सप्ताहों तक इनके आकार में वृद्धि होती है एवं लगभग चार सप्ताह में ये पूर्ण पुष्ट हो जाती हैं। यहाँ रहते हुए स्त्री कृमि गर्भवती होकर अण्डे देती है जो पुरीप द्वारा निकल कर पूर्वोक्त अवस्थाओं को प्राप्त करके उपसर्ग में सहायता करती है।

इन क्रिमियों का मुख अकुण (Hooks) या बटिन के समान होता है और इन अकुणों के द्वारा ये आत्र में चिपकी रहती हैं और रक्त का पान करती रहती हैं। परिणामतः इन क्रिमियों में उपमृष्ट व्यक्ति में रक्तक्षय या पाण्डुता की उत्पत्ति (Anaemia) होती है। रक्त में ग्लोबिन (Haemoglobin) की कमी हो जाती है—रोग के अधिक तीव्र होने पर रक्त के लाल कणों की संख्या भी कम हो जाती है। अन्तु उपचार-काल में रक्तक्षय की चिकित्सा का भी ध्यान रखना पड़ता है।

गण्डूपद कृमि (केंचुवे या Round worms)—ये कृमि अवि-क्तर वालकों में पाई जाती हैं, परन्तु बड़ी आयु में भी हो सकती हैं। प्राचीन संहिता में गण्डूपद नाम से जलेष्मज वर्ग में इसका प्रसंग पाया जाता है।

रोगी व्यक्ति के मल से निकले हुए अण्डों में उपमृष्ट खाद्य पदार्थ के सेवन से ये स्वस्थ व्यक्ति के आत्र में पहुँच जाती हैं। आमाशय में अम्ल से उनके ऊपर का आवरण गल जाता है तब ये स्वतंत्र होकर यकृत में होती हुई मिरा द्वारा हृदय और अंशुयमुख कृमि की भाँति फुफ्फुस में जाकर पुष्ट होते हैं। वहाँ से पुनः आमाशय में होती हुई आत्र में प्रविष्ट होती हैं। यहाँ पर इनकी वृद्धि होती है और परिपक्वावस्था को प्राप्त करती हैं। ये कृमिया अत्यन्त चंचल और गति-शील होती हैं। प्रायः आत्र में कुण्डलित अवस्था में रहती हैं और विद्भेद, अतिमांस, उदरगूल, हृदयास, वमन, मन्तन स्वरूप का ज्वर आदि पैदा करती हैं। कई बार वमन के साथ मुख से और कई बार पाखाने के जरिये मल द्वार से निकलती हैं। इनके अण्डे प्रायः पाखाने के जरिये बाहर निकलते रहते हैं जो अत्यन्त मृदम होने में अदृश्य रहते हैं—कच्चे आक-पत्रगाक आदि के जरिये मुख में निगले जाकर स्वस्थ व्यक्ति के आमाशय में जाकर उपमृष्ट करने रहते हैं। कभी कभी कई कृमिया एक में मिल कर कुण्डलित होकर आत्र छिद्र को रुद्ध कर आन्त्रावरोध (Acute Intestinal obstruction) की अवस्था उत्पन्न कर देती हैं और कई बार पित्तवाहिनी में अवरोध पैदा करके कामला भी भी उत्पन्न कर देती हैं।

स्फीत कृमि—(Tapeworm) कई जाति की कृमि होती है। ये फीते के समान चाँदी, चिपटी और बहून लम्बी (८-१० फीट) होती हैं। ये अपने गोल मिर में स्थित बटिनो द्वारा आत्र में चिपकी रहती हैं। इनके शरीर में अनेक पर्व होते हैं और प्रत्येक पर्व में अण्डे होते हैं। परिवक्त्र होने पर अंतिम कुछ पर्व (४-६) टूट कर गिर जाते हैं उनके आकार कटूक बीज के समान होते हैं।

इसी लिये डरा कृमि को कद्दूदाना भी कहते हैं। इनकी उपस्थिति से कभी-कभी पेट में दर्द, वमन, मन्दाग्नि और कई बार भस्मक रोग तथा पाण्डु रोग भी पैदा होता है। ये कृमिया अधिकतर आनूप मास (गोमास, शूकरमास) खाने वालों में पाई जाती हैं।

ये कृमिया सहितोक्त श्लेष्मजवर्ग में आती हैं। सम्भवतः महागुद नाम से इनका ही वर्णन प्राप्त होता है।

सूत्रकृमि या तन्तुकृमि (Thread worms)—ये बीजाङ्कुर या सूत्र की भाँति श्वेत वर्ण के बहुत सख्या में पाये जाने वाली प्रायः आधा जौ की लम्बाई की कृमियाँ हैं। प्रायः बच्चों में मिलती और गुदामार्ग से रात्रि में बाहर निकलती हैं। इनसे गुदकण्ट (गुदा में खुजली होना) एक प्रधान लक्षण है। इनमें कई के वजह से प्रवाहिका, गुद-भ्रंश, शय्या-मूत्र और प्रतिश्याय प्रभृति लक्षण भी पैदा हो जाते हैं।

इन कृमियों का पुरीषज कृमियों के वर्ग में वर्णन पाया जाता है। इन कृमियों के अतिरिक्त भी कुछ कृमि जैसे—प्रतोद कृमि (Whipworm) तथा ब्लोपद कृमि (*Filaria Nocterna*) प्रभृति पाई जाती हैं। कृमि-चिकित्सा में कथित योग इनमें भी लाभप्रद होते हैं।

क्रिया-क्रम-१ सभी कृमियों में अपकर्षण प्रथम उपचार है। अपकर्षण शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है, खींच कर निकालना। यह अपकर्षण की क्रिया हाथ की अंगुलियों या नख की सहायता से अथवा चिमटी जैसे किसी यंत्र की सहायता से सम्पन्न हो सकती है। यह क्रिया बाह्य कृमियों के सम्बन्ध में तथा दिखलाई पड़ने वाली कृमियों के सम्बन्ध में समुचित प्रतीत होती है, परन्तु आन्तरिक कृमियों तथा अदृष्ट कृमियों के विषय में कैसे सम्भव हो सकता है? आचार्य ने बतलाया कि इन अदृष्ट या आन्तरिक कृमियों का अपकर्षण भेषज या औषधियों के द्वारा सम्भव है। भेषज द्वारा अपकर्षण के चार साधन हैं—१ वमन २ विरेचन ३. गिराविरेचन तथा ४ आस्थापन वस्ति।

२ दूसरा उपक्रम—प्रकृति विधात का होता है—जिसमें कारणों को नष्ट करने के लिये या शरीर का सतुलन ठीक रखने के लिये कृमि रोग में कटु, तिक्त एवं कषाय रस पदार्थों का सेवन तथा क्षारीय एवं उष्ण द्रव्यों का उपयोग करना आवश्यक है। इससे मधुर-अम्ल-लवण के अति सेवन से उत्पन्न कृमियों का क्रमशः नाश होता चलता है। यह उपक्रम सशमन कहलाता है।

३ निदानोक्त भावों का परिवर्जन—कृमि के उत्पन्न करनेवाले कारणों का सर्वथा परिवर्जन करना । क्षीर, दधि, गुड़, तिल, मत्स्य, आनूप मास, पायस, पिष्टान्त, कुसुम्भ स्नेह प्रभृति उत्पादक कारणों को छोड़ देना चाहिए ।^१

यह एक सामान्य उपक्रम है । विण्ण उपक्रमों की दृष्टि से विचार किया जावे तो पुरीपज कृमियों में वमिष्ठ और विरेचन के द्वारा उपचार, कफज कृमियों में गिरोविरेचन (नस्य), वमन और शमन की चिकित्सा, रक्तज कृमियों में उनके विनाश के लिये कुष्ठचिकित्सा में बतलाये गये उपचार रक्तशोधक योग तथा बाह्य कृमियों में यूका, लिङ्गा आदि को नष्ट करने के लिये लेप, प्रक्षालन (सेक) एवं अभ्यङ्गादि का प्रयोग कुशल चिकित्सक को करना चाहिये ।^२

भेपज—कृमिघ्न औषधियाँ सामान्यतया सभी कृमियों पर कार्य करती हैं परन्तु कुछ विण्ण कृमिघ्न भी होती हैं उनका यथास्थान वर्णन किया जावेगा । कृमिघ्न भेपजों का प्रयोग गुडपूर्वा—गुड के साथ करने का विधान है । इसका उद्देश्य यह होता है कि कृमियाँ गुडप्रिय या मधुरप्रिय होती हैं । गुड के उदर में पहुँचने पर आन्त्रस्थ कृमि आमाशयान्त्र के विविध स्थानों (आन्त्र की अतस्थ भित्तियों) से निकल कर गुडभक्षण की स्पृहा से उस स्थान पर जहाँ गुड पहुँचा है, एकत्रित हो जाती हैं । उसमें तिक्त, उष्ण, क्षारीय और उष्ण औषधियों के सम्पर्क में आकर या तो वे मर जाती हैं अथवा मूर्च्छित हो जाती हैं और फिर एक रेचन दे देने से वे आन्त्र से धुलकर बाहर निकल जाती हैं । अस्तु प्रायः गुड के साथ भेपजों का प्रयोग करने का उपदेश शास्त्रों में पाया जाता है ।

१. पारसीकयमानी—कृमिकोष्ठ वाले रोगी को प्रातः काल में पहले १ तोला गुड खिलाकर फिर पारसीकयमानी (खुरासानी अजवायन) का चूर्ण ३ मासे खिलावे । चूर्ण को खिलाकर बासी पानी पीने को दे । तो कृमियाँ मल के साथ बाहर निकल जाती हैं । यह योग सभी कृमियों विशेषतः अङ्गुशमुख कृमियों में लाभप्रद रहता है ।

आधुनिक युग में पारसीकयमानी सत्त्व (थायमाल नाम से Thymol) पाया जाता है । अङ्गुशमुख कृमि में यह औषधि विण्ण लाभप्रद (Specific)

१. 'अपकर्षणमेवादी कृमीणा भेपजं स्मृतम् । ततो विघातः प्रकृतेर्निदानस्य च वर्जनम् । (चर वि ८)

२ पुरीपजेषु सुतरा दद्याद्विस्तारविरेचने । गिरोविरेकं वमनं शमनं कफजन्मसु ॥ रक्तजानां प्रतीकारं कुर्यात् कुष्ठचिकित्सया । बाह्येषु लेपसेकादीन् विदध्यात् कुगलो भिषक् ॥

मानी जाती है। प्रयोग विधि—औषधि प्रयोग के पूर्व रोगी को दो दिनों तक मूग की दाल, खिचड़ी या अन्य लघु अन्न देना चाहिये। फिर प्रातः काल में दस ग्रेन की मात्रा की तीन पुडिया अथवा कपस्युल में भर कर दस ग्रेन प्रति कैपस्युल बनाकर एक दो या तीन मात्रा एक-एक घंटे के अंतर से देना चाहिये। युवक को पूर्ण मात्रा ३० ग्रेन की होती है। इससे अधिक कदापि न दे। आवश्यकतानुसार रोगी और रोग के दल-काल के अनुसार दस, बीस या तीस ग्रेन तक दिया जा सकता है। यथावश्यक औषधि देने के अनन्तर रोगी के आत्र के प्रक्षालन के लिये दो घंटे के बाद तीव्र रेचक (जलसावक) सामुद्रेचन (Magsulph) छ ड्राम से १ आंस तक पानी में घोलकर पिला देना चाहिये। दस्त की दवा देना आवश्यक होता है। सिद्धान्त यह है कि यमानी सत्व के सम्पर्क में आकर कृमि मूर्च्छित हो जाते हैं—मूर्च्छितावस्था में उनको आत्र से दूर करने के लिये तीव्र रेचन पर-मोत्तम साधन है।

इसके प्रयोग-काल में मद्य, ग्लिसरीन, क्लोरोफार्म, मक्खन, तैल, एरण्डतैल वर्ज्य है।

२ पारिभद्रक (पर्वतनिम्ब) पत्र-स्वरस १ तोला मधु मिलाकर सेवन।
३ केवुक ४ पूतीक स्वरस का मधु के साथ सेवन अथवा ५ वायविडङ्ग चूर्ण आर मधु का सेवन।

६ पलाशबीज—पलाशबीज का स्वरस मधु से या पलाशबीज का कल्क का मट्ठे से या पलाशबीज चूर्ण का गुड से अथवा पलाशबीज कपाय का गुड से सेवन कृमिघ्न होता है। मात्रा ३ माशे से ६ माशे तक। पलाशबीज (Butea seeds) यह बड़ा ही उत्तम योग है। गण्डूपद कृमियों में (Round worms) विशेष लाभप्रद पाया गया है।

७ सुपारी—कच्ची सुपारी को जम्बोरी नीबू के रस के साथ पीने से पुरीपज कृमि (Thread worms) में विशेष लाभ-प्रद पाया जाता है।

८. तुम्बी बीज—(कड़वे कद्दू का बीज) ३ माशे मट्ठे के साथ।

९ कुष्माण्ड बीज का प्रयोग भी कृमिघ्न होता है। मात्रा—३ से ६ माशे।

१० नारिकेल जल का मधु के साथ सेवन भी कृमियों को निकालता है।

११. जेवायन—(यमानी) के बीज का चूर्ण ६ माशे सैन्धव लवण के साथ प्रातः काल में खाली पेट पर लेने से अजीर्ण, आमवात, शीतपित्त तथा कृमिरोग में लाभप्रद होता है। जेवायन का गुडके साथ भी प्रयोग कृमिनाशक होता है।

१२ काम्पिल्लक चूर्ण—(गुद्ध कवीले का चूर्ण) १ से २ मागे की मात्रा में गुडके साथ मिलाकर सेवन करने से उदरस्थ सभी कृमियों को निकाल देता है। इसका प्रयोग बच्चों के वृमि रोग में विशेषतः पुरीपज कृमि (Thread worms) में लाभप्रद होता है।

१३ किरमाणी अजवायन चूर्ण—१ मागे से ३ मागे तक गुड के साथ सेवन गण्डूपद कृमि में विशेष लाभप्रद होता है। आधुनिक युग में इसका सत्त्व किरमाणी अजवायन सत्त्व (Santonin) के नाम से आता है। इसकी मात्रा १ से ३ ग्रेन की होती है। गण्डूपद कृमियों में (Round worms) में विशिष्ट (Specific) रूप में प्रयुक्त होता है।

प्रयोग विधि—सैण्टोनीन में कैलोमल तथा सोडावाय कार्ब मिलाकर एक मिश्रण (Santonin $\frac{1}{2}$ to 1 grain, Calomel $\frac{1}{2}$ to 1 grain, sodi Bicarb 3 to 5 grains) बनाकर। सायकाल में रोगी को एक एक घंटे के अंतर में तीन पुट्टिया खिला दे। फिर प्रातः काल में सामुद्रेचन (Sodi sulph or Magsulph ४ ड्राम से १ आंस तक) को पानी में घोल कर पिलावे इसमें रेचन होकर उदरस्थ कृमि मूर्च्छित हो गये रहते हैं दस्त के साथ बाहर निकल जाते हैं।

१४ स्वर्णक्षीरीबीज—स्वर्णक्षीरी की जड़ की छाल का कर्क ३ मागे मरिच ५ दाने के साथ या बीज का तैल सभी कृमियों विशेषतः अकृण मुख कृमियों में लाभप्रद पाया गया है। आजकल एतादृग औषधि का प्रयोग Hexylresor-sinol नाम से बहुतायन में होता है। Crystoids (sharp & Dhome) बना बनाया कैपस्युल में भरा पाया जाता है। इस औषधि को कम विपाकन माना जाता है। पाँच कैपस्युल एक ही साथ शीतल जल के साथ प्रातः काल में रोगी को निगलवा दिया जाता है। पश्चात् तीन या चार घंटे के अनन्तर उमको सोडा मल १ आंस जल में घोल कर पिला दिया जाता है जिसमें रेचन हो जाय। इनके प्रयोग में धीरे धीरे कृमियों का तथा उनके अण्डों का निकलना प्रारम्भ होता है और दस दिनों तक निकलते रहते हैं। इसका उपयोग निगपद माना जाता है।

१५ आखुपर्णी या मूपाकर्णी—आखुपर्णी को जी के आटे में पीसकर पकीटी बनाकर तेल में तलकर भाजी के साथ पीने से कृमि नष्ट होते हैं।

१६ सुरमादि गण—कृष्ण तथा श्वेत तुलसी, मरुवक (महुआ), अर्जक, भूस्तृण (रोहिम तृण), मुगवक (गंवतृण), मुमुक्ष (तुलसी भेद), कृष्णार्जक (काठ माल), कामर्द, चवक (नर्कटिकनी), खरपुष्पा (वन

वर्वरिका) विडङ्ग, कट्फल, निर्गुण्डी, मुण्डी, मूपाकर्णी, भारंगी, काकजघा, काकमाची, कुपिलु (कुचिला) । इस गण की प्रत्येक औषधि स्वतंत्रतया कृमिघ्न है । इनमें कईयों का उल्लेख ऊपर में हो चुका है । दवना या मरुवा विशेष उल्लेखनीय है । इनमें से किसी एक का ताजा रस $\frac{1}{2}$ से १ तोला मधु से सेवन कराने से बालकों में गण्डूपद तथा सूत्र कृमियों में लाभप्रद होता है ।

१७ दाडिम बीज—अनारदाने का बीज सामान्यतया कृमि रोग में व्यवहृत होता है । इसका विशेष प्रयोग स्फीत कृमि (Tape worms) में होता है । Palitrin Tannet नाम इसका एक विशेष योग आता है जो इस अवस्था में उत्तम लाभ प्रद पाया जाता है ।

१८ गंधवास्तूक—बथुवे की एक जाति गंधवास्तूक नाम से पाई जाती है । इसके बीज कृमिघ्न होते हैं । इन बीजों से एक तैल गंधवास्तूक तैल (Oil chenapodium) बनता है, इसका उपयोग विशेष अकुशमुख कृमियों में लाभप्रद पाया जाता है । मात्रा १० बूद । प्रयोग कैपस्यूल में भर कर दस बूद खिला देना चाहिये । एक घंटे के पश्चात् समुद्रेचन (Mag sulph or sodi sulph) देकर रेचन करा देना चाहिये ।

इन वानस्पतिक द्रव्यों के अतिरिक्त अन्य कई रासायनिक द्रव्य भी कृमि चिकित्सा में व्यवहृत होते हैं । जैसे—१९ कार्बन टेट्राक्लोरायड या कार्बन टेट्राक्लोरेथीलीन । मात्रा ३० ग्रे Tetra cap नाम से १० ग्रेन की मात्रा के कैपस्यूल बने बनाये बाजार में उपलब्ध हैं । इनका यथावश्यक रोगी के वल के अनुसार दो या तीन कैपस्यूल पानी से निगलवा देना चाहिये । फिर दो घंटे के बाद सामुद्रेचन देकर रोगी का रेचन करा देना चाहिये । कृमियाँ तथा उनके अण्डे सभी बाहर निकल जाते हैं । यह औषधि विशेष कर अकुशमुख कृमि में लाभप्रद रहती है । एक मिश्रण का प्रयोग अकुशमुख कृमि के रोगियों में बड़ा लाभप्रद पाया गया है । कृमिघ्न मिश्रण—गंधवास्तूक तैल (Oil chenapodium) १० बूद, कार्बन टेट्राक्लोरायड (Carbon tetra chloride XXXms) ३० बूद तथा सामुद्रेचन (Magsulph) ६ ड्राम तथा जल २ औंस । यह एक तीव्र औषधि प्रयोग है, रोगी को आत्मनिरीक्षण में रख कर देना चाहिये । रेचन न हो तो पुनः समुद्रेच ४ ड्राम पानी में घोल कर देना चाहिये ।

२० जेन्शियन वायलेट—(Jentian Violet) इसके भी बने योग बाजार में मिलते हैं । यह औषधि गण्डूपद कृमियों में विशेष रूप से कार्य करती है ।

२१ कार्बामेजीनसायट्रेट (Carbamazine citrate) हेट्राजान (Lederle) के नाम से यह औषधि बाजार में मिलती है। गरटूपद कृमि तथा ग्लोपद कृमि में लाभप्रद है। पिपरा जीन सायट्रेट (Piprazine Citrate) इसके कई योग कई नामों से बाजारों में मिलते हैं। 'एण्टोपार' 'वर्म-जाइन' आदि। एक निरापद औषधि है। गण्डूपद कृमि (Round worm) तथा सूत्रकृमि (Thread worms) में विशेष लाभप्रद होती है।

प्राचीनोक्त तथा अर्वाचीन कृमिघ्नों में अंतर—आधुनिक युग के कृमिघ्न अधिकतर बड़े तीव्र एवं विपाकृत होते हैं। इनका अधिक लम्बे समय तक लगातार प्रयोग नहीं किया जा सकता है क्योंकि ये लगातार प्रयोग में आकर यकृत को हानि पहुँचाते हैं। इनके विपरीत प्राचीनोक्त कृमिघ्न औषधियों में विपाकतना अत्यल्प या नहीं है। अधिक दिनों तक प्रयोग में आने पर भी किसी प्रकार से यकृत की क्रिया को हानि नहीं पहुँचाते प्रत्युत यकृत की क्रिया को बल देते हैं। प्राचीनोक्त औषधियाँ मृदु हैं फलतः इनकी क्रिया (कृमियों के दूर करने की) धीरे धीरे होती है और अधिक काल तक प्रयोग करने की आवश्यकता रहती है। इसके विपरीत आजकल की कृमिघ्न औषधियाँ तीक्ष्ण होती हैं। परिणामतः इनका कार्य (कृमियों के निकालने का कार्य) भी शीघ्रता से होता है।

अब विचारणीय है कि प्राचीनोक्त कृमिघ्न औषधियों का प्रयोग अधिक उत्तम है या अवर्चीन का। गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो दोनों योगों के मिश्रित उपचार का उपयोग अधिक समीचीन प्रतीत होता है। ध्ववहार में ऐसा ही किया भी जाता है। उदाहरणार्थ एक अकुण्ठमुख कृमिसे पीडित रोगी को ले लें। इसकी चिकित्सा में सर्वप्रथम आवश्यकता होती है कि अवर्चीन कृमिघ्न योग की एक तीव्र मात्रा दी जाय जो शीघ्रता से अधिक से अधिक मात्रा में कृमियों को निकाल दे। फिर उसके बाद आयुर्वेदीय किसी कृमिघ्न योग की लगातार सेवन करने की एक मास तक व्यवस्था कर दी जाय। कारण यह है अवर्चीन औषधियाँ तीव्र होते हुए भी सम्पूर्ण कृमियों को एक ही साथ बाहर नहीं निकाल सकती कुछ न कुछ जेप रह जाती है जिनकी पुनः वृद्धि होकर रोगी को हानि पहुँच सकती है। इस बीच यदि आयुर्वेदीय योगों का प्रयोग कर दिया जाय तो जेप रही कृमियों के नष्ट हो जाने की पूरी संभावना रहती है।

अवर्चीन औषधियों का उपयोग एक बार कर देने के बाद अनन्तर कम से कम तीन सप्ताह का अंतर देना चाहिये यदि आवश्यकता हो तो दो या तीन बार पुनः पुनः दी जा सकती है। मध्य के अवान्तर काल में आयुर्वेदीय निरापद

कृमिघ्न योगो का प्रयोग उत्तम रहता है । इस प्रकार उभय विध चिकित्सा करते कृमियो को निर्मूल करना एक उत्तम विधान है ।

कृमिघ्न योग—

भद्रमुस्तादि कपाय—मुस्तक, मूसाकर्णो, पलाशदीज, वायविडङ्ग, अनार की छाल (वृक्षकी), खुरासानी अजवायन, सुपारी, देवदारु, सहिजन के बीज, हरद, बहेरा, आंवला, खैरमार, नीमकी छाल, इन्द्रजी । सब समभाग । इसका २ तोला लेकर आधासेर जल में खीलावे, दो छटांक शेष रहे पिलावे । प्रातः । सभी कृमियो में लाभप्रद ।

विडङ्गादि चूर्ण—वायविडङ्ग, सेधव, यवचार, कवीला, पलाशबीज, अजवायन, हरीतकी । सब समभाग । मात्रा ६ माशे । अनुपान उष्ण जल या तक्र से । सर्वकृमियो में लाभप्रद ।

पलाशवी जादि चूर्ण—पलाशके बीज, जेवायन इद्रयव, वायविडङ्ग, नीम की छाल, चिरायता सब सम भाग । मात्रा १ से ३ माशे । पुराने भुडके साथ ।^१ विशेषतः गण्डूषद कृमि में लाभप्रद ।

पारसीयादि चूर्ण—पारसीक जेवायन, मोथा, पिप्पली, काकडासीगी वायविडङ्ग और अतीस । सबका समभाग में बना चूर्ण । मात्रा १-३ माशे । अंत्राद क्रिमियो में लाभप्रद । जब क्रिमियो के कारण कास-श्वास का उपद्रव हो तो इसका उपयोग ठीक रहता है ।

पारसीकादि वटी—खुरामानी अजवायन, पलाशबीज, वायविडङ्ग, कर-जकी गुद्दी, अनार की छाल, इद्रजी, कवीला, नागरमोथा, शुद्ध गंधक, अजवायन का सत और भुनी हींग । सब समभाग । कपडछन चूर्ण बना कर । अनन्नास था खजूर के रस में घोट कर ४ रत्ती की गोलियाँ । मात्रा १ से २ गोली । अनुपान भद्रमुस्तादि कपाय । प्रातः काल में एक बार । १ सप्ताह से तीन सप्ताह तक । अत्राद था अकुरा मुख कृमि में विशेष लाभप्रद । (Hookworms)

विडङ्गादि वस्ति—वायविडङ्ग, त्रिफला, सहिजन की छाल, मैनफल, मोथा, दन्ती की जड़, पलाशबीज, खुरासानी अजवायन, कवीला, बततुलसी की पत्ती, दमनक, मखक प्रत्येक द्रव्य एक एक तोला लेकर ३ सेर जल में पकावे जब

१ पलाशबीजेन्द्रविडङ्गनिम्बभूनिम्ब चूर्ण सगुड लिहेद्य ।

दिनत्रयेण क्रिमय पतन्ति पलाशबीजेन यकानिका वा ॥ (भै र)

चौथाई काढा जेप रहे तो उसमें विडङ्गादि तैल २ तोला मिलाकर । आस्थापन वस्ति के प्रयोग से गुदा से पुरीपत्र कृमियाँ (Threadworms) निकल जाती हैं ।

क्रिमिकालानल रस—शुद्ध पारद और शुद्ध गंधक की सममात्रा में दनी कज्जली १ भाग, वायविडङ्ग १ भाग, शुद्ध वत्मनाभ विप $\frac{1}{2}$ भाग । बकरी के दूध में पीसकर । २ रत्ती की गोली । धनिया और जीरा के अनुपान से सेवन ।

कृमिमुद्गर रस—शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गंधक २ तोला, धजमोदा का चूर्ण ३ तोला, वायविडङ्ग चूर्ण ४ तोला, शुद्ध कुपीलु बीज का चूर्ण ५ तोले तथा शुद्ध पलाशबीज चूर्ण ६ तोले । सभी प्रकार की कृमियों में लाभ-प्रद । मात्रा २ से ४ रत्ती । अनुपान मुस्तक कपाय ।

विडङ्ग लौह—शुद्ध पारद, गंधक, मरिच, जायफल, लवङ्ग, पिप्पली, शुद्ध हरताल, गुण्ठी, वग भस्म प्रत्येक एक एक तोला, लौह भस्म ९ तोले तथा वायविडङ्ग १८ तोले । अकृण मुख कृमि तथा तज्जन्य पाण्डु में लाभप्रद । मात्रा—१ माग । अनुपान मधु ।

बाह्य क्रिमियों में चिकित्सा—स्नानादि के द्वारा तथा वस्त्रादि के प्रक्षालन और सूर्य के धूप में रखने प्रभृति सफाईयो से बाह्य कृमियों में लाभ होता है । माथ ही कई प्रकार के लेप, तैल तथा धूप भी प्रशस्त हैं । जैसे—

१. नाडीच (काल शाक) के बीजों को काजी के साथ पीस कर सिर पर लेप करने से शिरोगत केवों की यूका तथा लिक्षा नष्ट हो जाती है ।

२. वनूर के या पान के रस में पारे को खरल कर लेप करने से भी यह लाभ प्राप्त होता है ।

३. खाने वाली तम्बाकू का शीतल कपाय वालों में मलना अथवा लाल कनेर की पत्तियों के काढे में मिर के केवों का धोना भी यूका-लिक्षा को नष्ट करता है ।

४. **लाक्षादि धूस**—लाव, भिलावा, विरोजा, सफेद अपराजिता, अर्जुन की छाल, फल्-फूँ, वायविडङ्ग, सफेद, राल, गुग्गुलु । सम भाग में खरल कर रख ले । इसको आग में जलाकर कमरे को बन्द कर इसका धुआँ देने से घर, शय्या और वस्त्र के कीड़े नष्ट हो जाते हैं । सर्प, चूहे, मच्छर, मकड़ी, खटमल आदि पराश्रयी नष्ट हो जाते हैं ।

५. **विडङ्ग तैल**—वायविडङ्ग, गंधक, मन शिला । इनका सम भाग में गृहीत कल्क १ पाव । मूर्च्छित कटु तैल १ सेर । गोमूत्र ४ सेर । कडाही में

लेकर अग्नि पर चढ़ा कर मंद अग्नि से पाक करे। तेल के लगाने से सिर के केशों के या अन्यत्र सम्पूर्ण त्वचा पर पाये जाने वाली कृमियाँ नष्ट हो जाती हैं।

६ धुस्तूर तैल—धतूर के पत्र-स्वरस से सिद्ध सर्प तैल भी ऐसा ही कार्य करता है।

अपथ्य—कृमि रोग में विशेषतः श्लेष्मज, पुरीषज तथा रक्तज कृमियो में कच्चा दूध, आनूप मास, मछली, दही, अविक स्निग्ध भोजन, गुड, अधिक मधुर (मिष्ठान्न) सेवन, पत्र शाक, उडद, अति द्रव अन्न, कच्चा जल (बिना उवाला), बिना उवाला या पकाया शाक-भाजी, तरकारी तथा दिवास्वाप (दिन का सोना) निषिद्ध है। एतद्-विपरीत आहार-विहार पथ्य है।

पाण्डु तथा कामला प्रतिषेध

प्रावेशिक—रक्तक्षय या किसी कारण से रक्त की कमी हो जाने से जब रोगी की त्वचा, नेत्र, मुख, जिह्वा, नख, मूत्र और मल ईषत् पीत युक्त श्वेत वर्ण के हो जाते हैं तब उस रोग को पाण्डु रोग कहा जाता है और रोगी को पाण्डु-पीडित रोगी। रक्त की मात्रा की कमी के अनुसार रोगी की त्वचा का वर्ण पीत या श्वेत कई प्रकार का हो सकता है। दोषों के अनुसार भी लक्षण तथा त्वचा, नख आदि के वर्ण में विविधता आ सकती है। अस्तु दोषभेद से वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक सन्निपातज भेद से चार प्रकार का पाण्डु रोग होता है। पाण्डु रोग का एक पाँचवा भेद मृज्ज-पाण्डु का होता है—जिसमें रोगी में मिट्टी खाने का इतिवृत्त पाया जाता है और अधिक मिट्टी खाने के परिणाम-स्वरूप रक्त क्षय हो पाण्डुता आई हो। इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टि से पाण्डु रोग के पाँच प्रकार हो जाते हैं। नेत्र के अधोवर्त्म को नीचे की ओर अंगुलि से दबा कर अथवा जीभ के वर्ण को देख कर रक्त की कमी या पाण्डु का विनिश्चय सरलता से किया जा सकता है।

पाण्डु रोग से हेतु, लक्षण तथा चिकित्सा से साम्य रखने वाला दूसरा रोग कामला है। हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा में बहुत कुछ साम्य होने के कारण दोनों रोगों का एक ही अध्याय में वर्णन प्रायः प्राचीन ग्रंथों में पाया जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से दोनों की चिकित्सा भी बहुत अंशों में समान ही रहती है। पाण्डु तथा कामला में भेद यह होता है—कामला में पित्त की बहुलता पाई जाती है। फलतः इसमें त्वक्, मूत्र, नेत्र का वर्ण अधिक पीला हो जाता है। यह पीतता सर्वाधिक नेत्र के श्वेत भाग (Conjunctiva), जिह्वातल तथा

मूत्र में पाई जाती है। केवल देखने मात्र से ही रोग का विनिश्चय संभव रहता है। कामला के प्रचान दो प्रकार मिलते हैं। १. कोष्ठाश्रित, २. आखाश्रित।

कामला ही बड़ा हुआ कुम्भ कामला है। कामला ही कालान्तर (कुछ समय के पश्चात्) में समय अधिक बीत जाने पर कुम्भकामला का रूप धारण कर कृच्छ्रमाध्य हो जाता है। डमरु शोफ का उपद्रव भी पाया जाता है।

हलीमक कुम्भ कामला में परे की अवस्था है जिसमें पाण्डु रोगी का वर्ण हरा या नील पीत हो जाता है। दीर्घत्व, रक्तक्षय, मन्दाग्नि, मृदु ज्वर और उत्साह की कमी रोगी में पाई जाती है।^१

पाण्डु रोग में क्रियाक्रम—घृत^२ (पंचगव्य-महातिक्त अथवा कल्याण घृत) पिलाकर तीक्ष्ण व्रमन तथा रेचन कर्म के द्वारा ऊर्ध्वाध्व गोधन करना चाहिये। तदनन्तर निम्नविधि से प्रगमन की क्रिया करे। वातिक पाण्डु रोग में विशेषतः स्निग्ध, पैत्तिक में तिक्त रसात्मक शीत वीर्य द्रव्य तथा श्लैष्मिक में, कटु तिक्त रसात्मक उष्ण द्रव्यों का प्रयोग करे। त्रिदोषज पाण्डु में त्रिदोष शामक अथवा तीनों दोषों की मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिये।

मृज्जपाण्डु में विशिष्ट क्रियाक्रम—मृज्जपाण्डु में रोगी के बलावल को देखते हुए युक्तिपूर्वक ताक्ष्ण विरेचन दे देकर खाई हुई मिट्टी को कोष्ठ से बाहर निकालना चाहिये। कोष्ठ के शुद्ध हो जाने पर वर्य मिद्ध घृतों का सेवन कराना चाहिये।^३

व्योपादि घृत—व्योष (त्रिकटु), वित्त, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, ज्वेत एवं रक्त पुनर्नवा, मोथा, मण्डूर, पाठा, विडङ्ग, देवदारु, वृश्चिकाली, भार्गो और दूध

१ पाण्डुत्वदन्नेत्रविण्मूत्रनखै स्यात्पाण्डुरोगवान्। दोषैर्भिन्नैर्भिन्नैश्च पचमो भक्षणान्मृदः ॥ पीतत्वङ्मूत्रविण्नेत्रा बहुपित्तात्तु कामला कोष्ठग्राखाश्रया मता ॥ कालान्तरखरीभूता कृच्छ्रा स्यात् कुम्भकामला। उपेक्षया च शोफाढ्या सा कृच्छ्रा कुम्भकामला ॥

२ पंचगव्य महातिक्तं कल्याणकमथापि वा।

स्नेहनार्थं घृतं दद्यात् कामला-पाण्डुरोगिणे ॥

३ तत्र पाण्ड्वामयो स्निग्धतीक्ष्णैरुर्ध्वानुलोमिकैः। मण्डोव्य। ततः प्रगमनो कार्या क्रिया वैद्येन जानता। वातिके स्नेहभूयिष्ठ पैत्तिके तिक्तशीतलम् ॥ श्लैष्मिके कटुतिक्तोष्ण विमिश्र मान्निपातिकम्। निष्पातयेच्छरीरात्तु मृत्तिका भक्षिता भिषक् युक्तिज गोधनैस्तीक्ष्णं प्रसमीक्ष्य बलावलम्। शुद्धकायस्य सर्पोपि बलाघानानि योजयेत् ॥ (च चि १६)

से सिद्ध घृत पिलाना चाहिये । यदि रोगी मिट्टी खाना न छोड़ पाता हो तो तत्तद्दोषग्रामक औषधियों से भावित करके मिट्टी खाने का संयोग उपस्थित करना चाहिये ताकि वैसी मिट्टी से उसे द्रव्य हा जाय और खाना छोड़दे । जैसे विडङ्ग एला, अतिविपा, निम्बपत्र, पाठा, कुटकी, कुटज, मूर्वा और वैगन प्रभृति द्रव्यों के रसों में भावित करके मिट्टी खाने को देना चाहिये । इन विशिष्ट उपक्रमों के अतिरिक्त शेष चिकित्सा पाण्डुवत् करनी चाहिये ।

भेषज—स्नेहन और शोधन (विरेचन) दो ही उपक्रम पाण्डुचिकित्सा में वर्तते जाते हैं एतदर्थ कई भेषज उपयुक्त रहते हैं । जैसे १ दन्तीस्वरस २. काश्मरी (गाम्भारी फल-प्रयोग), ३ मुनक्के का सेवन ४ गोमूत्र में भिगोई हरीतकी का प्रयोग ५. त्रिवृत् चूर्ण और मिश्री का सेवन ६ त्रिफला और गोमूत्र का सेवन ७ स्वर्णचीरीमूल, देवदारु, गुण्ठी अथवा मातुलुग-मूलका गोमूत्र में ववधित करके सेवन । ८ गोमूत्र, गोदुग्ध और माहिष घृत का सेवन ९ गुड तथा हरीतकी का सेवन पाण्डु रोग में सदैव लाभप्रद है । १० लौहभस्म का (१-२ रत्ती) हरीतकी चूर्ण (६ मा) घृत और (८ मा) मधु से सेवन । ११ लौहपात्र में गर्म किये दूध का सेवन । १२ स्वर्णमाक्षिक का १ रत्ती या २ रत्ती मात्रा में गोमूत्र में सेवन ।

भेषज योग—पाण्डुरोग में घृतों के योग सर्वोत्तम माने गये हैं—इसके लिये हरिद्रा से सिद्ध घृत, दाडिमबीज से सिद्ध घृत, द्राक्षादिघृत, त्रिफलासिद्ध घृत तथा तैन्दुकमिद्ध घृत में से किसी एक का प्रयोग करना चाहिये । यदि सिद्ध घृत मुलभ न रहे तो वैरेचनिक योगों का घृत के साथ प्रयोग करना चाहिये । अथवा प्रत्येक औषधिको घृत के अनुपान से दे ।

फलत्रिकादि कषाय—हरीतकी, विभीतक, आमलकी, गिलोय, अडूसा, कुटकी, चिरायता, नीम की छाल । सब समभाग में लेकर जौकुट करले । २ तोले इस चूर्ण को आधा सेर जल में खीलाकर जब जलकर दो छटाँक शेष रहे, तब ठंडा होने पर मधु मिलाकर प्रातः सेवन करे ।^१ यह एक प्रसिद्ध योग पाण्डु तथा कामला दोनों में लाभ करता है । कामला में विशेष उपयोगी है ।

१ साध्यन्तु पाण्ड्वामयिन निरीक्ष्य स्निग्ध घृतेनोर्ध्वमधश्च शुद्ध । सम्पादयेत् क्षौद्रघृतप्रगाढैर्हरीतकीचूर्णमयैः प्रयोगैः ॥ पिवेद् घृतवारजनीविषक्व यत्त्रैफल तैन्दुकमेव वापि । विरेचनद्रव्यघृतम् पिवेद्वा योगाश्च वैरेचनिकान् घृतेन ॥ (च)

२ फलत्रिकामृतावासात्तिकाभूनिम्बनिम्बजै । क्वाथ क्षौद्रयुतो हन्यात् पाण्डुरोगं सकामलम् ॥

लोह तथा मण्डूर के योग—लोह तथा मण्डूर भस्म के बहुत से योग पाण्डु रोग में व्यवहृत होते हैं। स्वतंत्रतया भी केवल लोह या केवल मण्डूर भस्म का प्रयोग हरीतकी चूर्ण, धी और मधु के माथ सेवन करने का विधान ऊपर आ चुका है। यहाँ कुछ सिद्ध योगों के नुस्खे उद्धृत किये जा रहे हैं।

मण्डूर भस्म—४ रत्ती मण्डूर भस्म में २ रत्ती शक्व भस्म मिलाकर १ मात्रा। घृत, मधु, हरीतकी चूर्ण से।

मण्डूर वटक—त्रिकटु, त्रिफला, चव्य, चित्रक, देवदारु, वायविडङ्ग, मुम्वक सम परिमाण में प्रत्येक लेकर कुल चूर्ण के बराबर मण्डूर भस्म लेकर अष्टगुण गोमूत्र में अग्नि पर चढ़ाकर पाक करे। जब वटक बनने लायक हो तो ६ मांघे के वटक बनाले। अग्नि-बल के अनुसार १ में २ वटक का दूध से सेवन। (चरक)

पुनर्नवादि मण्डूर—पुनर्नवामूल, त्रिवृत्तमूल, गुठी, मरिच, पिप्पली, वायविडङ्ग, देवदारु, चित्रकमूल, पुष्करमूल, हरड, वहेरा, आंवला, हल्दी, दारुहल्दी, दन्ती की जड़, चव्य, इन्द्रयव, कुटकी, पीपरामूल मोथा-प्रत्येक का एक-एक तोला चूर्ण, चूर्ण के कुल परिमाण में द्विगुण मण्डूरभस्म और मण्डूर भस्म के आठ गुना गोमूत्र। अग्नि पर चढ़ाकर पाक करे। जब गाढ़ा हो जाय और गोली बनने लायक हो जाय तब ४ रत्ती की गोलियाँ बना ले। मात्रा १ मांघे। मधु में दिन में दो बार। यह एक सिद्ध योग है। पाण्डु, कामला, कृमिरोग तथा शोथ रोग में उपकारक है। (चर)

नवायस लोह—नवायस चूर्ण त्रिकटु, त्रिफला, त्रिमद (मुस्तक-वायविडङ्ग-चित्रक) इन तीनों द्रव्यों में से प्रत्येक एक एक तोला लेकर महीन चूर्ण बनाले फिर उसमें लोहभस्म कुल परिमाण के बराबर अर्थात् ९ तोले मिलाकर खरल करके रख ले। मात्रा ४ रत्ती। अनुपात १ तोला घृत और $\frac{1}{2}$ तोला मधु मिला कर रोगी को सेवन करावे। यह परम उत्तम योग है। कामला तथा पाण्डु दोनों रोगों में लाभदायक है। (जा)

निशालोह—समभाग हरिद्रा, दारु हरिद्रा, त्रिफला तथा कुटकी का कपट-छन चूर्ण सबके बराबर लोह भस्म अर्थात् ६ तोला मिलाकर महीन खरल कर रख ले। यह योग कामला रोग में विशेष लाभप्रद होता है। मात्रा २ से ४ रत्ती, अनुपात मधु एवं घृत (३ : २)

विडङ्गादिलोह—वायविडङ्ग, त्रिफला, त्रिकटु प्रत्येक समभाग में अर्थात् कुल ७ तोले चूर्ण में ७ तोले लोह भस्म मिलाकर बनाया योग। मात्रा २ से

४ रत्ती । अनुपान घृत, मधु, विशेषतः कृमिज पाण्डु या मृज्ज पाण्डु मे लाभप्रद । (भै र)

योगराज—हरीतकी, विभीतक, आमलकी, शूठी, कालोमिर्च, छोटी पिप्पली, चित्रकमूल, वायविडङ्ग प्रत्येक का १ भाग, शिलाजीत ५ भाग, रौप्य शिलाजीत ५ भाग, सुवर्णमाक्षिक भस्म ५ भाग, लौह भस्म ५ भाग तथा मिश्री आठ भाग । भरमे तथा शिलाजीत छोड़ अन्य द्रव्यों का चूर्ण करे । पश्चात् उसमें शिलाजीत व भस्मे मिलाकर १, १, माशे की गोलियाँ बना ले । यदि रौप्य शिलाजीत न मिले तो रौप्यमाक्षिक भस्म ५ तोला अथवा शिलाजीत १० तोला मिला ले । अनुपान १-२ गोली दूध से प्रातः (चर)

पाण्डु पचानन रस—लौह भस्म, अभ्र भस्म, ताम्रभस्म प्रत्येक चार चार तोले, त्रिकटु, त्रिफला, दन्तीमूल, चव्य, काला जीरा, चित्रकमूल, दारुहल्दी, हल्दी, त्रिवृत् की जड़, मानकद की जड़, इन्द्रजौ, कुटकी, देवदारु, वचा और नागरमोथा प्रत्येक का एक एक तोला, मण्डूर भस्म ६२ तोले और मण्डूर से अष्टगुण गोमूत्र छोड़कर अग्नि पर पाक करे । जब पाक सिद्ध हो जाय तो उतार कर १-१ माशे की गोली बनाकर रख ले । यह एक उत्तम योग है । इसमें लौह और मण्डूर के अतिरिक्त ताम्र भस्म है । जो रक्ताल्पता में विशेष लाभप्रद रहता है । इस योग का प्रयोग शोथ, कामला, पाण्डु, हलीमक तथा प्लीहा और यकृत के रोगों में होता है । (भै र)

आमलक्यवलेह (धात्र्यवलेह)—ताजा आँवले का रस (१२ सेर १२ छटाँक ४ तोले) को कड़ाही में छोड़कर आग पर चढ़ा दे । मन्द आँच पर पाक करे जब कुछ गाढ़ा होने लगे तब उसमें निम्नलिखित द्रव्यों का प्रक्षेप डाल दे । पिप्पली चूर्ण ६४ तोले, मधुयष्टि चूर्ण ८ तोले, पत्थर पर पीसे मुनक्के को चटनी ६४ तोले, मोठ तथा वशलोचन प्रत्येक का ८ तोले, मिश्री २॥ सेर । जब अवलेह जैसे बन जाय तो अग्नि से नीचे उतार कर ठंडा करके उसमें मधु ६४ तोले मिलाकर सुरक्षित रख दे । मात्रा १ से २ तोले । दूध से । (चर)

धात्र्यरिष्ट—(चर) दो सहस्र आँवले के रस में २॥ सेर चीनी मिलाकर कलईदार कड़ाही में छोड़कर अग्नि पर चढ़ादे । जब एक तरह की चाशनी बनने लगे तब उसमें ८ तोले पिप्पली चूर्ण छोड़कर अच्छी तरह से हिला ले । फिर शीतल होने पर अष्टमाश शहद मिलाकर घृतलिप्प मिट्टी के घड़े में रखकर आसवविधि से सधान करे । १ मास के अनन्तर खोलकर छानकर बोतलों में भर ले । यह योग वल्य, अग्निवर्धक, पित्तशामक होने से परिणाम शूल, पाण्डु,

कामला तथा हृद्रोग में लाभप्रद रहता है। यह एक परमोत्तम योग है। मात्रा २ तोला भोजन के बाद समान जल मिलाकर।

लौहासव—(जा. सं.) घृत से स्निग्ध घट में २ द्रोण (२६ सेर) जल भर कर उसमें ५ सेर पुराना गुड, मधु ३ $\frac{1}{4}$ सेर छोड़कर भली प्रकार मिलावे और हाथों से मलकर एक कर दे। पश्चात् उसमें लौह भस्म, त्रिकटु, त्रिफला, अजवायन, वायविडङ्ग, मोथा, चित्रक प्रत्येक का ८ तोला प्रक्षेप। पश्चात् घड़े का मुख बंद कर १ मास तक संधान करे। पश्चात् छानकर बोतलों में भर दे। मात्रा २॥ तोले अनुपान समान जल से। दोनों वक्त भोजन के बाद। पाण्डु, कामला, विषमग्नि में लाभप्रद।

पुनर्नवादि तैल—पुनर्नवा पंचाङ्ग का चतुर्यागावशिष्ट क्वाथ, तिल तैल तथा तैल में चतुर्याग निम्नलिखित कल्क डालकर पाक। त्रिकटु, त्रिफला, शृङ्गो, धान्यक, कट्फल, गटी, दावी, प्रियङ्गु, पद्मकाष्ठ, हरेणु, कुष्ठ, पुनर्नवा, यमानी, कलंजी, छोटी डलायची, दालचीनी, लोब, तेजपान, नागकेसर, वच, पीपरामूल, चव्य, चित्रक मूल, र्नीफ, सुगंधवाला, मजीठ, रास्ना, धमामा प्रत्येक एक एक तोला। तैल पाक विधि में मंद आँच पर पाक करके रखले। पाण्डु, कामला, कुम्भ कामला तथा हलीमक में पिलाने तथा मालिश के लिये।

पाण्डु रोग में औषधि-व्यवस्थापत्र

उपयुक्त औषधि योगों में से किसी एक लौह या मण्डूर के योग की १ मात्रा प्रातः, तथा १ मात्रा सायंकाल में देनी चाहिये। जैसे मण्डूर भस्म ४ २०, गन्ध भस्म १ २० मिलाकर एक मुवह और एक ग्राम केवल मधु से अथवा घृत १ तो० मधु ६ मासे के साथ अथवा हरीतकी चूर्ण २ मासे और घृत तथा मधु के साथ मिलाकर दे। इसी भाँति नवायस प्रति मात्रा २ रस्ती मुवह-ग्राम उपयुक्त अनुपान में अथवा योगराज या पाण्डु पंचानन रस इसी अनुपान या दूध से मुवह-ग्राम दिया जा सकता है।

भोजन के बाद प्रतिदिन लौहासव या कुमार्यासव अथवा वाय्यरिष्ट दोनों वक्त बड़े चम्मच से दो चम्मच पानी मिलाकर पीने के लिये देना चाहिये।

आमलक्यवलेह रात्रि में सोते वक्त या प्रातः काल में १-२ तोले दूध के साथ प्रतिदिन दिया जा सकता है। मृज्ज पाण्डु अथवा कृमिजान पाण्डु में कृमिघ्न औषधियों का योग करके भी देना चाहिए। जैसे—कृमिमुद्गर रस ४ २०, मण्डूर भस्म ४ २०, गन्ध भस्म १ रस्ती मिलाकर। एक या दो मात्रा प्रातः सायम् घी और मधु से, मण्डूक भस्म के स्थान पर नवायन या पाण्डु पंचानन भी मिलाया जा सकता है (प्रति मात्रा दो से ४ रस्ती)। रात्रि में पलाश-बीजादि

चूर्ण २ मा० रात में सोते वक्त पुराने गुड के साथ । मोजनोत्तर आसवारिष्ठो की व्यवस्था की जा सकती है ।

मांसरस—पाण्डु रोग या रक्तक्षय में बकरे, भेड़ या खरगोश के रक्त का पिलाना या आमामय का खिलाना प्रशस्त माना गया है । यदि ये सुलभ हो तो रोगी के लिए इसकी व्यवस्था करनी चाहिए । सामान्य-पथ्यकर भोजनों के साथ यकृत मांस का सेवन अधिक लाभ करता है । रक्तोत्पत्ति की क्रिया को उत्तेजना मिलती है, शरीर में रक्त बढ़ता है और पाण्डुता दूर होती है ।

आजकल आमामय सत्त्व तथा यकृत सत्त्व के कई योग वाजारो में सुविधा से प्राप्त होते हैं । पोने के जर्बेत के रूप में तथा पेशीमार्ग से सूचीवेध के द्वारा प्रयोग होता है । इन आयुर्वेदीय योगों के साथ इन योगों का प्रयोग अधिक लाभ-प्रद होता है । इन दोनों के उपयोग में परस्पर में कोई विरोध भी नहीं होता ।

अत्यधिक रक्त की कमी में रक्त का अतः भरण (Blood Transfusion) योग्य मानव-रक्त का शिरा द्वारा शरीर में प्रविष्ट करना भी आज की एक सिद्ध प्रक्रिया है । यथासमय इसका उपयोग किया जा सकता है ।

पाण्डु रोग में पथ्य—पाण्डु रोग में मानसिक एवं शारीरिक परिश्रम छोड़कर पूर्ण विश्राम करना चाहिए । रोगी को विस्तर पर लेट कर रहना चाहिए । भोजन में दूध, छाछ, मोसम्मी, माल्टा, सेव, दाडिम, अनार, खरबूजा, मीठानीबू ईख या गन्ने का रस, पके आम का प्रयोग अधिक करना चाहिए । मीठा आम पाण्डु रोग में अमृत के तुल्य रहता है । अन्नो में पुराने चावल का भात, मूग की दाल, हल्के शाक देने चाहिए । रोगी के लिए ब्रह्मचर्य से रहना अच्छा रहता है । यह पथ्य कामला रोग में भी उत्तम रहता है ।

कामला प्रतिपेध—

सामान्य या कोष्ठाश्रया कामला में क्रियाक्रम—कामला वाले रोगी का घृत (महातिक्त, त्रिफला, पचगव्य, कल्याण, हरिद्रादि या द्राक्षादि घृत) से स्नेहन करके तिक्त रस वाले द्रव्यों से मृदु विरेचन कराना चाहिए । पश्चात् शामक औषधियों का प्रयोग करना चाहिए । इस प्रकार स्नेहन, विरेचन, पश्चात् शमन तीन उपक्रम कामला की चिकित्सा में व्यवहृत होते हैं । कामला के रोगी में नित्य मृदु विरेचक औषधि का प्रयोग उत्तम रहता है ।^१

भेषज—१ त्रिफला चूर्ण का मधु के साथ सेवन, २ गुडूची स्वरस में मधु

१ रेचन कामलार्त्तस्य स्निग्धस्यादी प्रयोजयेत् । तत् प्रशमननी कार्या क्रिया वैद्येन जानता ॥ (भे २) कामली तु विरेचनै । (च०)

मिलाकर सेवन कराना अथवा गुडूची के कपाय में मधु मिलाकर सेवन ३ दारु-हरिद्रा, हरिद्रा चूर्ण या कपाय का मधु के साथ सेवन ४ इन्द्रायण मूल स्वरस ६ मागे या इन्द्रायण की ७ पत्ती के रस का दूध मिलाकर सेवन ५. पतली मूली का स्वरस ४ तोला, शक्कर १ तोला मिलाकर सेवन ६. पुनर्नवा मूल ६ माशे, मरिच ३, मिश्री २ तोला मिलाकर शर्वत बनाकर सेवन। ७ द्रोणपुष्पी (गूमा) या पुनर्नवा पंचाग के शाक का सेवन। ८. त्रिभण्डी (निगोथ) मूल अथवा ९. इन्द्रायण मूल ३ मागे अथवा १० शुण्ठी चूर्ण ४ माशे का पुराने गुड के साथ सेवन। पूर्ण विश्राम रोगी को देना चाहिए।

कामला में पथ्य—कामला रोग में यकृत की क्रिया मंद रहती है। भूख रोगी को बिल्कुल नहीं लगती, अन्न से अरुचि हो जाती है। साथ ही रोगी का पेट साफ नहीं रहता और कोष्ठवृद्धता रहती है। अस्तु चिकित्सा-काल में लघु, सुपाच्य तथा अग्नि को संधुक्षित करने वाले आहार-विहार की आवश्यकता पड़ती है। एतदर्थ मूग की दाल की पतली खिचड़ी, नीबू का अचार और मूली की तरकारी सबसे उत्तम अन्न प्रारम्भ में रहता है। अग्नि-बल के अनुसार रोगी जितना खा सके खाने को देना चाहिए। पित्त के शमन तथा यकृत-कोषो की सुरक्षा के लिए मधुर द्रव्यों का प्रयोग पर्याप्त करना चाहिए। एतदर्थ मिश्री का उपयोग अच्छा रहता है। रोगी को प्रति दिन छटाँक, दो छटाँक तक मिश्री खाने को देना चाहिए अथवा दिन में कई बार गर्म पानी में मिश्री का शर्वत बना कर कागजी नीबू का रस डालकर पीने को देना चाहिए। मीठे फलों में मीठा नीबू, शरवती, मोसम्मी, अंगूर, सेव, नीबू आदि पर्याप्त रोगी को खाने के लिए देना चाहिए। दही का मट्ठा बना कर मीठा कर के पीने के लिए भोजन काल में रोगी को दिया जा सकता है। दूध का अधिक सेवन अनुकूल नहीं पड़ता, थोड़ी मात्रा में मलाई निकाल रोगी की रुचि के अनुकूल देना चाहिए। रोगी के अग्निबल के अनुसार गन्ने का रस पीने के लिए दिया जा सकता है।

एक सप्ताह या दो सप्ताह तक इस क्रम पर रखने के अनन्तर अग्निबल के बढ जाने पर रोगी को प्राकृत आहार चावल या रोटी, दाल, शाक पर ले आना चाहिए। कामला रोग में पुनर्नवा का उपयोग बड़ा उत्तम रहता है। पुनर्नवा पंचाङ्ग को पानी में खोला कर उसका जल बना कर रख देना चाहिए और रोगी को पिलाते रहना चाहिए। डाभ का जल या नारिकेल जल का उपयोग भी उत्तम रहता है।

भेषज योग—रोगी में ज्वर हो तो विषमज्वराधिकार में कथित सुदर्शन चूर्ण २ माशे की मात्रा में दिन में तीन बार जल से देना चाहिए। यष्ट्यादि चूर्ण

६ माशे की मात्रा में रात में सोते वक्त गर्म जल से देना चाहिए । कालमेघ कपाय भी उत्तम रहता है ।

जत्र ज्वर न रहे ती नवायस या निशादि लौह या पुनर्नवा मण्डूर (पाण्डु रोगाधिकार) दो से ४ रत्ती की मात्रा में दो बार दाखुल्दी के चूर्ण १ माशे से २ माशे और मधु ६ माशे से १ तोले मिला कर सुबह और शाम को देना चाहिए । भोजनोपरान्त घात्र्यरिष्ट का पिलाना उत्तम रहता है । बड़े चम्मच से दो चम्मच समान जल मिलाकर दोनो प्रधान भोजन के पश्चात् । लोहासव अथवा कुमार्यासव का उपयोग भी इसी भाँति किया जा सकता है ।

फलत्रिकादि कपाय—कामला रोग में अमृत के समान हितकारी एक या दो बार नित्य काढा बना कर मधु मिलाकर नवायस देने के अनन्तर सहपान के रूप में या स्वतंत्रतया भी दिया जा सकता है ।

रोगी रात्रि में शतपत्र्यादि चूर्ण ६ माशे या यष्ट्यादि चूर्ण ६ माशे (अग्निमान्धाधिकार में पठित) गर्म जल से दिया जा सकता है । त्रिफला चूर्ण का भी प्रयोग रात्रि में ६ माशे की मात्रा में किया जा सकता है । रस के योगों में आरोग्यवर्धिनी १ माशे की मात्रा में जल या दूध से दिया जा सकता है ।

आरोग्यवर्धिनी वटी—द्रव्य—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, लौह भस्म, अभ्रक भस्म, ताम्र भस्म प्रत्येक का एक भाग, हरीतकी, विभीतक, आमलकी प्रत्येक का २ भाग, शिलाजीत ३ भाग, शुद्ध गुग्गुलु, चित्रक मूल की छाल प्रत्येक ४ भाग तथा कुटकी २२ भाग ।

निर्माण विधि—पहले पारद और गंधक की कज्जली करके पश्चात् उसमें अन्य भस्मों और शेष अन्य द्रव्यों का कपडछन चूर्ण मिलावे । नीमकी पत्ती के रस में तीन दिनों तक मर्दन करके तीन-तीन रत्ती की गोलियाँ बनावे । छाया में सुखाकर रख ले । मात्रा १ से ३ गोली । अनुपान रोगानुसार जल, दूध, पुनर्नवा कपाय, दशमूलकपाय या मूत्रलकपाय से । (रसरत्नसमुच्चय कुष्ठाधिकार)

यह योग बहुत रोगों में अनुपान भेद से चलता है । विशेषतः यकृत विकार, जीर्ण विषय, उदररोग, कुष्ठ रोग, कामला, यकृतप्लीहा के रोगों में लाभ-प्रद पाया गया है ।

अजर्जन—द्रोणपुष्पी स्वरस अथवा पुनर्नवा स्वरस का अजर्न आँख के पीलापन को नष्ट करता है । निशाद्यजर्जन—हरिद्रा, गैरिक तथा आँवले को चिकने पत्थर पर पानी में घिसकर अजर्न करने से भी कामला रोग में नेत्र का पीलापन दूर होता है ।

नस्य—ककॉट (ककोडा या खेखसा) की जड़की पानी में भिगोकर अथवा कड़वी तरौई के सूखे फल को रात में पानी में भिगोकर दूसरे दिन उसको छान कर बनाये जल (शीत कपाय) का नासिका में छोड़ने से नासिका से तीव्र पीलासाव होता है और नेत्र का पीलापन दूर होता है ।^१

वस्तुतः कामला रोग यकृत की क्रिया ठीक न होने से अथवा पित्ताशय गोथ या पित्तके अवरोध अथवा पित्त के अधिक बनने से उत्पन्न होता है । अग्निमान्द्य, अरुचि, तीव्र विवध तथा आँखों का पीलापन प्रमुख लक्षण पाया जाता है । त्म्यक् उपचार होने पर सामान्यतया रोग एक सप्ताह में अच्छा हो जाता है । रोगी की अग्नि जागृत हो जाती है—भोजन करने लगता है । विविध लक्षण प्रशमित हो जाते हैं परन्तु आँखों का पीलापन मास या डेढ़ मास तक चलता रहता है । यह पीलापन धीरे-धीरे दूर होता है । इस पीलापन को दूर करने के लिये कई प्रकार के झाड़ फूंक, विविध नस्य तथा अजनो के उपयोग पाये जाते हैं । नस्य तथा अजन के प्रयोग आँखों के पीलेपन को शीघ्रता से दूर करने में महायक होता है । फलतः नस्य और अजनो के साथ-साथ पित्तकी अधिकता को कम करने के लिये, पित्ताशय शोथ एवं पित्तावरोध के दूर करने के लिए तथा यकृत क्रिया सुचारु रूप से संचालित करने के लिये मुख से आभ्यन्तर औषधि के प्रयोगों को चालू रखना चाहिये । क्योंकि प्रधान उपचार यही है—नस्य एवं अजन गौण उपचार है—यदि अजन या नस्य का प्रयोग न भी किया जाय तो भी मुख से औषधियोग का प्रयोग करते हुए एक से तीन या चार सप्ताह में कामला का रोगी पूर्णतया राग-मुक्त हो जाता है ।

शाखाश्रित कामला प्रतिषेध—कामला शुद्ध पैत्तिक रोग है अतएव उसमें पित्तविरुद्ध चिकित्सा का उपक्रम बतलाया गया है । क्लिनिकल दृष्टि से देखा जाय तो इसके दो प्रकार मिलते हैं १ जिसमें सम्पूर्ण मूत्र, नख, त्वचा-नेत्र रक्त के रजित होते हुए भी पुरीष (पाखाना) रोगी का श्वेत वर्ण (तिलके पिष्ट सदृश) निकलता है । १ दूसरा वह प्रकार जिसमें सभी त्वचा रक्त-नेत्र आदि के पीलापन के साथ पाखाने का रंग अत्यधिक रजित होकर काला आता है । इनमें प्रथम को शाखाश्रित और दूसरे को कोष्ठाश्रित (Haemolytic or Hepatic) कहते हैं । प्रथम स्वतंत्रतया तथा दूसरा पाण्डु रोग के अनन्तर रक्तनाश के उपद्रव स्वरूप होता है ।

१ अंजनं कामलार्त्तस्य द्रोणपुष्पीरस स्मृतः । निशागैरिकधात्रीणा चूर्णं वा सप्रकल्पयेत् ॥ नस्य ककॉटमूलं वा त्रेयं वा जालिनीफलम् ॥

इनमे शाखाश्रया निश्चित रूप से पित्त नलिका के अवरोध से उत्पन्न होती है जिसमे पित्त का पित्त-नलिका के द्वारा अन्त्र मे उत्सर्ग नहीं होता है (obstructive jaundice) फलतः पुरीष का रंग श्वेत होता है। इसको शाखाश्रित कामला कहते हैं। इसमे कुपित कफयुक्त वायु कोष्ठस्थ पित्तको शाखा मे प्रक्षिप्त कर देती है अतः कोष्ठ मे श्लेष्मा की वृद्धि होती है, पित्त का मार्ग कफ से रुद्ध हो जाता है और पुरीष तिलपिष्टवत् श्वेत होकर निकलता है और मूत्र, त्वचा हल्दी के रंग के हो जाते हैं अतः वायु एवं कफ के शमन, अग्नि के दीपन, कफ के पाचन तथा पित्त को कोष्ठ मे लाने का उपाय करना चाहिये तदनन्तर कोष्ठाश्रया कामला की चिकित्सा पूर्वोक्त करनी चाहिये।^१

शाराश्रित कामला को अल्पपित्ता कामला भी कहते हैं। इसमे पित्त कफ से आवृत रहता है अस्तु कफ के पाचन तथा वायु को अनुगुण कर के पुरीष मे पित्त का रंग आने पर्यन्त कटु-तीक्ष्ण-उष्ण-रूक्ष-लवण और अम्ल पदार्थों का सेवन कराना चाहिए।

पित्तको स्वस्थान (कोष्ठगत) पर आ जाने, पुरीष के पित्त से रजित हो जाने तथा उपद्रवों के गन्त हो जाने पर कामला की पूर्ववत् सामान्य चिकित्सा करनी चाहिये। अर्थात् कोष्ठाश्रित कामलावत् चिकित्सा करनी चाहिये। शाखाश्रया कामला के ये विशिष्ट उपक्रम हैं।^२

पित्त की स्वस्थान पर लाने के लिये मयूर, तित्तिर एवं मुर्गे के मासरस को कटु-अम्ल और रूक्ष बना कर रोगी को खाने के लिये देना चाहिये। सूखी मूली, कुलथी की यूप के साथ अन्न का सेवन कराना भी उत्तम रहता है।

मातुलुङ्गादि योग—(विजौरा या कागजी) नीबू का रस ६ माशे, मधु ६ माशे, पिप्पली चूर्ण ४ रत्ती, कालीमिर्च चूर्ण ४ रत्ती, शुण्ठी चूर्ण ४ रत्ती एक मे मिलाकर दिन मे तीन बार सेवन।

इन द्रव्यों के उपयोग से पित्त अपने कोष्ठगत आशय मे पुन आ जाता है।^३

१ तिलपिष्टनिभ यस्तु वर्चः सृजति कामली। श्लेष्मणा रुद्धमार्गं तत् पित्तं श्लेष्महरैर्जयेत्।

२ कटुतीक्ष्णोष्णलवणभृशाम्लैश्चाप्युपक्रमः। आपित्तरागाच्छकृतो वायोश्चाप्रशमाद् भवेत्॥ स्वस्थानमागते पित्ते पुरीषे पित्तरजिते। निवृत्तोपद्रवस्य स्यात् पूर्व कामलिको विधिः॥

३ वह्नितित्तिरदक्षाणां रूक्षाम्लं कटुकै रसैः। शुष्कामलककौलत्थैर्युषैश्चान्नानि भोजयेत्॥ मातुलगुरसः क्षौद्रं पिप्पलोमरिचान्वितम्। सनागरं पिबेत् पित्तं तथास्यैति स्वमाशयम्। (च चि १६)

उपर्युक्त सभी द्रव्य कफहर परन्तु पित्तवर्द्धक है—शाखाश्रय दोष-पित्त की वृद्धि कराने का उद्देश्य कोष्ठानयन अर्थात् पित्त का स्वस्थानानयन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आचार्य मुश्रुत ने लिखा है दोषों का स्वस्थानानयन वृद्धि में, अभिष्यंदन से, पाक होने से, स्रोतोमुख के विशोधन से तथा वायु के निग्रह में (शाखागत दोष शाखाओं को छोड़कर स्वस्थान अर्थात् कोष्ठ में आ जाते हैं) सम्भव रहता है।^१ पश्चात् कामला की सामान्य चिकित्सा करते हुए रोगी की रोगमुक्त करना चाहिये।

शाखाश्रित कामला का चरकोक्त वर्णन—रूक्ष, शीत, गुरु-स्वादु व्यायामाधिक्य एवं वेगों को रोकने से कफ से मिल कर वायु पित्त को अपने स्थान (कोष्ठ) से खींचकर बाहर की शाखाओं में मचालित कर देता है जिसमें रोगी की त्वचा-रक्त-नेत्र-मूत्र हारिद्र वर्ण (हल्दी के रंग) के हो जाते हैं और पाखाने का रंग सफेद (श्वेत) हो जाता है। रोगों के उदर में मुई चुभाने जैसी वेदना, विवध, आन्मान, अफारा, हृदय का भारीपन, दुर्बलता, अग्नि की मदता, पार्व्वगूल (दाहिनी ओर यकृत प्रदेश पर पीड़ा या स्पर्शसह्यता (Tenderness), अन्न में अरुचि, ज्वर आदि लक्षण क्रमशः रोगी में पैदा हो जाते हैं। अल्प पित्त के शाखा-समाश्रित होने पर ये लक्षण रोगी में उपस्थित रहते हैं।^२

कुम्भकामला-प्रतिषेध—कामला की एक जीर्णविस्था है जिसमें रोगी के पैरों पर गोथ और सविगूल का उपद्रव पैदा हो जाता है। फलतः यह कामला की अपेक्षा अधिक कष्टमाय हो जाता है।^३ इसमें रोगी को लवणवर्ज्य आहार-दूध और रोटी पर रखना चाहिये। इसमें कोष्ठाश्रया कामला की सम्पूर्ण चिकित्सा करनी चाहिये। इसमें अधिक से अधिक पुराने मण्डूर को भस्म बना कर बड़ी मात्रा—१ माणा की मात्रा दिन में तीन बार मधु के साथ सेवन करने के लिये देना चाहिये। साथ ही फलत्रिकादि कषाय को एक-दो बार दिन में पीने के लिये देना चाहिये।

१ वृद्ध्याभिष्यंदनात् पाकात् स्रोतोमुखविशोधनात्। शाखा मुक्त्वा मला कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात्।

२ रूक्षशीतगुरुस्वादुव्यायाममैर्गेगनिग्रहैः। कफसम्मूर्च्छितो वायुः स्थानात् पित्तं क्षिपेद्वली। (सु सू २८) हारिद्रनेमूत्रत्वक्श्वेतवर्चास्तदा नरः। भवेत्माटोपविष्टम्भो गुरुणा हृदयेन च। दीर्घत्यात्पाग्निपार्श्वार्त्तिहिवकाश्वामारुचिज्वरैः। क्रमेणात्पेनुसज्येत पित्ते शाखासमाश्रिते ॥ (च चि १७)

३ भेदस्तु तस्या खलु कुम्भसाह्वः गोथो महास्तत्र च पर्वभेदः (सु)

हलीमक-प्रतिपेध—कामला का ही एक बड़ा हुआ रूप हलीमक होता है। इसमें वात और पित्त दोषों की अधिकता पाई जाती है। रक्त में पित्त के अत्यधिक होने से रोगी में असाध्यता के लक्षण व्यक्त होने लगते हैं। रोगी का वर्ण हरित, श्याव या पीतवर्ण का हो जाता है। अग्नि मंद हो जाती है, मृदु स्वरूप का ज्वर बना रहता है, अरुचि, आलस्य, रोगी का बल और उत्साह क्षीण हो जाता है, स्त्रियों में अहर्ष, अगमर्द, श्वास, तृष्णा, भ्रम और मूर्च्छा प्रभृति उपद्रव होने लगते हैं। इसी रोग को आचार्य सुश्रुत ने लाघवक या लाघरक अथवा अलमनाम से वर्णन किया है। संभवतः अर्वाचीन विद्वानों के द्वारा वर्णित पित्तमयता (Cholaemia) की यह अवस्था हो। इस रोग को चरक ने “महाव्याधि-हलीमक” बतलाया है।

इसमें वात-पित्त-शामक पाण्डु तथा कामला रोग की चिकित्सा करनी चाहिये। एतदर्थ गुडूची स्वरम और क्षीर से सिद्ध माहिप (भैसका) घृत का सेवन कराना चाहिये। निगोय या आमलका का स्वरम पिलाकर उपर्युक्त घृत से स्निग्ध रोगी को मृदु विरेचन कराना चाहिये। पुनः विरेचन के अनन्तर वात-पित्त-शामक मधुर-प्राय योगों का सेवन कराना उत्तम रहता है। जैसे अभयालेह, द्राक्षालेह, मार्द्वीकारिष्ट (द्राक्षारिष्ट), जीवनीय गण से सिद्ध घृत आदि का सेवन कराना चाहिये। अग्नि की वृद्धि के लिये अन्य अरिष्टों का भी प्रयोग उत्तम रहता है। कासरोगाधिकार में कथित अभयवलेह जिसको अगस्त्य हरीतकी कहते हैं एक उत्तम योग है, पिप्पली तथा मधुगुण्डिका का उपयोग भी इस अवस्था में उत्तम रहता है। अमृत, इनका प्रयोग दोष और रोगी के बलानल के अनुसार दूध के अनुपात से करना चाहिये। रोगी में क्षीरवस्ति, यापना वस्ति (सिद्धिस्थानोक्त) अथवा अनुवासन वस्ति का प्रयोग लाभप्रद रहता है।^१

इस अवस्था में सहस्रपुटी लौह का अथवा अधिक से अधिक पुट दी हुई लौह भस्म का प्रयोग १ रत्ती की मात्रा में दिन में तीन बार मधु से करना चाहिये। दूध और शर्करा का अनुपात पर्याप्त मात्रा में करना चाहिये।



१ गुडूचीस्वरसक्षीरसाधित माहिप घृतम् । स पिबेत् त्रिवृत्ता स्निग्धो रसेनामलकस्य तु । विरिक्तो मधुरप्राय भजेत् पित्तानिलापहम् । द्राक्षालेहं च पूर्वोक्तं सर्पेऽपि मधुराणि च । यापनान् क्षीरवस्तीश्च शीलयेत्सानुवासनान् । मार्द्वीकारिष्ट-योगाश्च पिबेद्युक्त्याग्निवृद्धये । कासिक चाभयालेहं पिप्पली मधुक वलाम् । पयसा च प्रयु जीत यथादोष यथावलम् ।

ग्यारहवा अध्याय रक्तपित्त-प्रतिपेध

प्रावेशिक—रक्तपित्त एक महारोग है चरकाचार्य ने उसको महागद की सजा दी है। वस्तुतः बहुत उष्ण-तीक्ष्ण-क्षार-अम्ल-कटु-लवण, अधिक परिश्रम, धूप या अग्नि के सेवन प्रभृति पित्त-प्रकोपक कारणों से पित्त जब बढ़कर रक्त में मिलकर उसे भी दूषित कर देता है तब वह पित्तदूषित रक्त शरीर के विविध द्वारों से ऊपर या नीचे या दोनों ओर से गिरने लगता है। इस रोग को रक्तपित्त (Bleeding or Haemorrhage) कहते हैं। रक्तपित्त का तात्पर्य यह है कि—इसमें रक्त का सयोग, रक्त की दुष्टि, रक्त के गन्ध एवं वर्ण की समानता पित्त के साथ पाई जाती है अस्तु इस व्याधिको रक्तपित्त कहते हैं। यह वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, दो दो दोषों के द्वारा द्वंद्वज तथा तीनों दोषों से सान्निपातिक प्रकार का होता है।

चिकित्सा की दृष्टि से या अविक व्यावहारिक पक्ष से विचार किया जाय तो रक्तपित्त को तीन प्रकारों में विभजित करना पर्याप्त है। १. ऊर्ध्वग (ऊपर की ओर से—सप्त छिद्रों से दोनों आँख, दोनों नाक, दोनों कान तथा मुख से निकले वाला रक्त-स्राव। २. अधोग नीचे के दो मार्ग-गुदा एवं लिङ्ग से पुरुषों में गुदा और योनि से स्त्रियों में पाया जाने वाला रक्तस्राव। ३. उभयग या दोनों मार्गों या सम्पूर्ण त्वचा से निकलने वाला रक्त। उन में ऊर्ध्वग रक्तपित्त में कफ का अनुबन्ध, अधोग में वात दोष का अनुबन्ध तथा उभयग या दोनों मार्ग में प्रवृत्त होने वाले रक्तपित्त में कफ तथा वात दोनों दोषों का अनुबन्ध पाया जाता है। साव्यासाध्यता की दृष्टि से विचार करें तो ऊर्ध्वग रक्तपित्त साध्य, अधोग याप्य तथा दोनों मार्ग अर्थात् ऊपर-नीचे दोनों ओर से प्रवृत्त रक्तपित्त असाध्य होता है।

इसी प्रकार एकदोपानुग रक्तपित्त साध्य, द्विदोषज कृच्छ्रसाध्य तथा त्रिदोषज अमाध्य होता है। जीर्णकालीन रोग से क्षीण हुए व्यक्ति का अथवा वृद्ध का अथवा लम्बे उपवासके अनन्तर होने वाला रक्तपित्त भी असाध्य होता है।

जब रक्तपित्त एक मार्ग तक ही सीमित हो, रोगी बलवान् हो, रोग नया हो रक्तस्राव का वेग बहुत तीव्र न हो, रोगी में उपद्रव न हो और ऋतु या काल भी अनुकूल हो तो ऐसा रक्तपित्त रोग मुखसाध्य होता है अर्थात् सुविधा पूर्वक ठीक किया जा सकता है।

सामान्य क्रियाक्रम

नादौ स्तम्भनमर्हति—यदि रोगी बलवान् है, खाता-पीता है तो उसके गिरते हुए रक्तपित्त को प्रारंभ में रोकना न चाहिये। क्योंकि प्रारंभ में आम दोष (Toxins) या दूषित पित्त गिरता है उसका गिर जाना ही ठीक रहता है। अस्तु, प्रारंभ में रोगी का बल एवं रोग में दोष का बल देखते हुए रक्तस्राव की उपेक्षा करनी चाहिये।

प्रारंभ में ही रक्तपित्त का स्तम्भन कर देने से अंतर्विषमयता रोगी में बढ़ती है और उसके परिणामस्वरूप गलग्रह, पूतिनस्य, मूर्च्छा, अरुचि, ज्वर, गुल्म, प्लीहा, आनाह, किलास, मूत्रकुच्छ, कुष्ठ, अर्श, विसर्प, वर्णनाश, भगन्दर, बुद्धि तथा इन्द्रियो का घात-प्रभृति रोग उपद्रव रूप में पैदा हो जाते हैं। अतः बल और दोष का विचार करते हुए बलवान् रोगी के रक्तपित्त को प्रारंभ में गिरने देना चाहिये। जब आम दोषमय पित्त निकल जावे तब शोधन अथवा सशमन की चिकित्सा करते हुए चिकित्सा करे। ऐसा करने से शीघ्र रोग निवृत्त हो जाता है।^१

लंघन अथवा संतर्पण—मार्ग, दोषका अनुबध, हेतु आदि का विचार करते हुए रक्तपित्त में यथावश्यक लघन (अपतर्पण) या सतर्पण कराना चाहिये। रक्तपित्त ऊर्ध्वग है या अधोग? अर्थात् कफानुबधी है या वातानुबधी? अर्थात् उष्ण और स्निग्ध पदार्थ के सेवन से उत्पन्न है अथवा उष्ण रुक्ष पदार्थों के सेवन से? इन बातों का विचार करके लघन या सतर्पण क्रमों का रोगी में अनुष्ठान करना चाहिये।

यदि रक्त-पित्त ऊर्ध्वग है तो उसमें कफ का अनुबध पाया जाता है, स्निग्ध तथा उष्ण पदार्थों के सेवन से पैदा हुआ है, इसमें आम की अधिकता रहती है अस्तु ऊर्ध्वग रक्तपित्त में प्रारंभ में अपतर्पण या लघन कराना चाहिये। इसके विपरीत रक्तपित्त अधोमार्ग से प्रवृत्त है तो उसमें वात अनुबध है और वह उष्ण एवं रुक्ष द्रव्यों के सेवन से पैदा हुआ है, इसमें आम की कमी रहती है। अस्तु, सतर्पण या बृहण चिकित्सा क्रम का अनुष्ठान युक्तिसंगत रहता है। इस कथन का संक्षेप में निष्कर्ष यह है कि ऊर्ध्वग रक्तपित्त में आमकी प्रबलता रहती है। अस्तु, लंघन कराना चाहिये तथा अधोग रक्तपित्त में आम की कमी

१ अक्षीणबलमासस्य रक्तपित्त यदश्नत । तद्दोषदुष्टमुत्खिलष्ट नादौ स्तम्भनमर्हति ॥ हृत्पाण्डुग्रहणीरोगप्लीहगुल्मोदरादिकृत् । तस्मादुपेक्ष्य बलिनो बलदोषविचारिणा ॥ रक्तपित्त प्रथमतः प्रवृद्ध सिद्धिमिच्छता ॥ (च चि. ४)

रहती है। वायु की प्रवलता रहती है। अस्तु, पेयादि के द्वारा उसमें वृंहण या नतर्पण कराना चाहिये।^१

पेयजल—रक्तपित्त के रोगी में तृष्णा के शमन के लिए ह्लोवेर-चंदन-उगीर-मुस्तक और पित्तपापडे में शृत जल अथवा केवल शृत-शीत जल पीने के लिए देना (खीलाकर ठंडा किया जल) चाहिये।^२ विदारिगंधादिक में शृत-शीत जल अथवा पर्याप्त मात्रा में फलों के रस देने चाहिये।

संशोधन—वमन अथवा विरेचन—ऊर्ध्वग रक्तपित्त में प्रारम्भ में एक दो वक्त उपवास कराके तर्पणकरा के विरेचन औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। अधोग रक्तपित्त में बिना उपवास कराये प्रारम्भ से ही पेयादि देकर वमन कराना चाहिये। काल, मातृमय, दोषानुबन्ध और रोगी को प्रकृति आदि का विचार करते हुए यथायोग्य तर्पण और पेयादि का योग देना चाहिये।^३ रक्तपित्त की चिकित्सा विपरीत मार्ग से दोषों के हरण का विधान है।

अर्थात् ऊर्ध्वग रक्तपित्त में विरेचन तथा अधोग रक्तपित्त में वमन के द्वारा में शोधन करना चाहिए^४।

ऊर्ध्वग रक्तपित्तमें तर्पण के लिए निम्नलिखित द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। जैसे १ पिण्ड खजूर, मुनक्का, महुवे का फूल या फालसा के फल का पट्टझ परिभाषा के अनुसार जल पकाकर ठण्डा करके गवकर मिलाकर देना चाहिए। २ घान के खील के सत्तू में घी और मधु मिलाकर पानी में घोल कर पिलाना। ३ जल के स्थान पर पूर्वोक्त फलोदक में सत्तू को घोल कर पिलाना। ४ यदि अग्निमंद हो, भोजन में अरुचि हो, अम्ल अनुकूल पड़ता हो तो खट्टा अनारदाना या आमलकी का चूर्ण मिलाकर तर्पण जलो या रसों को दिया जा सकता है। ५ विविध प्रकार के फलरस, मिश्री का पानी (Glucose Water) तथा

१ मार्गी दोषानुबन्धच निदान प्रसमीक्ष्य च। लंघन रक्तपित्तादौ तर्पणं वा प्रयोजयेत्। प्रायेण हि समुत्क्रिष्टमामदोषाच्छरीरिणाम्। वृद्धिं प्रयाति पित्तानृक् तस्माल्लघनमाचरेत्।

२ ह्लोवेरचन्दनोगीरमुस्तपपटकै शृतम्। केवल शृतशीतं वा तोयं दद्यात् पिपासवे।

३ ऊर्ध्वगे तर्पणं पूर्वं कर्तव्यञ्च विरेचनम्। प्रागवोगमने पेया वमनञ्च यथावलम्। (चर चि ४)

४. प्रतिमार्गञ्च हरण रक्तपित्ते विधीयते। (नि० २ च०)

मोसम्मी, अगूर, सेव प्रभृति फलो के रस (Fruit juice) इस कार्य में व्यवहृत हो सकते हैं । ६ ऊर्ध्वग रक्तपित्त में यवागू हितकर नहीं होती है ।

तर्पण देने के अनन्तर रेचन के लिए अमलताश की गुद्दी, आँवला, निशोथ अथवा बड़े हरें का काढा शक्कर और मधु मिलाकर प्रातः पिलाना ऊर्ध्वग रक्तपित्त में रेचन करता है । इस प्रकार ऊर्ध्वग रक्तपित्त में लघन, तर्पण और रेचन के द्वारा प्रारम्भिक चिकित्सा करनी चाहिए ।

अधोग रक्तपित्त में प्रारम्भ से ही पेया का प्रयोग करना चाहिए तदनन्तर वामक ववाथ पिलाकर वमन कराना चाहिए । पेया का निर्माण निम्न द्रव्यों के जल में पका कर पुराने चावल या साठो के चावल का बनाना चाहिए । रोगी के अग्नि-बल के अनुसार पतला (मण्ड), अर्ध द्रव (पेया) या अल्पद्रव (विलेपी) बना कर देना चाहिए । दालो में मूग या मसूर का योग करके कुशरा भी बनाई जा सकती है । कमल तथा नीलोत्पल की केशर, पृश्निपर्णी, फूल प्रियंगु, चदन, उगीर, लोघ्र, चिरायता, धातकी पुष्प, यवासा, बिल्व, बला और गुण्ठी प्रभृति औषधियों से पङ्कगपानीय विधि से जल बनाकर उसमें चावल, दाल आदि का पाक करके पेया बनानी चाहिए । इस पेया का प्रयोग ठंडा करके उसमें घृत और मधु मिलाकर सेवन के लिए देना चाहिए । मामसात्म्य व्यक्तियों को कपोत के मासरस के साथ पेया मिद्ध करके दी जा सकती है ।

पेया के अनन्तर रोगी को मोथा, इन्द्रजौ, मुलैठी और मेनफल सम भाग में ले कर कपाय मिलाकर वमन कराना चाहिए अथवा चीनी का गाढा शर्वत प्रचुर मात्रा में पिलाकर अथवा इक्षुरस पेट भर पिलाकर वमन कराना भी प्रशस्त है । इस प्रकार अधोग रक्तपित्त में प्रारम्भ से ही अन्न (पेया) देकर वमन कराना चाहिए ।

यह सशोधन की चिकित्सा बलवान रोगियों के लिए है । जिनमें रक्त, मास और बल क्षीण न हो, दोषों की प्रबलता हो और रोग सतर्पणजन्य हो और जिनमें कोई उपद्रव न हो । ऐसे रोगी में दूषित रक्त तथा पित्त का निर्हरण करना आवश्यक हो जाता है और ऊर्ध्व भाग के दोषों का हरण विरेचन से तथा अधो भाग का दोष हरण-वमन के द्वारा कराना चाहिए^१ ।

१ वक्ष्यते बहुदोषाणां कार्यं बलवता च यत् ॥ अक्षीणबलमासस्य यस्य सतर्पणो-
त्थितम् ॥ बहुदोष बलवतो रक्तपित्त शरीरिण । काले सशोधनार्हस्य तद्दहरेन्निरु-
पद्रवम् ॥ विरेचनेनैर्ध्वभागमधोग वमनेन च ।

संशमन—जिस रोगी का बल-माम बहुत क्षीण हो गया हो, जो चिन्ता-शोक-कार्याधिक्य, अतिपरिश्रम, बोझ अधिक देने या रास्ता अधिक चलने से दुर्बल हो अथवा जो अग्नि (भट्ठी पर काम करने वाला) तथा सूर्य-मताप से सतप्त हो, अथवा दूसरे किसी रोग से पीडित रहा हो और उपद्रव रूप में रक्तपित्त का रोग पैदा हुआ हो अथवा गर्भिणी, वृद्ध, बाल, रुद्ध, अल्प और सीमित भोजन करने वाला व्यक्ति हो (under nourished) अथवा अन्य किसी कारण से रोगी को अवम्य (न वमन देने लायक) यद्वा अविरेच्य (न विरेचन देने योग्य) समझा गया हो अथवा शोष का अनुबंध रोगी में पाया जावे तो उसमें सशोधन न देकर मगमन की क्रिया प्रारंभ में करनी चाहिए । मगमन का अर्थ यहाँ पर रक्तस्तम्भक योगों के प्रयोग से है^१ ।

सामान्यतया पहले दोषों के सशोधन के अनन्तर ही मगमन का विधान है । परन्तु आत्ययिक अवस्था में (Incases of emergency) जिनका ऊपर में उल्लेख हो चुका है मगमन के कर्म से चिकित्सा का प्रारंभ करना चाहिए ।

निदान परिवर्जन—रक्तपित्त की उत्पत्ति में कारणभूत पदार्थों का पूर्णतया परित्याग करना चाहिए । साथ ही निम्नलिखित आहार-विहार या अन्न-पान का अनुष्ठान करना चाहिए । अपथ्यों में कुलथी, गुड, वैगन, तिल, उडद, सरसो, राई, दही, क्षार, लवण, लहसुन, मद्य, सेम, पान, अम्ल एवं विदाही पदार्थ, गर्म ममाले, विरुद्ध भोजन, मछली, क्रोध करना, धूप या आग का सेवन, मैथुन, स्वेदन, धूमपान, मूत्र-पुरीषादि वेगों को रोकना, भार वहन, अध्वगमन, व्यायाम, परिश्रम, पैदल या तेज सवारी में चलना प्रभृति पदार्थों का परिहार करना चाहिए ।

आहाराचार—रक्तपित्त की चिकित्सा में आहार (अन्न-पान), आचार (विहार) का बहुत बड़ा महत्त्व है । प्रधान भोजन में पुराना गालि या साठी का चावल, कोदो, सावा, कगुनी, तिन्नी का चावल, सावूदाना प्रभृति अन्नोक्ता ओदन देना चाहिये । ये परम ग्राही एवं लघु अन्न हैं । दाल के लिए मूंग, मसूर, चना, मोठ या अरहर प्रयोग करना चाहिये । इनमें मसूर की दाल लघु और ग्राही होने से तथा मूंग की दाल लघु और शीतवीर्य होने की वजह से अधिक उत्तम पड़ती है । शाक में लौकी, परवल, मिण्डी, गूलर, वथुवा, केला, कचनार

१ बलमासपरिक्षीण शोकभाराध्वकशितम् । ज्वलनादित्यसतप्तमन्यैर्वा क्षीण-मामयै ॥ गर्भिणी स्थविर बालरुद्धाल्पप्रमितागनम् । अवम्यमविरेच्यं वा यं पथ्ये-द्रक्तपित्तिनाम् ॥ शोषेण सानुबन्धं वा तस्य मगमनी क्रिया । अस्यते रक्तपित्तस्य पर साऽथ प्रवदयते । (च चि. ४)

के फूल, प्लव (पाकड़ के कोपल), सेमल के फूल, चीलाई, नीम की कोमल पत्ती, पत्र कुष्माण्ड, पतली मूश्री, पलाण्डु, वेत के कोमल पत्र और गाम्भारी के फल-फूल या पत्र धाक उत्तम रहते हैं । इन शाको को घी में भून कर नमक मिला कर अनारदाने या अनार में कुछ मट्टा करके (यदि खट्टा रोगी को प्रिय हो तो) देना चाहिये । मानसात्म्य व्यक्तियों में जाङ्गल पशु-पक्षियों के मासरस जैसे पारावत, कपोत (तबूवर), हिरन, सरगोश, लवा, वत्तख, बटेर, तीतर आदि का पुनभृष्ट मेन्यवयुक्त मासरस देना चाहिये ।

मानसात्म्य व्यक्तियों में रक्तपित्त की अवस्था में विबंध हो तो बथुवे के रस में सरगोश के मांस को पका कर दे । वात की उत्पणता हो तो उदुम्बर (गूजर) के रस में पकाये तित्तिर का मासरस देना चाहिये । अथवा पाकड़ के कपाय में पकाये मयूर का मांस अथवा वरगद के फल या शुंग के रस में पकाये गुर्गे का मांस अथवा नोलोकर या कमल के रस में पकाये बटेर का मांस देना चाहिये ।

दूध में गाय या बकरी का दूध पथ्य होता है । माहिप घृत या गोघृत, मक्खन उत्तम रहता है । फलों में आंवला, खजूर, वेदाना, अनार, मुसम्मी, मोठा संतरा, मेव, केला, फालसा, सिंघाडा, कसेर, साँफ, कमलनाल (विस), कमलगट्टा, मोठा अगूर, मुनक्का, किशमिश, ताड़ का फल, नारिकेल जल (डाव का पानी), ईस या गन्ने का रस, मिश्री, चीनी का उपयोग उत्तम रहता है ।

आचार या विहार—रोगी को पूर्ण विश्राम देना चाहिये । रोग-काल में भूमिगृह (तहखाने), धारागृह (जिस घर के छत पर जल की धारा गिर रही हो), हिमालय (ठंडे स्थान पर) अथवा दरोगृह (पर्वत की ऐसी कदरा जहा निर्जर या प्रपात हो), शीतल उपवन, शीत स्थान या जलाशय जैसे किसी बड़ी नाव-तली में जो भाग जल में डूबा रहता हो रोगी को रखने की व्यवस्था करनी चाहिये ।

अवगाहन या ठंडे जल का स्नान, शीतल वायु के सेवन, चन्दन-रक्त चन्दन-पुण्डरीक-कमल-नोलोत्पल प्रभृति शीतल द्रव्यों को पीस कर लेप, पुष्करिणी की कीचड़ का लेप, मनोनुकूल तथा हर्षप्रद कथा-संगीत प्रवचन, सोने और बैठने के लिए मनोनुकूल गद्दा उस के ऊपर कमल पत्र पुष्प का विछौना या केले के पत्ते का विछौना, पद्म और उत्पल की ठंडी हवा, मुक्ता-वैदूर्य प्रभृति मणि-भाजनो को जल से टडा करके स्पर्श करना या माला रूप में धारण या अन्य सुगंधित पुष्पो की माला, चादनी का सेवन, नौका-विहार, प्रियङ्गु, चन्दन आदि से दिग्ध शरीर-वराङ्गनावो का स्पर्श प्रभृति बाह्योपचार रक्तपित्त में लाभप्रद

रहते हैं ।^१ उन उपचारों से रक्त का स्तम्भन तथा रक्तनाशजन्य दाह को शान्ति होती है ।

रक्तपित्त में संशमनोपचार या भेषज—रक्तपित्त में वासा (अडूसा) एक प्रमुख औषधि के रूप में व्यवहृत होता है । लिखा है “अडूसा की विद्यमानता में और जीवन की आशा रहने पर रक्तपित्त, क्षय तथा कास (खाँसी) वाले क्यो कष्ट उठाते हैं ।” अर्थात् इन रोगों में वासा का प्रयोग अव्यर्थ रहता है । ऐसे रोगी वासा के सेवन से अपने रोग को हटा सकते हैं । कई कल्पनायें वासा की हो सकती हैं —

वासा स्वरस—वासा के पंचाङ्ग को पानी से पीस कर उसका स्वरस मधु के साथ सेवन । या तालीगपत्र का २ माशा चूर्ण मिलाकर सेवन ।

वासापुटपाक स्वरस—पुटपाक विधि से वासा का स्वरस मधु से मिश्रित करके सेवन ।

वासा-कपाय—अडूसे के पंचाङ्ग के विधिपूर्वक सिद्ध किये कपाय में नील कमल, सोरठ मिट्टी (अभाव में फिटकिरी), फूल प्रियङ्गु, लोध्र, क्षौद्रोज्जन, कमल की केसर प्रत्येक का ४ रत्ती की मात्रा में प्रक्षेप डाल कर सेवन ।

१. भद्रश्रियं लोहितचन्दनञ्च प्रपीण्डरीकं कमलोत्पलं च । उशीरवानीज्जलं मृणालं महस्रवीर्या मधुक पयस्या ॥ शालीक्षुमूलानि यवासगुन्द्रामूलं नलाना कुशकागयोश्च । कुचन्दनं शैवलमप्यनन्ता कालानुसार्यातृणमूलमृद्धि ॥ मूलानि पुष्पाणि च वारिजाना प्रलेपनं पुष्करिणीमृदञ्च । उदुम्बराज्ज्वत्यमधूकलोद्गाः कपायवृक्षाः शिगिराश्च सर्वे । प्रदेहकल्पे परिपेचने च तथावगाहे घृततैलमिद्धी । रक्तस्य पित्तस्य च शान्तिमिच्छन् भद्रश्रियादीनि भिषक् प्रयुञ्ज्यात् । वारागृहं भूमिगृहं च शीतं वनं च रम्यं जलवातशीतम् । वैदूर्यमुक्तामणिभाजनानां स्पर्शञ्च दाहे शिगिराम्बुगीताः ॥ पत्राणि पुष्पाणि च वारिजाना क्षौमञ्च शीतं कदली-दलानि । प्रच्छादनार्थं शयनासनानां पद्मोत्पलानाञ्च दलाः प्रशस्ताः ॥ प्रियङ्गुका-चन्दनरूपितानां स्पर्शा प्रियाणाञ्च वराङ्गनानाम् । दाहे प्रशस्ताः सजला सुशीताः पद्मोत्पलानाञ्च कलापवाताः ॥ सरिद्धदाना हिमवद्दरीणा चन्द्रोदयाना कमला-कराणाम् । मनोनुकूला शिगिराश्च सर्वा कथाः सरक्तं शमयन्ति पित्तम् ॥

(चर० चि० ४)

२. वासाया विद्यमानायामाशायां जीवनस्य च ।

रक्तपित्तो क्षयी कासी किमर्थमवसीदति ॥

(च० द०)

आटरूपक काथ—अडूसा के क्वाथ मे फूल-प्रियङ्गु, सोरठं मिट्टी, सफेद सुरमा या रसवत का प्रक्षेप प्रत्येक एक माशा चूर्ण छोडकर मधु मिलाकर सेवन ।

वासा घृत—१ वासा पंचाङ्ग से सिद्ध घृत का सेवन । १

२ गूलर के अधपके फलो का रस २१ तोले, शहद १ तोला मिलाकर सेवन ।
 ३ अभया (हर्रे) का चूर्ण २ माशे ६ माशा शहद के साथ । ४. वासा के स्वरस से भावित पिप्पली या अभया चूर्ण, वासा-स्वरस की सात भावना देकर बनाया चूर्ण मात्रा पिप्पली चूर्ण २ माशा और हरीतकी चूर्ण ४ माशे मधु ६ माशे के साथ । ५ पकी गूलर, गाम्भारी फल, हरीतकी या पिण्ड खजूर का पृथक् मधु से सेवन । ६ खदिर, प्रियङ्गु, काचनार और सेमल इनमे से किसी एक फूलो का चूर्ण ३ माशे मधु ६ माशे मिला कर सेवन । ७ शुद्ध लाक्षा का वस्त्र से छाना हुआ महीन चूर्ण ४ माशे की मात्रा मे लेकर मधु ६ माशे और घृत १ तोले के साथ सेवन रक्त वमन को सद्य बंद करता है । ८ निशोथ, हरड-बहेरा-आँवला-श्यामा लता और छोटी पीपल प्रत्येक १-१ तोला शर्करा कुल मात्रा की दुगुनी । ९ से १ तोले का मोदक के रूप मे बनाकर सेवन ऊर्ध्वग रक्तपित्त मे लाभप्रद होता है । ९ मदयन्तिका (मेहदी) के मूल का काढा बना कर मधु तथा शर्करा के साथ सेवन । १० अतसी का फूल ११ लज्जावती का पचाङ्ग १२. मजीठ १३ बटका प्ररोह इन का पृथक् पृथक् कषाय बनाकर मुद्गयूप के साथ सेवन । १४ शुद्ध स्फटिका (फिटकिरी) एक बड़ी सुन्दर रक्तस्तभक औषधि है । इसका स्थानिक प्रयोग बाह्य रक्तस्राव को बन्द करता है । दन्तोत्पादन के अनन्तर या दाँत से होनेवाले रक्त-स्राव मे फिटकिरी के चूर्ण को गर्त मे रख कर बंद कर देना चाहिए । तत्काल रक्त बन्द हो जाता है । इसी प्रकार बाह्य या दृष्ट रक्तस्राव मे फिटकिरी का स्थानिक प्रयोग सद्य रक्तस्तभक होता है । आन्तरिक रक्तस्राव मे विशेषतः अधोग रक्तस्राव मे अर्थात् गुदा, लिङ्ग या योनि से होने वाले रक्तस्राव मे शुद्ध स्फटिका १ माशा की मात्रा मे गूलर के छाल के काढे के अनुपान से दिन मे दो-तीन बार प्रयोग करने पर सद्य लाभप्रद पाई जाती है । १५ शुद्ध शख भस्म ४२०, सुवर्ण गैरिक १ माशा या दुग्धपापाण चूर्ण १ माशा की मात्रा मे दिन मे चार बार मधु के या घी-चीनी के साथ सेवन । १६ मूपाकर्णी, १७ अयापान १८

१ वासा सशाखा सहपत्रमूला कृत्वा कषाय कुसुमानि चास्या ।

प्रदाय कल्क विपचेद् घृतञ्च क्षौद्रेण पानाद्विनिहन्ति रक्तम् ॥

वन तण्डुलीयक (वन चीलाई), १९ तण्डुलोदक २० चंदन २१. पठानी लोध्र का प्रयोग भी लाभप्रद होता है ।^१

नासागत रक्तपित्त में स्थानिक उपचार—रोगी को पीठ के बल लेटा देना चाहिए, उसके सिर को गीतल जल से धो देना चाहिए । सिर पर वरफ की थैली रखने या वरफ के रगड़ने से भी लाभ होता है । सिर पर गोघृत और कपूर मिलाकर अभ्यंग, शतघीत या सहस्रघीत घृत का अभ्यंग-हिमाशु तैल का लगाना भी लाभ करता है । कई प्रकार की ग्राही औषधियों के स्वरसों का नाक में वृद्ध वृद्ध करके छोड़ना भी उत्तम रहता है । जैसे १ चीनी मिलाकर दूध या जल को पीने के लिए देना चाहिए साथ ही उसकी कुछ वृद्धों को नाक में भी छोड़ना चाहिए । २ दाडिम के फूल का स्वरस-नस्य अथवा ३ आम की गुठली को पानी में पीस-छान कर उसका नस्य ४. ताजा दूध हरी या श्वेत के स्वरस का नस्य अथवा ५ प्याज के स्वरस का नस्य ६ वज्रूल की पत्ती का स्वरस नाक में देना उत्तम रहता है । इसी प्रकार ७ लाक्षास्वरस का नस्य अथवा ८ हरीतकी स्वरस का नस्य भी हितकर होता है । ९ जब रक्तस्राव बहुत तीव्र हो तो पंच क्षीरी कपाय में कपड़े की बर्त में भिगो कर नाक को भर देना आवश्यक होता है । १० फिटिकरी, माजूफल और कपूर का चूर्ण महीन कर नाक में घुस्काने (अव-धूलन) से भी लाभ होता है । ११. आँवले को काजी मट्टे या जल में पीस कर कल्क बना कर गोघृत में छींक कर ठंडा करके सिर और मस्तक पर मोटा लेप करने से सद्यः रक्तस्राव बंद होता है । यह एक उत्तम और अनुभूत उपक्रम है । लिखा भी है कि यह उपाय रक्त के वेग को उसी प्रकार रोकता है जिस प्रकार सेतु तोय के वेग को ।

यदि नासागत रक्तस्राव बड़ा हठी स्वरूप का हो तो उसमें दहन कर्म की सलाह रोगी को देना चाहिए । रक्तस्राव जब किसी तरह से बंद न हो तो 'असिद्धिमत्सु चैतेषु दाह परममिष्यते' सुश्रुत ने दाह कर्म का ही उपदेश दिया है, इसके लिए आज के युग में Electric Cauterization प्रचलित इसकी व्यवस्था करनी चाहिए ।

आभ्यंतर उपचार—इन स्थानिक उपचारों के अतिरिक्त रक्तपित्ताधिकार में वर्णित बहुविध भेषज योगों का आभ्यंतर प्रयोग भी रोगी में करने चाहिए ।

१ उशीरकालीयकलोध्रपद्मक-प्रियङ्गुकाकटफलशङ्खगैरिका ।

पृथक् पृथक् चन्दनतुल्यभागिका सगर्करा तण्डुलवावनप्लुता । (च चि ४)

एक आम तीर से चलने वाला नुस्खा-प्रवालपिष्ट २ रत्ती, गुडूची सत्त्व १ माशा मिलाकर एक मात्रा । ऐसी दिन में दो या तीन मात्रा घी और चीनी या मक्खन और मिश्री के साथ देना चाहिए । साथ ही प्रतिदिन एक मृदु रेचन की एक मात्रा यष्ट्यादि चूर्ण ६ माशे या शतपत्रादि चूर्ण ६ माशे नित्य रात में सोते वक्त देते रहना चाहिए ।

रोगी को पथ्य के रूप में पर्याप्त मात्रा में चीनी का शर्वत (Glucose Water), अंगूर का रस, ईख का रस, दूध, घी, मक्खन आदि सेवन करने के लिए देना चाहिए ।

इन योगों का प्रयोग सभी प्रकार के रक्तपित्त में लाभप्रद रहता है । जैसे—
उशीरादि चूर्ण—खस, शीतलचीनी, तगर, सोठ, लाल चन्दन, श्वेत चन्दन, लॉंग, पिपरा मूल, पिप्पली, छोटी इलायची, केसर, नागरमोथा, मुलेठी, कपूर, वशलोचन, तेजपात प्रत्येक एक तोला, काला अगर इन सब के बराबर अर्थात् १६ तोले । कूट पीस कर कपडछन चूर्ण फिर उसमें ८ गुनी शक्कर (१२८ तोले) मिलाकर योग को बनावे । मात्रा ३ से ६ माशे । अनुपान शीतल जल ।

एलादि गुटिका—इलायची, तेजपात, दालचीनी प्रत्येक $\frac{1}{2}$ तोला, पिप्पली २ तोला, चीनी, मुलेठी, खजूर या छुहारा और मुनक्का प्रत्येक ४ तोले । सबको कपडछन चूर्ण करके खरल में मधु से घोट कर २ माशे की गुटिका बनाले । दिन में कई बार चूसने के लिए दे । इससे रक्तपित्त में विशेषतः उर चत तथा रक्तष्टीवन में बड़ा लाभ होता है ।

कुष्माण्ड खण्ड—छिल्के और बीजरहित सफेद पेठे को पानी में डालकर एक मिट्टी के वर्तन में रख कर आग पर चढ़ा कर स्विन्न करके पेठे को रेशमी वस्त्र में रख कर हाथ से दबा कर उसके रस को पृथक् करके निकाल कर रख लेना चाहिए । फिर इस पेठे को पत्थर पर पीस कर धूप में सुखा ले । इस चूर्ण को ५ सेर लेकर कलईदार वर्तन में ६४ तोले घृत में अग्नि पर चढ़ाकर भूने । जब वह लाल हो जाय तो उसमें निकाले हुए पेठे का रस ५ सेर खाड़ या मिश्री मिलाकर पाक करना चाहिए । जब पाक समीप मालूम हो तो उसमें निम्नलिखित द्रव्यों का प्रक्षेप डाले । छोटी पीपल, सोठ, जीरा प्रत्येक आठ तोले, दालचीनी, इलायची, तेजपत्र, काली मिर्च, धनिया प्रत्येक २ तोले । खूब अच्छी तरह से चलाते हुए पाक को सिद्ध करके ठंडा होने पर घी की आधी मात्रा में (३२ तोले) शहद मिलाकर मर्तवान में भर कर रख लेना चाहिए ।

मात्रा-अनिवल के अनुसार २ तोले से एक छटाँक तक । यह एक रसायन और ऊर्ध्वग रक्तपित्त में सिद्ध योग है ।

वासा कुष्माण्ड खण्ड—उक्तविधि से निर्मित पेठे का चूर्ण ५० पल (५२॥ सेर) भर लेकर कलईदार ताम्र की कड़ाही में प्रतप्त हुए १ प्रस्थ (६४ तोले) घृत के साथ भून लेना चाहिए । भूनते-भूनते जब पेठे का चूर्ण लाल हो जाय और सुगन्ध आने लगे तब उसमें खाण्ड १०० पल (५५ सेर) और अड़ूसे का क्वाथ १ आढक (४ प्रस्थ=२५६ तोला) डाल कर अच्छी तरह पाक करना चाहिए । आसन्न पाक को अवस्था में मोथा, आँवला, बंगलोचन, भार्गी, त्रिसुगन्ध (दालचीनी, छोटी इलायची और तेजपात) का प्रत्येक चूर्ण १-१ तोला, एलुआ सोठ, धनिया, काली मरिच का प्रत्येक चूर्ण ४-४ तोला और छोटी पीपल का चूर्ण १ कुडव (१६ तोला) प्रक्षिप्त करके कलछी अथवा शुद्ध लकड़ी के ङण्डे से अच्छी तरह घोट कर चूल्हे से उतार लेवे । शीतल होने पर गृहद १ मणिका अर्थात् ८ पल (३२ तोला) मिला कर घृतस्निग्ध मिट्टी के पात्र अथवा काच-पात्र में भर देवे ।

दूर्वाद्य घृत—दूर्वा की लता, कमल-केसर, मजीठ, एलवालुक, खाड, श्वेत चन्दन, खस, मोथा, लाल चन्दन और पद्माख प्रत्येक १-१ तोला लेकर सबको जल के साथ पत्थर पर पीस कर कल्क बना लेवें । फिर वकरी का घृत चतुर्गुण अर्थात् ४० तोला, तुण्डुलोदक घृत से चतुर्गुण (१६० तोला=५२ सेर) तथा वकरी का दुग्ध ५२ सेर लेकर सबको कलईदार ताम्र अथवा पित्तल या लौह की कड़ाही में डाल कर कड़ाही को चूल्हे पर चढ़ाकर मन्द-मन्द अग्नि जला के पाक करना चाहिए । मात्रा-१-२ तोले दूध में ।

उशीरासव—खम, नेत्रवाला, कमल की जड़, गम्भारी की छाल, नील कमल, प्रियङ्गु, पद्माख, लोघ, मजीठ, धमासा, पाठा, चिरायता, वट के अकुर अथवा छाल, उदुम्बर के फल अथवा छाल, कचूर, पित्तपापडा, श्वेत कमल की जड़ अथवा पत्ती, पटोलपत्र, कचनार की छाल अथवा पुष्प, जामुन की छाल और मोचरस प्रत्येक का चूर्ण १-१ पल । तथा मुनक्को का पत्थर पर पीसा हुआ कल्क २० पल (५१ सेर), घाय के फूल का चूर्ण १६ पल भर ले कर दो द्रोण (२५ $\frac{१}{२}$ सेर ८ तोला) जल में डाल कर एक घृतस्निग्ध तथा जटामासी और कालीमरिचो से धूपित मिट्टी के भाण्ड में भर देवें और उसमें गर्करा १ तुला (१०० पल=५५ सेर) तथा गृहद १ तुला मिला कर भाण्ड के मुख को गराव से ढँक कर कपडमिट्टी द्वारा मन्विबन्धन करके १ मास तक एकान्त और उष्ण स्थान में रख देवें । १ महीने के पश्चात् इसको वस्त्र से छान कर बोतलो में भर ले । मात्रा-२ तोले भोजन के बाद बराबर जल मिलाकर ।

रक्तपित्तकुलकण्डनरस—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, प्रवाल भस्म, स्वर्ण-भस्म, स्वर्णमाक्षिक भस्म, नागभस्म और वज्रभस्म १-१ तोला लें कर प्रथम पारद और गन्धक की कज्जली बनाकर उसमें शेष भस्मों में मिलाकर लालचन्दन, कमल की डण्डी, मालतीपुष्प (मुकुलित), अड़ूसे के पत्ते, धनिया, वारणकणा (गजपीपल), शतावरकन्द, सेमल कन्द, वट के अकुर और गिलोय इनमें से प्रत्येक के स्वरस अथवा क्वाथ से क्रमशः तीन-तीन बार भावित करके घोट कर सुखा के शीशी में भर दें। मात्रा—४ रती से १ माशा। अनुपान—मुलेठी और अड़ूसे के क्वाथ में मधु मिला कर।

पित्तान्तक रस—जायफल, जावित्री, जटामासी, कूठ, तालीसपत्र, सोना-माखी, लौह भस्म और अभ्रक भस्म सब सम भाग में लेकर उसमें सबों के बराबर रजतभस्म डाल कर पानी के साथ पीस कर २-२ रत्ती की गोलियाँ बना कर रख छोड़ें। मात्रा १ से २ गोली।

महापित्तान्तक रस—पित्तान्तक रस में सोनामाखी के स्थान में स्वर्ण भस्म मिला देने से महापित्तान्तक रस होता है।

सुधानिधि रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, स्वर्ण माक्षिक भस्म और लौह भस्म प्रत्येक समभाग में लेकर खरल में एकत्र कर लेवे। फिर इसमें त्रिफला क्वाथ डालकर मर्दन करके गोला बना कर भूषा में रख कर 'भूधर यन्त्र' में पका लेवे। मात्रा १-२ रती त्रिफला कषायके साथ। लौह पात्र में दूध को गर्म करके रातमें पीना इस औषधि के प्रयोग-कालमें हितकर होता है।

चन्द्रकला रस—शुद्ध पारद १ तोला, ताम्रभस्म १ तोला, अभ्रकभस्म १ तोला, शुद्ध गन्धक २ तोला, मोती की पिण्डी २ तोला, कुटकी, गिलोय का सत्त्व, पित्तपापडा, खस, छोटी पीपल, श्वेतचन्दन और अनन्तमूल प्रत्येक का कपड-छान चूर्ण १-१ तोला। प्रथम पारे-गन्धक की कज्जली करे। पीछे उसमें भस्मों तथा अन्य द्रव्यों का चूर्ण मिलाकर नागरमोथा, मोठा दाडिम (अनार), दूब, केवडा, कमल, सहदेई, शतावर और पित्तपापडा इनके यथालाभ स्वरस, अर्क या क्वाथ की १-१ भावना और मुनक्का के क्वाथ की ७ भावनार्यें दें। प्रत्येक भावना में १-१ दिन मर्दन करे और छाया में सुखा करके दूसरी भावना दे। पीछे वशलोचन का सूक्ष्म, कडछान चूर्ण अँगुलियों पर लगाकर उनसे चने के बराबर गोलियाँ बना छाया में सुखा कर रख दें।

मात्रा और अनुपान—१-२ गोली, ठण्डा जल, उशीरासव, अशोकारिष्ट या पेडे के स्वरस से दिन में २-३ बार दें।

वारहर्षो अध्याय

राज-यक्ष्मा-प्रतिषेध

प्रावेशिक—राज-यक्ष्मा ज्वर की दो व्युत्पत्ति चरक संहिता में पाई जाती है । १ “यक्ष्मणा (रोगाणा) राजा” इति राजयक्ष्मा तथा “राज. चन्द्रमसो यस्मादभूदेष क्लामय । तस्माद् राजयक्ष्म सजेति” सर्वप्रथम नक्षत्रों के राजा चंद्रमा को यह रोग हुआ, अस्तु इस रोग का नाम राजयक्ष्मा पडा ।

पौराणिक कथा है कि प्रजापति को अट्ठाइस कन्यायें थी उन्होंने सबका विवाह चंद्रमा में कर दिया परन्तु राजा चंद्रमा ने सभी रानियों को सम भाव से नहीं देखा केवल एक में जो रोहिणी नाम की रानी थी उस में अत्यधिक आसक्ति दिखलाई । प्रजापति से शेष कन्याओं ने इस बात की शिकायत की और प्रजापति को क्रोध हुआ उन्होंने शाप दिया और वह क्रोध यक्ष्मा के रूप में चंद्रमा के शरीर में प्रविष्ट हो गया और वे राजयक्ष्मा रोग से ग्रसित हो गये । राजा चंद्रमा को पश्चात्ताप हुआ वे गुरुकी शरण में गये उनकी अभ्यर्थना की गुरु ने प्रसन्न होकर उनको पुन. स्वस्थ होने का आर्वावाँद दिया अश्विनीकुमारो ने उनकी चिकित्सा की और चंद्रमा फिर ठीक हो गये ।

इस पौराणिक कथा से इस रोग के वारे में लक्षणों के द्वारा कई काम के अर्थ निकलते हैं । जैसे—१. यह रोग—रोगराज या राजरोग या राज-यक्ष्मा है । अर्थात् एक राजा के समान बृहत् या विशाल रोग है जिसमें अनुचर के रूप में प्राय सभी छोटे-बड़े रोगों का जैसे, ज्वर अतिसार, रक्तपित्त और विषमग्नि प्रभृति रोगों का अनुप्रवेश पाया जाता है । फलतः इस रोग की इतनी विगलता है कि इस का सम्पूर्णतया सभी अवस्थाओं के लक्षण, चिह्न और चिकित्सा प्रभृति बातों का ज्ञान हो जाय तो प्राय सम्पूर्ण चिकित्सा शास्त्र का पण्डित हो जाना संभव रहता है क्योंकि इस में अधिकतर कायचिकित्सा-सम्बन्धी लक्षणों का अनुप्रवेश मिलता है । कई लेखकों ने भी इस भाव की उक्तियाँ कही हैं कि “अथ और फिरंग रोग को कोई चिकित्सक सम्पूर्णतया जान जावे तो वह सम्पूर्ण चिकित्सा (कायचिकित्सा शास्त्र) का ज्ञाता हो सकता है ।”

२ यह रोग राजा को हो जाय अर्थात् आढ्य और श्रीमन्त व्यक्ति को हो जाय तो वह अच्छा हो जाता है, परन्तु यदि किसी गरीब या दरिद्र व्यक्ति को हो जाय तो उसके लिये चिकित्सा और पथ्य की सुविधा न होने से प्राय असाध्य हो जाता है ।

३ यह रोग आहार-विहार के असमय से विशेषतः शुक्रक्षय की अधिकता से

होता है। अस्तु इस रोग में शुक्र-क्षय या वीर्य क्षय को वचाना अर्थात् शुक्र या वीर्य वर्धक औषधियों का प्रयोग उत्तम रहता है।

४ यह रोग स्नेहसंक्षय से “तत स्नेहपरिच्छयात्” से होता है अस्तु चिकित्सा में अत्यधिक मात्रा में दूध, घी, मक्खन, तैल, वसा, मज्जा, मासरस, यकृत तैल (विटामीन ए डी) तथा पौष्टिक आहार की आवश्यकता पड़ती है। इसके अभाव में रोग का अच्छा होना कठिन रहता है। स्नेह शब्द से देह का सारक्षय भी माना जाता है—सार से शुक्र और ओजक्षय। जिसका वर्णन आगे किया जावेगा, इस रोग में पाया जाता है।

५ यह रोग असाध्य नहीं है—साध्य या कृच्छ्र साध्य है प्रारम्भ से ही चिकित्सा की जाय तो साध्य होता है, परन्तु विलम्ब से चिकित्सा करने पर कृच्छ्र साध्य या असाध्य हो जाता है। दूसरी बात यह है कि इस रोग में पुनरावर्त्तन की प्रवृत्ति पाई जाती है अर्थात् एक बार हो जाने पर पुन पुन उसके होने की संभावना रहती है। महाराज चन्द्रमा को यह रोग हुआ, देवचिकित्सक अश्विनी कुमारों ने इसकी चिकित्सा की, रोग अच्छा हो गया, परन्तु पुन सक्षय प्रारम्भ हुआ। अस्तु चन्द्रमा शुक्ल पक्ष में पूर्ण चिकित्सा-विश्राम-पथ्यादि के ऊपर (Senetorium Treatment) के ऊपर रहने पर अच्छा हो जाते हैं और वे पन्द्रह दिन में पूर्ण हो जाते हैं—परन्तु चिकित्सा आदि की निगरानी के छूट जाने पर उनमें कृष्ण पक्ष में पुनः सक्षय प्रारम्भ हो जाता है और कृष्ण पक्ष की अमावस्या को वे पूर्णतया क्षीण हो जाते हैं। पुन उनकी चिकित्सा या पथ्यादि की आवश्यकता पड़ती है—अश्विनीकुमार लोग पुन उनकी चिकित्सा करते हैं पुन उनकी एक-एक कलावो का सन्ध शुरू होता है और वे बढ़ कर एक पक्ष में स्वस्थ हो कर पोशक कला पूर्ण चन्द्र होते हैं। इसी प्रकार क्षयरोग में भी पथ्यापथ्य का परिणाम पाया जाता है और रोग का बार-बार होना या पुनरावर्त्तन पाया जाता है। चन्द्रमा की वृद्धि एवं क्षय का प्रभाव सभावतः इस रोग में पाया भी जाता है।

६. इस रोग में चन्द्रका प्रतीक सोम से भी है। सोम से सौम्य गुण अर्थात् आप्यायन धातुओं का पोषण अभिलक्षित होता है। जगत् में दो प्रकार के अग्नि तथा सोम गुण के तत्त्व पाये जाते हैं। कहीं पर चिकित्सा में आग्नेय तत्त्वों की आवश्यकता होती है। कई बार इसके विपरीत सोम तत्त्व की। यहाँ पर क्षय रोग के प्रतिपेक्ष में सोम तत्त्व का ही व्यवहार हितकर रहता है। धातुओं का शोष इस रोग में पाया जाता है। आप्यायन इसके लिए जरूरी होता है अस्तु सोम-गुण वाली औषधियों का शीतवीर्य एवं धातुवर्धक पथ्य का उपयोग उत्तम रहता है।

७ इस रोग में धातु-क्षय प्रधान हेतु के रूप में पाया जाता है यह क्षय अनुलोम या प्रतिलोम द्विविध हो सकता है। अनुलोम रस या रक्त के नाश से प्रारंभ होकर क्रमशः उत्तरोत्तर पाये जाने वाले धातुओं का अर्थात् रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा और अंत में शुक्र या 'वीर्य' का क्षय होता है। प्रतिलोम में शुक्र-क्षय का प्रारंभ होकर क्रमशः उससे अवर धातुओं का अर्थात् मज्जा, अस्थि, मेद, मास, रक्त और अंत में रस का क्षय होता है। इस प्रकार धातुक्षय इस रोग के हेतु तथा प्रधान रूप में पाया जाता है अस्तु राज-यक्ष्मा रोग का दूसरा पर्याय-क्षय रोग अथवा शोष रोग (धातुओं का सुखाने वाला रोग) बनता है। इस रोग में वलक्षय, भारक्षय प्रमुखतया पाया जाता है। अस्तु चिकित्सा में वल और मास प्रभृति धातुओं को बढ़ाने वाला उपचार अपेक्षित रहता है।

८. चूँकि यह रोग शाप के कारण चन्द्रमा को हुआ था अस्तु इस रोग को जीतने के लिए दैव-व्यपाश्रय चिकित्सा का बड़ा महत्त्व है, आधिभौतिक (Materialistic treatment) के साथ-साथ जिन क्रियाओं के द्वारा प्राचीन काल में राजयक्ष्मा रोग को दूर किया गया उन आधिदैविक अर्थात् मनोनुकूल सम्पूर्ण वेद-विहित क्रियाओं को करते हुए उपचार करना चाहिये। ये दैव-व्यपाश्रय उपाय निम्नलिखित हैं। इन उपायों से यक्ष्मारंभक दोषों की शान्ति होती है। इच्छित और मनोज्ञ (मनका अच्छा लगने वाले) मद्य का सेवन, गव्य का सूषणा, रमणीय मित्रों तथा प्रमदाओं का दर्शन, कानों के प्रिय लगने वाले गीत, वाद्य, हर्षण (प्रसन्न करने वाले आहार-विहार-आचार-कथा प्रसंग), आश्वासन (तसल्ली देना), ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान, दान, तपस्या, देवता की अर्चना, गुरुजनो का पूजन, सत्यभाषण, अहिंसा, दूसरे के कल्याण की भावना, वैद्य और धर्म-शास्त्रज्ञ के कथनों के अनुसार चलना आदि।^१

राजयक्ष्मा रोग के पर्याय—रसादि धातुओं के शोषण होने से रोग का नाम शोष, धातु-क्रियाओं के क्षय होने से रोग का नाम क्षय हो जाता है,

१ इष्टैर्मर्द्यमनोज्ञाना मद्यानामुपसेवनै । सुहृदा रमणीयाना प्रमदानाञ्च दर्शनै ॥
गीतवादिन्नगन्दैश्च प्रियश्रुतिभिरेव च । हर्षणाश्वासनैर्नित्यं गुरुणा समुपासनै ॥
ब्रह्मचर्येण दानेन तपसा देवतार्चनैः । सत्येनाचारयोगेन मङ्गलैरप्यहिंसया ॥
वैद्यविप्रार्चनाच्चैव रोगराजो निवर्त्तते । यया प्रयुक्तया चेष्टया राजयक्ष्मा पुरा
जितः ॥ ता वेदविहितानिष्टामारोग्यार्थी प्रयोजयेत् । (च. चि)

सर्वप्रथम यह रोग राजा चद्रमा को हुआ अस्तु राजयक्ष्मा, राजरोग या रोग राज भी कहलाता है^१ ।

राज-यक्ष्मा रोग के चतुर्विध हेतु—वेगावरोध (मल-मूत्र-प्रभृतिवेगो का रोकना), क्षय (शुक्र प्रभृति धातुओ का क्षय), साहस (अयथाबल आरम्भ) और विपमाशन (विपम भोजन) इन चार कारणों से त्रिदोषज राजयक्ष्मा रोग उत्पन्न होता है। इसमें वेगावरोधादि कारणों से सर्वप्रथम वायु का कोप होता है पश्चात् अग्नि की दुष्टि होने से कफ और पित्त भी दूषित होता है। इन मूलभूत चार हेतुओं में अगभूत असंख्य कारणों का समावेश समझना चाहिये।^२

राजयक्ष्मा के त्रिविध रूप या अवस्थाएँ—कधे और पार्श्व में पीड़ा, हाथ-पैरों में जलन और सम्पूर्ण शरीर में ज्वर। इसको त्रि-रूप राजयक्ष्मा कहते हैं। रोग के प्रारम्भिक अवस्था में ये ही लक्षण पाये जाते हैं। जब रोग अधिक बढ़ता है तो द्वितीयावस्था में पङ्कुरूप यक्ष्मा पाया जाता है जिसमें भोजन में अरुचि, स्वरभेद, कास, श्वास, रक्तछीवन और ज्वर रहने लगता है—‘कासो ज्वर पार्श्वशूल स्वरवर्चोऽग्रहोऽरुचि ।’ इस से बढ़ी हुई अवस्था एकादश रूप राज-यक्ष्मा की होती है जिसमें वात के कारण स्वरभेद, कधे तथा पार्श्व में शूल और मंकोच, पित्त के कारण ज्वर, दाह, रक्तछीवन तथा कफ के कारण सिर में भारीपन, भोजन में अरुचि, कास तथा कंठ में पीड़ा (या उत्कासिका या धसका) इन लक्षणों की उपस्थिति रोगी में पाई जाती है।^३ भोज ने लिखा है कि राजयक्ष्मा में ‘कासो ज्वरो रक्तपित्ता त्रिरूपं राजयक्ष्मणि’ अर्थात् यक्ष्मा में प्रधान तीन ही लक्षण मिलते हैं कास, ज्वर और रक्तपित्त।

साध्यासाध्यता—यदि रोगी में बलक्षय, मासक्षय और मदाग्नि न हो तो साध्य अन्यथा रोग कृच्छ्र साध्य या असाध्य हो जाता है। सम्पूर्ण, अर्ध या

१. संशोपणाद्रसादीना शोष इत्यभिधीयते । क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते बुधै । राजश्चेन्द्रमसो यस्माद्भूदेप किलामय । तस्मात्त राजयक्ष्मेति केदिदाहु-र्मनीपिण । (सुश्रुत ३४)

२ वेगरोधात् क्षयाच्चैव साहसाद् विपमाशनात् । त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतुचतुष्टयात् ॥ (मा नि.)

३. अंसपार्श्वभितापश्च सताप करपादयो । ज्वर सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः ॥ स्वरभेदोऽनिलाच्छल सकोचश्चासपार्श्वयो । ज्वरो दाहोऽपि सारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागमः ॥ शिरसः परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्द एव च । कासः कठस्य चोद्ध्वसो विज्ञेयः कफकोपतः ।

त्रिलिङ्ग मात्र से युक्त क्षयी रोगी में यदि मास-बल बहुत क्षीण हो गये हो तो चिकित्सा में वर्जन करना चाहिये परन्तु सम्पूर्ण लक्षणों से उपद्रुत रोगी में भी मास एवं बल का क्षय न हो तो चिकित्सा करनी चाहिये । वह साध्य रहता है^१ ।

क्रियाक्रम—सभी प्रकार के राजयक्ष्मा का रोग त्रिदोषज होता है अस्तु दोषों का बलावल देखते हुए और विभिन्न अवस्थाओं का विचार करते हुए शोष रोग की चिकित्सा करे^२ ।

ज्वराधिकार में ज्वर के शमन के लिये जो विधियाँ बतलाई गई हैं । वे सभी यक्ष्मा रोगी के ज्वर और दाह की अवस्थामें उत्तम होती हैं और व्यवहार में लाई जा सकती हैं । अर्थात् क्षय रोग में जीर्ण ज्वर की सम्पूर्ण चिकित्सा ज्वर के शमन के लिये करनी चाहिये^३ ।

राजयक्ष्मा में प्रथम ज्वरादि उपद्रवों की चिकित्सा ज्वररोगाधिकारोक्त योगों से क्वाथ, चूर्ण, आसव, अरिष्ट और रसादिकों के प्रयोग से करनी चाहिये । इन ज्वरादिक उपद्रवों के शान्त होने के साथ ही साथ राजयक्ष्मा में जो शोष (धातुओं के क्षय या शोष) पाया जाता है उसका उपचार करना चाहिये^४ ।

शोधन निषेध—यदि रोगी बलवान् हो और रोग में दोषों की अधिकता हो तो उसका स्नेहन स्वेदन करा के सिग्ध वमन और विरेचन के द्वारा दोषों का निर्हरण करना प्रशस्त रहता है, परन्तु यदि रोगी क्षीण हो जैसा कि प्रायः राजयक्ष्मा रोग में पाया जाता है उसमें शोधन (पचकर्म) कदापि नहीं करना चाहिये । यक्ष्मा में शोधन विष के सदृश अहित करता है^५ ।

१. सर्वैरर्धैस्त्रिभिर्वापि लिङ्गैर्मसिबलक्षयै । युक्तो वर्ज्यश्चिकित्स्यस्तु सर्व-
रूपोऽप्यतोऽन्यथा ॥ (च चि)

२. सर्वस्त्रिदोषजो यक्ष्मा दोषाणा च बलावलम् । परीक्ष्यावस्थिकं वैद्यः शोषिणं
समुपाचरेत् ।

३. ज्वराणां शमनीयो य पूर्वमुक्तः क्रियाविधिः । यक्ष्मिणा ज्वरदाहेषु स
सर्वोपि प्रशस्यते ॥

४. उपद्रवा ज्वराद्यास्ते साध्या स्वै स्वैश्चिकित्सितैः ।

तेषु शान्तेषु रोगेषु पश्चाच्छोषमुपाचरेत् ॥ (चर. चि. ८)

५. दोषाधिकानां वमनं शस्यते सविरेचनम् । स्नेहस्वेदोपपन्नानां सस्नेहं यन्न
कर्षणम् ॥ बलिनो बहुदोषस्य पच कर्माणि कारयेत् । यक्ष्मिणः क्षीणदेहस्य तत्
कृतं स्याद् विषोपमम् ॥

राजयक्ष्मा रोग में शुक्र (वीर्य) और मल की रक्षा का सदैव ध्यान रखना चाहिये^१ । यह सिद्धान्त केवल राज-यक्ष्मा तक ही सीमित नहीं अपितु सभी प्रकार के दीर्घकालीन और क्षीण रोगियों में उनके शुक्र और मल की रक्षा करना परमावश्यक कर्त्तव्य चिकित्सक का रहता है । इसका कारण यह है कि मनुष्य का बल शुक्र के अधीन रहता है क्योंकि शुक्र समस्त धातुओं का अन्तिम तथा सारभूत पदार्थ है । चरक ने भी लिखा है आहार का परम धाम शुक्र होता है उसकी रक्षा करना सभी आत्मवान् पुरुषों का कर्त्तव्य है—उसके अधिक क्षय होने में बहुत से रोग हो सकते हैं अथवा व्यक्ति की मृत्यु भी हो सकती है । अस्तु स्वस्थ व्यक्ति को भी शुक्र-सरक्षण ब्रह्मवैर्य और स्त्री-सयम के द्वारा करना चाहिये रोगी और दुर्बल के बारे में तो उसमें शका का स्थान ही नहीं है^२ ।

✓ 'मलायत्तं हि जीवनम्' का तात्पर्य यह है—शरीर का स्तम्भ होने से इसके अधीन क्षीण मनुष्य का जीवन रहता है । चरक ने लिखा है कि 'राजयक्ष्मा के रोगी में क्षोणावस्था में कोष्ठ-सञ्चित अग्नि अन्न का जो पाक करता है उसमें अधिकांश मल बनता है और अल्प मात्रा में ओज या बल का निर्माण होता है । अर्थात् रोग की महिमा से अन्न का अधिकांश किट्ट बनता है और प्रसादभूत धातु अत्यल्प मात्रा में निर्मित होता है । अस्तु सभी क्षीण रोगियों में विशेषतः राजयक्ष्मी में मल की रक्षा में चिकित्सक को तत्परता रखनी चाहिये । सर्व धातुओं के क्षय से आर्त्त रोगी में उसका बल विट् या मल ही होता है । इस मल का रुच, तीव्र या तीक्ष्ण रेचन देने से या शोधन करने से रोगी का बलक्षय होकर मृत्यु की संभावना रहती है । अस्तु राजयक्ष्मा रोग में क्षीण रोगी को कदापि सशोधन (वमन और विरेचन) नहीं करना चाहिये । और यदि विवध हो तो स्निग्ध, मृदु और स्र सन औषधियों जैसे—अमलताग, मुनक्का, निशोथ, अजोर आदि से घृत + मधु + शक्कर आदि से हल्का स्र सन कराना चाहिये । अथवा गुदवर्त्ति, आस्थापन वस्ति, अनुवासन देकर कोष्ठ की शुद्धि करनी चाहिये^३ ।

१ शुक्रायत्तं बलं पुमा मलायत्तं हि जीवनम् । तस्माच्चत्नेन सरक्षेद्यक्षिणो मलरेतसी ॥

२. आहारस्य पर धाम शुक्र तद्रक्ष्यमात्मनः । क्षये ह्यस्य बहून् रोगान् मरणं वा नियच्छति ॥ (च)

३ तस्मिन् काले पचत्यग्निर्यदन्नं कोष्ठसञ्चितम् । मलं भवति तत्प्रायः कल्पते किञ्चिदोजसे ॥ तस्मात्पुत्रीप सरक्ष्यं विशेषाद्राजयक्ष्मिणः । सर्वधातुच्यार्तस्य बलं तस्य हि विड्वलम् ॥ (च० चि० ८.)

राजयक्ष्मा मे पथ्य (आहार-विहार)—रोगी को विस्तर पर लेटे रह कर रोग काल मे पूर्ण विश्राम देना चाहिये । अपानवायु, मल-मूत्र-कास-छीक प्रभृति वेगो का रोकना छोड देना चाहिये । भोजन मे एक साल पुराना शालि धान्य (मावारण चावल), पष्टिक धान्य (साठी का चावल), गेहू, यव की रोटी, मूंग या अरहर की दाल, वकरी का दूध खाने के लिये देना चाहिये । दूध मे त्रायः वकरी का दूध या भैंस का दूध रोगी को देना चाहिये । गाय का दूध इस रोग में शस्त नहीं है । उसके स्थान पर माहिप क्षीर दिया जा सकता है । सूखे फल (मेवे) इस रोग में अधिक लाभप्रद होते हैं—जैसे पिएड-खजूर, मुनक्का, बादाम, विलगोजा, अखरोट, काजू, पिस्ता आदि । तैलीय सूखे फल अधिक वल्य होते हैं । पका केला, पका आम, आँवला, खजूर, फालसा, नारियल भी उत्तम रहता है । स्वर्ण की अँगूठी और आभूषण धारण रोग में लाभ करता है । आँवले का हर प्रकार से चटनी, चोखा, अचार, मुरब्बा आदि बनाकर प्रचुर मात्रा में रोगी को देना चाहिये । ताडका रस या खजूर का रस भी उत्तम रहता है । प्रचुर मात्रा में उसका उपयोग यक्ष्मा-रोगी में कराया जा सकता है ।

अपथ्य—अधिक जागरण, वेग-विहारण, श्रम, स्वेदन, साहमकर्म, स्त्री-रुज-क्रटु-तिक्त और अम्ल रस का सेवन, अधिक धूप सेवन और ताम्बूल सेवन अपथ्य होता है ।

यदि शोष (वातुओ का सूखना) बहुत हो तो अनेक प्रकार के मद्य, जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांस देना चाहिए । जिस व्यक्ति ने कभी मांस न खाया हो उसके लिए तो मास पर्याप्त धातुवर्धक होते हैं, परन्तु ऐसे व्यक्ति मे जिनमे सदा मास खाने का वृत्त हो, फिर भी क्षय ग्रस्त हो जायें तो उनके शोष मे किस प्रकार के मास सेवन की व्यवस्था करनी चाहिए ? इसके लिए शास्त्र में उपदेश मास खाने वाले पशु-पक्षियों के मास देने का है । ये मास विशेष रूप से वृहण या घातुओ के वर्धन करने वाले होते हैं ।^२

सांसाहार—“सर्वदा सर्वभावाना सामान्यं वृद्धिकारणम्” समान द्रव्य समान का वर्धक होता है ‘अस्तु मास मासेन वर्द्धते ।’ मास का सेवन शरीरगत मास धातु की

२. शालिर्पाण्डकगोधूमयवमुद्गादयः शुभा । मद्यानि जाङ्गलाः पक्षिमृगाः यस्ता विशुष्यताम् ॥ शुष्यता क्षीणमासानां कल्पितानि विधानवित् । दद्यात् क्रव्यादमासानि वृहणानि विशेषतः ॥ मासेनोपचिताङ्गानां मासं मासकरं परम् । तीक्ष्णोष्णलाघवाच्च यस्त विशेषान्मृगपक्षिणाम् ॥ (च० चि० ८)

वृद्धि करता है। राजयक्ष्मा रोग में मास धातु का बहुत क्षय हो जाता है, अस्तु मास सेवन से ही उसकी पूर्ति संभव रहती है। एतदथ यक्ष्मा के रोगियों में मास का बहुलता से सेवन कराने का विधान शास्त्र में पाया जाता है।

चरक तथा सुश्रुत संहिता में ऐसे बहुत प्रकार के जीवों के मास सेवन कराने का विधान बतलाया गया है जिनका सामान्य भोजन के रूप में व्यवहार नहीं पाया जाता है। इन मासों के प्रति अनभ्यास के कारण रोगी को घृणा हो सकती है। अस्तु इस प्रकार के अनिष्ट (जो रोगी को अभीष्ट नहीं है) मासों का प्रयोग रोगी से छुपाकर दूसरे नामों से जो खाद्य मासों में आते हैं बढ़िया स्वादिष्ट बनाकर मनोज्ञ, मृदु, रस्सेदार और सुगन्धित करके देना चाहिये ताकि उनको रोगी बिना किसी प्रकार की घृणा के भाव से सेवन कर सके।^१

अन्न-पान में प्रयुक्त होनेवाले मासों के आठ वर्ग हैं प्रसह, भूशय (जमीन में विल बनाकर रहने वाले), आनूप, वारिज (जल में पैदा होनेवाले) वारिचर (जल में चलनेवाले) ये विशेष रूप से वृंहण होते हैं इनका शोप में वाताधिक्य होने पर प्रयोग करे। प्रतुद (चोच से ठोग मारने वाले पक्षी) विष्किर (पैर से बिखेर कर खानेवाले पक्षी)।

तर्था धन्वज (जाङ्गल पशु-पक्षी) ये लघु होते हैं, अस्तु शोप में कफ-पित्त की अधिकता में इनका व्यवहार करे।^२

शोप में वही (मयूर) का मास दे और वही का मास कह के गीध, उलूक और चाप (वाज) का मास स्वादिष्ट बनाकर रोगी को खाने को दे। तीतर के नाम से काक का मास, वर्मि (एक प्रकार की लम्बी जल की मछली), घृत में भुने केचुवे का मास, खरगोश के मास के नाम से लोपाक (मृग विशेष), मोटे न्योले, बिल्ली, शृगाल के बच्चों के मास दे। हिरण के मास के नाम से सिंह, व्याघ्र, तरक्षु (भेड़िया), चीते आदि मास खाने वाले पशुओं का मास देना चाहिए। हाथी, गैंडा, घोड़े का मास भंसे के मास के नाम से दे। इनमें मयूर, तीतर, मुर्गा, हंस, सूअर, ऊँट, गदहा, गो, माहिष के मास परं मासकर माने जाते हैं।

सुश्रुत ने निम्नलिखित पशु-पक्षियों के मासों का नाम शोप रोग में व्यवहार के लिए लिखा है —काक, उल्लू, न्योला, बिडाल, गरुडपद (केचुवा) व्याल,

१. योनिरष्टविधा प्रोक्ता मासानामन्नपानिके। ता परोक्ष्य भिषग्विद्वान् दद्यान्मासानि शोपिणे ॥

२ विधिवत् सूपसिद्धानि मनोज्ञानि मृदूनि च। अन्नवन्ति सुगन्धीनि मासान्येतानि भक्षयेत् ॥

विल में रहने वाले चूहे, गृध्र, गन्हा, ऊँट, हाथी, घोड़ा, खच्चर इन मांसों को सर्प तैल में भूनकर सेंधा नमक मिलाकर देना चाहिए ।

बाज के युग में जलचर और जलजात सामुद्रिक मछलियों के यकृत तैल का प्रयोग बहुलता से हो रहा है । जाक और कार्क मछली का यकृत अधिकतर व्यवहार में आता है इन प्रयोगों से भी वातुओं का वर्धन होता है ।

मद्यसेवन—(Medicated wines) अयि रोग की चिकित्सा में मद्य तथा मांस का सेवन कराने का बड़ा साहाय्य बनलाया है । मांस के भोजन का ऊपर में उल्लेख हो चुका है, अब मद्य की विशेषतायें बतलाई जा रही हैं । मद्य कई प्रकार के निर्माण, द्रव्य एवं अल्कोहल (Alcohol) की प्रतिशत मात्रा के ऊपर हो सकते हैं जैसे प्रमन्ना, बारुगी, सोधु, अरिष्ट, आमव, मध्वासव आदि । आधुनिक युग में भी मद्य कई प्रकार के पाये जाते हैं । जैसे—वीयर, गैम्पेन, व्हिस्की, रम, जिन, ओडका, ब्राण्डी, प्रभृति ।

मांसाहार में सर्वोत्तम अनुपान मद्य का माना जाता है । अस्तु मांससेवन के साथ ही साथ मद्य-पान का भी विधान है । मद्य में कई विविष्ट गुण होते हैं—जैसे वह तीक्ष्ण, उष्ण, विगद और मूदन गुण वाला होता है फलतः वह स्रोतो के द्वारों को जो यक्ष्मा रोग में अवरुद्ध हो जाते हैं मथकर खोल देता है । जिससे रसरक्तादि सप्त वातुओं का पोषण होने लगता है और इनके पोषण के परिणाम स्वरूप रोगों में धानुओं की वृद्धि प्रारंभ हो जाती है और अथ या शोष शीघ्रता से दूर हो जाता है । अस्तु चरकाचार्य ने लिखा है “नियमित रूप से मांस का सेवन करते हुए और माध्वीक (मद्य) को पीते हुए स्थिर चित्त वाले संयमशील मनुष्य के शरीर में शोष रोग चिरकाल तक नहीं रहता है ।” अर्थात् शीघ्र ठीक हो जाता है । इस प्रकार मद्य का अनुपान करते हुए मांस के सेवन में रोगराज के दूर करने का विधान प्राचीन ग्रंथों में पाया जाता है ।^१

वहिर्मार्जन या वहिः स्पर्शन (अवगाहन)—राजयक्ष्मा रोग में ज्वर एवं दाह के घमन के लिये जीर्ण ज्वर में कहे गये विद्वानों में जो क्रिया विधि बतलाई गई है उसका सम्पूर्णतया प्रयोग करना चाहिये ।

१ मांसमेवाग्गत शोषो माध्वीकं पिवतोऽपि च । नियतानल्पचित्तस्य चिरकाये न तिष्ठति ॥ प्रसन्ना वारुणीं सीधुमरिष्ठानासवान् मधु । यथार्हमनुपानार्थं पिबेन्मांसानि भक्षयन् ॥ मद्य तैदण्णीण्यवैगद्यात्सुक्ष्मत्वात् स्रोतसा मुखम् । प्रमथ्य विवृणोत्याशु तन्मोक्षात् सप्त वातवः ॥ पुण्यन्ति वातुपोषाच्च शीघ्रं शोषः प्रशम्यति । (च)

ज्वर और दाह के शमन के लिए दूसरा साधन अवगाहन का है। तैल, दूध (बकरी का) अथवा जल से भरे कोष्ठ (Tub) में डुबकी लगाकर स्नान करना अवगाहन कहलाता है। इस क्रिया से स्रोतस्रो के बंद हुए मुख खुल जाते हैं। रोगी के बल की वृद्धि होती है, तथा वह पुष्ट होता है। तैल से भरी टकी में नहाये और तैल का सुखपूर्वक हल्के हाथों से शरीर का मर्दन करे। औषधि सिद्ध तैल जैसे लाक्षादि तैल, चन्दन बला-लाक्षादि या वासा-चन्दनादि तैल, उत्तम रहते हैं। यदि ये सुलभ न हों तो जितने भी खाद्य तैल मिल सकते हैं, उनका मिश्रण बनाकर टकी में भर कर अवगाहन करना चाहिये। तैल के इस क्रिया को वहि स्पर्शन या वहि मार्जन कहते हैं।^१ वहिर्मार्जन के लिये यह विधि सुलभ न हो तो जीवन्त्यादि उत्सादन—जीवन्ती, शतावरी, मजिष्ठा, अश्वगध, पुनर्नवा मूल, अपामार्ग, जया, मुलैठी, बला, विदारीकदं, सर्षप, कूठ, चावल, अतसी के बीज, उडद, तिल, किण्व समभाग में लेकर चूर्ण करके इनसे तीन गुना जी का आटा लेकर दही में पीसकर थोड़ा मधु मिलाकर पूरे बदन पर उबटन जैसे लगाना चाहिये। इससे रोगी पुष्ट होता है उसके बल और वर्ण की वृद्धि होती है। स्नान—पीले सरसों के कल्क तथा जीवन्तीय गण की औषधियों से शृतजल में सुगन्धित द्रव्यों को छोड़कर इस जल को किसी बड़े वर्तन में भरकर उसमें भली प्रकार स्नान कराना भी इसी प्रकार लाभप्रद होता है। इस जल को ऋतु के अनुसार शीत ऋतुओं में उष्ण तथा उष्ण ऋतुओं में शीतल कर लेना चाहिये।

इन क्रियाओं से हल्का व्यायाम, निष्क्रिय परिश्रम (Passive exercise) हो जाती है, त्वचागत ज्वर का शमन हो जाता है, शरीर का उत्तम प्रोक्षण या प्रमार्जन (Sponging) हो जाता है। तैलों के अभ्यग से सूर्य-प्रकाश की उपस्थिति में पर्याप्त मात्रा में जीवतक्तियों (Vit. A. & D) का निर्माण और शोषण होने लगता है फलतः शरीर पुष्ट होता है। अस्तु १ मास का सेवन २. मद्य का सेवन ३ वहिर्मार्जन ४ तथा वेगो के अविधारण (अपान, मल, मूत्र, कास, छीक आदि वेगो का न रोकना) से राजयक्ष्मा रोग दूर होता है।^२

१ वहि स्पर्शनमाश्रित्य वक्ष्यतेऽतः परं विधिः। स्नेहक्षीराम्बुकोष्ठेषु स्वभ्यक्त-
मवगाहयेत्। स्रोतोविवन्धमोक्षार्थं बलपुष्ट्यर्थमेव च। (च. वि. ८)।

२ वारुणोमण्डनित्यस्य वहिर्मार्जनसेविनः।

अविधारितवेगस्य यक्ष्मा न लभतेऽन्तरम्॥

अजा या छाग सेवन—अजा या बकरी में क्षय रोग के दूर करने की अद्भुत क्षमता है। वास्तव में इस जीव में कदापि क्षय रोग नहीं होता है। ये राजयक्ष्मा रोग के लिये सदैव सक्षम (Resistent) रहती है। एतदर्थ ही इनके दूध, घृत, मास, मूत्र तथा मल का उपयोग क्षय रोग में अमोघ फल वाला माना जाता है। इसीलिये लिखा है बकरे का मास, बकरी का दूध, बकरी का घी शक्कर के साथ सेवन करना, बकरियों के झुण्ड में चारपाई डालकर सोना और बकरियों के झुण्ड में ही रहना यक्ष्मा रोग के नाश के लिये अत्यन्त हितकारी है।^१

अजा पंचक घृत—बकरी की मीगी $\frac{1}{2}$ सेर, बकरी का मूत्र १ सेर, बकरी का दूध १ सेर, बकरी का दही १ सेर और बकरी का घृत १ सेर। घृत पाक-विधि से मद आँच पर पका कर उसमें यवक्षार दो छटाँक मिलाकर रख देना चाहिये। मात्रा—१-२ तोले प्रतिदिन। छागलाघ घृत का भी प्रयोग होता है।

भेषज—१ मास खाने वाले पशु-पक्षियों के मासरस से सिद्ध घृत मधु के साथ उपयोग।

२ दसगुने दूध में सिद्ध किये घी का उपयोग।

३ मधुर द्रव्य, दशमूल कपाय, क्षीर, मासरस से सिद्ध घृत परम शोषहर होता है।^२

४ कबूतर, वानर, बकरा और हरिण इनके शुष्क मास का पृथक् पृथक् चूर्ण बकरी के दूध के साथ पीने से क्षय रोग नष्ट होता है।^३

५ पिप्पली, यव, कुत्थी, सोठ, दाडिम बीज, आमलकी चूर्ण इनसे युक्त पकाया हुआ बकरी के मासरस का घृत के साथ सेवन राजयक्ष्मा में लाभप्रद होता है। इसके सेवन से पीनसादि पट्ट लक्षणों से युक्त यक्ष्मा ठीक हो जाता है।

६. मास वटक उपर्युक्त विधि से संस्कृत (ओषधियुक्त) वटक भी सेवन के लिये दिया जा सकता है।

१ छागमासं पयश्छाग छाग सर्पि सशर्करम् ।

छागोपसेवा शयनं छागमध्ये तु यक्ष्मनुत् ॥

२ मासादमासस्वरसे सिद्ध सर्पि प्रयोजयेत् ।

सधीर्द्रं पयसा सिद्ध सर्पिर्दशगुणेन वा ॥

मिद्वं मधुरकैर्द्रव्यैर्दशमूलकपायकैः ।

क्षीरमासरसोपेत घृत शोषहरं परम् ॥ (च चि ८)

३ पारावतकपिच्छागकुरङ्गाणां पृथक् पृथक् ।

मासचूर्णमजाक्षीरैः पीतं क्षयहरं परम् ॥ (भे २)

७ नागवला मूल चूर्ण प्रत्यह १ तोले तक घी और मधु के साथ मिलाकर सेवन । ८. काकजंघा मूल के चूर्ण का बकरी के दूध के साथ सेवन । आचार्य सुश्रुत ने चार औषधियों का प्रयोग शोषहर बतलाया है । ९. रसोन (लहसुन) १० नागवला ११ पिप्पली १२ शिलाजीत इनका प्रयोग पृथक् पृथक् दूध के अनुपान से करने को बतलाया है ।^१

भेषज योग—१ दशमूलादि कषाय—दशमूल (बिल्व-अरणी-सोना-पाठा-पाढल-गम्भारी-शालपर्णी-पृश्निपर्णी-कटकारी-बड़ी कटेरी-गोखरु)-बला-रास्ना, पुष्करमूल, देवदारु और शुण्ठी का समभाग में लिया कषाय पार्श्व-कंध और शिर के शूल को तथा कास में लाभप्रद ।

काथयोग—२. अश्वगन्धादि कषाय—अश्वगन्ध-अमृता-शतावरी-नागवला-पुष्करमूल-अडूसा अतीस तथा दशमूल का सम प्रमाण में लेकर बनाये कषाय का सेवन । ३ त्रयोदशाङ्ग कषाय धनिया-पिप्पली-शुण्ठी तथा दशमूल का कषाय पार्श्वशूल, ज्वर, श्वास और पीनसादि को नष्ट करता है । (च० द०)

चूर्ण योग

लवङ्गादि चूर्ण—लवङ्ग-शीतल चीनी-खस-श्वेत चन्दन-नील कमल-श्वेत जीरा-इलायची-पिप्पली-अगुरु-भृंगराज-नागकेसर-शुण्ठी-कालीमिर्च-जटामासी-नागर मोथा-अनन्त मूल-जायफल-वश लोचन प्रत्येक का एक एक तोला, मिश्री ८ तोले । महीन चूर्ण करके शीशी में रखले । यह चूर्ण अग्निवर्धक, रोचक, वृष्य और त्रिदोषघ्न होता है । मात्रा ३ माशे । अनुपान बकरी के दूध से ।

कर्पूराद्य चूर्ण—शुद्ध कपूर, दाल चीनी, शीतल चीनी, जायफल, जावित्री प्रत्येक एक तोला, लवङ्ग चूर्ण २ तोले, जटामासी चूर्ण ३ तोले, कालीमिर्च का चूर्ण ४ तोले, छोटी पिप्पली ५ तोले और सोठ का चूर्ण ५ तोले । इन सब का महीन चूर्ण बनाकर सब के बराबर अर्थात् २५ तोले मिश्री मिलाकर चूर्ण को शीशी में भर कर रख ले । यह चूर्ण हृद्य है, हस्त-पादादि दाह, कास, स्वरविषाद, जीर्ण प्रतिश्याय, श्वास-कास और क्षय में लाभप्रद है । मात्रा ३ माशे । अनुपान अन्न-पान के साथ मिला कर सेवन ।

१. रसोनयोग.विधिवत् क्षयार्त्त क्षीरेण वा नागवलाप्रयोगम् ।

सेवेत वा मागधिका विधान तथोपयोगं जतुनोऽश्मजस्य ॥

सितोपलादि चूर्ण—मिश्री (सिता) १६ भाग, वज्र लोचन (तुगाक्षीरी) ८ भाग, पिप्पली ४ भाग, इलायची २ भाग तथा दाल चीनी १ भाग । सबका मिश्रित चूर्ण । इस योग के नाम से ही नुस्खा याद हो जाता है, सि से सिता-मिश्री, तो मे तुगाक्षीरी या वज्रलोचन, प से पिप्पली, ला से लाची, दि से दाल चीनी । क्रमशः नीचे से ऊपर वाली औषधियों को द्विगुणित करता चले तो नुस्खा तैयार हो जाता है । मात्रा १—३ मासे । अनुपान मधु । काम, श्वास, दीर्घत्व तथा क्षय में लाभप्रद । इस चूर्ण को थोड़ा मुख में रखकर चूसने के लिए भी दिया जा सकता है ।

तालीशाद्य चूर्ण या मोदक—तालीशपत्र १ भाग, काली मिर्च २ भाग, सोठ ३ भाग, पिप्पली ४ भाग, वज्रलोचन ५ भाग, दालचीनी $\frac{1}{2}$ भाग, छोटी इलायची $\frac{1}{2}$ भाग, मिश्री ३२ भाग पृथक्-पृथक् कूटकर महीन चूर्ण । श्वास-काम-अरुचि-अग्निमाद्य और क्षयरोग में लाभप्रद । मात्रा १ मासे से ६ मासे । अनुपान मधु ।

इस चूर्ण में काकडासीगी-अर्जुन-असगव-नागवला-पुष्करमूल-हरीतकी-गुडूची का मिश्रण कर दिया जाय तो क्षय रोग में विशेष लाभप्रद होता है । इस योग को शृङ्ग-यजुनादि चूर्ण कहा जाता है ।

चौसठ प्रहरी-पिप्पली—पिप्पली को कूट कर चौसठ पहर अर्थात् १६२ घंटे तक खरल करे । मात्रा १ मासा । अनुपान शृत-मधु ।

वासावलेह बृहत्—वासावलेह नाम से कई योग पाये जाते हैं—यहाँ एक बृहत् वासावलेह का योग दिया जा रहा है । वामा पंचाङ्ग ५ सेर लेकर एक मिट्टी के भाण्ड में २ द्रोण (२५ $\frac{1}{2}$ सेर ८ तोले) जल लेकर अग्नि पर चढ़ा दे । चतुर्थी जल गेप रहने पर काढ़े को उतार ले । फिर उसमें ५ सेर चीनी छोड़कर पुनः अग्नि पर चढ़ा कर पाक करे । लेह की तरह उस चाशनी के होने पर उसमें निम्न लिखित औषधि का महीन चूर्ण ढालकर कलछी से चलाते हुए अवलेह (चटनी) को बनावे—सोठ-मरिच-पीपल (छोटी)—दालचीनी-छोटी इलायची—नागकेसर-कायफल-मोथा-मीठाकूठ-कवीला-श्वेतजीरा-कालाजीरा—त्रिवृत् मूल-पिपरा मूल-चव्य-कुटकी-हरड़-तालीशपत्र और धनिया प्रत्येक २-२ तोला । फिर ठंडा होने पर उसमें मधु ३२ तोले मिलाकर रखले । यह अवलेह कास-श्वास-स्वरावसाद-उर. क्षत-हृद्रोग-राज्यक्षमा में लाभप्रद है । मात्रा १ से २ तोले । अनुपान उष्ण जल ।

च्यवन प्राश—इशमूल की औषधियाँ प्रत्येक चार तोला, छोटी पिप्पली, बला, मुद्गपर्णी, मापपर्णी, काकडासीगी, भुइआँवला, द्राक्षा, जीवन्ती, पुष्करमूल, अगर, हरड गुडूची, कचूर, मोथा, पुनर्नवा, पचाङ्ग, छोटी इलायची, नीलकमल, लाल चदन, श्वेत चदन, विदारी कद, अडूसे की जड़, काकनासा तथा अष्टवर्ग (ऋद्धि-वृद्धि-जीवक-ऋपभक-काकोली क्षीर काकोली-मेदा-महामेदा कद) अष्टवर्ग के अभाव में शतावरी, विदारी, अश्वगंध तथा वाराहीकद में से प्रत्येक ४ तोला लेकर जो कुट करे। एक बड़े कलईदार वर्तन में डालकर उसमें १२ सेर १२ छटाँक ४ तोले जल और ५०० पके ताजा आँवले (६। सेर) को जल से धोकर कपड़े में बाँधकर पोटली बनाकर डाले। फिर अग्नि पर चढ़ाकर पाक करे। जब चौथा हिस्सा जल शेष रहे तब वर्तन को नीचे उतार ठंडा करे और आँवले को पृथक् करे और क्वाथ को कपड़े से छान कर वर्तन में रख ले। आँवले की गुठली को अलग करके उसको एक अच्छे कलईदार वर्तन के मुँह पर पाट (सन) का कपड़ा बाँधकर उस पर थोड़े-थोड़े आँवले रखकर हाथ से दबाकर मसल कर छान ले। पीछे उसमें २८ तोले घी (गाय का) डालकर मदी आँच पर भूने और लकड़ी के हथ्ये से हिलाता रहे। जब आँवलो से घी अलग होने लगे और गाढ़ा हो जाय तो उतार कर रख दे। फिर उसमें शेष रखा हुआ क्वाथ और उसमें ७ से १३ छटाँक देशी खाँड या चीनी डालकर पकावे। अवलेह जैसी गाढ़ी हो जाय उतार कर ठंडा करे। फिर उसमें २४ तोला शहद, छोटी पीपल ८ तोला, वशलोचन १६ तोला, दालचीनी ४ तोला, छोटी इलायची ४ तोला, तेजपात ४ तोला, नागकेशर ४ तोला इनका कपड़छन चूर्ण मिलाकर चीनी मिट्टी के वर्तन में भर कर रख दे। मात्रा व्यक्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकती है—जिस मात्रा के खाने से उस व्यक्ति के भूख में कमी न हो वही उसकी मात्रा है। सामान्यतया २ तोला दूध से।

गुण—यह एक-पौष्टिक रसायन है। इसके सेवन से खाँसी, पुराना श्वासरोग, राज्यक्ष्मा, हृद्रोग, स्वरभंग, स्मरण शक्ति की कमी आदि दूर होती है।

द्राक्षारिष्ट—मुनक्का २१ सेर, जल २५१ सेर २८ तोले में क्वथित करके चतुर्थांश शेष करे फिर इस क्वाथ में ठंडा हो जाने पर गुड पुराना १० सेर लेकर हाथों से फोड़कर मिलावे। फिर उसमें दाल चीनी-छोटी इलायची-तेजपत्र-नाग-केशर-प्रियङ्गु-कालीमिर्च-छोटी पीपल और वायविडङ्ग प्रत्येक का ४ तोले प्रक्षेप छोड़कर घृतलिप्त पात्र में रखकर संधान करे। इसमें धाय का फूल ३२ तोले भी मिला लेना चाहिये। १ मास के अनन्तर संधान को खोलकर छानकर

बोतलो में भरकर रख लेना चाहिये। मात्रा २½ तोले समान जल मिलाकर भोजन के उपरान्त।

इस अरिष्ट के सेवन से मल का बोधन होता है, रोगी का बल बढ़ता है, अग्नि जागृत होती है। क्षय, कास, उर क्षत में लाभप्रद होता है।

✓ यक्षमारि लौह—मधु १ तोला, स्वर्ण माक्षिक भस्म १ रत्ती, विडङ्ग चूर्ण १ माशा, शुद्ध गिलाजीत १ माशा, लौह भस्म १ रत्ती, हरीतकी चूर्ण १ माशा और गोघृत ½ तोला। इस योग का सेवन उग्र यक्ष्मा में भी लाभप्रद होता है। रोगी को दूध पर्याप्त मात्रा में देना चाहिये और पथ्यकर आहार-विहार से रहना चाहिये। इसी योग का दूसरा नाम ताप्यादि योग है।

शिलाजत्वादि लौह—शुद्ध शिलाजीत, मधुर्याष्ट चूर्ण (या सत्त्व), शुठी, मरिच, छोटी पीपल तथा सुवर्ण माक्षिक भस्म प्रत्येक एक-एक तोला। इन सबके बराबर अर्थात् ६ तोला लौह भस्म मिलाकर महीन पीसकर शीशी में भर लेवे। मात्रा २-४ रत्ती। सहपान धी और मधु। अनुपान दूध।

शृंगाराभ्र—अभ्रक भस्म ८ तोले, कर्पूर ४ माशे, जावित्री-नेत्रवाला-गज-पीपल-तेजपत्र-लवङ्ग-जटामासी-तालीशपत्र-दालचीनी-नागकेसर-कूठ-वाय के फूल प्रत्येक चार-चार माशे, हरड़-बहेरा-आंवला-शुण्ठी-मरिच-पिप्पली प्रत्येक दो-दो माशे, छोटी इलायची ८ माशे, जायफल चूर्ण ८ माशे, शुद्ध गंधक ८ माशे और शुद्ध पारद ४ माशे। प्रथम पारद और गंधक की कज्जली बनाकर उसमें शेष चूर्णों को मिलाकर-जल के साथ खरल करके चार-चार रत्ती की गोलियाँ बना लेनी चाहिये। मात्रा १ से २ गोली अदरक और पान के रस और मधु से। यह योग श्वास-कास तथा यक्ष्मा में लाभप्रद है।

सुवर्ण भस्म के योग से बृहत् शृंगाराभ्रनामक योग बनता है।

कुमुदेश्वर रस—स्वर्णभस्म-रससिन्दूर-गंधक-मोती भस्म-रजत भस्म-स्वर्ण-माक्षिक भस्म-शुद्ध पारद-शुद्ध टकण मिलाकर कांजी में पीसकर गोला बनावे। उसपर कपडमिट्टी करके लवण यत्र में पाक करे। चूर्ण करके २ रत्ती की मात्रा में धी और मरिच के चूर्ण के साथ चाटे।

वृहत् काञ्चनाभ्र रस—स्वर्ण भस्म, रस सिन्दूर, मुक्ताभस्म, लौह भस्म, अभ्र भस्म, विट्ठम (प्रवाल भस्म), वैक्रान्त भस्म, रजत भस्म, ताम्र भस्म, वंगभस्म, वस्तूरी, लवङ्ग, जावित्री, ऐलवालुक प्रत्येक एक-एक तोला लेकर भली प्रकार से महीन पीस ले। फिर घृत कुमारी के मज्जा, भृंगराज स्वरस और बकरी के दूध से पृथक्-पृथक् तीन भावना देकर २ रत्ती की गोलियाँ बनाले। यह एक

उत्तम लाभप्रद योग है। क्षयज कण्ठमाला में तथा मधुमेह के साथ पाये जाने वाले क्षय रोग में विशेष लाभप्रद होता है।

महामृगाङ्क रस—मृगाङ्क रस राज-यक्ष्मा में एक स्वनामख्यात योग है। इसके चार पाठ मिलते हैं—१. स्वल्पमृगाङ्क २ मृगाङ्क ३ राजमृगाङ्क (सताम्र भस्म) तथा ४ महामृगाङ्क रस इस में राजमृगाङ्क नामक योग का पाठ यहाँ दिया जा रहा है :—

पारद की भस्म अथवा रस सिंदूर ३ भाग, स्वर्णभस्म-ताम्रभस्म एक-एक तोला, शुद्ध मन शिला, शुद्ध हरताल शुद्ध गंधक प्रत्येक २ तोले। प्रथम पारद गंधक की कज्जली बनाकर शेष द्रव्यों को मिलाकर महीन चूर्ण बनावे फिर बड़ी-बड़ी कौड़ियों में थोड़ा-थोड़ा भर कौड़ियों के मुख को शुद्ध टकण और बकरी के दूध एक में पिसे हुए से बंदकर के सुखाले। फिर शराब-सम्पुट में बंद कर गजपुट में पुट देवे। पुट के अनन्तर शीतल हो जाने पर मय कौड़ियों के पीम कर महीन चूर्ण बनाकर शीशी में भर ले। इस राजमृगाङ्क का सेवन १ से ४ रत्ती की मात्रा में। १० पीपल और २१ काली मिर्च के चूर्ण, घी $\frac{1}{2}$ तो, मधु १ तोले के साथ सेवन करना चाहिये। यह सभी प्रकार के क्षयरोग में अमोघ औषधि है।

महामृगाङ्क रस में सुवर्ण भस्म १ भाग, रस सिंदूर २ भाग, मुक्ता भस्म तीन भाग, शुद्ध गंधक ४ भाग, स्वर्णमाक्षिक भस्म ५ भाग, रजत भस्म ६ भाग, प्रवाल भस्म ७ भाग, शुद्ध टकण २ भाग, हीरे का भस्म सम्पूर्ण का $\frac{1}{4}$ भाग (हीरा भस्म के अभाव में वैक्रान्त भस्म छोड़ने का विधान है) के योग से बनाया जाता है।

चतुर्मुख रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, लौह भस्म, अभ्र भस्म प्रत्येक का एक भाग और सुवर्ण भस्म $\frac{1}{2}$ भाग। प्रथम पारद और गंधक की कज्जली करके उसमें अन्य भस्म मिलावे। पीछे उसमें ग्वार पाठा (कुमारी), ताजा गिलोय, त्रिफला, नागर मोथा, ब्राह्मी, जटामासी, लौंग, पुनर्नवा और चित्रक मूल के यथालभ्य स्वरस या ववाथ में एक-एक दिन तक मर्दन करके एक गोला बनाकर धूपमें सुखावे। जब गोला सूख जाय तो उस पर एरण्ड की हरी पत्ती लपेट कर सूत से बाँधले। फिर उसको धान्य की कोठरी में धुसेड कर तीन दिनों तक रहने दे। तीन दिन के बाद उसको निकाल कर एरण्डपत्र को हटाकर पुन कई दिनों तक लगातार घोट कर शीशी में भर कर रखले। मात्रा १-२ रत्ती अनुपान—त्रिफला चूर्ण १ माशा और मधु १ तोला में मिलाकर सुबह शाम सेवन के लिये दे।

यह योग बहुत से रोगों में लाभप्रद होता है । राज यक्ष्मा-पाण्डुरोग-वात-रोग-अपस्मार और उन्माद में विशेष हितकारी पाया गया है ।

मुक्ता पंचामृत—मुक्ता भस्म ८ भाग, मूंगा भस्म ४ भाग, हिरन खुरो-वंग भस्म २ भाग, शङ्ख भस्म १ भाग, शुक्ति (सोप) भस्म १ भाग । सबको एकत्र करके घोट कर ईख के रस में भावना देकर गोला बनावे फिर उसको गराव सम्पुट में बंद करके लघु पुट दे । इसी प्रकार गोदुग्ध, विदारो कद, घृत कुमारी, गतावरी, तुलसी या निगुण्डी, हंसपदी या लाल लज्जालु के स्वरस या वनाय में पृथक् पृथक् भावना देकर लघुपुट दे । मात्रा ४ रत्ती । सहपान पिप्पली चूर्ण १ माशा के साथ । अनुपान बहुत दिनों की व्याई गाय का दूध । यह योग जीर्ण ज्वर और यक्ष्मा में लाभप्रद पाया जाता है । इस योग से खटिक (Calcium) की कमी पूरी होकर खटिकामरण (Calcification) में सहायता मिलती है ।

अमृतप्राश घृत—द्रव्य एवं निर्माणविधि—जीवक, ऋषभक, विदारीकंद, मोठ, कचूर, सरिवन, पिठवन, मुद्गपर्णी, मापपर्णी, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षोर काकोली, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, श्वेत पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा (गर्दहपुर्न), मलैठां, केवाछ, गतावरी, ऋद्धि, फालसा, भारगी मूल, मुनक्का, छोटी गोखरू, छोटी पीपल, सिंघाड़ा, भुईं आंवला, हूबिया, बला, गुलशकरी, उन्नाव, अखरोट, पिण्ड खजूर, बादाम, पिस्ता, चिलगोजा, खुरमानी, चिरौजी प्रत्येक एक एक तोला लेकर कपडछान चूर्ण करके फिर जल से पास कर कल्क बनावे । उसमें ताजे आंवले का रस ६४ तोला, ताजा गतावर का रस ६४ तोला, विदारीकद स्वरस ६४ तोला, बकरे का मांस ६४ तोला, बकरी का दूध ६४ तोला, गाय का घी १२८ तोला । घृतपाक की विधि से घृत तैयार करे । घृत के सिद्ध हो जाने पर उसको छान कर उसमें ३२ तोले राहद, मिश्री ६४ तोले, तेजपात-छोटी इलायची-नाग केसर-दालचीनी और काली मिर्च इनका चूर्ण दो-दो तोला, वंशलोचन चूर्ण १६ तोले मिला कर रख ले । मात्रा ३ से १ तोला । अनुपान दूध । यह एक उत्तम पोष्टिक रसायन है । राजयक्ष्मा और बालको के सूखा राग (बाल शोथ) में विशेष हितकारी है । जो रोगी मांस वाली दवा का सेवन न करता हो उसको बजामास के स्थान पर उडद का वनाय डाल कर घृत को पकाना चाहिये ।

महाचंदनादि तैल—स्वल्प चंदनादि, चंदनादि तथा महा चंदनादि तैल नाम से तीन योग भैषज्यरत्नावली में पठित हैं । यहाँ पर महाचंदनादि तैल का योग दिया जा रहा है ।

चदन, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी तथा बड़ी कटेरी, गोखरू, मुद्गपर्णी, विदारी कद, असगध, मापपर्णी, आँवला, शिरोप की छाल, पद्माख, खस, सरल काष्ठ, नाग केसर, प्रसारणी की जड़ अथवा पचाङ्ग, मूर्वामूल, प्रियङ्गु नील कमल, सुगध वाला, बला और अतिबला की जड़, कमल कंद, कमल की डडी प्रत्येक ८ तोले श्वेत पुष्प वाली बला का पंचाग २॥ सेर लेकर २५॥ सेर ८ तोले जल में छोड़ कर बड़े भाण्ड में रखकर अग्नि पर चढ़ावे और चतुर्थांश शेष व्वाथ बनावे । फिर उसमें बकरी बद्धू, शतावर का स्वरस, लाक्षा का रस, काजी और दही का पानी प्रत्येक ३ सेर १६ तोले, हरिण-बकरी-खरगोश के मांस का चतुर्गुण जल में पकाया काढ़ा १० सेर डाले । अब मूछिन तिल तैल ३ सेर १६ तोले लेकर उसमें इस काढ़े को डाल कर तथा निम्नलिखित द्रव्यों का कल्क छोड़ कर मद आँच पर पका कर तैल को सिद्ध करे । कल्क द्रव्य—श्वेत चदन, अगुरु, शीतल चीनी, व्याघ्रनखी, शिलारस, नागकेसर, तेजपत्र, दालचीनी, कमलमूल, हल्दी, दारु हल्दी, श्वेत अनन्तमूल, काला अनन्तमूल, लाल कमल, तगर, मोठा कूठ, त्रिफला, फालसे की छाल, मूर्वा, गठिवन, नालुका, देवदारु, सरल काष्ठ, पद्म-काष्ठ, धायके फूल, कच्चे बिल्वफल की मज्जा, रसाजन, मोथा, नेत्रवाला, वच, मजीठ, लोध, सौंफ, जीवनोय गणकी औषधियाँ, प्रियंगु, शटी, एला, कुकुम (केशर), खट्टाशी, कमल केसर, रास्ना, जावित्री, सोठ और धनिया प्रत्येक २ तोले । तैल के सिद्ध हो जाने पर नीचे उतार कर छान कर उसमें सुगंधित द्रव्य, कस्तूरी, कपूर और केशर मिलाकर रख लेना चाहिये । इस तैल का अभ्यग, जीर्ण ज्वर, राजयक्ष्मा, रक्तपित्त, उर क्षत तथा धातुक्षीण रोगियों में पुष्टिकर होता है ।

चदनबलालाक्षादि तैल—चदन, नागबलामूल, लाख और लामज्जक प्रत्येक एक सेर, जल १६ सेर को अग्नि पर चढ़ाकर चतुर्थांश शेष व्वाथ बनाले । इस व्वाथ में निम्नलिखित कल्क और ४ सेर दूध और २ सेर तिल तैल सिद्ध करले । कल्क द्रव्य—सफेद चदन, खस, मुलैठी, सोया, कुटकी, देवदारु, हल्दी, कूठ, मजीठ, अगर, नेत्रवाला, असगध, खिरेटी, दारु हल्दी, मूर्वा, मोथा, मूली, इलायची, दाल चीनी, नागकेसर, रास्ना, लाख, अजमोद, चम्पक, शिलारस, सारिवा, बिडलवण और सेधा नमक प्रत्येक समान भाग में कुल मिलाकर आधा सेर ।

इस तैल के अभ्यग से जीर्ण ज्वर, रक्तपित्त, यक्ष्मा, दौर्बल्य, श्वास, कासादि रोग दूर होते हैं । सभी धातुओं की वृद्धि होती है ।

वादाम का तैल (रोगन वादाम)—श्वास, कास तथा राजयक्ष्मा में वादाम का प्रयोग बड़ा उत्तम माना गया है । इसके सेवन के दो प्रकार हैं—

० १ हलुवा बनाकर—वादाम ११ दाने, डलायचो ११ दाने, मरीच ७ दाने । पोसकर घी २ तोले में भूनकर मिश्री २ तोले मिलाकर दूध से सेवन करना । यह योग पुरानो खाँसी, जुकाम, श्वास रोग में बड़ा लाभप्रद मिला है । आवश्यकतानुसार एक या दो बार दिन में लिया जा सकता है ।

० २ तेल रूप में सेवन—बढिया रोगन वादाम का चाय वाली चम्मच से १-२ चम्मच गर्म दूध में मिला कर पीना । निरामिष आहार वालो में जिनको माम से पचहेज है, इस तैल का प्रयोग पर्याप्त ग्रहण करता है । काडलिवर आयल के प्रतिनिधि रूप में व्यवहृत हो सकता है ।



तेरहवाँ अध्याय

कास रोग-प्रतिपेध

प्रावेशिक—कास रोग के पाँच भेद बतलाये हैं । जैसे वातज, पित्तज, श्लेष्मज, क्षतज और क्षयज । उनमें प्रारम्भिक तीन प्रकार के सुखसाध्य और शेष दो कृच्छ्र साध्य होते हैं । अथवा यदि रोगी बहुत क्षीण हो तो असाध्य हो जाते हैं । जराकास वृद्धावस्था में होने वाला एक प्रकार का दीर्घकालीन कास भी याप्य ही होता है । १ मम्यक् उपचार न होने पर सभी का अन्तिम परिणाम क्षयज कास या क्षय रोग होता है ।

व्यावहारिक दृष्टि से विचार किया जाय तो कास के दो-सूखी खाँसी या गीली खाँसी भेद से अथवा तीन प्रकार प्रधानतया मिलते हैं । १ शुष्क कास या वातिक काम (सूखी खाँसी) तथा २ श्लैष्मिक काम (गीली खाँसी) तथा ३ पित्तिक कास (खूनी खाँसी) । खूनी खाँसी के वर्ग में ही क्षतज कास का समावेश हो जायगा जिममें रोगी को खाँसी के साथ रक्त आता है । रोग की अवधि की दृष्टि से भी काम का विचार करना समीचीन रहता है । तीव्र या नवीन कास (Acute Bronchitis), चिरकालीन या दीर्घकालीन कास । नवीन कास के वर्ग में

१ वातादिजास्त्रयो ये च क्षतज क्षयजस्तथा । पञ्चते स्युर्नृणा कासा वर्धमानाः क्षयप्रदाः ॥ साध्यो बलवता वा स्याद्याप्यस्त्वेव क्षतोत्थित । नवो कदाचित् सिद्धयेतामेता पादगुणान्वितौ ॥ स्थविराणा जराकासः सर्वो याप्यः प्रकीर्तित । श्रीन्साध्यान्साधयेत्पूर्वान् पथ्यैर्याप्याञ्च यापयेत् ॥ (च० चि० १८)

वातिक, श्लैष्मिक तथा क्षतजो का समावेश हो जाता है और दीर्घकालीन कासो में क्षयज कास (Tubercular Bronchitis) जिसके परिणाम स्वरूप क्षय रोग पैदा होता है अथवा जराकास (Bronchiectasis) वृद्धावस्थागत फुफुस तन्तुवो के स्थितिस्थापकत्व (elasticity) की कमी और फुफुस सौत्र (Lung Fibrosis) के कारण उत्पन्न कासो का समावेश समझना चाहिए।

इनमें रुक्ष कास या वातिक कास (Cough without expectoration) श्वसनेतर फुफुसेतर अंगो के विकार में (Extrarespiratory origin) तथा शेष सभी प्रकार के कास फुफुस एव श्वसन-संस्थान जात (Respiratory origin) के पाये जाते हैं। श्वसनेतर कहने का तात्पर्य उन अंगो से है जिनका श्वसन क्रिया से साक्षात् सम्पर्क नहीं है। जैसे विवध आदि पचन संस्थान के विकारो में, गले के विकार जैसे गल शोथ (Pharyngitis), तुण्डिकेरी (Tonsillitis), कण्ठशालूक (Adenoids), फुफुनावृत्ति शोथ आदि में शुष्क कास पाया जाता है। शेष अन्य प्रकार के कासो में अर्थात् कफयुक्त (वलगमदार) कास में साक्षात् श्वसन संस्थान ही विकार के स्थल होते हैं। अस्तु चिकित्सा में भेद करना पड़ता है। कास का प्रारम्भ वास्तव में शुष्क कास या वात कास से ही होता है आगे चल कर वह श्लैष्मिक का रूप धारण करता है। वातिक कास का रोग ही अधिकतर मिलता है पित्तिक या श्लैष्मिककास अपेक्षाकृत कम मिलते हैं। वातिक के परिणाम स्वरूप श्वास तथा हिक्कारोग और श्लेष्मकास का परिणाम स्वरूप फुफुस क्षय होता है।

कास रोग में क्रियाक्रम और कुछ योगो का उल्लेख दोषभेद से पृथक् पृथक् करके यथाशास्त्र आगे दिया जा रहा है।

क्रियाक्रम—वातिक कास में, रोगी रुक्ष रहता है अस्तु उसको सर्वप्रथम वातघ्न औषधियो से सिद्ध स्नेह से (स्निग्ध) चिकित्सा करनी चाहिए। स्निग्ध पेया, यूप (दाल), मासरस खिलावे। वातघ्न लेह, धूम, अभ्यग, स्वेद, सेक, अवगाहन कर्म से चिकित्सा करे। यदि रोगी को विवध हो तो वस्ति देकर उसकी कोष्ठ शुद्धि करे।

पित्तानुबध में भोजन के बाद घृत या दूध पिलाना (ऊर्ध्व या औत्तरभक्तिक घृत या क्षीर) उत्तम होता है। श्लेष्मानुबध में एरण्ड तैल जैसे स्निग्ध विरेचन के द्वारा उपचार करे।^१

१ केवलानिलजं कास स्नेहैरादावुपाचरेत् । वातघ्नसिद्धे स्निग्धैश्च पेयायूप-रसादिभिः ॥ लेहैर्धूमैस्तथाऽभ्यग्नस्वेदसेकावगाहनैः । वस्तिभिर्बद्धविड्वात सपित्त तूर्ध्वभक्तिकैः ॥ घृतैः क्षीरैश्च सकफं जयेत्स्नेहविरेचनैः । (वा० चि० ३)

पथ्य—ग्राम्य, आनूप और ओदक (जल के) मासो के रस्से या उडद अथवा केवाछ का यूप बनाकर उसके साथ शालि (चावल) अथवा पट्टिक (साठी के चावलो) का भात रोगी को खिलाना चाहिए । वातिक कास के उप-द्रव रूप में होने वाले श्वास-कास एवं हिचकी रोग में दशमूल कषाय में पकाई यवागू भी हितकर होती है । यह यवागू अग्नि को दीप्त करने वाली, धातुओं को बढ़ाने वाली और वायु रोगों को शांत करने वाली होती है । घृत में भुना हुआ कर्कोटक (केकड़ा जीव या खेखसा शाक) का सोठ मिलाकर अथवा शृंगीमत्स्य को घी में भूनकर सोठ के चूर्ण के साथ मिला कर खिलाना भी वातकास में पथ्य होता है । वातज कास में बथुवा, मकोय, मूली, चौपतिया, घृत, तैल आदि स्नेह, दूध, ईख के रस और गुड से निर्मित भोजन, दही, काजी, खट्टेफल, प्रसन्ना, पानक (शर्वत), खट्टे और नमकीन पदार्थों का सेवन करना पथ्य होता है ।

भेषज योग—अपराजित लेह-कचूर-कर्कट शृंगी, पिप्पली, भारंगी, गुड, नागर मोथा, यवासा सम भाग में लेकर बनाया चूर्ण तैल (कड़वे तैल) में मिला कर सेवन करने से वातिक कास में लाभ होता है । इस अपराजित लेह का प्रयोग सभी प्रकार की सूखी खांसियों में विशेषतः कुकास (whooping Cough) में अधिक लाभप्रद पाया जाता है । ^१ यह कभी न पराजित होने वाला लेह है इसका अपराजित लेह नाम सार्यक है ।

भाङ्ग-र्यादि लेह—भारङ्गी, मुनक्का, कचूर, कर्कट शृंगी, पिप्पली, शृण्ठी का सम भाग में बनाया महोन चूण का गुड-तैल के साथ सेवन लाभप्रद होता है । ^२

दशमूली घृत—दशमूल कषाय और भारंगी कल्क, मुर्गे और तीतर के मास से पकाया घृत भी वात कास में लाभप्रद होता है ।

कण्टकार्यवलेह—चित्रक, पिप्पलीमूल, त्रिकटु, मस्तक, यवामा, कचूर, पुष्करमूल, श्रेयसी, तुलसी, वच, भारङ्गी, गुडूची, रास्ना, काकडा सींगी के कल्क प्रत्येक एक कर्ष, कंटकारी का काढा (क्वाथ) दो तुला, खाड सवा सेर, घी एक कुडव छोटकर पाक के सिद्ध हो जाने पर ठंडा होने पर उसमें मधु, पिप्पली एक कुडव, वगलोचन १६ तोले मिलावे । इस अवलेह का प्रयोग वातिक कास-श्वास और हृद्रोग में करे ।

१ गटीशृङ्गीकणाभाङ्गी-गुडवारिदयासकै ।

सतैलवातकासघ्नो लेहोऽयमपराजितः ॥ (भै र)

२ भाङ्गीद्राक्षाशटीशृङ्गीपिप्पलीविश्वभेषजम् ।

गुडतैलयुतो लेहो हितो मास्तकामिनाम् ॥

पंचमूली कपाय—वृहत पचमूल का काढा पिप्पली चूर्ण का प्रक्षेप देकर पिलाने से वात कास में लाभ होता है ।^१

क्रियाक्रम

पित्तकास में—यदि कफ की अधिकता हो तो घी से वमन कराना हितकारी होता है । वमन कराने के लिये मदनफल, गाम्भारी का फल और मुलैठी का काढा पिलाकर अथवा इन औषधियों से सिद्ध घृत पिलाकर अथवा मदनफल और मुलैठी को पीसकर उसका कल्क बनाकर विदारीकद या गन्ने के रस में घोलकर उसे पिलाकर वमन कराना चाहिये ।^२

पैत्तिक कास में यदि कफ हो तो मधुर द्रव्यों से मिश्रित निशोथ का प्रयोग और यदि कफ गाढा हो तो तिक्त द्रव्यों के साथ संयुक्त करके निशोथ का प्रयोग विरेचन के लिये करे । दोषों के निकल जाने पर शीतल, मधुर और स्निग्ध पेया औषधि आदि का उपयोग कफ के पतले होने पर तथा कफ के गाढा होने पर रुच, तिक्त और शीतल क्रियाक्रम रखना चाहिये ।^३

पथ्य—कफ के गाढे होने पर पित्तज कास में जाङ्गल मासरसो के साथ या मूँग की दाल या मधुर द्रव्यों के साथ जौ, सावा, कोदो आदि के चावल का भात बनाकर तिक्त रस शाको का उपयोग मात्रा में करना चाहिये । यदि कफ पतला निकलता हो तो चावल या साठी के चावल का उपयोग मासरस के साथ करना चाहिये । पीने के लिये गन्ने का रस, अगूर का रस, मुनक्के का प्रयोग अथवा शर्बत या दूध का प्रयोग करना चाहिये ।^४

भेषज योग-लेह-द्राक्षामलकादि—मुनक्का, मुलैठी, आँवला, खजूर (या छुहाडा), पिप्पली, मरिच का कल्क बना कर घी और मधु के साथ सेवन ।

१ पंचमूलकृत क्वाथ पिप्पलीचूर्णसंयुत ।

रसै समश्नतो नित्यं वातकासमुदस्यति ॥ (च द)

२ पित्तकासे तनुकफे त्रिवृता मधुरैर्युताम् । युञ्ज्याद्विरेकाय युता घनश्लेष्मणि तिक्तकैः ।

३ हृतदोषे हिम स्वादु स्निग्धं ससर्जन भजेत् ।

घने कफे तु शिशिर रुक्षं तिक्तोपसहितम् ।

४ मधुरैर्जाङ्गलरसयवश्यामाककोद्रवा । मुद्गादियूषै शार्कैश्च तिक्तकै-
मात्रिया हिता ॥ घने श्लेष्मणि लेहाश्च तिक्तका मधुसंयुता । शालय स्यात्तनुकफे-
पट्टिकाश्च रसादिभि । शर्कराम्भोऽनुपानाथं द्राक्षैक्षुस्वरसा पय । (वा. चि. ३)

दूध पीते बछड़े के गोबर का रस मधु के साथ चाटना ।^१ काकोली, बड़ी कटेरी, मेदा, महामेदा, अडूना और सोठ से मासरस, दूध, पेया, यूप आदि को मन्कृत करके पित्तकाम में देना चाहिये ।

बलादि काथ—बलाकी जड़, छोटी कंटकारी, बड़ी कटेरी, अडूना और द्राक्षा (मूनका) इन सब को बराबर मात्रा में लेकर । २ तोले का ३२ तोले जल में खोलाकर ८ तोले शेष रहने पर चीनी और शहद मिलाकर सेवन करना ।

क्रियाक्रम-श्लेष्मजकास में—यदि रोगी बलवान् हो तो उसका तीक्ष्ण वमन-चिरंचन तथा गिरो विरेचन करके दोषो का संगोधन करना चाहिये । यदि रोगी निर्बल तो उसमें मृदु वमन तथा विरेचन कराके संगमन कराना चाहिये । श्लेष्मिक कास के प्रारम्भ में दो उपक्रम आवश्यक होते हैं—प्रथम वमन, द्वितीय लघन । तदनन्तर संगमन करते हुए उपचार करे ।^२

पथ्य—जौ या तत्सदृश रुक्ष अन्न, कटु और तिक्त रस वाले यूप और शाक की व्यवस्था करनी चाहिये । कटु, तिक्त-रुच और उष्णक्षार गुणवाले द्रव्यों का उपयोग कफघ्न होता है, अस्तु इन गुणों से युक्त द्रव्यों का आहार तथा औषधि के रूप में प्रयोग करना चाहिये । जैसे-पिप्पली, क्षार, कुलथी, मूली, लहसुन, तिल, सर्पप, मूँग की दाल, जाङ्गल मास, तक्र, मद्य, पटोल, नीम, कासमर्द, कंटकारी, मधु आदि ।

नवाङ्ग-यूप—मूँग और आँवला, यव और अनार, छोटी बेर और सूखी मूली, सोठ और पिप्पली से संस्कृत करके कुलथी या मूँग की दाल बनाकर देना कफज कास में बड़ा उत्तम रहता है ।^३

भेषज योग—१. मरिच का चूर्ण मधु से चाटना २. अगुरु का चूर्ण मधु में चाटना, ३. कटेरी का स्वरस ४. बड़ी कटेरी का स्वरस ५. भृङ्गराज का स्वरस इनमें से किसी एक का स्वरस मधु से चाटना, ६. कसीदी (कासमर्द) ७.

१. लेह्येन्मधुना गोर्वा क्षीरपस्य शकृद्रसम् । (च चि १८)

२. स्निग्ध विरेचयेद्दूर्ध्वमधो मूर्ध्नि च युक्तितः । तीक्ष्णविरेकैर्वलिनम् । (अ हृ)
कफजे वमनं कार्यं कासे लघनमेव च । गस्ता यवास्तत्प्रकृतियूपाञ्च कटुतिक्तका ।
(अ. हृ.)

३. मुद्गामलाभ्या यवदाडिमाभ्या कर्कन्धुना शुष्ककमूलकेन ।
शुष्ठीकणाभ्या सकुलत्थकेन यूपो नवाङ्गः कफकासहन्ता (यो २)

घोडे की लीद का रस अथवा ८. काली तुलसी का रस मधु से चाटना कफज कास में उत्तम रहता है । ९ वैगन या भंटे का स्वरस भी मधु के साथ कासघ्न होता है ।^१

१०. पिप्पली, पिप्पली मूल, सोठ और विभीतक के समभाग में बने चूर्ण का मधु में सेवन ।

११ मोर और मुर्गा की पखो को जलाकर ली गई कारिख, यवक्षार, इन्द्र-वारुणी मूल, पिप्पली मूल और निशोथ के चूर्ण का मधु से सेवन ।

१२. देवदारु, शटी (कचूर), अतीस, नागरमोथा, पुष्करमूल, कट्फल, हरीतकी, कर्कटशृङ्गी, अदरक, सोठ, हिंगु, सैन्धव, पंचकोल, दशमूल आदि औषधियाँ वात और कफ कास में लाभप्रद होती हैं ।

क्रियाक्रम-क्षतज कास में—पित्तकास में बतलाये उपक्रमों के अनुसार क्षतज कास में चिकित्सा करनी चाहिये । पित्तकास में शमन के लिये पित्त दोष के शामक, कासघ्न एवं मधुर द्रव्यों से जैसे क्षीर, घृत, इक्षु रस, शर्बत और मधु आदि का अनुपान देना चाहिए । जीवनीय गण की औषधियों से सिद्ध घृत का पिलाना । घृत का अभ्यग । कबूतर का मासरस । तृष्णाधिक्य में बकरी का दूध । रक्तछीवन अधिक हो रहा हो तो शीतल यवागू का सेवन ।^२

इक्ष्वादितेह—इक्षु, इक्षुवालिङ्का, पद्म, मृणाल, उत्पल, चन्दन, मुलेठी, पिप्पली, मुनक्का, कर्कटशृङ्गी, गतावरी, प्रत्येक का एक भाग । कुल से दूना वशलोचन और चतुर्गुण मिश्री । इस चूर्ण का घृत और मधु मिलाकर सेवन ।

क्रियाक्रम-क्षयज कास में—यदि रोगी दुर्बल हो और उसमें सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त रोग हो तो उसको छोड़ देना चाहिए, परन्तु बलवान् रोगी हो और रोग नवीन हो तो रोग की दुःसाध्यता के बारे में रोगी के अभिभावक को बतलाकर (प्रत्याख्यान करके) उसकी स्वीकृति लेकर उपचार प्रारम्भ करना चाहिये ।

क्षयज कास में सर्वप्रथम अग्नि का दीपन और रोगी के शरीर का वृहण (धातुओं की वृद्धि) का ध्यान रखना चाहिए । यदि रोगी में दोषों की अविकता

१ मधुना मरिच लिह्यान्मधुनैव च जोङ्गकम् । पृथग् रसाश्च मधुना व्याघ्री-भार्ताकुङ्गजान् । कासघ्नाश्चकृशश्वश ४. सुरसस्यासितस्य च । (वा चि ३)

२ क्षतकासाभिभूताना वृत्ति स्यात् पित्तकासिकी । क्षोरसर्पिमधुप्राया संसर्गे तु विशेषणम् ॥ वातपित्तादितेभ्यश्चो गात्रभेदैर्धृतैर्हितः । पानं जीवनीयस्य सर्पिष ॥

हो तो उसको म्लिग्ध और मृदु विरेचन देना चाहिए । अमलताश, त्रिवृत्, मुनक्का, तिल्वक कपाय या विदारी कंद के स्वरस से सिद्ध घृत से कमजोर रोगियों का शोधन करना चाहिए ।^१

भेषज—रोगी में अनुवासन वस्ति का प्रयोग घृतमण्ड या मिश्रक स्नेह में मधु मिलाकर । जाङ्गल मास, विल में रहने वाले पशु-पक्षियों का मास तथा माम खाने वाले पशु-पक्षियों के मास जो विषेप वृंहण होते हैं, क्षयज कास में खाने के लिए देना चाहिये । क्षयज कास में चटक-मास का प्रयोग भी लाभप्रद बतलाया है ।

पिप्पली गुड से सिद्ध अथवा छागीक्षीर से सिद्ध घृत क्षयज कास में पिलावे । अचूर्ण के चूर्ण को वासा के स्वरस में बहुत बार भावित करके वश-लोचन, घृत, मधु और मिश्री के साथ सेवन ।

मुस्तकादिलेह—मोथा, पिप्पली, द्राक्षा, पके बड़ी कटेरी का फल सम भाग में चूर्ण बनाकर घृत और मधु मिला कर सेवन ।

कास रोग का सर्व सामान्य प्रतिषेध—शास्त्रीय दोपानुसार चिकित्सा के अनन्तर व्यावहारिक चिकित्सा का उल्लेख किया जा रहा है । वास्तव में आधुनिक चिकित्सा में अधिकतर इन्ही क्रिया-क्रमों का अनुपालन करते हुए रोगी को रोगमुक्त किया जा सकता है ।

भेषज-शृंगवेरस्वरस—(अदरक का रस) १० से २० बूंद, मधु ६ माशे के साथ पिलाना । इसका उपयोग अधिकतर रस योगों के सेवन काल में अनुपान या सहपान के रूप में व्यवहृत होता है । सभी प्रकार के कास में लाभ-प्रद पाया जाता है । आर्द्रक के रस के साथ मधु की जगह पर पुराने गुड या चीनी की चाशनी का भी उपयोग हो सकता है । विभीतक (बहेरा)—बहेरेके फल को धो में चुपडकर उसके ऊपर गाय का गोबर लेपट कर आग में डाल कर पकाले । इस प्रकार स्वन्न विभीतक को ठंडाकर के उसका चूर्ण बनाले । मुख में रख कर चूसने में कास तथा श्वास रोग में अद्भुत लाभ दिखलाता है । औषधियों के अनुपान रूप में इस विभीतक के चूर्ण का प्रयोग किया जा सकता

१ सम्पूर्णरूप क्षयज दुर्वलस्य विवर्जयेत् । नवोत्थित बलवत् । प्रत्याख्याया-चरेत् क्रियाम् ॥ तस्मै वृंहणमेवादी कुर्यादग्नेश्च दीपनम् । बहुदोषाय सस्नेहं मृदु दद्याद् विरेचनम् ॥ शम्पाकेन त्रिवृतया मृद्वीकारसयुक्तया । तिल्वकस्य कपायेण विदारीम्वरसेन च ॥ मर्षिः सिद्धं पिवेद्युक्त्या क्षीणदेहो विशोधनम् ॥

(च चि. १८)

है। आमलकी—आंवले को आग में पकाकर उसका भर्त्ता बना लिया जावे तो सभी प्रकार के कास में लाभ प्रद होता है। हरिद्रा—की गाँठ आग में भूनकर उसकी गाँठ को मुख में धारण करने और चूमने से खाँसी में लाभ पहुँचता है। लवङ्ग—को आग के ऊपर तपा रख कर सेक कर मुख में धारण करने से कास में पर्याप्त लाभ होता है। वासक—अडूसे का पुटपाक से बनाया स्वरस मधु के साथ पिलाना अथवा वासा का कपाय बनाकर उसमें पिप्पली चूर्ण ४ रत्ती और मधु ६ माशे मिलाकर पिलाने से कास का वेग शान्त होता है। इमली—इमली की पत्ती का काढा हिंगु एवं सेधानमक मिलाकर पिलाने से दुष्ट कास रोग में भी लाभ होता है। कंटकारी—कटकारी पंचाङ्ग-स्वरस, कपाय या घृतभृष्ट फल श्रेष्ठ कासनाशक होता है। मधुयष्टि—मुलैठी का मुख में धारण या इसके अनुपान से रसौषधियोगो का प्रयोग कासघ्न होता है। बृहत् पंचमूल अथवा दशमूल का कपाय पिप्पली का चूर्ण मिलाकर सेवन करने से पाश्चैशूल, कास, श्वास तथा श्लेष्मज काग में लाभप्रद होता है। कालीमिर्च—का पुराने गुडके साथ सेवन। गुडूची—का स्वरस या कपाय का मधु के साथ पिलाने से कास में चमत्कारिक लाभ होता है।

वदरीपत्र—बेर की पत्ती को घृत में भूनकर नमक मिलाकर सेवन। त्रिफला और त्रिकटु के प्रत्येक द्रव्य सम मात्रा में लेकर २ माशे की मात्रा में मधु में चाटना।

कंटकार्यादिकपाय—छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, मुनक्का, अडूसा, सोठ, छोटी पीपल, कायफल, कचूर, कालीमिर्च, जेवायन और सुगंधवाला का कपाय मधु और मिश्री युक्त कास में सद्यः लाभ दिखलाता है। इसका उपयोग कास मिश्रण (Cough Mixtures) के प्रतिनिधि रूप में किया जा सकता है सभी प्रकार के कास में समान भाव से लाभप्रद होता है।

मरिच्यादि चूर्ण या गुटिका—काली मिर्च १ तोला, छोटी पिप्पली ३ तोला, दाडिम के फल का छिलका या अनारदाना ४ तोले, यवक्षार ३ तोला और गुड ८ तोला। महीन पीसकर चूर्ण बनाले अथवा गुटिका बना ले। यह मरिच्यादि चूर्ण या मरिच्यादि वटी एक सिद्ध योग है। सभी प्रकार की खाँसी में इसका प्रयोग लाभप्रद रहता है। मात्रा ३ माशे चूर्ण या १-२ माशे की गोलियाँ दिन में कई बार चूसने के लिए दे। सर्व औषधियों से असाध्य, वैद्य के द्वारा परित्यक्त कास रोग में, यदि पूय भी खाँसी के साथ निकलती हो तो भी इस योग के प्रयोग से लाभ होता है।

सम शर्करा चूर्ण—लवङ्ग, जायफल, छोटी पीपल प्रत्येक का चूर्ण एक एक तोला, मरिच २ तोला, सोठ १६ तोला सब चूर्णों के बराबर अर्थात् मिश्री का चूर्ण २१ तोला । इस चूर्ण का प्रयोग वायु और श्लेष्मा जन्य कास में तथा अग्नि-माद्य में बड़ा लाभप्रद होता है । मात्रा २ माशे । अनुपान जल ।

लवङ्गादिवटी—लवङ्ग, काली मिर्च, वहेरे के फल का छिलका प्रत्येक १ भाग लेकर कुल चूर्ण के बराबर कत्था लेकर अर्थात् ३ भाग । बबूल के रस में घोट कर गोलियाँ ४ रत्ती के परिमाण की बना ले । सभी प्रकार के कास में विशेषतः गीली खाँसी में चूसने के लिए प्रयोग करे । इससे गले का क्षोभ (Irritation) कम होता है । फलतः खाँसी में लाभ करता है ।^१

बृहत् लवङ्गादिवटी—लौंग ४ तोला, वहेडे के फल का छिलका ४ तोला, छोटी पीपल ४ तोला, काकडा सीगी २ तोला, अनार के फल का सूखा छिलका १ तोला, दालचीनी २ तोला, कत्था १० तोला, मुलैठी का सत २ तोला, मुनक्का ५ तोला, आक के फूल ५ तोला, आगपर फुलाया सुहागा १ तोला । पहले आक के फूल और मुनक्के का चीगुने जल में काढा बनावे जब चीथाई जल वाकी रहे तब कपडे से छान कर उसमें मुलैठी का सत और सुहागे का लावा मिलावे पीछे अन्य द्रव्यों का चूर्ण मिलाकर मटर के बराबर की गोलियाँ बनावे ।

उपयोग—जब खाँसी जोर को आती हो और कफ न निकलता हो तब इस गोलो को मुँह में रखकर चूमने में खाँसी का वेग कम होता है, कफ आसानी से निकलता है और गला साफ होता है । (आचार्य यादवजी के सिद्धयोग-संग्रह से)

सितोपलादि या तालीशादि चूर्ण—(क्षय रोग में उक्त) इसका १ माशे से ३ माशे की मात्रा में घी १ भाग शहद २ भाग के साथ दिन में कई बार देना सभी प्रकार के कास में लाभप्रद होता है ।

शर्वत जूफा—मुनक्का ३० तोले, उन्नाव २० तोले, सपिस्तान (लसोडे के पके और सूखे फल) २० तोले, मूखे अजीर २० तोले, सोसन के मूल (वेख कर्फम) १० तोले, जूफा १० तोले, हंसराज १० तोला, विहीदाना ५ तोला, अनो सून ५ तोला, सीफ ५ तोला, छिलका रहित जी ३ तोले । सबको जी कुट करके तीन गुने जल में रात को भिगी दे । सुबह मदी आँच पर पकावे । जब एक निहाई जल रह जावे तो ठंडा करके कपडे में छान ले । पीछे उसमें ६ सेर चीनी डाल कर पकावे जब चाशनी बन जावे तो उसे नीचे उतार कर ठंडा होने दे । फिर

१ तुल्या लवङ्गमरिचाक्षफवच. स्यु. सर्वेः समो निगदित खदिरस्य सार ।
बबूलवृक्षजकपाययुत च चूर्णं कामान्निहन्ति गुटिका घटिकाष्टकान्ते ॥ (वै० जी०)

कपडे से छान कर वोतलो मे भर ले । मात्रा १ से २ तोला बराबर पानी मिला कर तीन बार दिन मे । वातिक और पैत्तिक कास मे लाभप्रद । खाँसी से कफ निकलता हो तो इसके प्रयोग से कफ ढीला होकर आसानी से गिर जाता है ।

अगस्त्यहरीतकी—दशमूल की प्रत्येक औषधि ८ तोला, केवाछ के बीज, शखपुष्पी, कचूर, बलाकी जड़, गजपीपल, अपामार्ग मूल, पोपरामूल, चित्रक मूल, भारङ्गो मूल, पुष्कर मूल प्रत्येक ८ तोला । बस्त्र की पोटली मे बंधा जो ३ मेर १६ तोला, बड़ी हरड़ १००, जल ३२ सेर । सबको एक बड़े भाण्ड मे रख कर अग्नि पर चढ़ावे । जब जल कर चौथाई पानी शेष रहे तो भाण्ड को नीचे करके ठंडा करे । पानी को छान लेवे । अब हरड़ को पृथक् करके प्रत्येक हरड़ को पतली नोकदार शलाका (Fork) से—सूए से कई छेद कर ले । फिर कलईदार कड़ाही मे घृत ३२ तोले, तिल तैल ३२ तोले डाल कर भट्टी पर चढ़ाकर घृत और तेल के प्रतप्त हो जाने पर उसमे विधे हुए हरीतकी के फलों को भूने जब भुन ने पर हरीतकी का जलाश सूख जाये वह लाल हो जाय, उसमे सुगंध आने लगे तो कड़ाही को उतार कर हरड़ो को एक वर्तन मे पृथक् रख ले । अब कड़ाही मे उपर्युक्त क्वाथ जल में ५ सेर पुराना गुड डाल कर आग पर चढ़ावे । जब एक तार की चाशनी बनने लगे तो उसमे स्नेह मे भजित हरड़ को छोड़े जब पाक समीप आवे तो उसमें १६ तोले पिप्पली का चूर्ण डालकर आलोकित करके उतार लेवे । शीतल हो जाने पर उसमे ३२ तोले शहद मिलाकर किसी मृतवान मे भर कर सुरक्षित रख लेवे । मात्रा प्रतिदिन २ से ४ हरड़ का सेवन । दूध या जल से करे । यह अगस्त्य ऋषि के द्वारा प्रोक्त रसायन है । सर्वकास मे प्रशसित है ।

च्यवनप्राश तथा वासावलेह पूर्वोक्त क्षय रोगाधिकार का भी प्रयोग कास मे लाभप्रद है ।

✓ **विभीतकावलेह**—बकरी का मूत्र ५ सेर, विभीतक फल का चूर्ण ५ सेर । अग्नि पर चढ़ाकर सिद्ध करे । सिद्ध होने पर उतारे और ठंडा हो जाने पर मधु आधा सेर मिलाकर रख ले । कास और श्वास रोग मे यह एक श्रेष्ठ योग है । १

वासावलेह—का सेवन भी उत्तम रहता है ।

१ आजस्य मूत्रस्य शतं पलानां शतं पलानां च कलिद्रुमस्य ।

पक्वं समध्वाणु निहन्ति कासं श्वासं च तद्वत् सबलं बलासम् ॥

(वै० जी०)

करवीर योग—रक्त करवीर की जलाई काली राख ३ भाग, त्रिकटु चूर्ण (सोठ, मरिच, छोटी पीपल प्रत्येक एक भाग), मात्रा १ माग, अनुपान लगा पान के बीड़े से रख कर खाना । दिन में तीन चार बार । कासमें सद्यः लाभप्रद । (स्व० पुत्तपोत्तम जी उपाध्याय अध्यापक आयुर्वेद विद्यालय हि० वि० काशी का योग) । गले का क्षोभ कम होकर कास में लाभ पहुँचता है ।

एलादि वटी—छोटी इलायची, तेजपात, दालचीनी प्रत्येक आधा तोला, छोटी पीपल दो तोला, मिश्री ४ तोला, धोकर बीज निकाला मुनक्का ४ तोला, गुठली निकाला हुआ पिण्ड खजूर ४ तोला, प्रथम मुनक्का और पिण्ड खजूर को महीन पीसे । पीछे उसमें अन्य द्रव्यों का कपडछन चूर्ण मिलावे । यदि गोली बनाने में आवश्यक्ता पड़े तो उसमें गृहद मिलावे । इसमें मुलैठी का सत भी ४ तोले मिला लेना चाहिए ।

यह सूखी खाँसी, पैक्तिक कास या क्षतज कास में सिद्ध योग है । दिन में ८ से १२ गोली तक रोगी को चूसने के लिए देना चाहिए साथ में नित्य यष्ट्यादि चूर्ण ६ मागे एक मात्रा रात्रि में देना चाहिए । उत्तम कार्यकर होती है ।

द्राक्षारिष्ट (क्षय रोग में पठित)—भोजन के बाद नित्य पीने के लिये २॥ तोले की मात्रा में समान भाग जल मिलाकर देना भी कास रोग में उत्तम रहता है ।

वासकारिष्ट—अड़ूने के पत्तों का स्वरस अथवा पञ्चाङ्ग का व्राथ और मृत-सञ्जीवनी सुरा (Rectified Spirit) इन दोनों को बराबर लेकर वृत्त निग्ध मिट्टी के पात्र अथवा काच पात्र में भर कर उम पात्र के मुख को अच्छी तरह बन्द करके एक स्थान पर रख देवे । पञ्चात् उसको साफ छान कर शीशे में भर कर रख ले और प्रयोग करे । मात्रा १० से ३० बूद पानी मिलाकर ।

चंद्रामृत रस—सोठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, हरे का दल, बहेडादल, अण्डला, चव्य, बनिया, जीरा, मेधा नमक, शुद्ध पारद तथा गंधक, लौह भस्म, अन्नक भस्म प्रत्येक एक तोला तथा शुद्ध सोहागा ४ तोला । प्रथम पारद-गंधक की कज्जली बनाकर जेप वनस्पतियों के कपड़ छन चूर्ण और भस्मों को मिलावे । वरुन के दूध तथा अटूसे के रस की भावना देकर तीन तीन रत्ती की गोलियाँ बना ले । मात्रा १-२ गोली दिन में तीन बार । अनुपान बदरक के रस मधु से या पिप्पली चूर्ण और मधु से या कुलत्थी के काढ़े से या मिश्री के गर्वत से, गर्वत जूफा से सूखी खाँसी में, नून गिरने में नून खराबा का चूर्ण ५ रत्ती मिलाकर और लाल कमल या नीलीफर के काढ़े से पीने को दे ।

भागोत्तर गुटिका—शुद्ध पारद १ तोला, गन्धक २ तोला, पिप्पली चूर्ण ३ तोला, हरीतकी चूर्ण ४ तोला, बहेडे का चूर्ण ५ तोला, अडूसे के मूल या पत्ती का चूर्ण ६ भाग, भारङ्गी चूर्ण ७ भाग । इनका महीन चूर्ण । वज्रूल के रस या कपाय की भावना । मधु मिलाकर १ माशे की गोलियाँ । पिप्पली चूर्ण और मधु अथवा कंटकारी ववाथ या अदरक रस और मधु से सेवन करावे अथवा मधुयष्टी चूर्ण और मधु के साथ दे । कुकास मे यह योग विशेष लाभप्रद (Whooping Cough) पाया जाता है ।

श्रृ गाराभ्र, वृहत् श्रृ गाराभ्र इनका भी यथायोग्य अनुपान से प्रयोग कास मे लाभप्रद होता है ।

नागवल्लभ रस—रुस्तूरी, चोच, टकण प्रत्येक १ तोला, केशर, दरद, पिप्पली प्रत्येक २ तोला, अकरकरा, जातिपत्री, जातीफल (जावित्री एवं जायफल) प्रत्येक ४ तोले । महीन चूर्ण करके । पान के रस मे तीन दिनो तक मर्दन करे । मूंग के बराबर गोली बना ले । आर्द्रक के रस और मधु के अनुपान से अथवा पान में रखकर खाने का विधान है ।

वासाचन्दनादि तैल—श्वेत चन्दन, रेणुका, खट्टाशी, अश्वगन्धा, गन्ध प्रसारिणी, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र, पिपरामूल, नागकेशर, मेदा, महामेदा, सोठ, मरिच, पिप्पली, रास्ता, मुलेठी, भूरि छरोला, कचूर, मीठा कूठ, देवदारु, प्रियङ्गु और बहेडे के फल का छिलका प्रत्येक ४-४ तोले भर लेकर सबको जल के साथ पत्थर पर पीस कर कल्क बना लेवे । फिर तिल-तैल ३ सेर १६ तोला, अडूसा पञ्चाग का ववाथ, लाक्षा का स्वरस अथवा काढा, दही का पानी तथा लालचन्दन, गुडूची, भारङ्गी, दशमूल, छोटी कंटकारी का मिश्रित ववाथ प्रत्येक का आधा द्रोण । तैल-पाक विधि से सिद्ध कर ले । इस तेल का अभ्यग पूरे शरीर मे विशेषत छाती, पीठ और पार्श्व मे करने से जीर्णकास मे उत्तम लाभ होता है ।

✓ धूम प्रयोग—जात्यादि धूम—चमेली की पत्ती, मरिच, मन शिला, आक की जड़, गुग्गुलु-वेर की पत्ती और जटामासी सम भाग में लेकर मोटा चूर्ण बना कर अर्क क्षीर से भावित कर के सुखाकर रख ले । निर्धूम अगारे पर थोड़ा छोड़कर धूम के पीने से खाँसी मे बड़ा लाभ होता है । धूम-पान का थोड़ी देर बाद दूध और मिश्री या मिश्री का शर्वत पिलाना चाहिये । पान का लगा बौडा खाने को देना चाहिये । इससे खाँसी मे तत्काल लाभ होता है ।

अपथ्य—चावल, दधि, शर्वत, लस्सी, नया गुड, दूध, मछली, कदशाक, अन्य गुरु, शीत एव अभिष्यन्दी आहार, धुलि, घुवे आदि का स्थान कास रोग मे अपथ्य है ।

चौदहवाँ अध्याय

हिक्का-श्वास-प्रतिषेध

प्रावेशिक—माधारण बोल चाल में हिक्का को हिचकी और श्वास को दमा कहते हैं। खामी के साथ दमा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। खाँसी पुरानी होकर श्वास रोग को उत्पन्न करती है। इन दोनों का पाठ भी प्रायः शास्त्रों में साथ साथ या एक के बाद दूसरे का (अर्थात् कासके बाद श्वास का) पाया जाता है। चिकित्सा में बहुत से भेज और उनके योग समान ही मिलते हैं और दोनों में लाभप्रद पाये जाते हैं। श्वास रोग के साथ हिक्का रोग का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन तरह काम (Cough), श्वास (Asthma) तथा हिक्का (Hiccough) के लक्षण समुदाय (syndrome) तीनों रोगों में परस्पर में सम्बद्ध है अस्तु दो या तीनों का पाठ एक ही अध्याय में किया मिलता है।^१

कास-हिक्का और श्वास में निदान (हेतु) और चिकित्सा सूत्र (Principles of treatment) समान होने की वजह से दोनों या तीनों रोगों में समानता होते हुए भी सम्प्राप्ति, क्रिया तथा वेग में भिन्नता होने की वजह से काम का पाठ पृथक् किया गया है। इसके अतिरिक्त दोषभेद ने कास रोग में वातिक-पैत्तिक-श्लैष्मिक आदि भेद होते हैं। हिक्का-श्वास में इस प्रकार के भेद नहीं होते हैं। नाथ ही हिक्का-श्वास में प्राणोदान-ममाना-पान तथा कास में प्राणोदान ही विकृत होता है। अस्तु, कास रोग का स्वतंत्र वर्णन पाया जाता है। और श्वास का साथ नाथ।

हिक्का और श्वास रोग में केवल वात और कफ दो दोषों की ही प्रचानता होती है, नाथ ही पचन मंस्थान की विकृति का होना भी अनिवार्य है जैसा कि दृबल ने कहा है 'कफवातात्मकावेती पित्तस्थानममुद्गती' अर्थात् हिक्का एवं श्वास रोग पित्त स्थान से उद्भूत होते हैं। और कफवातात्मक होते हैं। यद्वा 'वायुः कफेनानुगत पञ्च हिक्का करोति च' अर्थात् वायु कफ से मिलकर पाच प्रकार की हिक्का पैदा करता है। आचार्य वारभट ने तो श्वास और हिक्का रोग में

१ हिक्का-श्वाससामान्योत्पादकनिदानमाह—विदाहिगुरुविष्टस्मिन्स्थाभिष्यं-
द्रिभोजनैः । शीतपानाशनस्थानरजोधृमातपानिलैः ॥ व्यायामकर्मभाराध्ववेगाघाता-
पतर्पणै हिक्का श्वासश्च कासश्च नृणां नमुपजायते ॥ (सु ३. ५०)

एक ही हेतु, प्राण्य, संरपा, प्रकृति और सञ्चय "श्वासैकहेतुप्राणरूपसंख्या-प्रकृतिमञ्चया" कहकर विराम ले लिया है। यद्यपि हिकका और श्वास में आरम्भक दोष समान होते हैं तथापि उनमें सम्प्राप्ति, वेग, स्वर, लक्षण तथा प्रतिपेय में प्रयुज होने वाले भेदों के भेद से पर्याप्त भेद हो जाता है। अस्तु, दोनों की चिकित्सा का पृथक् पृथक् उल्लेख किया जाता है।

हिकका और श्वास रोग स्वतंत्र भी हो सकते हैं अथवा किसी अन्य रोग में उपद्रव स्वरूप में भी पैदा हो सकते हैं।^१ ये दोनों ही सद्य घातक रोग हैं। प्राण तो नष्ट करने वाले रोग यद्यपि बहुत हैं, तथापि वे हिकका और श्वास के समान उनकी जीव्यता से प्राणों का नाश नहीं करते हैं। इन अवस्थाओं में श्वासावरोध, हृदय का घात (syncope) या सन्वास (coma) से सद्य प्राणनाश का भय रहता है। हिकका और श्वास ये महान् प्राणघातक रोगों के लिये उत्तरे की घटी का काम करते हैं।^२

हिकका—आधुनिक विचारकों के अनुसार हिकका की उत्पत्ति अनुकोष्ठिका वातनाडी (Phrenic Nerve) के क्षोभ (Irritation) से होनेवाले महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm) के अनियमित सकोच (Clonic Diaphragmatic spasm is called Hiccough) के कारण होती है। स्वभाविक दशा में आमतौर से महाप्राचीरा के सकोच के साथ ही उपजिह्विका द्वार (Epiglottis) खुलता है, परन्तु अनियमितता आने पर इन दोनों क्रियाओं में अन्तर आ जाता है जिसमें अंत श्वसित वायु उपजिह्विका द्वार के बंद होने के कारण रास्ते में ही अवरुद्ध हो जाती है जिससे हिक हिक शब्द की उत्पत्ति होती है।^३ एतदर्थ इस रोग को हिकका या हिचकी कहते हैं। इस अनियमित सकोच के विविध कारण हैं। उन सबको दो प्रधान वर्गों में बाँट सकते हैं १ पचन मंस्थानीय २ वात संस्थानीय (Nervous)

१. अतिसारज्वरच्छर्दिप्रतिश्यायक्षतक्षयात् । रक्तपित्तादुदावत्तर्दि विसूच्य-
लसकादपि ॥ पाण्डुरोगा द्विपाच्चैव प्रवर्त्तते गदाविमी । निष्पावमापिप्याकतिल-
तैलनिपेवणात् ॥ पिष्टशालूकविष्टम्भिवादिगुरुभोजनात् । जलजानूपपिशित-
दध्यामक्षीरसेवनात् ॥ अभिष्यन्द्युपचाराच्च श्लेष्मलाना च सेवनात् । कण्ठोरस-
प्रतीधाताद्विविधैश्च पृथग्विधैः ॥ (च)

(२ कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा ।
यथा श्वासश्च हिकका च हरत प्राणमाशु च ॥ (च चि २१)

३ मुहुर्मुहुर्वागुदति सस्वनो यकृत्प्लिहान्त्राणि मुखादिवाचिपन् ।

स धोपवानाशु हिनस्त्यसून् यतस्ततस्तु हिककेत्यभिधीयते बुधैः ॥

पचनसंस्थानीय कारण—आमाशय और अन्न—प्रणाली का क्षोभ जैसे मिर्ची, मसाले, खटाई, धूम आदि विविध प्रकार के अजीर्ण, अतिसार, प्रवाहिका, विवध और आध्मान आदि । प्राचीनो के अनुसार पित्त स्थान से उद्भूत कहने का यही अर्थ है । पित्तस्थान का अर्थ सम्पूर्ण पचनसंस्थान से ग्रहण किया जा सकता है जिनके विकारो में हिचकी पैदा हो सकती है ।

वातसंस्थानीय कारण—१ अपतंत्रक, मस्तिष्क शोफ, मस्तिष्कार्बुद, अपम्मार, मदात्यय (२) फुफ्फुसावृत्ति शोथ, मध्यपशुकीय अर्बुद या ग्रयियाँ (Mediastinal glands), जीर्णवृक्क शोथ, मूत्रविपमयता में हिक्का उत्पन्न हो सकती है । इनमें प्रथम वर्ग का साक्षात् मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ता है, दूसरे का प्रान्तीय वातनाडी क्षोभ (Peripheral Nerve Irritation) के द्वारा ।

हिक्का पाँच प्रकार की पाई जाती है अन्नजा, यमला (चरक के अनुसार व्यपेता), क्षुद्रा, गम्भीरा और महती । इनमें गम्भीरा (नाभि से उठने वाली और गम्भीर गव्द करने वाली उपद्रव युक्त) तथा महती (मर्माँ को पीडित करने वाली बड़ी हिक्का) असाध्य होती है । यमिका भी यदि रोगी बलवान् हो, उपद्रव अधिक न हो, दोन्नों या तीन हिचकी मिलकर आवें तो कृच्छ्रसाध्य अन्यथा असाध्य होती है । अन्नजा और क्षुद्रा हिक्का सुखसाध्य है ।^१

क्रियाक्रम—आमान्य हिचकी में जहाँ मिर्ची अधिक खा लेने से या तम्बाकू, सुर्ती आदि खा लेने से हिचकी आने लगती है, इसमें हेतु आमाशय और कंठ देश का क्षोभ होता है । इसमें पानी पिलाना पर्याप्त होता है । पानी पी लेने से, सौम्य रोक लेने से या मन को दूसरी दिशा में प्रेरित कर लेने से हिचकी शान्त हो जाती है । चित्तको दूसरी ओर आकृष्ट करने के लिये सहमा कुछ क्रियायें करने से हिक्का का दौरा खतम हो जाता है । संभवत इन क्रियावो से डडा स्वतंत्र नाडी-मण्डल की उत्तेजना (Sympathicotonia) कम होकर प्राणदानाडी (Vagotonia) की क्रिया बढ़ती है और लक्षणों में शान्ति मिलती है । जैसे, शीतल जल का परिपेक (छोटा देना), त्रास दिखलाना, विस्मय या आश्चर्य में डालना, क्रोध कराना, हर्ष कराना, प्यारी वस्तु को दिखाना, उद्विग्न कराना,

१. अन्नजा यमला क्षुद्रा गम्भीरा महती तथा । वायु. कफेनानुगत. पञ्च हिक्का. करोति हि । द्वौ चान्त्यौ वर्जयेद्विक्रमानौ । अक्षीणञ्चाप्यदीनश्च स्थिरधात्विन्द्रियञ्च य ॥ तस्य माघयितु शक्या यमिका हन्त्यतोऽन्यथा ॥

प्राणायाम कराना, दग्ध मिट्टी पर जल डालकर सुधाना, कूँचो से जल की धारा छोड़ना, नाभि के ऊपर चोट पहुँचाना, हल्दी को दिया पर जला कर उससे पैरो पर या नाभि के दो अंगुल नीचे या ऊपर जलाना ।^१

परन्तु जहाँ पर हिचकी रोग रूप में पैदा हो जाती है—कुछ स्थायी उपचार की आवश्यकता होती है । अस्तु, हिक्का रोग में तथा श्वास रोग में सर्वप्रथम हिक्का रोग में रोगी के उदर पर तथा श्वास रोग में रोगी के वक्ष-स्थल पर किसी तैल का मर्दन कराके स्वेदन करना चाहिए । तैल में सैधव या कपूर भी मिलाया जा सकता है । स्वेदन के अनन्तर स्निग्ध तथा लवणयुक्त प्रयोगों से वायु का अनुलोमन करना चाहिए । यदि रोग बलवान् हो तो वमन तथा विरेचन से उसका मृदु नशोधन करना चाहिए अन्यथा केवल शमन चिकित्सा करनी चाहिए ।^२

कुछ सामान्य औषधियाँ जो श्वास तथा हिक्का दोनों में व्यवहृत होती हैं । दशमूल की औषधियाँ, रास्ता, कचुर, पिप्पली, द्राक्षा, शुठी, पुष्कर मूल, कर्कट-शृंगी, आमलकी, खजूर, भारगी, गुडूची, हिंगु, सीवर्चल, जीरा, हरीतकी, यव, कासमर्द, जाभाञ्जन, सूखी मूली का यूप या वैगन का यूप, दधि, त्रिकटु और चित्रकूट घी मिला कर ।

हिक्कामे-भेषज—औषधियाँ कारणानुसार दो प्रकार की होती हैं १. जिनका प्रभाव साक्षात् मस्तिष्क पर होकर हिचकी बंद हो । २ दूसरी ऐसी औषधियाँ जिनका प्रभाव पचन सस्थान पर होकर धीरे-धीरे वायु का अनुलोमन होकर हिक्का का शमन हो । प्रथम वर्ग में कई प्रकार के नस्य (नाक के रास्ते प्रयुक्त होने वाले योग) तथा धूम आदि हैं । जैसे—१ मातृस्तन्य (नारीक्षीर) का नस्य हिचकी में चामत्कारिक लाभ दिखलाता है । २ नारीक्षीर, सफेद चंदन का घृष्ट और सैन्धव नमक मिलाकर पानी में घोलकर गर्म करके नाक में टप काना हिक्का को सद्य बंद करता है ।^३ ३ सैधानमक को पानी में घोल कर

१. शीताम्बुसेक सहसा त्रासो विस्मापन भयम् । क्रोधो हर्षः प्रियोद्वेग-प्राणायामनिषेवणम् ॥ दग्धसिक्तमृदाध्राणं कूर्चधाराजलार्पणम् । नाभ्यूर्ध्वघातन दाहो दीपदग्धहरिद्रया पादयोर्द्वयाङ्गुलान्नाभेरूर्ध्वं चेष्टानि हिक्किनाम् ॥ (भै. २)

२. हिक्काश्वासातुरे पूर्वं तैलाक्ते स्वेद इष्यते । स्निग्धैर्लवणयोगैश्च मृदु वातानुलोमनम् । ऊर्ध्वाधः शोधनं शक्ते दुर्वले शमनं मतम् ॥ (भै. २)

३ नारीपय पिष्टमुशुक्लचन्दनं कृत सुखोष्णञ्च ससैन्धव च ।

पिष्टं तथा सैन्धवमम्बुना वा निहन्ति हिक्का खलु नावनेन ॥ (यो. २)

(लवण विलयन गाढ़) नाक में टपकाना भी ऐसा ही कार्य करता है । ४. मुलेठी के चूर्ण को मधु मिलाकर नस्य देना । ५. छोटी पिप्पली का चूर्ण शक्कर मिलाकर नस्य देना । ६. शुठी और गुडके चूर्ण का नस्य । ७ मक्खी की विष्टा को दूध में या अलक्तक (आलता) के रस में घोल कर मिलाकर नस्य देना । ८. गाय के दूध और चदन का नस्य । ये सभी नस्य हिवका के नष्ट करने में ममर्थ होते हैं । इन से चमत्कारिक लाभ होता है । ९ गुडूची और शुठी चूर्ण का नस्य भी हिवकानाशक होता है । १० नीसादर और चूने को मिलाकर पोटली में बांध कर या अमोनियम गैस का सुघाना भी रोगी में लाभप्रद पाया गया है । ११ लहसुन का रस १२ पलाण्डु का रस या १३ गाजर का रस का नस्य भी सद्यः हिवका को बंद करता है ।

धूम-प्रयोग—उबड़ को चिलम में रखकर आग जला कर उमका धुवाँ पीने से सद्य लाभ होता है ।^१

हिवकान्तलेह—१ कास के मूल का चूर्ण मधु से चाटना सद्य हिवका में लाभ पहुँचाता है २ केले के मूल का रस १ तोला, मधु ६ माशे मिलाकर सेवन । ३. इलायची के चूर्ण और मिश्री को मिलाकर सेवन । ४ काली मिर्च का चूर्ण और शक्कर मधु से कई बार सेवन करना ५ मयूरपिच्छ को जलाकर उसकी राख (मयूरपुच्छभस्म), पिप्पली चूर्ण और मधु के साथ मिलाकर सेवन यह वमन तथा श्वास में भी लाभप्रद होता है । ६. यवचार १२ माशे की मात्रा में खिलाकर ऊपर से गर्म पानी पिलाने से सद्य हिवका शान्त होती है ।

७ छोटी पीपल, सूखा आंवला और सोठ प्रत्येक १ तोला, मिश्री ३ तोला । एकत्र महीन पीसकर रखने । ३ माशे की मात्रा में मधु से सेवन करावे । यह एक मिद्ध योग है । हिवका रोग में परम संशमन होता है । ८ बेर के पके हुए सूखे फल की मज्जा (कोलमज्जा) का चूर्ण, कालासुरमा (काला सुरमा त्रिफला के कपाय में नात दिन तक लगातार भावना देने से शुद्ध होता है—इस प्रकार शुद्ध सुरमा होना चाहिए) तथा लावा चूर्ण का मधु से चटना । मात्रा १-२ माशे । ९ कुटकी का चूर्ण और शुद्ध स्वर्ण गैरिक (सोना गेरु को चूर्ण करके दूध में भावित करके या गोघृत में तवे पर भून करके लेना चाहिये) का चूर्ण मिश्रित कर के मधु से सेवन । १०. शुद्ध कासीस (भृगराज के स्वरस में तीन घंटे तक दोला यंत्र में स्वेदन करने से शुद्ध होता है ।) तथा कैव के फल के सूखे गूदे का चूर्ण सम माना में मिलाकर ४ रत्ती की मात्रा में मधु से चटना । ११ पादल के फल

और फूल को समभाग में लेकर २ माशे की मात्रा में मधु से चटाना । १२ छोटी पोपल का चूर्ण, खजूर और नागर मोये का समभाग में बना चूर्ण ३ माशे की मात्रा में मधु से चटाना । ये सभी श्रेष्ठ हिक्कानाशक भेषज हैं ।^१ १३ विजीरे निम्बू का रस १ तोला, काला नमक २ माशे और मधु ६ माशे मिलाकर सेवन । १४ सोठ पकाया बकरी के दूध का सेवन । १५. धान्यलाज का चूर्ण सैधानमक नीबू रस के साथ सेवन । १६ गर्म घी का सेवन, गर्म किये दूध का सेवन तथा गर्म जल का सेवन हिक्का में पथ्य होता है और शीघ्रता से हिक्की को शान्त करता है । १७ खजूर, पिप्पली, द्राक्षा का घी और मधु से सेवन हिक्का और श्वास दोनों में लाभप्रद होता है ।

रस तथा भस्म के योग—कान्त लौह भस्म १ रत्ती की मात्रा में मधु से चाटकर दशमूल का क्वाथ सेवन । मुक्ता भस्म का १ रत्ती की मात्रा में लेकर कुटकी चूर्ण ४ र० और शुद्ध गैरिक चूर्ण १ माशा और मधु के साथ सेवन । ताम्र भस्म का ३ रत्ती की मात्रा में मधु के साथ चाटकर निम्बू (विजीरे) का रस १ तोला पीना । स्वर्णभस्म-मुक्ताभस्म-लौह भस्म तथा ताम्र भस्म सम मात्रा में मिलाकर १ रत्ती की मात्रा में बीज पूर या विजीरे नीबू का रस, काला नमक और मधु के साथ सेवन सद्य हिक्का का शमन करता है । शंखचूल रस-शुद्ध पारद, अभ्रक भस्म, सुवर्ण भस्म, वैकान्त भस्म प्रत्येक १ तोला, शंख भस्म २० तोले । इन द्रव्यों को महीन पीसकर सूखे ही चूर्ण बना ले । मात्रा २ माशे । अनुपान मधु । यह योग मुमूर्षु रोगी की भी हिक्का को तत्काल शान्त करता है ।

श्वास रोग—भी हिक्का के समान ही एक महाव्याधि है । यह भी प्राणघातक होती है । इस श्वास रोग में कफप्रकोप पूर्वक वायु जब प्राणवाही स्रोतो को अवरुद्ध करके सब ओर व्याप्त (पूरे फुफ्फुस में) हो जाती है तो श्वास को उत्पन्न करती है ।^३ इस रोग में प्रधान लक्षण श्वास का फूलना या दम का

१ कोलमज्जाञ्जन लाक्षा तिवता कोचनगीरिकम् । कृष्णा घात्री सिता शुण्ठी काशीसं दधिनाम च । पाटल्या सफल पुष्पं कृष्णाखजूरमुस्तकम् । पडेटे पादिका लेहा हिक्काघ्ना मधुसयुता ॥ (भै र.)

२. मधुसीवचलोपेतं मातुलगरस पिवेत् । (भै र) इसका प्रयोग ureamia के कारण उत्पन्न हिक्का में उत्तम लाभ दिखलाता है ।

३. यदा स्रोतासि सरुद्धमामृत कफपूर्वकं । विपन्नजति सरुद्धस्तदा श्वासान् करोति स ॥ महोर्ध्व-छिन्न-तमक-क्षुद्रभेदैस्तु पञ्चधा । भिद्यते स महाव्याधिः श्वास एको विशेषतः ॥

फूलना या (Dyspnoea) पाई जाती है जो अनेक कारणों से हो सकती है। जैसे श्वासनलिका के ऊपरी भाग में किसी प्रकार का अवरोध, उरोवात (Emphysema), मूत्र-विषमयता, जानपदिक जोफ (Epidemicd-ropsy) तथा सन्यास (Coma) आदि। श्वास रोग के पाँच भेद बतलाये गये हैं। महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास, छिन्न श्वास, तमक श्वास तथा क्षुद्र श्वास। इनमें महा श्वास अन्तिम श्वास है इससे युक्त रोगी जोघ्न ही मर जाता है। पूर्णतया असाध्य होता है। ऐसी अवस्था हृद्रोग, वृक्क या मस्तिष्क रोगों में चिन्तनीय स्थिति में पाई जाती है। ऊर्ध्व श्वास भी मृत्यु के समीप की अवस्था है (Sterterous breathing), श्वास सस्थान के पात (Failure of respiratory system) में पाई जाती है, सद्यो घातक और असाध्य होती है। छिन्न श्वास जिसमें श्वास वेग कभी कम और कभी बढ़ जाता है और कभी कुछ काल के लिये श्वास की गति रुक जाती है फिर चालू होती है (Cheyne Stocks respiration)। यह भी एक साघातिक अवस्था है, रोगी क्लान्त हो जाता है और प्राण-त्याग भी हो जाता है। तमक श्वास दमा का रूप है (Bronchial Asthma Allergic Asthma or spasmodic Bronchitis) यह एक याप्य रोग है। रोगी सम्यक्तया आहार-विहार तथा औषधि के बल पर ठीक हो जाता है—अभाव में रोग बढ़ जाता है। क्षुद्र श्वास अधिक दौड़-धूप के कारण या मेदस्वी व्यक्तियों में अल्प श्रम से उत्पन्न होनेवाला श्वास है और साध्य है।^१

तमक श्वास के पुनः दो भेद हो जाते हैं—१ प्रतमक तथा सतमक। इनमें प्रथम में वेगों के विधारण से वाताधिक्य पाया जाता है—यह रोग अधिकतर योगाभ्यास से अनभिज्ञ व्यक्तियों में प्राणायाम की विधियों की विपरीत क्रिया से उत्पन्न होते देखा जाता है। दूसरा पित्ताधिक्य में अधिक होता है और शीतल उपचार से रोगी को शान्ति मिलती है।

श्वास रोग में क्रियाक्रम—हिक्का रोग में सामान्य उपक्रमों का उल्लेख हो चुका है जैसे स्नेहन, स्वेदन, बलवान् रोगी में शोचन अन्यथा शमन चिकित्सा करना। हिक्का और वात-श्लेष्म दोषों से पैदा होते हैं अस्तु दोनों में समान भाव से वात-श्लेष्महर उपचार लाभप्रद रहता है।

चरक में लिखा है—जो भी अन्न-पान या औषधि कफ-वात को नष्ट करने वाली एवं वातानुलोमन है। श्वास एवं हिक्का रोग में प्रशस्त है। वात को

१. क्षुद्रः नाद्यो मतस्तेषा तमकं कृच्छ्रं उच्यते। त्रयं श्वासा न सिध्यन्ति तमको दुर्बलस्य च ॥

बढ़ाने वाली कफको हरने वाली अथवा कफ को बढ़ाने वाली लेकिन वात को हरने वाली, ऐकान्तिक क्रिया का क्रम ठीक नहीं रहता है। वृहण अथवा कर्शन का कार्य ह्रिक तथा श्वास के रोगियों में बहुत विचारपूर्वक करना होता है। वृहण अथवा कर्शन के अति मात्रा में होने से हानि की आशंका रहती है, परन्तु सशमन कार्य बिल्कुल ही निरापद रहता है। अस्तु ह्रिक-श्वास के रोगियों में अधिकतर सशमन के द्वारा ही चिकित्सा करनी चाहिए।^१

श्वास रोग में भेषज-वानस्पतिक (Vegetable sources)—१.

१. हरीतकी ३ माशे, शुठी चूर्ण २ माशा मिश्रित कल्क का उष्ण जल के साथ सेवन।
२. पुष्करमुल १ माशा, यवच्चार १ माशा और काली मिर्च का चूर्ण १ माशा का उष्ण जल के साथ सेवन। ह्रिक और श्वास दोनों में लाभप्रद है। ३. बहेडे के फल के छिलके का चूर्ण १ तोल, मधु १ तोला मिलाकर सेवन श्वास तथा ह्रिक में सब लाभप्रद होता है ४ पुराने गुड के १ तोला में सरसो का शुद्ध तैल १ तोला मिलाकर प्रतिदिन सेवन करने से कुल तीन सप्ताह के प्रयोग से श्वास रोग में पर्याप्त लाभ होता है।^२ ५ विल्व पत्र स्वरस या अडूसे की पत्ती का रस या सहदेवी की जड़ और पत्ती का रस या कमलपत्र-स्वरस का कटुतैल-सरसो के तेल के साथ सेवन। ६ कुष्माण्ड (पेंडे) का सूखा चूर्ण ६ माशे गर्म जल के साथ। ७ छोटी पीपल और सैधव और अदरक के रस का सेवन। ७ शुद्ध गंधक का गोघृत के साथ सेवन श्वास में लाभप्रद होता है। ९ भारङ्गी और गुड का सेवन या भारङ्गी एवं सोठ का क्वाथ गुड मिलाकर सेवन करना भी श्वामघ्न होता है।^३ १०. केवाळ के बीज का चूर्ण घी और मधु के साथ सेवन करना। मात्रा ३ माशा चूर्ण, घृत ६ माशा और मधु १ तोला।

१ यत्किञ्चित् कफवातघ्नमुष्ण वातानुलोमनम् । भेषजमन्नपानं च तद्धितं
श्वामहिकने ॥ वातकृद्वा कफहर कफकृद्वाऽनिलापहम् । कार्यं नैकान्तिकं ताभ्यां
प्रायः श्रेयोऽनिलापहम् ॥ सर्वेपा वृहणे ह्यल्प शक्यश्च प्रायशो भवेत् । नात्यर्थं
शमनेऽप्यो भृशं शक्यश्च कर्शने ॥ तस्माच्छुद्धानशुद्धाश्च शमनैवृहणैरपि ।
ह्रिकश्वासादिताञ्जन्तून् प्रायशः समुपाचरेत् ॥ (च चि. १७)

२ गुड कटुकतैलेन मिश्रयित्वा सम लिहेत् ।

त्रिसप्ताहप्रयोगेण श्वास निर्मूलतो जयेत् ॥ (भै र)

३ आर्ये प्राणप्रिये जातीफललोहितलोचने ।

भार्ङ्गीनागरयोः क्वाथ श्वासत्राणाय पाययेत् ॥ (वै जी)

११. अश्वगंध का क्षार (असगन्ध जलाकर उमकी राख) का मधु से सेवन । १२. सुवर्चला का स्वरस या गिरीप पुष्प स्वरस या सप्तपर्ण स्वरस का मधु के साथ सेवन । १३ मण्डूकपर्णी का स्वरस और कटु तैल का सेवन । रसयोगों के अनुपान रूप में भी इनका उपयोग किया जा सकता है ।

जीवद्रव्य

नाय, खर, अश्व, उष्ट्र, गूकर, भेंड और गज के विष्टा का रस पृथक्-पृथक् कफाधिक्य युक्त श्वाम रोग में मधुके साथ पिलाने से लाभप्रद होता है । मयूर-पाद नाल (मोर के पैर की नली), गल्लक, साही का शकल (मत्स्य-जकल के आकार का शकल), कुत्ता, जाण्डक, चाप, कुरुर के रोम-केग, शृंगवाले तथा एक खुर या दो खुर वाले पशुओं के चर्म, अस्थि तथा खुर । इन द्रव्यों की भस्म पृथक्-पृथक् या एक में मिलाकर घृत और मधु से सेवन श्वास रोग में बड़ा ही लाभप्रद होता है । इनका प्रयोग सदैव कफ को अविकता युक्त श्वाम में करना उत्तम होता है ।^१ इनमें अश्वखुर एक बड़ा सुलभ पदार्थ है इसको जलाकर उसकी राख १ माशा और यवक्षार १ माशा मिलाकर मधु के साथ देने से सच लाभ होता है । यह एक सिद्ध योग है । खरगोश, गल्लक मास और गल्लक गोणित और पिप्पली से सिद्ध घृत का प्रयोग श्वास में वाताधिक्य होने पर देना चाहिये ।

— हरिद्रादिलेह—हृदी, कालीमिर्च, मुनक्का, रास्ना, छोटी पिप्पली, कचूर और पुराना गुठ सब मिलाकर महीन पीस कर कड़वे तेल में मिलाकर चाटने से श्वाम रोग में उत्तम लाभ होता है ।

शृंग-यादि चूर्ण—काकडासीगी, भारगी, त्रिफला, सोठ, पीपरि, कालीमिर्च, कटकारी, नागर मोथा, पुष्करमूल, कचूर और कालीमिर्च सब का एक-एक भाग लेकर महीन चूर्ण बनावे फिर उसमें मिश्री ७ भाग मिलाकर रखले । मात्रा ६ मागे । अनुपान गृहद । इस औषधि के साथ बृहत् पंचमूल, गुडूची और अटूसे का काढ़ा भी पिये । तो उग्र श्वास रोग में भी तीन दिनों में लाभ पहुँचता है । शृंग-यादि चूर्ण एक दूसरा योग है जिसमें मिश्री के स्थान पर पंच लवण प्रदत्ता है । इसका भी सेवन उत्तम रहता है । शृंग-यादि चूर्ण का केवल गर्म जल से पीना भी लाभप्रद रहता है ।

१ एते हि कफमंरुद गतिप्राणप्रकोपत ।

तस्मात्तन्मागेमुदयथ देवा लेहा न निष्कफे ॥ (च चि. १७.)

दशमूल कपाय—दशमूल के क्वाथ में पिप्पली चूर्ण ४ र० का प्रक्षेप डालकर पीना अथवा पुष्कर मूल ४ रत्ती का प्रक्षेप डालकर पीने से श्वास तथा कास में लाभ होता है ।

चासादि काथ—अडूसा, हल्दी, धनिया, गुरुच, भारंगी, छोटी पीपल, सोठ, मरिच और कटकारी इन का सम भाग में लेकर जीकुट कर के २ तोले द्रव्य को ३२ तोले जल में खोलकर ८ तोले जल में खोलाकर ८ तोले शेष रहने पर पिलावे । दिन में दो बार प्रातः और सायम् । यह एक सिद्ध योग है । यह (anti spasmodic) तथा (anti Alergic) पडता है । कास और श्वास में बड़ा लाभप्रद होता है ।^१ क्वाथ में कुछ लोग मरिच का चूर्ण डालने का विधान बताते हैं—अर्थात् मरिच के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों का क्वाथ बनाकर उसमें ७ दाने मरिच को छोट कर पीना ।

हामरेश्वराभ्र—वज्राभ्रक भस्म को लेकर खरल में डालकर निम्नलिखित द्रव्यों की प्रत्येक की एक भावना दे । भारङ्गी, धतूर, गिलोय, अडूसा, कर्सीदी, पारिभद्र, चव्य, पीपरा मूल और चित्रक का क्वाथ या स्वरस यथा लाभ । मात्रा ३ रत्ती की गोलियाँ । अनुपान अदरक का रस और मधु ।

महाश्वासारि लौह—लौह भस्म २ तोला, अभ्रक भस्म ३ तोला, पिसी हुई मिश्री और शहद दो दो तोले । हरड, वहेरा, आँवला, मुलैठी, मुनक्का, वेरकी मज्जा, वंशलोचन, तालीश पत्र, वायविडङ्ग, छोटी इलायची, पुष्कर मूल और नागकेसर प्रत्येक का चूर्ण ३ तोला । लौह के खरल में डालकर लौह के मुमली से छ घंटे तक घोटकर ३ रत्ती की वटिका बनाकर रख ले । मात्रा १-२ गोली । अनुपान मधु । सभी प्रकार के श्वास रोग में लाभप्रद ।

श्वास कुठार रस—कज्जली, शुद्ध वत्सनाभ विप चूर्ण, शुद्ध टकण, शुद्ध मन शिला प्रत्येक एक एक तोला तथा ८ तोला काली मिर्च का चूर्ण, ६ तोला पिप्पली चूर्ण और ६ तोला सोठ का चूर्ण । प्रथम पारद—गंधक की कज्जली बना कर शेष द्रव्यों को महीन पीस कर मिश्रित करे । मात्रा १-२ रत्ती । अनुपान आर्द्रक स्वरस और मधु । विविध प्रकार के श्वास और कास रोग में लाभप्रद । इस श्वासकुठार का नस्य भी दिया जा सकता है । मूर्च्छा, सूर्यावर्त, अर्धावभेदक तथा अपतत्रक में नासारध्र से इसका प्रयोग रोगी को जागृत

१. वासाहरिद्राधनिकागुडूचीमार्ङ्गीकणानागररिङ्गिणीनाम् । (छोटी कटेरी या रेंगनी) । क्वाथे नमारीचरजोऽन्वितेन श्वास शम कस्य न याति पुस ॥

(वै. जी)

करने के लिए किया जा सकता है। इस योग में मन शिला पटा हुआ है जो एक मणिवा का यौगिक है।

✓ **श्वास-कासचिन्तामणि रस**—शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गवक २ भाग, सोनामाखी की भस्म १ भाग, सुवर्ण भस्म १ भाग, सुक्ता भस्म $\frac{1}{2}$ भाग, अन्नक भस्म २ भाग, लौह भस्म ४ भाग। सबको एकत्र महीन पीसकर खरल में डालकर कटकारी न्वरस, बकरी का दूध, मधुघण्टी का काढ़ा और पान के रस में से प्रत्येक की सात सात भावना देकर बनावे। मात्रा १ से २ रत्ती। अनुपान पिप्पली चूर्ण और मधु। यह एक उत्तम योग है। सभी प्रकार के श्वास में विशेषतः हृज्ज श्वास (Cardiac Asthma) में लाभप्रद प्राया जाता है।

✓ **नागार्जुनाभ्र रस**—सहस्रपुटी अन्नक भस्म (अभाव में अधिक से अधिक पुट का अन्नक भस्म ले) को अर्जुन की छाल के बवाय में सात भावना देकर छाया में सुखाकर रख ले। मात्रा २ रत्ती। अर्जुन क्षीरपाक। यह हृदय के विविध कपाटीय रोग (Volvulardiseases) एवं तज्जन्य श्वास रोग में लाभप्रद प्राया जाता है। बल को बढ़ाने वाला, वृष्य तथा रसायन है।

✓ **भार्गी गुड**—भारङ्गी ५ सेर, दशमूल ५ सेर, पोटली में बाँध कर १०० बड़े हरड सबको एक बड़े भाण्ड में लेकर चतुर्गुण जल छोड़ कर आग पर चढ़ावे, चतुर्गुण बवाय शेष रहने पर छान कर उसको पृथक् रख ले। फिर इस छाने बवाय को एक कलईदार कड़ाही में रख कर उसमें ५ सेर गुड घोल कर, स्विन्न किये हरडों को ढाल कर चून्हे पर पुनः पाक करे जब वह गाढ़ा होने लगे तो उसमें मोठ, मरिच, पीपरि, इलायची, दालचीनी और तेजपात इनमें से प्रत्येक का चूर्ण ४ तोले और यवचार २ तोले मिलाकर चलाते रहे। चाशनी के गाढ़ा होने पर उतारे। ठंडा हो जाने पर उसमें २४ तोले शुद्ध गृहद मिलाकर किसी मृतवान में भर कर रख ले। मात्रा २-४ हरड चाशनी के साथ। अनुपान गर्म दूध या जल। श्वास रोग में दौरे के बीच के काल में इसका एक वल्य-योग (tonic) के रूप में व्यवहार लम्बे समय तक करना चाहिए।

कनकासव—धतूरे का पचाङ्ग (मूल, शाखा, पत्र, पुष्प, फल सबमें युक्त) १६ तोले, बड़ों की जड़ १६ तोले, महुवे का फूल ८ तोले, तालीश पत्र ८ तोले, पिप्पली-बकरी-नागकेसर-गुण्ठी-भारङ्गी प्रत्येक ८ तोले। कूट पीस कर चूर्ण के रूप में कर लेवें। वाय के फूलों का चूर्ण १ सेर, मुनक्का १ सेर, जल २५ $\frac{1}{2}$ सेर ८ तोले, मिश्री ५ सेर और गृहद २॥ सेर। घृतस्निग्ध भाण्ड में भर कर भाण्ड का मुख बंद करके एक मास तक एकान्त वायु के

झोको से रहित और उष्ण स्थान में रखे । पश्चात् छान कर बोतलो में भर कर रख ले । मात्रा २-४ तोला । समान जल मिला कर भोजनोत्तर । श्वास रोग में एक उत्तम योग है ।

शर्वत एजाज, शर्वत शहतूत, शर्वत लिसोडा और शर्वत अडूसा भी लाभप्रद होता है ।

सोम कल्प—एफेड्रा वल्गेरिस (*Ephedra Vulgaris*) नामक औषधि का चूर्ण ४ रत्ती से १ माणा की मात्रा में देने से तत्काल लाभ होता है । तमक श्वास (दमा) के दौरे के काल में दौरे के वेग को तत्काल कम करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है । सोम-सत्त्व (*Ephedrine Hydrochloride*) नाम से इस औषधि का प्रयोग बहुलता से हो रहा है । इसकी मात्रा $\frac{1}{4}$ ग्रेन से $\frac{1}{2}$ ग्रेन की गोलीयाँ औषधि विक्रेताओं से प्राप्त होती हैं । वैद्यक दृष्टि से सोम चूर्ण का (*Crudeform*) में प्रयोग ही अधिक समीचीन होता है ।

इसे शृगाराभ्र, श्वास कुठार, श्वासकासचिन्तामणि या महाश्वासारि लौह के साथ २ रत्ती की मात्रा में प्रति मात्रा मिलाकर दिया जा सकता है ।

यदि स्वतंत्र देना हो तो रस सिन्दूर के साथ मिलाकर देना उत्तम रहता है । जैसे सोम योग (सि० यो० संग्रह)—रस सिन्दूर १ भाग, सोम चूर्ण २० भाग । प्रथम रस सिन्दूर को महीन पोसे फिर उसी खरल में सोम चूर्ण का कपडछान चूर्ण मिलाकर एक दिन मर्दन करके शीशी में भर कर रखले । इस चूर्ण का अकेला ५ से १० रत्ती की मात्रा में जल या मधु से श्वास के दौरे के समय एक दो मात्रा दे । तात्कालिक अच्छा लाभ होता है ।

श्वासहर धूम—१ धतूरे की पत्ती, शाखा और फल को कूट कर छाया में सुखाले । फिर निर्धूम अगारे पर रख कर मध्य छिद्र युक्त सकोरे से ढक दे, फिर रबर की नली लगा कर धूम का पान करे । इसको तम्बाकू पीने वाली चिलम और हुक्के पर चढ़ा कर पिया जा सकता है । इससे श्वास के दौरे में तात्कालिक लाभ होता है ।^१

२. धूमयोग—(सि० यो० स०) छाया में सुखाई हुई अडूसे की पत्ती ४ भाग, धतूरे की पत्ती २ भाग, भाग ५ भाग, चाय २ भाग और खुरासानी अजवायन की पत्ती २ भाग । सबको मिलाकर मोटा चूर्ण करके कलमी सोरे के सतृप्त विलयन (कलमी सोरे को जल में घोलता चले जब ऐसी स्थिति आजावे कि

१. कनकस्य फल शाखा-पत्र सकुटय यत्नत ।

शोपयित्वा तु तद्धूमपानोच्छ्वासो विनश्यति ॥ (भ० २०)

२५ भि० मि०

उममें मोरा घुल सके तो उसको संतृप्त घोल या विलयन कहते हैं) में भिगोकर छाया में सुखा कर रखले । आवश्यकता पडने पर इसकी मोटे कागज में मिगरेट जैसे बना कर जला कर उमका घूम पिलावे । दोरे में तत्काल आराम होता है । रोगी को खुशकी अनुभव हो वे तो थोड़ी देर बाद गो का दूध और मिथी पीने को देना चाहिए ।

उपसंहार—श्वास के पाँच भेद बनलाये गये हैं । इनमें महाश्वाम, ऊर्ध्व श्वाम, तथा छिन्न श्वाम अमाध्य बनलाये गये हैं । इनमें चिकित्सा ईश्वराधीन रहती है । यदि रोगी को आयु शेष है तब तो उपचार से लाभ की आशा रहती अन्यथा प्राणभय उपस्थित रहता है । इन अवस्थाओं में अधिकतर हृदय तथा श्वसनक उत्तेजक योगों का प्रयोग (Heart Respiratory Stimulants) ही श्रेयस्कर होता है । जैसे कूपीपक्व रसायन, रस सिन्दूर, चन्द्रोदय, मकरध्वज, कस्तूरी भूषण, चतुर्मुख रस आदि ।

इन अधिकार में पठित नागार्जुनाभ्र, महाश्वसाारि लौह अथवा श्वासकास चिन्तामणि रस उत्तम योग है । इनमें से किसी एक का किसी एक कूपीपक्व रसायन के साथ मिश्रित करके देना चाहिए । जैसे रस सिन्दूर $\frac{1}{2}$ २०, श्वासकाम-चिन्तामणि रस २ २०, नागार्जुनाभ्र रस १ २० मिश्रित एक मात्रा दिन में तीन या चार मात्रा मण्डूकपर्णी के रस और मधु के साथ या रुद्राक्ष के घृष्ट चंदन और मधु के साथ ।

शेष दो श्वाम रोगों में अर्थात् तमक श्वास या क्षुद्र श्वाम रोगों में ही प्रयुक्त होने वाली सम्पूर्ण चिकित्सा का उल्लेख पाया जाता है । क्षुद्र श्वाम तो एक सुमाध्य रोग है । किसी एक योग के प्रयोग में पीड़ित रोगी लाभान्वित हो जाता है, परन्तु तमक श्वाम (Asthma) एक चिरकालीन स्वरूप का हठी फलतः याप्य रोग है । इनमें व्यवहृत होने वाले बहुविध उपचारों का उल्लेख ऊपर में हो चुका है । आधुनिक दृष्टि से तमक श्वास वृक्कजन्य (Renal), हृज्ज (cardiac) हृदय के विकारों के कारण तथा श्वामनलिकीय (Bronchial) प्रभृति हो सकने हैं । कई बार अनर्जता (Allergic) जन्य भी पाया जाता है । उष्ण कटिबंधज उपमिश्रितता (Tropical Eosinophilia) तमक श्वाम के नदृज ही विकार है । इन सभी अवस्थाओं में चिकित्सा का भेद होते हुए पर्याप्त समता है । इन समता के आधार पर ही आयुर्वेद ग्रंथों में चिकित्सा लिखी मिलती है । यहाँ पर एक अनुभूत व्यवस्था पत्र दिया जा रहा है जो प्रायः सभी प्रकार के श्वाम रोगों में लाभप्रद पाया जाता है ।

(१) श्वासकासचिन्तामणि रस	२ र०
शृगाराश्र रस	४ र०
शिलाजम्बूवादि लीह	३ र०
श्वासकुठार रस	४ र०
सोम चूर्ण	१ मा.
यवचार	४ र०
तालीशादि चूर्ण	६ माशे

श्वासकासचिन्तामणि सुलभ न हो या अधिक मूल्यवान् प्रतीत हो तो हटा दे। सखिया के योगो का देना अधिक लाभप्रद प्रतीत हो तो मल्लसिन्दूर या मल्ल चन्द्रोदय दिन भर में १ रस्ती मिलाया जा सकता है। श्वास कुठार भी सखिया का योग है।

नवको मिलाकर पीस कर ४ मात्रा में विभाजित करे।

अनुपान—केवल मधु में या केवल अड़ूसे के शर्वत में या केवल शर्वत एजाज में या शर्वत एजाज, गहतूत, लिसोडा और अड़ूसे के मिश्रण में। ४-४ चूटे पर दिन में चार बार।

(२) अर्क लवण—४ माशे २ मात्रा, भोजन के बाद एक मात्रा दोनों वक्त। अथवा

कनकासव—भोजन के बड़े चम्मच से दो चम्मच बराबर पानी मिलाकर दोनों वक्त।

(३) वासादि कपाय—दिन में एक बार प्रातः या रात्रि में। अनूर्जता (Allergy) के तोक्षण मिलने पर विशेष लाभ होता है। श्वास रोग में दो प्रकार की चिकित्सा अवस्थाभेद से की जाती है। दोरे के समय की वेगकालीन तथा वेगो के बीच वेगान्तर कालीन। वेगकालीन चिकित्सा तत्काल दोरे को शांत करने के लिए धूम प्रयोग, सोम कल्प या अर्क लवण २ माशे की मात्रा में गर्म पानी से देना उत्तम रहता है। वेगान्तर काल में पौष्टिक, वल्य तथा अन्य सशामक योगो का प्रयोग श्रेयस्कर रहता है।

पथ्यापथ्य—तमक श्वास के रोगी में पथ्यापथ्य का विवेक आदर्शक रहता है। वातश्लेष्मकर एवं रुक्षा तथा शीत आहार-विहार अनुकूल नहीं पड़ते हैं। नया गुड, दधि, नया चावल, उडद, मत्स्य, वेगन, कद शाक, ठंडा दूध, लस्सी, बर्फ का शर्वत, ठंडा जल, ठंडे और धूलि-धूम युक्त स्थान, अधिक परिश्रम-अति स्त्री सग, मलमूत्र, छोक आदि के वेगो का रोकना आदि अपथ्य है।

पथ्य—गर्म किया हुआ गाढ़ा दूध, मलाई, मिश्रो, पुराना गुड, चने, रहर की दाल, गेहूँ, जौ, पुराना चावल, बथुवा, चीलाई, मूली, परवल, लहसुन, प्याज आदि गर्म मसाले, विरेचन, स्वेदन, औषधि युक्त धूमपान, वमन आदि कर्म प्रगस्त

है। सूखे फल—मुनक्का, खजूर, बादाम आदि मेवे उत्तम रहते हैं। जागल पशु-पक्षियों के मासरस का सेवन भी पथ्य होता है। तमक ध्वाम के रोगी में प्रातः काल में सूर्योदय के पूर्व किमी जलाशय या नदी में स्नान करना भी लाभप्रद पाया जाता है। स्नान के बाद शीघ्रता से अंग को पोछ कर गर्म कपड़े में शरीर को आवृत कर लेना चाहिए। पीने के लिए उष्ण जल देना चाहिए। श्वास और हिक्का के रोगी में शीतल जल प्रतिकूल पड़ता है। ब्रह्मचर्य का पालन भी इस रोग में पथ्य होता है। श्वास के रोगियों में तम्बाकू के नस्य की आदत डालना उत्तम रहता है।



पन्द्रहवाँ अध्याय

स्वरभेद-प्रतिपेध

प्रावेशिक—गले का भारीपन या गले का बँटना या आवाज का भट्टा होना स्वरभेद कहलाता है। यह प्रतिश्याय, कास और श्वास रोग में पाई जाने वाली एक सामान्य व्यव्या (complaint) है। कई दगावों में मिल सकती है, मामूली स्वरभेद, दीर्घकालीन स्वरावनाद, स्वरलोप अथवा स्वरोपघात। शब्दोच्चारण में होने वाला विकार अर्थात् स्वरभेद स्वरयंत्र के स्थानिक अथवा मस्तिष्कगत वाणी केन्द्र के प्रभावित होने में आशिक या पूर्णघात तक हो सकता है। स्वर-यंत्र के स्थानिक विकृति के भेद से कई प्रकार का रूप हो सकता है जैसे १. खर-स्वरना (Hoarseness of voice) २ भाषणकृच्छ्रता (Dysphagia) ३ स्वरावसाद (Aphonia), यह अवस्था तीव्र स्वर-यंत्र शोथ (Acute or catarrhal laryngitis) अथवा पुराण स्वर यंत्र शोथ (chronic laryngitis) में मिलती है। स्वरभेद से अपने अध्याय का प्रतिपाद्य विषय यहीं तक सीमित है।

इस प्रकार स्वरभेद ऊँचे स्वर से बोलना या गाना (भाषण देना, चिल्लाना), अत्युच्च स्वर में अव्ययन (पाठ करना), अभिघात (Tranma) अथवा विषसेवन से होता है। इन कारणों से वातादिदोष कुपित होते हैं और वे कुपित होकर स्वरग्राही स्रोतों में अविष्टित होकर स्वर को नष्ट कर देते हैं जिसे स्वर-

भेद नामक व्याधि से अभिहित किया जाता है ।^१ पानी के दोष से भी स्वर-भेद पैदा होता है । यात्रा में विभिन्न स्थानों का जल पीने से प्रायः स्वर का भेद होना देखा जाता है ।

मस्तिष्कगत वाणीकेन्द्र के प्रभावित या विकारयुक्त होने से यदि पूर्ण-तया स्वरनाश हो जाय तो उसको मूकता (Aphasia) कहते हैं । इसका कारण मस्तिष्कगत वाणीकेन्द्र को भयकर विकृति है । यह मूकता यदि आशिक हुई तो उसे वाककृच्छ्रता (Dysphasia) कहते हैं । इसके अतिरिक्त एक और तीसरी अवस्था भी हो सकती है जिसे गद्गद् वाक् (Dysarthria) कहते हैं । ये अवस्थायें सान्निपातिक ज्वर की विषमयता के परिणाम स्वरूप या वात रोगों में जिसमें स्वरोत्पादक साधन (स्वर यंत्र ओष्ठ, जिह्वा और तालु) का वात के (Paralysis) फल स्वरूप पाई जाती है । इनका उपचार वातरोगों के अध्याय में बतलाया जायेगा ।

यहाँ पर स्वरभेद (Hoarseness of the voice) का वर्णन विशुद्ध-तया स्वर यंत्र को स्थानिक-विकृति के परिणाम से होने वाले स्वरभेद (laryngitis) का ही किया जायेगा ।

यह स्वरभेद स्वतंत्रतया या रोगों के उपद्रव स्वरूप या किसी प्रधान व्याधि के लक्षण रूप में भी मिल सकता है । यह छ प्रकार का होता है—वातिक, पित्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, क्षयज तथा मेदोज । इनमें क्षीण, वृद्ध, कृश रोगियों का स्वरभेद या दीर्घकालीन जन्मजात, सान्निपातिक अथवा मेदस्वी व्यक्तियों में मेदाधिक्य के कारण होने वाला स्वरभेद असाध्य होता है । शेष साध्य होते हैं ।^२

स्वरभेद में क्रियाक्रम—सर्वप्रथम उपचार-कारणों का दूर करना होता है, यदि बहुत बोलने या भाषण देने से स्वरभेद हो, तो गले और स्वरयंत्र को पूर्ण विश्राम देने के उद्देश्य से बोलना छोड़कर मौन रहना रोगी के लिए हितकर होता है । गरीर के बल एवं पुष्टि को बढ़ाने वाले, कफघ्न और स्वर शुद्ध करनेवाले अन्न-पान तथा आचार स्वरभेद में हितकारक होते हैं । इसके लिये जो, लालचावल,

१ अत्युच्चभाषणविपाध्ययनाभिप्पात-सदूषणं. प्रकुपिता. पवनादयस्तु ।
स्रोत सु ते स्वरवहेषु गता प्रतिष्ठा हन्यु स्वरं भवति चापि हि षड्विध स ॥
वातादिभि पृथक् सर्वमेदसा च क्षयेण च ।

२ क्षीणस्य वृद्धस्य कृशस्य वाऽपि चिरोत्थितो यश्च सहोपजातः ।

मेदस्विन सर्वसमुद्भवश्च स्वरामयो यो न स सिद्धिमेति ॥ (सु उ. ५३)

हंम (वत्तक) और मुँगे का अण्टा, मुँगे, और मोरका मासरम, मद्य, गोखरू, विजौरे का रस, मकौय, जीन्वती, कच्ची छोटी मूली, मुनक्का, हरीतकी, लहसुन, बदरक नमक के साथ, काली मिर्च, पान का रस या लगे पान का बीड़ा, घी, मलाई, खट्टी का सेवन पथ्यकर होता है। रोगी में उष्णोपचार हिनकर रहता है, अम्नु, पीने के लिये उष्णजल की व्यवस्था स्वरभेद में करनी चाहिये। उष्ण पेय चाय, कोको, काफी अच्छा है।

कपित्थ, जामुन, वकुल तथा अन्य कच्चे फल, गालूक (विस या जलकंद), कपाय एव अम्नु रस द्रव्य, दही, वमन कर्म, दिवा स्वप्न आदि पदार्थ स्वरभेद वाले रोगी के लिये प्रतिकूल पड़ते हैं। अभिष्यन्दकारक आहार-विहार, शीत और वेगो का विधारण भी अपथ्य होता है।^१ शीतपेयों (cold drinks) का निषेध करना चाहिये।

स्वरभेद में सामान्यतया स्वेदन, वस्ति देना, धूमपान, विरेचन-नस्य, कवल ग्रह (गार्गल) और गिरावेव के द्वारा उपचार करना होता है।^२

वातिक स्वरभेद में—भोजनोत्तर (भोजन के बाद) घृत का पिलाना। घृत में मरिच चूर्ण मिलाकर देना चाहिये। काम-मर्द का रस और भारगी में मिद्ध घृत भी पथ्य होता है।^३

पैत्तिक स्वरभेद में—मधुर (मधुघृष्टि, मुनक्का, खजूर आदि) द्रव्यों से पकाये दूध का प्रयोग करना चाहिये। मृदु रेचन देना चाहिए। मुलंठी के काढ़े का घी मिलाकर सेवन उत्तम रहता है। मधुर रस वाले द्रव्यों का मधु के साथ सेवन उत्तम रहता है। गतावरी, बला और धान्य लाज के चूर्ण का मधु के साथ सेवन उत्तम रहता है। यर्करा, मिथ्री, वेतागे या तालमिथ्री का चूसना लाभ करता है। गुठी, मधुघृष्टि, क्षीरोवृक्ष के कल्क और दूध से सिद्ध घृत का प्रयोग हिनकर होता है।^४

१ वलपुष्टिकरं दूध कफघ्न स्वरशुद्धकृत् ।

अन्न पान च निखिल स्वरभेदे हितं मतम् ॥

२ द्राक्षा पथ्या मातुलुङ्गं लघुनं लवणार्द्रकम् ।

ताम्रलं मरिच सपिः पथ्यानि स्वरभेदिनाम् ॥

३ नात्राभिष्यदि रमेव्यं न च शीतक्रिया हिता ।

दिवास्वापो न कर्त्तव्यो न च वेगविधारणम् ॥

४ स्वरोपघातेऽनिरुजे भक्तोपरि घृतं पिबेत् ।

श्लैष्मिक स्वरभेद में—पिप्पली, पिप्पलीमूल, मरिच और शुठी का सम प्रमाण में बनाया चूर्ण २ मासे की मात्रा में गोमूत्र के साथ लेना हितकर होता है ।^१

त्रिदोषज स्वरभेद में—अजमोदा, हरिद्रा, वामलकी, चित्रक, यवक्षार का समप्रमाण में बनाया चूर्ण ३ मासे, मधु ६ मासे, घृत १ तोले के साथ मिलाकर सेवन ।

क्षयज और मेदोज स्वरभेद में—क्षयरोग और मेदो रोग (स्थूल रोगाधिकार) के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए ।

कवल-धारण—(Gargles)—स्वरभेद में कवल-ग्रहण बड़ा उत्तम उपचार है । कवल के द्वारा स्वरयंत्र, गला, तालु, जिह्वा, दन्तमूल आदि मुख-गद्गर्गत अवयवों में चिपका हुआ कफ निकल जाता है—कफ के निकल जाने से स्वर शुद्ध हो जाता है । अस्तु, बहुत प्रकार के कवलों का प्रयोग शास्त्र में पाया जाता है ।^२

वातिक स्वरभेद में कटु तेल और लवण मिलाकर, पित्तिक में घृत और मधु मिलाकर और कफज स्वरभेद में कटुद्रव्य एवं मधु और क्षार मिलाकर कवल धारण करना उत्तम रहता है ।^३

भेषज—सामान्यतया कवल के लिए गर्म जल में नमक डालकर कुल्ली करना, या गर्म जल में शुद्ध फिटकरी का चूर्ण डाल कर कुल्ली करना, अथवा त्रिफला का काढ़ा बना कर उसमें सरसों का तेल छोड़ कुल्ली करना अथवा क्षीरी वृक्षके छालों का क्वाथ बनाकर कवल धारण उत्तम रहता है ।

रोगी को घृत, खड्को, मलाई प्रभृति स्निग्ध आहार या मासरस के साथ अन्न देना चाहिए और पीने के लिए गर्म जल देना चाहिए । गर्म दूध का पीना भी लाभप्रद रहता है । यदि कफ दोष को अधिकता प्रतीत हो तो दूध में थोड़ा सोठ या पिप्पली का चूर्ण छोड़कर उबाल देना चाहिए । १ मरिच चूर्ण का

१ पित्तिके तु विरेक. स्यात् पयश्च मधुरे शृतम् ।

पिप्पली पिप्पलीमूल मरिच विष्वभेषजम् ।

पिवेन्मूत्रेण मतिमान् कफजे स्वरसक्षये ॥

२ गले तालुनि जिह्वाया दन्तमूलेषु चाश्रित ।

तेन निष्क्रमते श्लेष्मा स्वरश्चाशु प्रमोदति ॥

३ वाते सलवण तैल पित्ते सपि समाक्षिकम् ।

कफे सक्षारकटुक क्षौद्रं कवलमिष्यते ॥

२ मा घृत के साथ सेवन । २. वेर की पत्ती को घी में भूनकर सेंधानमक मिलाकर सेवन ^१। ३. जीवनीय गण की औषधियों से मिष्ट दुग्ध में चीनी और शहद मिलाकर सेवन । ४. आमलकी फल ताजा या अभाव आमलकी चूर्ण ३ माशे गर्म दूध के साथ सेवन ५. विभीतक (वहेडे) के फल का छिल्का लेकर उमका चूर्ण बनाकर २ माशे पिप्पली चूर्ण १ माशा और सेंधानमक १ माशा मिलाकर सेवन करना ।

भेषज-योग—

चल्यादि चूर्ण—चव्य, अम्लवेत, सोठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, डमली के बीज, तालीश पत्र, श्वेत जीरा, वशलोचन, चित्रक, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपात—प्रत्येक का एक-एक तोला और कुल चूर्ण के बराबर अर्थात् १३ तोला पुराना गुट मिलाकर एकत्र महीन पीसकर रखले । सभी प्रकार के स्वरभेद में लाभप्रद रहता है । मात्रा ३-६ माशे । अनुपान गर्मजल ।

निदिग्धिकावलेह—छोटी कटेरी ५ सेर, पिपरामूल २॥ सेर, चित्रक मूल १। मेर, दशमूल की औषधियाँ १। सेर, जल २५ सेर । क्वाथ बनाकर चौथाई शेष रहने पर उतार कर छान ले । अब इस क्वाथ की कड़ाही में रख आग पर चढ़ावे । उसमें पुराना गुड ३ सेर मिलाकर गाढ़ा करे । जब अवलेह जैसे होने लगे तो उसमें पिप्पली चूर्ण ३२ तोले, त्रिजात (दालचीनी, छोटी इलायची और तेजपात) ३२ तोले, काली मिर्च का चूर्ण ४ तोला मिलाकर पाक को उतार ले । ठंडा होने पर उसमें मधु १६ तोला मिलाकर रखले । दीर्घ-कालीन स्वरभेद में लाभप्रद है । प्रतिश्याय, कास में भी लाभप्रद होता है । मात्रा ६ माशे से १ तो अनुपान दूध या उष्ण जल ।

किन्नरकंठ रस—गुद्ध पारद, गुद्ध गंधक, अन्नक भस्म, स्वर्णमाक्षिक भस्म प्रत्येक १ तोला, वैक्रान्त भस्म ३ माशे, स्वर्ण भस्म १½ माशा और चादी की भस्म ६ माशा । अड़ूमे, भारङ्गो, बड़ी कटेरी, अदरक, ब्राह्मी के स्वरस या क्वाथ की पृथक्-पृथक् एक भावना । २ रत्ती की गोलियाँ । अनुपान गुण्ठी, जवकर और मधु में सेवन ।

इम गुटिका के सेवन से स्वरभेद दूर होता है । कंठ कोकिल-स्वर हो जाता है ।

१ वदरोपत्रकल्क वा घृतभृष्टं ससैन्धवम् ।

स्वरोपघातं कासे च लेहमेत प्रयोजयेत् ॥

उपसंहार—सामान्यतया स्वरभेद में किसी विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नहीं पड़ती है, प्रतिश्याय, कास आदि की चिकित्सा और कवल धारण, स्वर यंत्र को आराम देने से ही स्वतः एक सप्ताह के भीतर ठीक हो जाता है। कभी स्वरभेद अधिक दिनों तक चलने लगता है। उस अवस्था में उसके विशेष उपचार की आवश्यकता पड़ती है। ऊपर लिखे उपक्रमों के अनुसार चिकित्सा करते हुए लाभ होता है।



सोलहवाँ अध्याय अरोचक प्रतिपेध

प्रावेशिक—जिस रोग में अरुचि (खाने में रुचि या इच्छा का विल्कुल न होना) प्रधान रूप से पाया जाता है उसे अरोचक कहते हैं। अरोचक (Anorexia) शारीरिक और मानसिक कारणों के भेद से दो प्रकार का हो सकता है। शारीरिक कारणों में आमाशयगत विकार जैसे आमाशयकला शोथ, कैंसर, अनम्लता तथा रक्ताल्पता (Gastritis, cancer, hypochlorhydria & Anaemia) अरुचि की उत्पत्ति में भाग लेते हैं। मानसिक कारणों में शोक, भय, लोभ, क्रोध, मनोविघात (मन का टूटना) आदि कारण भाग लेते हैं। इस अवस्था में (anorexia nervosa) हर प्रकार के भोजन से रोगी को घृणा हो जाती है, थोड़ा भी खा लेने पर पेट फूला रहता है। पोषण के अभाव में रोगी दुर्बल होता चलता है। प्राचीन ग्रन्थकारों ने पाँच प्रकार के अरोचक का वर्णन किया है—१ वात २ पित्त ३ कफ ४ सन्निपात दोष से (शारीरिक) तथा ५ मनोविघात (क्रोध, शोक लोभ प्रभृति मानसिक उद्वेगों से) के कारण होने वाले अरोचक ।^१

अरोचक में क्रियाक्रम—

वातजन्य अरोचक में वस्ति कर्म, पित्तजन्य अरोचक में विरेचन कर्म, कफ जन्य अरोचक में वमन कर्म कराना चाहिये तथा मनोविघातजन्य अरोचक में हृद्य—

१ वातादिभिः शोकभयातिलोभक्रोधैर्मनोघ्नाशनरूपगन्धैः । अरोचका स्युः ॥
हृच्छूलपोडनयुत पवनेन पित्तातृड्दाहचोपबहुल सकफप्रसेकम् । श्लेष्म ॥ १८ ॥
वहुरुज बहुभिश्च विद्याद् वैगुण्यमोहजडताभिरथापरञ्च ॥ (च चि २६)

रुचिकारक एवं मन को प्रमत्त करने वाले आहार-विहार एवं औषधि करने चाहिए ।

अरोचक में कवल धारण, धूम का उपयोग, मुखधावन, मनोज्ञ अन्न-पान, हर्षण एवं आध्वासन, चित्र विचित्र स्वाद का पानक (शर्वत), लेह, तक्र, काजी, पाडव (अचार, चटनी) आदि रोगी को खाने के लिए देना चाहिए । (अरुचौ चित्रभोजनम्) । लघु, सुपाच्य, हल तथा मनोनुकूल पथ्य की व्यवस्था करनी चाहिए ।^१ इन बात का भी ध्यान रखना चाहिए ये विविध प्रकार के रुचिकर भोजन रोगी की प्रकृति, देश और काल के अनुकूल और मात्स्य हो ।

१ विडङ्ग चूर्ण १ तोला, मधु ४ तोला मिलाकर मुख में धारण करने से कठिन अरोचक में भी लाभ होता है ।

२ कवलग्रह या मुख का धावन-२. त्रिकटु, त्रिफला, हल्दी, दारुहल्दी, को मम प्रमाण में लेकर चतुर्गण जल में खोलाकर उसमें यवक्षार और मधु मिलाकर कुत्ली (Gargle) करना ।

३ गुडके शर्वत में दालचीनी, छोटी इलायची, काली मिर्च प्रत्येक $\frac{1}{2}$ माशे डालकर कुत्ली करना ।

४ गण्डूष—काजी में नैदानमक मिलाकर गर्म करके मुख में भरना और बार-बार फेंकना मुख की विरसता को दूर करता है ।

५. पानक—चीनी का गाढ़ा शर्वत ६ भाग, कागजी नीबू का रस १ भाग, लवङ्ग तथा मरिच का चूर्ण मिलाकर पीना । केवल नीबू का रस पीना, नीबू और नमक का चूमना भी अरुचि को दूर करता है ।

६ गुटिका—कालाजीरा, श्वेत जीरा, काली मिर्च, मुनक्का, अम्लवेत, अनार-दाना, काला नमक तथा गुड प्रत्येक समभाग में लेकर महीन चूर्ण करके मधु मिलाकर गोली २ माशे की बना ले । मुख में धारण करके चूमने से सभी प्रकार के अरोचक में लाभ होता है ।

७. तक्र—भुनी राई, सुता जीरा, भुनी हींग, सोठ और सैन्धव नमक प्रत्येक का एक तोला लेकर कूट-पीस कर महीन चूर्ण कर ले । गाय की मूत्रा हड्डि

१. वस्ति ममोरणे पित्ते विरेको वमनं कफं । सर्वजे सर्वकामार्थं हर्षणं स्याद-
रोचके ॥ अरुचौ कवलग्राहो धूमः सुमुखधावनः । मनोज्ञमन्न-पानं वा हर्षणाध्वाम-
नानि च ॥ मात्स्यान्वदेशरचितान् विविधाश्च भटयान् । पानानिमूलकउपाडव-
गगनेहान् । मेवेद्रसारश्च विविधान् विविधप्रयोगैर्भुञ्जीत चापि लघुरुज्जमन
मुत्तानि ॥ (या २)

दो छटाँक में $\frac{1}{2}$ तोला इस चूर्ण को मिलाकर सेवन करे। इससे अग्नि और रुचिकी वृद्धि होती।

८ शिखरिणी—भली प्रकार औटाया दूध, वस्त्र में बँधी हुई जल रहित भैस की दही इनको एक में मिलाकर इसमें बराबर चीनी मिलाकर एक मोटे कपड़े पर घिन कर छान ले। पश्चात् उसमें छोटी इलायची, लोंग, कपूर और काली-मिर्च का चूर्ण मिलावे। यह एक रुचिकारक भोजन है।

९ रसाला—खट्टी दही १२८ तोला, श्वेत चीनी ६४ तोला, गोघृत और शहद ४-४ तोला, काली मिर्च और और मोठ का चूर्ण २-२ तोला, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपात और नागकेसर प्रत्येक $\frac{1}{2}$ तोला। प्रथम दही को एक कपड़े में बाँधकर एक खट्टी से लटका दे। जब उसका पानी निकल जाय। तब उस दही को एक श्वेत वस्त्र पर रखकर स्वच्छ हाथों से घिसकर छान ले। फिर कपड़े से छाने दही में शेष द्रव्यों के चूर्णों को मिलाकर कपूर से वासित करके पात्र में भर रख लेवे। यह रसाला सर्वप्रथम भीमसेन ने बनाई थी जिसको भगवान् श्रीकृष्ण ने आस्वादित किया था। यह स्निग्ध वृंहण और रुचिप्रद योग है।

१०. अवलेह—विजोरा नीबू या कागजो नीबू का केसर, सैधव तथा घी के माथ बार-बार लेने या नीबू का रस मधु से लेने से या अनार के दाने चूसने से अरुचि दूर होती है।^१

११ सैधव-अदरक—अदरक का नमक के साथ भोजन के पूर्व खाना।^२

१२ चूर्ण—

यमानीपाडव—अजवायन, इमली का चूर्ण या सत्त्व, सोठ, अम्लवेत, खट्टा अनार दाना, और खट्टे बेर की सूखी मज्जा प्रत्येक एक-एक तोला, धनिया, सोचल नमक (काला नमक), श्वेत जीरा और दालचीनी प्रत्येक आधा तोला, छोटी पीपल १००, काली मिर्च २०० तथा मिश्री १६ तोले। यह यमानी पाडव चूर्ण मुखशोधक, रुचिकारक, हृदय और पार्श्व-शूलशामक, विविध तथा आनाह को दूर करने वाला, कास और श्वास शामक तथा ग्रहणी एवं अर्श में भी लाभप्रद है। अरुचि में इसका थोड़ा-थोड़ा चूसना या नीबू का रस मिलाकर सेवन फलप्रद होता है।

१. शमयति केसरमरुचि सलवणघृतमाशु मातुलुङ्गस्य।

दाडिमचर्वणमथवा चरको रुचिकारि सूचयामास ॥ (यो र)

२ भोजनाग्रे सदा पथ्य लवणार्द्रकभक्षणम्।

रोचन दीपन वल्ले जिह्वाकण्ठविशोधनम् ॥

(भा० प्र०)

१३. रस योग—

सुधानिधि रस—गुठ पारद और गंधक एक-एक भाग लेकर कज्जली बनावे । उसमें दन्तीमूल व्वाय की एक भावना दे । फिर जम्बीरी नीबू का रस, अदरक का रस, विजोरा नीबू का रस, विजोरे नीबू की मज्जा के रस की पृथक् पृथक् एक-एक भावना दे । फिर उसमें सुहागे की खील (गुठ टंकण) २ भाग, लवङ्ग ५ भाग, गुठ वत्सनाभ त्रिष (पारे का चौथाई भाग) मिलाकर जल से पीनकर माघे-माघे भर की गोलियाँ बना ले । मात्रा १ से २ गोली । अनुपान-गुठी या गुठ के साथ खावे । सभी प्रकार के अरोचक एवं अग्निमाद्य में लाभप्रद है ।

पथ्य—गेहूँ, चावल, मूग, शूकर-वकरा-खरगोश-हिरण का मांस, मछली, तरबूज, बैत के अन्न, मूली, बैंगन, सहिजन, अनार, केला, कमरख, परवल, काला नमक, घी, दूध, कच्चे ताल फल, लहसुन, सूरण, दाख, आम, नीम के कोमल पत्ते, काजी, मद्य, रमाला, दही, मट्ठा, अदरक, खजूर, कैय, बेर, खंड, ठरट, अजवायन, काली मिर्च, हींग, स्वादु-अम्ल एवं तिक्त द्रव्य, उबटन, तीरे पर ठंडे में टहलना और स्नान अरोचक में प्रशस्त है ।

अपथ्य—वेगविधारण, अहृद्य अन्न-पान, रक्तमोक्षण, क्रोध, लोभ, शोक, भय प्रभृति मानसिक उद्वेगों की अधिकता, दुर्गन्ध एवं कुलूप द्रव्यों का अवलोकन अरोचक में वजित है ।



सत्रहवाँ अध्याय

छर्दि-प्रतिपेध

प्रावेशिक—जिम रोग में वमन (कं) होना प्रमुख लक्षण के रूप में पाया जाता है उसको छर्दि रोग कहते हैं । यह पाँच प्रकार का वात, पित्त, कफ, त्रिदोष, मे (दोषज या शारीरिक) तथा आगन्तुक (मानसिक उद्वेग मे) का होता है । अन्ननलिका तथा मुख द्वारा आमाशयिक पदार्थों का वेगपूर्वक निकलना इस छर्दि रोग में पाया जाता है ।^१

१. द्रुतमुत्क्षेपितो वलात् । आदयन्नातन वेगैर्द्रव्यन्नंगभञ्जनैः । निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्र प्रधावित ॥ दुष्टेर्दोषैः पृथक् सर्वैर्वीभत्मालोचनादिभिः । छर्दय पञ्च विज्ञेयाः । अनिद्रवैरतिस्निग्धैरहृद्यैर्लवणैरति । अकाले चातिमात्रैश्च तथा सात्त्व्यैश्च भोजनैः ॥ श्रमाद् भयात्तद्योद्रेगादजीर्णत्विमिदोपतः । नार्याश्चापन्न-सत्त्वाप्रास्तथातिद्रुतमग्नतः ॥ बीभत्सैर्हेतुभिश्चान्यः ।

प्रतीच्य वैद्यक के आधार पर छिदि को तीन बड़े भागों में विभक्त किया जा सकता है ।

१. केन्द्रीय छिदि (Central Vomiting)—मस्तिष्कगत वामक केन्द्र के उत्तेजना के फलस्वरूप वमन होना । इस प्रकार का वमन किसी वस्तु के प्रति स्वाभाविक घृणा, भय और बीभत्स हेतुओं से वामक केन्द्र के उत्तेजित होने से उत्पन्न होता है । इस प्रकार की अवस्था प्रायः असहिष्णु (Neurotic) व्यक्तियों में पायी जाती है । कई बार मस्तिष्काबुद्धि, मस्तिष्कावरण शोथ प्रभृति रोगों में शीर्षान्तरीय निपीड (Intra Cranial Pressure) के बढ़ने से भी इस प्रकार की छिदि का होना संभव है ।

२ प्रत्यावर्त्तन क्रियाजन्य छिदि (Reflex Vomiting)—यह आमाशयस्थ विकृत खाद्य पदार्थ, विभिन्न सेन्द्रिय तथा निरिन्द्रिय विषों से आमाशय कला के क्षोभ तथा आमाशय के अधिक तन जाने से छिदि उत्पन्न होती है । जैसे अतिद्रव, अति स्निग्ध, अहृद्य, असात्म्य भोजन आदि ।

३ विषजन्य छिदि (Toxic Vomiting)—कई प्रकार के बाह्य तथा अतस्थ विषों का प्रभाव साक्षात् मस्तिष्कगत वामक केन्द्र पर होता है फलतः वमन होने लगता है । जैसे तूतिया, ताम्र, लवण जल तथा मूत्रविषमयता (uraemia) आदि ।

आगन्तुक छिदि में सुश्रुत में बीभत्स (घणोत्पादक) पदार्थों का देखना, नूधना या सेवन के अतिरिक्त, कृमिजन्य छिदि तथा गर्भकालीन छिदि का भी वर्णन पाया जाता है । इनमें त्रिदोषज के अतिरिक्त सभी छिदि रोग साध्य हैं, निम्नलिखित उपद्रवयुक्त छिदि भी तृपाधिक्य, श्वासाधिक्य, लगातार हिक्का युक्त वमन (जलाल्पता Dehydration से) तीव्र वेग का वमन अथवा मल-मूत्र के ममान गंध एवं वर्ण वाला वमन (आन्त्रावरोध Intestinal obstruction) असाध्य होता है ।

क्रियाक्रम—सभी प्रकार के छिदि रोग में आमाशय का उत्क्लेश (क्षोभ Irritation) पाया जाता है । अस्तु, सर्वप्रथम उपक्रम में लघन या उपवास कराना चाहिए । आमाशय के क्षोभ के कारण कुछ भी देने से वमन बढ़ जाता है, अस्तु जब तक वमन शान्त न हो जाय वल्कि वमन के बंद हो जाने पर भी जब तक आमाशय का क्षोभ शान्त न हो जाय (वमन के चार या छ घण्टे बाद तक) रोगी को कुछ भी खाने को नहीं देना चाहिए ।

छिदि रोग में यदि विशुद्ध वायु दोष पाया जावे और रोगी दुर्बल हो तो

उम रोगी में जीव्र हो वमन के बढ होने के अनन्तर कुछ हल्का भोजन, धान्यलाज-मण्ड, अनार के फल का रस, पञ्चात् कुछ गाढा भोजन आदि देना चाहिए। परन्तु जब कफ और पित्त दोष की प्रधानता हो और रोगी बलवान् हो तो उपवास या लघन के साथ ही साथ मंशोधन की भी व्यवस्था करनी चाहिए। अर्थात् कफा-श्रित्य में पिप्पली, सर्पपत्र, निम्बपत्र का कषाय या मदनफल के कषाय में सेवानमक का योग करके वमन कराना चाहिए। परन्तु यदि रोगी इन दोषों के अधिकता में भी दुर्बल हो तो मंशोधन न देकर के मयमन कराना हितकर होता है। यदि वमन आगन्तुक प्रकार का हो अर्थात् वोभत्म, अप्रिय, विपरीत एवं अपवित्र चीजों के देखने, सूँघने या खाने में वमन हो रहा हो (मानसिक) तो उसे मनोनुबूल, नचिकर, प्रिय लगने वाले, लघु, गुष्क भक्ष्य, भोज्य या पेय द्रव्यों के (मामिष या निरामिष) भक्षण की व्यवस्था करनी चाहिए।^१

छदि रोग में वायु की गति ऊपर की होनी है उसका अनुलोमन या अधोगमन बढ हो जाता है। अम्बु, वायु या अन्य दोषों के अधोगमन कराने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

प्रतीच्य वैद्यकोक्त यात्रा अमुत्र (Travel sickness). सामुद्र अनुव्र (Sea sickness), आकाश अमुत्र (Air sickness) जिसमें अनन्यस्त सवारियों पर चलने, समुद्र के जहाज पर चढ़ने या हवाई जहाज में यात्रा करते समय वमन होने लगता है। प्राचीनोक्त आगन्तुक वमन के भीतर ये समाविष्ट हो जाते हैं। इनमें आगन्तुक वमन सदृश ही क्रियाक्रम को रखना चाहिए।

मुद्युत ने बतलाया है कि यदि वमन बढा तीव्र हो और संजमन के उपायों में ठीक न हो रहा हो और दोषों की प्रबलता हो तो वामक औषधियों के द्वारा वमन कराना हितकर होता है। “छर्दिषु बहुदोषासु वमनं हितमुच्यते” वमन करा देने में अत्रा आमालय का प्रयासन (Stomach wash) करा देने में आमालय में क्षोभ पैदा करने वाले सभी दोष निकल जाते हैं और वमन स्वयमेव शान्त हो जाता है।

१ आमालयेत्वेत्येवमत्र हि सर्वांश्छर्द्यो मता लङ्घनमेव तस्मात् । प्राक्कारयेद्मान्तजा विमुच्य मशोधनं वा कफपित्तहारि ॥ चूर्णानि लिह्यान्मधुनाभयाना हृतानि वा यानि विरेचनानि । मत्रै पयोभिश्च युतानि युस्त्या नयन्त्यथोदोषमुदीर्ण-मूर्ध्वम् ॥ वन्नीफगर्धवमन विवेद्या यो दुर्बलस्तं वमनंश्चिकित्सेत् । रसं मनोजैर्लघुभिर्विगुष्कैर्मदर्वैश्च भोज्यैर्विविधैश्च पानं ॥

दोषानुसार प्रतिपेध--

वातिक छर्दि^१—दूध में समान भाग पानी मिलाकर पीने से अथवा घृत और सेवा नमक मिलाकर पिलाने से अथवा मूंग और आँवले का यूप बनाकर (भुना हुआ मूंग २ तोला, आँवला १ तोला, ३१ तोले जल में खोलाकर ८ तोला शेष रहने पर) १ तोला घी और सेंधा नमक मिलाकर पिलाने से वातिक वमन शान्त होता है। सशमन के लिये धनियाँ, त्रिकटु, गंखपुष्पी तथा दशमूल के कपाय का उपयोग करना चाहिये।

पैत्तिक छर्दि^२—अनुलोमन तथा मृदु रेचन के लिये मुनक्का, विदारी कद, निशोथ, का काढा बनाकर ईख के रस में निशोथ चूर्ण मिलाकर पिलाना चाहिये। मृदु रेचन होने के अनन्तर धान्य लाज का सत्तू पानी में धोलकर या मण्ड बनाकर उसमें शक्कर और मधु मिला कर देना चाहिये। जब यह पच जावे तो पुराने चावल का गोला भात बनाकर मूंग की पतली दाल या हल्के मासरस (शोरवे) के साथ खाने को रोगी को देना चाहिये। संशमन के लिये श्वेत चंदन, कमलनाल, सस, सुगंधवाला, शुष्ठी, सोनागेरू, आमलकी, अडूसा को समभाग में लेकर कल्क (पीसकर चटनी बनाकर) चावल के पानी और मधु से देना चाहिये। पित्त पापडा का काढा मधु के साथ पीने से पैत्तिक वमन में शान्ति मिलती है। आँवला या कच्चे कैय का रस भी पैत्तिक वमन को शान्त करता है।

श्लैष्मिक छर्दि^३—कफजछर्दि में कफ एवं आमदोष की शुद्धि के लिये पिप्पली, मरमो नीम की छाल, उनको समप्रमाण में लेकर २ तोले द्रव्य को ३२ तोले जल में खोलाकर ८ तोला शेष रहने पर उसमें मैनफल का चूर्ण $\frac{1}{4}$ तोला और सेंधानमक $\frac{1}{2}$ तोला मिलाकर पिलाना चाहिये।

पथ्य में—पुराना चावल का भात, गाय की दधि और चीनी मिलाकर देना उत्तम रहता है।

१ हन्यात् क्षीरोदक पीत छर्दि पवनसम्भवाम्।

ससैन्धव पिबेत्सर्पिर्वातच्छर्दिनिवारणम् ॥

२ पित्तात्मिकाया त्वनुलोमनार्थं द्राक्षाविदारीक्षुरसैस्त्रिवृत् स्यात्। (च द्र)

३ कफात्मिकाया वमन प्रशस्त सपिप्पलीसर्पपनिम्बतोर्यै।

पिण्डीतर्क सैन्धवसप्रयुक्तैश्छर्द्या कफामाशयशोधनार्थम् ॥

मंरामन के लिये—१ वाय विडङ्ग, त्रिफला, गुंठी का सम प्रमाण में बना चूर्ण मधु के साथ । २ जामुन की गुठली तथा बेर के फल की मज्जा का सूखा चूर्ण मधु में । ३. नागरमोथा तथा कर्कटशृङ्गी का चूर्ण मधु से । ४ दुरालभा (जवासा) का चूर्ण मधु से कफज छर्दि का शामक होता है ।

सामान्य भेषज—(सभी प्रकार के वमन में —१ विधिवत् बनाये हुए गुडूची के काढ़ा या हिम (गुडूची को कूट कर पानी में भिगो कर रखे हुए जल को हिम कहा जाता है) का मधु के साथ सेवन अथवा गुडूची का स्वरस, मधु प्रत्येक १ तोला मिलाकर देने से सभी प्रकार के वमन में विशेषतः गर्भकालीन वमन में बढ़िया लाभ दिखलाता है । २ श्रोफल (बेल) और गुडूची का काढ़ा मधु के साथ पिलाना भी लाभप्रद होता है । ३ मूवा का स्वरस या चूर्ण मधु के साथ सेवन । ४ विल्व के मूल की छाल का काढ़ा मधु के साथ पिलाने से सभी प्रकार के वमन में लाभ पहुँचाता है । ५. मसूर का सत्तू—मसूर के सत्तू को मधु में मिलाकर अनार या बेदाणा का रस मिला कर पानी में घोलकर थोड़ी मिश्री मिलाकर पिलाने से वमन को शान्त करता है । ६ जी के सत्तू को घोलकर गृह्म मिलाकर लेने से भी वमन शान्त होता है । ७. अश्वत्थ—पीपल की सूखी छाल को लेकर आग में जलाकर उसके अगारे को पानी में बुझाकर इस पानी के पिलाने से वमन शान्त होता है । यह जल तृपाशामक भी होता है । ८ आम्राम्ब (आम की गुठली की मज्जा) तथा विल्व की मज्जा का काढ़ा बनाकर मिश्री और मधु मिलाकर पिलाने से वमन तथा अतिसार दोनों की शान्ति होती है । इस भेषज का पाठ विसूचिकाधिकार में हो चुका है । विसूचिका में विशेष लाभप्रद रहता है । ९ विजीरा नीबू, जामुन एवं आम के पत्तल का काढ़ा ठंडा करके पान के लावा का चूर्ण एवं मधु मिलाकर सेवन कराने से वमन एवं अतिसार दोनों में लाभ होता है । १० मक्षिकाविट् का मधु के साथ सेवन या जगलीवेर, आँवले की मज्जा का मिश्री और मधु के साथ सेवन वमन का शामक होता है । ११ मयूरपिच्छ-मयूर-पुच्छ को जलाकर उसकी राख को मधु के साथ चटाने से वमन शान्त होता है । १२ गोणी भस्म पुरानी गोणी को जलाकर उसकी राख

१ विल्वत्वची गुडूच्या वा क्वार्थ चीद्रेण सयुत ।

जयेत् त्रिदोषजा छर्दि पर्वटः पित्तजा तथा ॥ (च. द तथा शार्ङ्गधर)

२ बेल या लंट के ऊपर बोझा लादने के लिये जो चीज बनती है उसे गोणी कहते हैं । इस तरह की पुरानी गोणी को जला कर उसकी राख को मधु से सेवन के लिये देने से वमन शान्त होता है ।

का जल मधु के साथ सेवन । १३ जातीपत्र-चमेली की पत्ती का रस, कच्चे कैथ के फल का रस-छोटी पीपल, मरिच, मिश्री और मधु के साथ सेवन विरकालीन वमन को भी शान्त करता है । १४ दही का पानी, पिप्पली चूर्ण मधु, मिलाकर थोड़ा-थोड़ा करके बार-बार चाटने से वमन शान्त होता है । १५ करंज (कटु कुवेराच)—करंज की कोमल पत्तियों को पीसकर सेंधानमक तथा नीबू के रस में मिलाकर थोड़ा-थोड़ा चाटने से कफ के विकार तथा वमन सद्यः शान्त होता है । करंज के बीज को थोड़ा आग पर भूनकर छोटे-छोटे टुकड़े करके खाने से तीव्र वमन भी शान्त होता है । १६ हरीतकी-हरीतकी चूर्ण ३ माशे मधु के साथ चाटने से दोष के अधोगमन होने से वमन शान्त होता है । १७. शखपुष्पी-का स्वरस १ तोला मधु के साथ देने से वमन की शान्ति होती है । १८ मधुयष्टी और श्वेत चन्दन-को गाय के दूध में पीसकर पिलाने से रक्त या रुधिर का वमन शान्त होता है । १९. धनिया और चावल को जल में सायकाल में भिगोकर दूसरे दिन प्रातः काल में मसल कर छान कर मधु या मिश्री मिलाकर पीने से छर्दि विशेषतः गर्भकालीन छर्दि का शमन होता है ।^१ २० छोटी इलायची-को पीस कर मधु के साथ देने से भी कुछ वमन की शान्ति होती है । २१ पुदीने-का ताजा रस या अर्क पीने से भी वमन में शान्ति होती है । २२ मुलेठी, विजौरे नीबू की जड़ को पीस कर घी एवं मधु से सेवन करने पर भी वमन में विशेषतः गर्भिणी के वमन में लाभप्रद होता है ।

॥ योग-एलादि चूर्ण—बड़ी इलायची, लवङ्ग, नागकेसर, वेर के फल की मज्जा, घान का लावा, प्रियङ्गु, मोथा, श्वेत चन्दन तथा पिप्पली प्रत्येक का चूर्ण १ तोला कूटकर कपडछन चूर्ण बनाकर शीशी में भर लेवे । इस चूर्ण को थोड़ा थोड़ा मुह में रखकर चूसने से या २ माशे की मात्रा में मधु के साथ सेवन करने से सभी प्रकार के वमन में लाभ होता है ।^२

रसादि या पारदादिचूर्ण—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, कपूर, वेरकी मज्जा (वेरकी गुठली का मगज), लौंग, नागरमोथा, प्रियङ्गु, सफेद चन्दन, छोटी पीपल, दालचीनी, छोटी इलायची और तेजपात । पहले पारद-गंधक की कज्जली बना

१ सतएडुलाम्भःसितधान्यकल्कपानाद्वमिर्गच्छति गर्भिणीनाम् ।

मध्वाज्ययष्टीमधुलुङ्गमूल निष्पीड्य पीतं च तदर्थकारि ॥

२ एलालवङ्गगजकेसरकोलमज्जालाजप्रियङ्गुघनचन्दनपिप्पलीनाम् ।

चूर्णं सितामधुयुतं मनुजो विलिह्य छर्दि निहन्ति कफमास्तपित्तजाताम् ॥

(योगरत्नावली) ।

कर पोछे उसमें अन्य द्रव्यों का कपड छन चूर्ण मिलाकर चन्दन के काढ़े को भावना देकर मुखा कर चूर्ण बना ले । मात्रा ४ रस्ती में १ मासे । अनुपान मरिच चूर्ण और मधु से, जल में, धान के लावा के मण्ड में, चन्दनादि अर्क में या पुदीने का रस या अर्क के साथ । इन योग को थोड़ा मूंह में रखकर चूमने से भी लाभ अच्छा होता है ।

✓ वसन्तामृत योग—शुद्ध गवक, कमल गट्टे का बीज, मुलैठी, गिलाजीत, न्द्राक्ष, शुद्ध टंकण, मृगशृङ्ग भस्म, ध्वेत चन्दन, वंगलोचन तथा गोरोचन प्रत्येक सममात्रा में लेकर बेल के मूल के काढ़े में तीन घण्टे तक भावितकर मटर के बराबर की गोलियाँ बनाले । यह योगरत्नाकर में पठित योगमार नामक पुस्तक में उद्धृत एवं कमलाकर वैद्य द्वारा निर्मित सिद्ध योग है जो विविध अनुपानों से अनेक प्रकार की छर्दि में लाभ करता है ।

छर्दिरिपु—कपूर कचरी का सूदम कपडछन चूर्ण करके उसको तीन घण्टे तक चन्दनादि अर्क के काढ़े में मर्दन करके २, २ रस्ती की गोली बनाले । मात्रा २, २ गोले पुदीने के अर्क में ।

उपमंहार—वमन के रोगी में उपवाम कराके आमामय को रिक्त रखना उत्तम रहता है । दोषों का अधोगमन कराने के लिये तथा वायु के अनुलोमन के लिये विपरीत मार्ग में दोष-हरण अर्थात् मृदुरेचन जैसे यष्ट्यादि चूर्ण २ मासे की मात्रा में कई बार देना आवश्यक होता है । यदि वमन बहुत हठी स्वरूप का हो तो मस्तिष्क केन्द्र के संगमन के लिये रस के योगों का या छर्दिरिपु योग का या मयूष्पृच्छ भस्म का प्रयोग करना चाहिये । अम्लपित्ताधिकार में पठित मूतशेखर रस का भी प्रयोग इन कार्य के लिये किया जा सकता है । संगमन के लिये पठित बहुविध भेषजों का भी मुलभत्ता के अनुसार रोग के बल के अनुसार प्रयोग करने में सद्य लाभ होता है । वमन में तृषा की प्राय अविकता पाई जाती है उसके लिये तिल्व की छाल का जल, गुठनीशृतजल, बटाङ्कुरशृतजल, विजोरा नीबू की पत्ती, आम के पत्र, जामुन के पत्र के शृत जलों को अथवा सौंफका अर्क, कर्पूराम्बु या पुदीने का अर्क या चन्दनाद्यर्क पीने को देना चाहिये । आमामय के क्षुब्ध रहने पर कोई भी जल पचता नहीं पीने के साथ ही वमन होने लगता है । अन्तु, इन पेय जलों को चम्मच में थोड़ा-थोड़ा करके कई बार में देना चाहिए ।

वमन के रोगी को पूर्ण विश्राम कराना चाहिए । उसके लिए जी, गेहूँ, चावल, मूग, कलाय, मयूर, खरगोज, तित्तिर, लवा का मास, नारिकेल, नाजर, नजूर, बेर, टाचा, मीठा अनार या बेदाना, ईंव का रस आदि पथ्य होता है । अनाम्य और दुष्ट अन्न-पान एवं व्यायाम अपथ्य होता है ।

वागन्तुक छदि में यदि वमन बीभत्स कारणों से हो रहा हो तो रोगी को उस वातावरण से दूर करना चाहिए । यदि गर्भकालीन वमन हो तो मृदु औषधियों से उनका गमन करे, यदि दौहद के कारण हो रहा हो तो हृद्य औषधियों के द्वारा या गर्भवती की इच्छा पूरी करने से वह दूर होता है । असात्म्य वस्तुओं का अभ्यास रहने के वजह से वमन हो रहा हो तो लंघन कराके, आसात्म्य पदार्थों का वमन करा के और सात्म्यपदार्थों के सेवन से रोग को जीतना चाहिये । उदरस्थकृमियों के कारण वमन हो रहा हो तो कृमिरोग के अधिकार में कथित चिकित्सा द्वारा शमन करना चाहिए ।^१

मनोविधात से वमन हो रहा हो तो मनोनुकूल, वाणी, आश्वासन, हर्षण, अन्न, पान, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, रूप का योग करने से वमन का शमन होता है । इस प्रकार का वमन मानसिक कारणों से अधिकतर अपतंत्रक वाले (Hysterical) रोगियों में पाया जाता है । कई बार पति से वियुक्तावस्था में युवती स्त्रियों में पाया जाता है । इनमें उनके मनोनुकूल आहार, विहार और परिस्थिति करने से ही लाभ संभव रहता है । यदि इनके अनुकूल पदार्थ छदि रोग में अपथ्य भी हो अथवा रोगी को सात्म्य भी न हो तब उसकी मानसिक प्रसन्नता के लिए देना चाहिए ।

वमन के अनन्तर होने वाले उपद्रवों के लिए वातनाशक उपचार जैसे—दूध, घृत, मर्षिगुंड आदि का प्रयोग रोगी के वृंहण के लिए करना चाहिए । दीर्घ छदि रोग में सदैव वातघ्न उपचार करना ही श्रेयस्कर होता है ।

लाज मण्ड—धान का लावा (खील) १ तोला, छोटी इलायची ४ नग, लौंग ४ नग, मिश्री $\frac{१}{२}$ तोला, पानी २० तोला । सबको एकत्र कर आग पर चढ़ाकर ५, ७ उफान आवे इतना पकावे फिर छानकर ठंडा करे । १-२ चम्मच थोड़ी-थोड़ी देर से रोगी को पिलावे । इसमें कागजी नीबू का रस भी मिलाया जा सकता है । वरफ से ठंडा करके भी दिया जा सकता है । (सि यो. स)



१ बीभत्सजामबीभत्सहेतुभि संहरेद्वमिम् । दीर्हदस्था वमि हृद्यःकाङ्क्षितै-
र्वस्तुभिर्जयेत् ॥ लङ्घनैर्वमनैर्वापि सात्म्यैर्वाऽसात्म्यसम्भवाम् । कृमिहृद्रोगवच्चापि
साधयेत्कृमिजा वमिम् ॥ वमघ्नी च चिरोत्थासु प्रयोज्या च्छदिपु क्रिया ॥ (यो २)

गन्ध रस स्पर्शमथापि शब्द रूप च यद्यत् प्रियमप्यसात्म्यम् । तदेव दद्यात्
प्रशमाय तस्यास्तज्जो हि रोगः सुख एव जेतुम् ॥ (च चि २०)

अठारहवाँ अध्याय

तृष्णा रोग प्रतिपेक्ष

प्रावेशिक—जिस रोग में रोगी अनवरत जल पीता रहे और बार-बार पीने में भी उसको तृप्ति का अनुभव न हो, बार-बार जल के पीने की इच्छा करता रहे, उस रोग को तृष्णा कहते हैं। बोल-चाल की भाषा में इसे तृषा या प्यास की अधिकता कहते हैं। यह रोग शारीरिक, मानसिक तथा आगन्तुक कारणों से कई बार रोगों के उपद्रव स्वरूप एक लक्षण के रूप में और कभी स्वतंत्र व्याधि के रूप में, जिसमें तृष्णा एक प्रमुख लक्षण ही, पाया जाता है।^१

इन रोग की उत्पत्ति में शरीरगत जलाशय की कमी या जलाल्पता (Dehydration) प्रधान हेतु है। शरीर में ६५-७० प्रतिशत जल या द्रव का भाग होता है। आहार द्रव्य से उत्पन्न आवश्यक तत्वों को धोलकर रस या रक्त के रूप में विभिन्न धातुओं को पोषण पहुँचाना और उसके त्याज्य द्रव्यों को मूत्र, स्वेद, वाष्प (श्वास से), अश्रु और मल के द्वारा बाहर निकालना भी शरीरगत जलीय या तरल भाग का ही काम है। अस्तु, यह निश्चित है कि जब भी शरीर में रस-मन्धार में बाधा उत्पन्न होने से या मलो की अधिक उत्पत्ति या संचय होनेसे अथवा किसी कारण से मूत्र, स्वेद-पुरीष आदिके द्वारा अस्वाभाविक रूप में जल के अति निःसर्जन होने से अथवा आहार द्वारा ऐसे पदार्थों के पहुँचने से जो अनिष्ट हैं—और उन्हें धोल कर निर्वल करना तथा बाहर निकालना होगा तो जल की अधिक मात्रा की आवश्यकता होगी। इस आवश्यकता की सूचनास्वरूप मुख, जिह्वा, तालु आदि अवयवों में अलीयाश की कमी के कारण तृष्णा तथा अन्य सार्वदैहिक लक्षणों की उत्पत्ति होती है। इसी को तृष्णा कहते हैं।^२

दोषों की दृष्टि से विचार किया जाय तो वात तथा पित्त दोष की प्रधानता पाई जाती है। सुश्रुतने तृष्णा रोग के सात प्रकार बताये हैं। वातिक, पित्तिक, श्लैष्मिक, क्षतज (रक्तस्रावज या Haemorrhagic), क्षयज (जैसे मधुमेहज), आमसमुद्भव या आमज तथा भक्तोद्भवा (स्निग्ध, लवण, गुरु

१. सन्ततं य पिवेद्वारि न तृप्तिमधिगच्छति ।

पुन काङ्क्षात तोयञ्च त तृष्णादितमादिशेत् ॥ (सु)

२. अघ्नात् देहस्थं कुपित. पवनो यदा विगोपयति ।

तस्मिञ्छुक्के शुष्यत्यवलस्नृष्यत्यथ विशुष्यन् ॥ (च)

और गर्म मसालेदार भोजन से) ।^१ चरक तथा वाग्भट ने एक उपसर्गज (रोगो के उपद्रवस्वरूप) भेद का वर्णन किया है ।

सभी प्रकार के तृष्णा रोग अत्यधिक प्रमाण में होने से असाध्य होती है । रोग से कृश तथा वमनयुक्त तथा उपद्रवयुक्त रोगियो में तृष्णारोग असाध्य होता है । शेष साध्य होता है ।^२

सामान्य-क्रियाक्रम—जलीय धातुओं के क्षय से तृष्णा उत्पन्न होती है और जलधातु के सूख जाने से अर्थात् जलाल्पता से प्राण का भय उपस्थित रहता है । अस्तु, पर्याप्त मात्रा में वर्षाजल (ऐन्द्रतोय) मधु मिलाकर तृष्णा से पीडित रोगी को देना चाहिए । यदि यह सुलभ न हो तो तद्गुणों से युक्त जल जैसे- सौंफका अर्क, जेरायन का अर्क, पुदीने का अर्क, चदनादि अर्क, वरफ का जल, कर्पूराम्बु या वरफ चूसने के लिए या मिश्री या द्राक्षाशर्करा का जल (Glucose water) रोगी को थोड़ा थोड़ा कर के पिलाते रहना चाहिये । कोई भी जल जो हल्का, पतला, शीतल, सुगन्धित, सरस, किञ्चित् कषाय अनुरस वाला तथा अनभिष्यदि हो, ऐन्द्र तोय के सदृश ही होते हैं उनका प्रयोग तृष्णा में किया जा सकता है ।^३

गर्म करके शीतल किया जल मिश्री मिलाकर अथवा मिट्टी का ढेला गर्म करके अथवा सुवर्ण, चादी आदि को तप्त करके पानी में बुझाया जल मिश्री मिलाकर या अश्वत्थ (पीपल) की नूखी छाल जलाकर उसके अगारे से बुझाया जल अथवा कशेरू, सिंघाड़ा, कमलगट्टा, शर-ईक्षु दर्भ-काश-शालि मूल से खोलाकर ठंडा किया जल पीने के लिए तृष्णा रोग में बार-बार थोड़ा-थोड़ा करके देते रहना चाहिये । गर्म करके ठंडा किया या वरफ छोड़कर शीतल किया जल या केवल विना गर्म किये

१. तिस्रः स्मृतास्ता. क्षतजा चतुर्थी क्षतात्तथा ह्यमसमुद्भवा च ।

भक्तोद्भवा सप्तमिकेति तासा निबोध लिङ्गान्यनुपूर्वशस्तु ॥

(सु ३ ४८)

२. सर्वास्त्वतिप्रसक्ता रोगकृशाना वमिप्रयुक्तानाम् ।

घोरोपद्रवयुक्तास्तृष्णा मरणाय विज्ञेया ॥ (च चि २२)

३. अपा क्षयाद्धि तृष्णा सशोष्य नर प्रणशयेदाशु ।

तस्मादैन्द्र तोय समधु पिबेत् तद्गुण वाऽन्यत् ॥

किञ्चित्तुवरानुरसं तनु लघु शीतलं सुगन्धि सुरसञ्च ।

अनभिष्यन्दि च यत्तत्क्षितिगतमप्यैन्द्रवज्ज्ञेयम् ॥ (च चि २२)

शीतल जल मूर्च्छा, रक्तपित्त, छर्दि, तृपा, दाह, मदात्यय तथा कर्शित व्यक्तियों में लाभप्रद होता है ।^१

पथ्य—धान्यलाज या तालमखाने की खील का सत्तू बनाकर पानी में धोल कर पतला बनाकर मिश्री मिलाकर दिया जा सकता है । जौ या बाट्य . मण्ड (वालों बाटर) मधु और मिश्री मिलाकर, या कोद्रव (कोदो) या चावल की पतली पेया या मण्ड मिश्री मिलाकर दिया जा सकता है । भुने हुए मूग, मसूर या चने की दाल का पतला यूप पीने के लिए दिया जा सकता है । केले का फूल, द्राक्षा (दाख), पित्तपापडा, कपित्थ, जंगली वेर (कोल), इमली, कुष्माण्ड आदि की पेया । खजूर, दाडिम (अनार या वेदाना मीठा), आँवला, ककड़ी, खस का पानी, जम्बीरी नीबू या कागजी नीबू, करमर्द, गाय का दूध, तक्र, महुए का फूल प्रभृति तिक्त एव मधुर द्रव्य हितकर होते हैं । नारिकेल या डाम का पानी, पन्ना, गहद, तालाव का जल, सौंफ, केसर, डयायची, जायफल, हरीतकी, धनिया, तृपाशामक होते हैं । शीतल चादनी में बैठना, धूमना, सोना, शीतल पवन का सेवन, श्वेत चदन, कपूर आदि का अनुलेपन तथा अन्य पित्तशामक आहार, विहार तृष्णा के शामक होते हैं । मास-मात्स्य व्यक्तियों में कवूतर का मासरस घृत में बना कर देना उत्तम रहता है । घृत में पकाया छाग (बकरे) का मास भी लाभप्रद होता है ।

अपथ्य—तृष्णा रोग में स्नेह, अञ्जन, धूमपान, स्वेदन, व्यायाम, घूप में रहना, अम्ल, कटु, लवण रस पदार्थ, तीक्ष्ण पदार्थ, दूषित जल, स्त्रीसंग आदि का परिवर्जन करना चाहिए ।^२

तृष्णा के भेदानुसार विशिष्ट क्रियाक्रम—^३ वातिक भे—वातघ्न, शीत

१. मूर्च्छाच्छर्दितृपादाहस्त्रीमद्यभृशकर्शिताः ।

पिवेयुः शीतल तोयं रक्तपित्ते मदात्यये ॥ (भै र)

२ हृद्य सुमधुर शीत मेवेत तृपयादिनः । उग्रमुद्वेगजनन त्येजत् सर्वमतन्द्रित ॥

३ वातघ्नमन्नपान मिष्टं शीत च वाततृष्णाया । स्याज्जीवनीयसिद्ध क्षीरघृत वातजे तर्पे ॥ पित्तजाया तु तृष्णाया पक्वोदुम्बरज रमम् । तत्त्ववाथो वा हिमस्तद्वच्छा-
रिवादिगणाम्बु वा ॥ यच्चोक्त कफतृष्णाया छर्द्या तत्तथैव कार्यं स्यात् । पयसाथवा प्रद्याद्रजनी मधुशर्करायुक्ताम् ॥ यो० २०

क्षतोत्थिता रुन्निनिवारणेन जयेद्रमानामसृजञ्च पानं ।

क्षयोत्थिता क्षीरजल निहन्याद् मासोदकं वाऽथ मधूदकं वा ॥

गुर्वन्नजामुल्लिखनैर्जयेच्च क्षयादृते सर्वकृताञ्च तृष्णाम् ॥

अन्न-पान तथा जीवनीय गणकी औषधियों से सिद्ध क्षीर या घृत का उपयोग, गुड और दधि का सेवन । गुडूची स्वरस का सेवन उत्तम रहता है ।

पेक्तिक मे—पक्व गूलर का रस मिश्री के साथ, गूलर का काढा या शारि-
वादि गण की औषधियाँ (अनन्तमूल, खस, गाम्भारी के फल, महुवे का फूल,
दोनो चदन, मुलैठी और फालसा) तथा मधुयष्टि, अमलताश और द्राक्षा का उप-
योग उत्तम रहता है । लाजसत्तूका घोल भी मिश्री के साथ अनुकूल पड़ता है ।

श्लैष्मिक मे—कफज छर्दि के समान उपचार करे । नीम की पत्ती का
काढा पिलाकर वमन करावे । दाडिम तथा अन्य अम्ल एवं कषाय रस के फलो के
रस का सेवन । हल्दी का चूर्ण मधु और मिश्री मिला कर जल से दे । बिल्वमूल,
अरहर का मूल, धाय का फूल और पचकोल के कषाय का सेवन उत्तम रहता है ।

क्षतोत्थित में—रक्तत्त्राव के लिए स्तम्भन चिकित्सा करे और मृग आदि
का ताजा रक्त का पान रोगी को करावे ।

क्षयोत्थित मे—क्षयघ्न उपचार । दूध-पानी बराबर मिलाकर पिलाना,
मधु युक्त जल का पिलाना अथवा मास के रस का सेवन कराना लाभप्रद होता है ।

भक्तोद्भव—गरिष्ठ अन्न के सेवन करने से उत्पन्न तृष्णा में वमन कराना
चाहिए । क्षयोद्भव तृष्णा को छोड़कर सभी तृष्णा रोग में वमन करा देना
लाभप्रद होता है ।

सामान्य भेषज

नस्य—मुनक्के (अगूर) का रस, ईख का रस, दूध और मिश्री, मिश्री
का पानी में बना शर्बत, मुलैठी का काढा और मधु, महुए के फूल का रस मधु
मिलाकर, नील कमल का रस मधु मिलाकर । नाक से नस्य रूप में देने से दारुण
तृष्णा भी शान्त होती है । इन रसों को पृथक् पृथक् उपयोग में लाना चाहिए ।
ऊँटनी का दूध अथवा नारी-क्षीर का नस्य भी तृष्णा में शामक प्रभाव दिखलाता है ।

गण्डूप—दूध, ईख का रस, महुवे का आसव (माध्वीक), शहद, सीधु
(मधुर द्रव्यों का आसव), गुड का शर्बत, अम्लवैत का काढा तथा काजी इनका
यथालाभ एकैक या मिलाकर गण्डूप (मुख में कुल्ला) भरने से तृष्णा शान्त
होती है । यह योग विशेषतः तालु-शोष (तालु के सूखने) में लाभप्रद होता है ।

कवल—विजौरी नीबू का केशर, अनारदाने का चूर्ण और मधु मिलाकर
चटनी जैसे बना कर मुख में धारण करने से तत्काल तृष्णा शान्त होती है ।

लेप—अनार, बेर, लोध, कपित्थ, बीजपूर (विजौरा नीबू), लाल चदन,
चन्दन, खस, सुगंधवाला, कमल के फूल । इन द्रव्यों को यथालाभ काजी में पीस
कर सिर पर लेप करने से तृष्णा का शमन होता है ।

कपाय—आम और जामुन की पत्ती या छाल या गुठली का कपाय मधु मिलाकर लेना सभी प्रकार की छर्दि तथा तृष्णा का शामक होता है ।

मधुका फाण्ट—महुए का फूल, गाम्भारी, ज्वेत चन्दन, खस, बनिया, मृन्वका को कुचल कर खोलने पानी में चाय जैसे बना कर ठंडा हो जाने पर मिलाकर सेवन करने में दाह, मूर्च्छा, भ्रम तथा तृष्णा शान्त होती है ।

चूर्ण—वटशुग, लोत्र, वाडिम की छाल, मुलेठी और मिथी सम परिमाण में लेकर चूर्ण बनावे । यह वटशुङ्गादि चूर्ण का योग है । अनुपात मधु । मात्रा ३ माशा तृपाशामक होता है ।

गुटिका—वट के अंकुर, मीठा कूठ, धान का लावा और नील कमल के फूल इन का सम भाग में लेकर चूर्ण बना कर मधु के साथ घोट कर १ माशे के परिमाण की गोलीयाँ बनाले । इस गुटिका को मुख में धारण करने से तृपा शान्त होती है ।

वामक—सभी प्रकार के तृपा रोग में (अयज को छोड़कर) वमन कराने में लाभ देखा जाता है । इसके लिए मधुवक का प्रयोग उत्तम रहता है । शीतल जल में मधु मिलाकर कंठ पर्यन्त पिजाने में वमन होता है और तृपा शान्त होती है ।

ओदन—आवल का गोला भात बनाकर उसके ठंडे हो जाने पर मधु के साथ सेवन करने में तृष्णा शान्त होती है । यदि वमन की अति मात्रा होने को ब्रजह से तृपाधिक्य हो तो वमन के बन्द हो जाने पर दही और गुड रोगी को खिलाना चाहिए अथवा दही और गुड के साथ भात खाने को देना चाहिए ।

मद्य—जोरा, अदरक, जाला नमक मिला कर मद्य का पीना भी तृपा-शामक होता है ।

जल—तृष्णा रोग में जल पीने की इच्छा रोगी को होती है । यदि जल न दिया जाय तो तृपित रोगी मूर्च्छित हो जाता है, मूर्च्छा के अनन्तर उसकी मृत्यु हो जाती है अतः किसी भी अवस्था में पानी को नहीं रोकना चाहिए । अन्न के दिना तो कुछ दिनों तक जीवन-न्यापन हो भी सकता है, परन्तु जल के बिना जीवन का धारण असम्भव हो जाता है, अस्तु, तृपित को थोड़ा थोड़ा, बार बार, गर्म करके ठंडा किया जल या शीतल जल पीने को देते रहना चाहिए ।^१

१ अन्तेनापि विना जन्तु प्राणान् धारयते । चरम् । तोयाभावे पिपासार्त्तः क्षणा-
न्यापि विमुच्यते ॥ तृपितो मोहमायाति मोहात्प्राणान् विमुञ्चति । तस्मात्सर्वान्व-
बन्धामु न त्वच्चिदाग्निं धारयते ॥ अन्यम्बुपानान् प्रभवन्ति रोगा निरम्बुपानाच्च
न एव दोषः । तस्माद् ब्रूय प्राणविवर्धनार्थं मृदुर्मृदुवारि पिबेदभूम्नि ॥ मूर्च्छा-
छर्दि तृपादाह्म्यमभ्रमृशयतिताः । पित्रेषु शीतलं तीव्रं रक्तपित्तं मदात्यये ॥

कच्चे ठंडे पानी की अपेक्षा उवाल कर ठंडा किया जल अधिक तृपाशामक होता है। उवाल कर पानी को मिट्टी के घड़े या सुराही में ठंडा होने के लिए रख देना चाहिए। ठंडा हो जाने पर थोड़ा थोड़ा पिलाना चाहिए।

रस योग

रसादि चूर्ण—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, कपूर, छैलछरीला, खस इन द्रव्यों को क्रम में बढते हुए भाग में लेकर। प्रथम पारद गंधक की कज्जली बनाकर शेष द्रव्यों का महीन चूर्ण मिलाकर बराबर मात्रा में शक्कर डालकर पानी से घोट कर ३ रत्ती की गोलियाँ बना ले। प्रातः काल में १ गोली का सेवन वासी पानी के अनुपान से करने से तृष्णा रोग शान्त होता है।

उपसंहार—छदि रोगाधिकार के योगो का प्रयोग करने से तृष्णा को रोग में भी शांति मिलती है।



उन्नीसवाँ अध्याय

मूर्च्छा-भ्रम-अनिद्रा-तद्रा-संन्यास प्रतिषेध

अहिताहार-विहार, रक्तादि-धातुक्षय, अभिघात, विष तथा मद्यादि के सेवन से रजो गुण और तमो गुण की वृद्धि होने से रसवाही, रक्तवाही एवं चेतनावही न्नोतो में अवरोध होकर मद, मूर्च्छा और संन्यास की उत्पत्ति होती है। ये रोग यद्योत्तर वलवान् होते हैं अर्थात् मद से मूर्च्छा और मूर्च्छा से संन्यास आत्यायक होता है। इनमें रसवह स्रोत के अवरोध से मद, रक्तवह स्रोत के अवरोध से मूर्च्छा तथा चेतनावह स्रोत के अवरोध से संन्यास की उत्पत्ति मानी जाती है।^१

मूर्च्छा को बोलचाल की भाषा में 'बेहोश होना' कहते हैं। इसमें मुख्य विकार हृद्विकार के कारण मस्तिष्क के रक्तसंचार में बाधा उत्पन्न होती है। हृदय के विकार दो तरह के होते हैं—१ हृदगत-हृदय के पेशी की दुर्बलता और हृदय के द्वारों के विकार, जिसमें शरीर में पर्याप्त रक्त रहते हुए भी हृदय मस्तिष्क तक पहुँचाने में असमर्थ होता है फलतः मूर्च्छा पैदा होती है। २ परिसरीय

१ रजोमोहाहिताहारपरस्य स्युस्त्रयो गदा ।

रसासृक्चेतनावहिस्रोतोरोधसमुद्भवा ।

मदमूर्च्छायसंन्यासा यथोत्तरवलोत्तरा ॥ (अ ह नि. ६.)

(Peripheral)—दूसरे प्रकार में कुछ अंगों में कैल्शिकावो का विस्फार हो जाता है। जिस से रक्त का अधिक भाग प्रान्तस्थ या दूरस्थ भागों में चला जाता है। शरीर में रक्त की कमी होने (पाण्डु रोग)से, हृदय में स्वतः रक्त की कमी होती है—जिस से मस्तिष्क को पूर्ण रक्त नहीं पहुँचता फलतः मूर्च्छा उत्पन्न होती है। इन कारणों के अतिरिक्त मूर्च्छा या सन्यास की उत्पत्ति मे-निम्नलिखित हेतु भी भाग लेते हैं। जैसे १. मस्तिष्क का तीव्र आघात २ उच्च रक्तनिपीड या विष सेवन से मस्तिष्क के किसी बड़ी धमनी का फट जाना ३ अति तीव्र संताप (ज्वर, लू या अग्निसम्पर्क से) ४. मादक द्रव्यों का सेवन—अफीम, भाँग, घतूर, मद्य आदि का ५ हीन मनोबल अपतत्रक और अपस्मार आदि ६ अहिताहार-विहारजन्य अम्लोत्कर्ष (Acidosis), क्षारोत्कर्ष (Alkalosis) अथवा मूत्रविषमयता (Uraemia),

मद-मूर्च्छादि का परस्पर में भेद—१ मूर्च्छा की उत्पत्ति में पित्त और तम दोष की प्रधानता, भ्रम में रजोदोष, पित्त-वायु दोष की अधिकता, तमो गुण एव वात और कफ की विशेषता तन्द्रा में, श्लेष्म और तमो गुण की बहुलता निद्रा में पाई जाती है। २ दूसरा भेद यह है कि मद और मूर्च्छा में दोषों के वेग (दीरे) के गान्त होने पर बिना औषधि-सेवन के ही रोगी जागृत हो जाता है, परन्तु मन्याम में जहाँ पर दोषों की अधिक प्रबलता और तम का अतिरेक पाया जाता है, बहुत कठिनाई से चिकित्सा होती है और बिना औषधि-सेवन के अच्छा नहीं होता है। अंग्रेजी पर्याय के रूप में मद को (Faintness), मूर्च्छा को (Syncope), सन्यास को (Coma) कहते हैं। तद्रा तथा अनिद्रा को (Drowsy Feeling of Insomnia) नाम से कहा जाता है। मूर्च्छा के छ प्रकार ग्रन्थकारों ने बतलाया है—दातिक, पैत्तिक, श्लेष्मिक, रक्तज, मद्योत्थ तथा विष-जन्य। इनमें कारणरूप चिकित्सा करनी चाहिये। अधिकतर पित्त दोष की विशेषता मूर्च्छा रोग में पाई जाती है।^१

मूर्च्छा में क्रियाक्रम-सामान्य—मूर्च्छा रोग में प्रायः पित्त की बहुलता पाई जाती है, अस्तु, शीतल उपचार सामान्यतया लाभप्रद रहता है। माथे पर ठंडे पानी का जोर से छोटा देना, माथे पर शीतल जल की धारा छोड़ना, तालाब या

१. मूर्च्छा पित्ततम प्राया रज पित्तानिलाद् भ्रमः ।

तमोवातकफात्तन्द्रा निद्रा श्लेष्मतमोमवा ॥ (मा नि)

वातादिभि शोणितेन मद्येन च विषेण च ।

पट्स्वप्येतासु पित्त तु प्रभुत्वेनावतिष्ठते ॥ (मु. ३ ४६)

ठंडे जल से भरे टब में बैठना, मज्जन (स्नान) या अवगाहन (डुबकी लगाकर नहाना), मोती-प्रवाल-स्फटिक प्रभृति मणियों का धारण करना या उनसे बने हार का धारण, कपूर, केशर और श्वेत चंदन का लेप करना, ताडपत्र या कमल पत्र के पंखों से हवा करना, चंदन-खस-गुलाब-केवडा-आदि गंध द्रव्यों से निर्मित प्रपानक या शर्वत का पान करना हितकर उपचार हैं ।

नारिकेल, दाख, मिश्री, अनार, लज्जालु (लज्जावती), नील कमल, कमल के फूल प्रभृति द्रव्यों का सुगंधित कपाय बनाकर पीना अथवा पित्त ज्वर में कथित पित्तशामक उपचारों से भी मूर्च्छा में लाभ होता है ।^१

रक्तज मूर्च्छा में भी शीतोपचार ही लाभप्रद रहता है । मद्यज मूर्च्छा में हल्का मद्य पिलाना और सुलाना उपचार हैं । विषजन्य मूर्च्छा में शीतोपचार के साथ विषनाशक चिकित्सा की भी व्यवस्था करनी चाहिये ।^२

मूर्च्छा में दो प्रकार का उपचार प्रशस्त है । वेगकालीन तथा वेगान्तर-कालीन । वेगकालीन कहने का तात्पर्य उस चिकित्सा से है जिससे रोगी की बेहोशी दूर हो वह जागृत हो जाय । वेगान्तरकालीन चिकित्सा वह है जो मूर्च्छा के दीरे के अनन्तर चलायी जावे जिस से रोग में स्थायी लाभ हो सके । मूर्च्छा से जागृत करने के कई उपाय ऐसे हैं जिनसे चमत्कारिक लाभ होता है । जैसे—

बोधकरी प्रक्रिया १. अंजन-शुठी, मरिच या पिप्पली को घिस कर नेत्रों में अंजन करना । होश में लाने के उपाय—चंद्रोदयावृत्ति, तुत्यकादि वृत्ति को घिस कर अंजन करने से मूर्च्छा तत्काल दूर होती है । - अवपीडन—नाक से फूक मारकर लहसुन से भावित औषधि चूर्ण को नाक में डालना । इस कार्य के लिये देव दाली (बन्दाक) का नस्य या कायफर का महीन कपडछन चूर्ण का नस्य बड़ा उत्तम कार्य करता है । एक कागज का चोगा बनाकर उसको नाक में प्रविष्ट करके चूर्ण को अंदर की ओर फूंक देना चाहिए ।

धूम—तीव्र गंध वाले धूम का धुंवा देने से भी बेहोशी दूर होती है ।

१ सेकावगाहो मणयः सहारा शीताः प्रदेहा व्यजनानिलाश्च ।

शीतानि पानानि च गन्धवन्ति सर्वासु मूर्च्छास्वनिवारितानि ॥

द्राक्षासितादाडिमलाजवन्ति शीतानि नीलोत्पलपद्मवन्ति ।

पिवेत् कपायाणि च गन्धवन्ति पित्तज्वर यानि शमं नयन्ति ॥ (सु)

२ रक्तजाया तु मूर्च्छाया हित शीतक्रियाविधि । मद्यजाया पिवेन्मद्यं निद्रा सेवेद्यथासुखम् । विषजाया विषघ्नानि भेषजानि प्रयोजयेत् ॥ (भे र)

सूचीवेध—सूई की नोक से देह में कोचना । आज कल की सूचीवेध द्वारा किमी निरापद औषधि की सूई देना इस अवस्था में एक उचित कर्म है । इस क्रिया से वेहोश रोगी होश में आ जाता है ।

केश और लोमों का लुंचन—एक दो केशोंको पकड़कर नोचने में भी लाभ होता है ।

नाक और मुख बंद करना, अंडको रगटना, दांत में काटना । नखों के मध्य में दवाना । शलाका में दाह कर्म (जलाना) तथा कैर्वाँछ की फली का शरीर में घर्षण करना प्रभृति क्रियाओं से मूर्च्छित रोगी संज्ञा में आ जाता है ।

वेगान्तरकालीन चिकित्सा—मूर्च्छा-भ्रम-अनिद्रा तथा संन्यास रोगों में रसायनादिभार की औषधियों का प्रयोग करना लाभप्रद रहता है ।

मूर्च्छा में भेषज—^१ त्रिफला चूर्ण ६ माशे को रात्रि में मधुके साथ चाटना २. अदरक को पीसकर १ तोला और गुट २ तोला का प्रातः काल में सेवन ३. पिप्पली चूर्ण १॥ माशे मधु के साथ सेवन ४. जी का सत्तू बराबर चक्कर मिलाकर नारिकेल जल के (जल के पानी के) साथ पीना । ५. कोल-मज्जादि चूर्ण-वेर के फल की मूखी मज्जा, काली मिर्च, खस और नागकेसर का सम प्रमाण में बना चूर्ण । मात्रा ३ माशा । अनुपान शीतल जल । इन भेषजों से मूर्च्छा शान्त होती है ।

भ्रम- (चक्कर आना)^२

दुरालमास्वरस या कपाय—^३ दुरालभा अथवा बरामा का स्वरस २ तोला लेकर ३२ तोले जल में खींचकर ८ तोले श्रेष रहने पर २ तोला मिश्री और १ तोला गोघृत मिला कर सेवन करने में चक्कर का आना शान्त होता है ।

कौम्भ सर्पिः—एक सौ वर्ष का पुराना कौम्भ वृत्त कहलाता है । इसको ३ माशे की मात्रा में गाय के दूध में छाड़कर पीना भ्रम तथा मूर्च्छा को शान्त करता है ।

प्रवालपिष्टि योग—प्रवालपिष्टि २ २० और गुटची सत्त्व १ माशे की मात्रा में एक मात्रा बनाकर ऐसी दो मात्रा सुबह-शाम, आँवले का चूर्ण २ माशे

^१ मधुना हन्युपयुक्ता त्रिफला गन्धी गुटार्द्रकं प्रातः ।

सप्ताहात् पथ्यन्नुजो मदमूर्च्छाकामलोन्मादान् ॥

२. चक्रवद् भ्रमतो गात्र भूमौ पतति सर्वदा ।

भ्रमरोग एति ज्ञेयो रक्तपित्तानिग्रात्मक ॥ (मा नि.)

३. दुरालभा-कपायस्य घृतयुक्तस्य सेवनान् ।

भ्रमो नश्यति गोविन्दरमरणादिव पातकम् ॥ (वै. जी)

घी और मिश्री के साथ अथवा केवल घी और चीनी के साथ खिलाने से तथा रात्रि में नित्य त्रिफला चूर्ण ६ माशे या यष्ट्यादि चूर्ण ६ माशे दूध के साथ देने से भ्रम, मूर्च्छा तथा अनिद्रा में उत्तम लाभ होता है। शतावरी, बलामूल, द्राक्षा से सिद्ध दूध का सेवन भ्रम में लाभप्रद होता है।

अनिद्रा—पीपरामूल का २ माशे चूर्ण और १ तोला पुराना गुड मिलाकर सेवन करने से निश्चित रूप में चिरकाल से नष्ट हुई निद्रा आ जाती है।

भाँग को घी में भूनकर दकरी के दूध में पोस पैर के तलवे में लेप करने से निद्रा आती है। सर्पगंधा चूर्ण २ माशा गुलकद के साथ देना भी निद्राकर है।

चन्द्रोदय अथवा मकरध्वज १ रत्ती की मात्रा में चावल के घोवन (पानी) और मधु के साथ सोने के आधा घटा पूर्व लेने से निद्रा आती है। ईख का रस, पोईगाक (उपोदिका), उडद की दाल, मद्य, मास, घृत, भैंसका दूध, गोघूम (गेहूँ), मिश्री, गुड तथा तथा मत्स्य का भोजन में उपयोग परम निद्राकर होता है। अहिफेन के योग जैसे कर्पूर वटी निद्राकर होती है।

✓ अहिफेन और कर्पूर के योग से बनी मंगलोदया वटी परम वेदनाशामक तथा निद्राकर होती है। परन्तु इसका प्रयोग बहुत कम, जब नितान्त आवश्यकता हो और अन्य निरापद योगों से लाभ न होता हो तब करना चाहिये।

तन्द्रा—तन्द्रा में त्रिफला चूर्ण ६ माशे मधु से सेवन करना तथा कट्फल का नस्य देना उत्तम रहता है।

मूर्च्छान्तक रस—रससिन्दूर, स्वर्णमाक्षिक भस्म, स्वर्ण भस्म, शुद्ध शिला-जीत और लौह भस्म प्रत्येक एक तोला। शतावरी तथा विदारी के स्वरस या कपाय में भावना देकर ३ रत्ती की गोली बनावे। १ वटी की मात्रा में दिन में दो बार गाय के दूध और मिश्री के साथ दे। भ्रम तथा मूर्च्छा में लाभप्रद होता है।

अश्वगंधारिष्ट—असगंध २१ सेर, मुसली १ सेर, मजीठ-हरड-हल्दी-दारु-हल्दी-मुलैठी-रासन-विदारीकद-अर्जुन की छाल, मोथा-त्रिवृत की जड़ प्रत्येक आधा सेर, श्वेत सारिवा, कृष्ण सारिवा, श्वेत चदन, लाल चदन, वच और चित्रक की जड़ प्रत्येक ३२ तोले। सबको जवकुट करके, २ मन ५४ तोले जल में खौलावे चतुर्थांश अर्थात् १२ सेर, १२ छटाँक ४ तोला शेष रहने पर उतार ले। क्वाथ को छान ले। ठंडा होने पर उसमें धाय का फूल ६४ तोले, शहद १५ सेर, सोठ-मरिच-पीपल का मिश्रित चूर्ण ८ तोला, दालचीनी-इलायची और तेजपात का मिश्रित चूर्ण १६ तोला, प्रियङ्गु का चूर्ण १६ तोले, नागकेशर ८ तोला मिलाकर सबको घृतलिप्त सुधूपित मिट्टी के भाण्ड में भर कर सकोरे से उसका मुख

भली प्रकार बंद कर कपडमिट्टी करके एक मास तक सुरक्षित स्थान पर रख दे। महीने भर के बाद खोलकर छानकर बोटलो में भर कर रख ले। मात्रा २ $\frac{1}{2}$ तोला। भोजन के बाद दोनों वक्त। बराबर पानी मिलाकर। यह अग्वागधारिष्ठ भ्रम, मद, मूर्च्छा, अपस्मार, जोष और उन्माद में लाभप्रद और हृद्य होता है।

पथ्यापथ्य—इन रोगों में दूध, घी, मिश्री, नारिकेल, वेदाना, चावल, मूग, पेठा, पटोल और रोहू मछली प्रायः देना चाहिये। अपथ्यों में पान, पत्र गाक-शाक, दधि, वेगावरोध और स्वेदन, धूप का सेवन अनुकूल नहीं पड़ता है।



तीसवाँ अध्याय

मदात्यय प्रतिपेध

जो व्यक्ति विधिपूर्वक, मात्रानुसार, उचित समय में ऋतु एवं बल के अनुसार प्रसन्नतापूर्वक हितकारक खाद्यों के साथ (स्निग्ध अन्न और मांस आदि का सेवन करके) मद्यपान करता है उसके लिए मद्य अमृत के तुल्य होता है। इस प्रकार के मद्य-सेवन से उसकी आयु, बल और सौन्दर्य की वृद्धि होती है। इसके विपरीत क्रोध, भय, प्यास, भूख तथा जोक की अवस्था में व्यायाम, भार तथा यात्रा की थकावट में, भोजन बिना किये खाली पेट पर, वेगों को रोक कर; गर्मी से संतप्त रहने पर मद्य जो पीता है उसको मद्योत्थ नाना प्रकार की यकृत, हृदय, मस्तिष्क तथा वृक्कर्मबंधी विविध प्रकार के रोग हो जाते हैं। इन रोगों को मदात्यय (Alcoholism) कहते हैं।^१ मदात्यय दो प्रकार का हो सकता है। तीव्र (Acute) तथा जीर्ण (Chronic)।

तीव्र मदात्यय—मद्य पीने का तत्काल प्रभाव होता है, उसका नशा-मद कहलाता है, यह कई अवस्थाओं (Stages) का हो सकता है जो, प्रथम मद, द्वितीय मद, तृतीय मद तथा चतुर्थ मद के नाम से माधवनिदान में वर्णित है। मद्य का अधिक मात्रा में या अयुक्तियुक्त मात्रा में सेवन करने से तत्काल परिमाण के अनुसार कई रोग (Due to immediate after effects) हो जाते हैं, जैसे—पानात्यय, परम मद, पानाजीर्ण, पानविभ्रम आदि हो जाते हैं।

१ विधिना मात्रया काले हितैरन्त्यैर्यथाबलम् । प्रहृष्टो यः पिबेन्मद्यं तस्य न्यादमृतोपमम् ॥ ये विपश्य गुणा प्रोक्तास्तेऽपि मध्ये प्रतिष्ठिता । तेन मिथ्योप-युक्तेन भवत्युग्रो मदात्यय ॥ (मा० नि०)

इनमें वमन कराके या आमालाय के प्रक्षालन से और पूर्ण निद्रा लेने से स्वयमेव शान्ति मिलती है ।^१

जीर्ण मदात्यय—मदात्यय नाम से चरक संहिता में इसका वर्णन पाया जाता है । इसके लक्षणों के भेद से चार प्रकार के वर्ग वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक तथा त्रिदोषज का उल्लेख मिलता है । वास्तव में मदात्यय (chronic Alcoholism) दीर्घ काल तक मद्य के विधिपूर्वक सेवन न करने से होने वाला एक रोग है । मदात्यय चिकित्सा से यही रोग अभिलक्षित है । जीर्ण मदात्यय के वर्ग में उपद्रव स्वरूप होने वाले दो और रोगों का वर्णन वाग्भट तथा चरक में पाया जाता है । १. ध्वंसक तथा २. विक्षेपक या विक्षय । मद्यपान के अभ्यास का कुछ समय त्याग करने के पश्चात् मनुष्य सहसा अत्यधिक मद्य का पान करता है तो ध्वंसक तथा विक्षेपक नाम रोग होते हैं । ध्वंसक में कफ का स्राव, कठ और मुख की शुष्कता, शब्द का सहन न कर सकना, तद्रा तथा निद्रा की अधिकता तथा विक्षेपक में हृदय तथा कठ में अवरोध की प्रतीति, मूर्च्छा, वमन, अग पीडा, ज्वर, तूपा तथा शिर शूल आदि लक्षण मिलते हैं ।^२

ये दोनों ही दुश्चिकित्स्य होते हैं ।

जीर्णमदात्यय के रोगियों में जिनका ऊपर का ओठ नीचे लटक गया हो (Facial Paralysis), शरीर में अति शीत अथवा अतिदाह प्रतीत हो (Due to Polyneuritis), जिसके मुँह की तेल से लिप्त के समान आभा हो (Due to damaged heart), जिसकी जिह्वा, दाँत, ओष्ठ, नाक काले या नोले (Due to dilated small veins or Cyanosis) हो, जिसके नेत्र पीले कामला युक्त (Due to Hepatic failure) अथवा लाल रंग के से Conjunctivitis chronic due to none absorption of vitamin A) हो असाध्य होते हैं ।^३

१. पानात्यय परमद पानाजीर्णमथापि वा ।

पानविभ्रममुग्रञ्च तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ (सु०)

२. विच्छिन्नमद्यं सहसा योऽतिमात्रं निपेवते । ध्वंसको विक्षयश्चैव रोगास्तस्योपजायते ॥ श्लेष्मप्रसेक कण्ठास्यशोष शब्दासहिष्णुता । तन्द्रा निद्रातिर्योगश्च ज्ञेय ध्वंसकलक्षणम् ॥ हृत्कण्ठरोग सम्मोहश्छदिरङ्गरुजा ज्वर । तृष्णा कास शिरःशूलमेतद्विचयलक्षणम् ॥ (च०)

३. हीनोत्तरोष्ठमतिशीतममन्ददाहं तैलप्रभास्यमपि पानहतं त्यजेत्तु ।

जिह्वीष्ठदन्तमसितं त्वथवापि नीलपीतं च यस्य नयने रुधिरप्रभे च ॥

(सु० ३.४७)

प्रायः सभी मदात्यय सान्निपातिक या त्रिदोषज होते हैं, इनमें रूप की विशेषता वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक प्रभृति भेद से करना होता है। मदात्यय में जिस दोष की विशेषता हो उसके अनुसार उपचार का प्रारंभ करना चाहिए। फिर भी श्लेष्माधिक्य में प्रथम श्लेष्म दोष के शमन के उपचार तदनन्तर पित्त तथा वात के शमन के लिए उपचार करना चाहिए।

मदात्यय नामक व्याधि मिथ्या, अति या हीन मात्रा में मद्य के पीने से पैदा होती है। अस्तु, मद्य के सम मात्रा में प्रयोग करने से वह ठीक होता है। मद्योत्पन्न रोग के शमन के लिए मद्य का ही प्रयोग पिलाने के लिये करना चाहिए।

फिर रोग के हल्का होने पर अन्न में रुचि पैदा होने पर हिनकर आहार-विहार कराना चाहिए।

यदि मद्य का उपक्रम प्रारंभ में अनुकूल न पड़े तो मदात्यय के रोगी को प्रारंभ में लघन कराके कफ के क्षीण हो जाने पर प्रचुर मात्रा में गाय के दूध का पान कराना चाहिए। क्योंकि दूध ओज के समान गुण वाला है और मद्य ओज के विपरीत गुण वाला होता है। अस्तु, दूध का प्रयोग करके जब रोगी का बल बढ जावे तो दूध को बंद करके अल्प मात्रा में मद्य पिलाना प्रारंभ करना चाहिए।^१

क्रियाक्रम—

वातज मदात्यय में—काला नमक, शूण्ठी, मरिच, छोटी पोपल से युक्त मद्य का जल मिश्रित करके हल्का करके पिलाना।

पित्तज मदात्यय में—वट शुग के हिम, शर्करा से युक्त मद्य पिलाना चाहिए। आमला, खजूर, मुनक्का और फालसा का उपयोग हितकर होता है।

श्लेष्मज मदात्यय में—वामक योगो के साथ मद्य पिलाकर वमन करावे। बल के अनुसार लघन तथा दीपन औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

त्रिदोषज में—त्रिदोष का मिलित उपचार करे। सामान्यतया खजूर

१ सर्वं मदात्ययं विद्यात् त्रिदोषमधिकं तु यम् । दोष मदात्यये पश्येत् तस्यादौ प्रतिकारयेत् ॥ कफस्थानानुपूर्व्या च क्रिया कार्या मदात्यये । पित्तमारुपतर्यन्त प्रायेण हि मदात्यय ॥ मिथ्यातिहीनपीतेन यो व्याधिरुपजायते । समपीतेन तेनैव स मद्येनोपगम्यति ॥ जीर्णाममद्यदोषाय मद्यमेव प्रदापयेत् । प्रकाशालाघवे जाते यद्यदस्मै प्रदापयेत् ॥ च० वि० २४ ॥ न चेन्मद्यक्रमं मुक्त्वा मद्यमस्य प्रयोजयेत् । लङ्घनार्थं । कफे क्षीणे जातदौर्बल्यलाघवे ॥ ओजस्तुल्यगुण क्षीरं विपरीत च मद्यत । पयसा च हृते रोगे बले जाते निवर्त्तयेत् । क्षीरप्रयोग मद्यं वा क्रमेणात्पात्पमा-चरेत् ॥ च० द०

मुनक्का, बिजौरा नीबू, अम्लवैत, इमली का सत, अनार दाने, फालसा और आंवला इनके रस को मन्थ के साथ पीने से सर्व प्रकार के मदात्यय में लाभ होता है। मन्थ—जो के मत्तू को घी में मलकर चीनी और ठंडा पानी मिलाकर घोल लेना मंथ कहलाता है।

मद्य का हीनवीर्यकरणोपाय—यदि मनुष्य मद्य-पान करने के पश्चात् तुरन्त ही घी में चीनी मिलाकर पी लेवे तो उग्रवीर्ययुक्त मद्य भी उस मनुष्य को मदयुक्त नहीं करता है। अर्थात् नशा तेज नहीं होने पाता है। अस्तु, घी और शक्कर का प्रयोग मदात्यय में लाभप्रद होता है।

अन्य मद—कई वार मद्य के अतिरिक्त मादक—कोदो, सुपारी या धतूरे के सेवन में भी नशा तेज हो जाता है। इन अवस्थाओं में सुपारी के नशे में शीतल जल को पेट भर (आकठ) पिलाना, शख भस्म का सूंघना या जंगली कड़े की राख का सूंघना, नमक खिलाना तथा चीनी का शर्वत पिलाना लाभप्रद होता है। मादक कोदो के मद में पेटे का रस (पूरे पेटे को मय छिल्का बीज पीसकर उमका स्वरस) गुड के साथ सेवन तथा धतूरे के मद में दूध और मिश्री का पिलाना लाभप्रद रहता है। वैगन के फल या पत्र का स्वरस भी लाभप्रद है।

योग-अष्टाङ्ग लवण—कालानमक, काला जीरा, वृक्षाम्ल (विषाम्विल), अम्लवैत प्रत्येक १ तोला, दालचीनी, छोटी इलायची, मरिच प्रत्येक ½ तोला। इनको कूट पीस कर उसमें १ भाग चीनी डालकर शीशी में भर ले। यह अष्टाङ्ग लवण कफप्राय मदात्यय तथा सर्व मदात्यय में लाभप्रद होता है। यह अग्नि का संदीपन करता है और स्तोतो का विशोधन करता है। यह बड़ा स्वादिष्ट और रुचिकर योग है। मदात्यय के अतिरिक्त रुचिकर योग के रूप में भी इसका उपयोग हो सकता है।

एलादि मोदक—छोटी इलायची, महुए का फूल, चित्रक मूल, हल्दी, दारु-हल्दी, त्रिफला, लाल शालि चावल, छोटी पीपल, मुनक्का, खजूर, काली तिल, जौ, विदारीकद, गोखरू बीज, निशोथ की जड़ और शतावर का कद। प्रत्येक सम-भाग तथा समस्त द्रव्यों से दुगुनी खाड मिलाकर मोदक बनावे। सुबह-शाम गाय के दूध के अनुपान में लेने से सब प्रकार के मदात्यय में लाभ होता है।

कज्जली—पारद और गंधक की सम प्रमाण में बनी कज्जली का आंवले के रस और मिश्री के सेवन से सर्व प्रकार के मदात्यय में लाभप्रद होता है। मात्रा १-२ रत्ती।

ध्वंसक तथा विक्षय—मे उपचार वातिक मदात्यय के सदृश करना चाहिये। क्योंकि अत्यंत दुर्बल और क्षीण धातु के रोगियों में ये पाये जाते हैं। अस्तु, दूध

और वृत्त का प्रचुर प्रयोग, अनुवासन तथा आपन वस्ति का प्रयोग तथा वात-नासक अम्यंग, उद्वर्तन, स्नान और अन्नपान की व्यवस्था करनी चाहिये ।

उपसंहार—मदान्यत्र के रोगी चिकित्सा में कम आते हैं । चरक चिकित्सा म्यान में मदान्यत्र चिकित्सा नामक अध्याय बड़ा ही विषय ढंग में लिखा मिलता है उसमें मुरा को भगवती करके उम्बोधन किया गया है । इसके मेवन की परम्परा का इतिहास वैदिक युग से आरम्भ करके आज के दिन तक का वर्णित है । इसके योनि, मंस्कार तथा नाम में विविध भेदों का उल्लेख किया गया है । इनमें विविधता होते हुए भी मद्य (मद्य होना) लक्षण की समानता पाई जाती है । विविधपूर्वक मद्य सेवन की विधि, मद्य के अमृत तुल्य विविध गुण, उसके निर्माण में व्यवहृत होनेवाले घटक, उसकी विविध चैष्टायें, उससे उत्पन्न होनेवाली मद्य की विविध अवस्थायें प्रभृति बातों का बृहद् आध्यान पाया जाता है ।

तदनन्तर अयुक्तियुक्त विधि या मात्रा से न प्रयुक्त होने पर उस से उत्पन्न होने वाले दोष, उस से उत्पन्न मदान्यत्र प्रभृति रोगों का विनाश वर्णन, उनकी समुचित चिकित्सा की व्यवस्था प्रभृति बातों का उल्लेख पाया जाता है ।

व्यवहार में मद्यजात रोग आज कुछ कम मिलते हैं । संभवतः प्राचीन युग में इस (मद्यपान) का प्रचार अधिक रहा हो फलतः तज्जन्य व्याधियाँ भी बहुत पैदा होती रहीं हों, उनका उपचार-ज्ञान चिकित्सकों के लिये आवश्यक रहा हो । विदेशों में मद्यपान की परम्परा अब भी पाई जाती है, परन्तु देश में उस परम्परा का लोप हो गया है जो कुछ शेष भी रहा उसका मद्य-निषेधक विधानों से मूलोच्छेद ही हो रहा है । फलतः इस अध्याय के लिखने में कुछ क्रियाक्रमों तथा कुछ गिनी चुनी औषधियों का उल्लेख कर देना ही उचित समझा गया । विस्तृत ज्ञान के लिये चरक मंहिता का महारा लेना अपेक्षित है ।

अध्याय का उपसंहार करते हुए अंत में चरक ने अपना निष्पन्न विचार मद्य-सेवननिषेधपरक ही व्यक्त किया है । मद्य सब गुणों के बावजूद भी उसके अविधि या अति सेवन से विविध दोष पैदा होते हैं । अस्तु “जो मनुष्य इंद्रियो को वज्र में नहीं रखता है अर्थात् जितेन्द्रिय और सम्पूर्ण प्रकार की मादक (मद्यादि नगोली चीजों) द्रव्यों के सेवन में अपने को बचा लिया है उस को शारीरिक तथा मानसिक विकार (जो प्रायः मद्यकर द्रव्य से होते हैं) नहीं होते हैं ।” १



१ निवृत्तः सर्वमद्येभ्यो नरो यच्च जितेन्द्रियः ।

शारीरमानसौर्धमान् विकारैर्न स युज्यते ॥ (चर. चि. २४)

एकीसवाँ अध्याय

दाह-प्रतिषेध

प्रावेशिक—बाह्य अग्नि या तैजस पदार्थ के सम्पर्क से आने से जो अनुभव होता है उसको दाह या जलन कहते हैं। शरीरान्तर्गत कारणों से रोगी को होने वाली जलन की विशेष अनुभूति को दाह रोग (Burning syndrome) कहते हैं। दाह शरीरान्तर्गत अग्नि, स्वरूप का ही अन्यतम गुण है। इस प्रकार किसी भी कारण से शरीरगत सोम गुण—कफ का ह्रास तथा अग्नि गुण—पित्त की वृद्धि होने से दाह का अनुभव होता है। सामान्यतया दाह पित्त की वृद्धि से ही उत्पन्न होता है। अस्तु, उसमें पित्तनाशक उपचारों से शान्ति मिलती है। क्योंकि इस अवस्था में पित्त और रक्त की ऊष्मा से दाह होता है। अस्तु, पित्त का ह्रासन यहाँ कर्त्तव्य रहता है।^१

कई बार ऐसा भी होता है कि पित्त प्राकृत या स्वाभाविक रहता है, परन्तु कफ के अति मात्रा में सक्षय होने से वायु अधिक बढ़ती है और वायु पित्त को शरीर के विभिन्न अवयवों में त्वचा आदि में खींच ले जाती है। उन अवयवों में पित्त का सम्पर्क होने से दाह या जलन पैदा होती है। इस अवस्था में पित्त की स्थानाकृष्टि—अपकर्षण से दाह पैदा होता है। चिकित्सा में यहाँ पर पित्तशामक उपचारों द्वारा वायु को शान्त करके पित्त को स्वस्थान में लाने की आवश्यकता होती है। अस्तु, यहाँ पित्त का ह्रासन न करके वायुशामक उपचार लाभप्रद होता है।^२

सुश्रुत ने सात प्रकार के दाहों का उल्लेख किया है—१ मद्यज, २ पित्तज, ३ तृष्णानिरोधज, ४ रक्तपूर्ण कोष्ठज ५. क्षतज ६. धातुक्षयज तथा ७. मर्माभिघातज। इनमें मर्माभिघातज (Due to shock) असाध्य होता है शेष साध्य होते हैं। इनमें मद्यज, पित्तज, क्षतज, रक्तपूर्ण कोष्ठज और तृष्णा निरो-

१ त्वचं प्राप्तं स प्रानोष्मा पित्तरक्ताभिमूर्च्छित ।

दाहं प्रकुर्वते घोरं पित्तवत्तत्र भेषजम् ॥

२ प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मास्तं श्लेष्मणं क्षये । स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र विसर्पति ॥ तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थित । गात्रदेशे भवत्यस्य श्रमो दीर्घत्वमेव च । (च सू १०)

धज (Dueto Alcohol Haemorrhage & Dehydration) विशुद्ध पैत्तिक दाह है—इनमें पित्तशामक उपचारों से लाभ होता है—परन्तु धातुक्षयोत्थ दाह जिसमें वायुकोप प्रधान हेतु होता है वह वातनाशक उपायों से शान्त होता है ।

क्रियाक्रम-सामान्य—पित्त ज्वर में जो दाह की चिकित्सा में आहार-विहार तथा उपचार बतलाये गये हैं । वही उपचार दाह के शमन के लिये करना चाहिये ।^१ पित्त ज्वर, मदात्यय, रक्तपित्त तथा दाह रोग में पित्त के शमन के लिए लगभग समान उपक्रम ही चलते जाते हैं । बरफ या शीतल जल बाह्य तथा पीने के लिए आभ्यन्तर प्रयोग, पूरे शरीर पर कस्तूरी, श्वेतचन्दन, कपूर और खस को ठंडे पानी में पीस कर लेप करना, धारागृह में बैठना, सहज स्नेहयुक्त, मुग्ध और मज्जुल आलाप करने वाले बालकों का समाश्लेष (आलिङ्गन), खसकी टट्टी लगे पानी के छिड़काव वाले कमरे और पखे की हवा में बैठना (Air conditioned Rooms), कवियों का साहित्य-रस वाणी या सुकुमारियों का गान सुनना, पीने के लिये अगूर का रस, ईख का रस, नारिकेल जल, आँवले का पानी, फलों के रस, फालसा का शर्बत, कोमल और मूत्रल फलों का सेवन, धनिया को रात्रि में भिगोकर सबेरे उसका वासी पानी पीना, या जीरे का पानी, अगुरु, लोध्र, चन्दन आदि का उद्धर्तन, नदी-जलाशय के समीप का वास, ठंडे पर्वतों और निर्झर के समीप का वास, गाय का दूध-घृत-मक्खन का सेवन, ककड़ी, पेठा, केला-मुनक्का, खजूर, छुहारा, सिंघाड़ा आदि फलों का सेवन । चीलाई और परवल का शाक, मूग या मसूर की दाल और सावारण चावल-रोटी का भोजन आदि ।

गर्ममसाले—क्षार-कटु-तिक्त-उष्ण द्रव्यों का सेवन, विरुद्ध अन्न-पान, वेग-विधारण, हाथी-घोड़े की सवारी, परिश्रम, व्यायाम, धूप का सेवन, हिंसु या ताम्बूल का खाना, स्त्रीसंग, दधि, मत्स्य आदि पित्तकर द्रव्यों का पूर्णतः परिहार दाह की अवस्था में कर देना चाहिये ।

१ कपूर, खस, श्वेत चन्दन का ठण्डे पानी में पीसा लेप शरीर पर करना ।^२
भेषज

२ शतघृत या सहस्रघृत घृत का लेप । गोघृत को फूल या कासे के वर्तन में रखकर सौ पानी या हजार बार पानी से धोया घृत पूरे शरीर में लगाने से

१ यत् पित्तज्वरदाहोक्त दाहे तत्सर्वमिष्यते । (भै र)

२ अयि नितम्बिनि खेलनलालसे मधुरवाणि निकाममदालसे ।

वपुषि दाहवता विहित हित हिमहिमाशुजलैरनुलेपनम् ॥

चाह नान्त होता है । यदि अवयव विशेष में जैसे हाथ-पैर के तलवे में हो तो केवल वही पर लगाना चाहिये ।^१

प्रदेह या लेप

३. नीम की पत्ती को पीसकर एक मिट्टी के वर्तन में पानी डालकर मथकर ऊनते फेन में लेप करने से दाह नान्त होता है । विशेषतः विसूचिका के अनन्तर होने वाले उदर के दाहमें लाभप्रद पाया गया है ।^२ इससे तृपा, दाह और मूर्छा में भी आराम होता है ।

४ जी का सत्तू, आंवला, घेर की गुठली या मज्जा, घाम का पन्ना (कच्चे घाम को घाम में पकाकर उसका लेप) काजी के साथ पीस कर लेप करना भी दाहशामक होता है ।

५. चारो वृक्ष की छाल, श्वेत चंदन की दूध में पीस कर पूरे वदन में लेप करना ।

६. प्रियजु, लोध्र, खस, नेत्रवाला, नागकेसर, तेजपात, मोथा और चन्दन का लेप ।

शय्या—केले के पत्र अथवा कमल के पत्ते पर सोना ।

आच्छादन—काजी से आर्द्र किये वस्त्र के द्वारा पूरे शरीर का आवृत करना ।

परिपेक तथा अवगाहन—सुगन्धवाला, पद्माख, खस और सफेद चन्दन को पानी में खोलाकर ठण्डा हो जाने पर उसे एक द्रोणी में भरकर डुबकी लगाकर स्नान । केवल शीतल जल से स्नान भी लाभप्रद होता है ।

काथ-पर्पटादि कषाय—पित्तपापडा, खस और मोथा इनका सम भाग में लेकर बनाया कषाय मिश्री के साथ पीना दाहशामक होता है ।

धान्यक हिम—धनिया को रात्रि में मिट्टी के वर्तन में भिगोकर उसको सुबह मसल कर छान कर मिश्री के साथ पीना सुन्दर दाहशामक होता है ।

चूर्ण—चंदनादि चूर्ण—चंदन, खस, कूठ, नागरमोथा, आंवला, नील कमल का फूल, मुलेठी, महुए का फूल, मुनक्का, खजूर, छोटी इलायची, ककड़ी का बीज, खीरे का बीज, धनिया समभाग और सब के बराबर मिश्री मिलाकर बनाया चूर्ण । मात्रा ३ मासे । अनुपान शीतल जल ।

१ सहस्रघृतेन घृतेन वापि दिग्बस्य दाह कृशता विभक्ति ।

अन्याङ्गनासगसमादरस्य स्वीयेषु दारेषु यथाभिलाषः ॥

२ तृड्-दाह-मोहा. प्रशम प्रयान्ति निम्बप्रवालोत्थितफेनलेपात् ।

यथा नराणा धनिना धनानि समागमाद्वारविलासिनीनाम् ॥ (वै जी.)

घृत-तैल—कुशादि तैल या घृत—कुशादि पंचतृण, गालपर्णी तथा जीवनीय गण की औषधियों से सिद्ध तैल या घृत का सेवन ।

उपसंहार

दाह रोग में प्रयोज्य कुछ व्यचस्थापत्र

१ चंद्रकलारस ३ र०

प्रवाल पिष्ट ३ र०

गुडूचीसत्त्व १॥ मा०

मिलित ३ मात्रा

१ मात्रा दिन में तीन बार घृत और चीनी के साथ या गुलकन्द के साथ ।

(२) यष्ट्यादि चूर्ण या शतपत्र्यादि चूर्ण ६ माशे रोज रात्रि में सोते वक्त दूध से ।

वायु के कारण दाह हो तो

(१) गुग्गुलुवटी ६/३ मात्रा २, २ गोली दिन में तीन बार गर्म जल से ।

(२) यष्ट्यादि चूर्ण या शतपत्र्यादि चूर्ण पूर्ववत् रात्रि में ।

(३) पंचगुण तैल का अभ्यंग ।

आजकल दाह रोग अधिकतर धातुचयजन्य अर्थात् वातिक ही मिलते हैं । अस्तु, इनकी चिकित्सा में धातुओं के वर्धन, पोषण की व्यवस्था, जीवतिक्तियुक्त द्रव्य आहार प्रचुर मात्रा में देना उत्तम रहता है । प्रदर तथा योनि रोग से पीड़ित स्त्रियों में शुक्रक्षय की अधिकता से उत्पन्न पुरुषो तथा किसी दीर्घकालीन रोग के परिणाम स्वरूप उत्पन्न दाह का रोग प्रायः मिलता है । नवीन वैज्ञानिकों के शोध के अनुसार हस्त-पादादितल-दाह (Burnig Feet Syndrome) का उत्पादक कारण जीवतिक्ति वी की कमी (Vit B, and Calcium Pantothenate) माना जाता है । इस अवस्था में मुख से प्रयुक्त होने वाली तथा मूचीवेव से देय बहुत सी औषधियाँ भी मिलती हैं । फिर भी इनसे स्थायी लाभ नहीं होता है ।

स्थायी लाभ के लिये आयुर्वेदीय योगों का उपयोग श्रेयस्कर होता है । यहाँ पर एक योग, कविराज ५० भूमित्रि शर्मा वैद्य का, उद्धृत किया जा रहा है जो उत्तम लाभ करता है :—

कुंकुमादि बटी—केसर १ तोला, सिंगरफ १ तोला, सोठ १ तोला, धतूरे का बीज १ तोला, जायफल १ तोला, लौंग १ तोला, जावित्री १ तोला तथा मिर्च १ तोला । सबको कूट-पीसकर महीन चूर्ण बनाकर खरलकर बटी बना लेनी चाहिये । मात्रा—२ रत्ती प्रातः सायं जल या दूध से ।

पाद-दाह—का वर्णन वातरोगाध्याय में भी पाया जाता है। वहाँ पर चिकित्सा रूप में नागकेशर के काँटों को पीसकर शतघृतघृत में मिलाकर पैरों में लेप करना अथवा दशमूल के काँटों से पैर के तलवों का धोना अथवा मक्खन का लेप कर^१ स्वेद करना बतलाया गया है। निरावेध के द्वारा रक्त-निर्हरण तथा दाह कर्म का भी विधान पाया जाता है। विभीतक फल के चूर्ण का अवधूलन, चूर्ण को पानी में पीसकर लेप या विभीतक फल की मज्जा का लेप हाथ-पैर के दाह का नामक होता है।



वाइसर्वा अध्याय

भूत-विद्या

चिकित्सा शास्त्र में पठित रोग दो वर्गों के मिलते हैं। एक वे जिनमें पैदा होने वाले लक्षणों की दोष-दूष्य-हेतु-पूर्वरूप-उपशय-तथा सम्प्राप्ति के अनुसार तथा शारीर एवं मानस दोषों के अनुसार उनकी तर्कसंगत व्याख्या की जा सके और समझा जा सके। इसके विपरीत कुछ सीमित व्याधियों का एक दूसरा वर्ग भी होता है। जिनमें अद्भुत या विचित्र स्वरूप के लक्षण पैदा होते हैं। इनमें मिलने वाले लक्षणों या लक्षण-समुदाय की उपपत्ति त्रिदोषवाद के सिद्धान्त के अनुसार या सत्त्व, रज एवं तम प्रभृति मानस गुणों के आधार पर समझ में नहीं आती हैं।

जैसे—कोई व्यक्ति जिसने कभी भी संस्कृत भाषा नहीं पढ़ी हो और वह, अचानक रोग के आवेश में संस्कृत वाणी में प्रवचन करने लगे। अथवा कोई ऐसा व्यक्ति जिसने कभी भी फारसी नहीं पढ़ी हो रोग की अवस्था में सहसा फारसी में बोलने या लिखने लगे। ऐसे रोगियों में अथवा उनमें उत्पन्न होने वाले लक्षणों का बोधगम्य एवं तार्किक समाधान नहीं हो पाता है। इस प्रकार के असाधारण रोगों के लिये एक स्वतंत्र वर्ग की ही कल्पना आयुर्वेद शास्त्रज्ञों ने

१ शिराव्यधः पाददाहः पादकण्टकवत् क्रियाः।

शतघृतघृतोन्मिश्रं नगकेशरकण्टकैः ॥

पिष्टं प्रलेपं सेकश्च दशमूल्यम्बुनेष्यते।

आलिप्य नवनीतेन स्वेदो हस्तादिदाहहा ॥ (च. द.)

की एवं आयुर्वेद ने एक स्वतंत्र अंग भूत-विद्या के अंतर्गत ऐसे रोगों का आख्यान किया है ।

इस विजिष्ट अंग में पाये जाने वाले रोग अधिकतर सत्त्व या मन से सम्बन्ध रखने वाले हैं । अंग के प्रवर्तक आचार्यों ने इन में प्रकट होने वाले रोगों का सम्बन्ध आगन्तुक कारणों से जोड़ा तथा उन में होने वाले लक्षण-समुदाय की नज़ा भी पूर्णतया भिन्न स्वरूप की दी तथा रोग को रोग न कहकर भूतावेश, सत्त्वावेश, ग्रहजुष्ट, ग्रहोपसर्ग, वायुजुष्ट आदि शब्दों में आख्यान किया । इस अंग में वर्णित वाद्यों की व्याख्या, विनिश्चय तथा उपचार भी भिन्न स्वरूप के बतलाये ।

इस अंग में व्यवहृत होने वाले शब्द सभी भिन्न स्वरूप के पारिभाषिक अर्थों में व्यवहृत होते हैं । रोगों का नाम, उत्पत्ति तथा उनके उपचार सभी रहस्यमय हो मिलते हैं । अस्तु, भूत-विद्या नामक इस तंत्र या अंग को यदि रहस्यमय रोग तथा उनके उपचार का अध्याय (A chapter on Mysterious diseases & their treatment) कहा जाय तो अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होगा है ।

अब यहाँ अंका होती है कि भूतविद्यान्तर्गत वर्णित देव-असुर-पिशाच प्रभृति क्या वास्तव में मनुष्य शरीर में उपसृष्ट होकर कष्ट देते हैं या नहीं ? विषय विवादान्मय है । बहूत कुछ खण्डन और मण्डनपरक युक्तियाँ दी जा सकती हैं । खण्डन या नास्तिपरक ही विचारों का ही आधिक्य पाया जाता है । अस्तु, विचारणीय यह है—भूत-प्रेत आदि स्वयं अदृश्य हैं, चर्म चक्षु से दिखलाई नहीं पड़ते हैं तो फिर उनके अस्तित्व का ज्ञान कैसे होवे । इसका सीधा उत्तर यह है कि उनके प्रभाव से । जैसे—ताप और शक्ति दृष्ट नहीं होते, परन्तु प्रभाव से ही उनकी विद्यमानता का ज्ञान संभव रहता है ।

भूतादि का प्रभाव प्रायः अल्पसत्त्व (कमजोर मनोबल) के आदमियों में दिखलाई पड़ता है । महासत्त्व (दृढ मनोबल) के व्यक्तियों अथवा पवित्र आचरण के व्यक्तियों में इनका कोई भी प्रभाव नहीं दिवाई पड़ता है । परन्तु कमजोर मन के एवं गन्दे रहनेवाले व्यक्तियों में तथा अनसंस्कृत व्यक्तियों में (अशौच के कारण) आये दिन इन पर होनेवाले प्रभावों का प्रत्यक्ष किया जा सकता है ।

दूर के देहातो में जहाँ विश्वास का अभाव है, औद्योगीकरण का कमी है एवं चिकित्सा की सुविधा मुख्य नहीं है—वहाँ पर प्रेत-बाधा आदि का रोगों में सर्व प्रथम निदान और तत्र-मत्र एवं यंत्र का सर्व प्रथम उपचार देखने को मिलता है । देहातो को छोड़ गहरों या गहरो की समीप वस्तियों में रहने वाले निम्न आर्थिक स्तर के व्यक्तियों में भी इस भूत-विद्या के प्रति कम आस्था नहीं दिखलाई

पठती । इनमें भी विविध व्याधियों में प्रायः प्रेतावेश का निदान और तदनुकूल उपचारों की व्यवस्था देखी जाती है ।

आवेग का एक अर्थ आग्रह या हठ भी है । इस प्रकार का आवेशयुक्त रोगी कई आग्रहों से युक्त होकर सम्यक् चिकित्सकों के समीप भी आ सकता है । मान लें कोई रोगी चिकित्सक के समीप आकर अपने रोगों का कारण प्रेतवाधा बतलाता है । और उसके प्रतिकार रूप में किसी देवता को प्रसन्न करने के लिए किसी विशेष प्रकार के पूजन का आग्रह करता है । अब चिकित्सक उसका अनुमोदन करेगा या विरोध । यदि अनुमोदन करता है तो वह आशिक रूप में भूत-विद्या नामक कला का समर्थन करता है । यदि पूर्णतया विरोध करता है तो उसकी यशोहानि की संभावना रहती है ।

रोगी के मानसिक उद्वेगों के शमन के लिये उसके मन को प्रौढ करने के लिये सफल चिकित्सक प्रायः भूत-विद्यान्तर्गत कथित उपचार, साधनों या दैव-व्यपाश्रय उपायों को अपनाता है । रोगी के मानसिक शान्ति के लिये कभी अनूकूल या प्रतिकूल उपचारों का सहारा लेना परमावश्यक हो जाता है । वस इतने में ही भूतविद्या की सम्पूर्ण कला निहित है और इन साधनों का आश्रय लेते हुए उपचार करने में ही भूतविद्या नामक तंत्र की सार्थकता है ।

तांत्रिक व्याख्या—तत्रशास्त्र में ऐसा माना जाता है कि देव-ऋषि-यक्ष-गन्धर्व-प्रेत आदि की नाडियाँ सुषुम्ना के समीप में पाई जाती हैं । योगी लोग अपनी इच्छा के अनुसार जब चाहे इनमें किसी की भी जागृत या सुप्त कर सकते हैं । दूसरे के शरीर के इन नाडीतंत्रों को भी जगा सकते हैं । यदि किसी आगन्तुक कारण से ये नाडियाँ उन्मुख हो जाँय तो विविध प्रकार के प्रेत-गन्धर्व आदि के आवेश के लक्षण सामान्य व्यक्ति में भी होने लगते हैं, जिसे भूत-वाधा के नाम से अभिहित किया जाता है । इसी विषय का वर्णन इस भूत-विद्या नामक अग्रे में किया जाता है ।

भूतविद्या—नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचनाग्रहाद्युप-सृष्टचेतसा शान्तिकर्मवलहरणादिग्रहोपशमनार्थम् । (सु सू. १)

देवर्षिगन्धर्वपिशाचयक्षरक्षःपितृणामभिधर्षणानि आगन्तुहेतुर्नि-यमव्रतादिमिथ्याकृतं कमे च पूर्वदेहे ॥ (च चि)

आयुर्वेद के अष्टाङ्गों में एक अन्यतम अंग भूतविद्या है । आयुर्वेद के इस अंग का प्रयोजन देव (देवता), असुर (दैत्य), गन्धर्व (देवगायक), यक्ष (कुबेर आदि), राक्षस (ब्रह्मराक्षस), पितर (श्राद्ध में दिया गया भोजन

ग्रहण करने वाले), पिशाच (पिणित खाने वाले), नाग (सर्प ग्रह), ग्रह (बाल ग्रह) से उपसृष्ट चेतस् (मन) वाले व्यक्तियों के शान्ति-बालहरणादि उपचारों द्वारा ग्रहों का उपशमन करना है ।

अब एकैकग इन शब्दों का विचार आवश्यक हो जाता है । देव ग्रह से क्या तात्पर्य है क्या देवता स्वयं किसी मानव के शरीर में प्रविष्ट होकर कष्ट देते हैं ? देव ग्रहों में तप, दान, व्रत, धर्म, नियम, सत्य तथा अष्टविध सिद्धियाँ उनमें नित्य रहती हैं । उत्कृष्ट गुण होने के कारण वे मनुष्यों के साथ नहीं बैठते और न तो वे मनुष्यों के शरीर में प्रविष्ट ही होते हैं । किन्तु जो लोग भी अज्ञानवश मानव शरीर में इनका प्रवेश मानते हैं उनको भूतविद्या से अनभिज्ञ ही समझना चाहिये । वास्तव में ये देव स्वयं शरीर में प्रविष्ट नहीं करते अपितु इन ग्रहों के जो असंख्य अनुचर हैं एवं रक्त और मांस पर ही निर्भर रहते हैं वे भयङ्कर तथा रात्रि में भ्रमण करनेवाले देवों के परिचर ही मानव-शरीर में प्रवेश करते और उन्माद प्रभृति रोगों को पैदा करते हैं ।^१

असुर—दैत्य ग्रह भी कहलाते हैं । गन्धर्व—देवताओं की सभा के गायक गन्धर्व कहलाते हैं । यक्ष—कुबेरादि देवता लोगों के कोपाध्यक्ष या अर्थपति होते हैं । राक्षस—से ब्रह्मराक्षस का ग्रहण करना चाहिये, ब्राह्मण की मृतात्मा । पितृग्रह—अपने वंश के मृत पूर्व पुरुष जिनको पिण्डदान किया जाता है—यदि उनको पिण्डदान न किया जाय या अन्य किसी कारण से अप्रसन्न हो जायें तो वे भी ग्रह रूप में बाधक हो जाते हैं । नाग—सर्प लोक के ग्रह ।

ग्रह—बालग्रह के अध्याय में वर्णित विविध ग्रह जो बालकों में उपसृष्ट होकर नाना प्रकार की व्याधियाँ पैदा करते हैं । पिशाच—पिणित या मांस खानेवाले ग्रह या निम्नस्तर के या समाज के एक छोटे अंग के रूप में पाये जाने वाले प्रेत ।

इन ग्रहोपसर्गों को समझने के लिये इनके प्राकृतिक रूप में पाये जाने वाले सत्त्वों का ज्ञान आवश्यक हो जाता है । इसके लिये सत्त्वों का वर्णन अध्याय के अन्त में चरक संहिता के अनुसार सत्त्व या रज अश की विशेषता के आधार पर

१ तपामि तीव्राणि तथैव दानं व्रतानि धर्मो नियमश्च सत्यम् ।

गुणास्तथाष्टावपि तेषु नित्या व्यस्ता समस्ताश्च यथाप्रभावम् ॥

न ते मनुष्ये सह सविशन्ति न वा मनुष्यान् ववचिदाविशन्ति ।

ये त्वाविगन्तीति वन्दन्ति मोहात्ते भूतविद्याविषयादपोह्या ॥

तेषां ग्रहाणां परिचारका ये कीटीसहस्रायुतपद्मसस्याः ।

अमृगसामान्भुजः सुभीमा निशाविहाराश्च तथा विशन्ति ॥

सात सात्त्विक अश से और छ राजस अश से युक्त व्यक्तिवो का विविध नाम से आत्मान किया गया है। वैकारिक अवस्थावो मे इनके आधार पर ही किस सत्त्व का आवेश किसी व्यक्ति में हुआ है इसका विनिश्चय किया जा सकता है। ग्रहावेश या भूतावेश दो प्रकार के होते हैं—देव कोटि के या पिशाच कोटि के। अथवा महासत्त्व (बलवान्) तथा अल्पसत्त्व (कमजोर)।

आयुर्वेद अथर्ववेद का एक उपाङ्ग है। अथर्ववेद मे भूतविद्या तथा मन्त्र-चिकित्सा का प्रचुर वर्णन पाया जाता है। मन्त्र-शास्त्र या मन्त्र-चिकित्सा को सर्वोपरि स्थान चिकित्सा-विद्या मे दिया जाता है। इस कला की प्रशंसा करते हुए लिखा गया है कि सबसे सिद्ध वैद्य मात्रिक होता है। “सिद्धवैद्यस्तु मात्रिकः।”

तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाय तो व्याधि या रोग दो प्रकार के हो सकते हैं। एक वे जिनका सम्बन्ध शरीर से हो, दूसरे वे जिनका सम्बन्ध मन से हो। शरीर मे होनेवाले रोगो को व्याधि तथा मन मे होने वाले रोगो को आधि की नज्ञा दी जाती है। यद्यपि व्याधि और आधि के रूपो मे पर्याप्त भेद होता है तथापि वे पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं हैं बल्कि परस्पर मे अनुस्यूत हैं। शरीरगत व्याधियो के प्रभाव मन के ऊपर और मन मे होने वाले रोगो-आधियो का प्रभाव शरीर के ऊपर पड़ता है। कई बार तो ये आपस मे मिलकर ऐसा रूप धारण करते हैं कि उनका पार्थक्य करना भी कठिन हो जाता है।

उत्पादक हेतुओ की दृष्टि से विचार किया जावे तो व्याधि या शरीरगत व्याधियो के उत्पन्न करने मे वात-पित्त-कफ दोष भाग लेते हैं और उनके परिणाम स्वरूप शरीरगत धातुओ में वैकारिक परिवर्तन होते (Pathological changes) हैं और उनके कारण विविध लक्षण पैदा होते हैं। परन्तु मनोगत व्याधियो मे रज और तम दो दोष उत्पादक हेतु बनते हैं और इनके परिणाम स्वरूप शरीरगत धातुओ मे वैकारिक परिवर्तन (No signs of Pathological changes in Body tissues) के कोई चिह्न नहीं मिलते हैं फिर भी विविध प्रकार के लक्षण पैदा होते हैं। सम्भव है उनकी उत्पत्ति मे मस्तिष्क धातु मे कुछ वैकारिक परिवर्तन होते हो।

अब चिकित्सा या उपचार पर विचार करें तो व्याधि की चिकित्सा मे युक्तिव्यपाश्रय (Materialistic) साधन बतलाये जाते हैं और आधियो की चिकित्सा प्राय आधिदैविक या दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का प्रसंग आता है।

आधियो का विचार किया जाय तो उनमे कुछ मद, मूर्च्छा, सन्यास, अपस्मार, उन्माद और अपतन्त्रक प्रभृति ऐसी व्याधियाँ हैं जिनका आधिभौतिक या युक्ति-

व्यपाश्रय चिकित्सा करते हुए और साथ में कुछ दैवव्यपाश्रय उपाय बतलाते हुए उपचार करना संभव रहता है। परन्तु कुछ ऐसे भी रोग चिकित्सकों के सम्मुख आते हैं जिनका रहस्य समझ में नहीं आ पाता है और उनमें आधिभौतिक उपचार कुछ भी लाभ नहीं करता है और विशिष्ट दैव-व्यपाश्रय उपक्रमों से उनका शमन करना संभव रहता है। इस प्रकार का रहस्यमय मानस रोग भूतविद्या के विषय हो जाते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि आधि या मानसिक रोगों के दो वर्ग हैं—१. सामान्य आधियाँ २. विशिष्ट आधियाँ। सामान्य आधियों के रहस्य का तो भेद लग जाता है और कुछ सामान्य दैव-व्यपाश्रय उपक्रमों की सहायता से प्रधानतया युक्ति-व्यपाश्रय उपायों द्वारा उपचार सामान्य व्यक्ति भी कर लेता है। दूसरे वर्ग में विशिष्ट आधियों को समझना चाहिये—जो परमगूढ़, रहस्यमय और अप्रतर्क्य होती हैं जिनका उपचार विशेषज्ञों का विषय रह जाता है। इस प्रकार की विशिष्ट रहस्यमय व्याधियाँ और उनका उपचार भूत-विद्या का विषय हो जाता है। इन व्याधियों की कोई तर्कसंगत व्याख्या या उपचार असंभव हो जाता है।

इस प्रकार की विशिष्ट व्याधियों के हेतु, लक्षण, मंजा एवं उपचार पूर्णतया स्वतंत्र ढंग के होते हैं, उनका आयुर्वेद के अन्य सात अंगों (शल्य-शालाक्य, अगदतंत्र, कौमार भृत्य, रसायन, कल्प तथा बाजीकरण) के साथ कोई पूर्वापर सम्बन्ध भी नहीं रहता है। इनके उपचार करने वालों के लिये भी कोई शेष अन्य अंगों की विशेष अपेक्षा नहीं रहती है। इस विषय का अधिक सम्बन्ध मन्त्र शास्त्र में हो जाता है। मन्त्र-मन्त्र-यंत्र के द्वारा उपचार करते हुए इन आधियों में शान्ति मिलती है। मन्त्र शास्त्र के अनुसार चिकित्सा करनेवाले चिकित्सकों का एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय है जिन्हें तान्त्रिक या ओझा-सोखा कहते हैं। विशिष्ट प्रकार की आधियों का उपचार करना उन विशेषज्ञों का ही विषय है। भूत-विद्या का विशेषज्ञ वास्तव में तान्त्रिक या मन्त्रशास्त्रज्ञ ही होता है। सामान्य चिकित्सक को कुछ सामान्य बातों का ज्ञान हो जाना ही पर्याप्त है—जिनके आधार पर वह विशिष्ट तंत्रों से सलाह लेने के लिये रोगी को भेज सके।

चिकित्सा शास्त्र के विद्यार्थी को बहुविध ऐसे विषय पढ़ाये जाते हैं जिनका उनके परवर्ती कार्यक्षेत्र में काम नहीं पड़ता है। जैसे—प्रसूति तंत्र, स्त्रीरोग तथा शल्यतंत्र-सम्बन्धी बृहत् शस्त्र कर्म (Major operations)। एक सामान्य चिकित्सक के लिए कार्य क्षेत्र में आने पर विशेषतः काय-चिकित्सक के लिये इन कर्मों का व्यवहार अप्रामाणिक हो जाता है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन विषयों का ज्ञान कराना उसके लिये निरूपयोगी या

अनावश्यक है। क्योंकि इस ज्ञान के अभाव में चिकित्सक रोग के निदान में, उसके शस्त्रसाध्य या औषधसाध्य होने में, लघु शल्यकर्म साध्य या बृहत्कर्म साध्य तथा संभाव्य माध्यासाध्य विवेक में अनभिज्ञ ही रह जायगा और उस अवस्था के अनुसार जैसे रोगी को उचित सलाह देने में चूक जायेगा। रोगी की स्थिति के अनुसार उसे किसी शल्यकर्म-विशेषज्ञ, प्रसूति-विशेषज्ञ के उपचार के लिये अथवा यथोचित छोटे या बड़े चिकित्सालय में जाने के लिये प्रेरित करने में उसका पूर्व पठित ज्ञान सहायक बनता है।

इसी तरह भूत-विद्या के जहाँ तक सामान्य ज्ञान का प्रश्न है—सभी काय-चिकित्सक को जानना आवश्यक है। मान लें चिकित्सक को भूत-विद्या तंत्र में कुछ भी आस्था नहीं है वह उसको एक हास्यास्पद विषय या कपोलकल्पित अनावश्यक विवेचना समझता है। परन्तु यदि कोई व्यक्ति या रोगी भूत-प्रेत आदि बाधाओं से पीड़ित होकर उसकी चिकित्सा में आता है तो क्या उसको मजाक कर टाल सकेगा। उसको बाध्य होकर आधिभौतिक उपचारों के साथ कुछ आधिदैविक उपक्रमों का भी शरण लेना पड़ेगा। दैवव्यपाश्रय चिकित्सा वह या तो स्वयं करे अथवा उसके लिये किसी अन्य तंत्रज्ञ से सलाह लेने के लिये उपचार कराने के लिये भेज दे। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक चिकित्सक को इन आध्यात्मिक या मानसिक विकारों तथा उनके उपचारों से अवगत होना वाछित है। इसी लिये सभवतः आयुर्वेद के शास्त्रकारों ने भूत-विद्या को एक अन्यतम अंग के रूप में व्याख्या की है।

जैसा कि ऊपर में बतलाया जा चुका है कि आधियों में सामान्य चिकित्सक को भी इन उपचारों का शरण लेना पड़ता है—जैसे आगन्तुक विषमज्वर, आगन्तुक या भूतोत्थ उन्माद, आगन्तुक अपस्मार या अपतंत्रक तथा बालरोगों को चिकित्सा में बालग्रह आदि। अस्तु, एक सामान्य चिकित्सक (General Practitioner) को कुछ इस मंत्र शास्त्र के सामान्य बातों की जानकारी करना आवश्यक हो जाता है। उदाहरण के लिए कुछ रोगों का उदाहरण नीचे दिया जा रहा है।

नव प्रसूत बालकों में कई प्रकार के रोग या लक्षण-समुदाय (Syndrome) प्रकट होकर उसकी दशा को साघातिक बना देते हैं। बोलने और दवा-दारु के सेवन में असमर्थ बालक व्याकुल हो जाता है। चिकित्सक का भौतिक उपचार (materialistic Treatment) दुरूह हो जाता है और प्रायः असफल ही पाया जाता है। बालक कुछ ही क्षणों में अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर

देता है। बालक के माता-पिता तथा चिकित्सक की बुद्धि एवं युक्ति भी अकिंचित्कर होती है, वे किंकर्तव्य-विमूढ हो जाते हैं। जो कुछ भीतिक उपचार करता है वह भी प्रायः सफल नहीं होता। असफलताओं के कारण चिकित्सक हताश हो जाता है। इनमें न ठीक निदान हो पाता है और न समुचित चिकित्सा ही। छोटे रोगी का सहयोग (Co operation) भी चिकित्सक के लिए दुर्लभ हो जाता है। फलतः चिकित्सा में असफलता ही अधिक मिलती है और सफलता कम।

इन रोगों में आयुर्वेद अपने भूत-विद्या नामक अंग के शरण लेने का उपदेश देता है जिसमें कई प्रकार के आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक उपायों से बालक रोगी के रोग-निर्हरण के लिए उपदेश पाया जाता है। रोग के निश्चय में वह विज्ञेय प्रकार के हेतु, रोग की भिन्न प्रकार की सज्ञा, विशिष्ट प्रकार के पूर्वरूप तथा उपचारों के अलौकिक रूपों का आख्यान करता है। इन अवस्थाओं में बालक के रोगों की सज्ञा बालग्रह हो जाती है। उपचार में युक्ति की अपेक्षा परम्परा या दैव की विज्ञेयता बतलाता है। इसके लिए ग्रहवाचा-प्रकरण नामक विज्ञेय अध्याय लिखा जाता है, जिसका सम्बन्ध उसके अन्य सात अंगों से न करके, विशिष्ट अंग भूत-विद्या से जोड़ता है। फलतः बालग्रह के उपचार तथा आगन्तुक अनुबन्धों के उपचार कुछ दूसरे प्रकार के हो जाते हैं जो आयुर्वेद का अपना वैशिष्ट्य बन जाता है।

विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए यहाँ पर अत्यन्त संक्षेप में इन ग्रहों के नाम, स्वरूप तथा उपचारों का एक व्यावहारिक वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

बालग्रह-रोग कई स्वरूप के होते हैं। इनसे अत्यन्त तीव्र स्वरूप के (Acute) और कई बार जीर्णस्वरूप के (Chronic) लक्षण भी पैदा होते हैं, परन्तु घातक प्रायः सभी होते हैं।

बालग्रह-सामान्य रूप—ग्रहोपसृष्ट बालक में सामान्यतया निम्नलिखित लक्षण समुदाय (Syndrome) पाये जाते हैं। जैसे—ज्वर, क्रन्दन, चौकना, चिल्लाना, आँखें एवं भ्रू का नचाना, मुख से फेनोद्गम, ऊपर की ओर स्थिर नेत्रों में देखना, दाँतों का कटकटाना, अनिद्रा, भयाकुल उद्विग्नता, माता का स्तन्य-त्याग (दूध न पीना), स्वर और चेष्टाओं का विकृत होना, नख से माता या धात्री के शरीर का कुरेदना, निसंज्ञता (बेहोशी), विवध या अतिसार, उसके शरीर में मान-रक्त से मछली, खटमल या छुलुन्दर जैसी दुर्गंध का आना। इन लक्षणों के आधार पर बालग्रह से जुष्ट बालक का निदान करना सम्भव रहता है।

बालग्रहसंख्या—सुश्रुत तथा अष्टाङ्गहृदय में कई वर्गों में इन लक्षणों के विभजन तथा विभिन्न ग्रहों के अनुसार लक्षण तथा उपचार का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ सुश्रुत ने कुल ग्रहों की संख्या ९ बतलाई है जो आकाशीय नव-ग्रहों की संख्या के साथ साम्य रखता है। अष्टाङ्गहृदय में संख्या बारह बतलाई गई है। रावण नामक किसी आचार्य ने बाल ग्रहों का वर्णन पूतना के नाम से किया है और कुल संख्या सोलह बतलाई है। यहाँ पर अष्टाङ्गहृदय के अनुसार १२ बालग्रहों का नाम दिया जा रहा है।

अपने पुत्र कार्तिकेय की रक्षा के लिए शूलपाणि भगवान् शंकर ने ग्रहों की उत्पत्ति की है। ये बारह प्रकार के होते हैं। इनमें छ पुलिङ्गी और छ स्त्री-लिङ्गी होते हैं। १ स्कंद २ विशाख ३. मेघ ४ श्वग्रह ५. प्रपितृ ६. शकुनि मन्त्र छ: पुलिङ्गवाचक तथा ७ पूतना, ८ शीतपूतना ९ दृष्टिपूतना १० मृगमण्डलिका ११ रेवती, १२ शुष्करेवती ये छ स्त्रीलिङ्ग वाचक होते हैं।

रोगोत्पत्ति में ग्रहों की कारणता—आचार्य सुश्रुत ने लिखा है कि “आप्त या शास्त्र-वचनो के अनुसार अर्थात् जो शास्त्र में लिखा है उस को देख कर तदनुसृत रोगों की उत्पत्ति में इन ग्रहों की कारणता, लक्षण और चिकित्सा का उल्लेख किया जावेगा।”

माता या घात्री के अपथ्य या अपचारों से जैसे, मास-सुरादि का सेवन, मूत्र-पुरीषादि की सफाई न रखना, मंगल कर्म का अभाव तथा अपवित्रता से ग्रह कुपित हो जाते हैं तथा अपनी पूजा करने के निमित्त या हिंसा के लिए शिशु पर आक्रमण करते हैं। हिंसाकाक्षा या अर्चनाकाक्षा इन दो कारणों से ही बालक को ग्रह कष्ट देते हैं “हिंसारत्यर्चनाकाक्षा ग्रहग्रहणकारणम्।” वस्तुतः ग्रह बालक के रक्षक रूप में रहते हैं क्योंकि इसी निमित्त इनकी सृष्टि भगवान् शंकरने की थी परन्तु अपवित्रता या अपूजन से वे स्वयं बालक के भक्षक हो जाते हैं।

सामान्य उपचार—सामान्यतया सभी ग्रहों के उपचार में निम्नलिखित कर्मों या उपक्रमों की आवश्यकता होती है—१ परिपेक (Sponging) २ अभ्यंग (Massage)—महाबला तैल का अभ्यंग ३ घृत प्रयोग—अष्टमंगल घृत (भै र) ४. क्षीर प्रयोग—जैसे विडङ्गपाक क्षीर ५ धूपन-सर्पनिर्मोक, रोम, केश, चर्म आदि का धूपन ६. प्रदेह—सर्वगन्धद्रव्य युक्त ७ औषधि धारण—गुडूची-पुत्रजीव-शारिवा-आदि का धारण ८ वलिनिर्हरण—वहिर्वलि के लिये रगीन वस्त्र, भक्ष्य, द्रव्य, नैवेद्य देवता के नाम से निकाल कर बालक को स्पर्श कराके

घर से बाहर किसी चौराहे पर रख देना ९ रक्षामंत्र, १० स्नान—धात्री तथा बालक का विशेष विधियो से स्नान कराना ।^१

भूत-विद्या के अतर्गत बाल रोगो का समावेश संभवतः असमर्थतावश आचार्य ने किया है। क्योंकि—इस प्रकार के नवप्रसूत बालको के कोमल और मृक शरीर में रोग का निदान बड़ा ही कठिन होता है। निदान क्वचित् हो भी जाय आभ्यंतर मे प्रयुक्त होने वाली सामान्य एवं निरापद औषधियो से उपचार करना कठिन हो जाता है। अस्तु, अभ्यंग, उत्सादन प्रभृति बाह्य उपचारो के द्वारा तथा मंत्र-तंत्र और यंत्र द्वारा चिकित्सा करना युक्तिमगत प्रतीत होता है। अस्तु, बालग्रह सज्ञा से इस कालमर्यादा की होनेवाली व्याधियो का वर्णन आचार्यों ने किया तथा उसके उपचार में व्यवहृत होने वाले शान्ति कर्म, बलिहरणादि क्रियावो का उपदेश किया।

भूत-विद्या के अतर्गत दूसरा प्रमुख प्रसंग उन्माद रोग के अधिकार में आता है। मद-मूर्च्छा-सन्यास-अपतंत्रक-अपस्मार तथा उन्माद ये ऐसे रोग हैं—जिनमें शारीरिक दोष वात-पित्त-कफ तथा मानसिक दोष सत्त्व-रज और तम, दोनों का मनुलन बिगड़ जाता है और शरीर तथा मन दोनों के दोषो मे विषम्य पैदा होता है। विविध मानसिक या मस्तिष्कगत रोगो में मनमें विकार कैसे पैदा होता है, इस विषय को समझने के लिए थोड़ा मन के दोष, गुण और क्रिया का संक्षिप्त ज्ञान हो जाना आवश्यक है।

मनके गुण तथा दोष—प्रकृति के समान मन भी त्रिगुणात्मक होता है। प्राकृत अवस्था में इसमें सत्त्व गुण की ही प्रधानता रहती है। अस्तु, इसका दूसरा नाम ही सत्त्व पड़ गया है। रज और तम मन के दो दोष हैं—“रजस्तमश्च मनसा द्वौ दोषाबुदाहृती।” इन दोनों की विषमता या प्रबलता से विविध मानसिक रोग पैदा होते हैं।

मन के कार्य और उसकी क्रिया की सम्पन्नता—कर्तव्या-कर्तव्य का विचार, तर्क, ध्यान, संकल्प, इन्द्रियो का नियमन तथा अपना नियमन आदि मन के कर्म हैं—

चिन्त्यं विचार्यमूह्यञ्च ध्येयं संकल्पमेव च।

यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्।

इन्द्रियाभिग्रहः कर्मे मनसः स्वस्य निग्रहः॥ (च शा)

१. विस्तार के लिए देखिये सुश्रुत उत्तरस्थान बालग्रह-प्रतिषेध।

अनुभव (Feeling), विवेचन (Thinking), तथा क्रिया (Action), इनसे मानसिक क्रियाये सम्पन्न होती हैं। मन की ही अवस्था विशेष का नाम अहंकार और बुद्धि है। इन्द्रियो के द्वारा किया गया प्रत्यक्ष मन के पास पहुँचता है, मन उसके हेयोपादेय (भले बुरे) का विचार करके अहंकार को दे देता है। अहंकार भी यह मेरा है ममझकर उसका ग्रहण या त्याग करने के लिए बुद्धि को मौप देता है। इस प्रकार वस्तु के ज्ञान में इन्द्रियाँ अप्रधान तथा मन आदि तीनों अंत-करण प्रधान माने गये हैं।

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।

तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥ (सा. का)

ये सभी क्रियायें मन के सत्त्व गुण की प्रकृतावस्था पर ही निर्भर हैं। सत्त्व गुण की कमी एवं रज और तम की अधिकता से उपर्युक्त विविध मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। मानसिक व्याधियों में उन्माद का महत्त्व सर्वाधिक है। अतः यहाँ पर उसी का वर्णन किया जा रहा है।

वातादि दोष विकृत होकर जब मनोबह स्रोत (वातनाडी सस्थान) में पहुँचते हैं तो उसके सत्त्व गुण का ह्रास एवं रज तथा तमो गुण की वृद्धि कर के मनोविभ्रम या उन्माद रोग को उत्पन्न करते हैं। उन्माद किस को और क्यों होता है। इसका विवेचन यथास्थान आगे किया जायगा। सम्प्रति उन्माद की सक्षिप्त परिभाषा के बारे में विचार किया जा रहा है।

निष्प्रयोजन तथा उच्छृंखल प्रवृत्ति का ही दूसरा नाम उन्माद है। प्राकृतावस्था में मनुष्य प्रत्येक कार्य किसी प्रयोजन में ही करता है बिना प्रयोजन के अल्प बुद्धि की भी प्रवृत्ति नहीं होती 'न प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि प्रवर्तते।' प्राचीनो ने प्राणैषणा (जीवित रहने की इच्छा Instinct of Self Preservation), धनैषणा या कामैषणा (धन या कामना की पूर्ति की इच्छा Sexual), धर्मैषणा या परलोकैषणा (समाज और धर्म की इच्छा Herd instinct), इन तीनों को ही प्रवृत्ति का कारण या प्रयोजन माना है— "सुत वित नारि ईपना तीनी । केहि के मति नहिं कोन मलीनी"। ये सभी एषणाये तथा प्रकृति एवं तदनुकूल प्रवृत्तियाँ प्रायः माता-पिता के गुणों के अनुसार सतान में आती हैं। वृत्त तथा सदाचार आदि गुण जातोत्तर काल में शिक्षण के अनुसार आते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त एषणावो से रहित होकर कार्य करने की अव्यवस्थित प्रवृत्ति को ही उन्माद कहते हैं। व्यर्थ ही तिनके तोड़ना, भूमि का कुरेदना प्रभृति

छोटे छोटे कार्य भी निष्प्रयोजन कर्म की श्रेणी में आने से मानस रोग या उन्माद के द्योतक (Abnormal Psycosis) हैं। लोभ, क्रोध आदि के वेग का संवरण न कर सकना आदि भी सामयिक पागलपन ही है। विचार करने से ऐसा प्रतिभात होता है कि स्वस्थ की परिभाषा के अनुसार “समदोष समाग्निश्चः समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।” जिस प्रकार पूर्ण स्वस्थ शरीर वाले मनुष्य, समाज में बहुत थोड़े हैं उसी प्रकार समाज का बहुत कम भाग ऐसा है जो मानस रोगों से पूर्णतः मुक्त हो। इसका वर्णन प्राकृतिक सत्त्व-विवेचन में आगे किया जायगा।

शारीरिक रोगों की अपेक्षा मानस रोगों का अनुपात अधिक ही पाया जाता है। देश के अधिकाधिक औद्योगीकरण से संभवतः यह अधिक बढ़ रहा है। ऐसा कुछ वैज्ञानिकों का अनुमान है। किन्तु शारीरिक और मानस रोगों में अंतर यह है—चिकित्सा-शास्त्र ग्रंथों में शारीरिक रोगों का वर्णन विशद रूप में पाया जाता है फलतः उनके पहचानने में सौकर्य भी होता है। इसके विपरीत साधारण अवस्था में मानस रोगों का ज्ञान नहीं हो पाता अपितु जब वह उग्ररूप धारण करता है तब हम उसको उन्माद या पागलपन के रूप में समझ पाते हैं। वास्तव में यह बहुत पूर्व ही प्रारंभ हो जाता है। मानसिक रोग शारीरिक रोगों की अपेक्षा बद्ध-मूल होकर असाध्य भी शीघ्रता से होते हैं। इसके अतिरिक्त मानस रोगों में शारीरिक रोगों की अपेक्षा वंश-परम्परा में चलने की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है।

वैद्यक ग्रंथों में वर्णित मानस रोग उन्माद में स्पष्टतया दो वर्ग के पाये जाते हैं—एक सामान्य वर्ग, जिनमें लक्षणों की उत्पत्ति होने पर शारीरिक दोषों के वैपम्य अथवा मानस दोष-रज-तम की घटा-बढ़ी अवस्था के अनुसार उसकी उत्पत्ति में उपपत्ति दी जा सके, जैसे—वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक तथा त्रिदोषज उन्माद। दूसरा वर्ग—विशिष्ट उन्मादों का पाया जाता है। जिन अवस्थाओं में लक्षणों के प्रकट होने पर त्रिदोषवाद के अनुसार सत्त्व दोषों (रज-तम) के अनुसार कोई उपपत्ति नहीं दी जा सकती। इस वर्ग के विशिष्ट उन्मादों का कारण उन्होंने भूत-पिशाच प्रभृति इन्द्रियातीत तत्त्वों को स्वीकार किया है। यह आगन्तुक उन्मादों का वर्ग है।

भूत-पिशाच आदि की सत्ता का विषय आज भी विवादास्पद बना हुआ है। परन्तु कई बार इस प्रकार की घटनाएँ प्रत्यक्ष देखने को मिलती हैं, जिनके आधार पर इन्हें निरर्थक कह कर नहीं टाला जा सकता है। हाँ शका एक अवश्य यह हो सकती है कि इन भूत-प्रेतों का रोगोत्पत्ति में साक्षात् कारण माना जाय या

परम्परया । इसके लिये महर्षि चरक ने कहा है कि देवता, राक्षस, गधर्व आदि किसी को भी रोगोत्पत्ति का साक्षात् कारण नहीं माना जा सकता है—क्यों कि सम्पूर्ण दुःख का कर्त्ता अपनी बुद्धि को ही समझना चाहिये । रोग की उत्पत्ति प्रजापराध से ही होती है—देव, यक्ष आदि आगन्तुक या निमित्त कारण के रूप में आते हैं । मनुष्य अच्छा कर्म करता हुआ सदा निर्भीक रह सकता है ।

नैव देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।

न चान्ये स्वयमक्लिष्टमुपक्लिश्यन्ति मानवम् ॥

ये त्वेनमनुवर्त्तन्ते क्लिश्यमानं स्वकर्मणा ।

न स तद्धेतुकः क्लेशो नह्यस्ति कृतकृत्यता ॥

प्रजापराधात् सम्भूते व्याधौ कर्मज आत्मनः ।

नाभिशांसेद् बुधो देवान्न पितृन्नापि राक्षसान् ॥

आत्मानमेव मन्येत कर्त्तारं सुख-दुःखयोः ।

तस्माच्छ्रेयस्करं मार्गं प्रतिपद्येत नो त्रसेत् ॥ (च)

कहने का तात्पर्य यह है मनुष्य अपनी गलतियों से यदि इन बाधक देवों को कष्ट देता है तब वे क्रुद्ध होकर उस मनुष्य को भी कष्ट देने लगते हैं—अन्यथा नहीं ।

भूतोन्माद की विशेषता—ये उन्माद अधिकतर आगन्तुक स्वरूप के होते हैं । उनकी उत्पत्ति में कोई तर्कसंगत उपपत्ति नहीं दी जा सकती है । ऐसे उन्मत्त व्यक्तियों की वाणी, पराक्रम, शक्ति व चेष्टाएँ अमर्त्य या अनुमाषिक स्वरूप की अर्थात् मनुष्यों से अधिक तथा विचित्र स्वरूप की होती हैं । ऐसे उन्मत्त व्यक्तियों में ज्ञान-विज्ञान एवं बल भी अद्भुत स्वरूप का पाया जाता है । इन उन्मादों में दोषज उन्मादों के समान उन्माद का समय नियत न होकर अनिश्चित होता है । ऐसे उन्माद को भूतोत्थ उन्माद कहा जाता है । भूतोन्माद इस एक शब्द से चरकोक्त देवोन्माद, गंधर्वोन्माद आदि अष्टविध आगन्तुक उन्मादों का ग्रहण हो जाता है ।

अमर्त्यवाग्विक्रमवीर्यचैष्टो ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिर्यः ।

उन्मादकालोऽनियतश्च तस्य भूतोत्थमुन्मादमुदाहरन्ति ॥

(च चि ९)

आचार्य सुश्रुत ने इस भूतोन्माद की विशेषता बतलाते हुए लिखा है । गुप्त (गुह्य) बातों का भेद दे देना, भविष्य में घटने वाली घटनाओं को पहले ही बतला देना, चित्त की अनवस्था, सहिष्णुता का अभाव (सहने की शक्ति का अभाव)

अमहिष्णुता तथा अमानुषिक कार्य तथा चेष्टायें भूतोन्माद से युक्त व्यक्तियों में पाई जाती हैं :—

गुह्या-नागत-विज्ञानमनवस्थाऽसहिष्णुता ।

क्रिया वाऽमानुषी यस्मिन् स ग्रहः परिकीर्त्यते ॥

आगन्तुक उन्माद ८ प्रकार के होते हैं—जैसे—(सुश्रुत से संगृहीत माधव-निदान के पाठानुसार)

१ देवजुष्टोन्माद—देवग्रह के कारण पागल मनुष्य सदा सन्तुष्ट रहता है । वह पवित्र रहता है और उसके शरीर से अकारण ही उत्तमोत्तम पुष्पो की गन्ध आती रहती है । उसे निद्रा और तन्द्रा नहीं आती । सत्य बोलता है तथा धारा-प्रवाह शुद्ध संस्कृत में भाषण करता है । रोगी तेजस्वी होता है, उसके नेत्र भी स्थिर रहते हैं । आस पास के लोगों को वरदान देता है, और ब्राह्मणों की पूजा करता है ।

संतुष्टः शुचिरतिदिव्यमाल्यगन्धो निस्तंद्रीरवितथसंस्कृतप्रभाषी ।

तेजस्वी स्थिरनयनो वरप्रदाता ब्रह्मण्यो भवति नरः स देवजुष्टः ॥

(सु ३.६०)

२. देवशत्रुजुष्ट—(दानव या असुरजुष्ट)—असुर ग्रह से पीडित मनुष्य को पसीना बहुत आता है । वह ब्राह्मण, गुरु और देवताओं के दोष का वर्णन करता है । आँखें तिरछी रहती हैं और वह किसी से नहीं डरता । ऐसे रोगी की प्रवृत्ति सदा कुमार्ग पर चलने की रहती है । बहुत खाने पर भी उसकी तृप्ति नहीं होती तथा वह दुष्ट प्रकृति का होता है ।

संस्वेदी द्विजगुरुदेवदोषवक्ता जिह्वाक्षो विगतभयो विमार्गदृष्टिः ।

संतुष्टो न भवति चात्रपानजातैर्दृष्टात्मा भवति स देवशत्रुजुष्टः ॥

३- गन्धर्व ग्रह पीडित उन्मत्त—सदा प्रसन्न रहता है, नदी के किनारे या उपवनो में घूमने में आनन्द का अनुभव करता है । जिसका आचरण शुद्ध हो, जिसको संगीत और गन्धमाल्यो से अधिक प्रेम हो एवं जो सुन्दरतम ढंग से नाचता हुआ मद मद मुसकराता हो उसे गन्धर्व ग्रह से पीडित समझना चाहिये ।

दृष्टात्मा पुलिनवनान्तरपसेवी स्वाचारः प्रियपरिगीतगन्धमाल्यः ।

नृत्यन्वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दं गन्धर्वग्रहपरिपीडितो मनुष्यः ॥

४ यक्षाधिष्ट—जिस उन्मादी की आँखें लाल हो, जिसको सुन्दर, वारीक तथा लाल रंग के वस्त्र-धारण का जोर हो, जो गम्भीर और शीघ्रगामी हो, जो कम बोले और सहनशील हो, देखने से तो तेजस्वी मालूम हो एवं जो

सर्वत्र कहता फिरे 'किमको क्या हूँ ?' ऐसे उन्मादी को यक्ष ग्रह से पीडित समझना चाहिये ।

ताम्राक्षः प्रियतनुरक्तवस्त्रधारी गम्भीरो द्रुतगतिरल्पवाक् सहिष्णुः ।
तेजस्वी वदति च किं ददामि कस्मै यो यक्षग्रहपीडितो मनुष्यः ॥

५ पितृजुष्ट—पितृ ग्रह से पीडित उन्मत्त व्यक्ति शान्त रहता है एवं चाहिये कर्षे पर यज्ञोपवीत वस्त्र आदि रखकर, कुशा के बने आसन पर बैठकर, पितरो को पिण्डदान और जलदान करता रहता है । मास, तिल, गुड और क्षीर जैसे द्रव्यों में अधिक रुचि रखता है एवं पितरो का भक्त भी होता है ।

प्रेतानां दिशति स संस्तरेषु पिण्डान् शान्तात्मा जलमपि चापसव्यवस्त्रः ।
मांसेप्सुस्तिलगुडपायसाभिकामस्तद्भक्तो भवति पितृग्रहाभिजुष्टः ॥

६ सर्पग्रह जुष्ट—जो मनुष्य कभी कभी साँप के समान भूमि पर पेट के बल लेटकर सरकता है तथा जिह्वा से ओठों को चाटता रहता है, अत्यन्त क्रोधी होता है, जिसे गुड, गृहद, दूध और खीर खाने की बहुत इच्छा रहती हो उसको सर्पग्रह से पीडित समझना चाहिये ।

यस्तूर्व्या प्रसरति सर्पवत् कदाचित् सृक्कण्यौ विलिहति जिह्वया तथैव ।
क्रोधालुर्गुडमधुदुग्धपायसेप्सुर्जातव्यो भवति भुजङ्गमेन जुष्टः ॥

७ राक्षस-ग्रह जुष्ट—राक्षस ग्रह जुष्ट उन्माद में रोगी मांस-रक्त तथा अनेक प्रकार के मद्यों को चाहता है । वह निर्लज्ज, अत्यन्त कठोर स्वभाव का और शूर होता है । ऐसे रोगी को क्रोध भी बहुत आता है एवं उसमें शक्ति भी बहुत अधिक होती है । वह रात्रि में घूमता है और पवित्रता से द्वेष करता है ।
मांसासृग्विविधसुराविकारलिप्सुर्निर्लज्जो भृशमतिनिष्ठुरोऽतिशूरः ।
क्रोधालुर्विपुलबलो निशाविहारी शौचद्विड् भवति च राक्षसैर्गृहीतः ॥

८ पिशाच ग्रहजुष्ट उन्माद—जो मनुष्य भुजाये ऊपर उठाये हुए रहता हो, नग्न रहता हो, जिसका मांस क्षीण हो गया हो, जिसका शरीर कृश हो, जिसके शरीर से दुर्गन्ध आती हो, जो बहुत गन्दा रहता हो तथा अति लोभी हो, जो अधिक भोजन करे और निर्जन बनों में घूमता रहे, जो विरुद्ध चेष्टा करता हो एवं रोता हुआ इतस्ततः घूमता रहता हो उसे पिशाच ग्रह से जुष्ट समझना चाहिये ।

उद्धस्तः कृशपुरुषोऽचिरप्रलापी दुर्गन्धो भृशमशुचिस्तथातिलोलः ।
बह्वाशी विजनवनान्तरोपसेवी व्याचेष्टन् भ्रमति रुदन् पिशाचजुष्टः ॥

ग्रेत ग्रहों के आवेश प्रकार—कुछ लोगों का कहना है यदि ग्रहों का शरीर में प्रवेश होता है तो एक शरीर में दूसरे का प्रवेश किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है। इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार दर्पण जैसे चमकीली वस्तु में प्रतिबिम्ब चला जाता है, अथवा प्राणियों के शरीर में जिस प्रकार उष्णता एवं जैत्य का प्रवेश हो जाता है अथवा जिस प्रकार सूर्य की किरणें नूर्य-कान्त में प्रविष्ट हो जाती हैं दिखाई नहीं पड़ती फिर भी अपना प्रभाव दिखलाती हैं अथवा जैसे अदृश्य आत्मा गर्भ शरीर में प्रवेश कर जाता है उसी प्रकार मनुष्यों के शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं किन्तु चर्म चक्षु में दिखाई नहीं पड़ते परन्तु उनका प्रभाव दिखाई पड़ता है। जब ये शरीर में प्रविष्ट कर जाते हैं तो मनुष्य के शरीर में दुःसह पीड़ा पैदा करते हैं।

दर्पणादीन् यथा छाया शीतोष्णं प्राणिनो यथा ।

स्वमणिं भास्करार्चिश्च यथा देहं च देहधृक् ॥

विशन्ति न च दृश्यन्ते ग्रहास्तद्वच्छरीरिणः ।

प्रविश्याशु शरीरं हि पीडां कुर्वन्ति दुःसहाम् ॥ (मु उ ६०)

अदूषयन्तः पुरुषस्य देहं देवादयः स्वेस्तु गुणप्रभावैः ।

विशन्त्यदृश्यास्तरसा यथैव छायातपो दर्पणसूर्यकान्तौ ।

(च. वि. ६)

देवादि का आक्रमण या आवेश कालः—

देव ग्रह पूर्णिमा के दिन आक्रमण करते हैं, अतः यदि किसी रोगी को पूर्णिमा के दिन दौरा आवे या रोग का आरंभ हो तो देव ग्रहों का उपसर्ग समझना चाहिये। यदि प्रातः या सायं काल में दौरा आवे या रोग का आक्रमण हुआ हो तो अमुर ग्रह का प्रकोप समझे। यदि अष्टमी के दिन रोग प्रवृत्त हो अथवा रोग का आक्रमण हो तो गन्धर्व ग्रह का और प्रतिपदा के दिन पागलपन का दौरा हो तो यक्षग्रह के प्रकोप का अनुमान करना चाहिये। अमावास्या के दिन दौरा आने पर पितृग्रह तथा पंचमी को दौरा आने पर सर्पग्रह के आक्रमण का अनुमान करे। इसी प्रकार रात्रि में दौरा आने पर राक्षस ग्रह और चतुर्दशी को दौरा आने या रोग का आरम्भ होने पर पिशाच ग्रह का अनुमान करना चाहिये।

देवग्रहाः पौर्णमास्यामसुराः सन्ध्ययोरपि ।

गन्धर्वाः प्रायशोऽष्टम्यां यक्षाश्च प्रतिपद्यथ ॥

पित्र्याः कृष्णजये हिंस्युः पञ्चम्यामपि चौरगाः ।

रक्षांसि रात्रौ पैशाचाश्चतुर्दश्यां विशन्ति हि ॥

चरकने लिखा है कि—

देवग्रह प्रायः शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा या त्रयोदशी को अवसर पाकर प्रवेश करते हैं । ऋषि ग्रह पष्ठौ या नवमी (शुक्ल पक्ष) को, पितृ ग्रह दशमी को, गधर्व ग्रह द्वादशी या चतुर्दशी को, यक्ष ग्रह शुक्ल एकादशी या सप्तमी को, ब्रह्म राक्षस शुक्ल पचमी या पूर्णिमा को, पिशाच ग्रह द्वितीया, तृतीया या अष्टमी को प्राय आवेश या आक्रमण करते हैं ।

अगन्तुक उन्माद मे व्यवहियमाण उपक्रम-रति(काम्य अर्थ की प्राप्ति) तथा अर्चना (पूजा लेने की इच्छा) इन दो प्रयोजनो से ही प्रेरित होकर ये बाधक ग्रह देव तथा प्रेत योनि के ग्रह-गण मनुष्य शरीर पर आक्रमण करते हैं—अन्तु, इनके उपचार में भी चिकित्सक को उनके अभिप्रायो को समझ कर उन उन ग्रहों के अभिलषित उपहार, वलि आदि देते हुए उनकी पूजा एवं मंत्र का प्रयोग करते हुए साथ ही उपयुक्त भेषज द्वारा चिकित्सा करते हुए उनका उपशम करना चाहिये ।

रत्यर्चनाकामोन्मादिनौ तु भिषगभिप्रायाचाराभ्यां बुद्ध्वा तदङ्गोपहारवलिमिश्रेण मंत्रभैषज्यविधिनोपक्रमेत । (च. चि.)

आगन्तुक उन्माद में स्पष्टतया दो प्रकार के बाधक ग्रह होते हैं एक देव कोटि के जैसे देव, ऋषि, पितृ, गधर्व तथा दूसरे पिशाच कोटि के इनमे महासत्त्व तथा अल्पसत्त्व ग्रहों का विचार कर लेना चाहिये । यदि ग्रहोपसर्ग बहुत बलवान् स्वरूप का हो तो उसके अनुकूल एव मृदु उपचारों से शमन का प्रयत्न करना चाहिये, परन्तु यदि अल्पसत्त्व का ग्रह हो तो उसको दवाने या प्रतिकूल क्रिया करके शमन करना चाहिये ।

सामान्य तया देव कोटि के उपसर्ग महासत्त्व के होते हैं । अस्तु, इनमे अनुकूल तथा मृदु उपचार करने का ही उपदेश पाया जाता है ।

चरक संहिता मे लिखा है कि देवर्षि-पितृ-गधर्व से उन्मत्त व्यक्तियों में बुद्धिमान चिकित्सक अजनादि तीक्ष्ण और क्रूर कर्म न करे । उसके लिये घृत पान आदि मृदु उपचार करे ।

इनका आवेश दूर करने के लिये पूजा, वलि, उपहार, मंत्र, अंजन, शान्ति कर्म, इष्टि, होम, जप, स्वस्त्ययन वेदोक्त नियम और प्रायश्चित्त करे । भूत-प्रेतों के अधिपति जगत् के प्रभु भगवान् शंकर की नित्य नियमपूर्वक पूजा करते हुए मनुष्य उन्माद के भय से दूर हो सकता है ।

रुद्र के प्रमथ नाम के गण लोक मे विचरते रहते हैं । इनकी पूजा करते हुए मनुष्य उन्माद के भय से मुक्त हो जाता है । अस्तु, इनकी भी पूजा करनी ।

चाहिये । इससे उन्माद दूर होता है । सत्य का आचरण, तपस्या, ज्ञान, दान, नियम, व्रत, देव-गो-ब्राह्मण-गुरु की पूजा, सिद्ध मंत्रादि के प्रयोग से आगन्तुक उन्माद शान्त होता है । (च चि. ९)

इस प्रकार आगन्तुक उन्माद में देश, आयु, सात्त्व्य, दोष, काल, बलावल का विचार करते हुए, १ वृतपान, २ मंत्र तत्र का प्रयोग ३ देवादि का पूजन ४ बलि प्रदान ५. उपहार ६ यज्ञ कराना ७. मंत्र ८ जप ९. शुचि कर्म (पवित्रता) १०. मंगल कर्म (स्वस्तिवाचन) ११ मृदु अंजन १२ रत्न एवं औषधि का धारण १३. दान १४ व्रत १५ नस्य ।

इनका उपयोग यथा विधि करना चाहिये । इन उपायो से आगन्तुक वाधायें दूर होती हैं । इनमें देव कोटि के वाधावो में अजन तथा नस्य प्रभृति तीक्ष्ण कर्म या क्रूर कर्म (ताटना देना, मारना, पीटना, बाँधना) आदि नहीं करना चाहिये ।

बुद्ध्वा देशं वयः सात्त्व्यं दोषं कालं बलावले ।
चिकित्सितमिदं कुर्यादुन्मादे भूतदोषजे ॥
सर्पिष्पानादिनाऽऽगन्तौ मन्त्रादिश्चेष्ट्यते विधिः ।
पूजावल्युपहारेष्टिहोममन्त्राञ्जनादिभिः ॥
जयेदागन्तुमुन्मादं यथाविधि शुचिर्भिषक् ।
देवर्षिपितृगन्धर्वैरुन्मत्तस्य तु बुद्धिमान् ॥
वर्जयेद्ब्रजनादीनि तीक्ष्णानि क्रूरकर्म च ।
भूतानामधिपं देवमाश्वरं जगतः प्रभुम् ।
पूजयन् प्रयतो नित्यं जयत्युन्मादजं भयम् ॥
रुद्रस्य प्रमथा नाम गणा लोके चरन्ति ये ।
तेषां पूजां च कुर्वाण उन्मादेभ्यः प्रमुच्यते ॥
बलिभिर्मङ्गलैर्होमैरोपध्यगदधारणैः ।
सत्याचार-तपो ज्ञान-प्रदान-नियम-व्रतैः ॥
देवगोब्राह्मणानाञ्च गुरुणां पूजनेन च ।
आगन्तुः प्रशमं याति सिद्धैर्मन्त्रौषधैस्तथा ॥

(च चि ९)

कृष्णाद्यंजन—गोरोचन, छोटी पीपल, काली मिर्च, संधव इन चारो को बगवर लेकर महीन चूर्ण करके करके मधु के साथ अजन ।

सरिचाद्यंजन—काली मिर्च का चूर्ण और गोरोचन को एकत्र महीन पीसकर एक मास तक घूप में रखकर अंजन करने से भूतोत्थ उन्माद दूर होता है ।

शिरीषपुष्पादि नस्य—

शिरीष पुष्प, लशुन, सोठ, पीली सरसो, वच, मजीठ, हल्दी, पिप्पली को वस्त-मूत्र में पीसकर बनाये अंजन या नस्य का प्रयोग लाभप्रद होता है ।

निम्बपत्रादि धूम—नीम की पत्ती, वच, हींग, सर्प की केचुल और सरसो को कूट कर अग्नि में जलाकर धूप देने से डाकिनी आदि भूत-प्रेत दोष दूर होते हैं ।

महाधूप—कपास के बीज, मोर की पाँख, बड़ी कटेरी पचाङ्ग, निर्माल्य, मैनफल, खस, वशलोचन, विडाल की विष्टा, धान्य को भूसी, वच, भूतकेशी, सर्प की केचुली, गाय की सींग, हाथी के दाँत, हींग और काली मिरच । सब सम भाग लेकर मोटा चूर्ण कर ले । आग में जलाकर उसका धूपन उन्मत्त रोगी को कराने से—स्कदापस्मार, उन्माद, पिशाचावेश, राक्षसावेश, देवावेश और ज्वर नष्ट होता है ।

महापैशाच-घृत—जटामासी, हरीतकी, भूतकेशी, केवाछ के बीज, त्रायमाण, अरणी, पृथिनपर्णी, चोरक, कुटकी, गुरुच, वाराहीकद, सौफ, सोया बीज, शुद्ध गुग्गुल, शतावरी, ब्राह्मी, रासना, गंध रास्ना, मालकगुनी, विछुवा और शालपर्णी ।

जटिला पूतना केशी मर्कटी चारटी वचा ।

त्रायमाणा जया वीरा चोरकं कटुरोहिणी ॥

कायस्था शूकरी छत्रा सातिच्छत्रा पलंकपा ।

महापुरुषदन्ता च वयस्था नाकुलीद्वयम् ॥

कटम्भरा वृश्चिकाली स्थिरा चैतैर्घृतं पचेत् ।

तत्तु चातुर्थिकोन्माद - ग्रहापरस्मारनाशनम् ॥

महापैशाचकं नाम घृतमेतद्यथाऽमृतम् ।

बुद्धि-मेधा-स्मृतिकरं बालानां चाङ्गवर्धनम् ॥

कल्याण घृत, चैतस घृत, नारायणतैल तथा महानारायण तैल का भी उपयोग प्रशस्त है । शिरीष, अमलतास के बीज को भी घृत और मधु से सेवन कराना चाहिये ।

भूतभैरव रस—पारद, हरताल, शिलाजीत, लौह भस्म, स्रोतोञ्जन भस्म, ताम्र भस्म, शुद्ध गंधक । प्रथम पारद एवं गंधक की कज्जली बनावे फिर शेष द्रव्यों को मिलाकर घोटें । फिर नरमूत्र की भावना देकर एक गोला बना ले । फिर इस गोले की द्विगुण गंधक के साथ एक लौह पात्र में रखकर अग्नि पर चढ़ाकर पाक करे । पाक समाप्त होने पर चूर्ण बनाकर रख ले । मात्रा ५ रत्ती ।

अनुपान हीन, त्रिकटु, कालानमक, घी और नरमूत्र के साथ । भूत-प्रेतजन्य उन्माद में यह योग उत्तम कार्य करता है ।

भूतोत्थ ज्वर-में सहदेवी की जड़ का विधिपूर्वक कंठ में धारण करने से लाभ होता है परन्तु दैव व्यापाश्रय उपक्रम सर्वत्र समान भाव से चलते हैं-जैसे-

पूजाचल्युपहारशान्तिविषयो होमेष्टि-मन्त्रक्रिया
दानं स्वस्त्ययनं व्रतादितियमः सत्यं जपो मङ्गलम् ॥
प्रायश्चित्तविधानमञ्जलिरथो रत्नौषधीधारणम् ।
भूतानामधिपस्य विष्टपपतेर्गौरीपतेरर्चनम् ॥

भूत-विद्या का विषय उन्माद के अतिरिक्त अन्य रोगों में भी यत्र तत्र आता है । विषम ज्वर, भूतोत्थ ज्वर, मद, मूर्च्छा, संन्यास, अपस्मार और अपतंत्रक आदि विविध मानस रोगों में वाक्क ग्रहों का प्रवेश या उपसर्ग होने पर भूतोन्माद के समान ही लक्षण पैदा होते हैं, फलतः चिकित्सा भी तदनुकूल ही करनी पड़ती है ।

भूत-विद्या का एक दूसरा प्रयोजन स्वभाव में स्थित पुरुषों के प्रकृति या स्वभाव के ज्ञान कराने में है । ऐसा देखा जाता है कि संसार में कुछ व्यक्ति सात्त्विक गुणों से युक्त कुछ राजस गुण युक्त और कुछ तामस गुणों से सम्पन्न मिलते हैं । ये सभी किसी न किसी सत्त्व से आविष्ट होकर कार्य करते हैं । शुद्ध सात्त्विक अंग से आविष्ट व्यक्तियों का व्यक्तित्व सात प्रकार का हो सकता है, राजस गुणों से युक्त व्यक्तियों के व्यक्तित्व छ. प्रकार तथा तामस गुणों से युक्त व्यक्तित्व तीन प्रकार के सत्त्वों से आविष्ट पाये जाते हैं । वास्तव में यह कोई रोग या वैकारिक स्थिति नहीं प्रत्युत पूर्णतया उनके प्राकृतिक गुण हैं फिर भी वे किमी न किसी सत्त्वावेश से ही कार्य किया करते हैं ।

पारिभाषिक शब्दों में इन सत्त्वाविष्ट व्यक्तियों की व्याख्या चरक-मत का अनुसरण करते हुए की जा रही है । जब तक प्राकृतावस्था में इन सत्त्वाविष्टों को नहीं समझते तब तक वैकारिक अवस्था का ज्ञान सम्यक् प्रकार का नहीं हो सकता है । अस्तु, यह प्रसंग नोचे दिया जा रहा है-सत्त्व-रज तथा तमके अशाश्व कल्पना के अनुसार व्यक्तित्व के अपरिसंत्य (अमंस्थ) भेद हो सकते हैं, फिर भी वर्ग के धनुमार भेद करते हुए शुद्ध सत्त्वावेश के सात ब्रह्म-ऋषि-शक्र-यम-वृष्ण-शुवेर-गधर्व मत्त्वानुकरण भेद से, राजस के छ दैत्य-पिशाच-राक्षस-मर्ष-प्रेत-शकुनि मत्त्वानुकरण भेद से, तथा तामसिक के तीन वर्ग पशु-मत्स्य एवं वनस्पति मत्त्वानुकरण भेद से हो जाते हैं । चिकित्सा में यथासत्त्व उपचार की व्यवस्था करने से बड़ा उपकार होता है ।

सात्त्विकांश के सत्त्व भेद—(शुद्ध सत्त्व में कल्याणांश कल्याण के भावों की अधिकता होती है ।)

ब्राह्म सत्त्व—पवित्र, सत्यप्रतिज्ञ, जितात्मा, सम्यक् विभाग करनेवाला, ज्ञान-वचन-प्रतिवचन सम्पन्न, स्मृतिमान्, काम-क्रोध-लोभ-मान-ईर्ष्या-अहर्ष आदि दुर्गुणों से रहित सभी जीवों को समान भाव से देखने वाला ब्राह्म सत्त्व का व्यक्ति होता है ।

आर्ष सत्त्व—यज्ञ-अध्ययन-व्रत-होम-ब्रह्मचर्य पर, अतिथिसेवक एवं मद-मान-राग-द्वेष-मोह-लोभ-रोप आदि से रहित तथा प्रतिभा-वचन-विज्ञान-अवधारण शक्ति से युक्त ऋषि सत्त्व का व्यक्तित्व होता है ।

ऐन्द्र सत्त्व—ऐश्वर्यवान्, आचरण करने योग्य वचन बोलनेवाला, यज्ञ करनेवाला, शूर, ओजस्वी, तेजस्वी, प्रशस्त कार्य करनेवाला, दीर्घदर्शी, धर्म-अर्थ और काम की प्रवृत्ति में अभिरत इन्द्र सत्त्व का व्यक्तित्व होता है ।

याम्य सत्त्व—कर्तव्याकर्तव्य का विचारक, अवसर के अनुसार कार्य करनेवाला, जिस पर प्रहार न हो सके (असप्रहार्य), सतत कार्य के लिये तत्पर, ऐश्वर्यवान्, राग-ईर्ष्या-मोह आदि से रहित याम्य सत्त्व का व्यक्तित्व होता है ।

वारुण सत्त्व—शूर, धीर, पवित्र, अपत्रिता से द्वेष रखनेवाला, यज्ञ करने वाला, जल-विहार की रुचिवाला, प्रशस्त कार्य करनेवाला, समयानुसार और प्रसंग के अनुसार कोप करने वाला या प्रसन्न होनेवाला वारुण सत्त्व का व्यक्तित्व होता है ।

कौवेर सत्त्व—स्थान-मान-उपभोग और परिवार से सम्पन्न, धर्म-अर्थ-काम नित्य, पवित्र, सुख एवं विहार करने वाला, स्पष्ट क्रोध तथा प्रसन्नता युक्त, कौवेर सत्त्व का व्यक्तित्व होता है ।

गांधर्व सत्त्व—प्रिय लगनेवाले-नृत्य - गीत - वादित्र - उल्लापक - श्लोक आख्यायिका-इतिहास-पुराण आदि में कुशल, गंध-मातृ-अनुलेपन-वस्त्र-स्त्री-विहार काम-नित्य, अनिन्दक या ईर्ष्या न करनेवाला व्यक्तित्व गांधर्व सत्त्व का होता है ।

राजस अंश के सत्त्व-भेद—(इन व्यक्तित्वों में रोषांश या क्रोधांश की अधिकता होती है ।)

आसुर सत्त्व—शूर, प्रचण्ड, निन्दक, ईर्ष्यालु, ऐश्वर्यवान्, बहुत खानेवाला ।

राक्षस सत्त्व—कोप करनेवाला, अवसर या छिद्र पाकर प्रहार करनेवाला, क्रूर, अतिमात्रा में आहार करनेवाला, मांस की अतिशय चाह करनेवाला, ईर्ष्या करनेवाला, अधिक सोने तथा परिश्रम करनेवाला राक्षससत्त्व का व्यक्तित्व होता है ।

पैशाचसत्त्व—अधिक खानेवाला, स्त्री के वशी, स्त्री के रहस्य जान को प्रवृत्ति वाला, अपवित्र, पवित्रता से द्वेष करनेवाला, स्वयं भीरु होते हुए भी दूसरे को डराने वाला, विकृत आहार-विहार एवं गील वाला व्यक्तित्व पैशाचसत्त्व का होता है।

मार्पसत्त्व या नागसत्त्व—क्रुद्ध होने पर गूर परन्तु अक्रुद्धावस्था में भीरु (डरपोक), तीक्ष्ण, अधिक परिश्रम करनेवाला, ढरे ढरे सामने मिलने पर आहार-विहार करनेवाला मार्पसत्त्व का व्यक्तित्व होता है।

प्रेतसत्त्व—आहार की कामना वाला, अति दुष्टदाई गील-आचार और उपचार से युक्त, परनिन्दक, वाँटकर न खानेवाला, अति लोलुप, दुराचार तथा अपकर्म (निन्द्य कर्म) करनेवाला प्रेतसत्त्व का व्यक्तित्व होता है।

शाकुन सत्त्व—अनुपम काम (अतिकामुक), अनवरत आहार एवं विहार-करनेवाला, अनवस्थित चित्त तथा अमर्पयुक्त, मंचय वाला व्यक्तित्व शाकुन सत्त्व का होता है।

तामस सत्त्व के भेद—(इन सत्त्वों में मोहग्रय या अज्ञान की अधिकता होती है।)

पाशव सत्त्व—अकर्मण्य—निराकरण या प्रतिवाद न करनेवाला, बुद्धिहीन, निन्दित आहार एवं आचार का, मंथुनगील, अधिक निद्रा लेनेवाला पाशवसत्त्व का व्यक्तित्व होता है।

मात्स्य सत्त्व—भीरु, अजानी, आहार पर लुब्ध, अनवस्थित (अस्थिर चित्त), काम-क्रोध से रहित, अधिक चलनेवाला (गमनशील) तथा जल की अधिक चाह वाला व्यक्तित्व मात्स्य सत्त्व व्यक्तियों का होता है।

वानस्पत्य सत्त्व—आलसी, केवल आहार में चित्त लगाया हुआ, सब प्रकार की बुद्धि और अग से होत वानस्पत्य सत्त्व का व्यक्तित्व होता है।

एकीयमत—शुद्ध विचारको ने आयुर्वेद के अग इस भूत-विद्या का सम्बन्ध अदृश्य अणु जीवो (PathoGenic Microbes & Viruses) से स्थापित किया है। जिनके उपमर्ग ने विविध प्रकार के औपमर्गिक रोग उत्पन्न होते हैं। वा-प्रतवीय चिकित्सा में जहाँ पर भूतौपमर्ग (Sepsis due to microbes in Infection) के उपद्रव तथा उपचार का वर्णन है—भूतौपमर्ग इसी अर्थ का द्योतन करता है। परन्तु कायचिकित्सा में जहाँ पर औन्मादिक रोगों में आगन्तुक उपमर्ग के रूप में भूतौपमर्ग विगुह रूप में प्रेतादि का आवेग ही ज्ञात होता है।

तेइसवौं अध्याय

उन्माद रोग-प्रतिपेध

प्रावेशिक—प्रवृद्ध-दोष उन्मार्गगामी होकर चूँकि मनोविभ्रम उत्पन्न करते हैं अतः इस मानस रोग को उन्माद कहते हैं। यह ५ पाँच प्रकार का होता है। १. वातिक २. पैत्तिक ३. श्लैष्मिक ४. सान्निपातिक तथा आगन्तुक। उन्माद की उत्पत्ति में सामान्यतया विरुद्ध-दुष्ट एवं अपवित्र भोजन, गुरु-माता-पिता तथा ब्राह्मणों का अपमान, अत्यधिक हर्ष या भय से मन का प्रभावित होना, शरीर की विषम चेष्टाओं से अन्य प्रकार से मन पर आघात पहुँचना हेतु होता है। इन कारणों से प्रकुपित हुए वातादि दोष सत्त्व गुण की कमी वाले या दुर्बल मन वाले मनुष्य बुद्धि के निवासस्थान हृदय को दूषित करके तथा मस्तिष्क तथा मनोवाहि स्रोतसो में व्याप्त होकर मनुष्य के चित्त को भ्रान्तियुक्त करके उन्मत्त कर देते हैं। फलस्वरूप बुद्धि में भ्रम होना, मन की चंचलता, आँखों का चुराना, व्यर्थ इतस्ततः देखना, चित्त की अस्थिरता, असम्बद्ध आलाप (वातचीत), हृदय की गूँथता तथा आत्मज्ञान का अभाव प्रभृति लक्षण सामान्यतया मिलते हैं।^१

इनमें आगन्तु उन्मादों का वर्णन भूतविद्या नामक पूर्व के अध्याय में हो चुका है। अब दोषों से चतुर्विध उन्मादों की चिकित्सा का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। उन्मादों में Acute Delirious Mania or Melancholia प्रभृति Insanity के लक्षण पाये जाते हैं। इनमें जिस रोगी का बल क्षीण हो गया हो, तथा जिसका मुख सदा ऊपर या नीचे की ओर ही

१ मलयन्तुदगता दोषा यस्मादुन्मार्गमागताः ।

मानसोऽयमतो व्यधिरुन्माद इति कीर्तितः ॥ (सु उ ६२)

पञ्चोन्मादा वातपित्तकफसन्निपातागन्तुनिमित्ताः । (च सू १९.)

विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम् ।

उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो मनोविघातो विषमाञ्च चेष्टा ॥

तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा बुद्धेर्निवास हृदयं प्रदूष्य ।

स्त्रीतास्यधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयत्याशु नरस्य चेतः ॥

धीविभ्रम सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च ।

अवद्ववाक्त्व हृदयञ्च शून्य सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम् ॥ (च चि १४)

रहे, जिसको निद्रा बिल्कुल ही न आवे ऐसा उन्माद का रोगी असाध्य हो जाता है और मर जाता है ।^१

क्रियाक्रम :—वातिक उन्माद में प्रथम स्नेहपान, पित्तज उन्माद में विरेचन और कफजन्म उन्माद में वमन कराना चाहिये । तदनन्तर सबों में निरुहण, अनुचामन वस्ति तथा शिरोविरेचन कराना चाहिये । निरुहण-स्नेहवस्ति (अनुवासन) तथा शिरोविरेचन का यथादोष यथावल बार-बार प्रयोग करना चाहिये । सामान्य-तया वानज में स्नेह वस्ति, पित्तज में निरुह वस्ति और श्लैष्मिक में शिरोविरेचन कराने का विधान है । परन्तु आवश्यकतानुसार सब का सर्वत्र प्रयोग हो सकता है । इस प्रकार वमनादि शोधन कर्मों के द्वारा हृदय, इन्द्रिय, शिर तथा कोष्ठ मशुद्ध हो जाते हैं । उनके मशुद्ध हो जाने से चित्त निर्मल हो जाता है । और उसमें चेतना शक्ति तथा स्मरण शक्ति का उदय होता है और उन्माद रोग जाता रहता है ।^२

आगे बतलाये जाने वाले अपस्मार-चिकित्साधिकार में जो यत्न बतलाये गये हैं उनका प्रयोग उन्माद रोग में करना चाहिए । क्योंकि अपस्मार एवं उन्माद में दोष और दूष्य दोनों की समानता होने से परस्पर की चिकित्सा भी हितकर होती है ।

मशोधन के अनन्तर भी उन्मत्त रोगी में आचार का सुधार न हो उसकी चेतना शुद्ध होकर उसमें विनम्रता न आवे तो उसमें तीव्र नस्य तथा अजन का प्रयोग करना चाहिये । मन, बुद्धि और देह को उद्वेजित करने के लिए ताडन के द्वारा उपचार करना चाहिए । यदि रोगी बहुत उद्धत (Voilent) हो तो उसको भयभीत करने के लिए किसी मजबूत पट्टी या रस्ती से ढीला बंधन करे (ताकि उसमें घृण न बने), लकड़ी के खम्भे में बांधकर अँबेरे कमरे में डाल देना चाहिये । बहुत उद्धत हो तो उसे कोड़े से मार कर किसी विजन कमरे (जिसमें आदमी न

१. अवाची वाप्युदञ्ची वा क्षीणमामवलो नरः ।

जागरुको हृत्प्रमदेहमुन्मादेन विनश्यति ॥ (सु सू. ३४) -

२ उन्मादे वातिके पूर्व स्नेहपानं विरेचनम् । पित्तजे कफजे वान्तिः परो वस्त्या-
दिक क्रमः ॥ निरुहणस्नेहवस्ती शिरमश्च विरेचनम् । ततः कुर्याद्यथादोषं ततो
भूयन्त्वमाचरेत् ॥ हृदिन्द्रियशिर कोष्ठे मशुद्धे वमनादिभिः । मनः प्रसादमाप्नोति
स्मृतिं मज्ञा च विन्दति ॥ यच्चोपदेक्ष्यते किञ्चिदपस्मारचिकित्मते । उन्मादे
तच्च कर्तव्यं सामान्यादोषदूषयो ॥ (भै र)

जाते हो) अँधेरे में डाल दे । इससे रोगी का विभ्रान्त चित्त शान्त होता है और रोगी का औद्धत्य भी शान्त हो जाता है । दाँत निकाले हुए निर्विष सर्प से कटाने का भय दिखलाना, भयङ्कर सिंह या हाथी के सामने खड़ाकर उनसे भयभीत करना । तेज शस्त्र को दिखलाकर उससे काट देने का भय देना अथवा नामने उसके शत्रु या चोर-डाकू को खड़ाकर उससे डराना । अथवा राजपुरुष (पुलिस) आदि से पकड़ाकर बँधवा कर घरसे बाहर निकलवाना अथवा अन्य प्रकार से उसे प्राण का भय दिखलाना । तप्त किया लाल लोहे से या उबलते जल से स्पर्श करा के भयभीत करना ।

उन्मत्त रोगी के औद्धत्य को कम करने के लिए उसको सरसो के तेल की मालिश करके चारपाई से बाँधकर धूप में चित्त पीठ के वल लेटाकर रख देना चाहिए । कैंवाछ की फली को लेकर उसके शरीर की त्वचा पर रगड़ देना । इससे तीव्र कण्डु होती है । रोगी चेतना में आ जाता है ।

इस देह के कष्ट तथा भय से प्रायः रोगियों में सुधार होता है यदि सुधार न हो तो प्राण के भय से तो वह जरूर ही चेतना में आ जाता है । सब प्रकार से रोगी का विभ्रान्त मन शान्त होता है । इस प्रकार तर्जन (वाणी से डाँट टपट करना), त्रासन (राजपुरुष पुलिस आदि से डटवाना), दान (अभिलषित पदार्थ पथ्य हो तो देना), हर्षण (प्रसन्न करना), सान्त्वना (आश्वासन देना या तसल्ली देना), भय (भयभीत करना या डराना), विस्मय (आश्चर्य पैदा करने वाले विषय) प्रभृति उपचारों में रोगी उन्माद के उत्पादक हेतुओं को विस्मृत कर देता है और उसका मन प्रकृति में आ जाता है ।^१

जब रोगी का मन प्रकृतिस्थ हो जावे तो उसको विविध प्रकार के प्रदेह (लेप), उत्सादन (उबटन), अम्यङ्ग (तेल की मालिश) धूमप्रयोग (धुवा

१. शुद्धस्याचारविभ्रंशे तीक्ष्ण नावनमञ्जनम् । ताडनं वा मनोबुद्धिदेह-
संवेजनं हितम् ॥ यः सक्तोऽविनये पट्टैः सयम्य सुदृढैः सुखैः । अपेतलोहकाष्ठाद्ये
सरोध्यश्च तमोगृहे ॥ कशाभिस्ताडयित्वा वा सुबद्धं विजने गृहे । रुन्ध्याच्चेतो हि
विभ्रान्तो व्रजत्यस्य तथा शमम् ॥ सर्पेणोद्धृतदंष्ट्रेण दान्तैः सिंहैर्गजैश्च तम् । त्रास-
येच्छस्त्रहस्तैर्वा तस्करैः शत्रुभिस्तथा ॥ अथवा राजपुरुषा बहिर्नीत्वा सुसयतम् ।
त्रासयेयुर्वधेनैव तर्जयन्तो नृपाज्ञया ॥ देहदुःखभयेभ्यो हि परं प्राणभयं स्मृतम् ।
तेन याति शमं तस्य सर्वतो विप्लुतं मनः ॥ तर्जनं त्रासनं दानं हर्षणं सान्त्वनं भयम् ।
विस्मयं विस्मृतेर्हेतोर्नयन्ति प्रकृतिं मनः ॥

देना) और औपविसिद्ध घृतो का पान कराते हुए उसकी मन-वृद्धि-स्मृति और मंजा आदि को जागृत करके स्वस्थ करना चाहिये ।^१

उन्माद के रोगियों में सब समय उनके प्रतिकूल ही आचरण करना प्रगस्त नहीं है । भय, तर्जन, त्रासन करने के अनन्तर उसको बीच-बीच में अनुकूल आचरणों के द्वारा या धर्म-अर्थ से युक्त वचनों में प्रसन्न करना, मित्रों के सम्पर्क में लाना, मित्रों के द्वारा उसको सान्त्वना या आश्वामन दिलाना और उसको खुश रखना भी आवश्यक होता है ।

यदि किसी डष्ट (वाह्यित) द्रव्य के नष्ट हो जाने से उसके मन को अभिघात पहुंचा हो और उन्मत्त हो गया हो तो उसको तत्सदृश द्रव्यों की प्राप्ति कराना या उसको शीघ्र प्राप्त होने का आश्वसन या सान्त्वना देना उचित है । इसी प्रकार काम-शोक-भय-क्रोध-हर्ष-ईर्ष्या और लोभ से उत्पन्न मनोविभ्रमजन्य उन्माद में उनके आपम में प्रतिद्वन्द्वी भावों के प्रभाव से अच्छा करना हितकर होता है । जैसे कामजन्य उन्माद में हर्षण (प्रसन्न करना), भयज उन्माद में क्रोध, क्रोधज उन्माद में शोक पैदा करनेवाले समाचार, ईर्ष्याजन्य उन्माद में प्रेम और शोकज उन्माद में इच्छित पदार्थ की प्राप्ति कराना । इन क्रियाओं से उन्मत्त का विकृत मन प्रकृतिस्थ होता है । कई बार विस्मय के उत्पादन करने से भी लाभ होता है जैसे अद्भुत या आश्चर्यजनक वस्तुओं को दिखलाना उसके अभिलषित या प्रिय पदार्थ के नष्ट होने की महत्ता सूचना देना ।^२

भेषज—१ ग्राह्यो या मण्डूरपर्णों का स्वरस २ कुष्माण्ड फल-मय बीज और मज्जा का स्वरस, ३ शखपुष्पी-स्वरस तथा ४. मीठी वच का स्वरस (स्वरस के अभाव में वच का चूर्ण १ माणा) । ये चारो स्वरस पृथक्-पृथक् सिद्ध उन्मादनाशक भेषज हैं । मात्रा २ तोला । अनुपान मीठाकूठ का चूर्ण १ माणा और मधु ८ माशे । यथावश्यक दिन में दो या तीन बार ।^३

१ प्रदेहोत्पादनान्मज्जवूमा. पानञ्च सपिप. ।

प्रयोक्तव्यं मनोवृद्धिस्मृतिमंजाप्रबोधनम् ॥

२ डष्टद्रव्यविनागात्तु मनो यस्योपहन्यते । तस्य तत्सदृशप्राप्तिशान्त्याश्वामैः शम नयेत् ॥ आश्वामयेत् मुहृद्वा तं वाक्यैर्वमार्थिमंहितैः । कामशोकभयक्रोध-हर्षर्ष्यालोभमंभवान् । परस्परप्रतिद्वन्द्वैरेभिरेव शमं नयेत् ॥ (च. चि. ९)

३. ग्राह्योऽकुष्माण्डपट्त्रंवाशखिनीस्वरसा. पृथक् ।

मधुकुष्ठयुता. पीताः सर्वोन्मादापहारिणः ॥ (शा० सं०)

५. कुप्पाण्डचीज की भीतर को मीगी निकालकर उसको पीसकर $\frac{१}{२}$ से १ तोला तक मधु के साथ सेवन से तीन दिनों तक प्रयोग करने से उग्र उन्माद में भी लाभ होता है। कुप्पाण्ड को पीस कर मिश्री के साथ शर्वत बनाकर पिलाना बड़ा उत्तम कार्य करता है। इससे उच्चरक्त-निपीड (Hypertension) कम होता है।

६ चटक मास—गोरेये के कच्चे मास को पीसकर गाय के दूध के साथ सेवन करने से उन्माद का शमन होता है। ७ कोकिल (कोयल या पिक) के मास को सिद्ध करके रोगी को सेवन करा के निर्वर्त स्थान में रखने से स्मृति और बुद्धि का विभ्रंश दूर होकर रोगी चेतना में आ जाता है। ८ ताड़ का रस (नींग) ताजा मधु मिलाकर सेवन करना तथा ९ सरसो के तेल का नस्य और अन्यग उन्माद में लाभप्रद होता है।

१० पुराने घृत को दूध में मिलाकर प्रतिदिन पीने से उन्माद शान्त होता है।

११. रोगी में चिडचिटापन हो तो उसमें अर्जुन के चूर्ण का प्रयोग घृत के साथ करे। १२ उन्माद में वरुणत्वक् का चूर्ण, कपाय या घन सत्त्व भी उत्तम लाभ करता है। १३ सर्पगंधामूल—इसका प्रयोग ताजा मिल सके तो २ माशा पानकर मरिच और मिश्री के साथ शर्वत बनाकर पिलावे। ताजा न मिले तो मूल को मुड़ाकर चूर्ण बना कर रख ले। १ से २ माशा को मात्रा में दिन में दो बार गुलकद १ तोले साथ अथवा गुलाब के फूल की पखुड़ी और मिश्री के साथ करे। बड़ा उत्तम लाभ मिलता है। यह उच्च रक्तनिपीड के लिये अमोघ औषधि मानी जाती है। सम्पूर्ण विश्व में इसका प्रयोग आज होने लगा है। १४ श्वेत फूल वाली वला का चूर्ण १ तोला दूध के साथ पीना। १५ लहसुन का घृत के साथ प्रयोग भी उत्तम रहता है।

सारस्वत चूर्ण—

योग—मीठा कूठ, अश्वगध, सैधव, अजवायन, जीरा, काला जीरा, सोठ, मरिच, पीपरि, पाठा और शखपुष्पी प्रत्येक १ तोला। इन सब के बराबर मीठी वच लेकर कूट-पीसकर छानकर महीन कर लेवे। फिर इसमें ब्राह्मी स्वरस की तीन भावना देकर सुखाकर रख ले। मात्रा १ से २ माशे। अनुपान घृत ६ माशे, मधु १ तोला। इससे उन्माद ठीक होता है, बुद्धि और स्मृति बढ़ती है।

सर्पगंधा घनवटी—सर्पगंधा १० सेर, खुरासानो अजवायन की पत्ती २ सेर, जटामासी २ सेर, भाग १ सेर। जीकूट करके अठगुने जल में मदी आँच पर पकावे और हिलाता रहे। जब अष्टमाश बाकी रहे तब ठंडा होने पर

दो बार कपड़े से छानकर फिर मदी आँच पर पकावे । जब इतना गाढ़ा हो जावे कि ब्याघ करछी या लकड़ी के हथ्ये में लगने लगे, तब उसको नीचे उतार कर धूपमें सुखावे । जब गोली बनने लायक हो जाय तो उसमें १०-२० तोला पीपरा मूल का चूर्ण मिलाकर ३-३ रत्ती की गोलियाँ बना लें ।

२ गोली रात में मोते वक्त लेने से निद्रा आती है । दिन में दो-तीन बार उन्माद में प्रयोग करे । (वैद्य यादवजी के सि. यो. सं. से)

उन्माद-राजकेशरी रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, शुद्ध मन गिला, शुद्ध धस्तूर बीज । प्रथम पारद और गंधक की कज्जली बनाकर गेष द्रव्यों को मिलाकर महीन चूर्ण करे । उसमें ब्राह्मी स्वरस तथा बचाके ब्याघ की सात-सात भावना देकर तैयार करे । मात्रा ४ रत्ती दिन में दो या तीन बार । अनुपान गोघृत १ तोले के साथ ।

रसपर्पटी—शुद्ध किये घतूरे के पाच बीज के चूर्ण के साथ रसपर्पटी १-२ रत्ती का सेवन उन्माद में लाभप्रद रहता है ।

चतुर्भुज रस—रसमिन्दूर २ तोला, स्वर्णभस्म, मन गिला, कस्तूरी और शुद्ध हरताल प्रत्येक एक तोला । घृतकुमारी के स्वरस से भावित कर गोला बनावे । एरण्डपत्र से गोले को आवेष्टित कर धान की ढेर में गाड़कर तीन दिनों के अनन्तर निकाले । फिर एरण्डपत्र के आवेष्टन को पृथक् करके खरल में भावित करके चूर्ण रूपमें बनाकर रख ले । मात्रा २ रत्ती । अनुपान त्रिफला चूर्ण और मधु । बहुत प्रकार के मस्तिष्कगत रोगों में लाभप्रद ।

श्रीरक्त्वाण घृत—इन्द्रायणमूल, त्रिफला, रेणुका, देवदारु, एलुवा, शालपर्णी, तगर, हल्दी, दाखहल्दी, श्वेत सारिवा, कृष्ण सारिवा, प्रियङ्गु, नील कमल, छोटी इलायची, मजीठ, दन्तीमूल, दाहिम के छिलके या अनारदाना, नाग केसर, तालीशपत्र, बड़ी कंटकारी, मालनी के नवीन पुष्प, वायविडङ्ग, पृश्निपर्णी, मोठाकूठ, नफेद चदन और पद्मास्र प्रत्येक १ तोला । सब को लेकर पतथन पर जल ने पीमकर कल्क बनावे । फिर एक कलईदार कड़ाही में इस कल्क को मूर्च्छित गोघृत १ प्रस्थ, जल दो प्रस्थ और गाय का दूध ४ प्रस्थ में छोड़कर अग्नि पर चटाकर घृतपाक विधि ने घृत को सिद्ध कर ले ।

यह घृत उन्माद, अपन्मार में तथा अन्य बहुत से जीर्ण रोगों में मस्तिष्क-दोषव्ययजन्य व्याधियों में लाभप्रद होता है ।

चैतस घृत—गाम्भारी से रहित दशमूल की औषधियाँ, रास्ता, एरण्ड मूल की छाल, बग्या की जड़, मूर्वा की जड़, घताविर, प्रत्येक ८ तोले लेकर एक

द्रोण जल में बनाय बनावे, चतुर्पाश शेष रहने पर क्वाथ को छानकर रख ले । फिर एक गलईदार पात्र में यह क्वाथ, मूर्च्छित गोघृत एक प्रस्थ तथा कल्याण घृत में कथित कल्क को ढाल कर अग्नि पर चढ़ाकर पाक करे । इस प्रकार से सिद्ध घृत का उपयोग उन्माद, अपस्मार तथा विविध पित्तविकारों में लाभप्रद होता है । मात्रा १ तोला । अनुपान दूध ।

शिवा तैल—मुख, नख और आंग को अलग करके पुरुष शृगाल (गोदड़) का मांस १ प्रस्थ, पोटली बांधकर, दशमूल की औषधियाँ आधी तुला और जल एक द्रोण लेकर एक बड़े भाण्ड में रख कर अग्नि पर चढ़ावे, जब चतुर्पाश जल शेष रहे तो उतारे । टडा होने पर छानकर पृथक् कर ले । फिर एक बड़े पात्र में यह क्वाथ, मूर्च्छित तिल तैल १ प्रस्थ और निम्नलिखित कल्क द्रव्यों को पीस कर पका कर पाक करे । कल्क द्रव्य—वृहत् पंचमूल, वच, कूट, भूरिछरोला, सफेद अनन्तमूल, काला अनन्तमूल, धतूर का बीज, वरुण की छाल, बैंगन, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, चित्रकमूल, पीपरामूल, मुलेठी, मेँधा नमक, खिरेटी, सीया, देवदारु, रास्ना, गजपीपल, नागरमोथा, कचूर, लाख, गंधप्रसारणी और रक्त चंदन प्रत्येक एक तोला ।

इस तैल की मालिश (अभ्यंग) या पान सभी प्रकार के उन्माद में लाभ प्रद होता है ।

धूम, नस्य, अंजन—इनका उल्लेख भूतजन्य उन्माद में हो चुका है । उन्ही यागों का यथावश्यक प्रयोग करना चाहिये ।

पथ्य—गेहूँ, चावल, मूँग, धारोष्ण गाय का दूध, शतधीत घृत, नवीन तथा पुराना गोघृत, कछुए का मांस, पुराना कुष्माण्ड का फल, ब्राह्मी या मण्डूकपर्णों का शाक, बथुवा, चीलाई, मुनक्का, कैथ, कटहल, मडुवा (धान्य विशेष) पथ्य होता है ।^१

अपथ्य—मद्य, विरोधी आहार, अधिक मांस-सेवन, भैस का दूध, उष्ण पेय तथा भोजन, निद्रा-क्षुधा तथा तृप्ता के वेगों का रोकना, अधिक लवण, तीक्ष्ण

१ गोधूममुद्गारुणशालयश्च धारोष्णदुग्ध शतधीतसर्पिः ।

घृतं नवीनञ्च पुरातनञ्च कूर्ममिषं धन्वरसा रसाला ॥

पुराणकुष्माण्डफल पटोल ब्राह्मीदल वास्तुकतण्डुलीयम् ।

द्राक्षा कपित्थ पनस च वैद्यैर्विधेयमुन्मादगदेषु पथ्यम् ॥ (यो २)

निवृत्तामिपमद्यो यो हिताशी प्रयत शुचि ।

निजागन्तुभिरुन्मादैः सत्त्ववान्न स युज्यते ॥ (च चि ९)

तथा तिक्त द्रव्यो का सेवन निन्द्य है । सम्पूर्ण प्रकार के मद्य और मास से निवृत्त, हिताहार-विहार करने वाला, समयी और पवित्र आचरण का व्यक्ति सत्त्ववान् होता है ।

अर्थात् उसका सत्त्व या मन बड़ा दृढ होता है फलतः ऐसे व्यक्तियों को निज अथवा आगन्तुक उन्माद का रोग नहीं होता है ।

उपसंहार—उपर्युक्त चिकित्सा-क्रम को यथावश्यक यथास्थान वरते । साथ में इस प्रकार की व्यवस्था करे—

उन्माद गजकेशरी रस २-४ रत्नों की एक मात्रा गोघृत के साथ प्रातः सायम् दे । सारस्वतारिष्ट भोजन के बाद दे । बड़े चम्मच से २ चम्मच पानी मिलाकर । रात्रि में सोते वक्त सर्पगन्धा घनवटी २ गोली दे । यदि घनवटी तैयार न हो तो सर्पगन्धा चूर्ण, २ माशा, गुलकद १ तोले के साथ खिलाकर गाय का दूध पिलावे । सिर पर लगाने के लिये हिमाशु तैल या शतधीत घृत की मालिश करावे । रोगी बलवान् हो तो नित्य हर दूसरे या तीसरे दिन एरण्ड तैल एक छटाक की मात्रा में दूध में डालकर पिलावे । खाने में चावल का भात या गेहूँ की रोटी और दूध देना चाहिये । पीने के लिये शर्वत के रूप में कई बार श्वेत कुष्माण्ड (पेंठे) के बीज और गूदा को निकाल कर पीस कर मिश्री मिला कर कई बार देना चाहिये । यदि रोगी बहुत उद्धत हो तो उसको एक निर्जन स्थान में बन्द कमरे में रखना, डरवाना, नस्य (कायफर के चूर्ण का नस्य) या शिरीषाञ्जन का प्रयोग करते हुए अच्छा लाभ देखा जाता है । उन्मत्त रोगी को ठंडे जल में खूब स्नान कराना चाहिये । उसको सबसे उत्तम लाभ जल की धारा सिर पर नल की टोटी खोल कर देने से होता है—इतनी धार से स्नान करावे और तब तक स्नान करावे जब तक कि वह शीत से काँपने न लगे । उन्माद का रोगी किसी एक व्यक्ति से डरता है सब से नहीं, खास कर उस व्यक्ति से जिसने उसे एक बार मार दिया है । वह दूसरे से दवा भी नहीं खाना चाहता जब तक कि वह व्यक्ति सामने न खड़ा हो । इसका भी ध्यान रखना चाहिये । उन्मत्तो में दवा का खिलाना भी एक कला है । उन्मत्त बिना भय न खाना खाता है और न औषधि । हर बात में उसके साथ जवर्दस्ती ही करनी पड़ती है ।

चौथीसवाँ अध्याय -

अपस्मार प्रतिषेध

अपस्मार—(मूगी) एक मानस रोग है, इसमें भी उन्माद के समान मस्तिष्क में कोई प्रत्यक्ष विकृति दृष्टिगोचर नहीं होती है । ज्ञान के विनाश की दृष्टि में यह उन्माद सदृश ही है, भेद यह है कि उन्माद में बुद्धि-विभ्रम होता है जिससे रोगी देवता या सुनता हुआ भी उसके यथार्थ तत्त्व को ग्रहण करने में अनमर्थ रहता है । उन्मत्त व्यक्ति बातें करता है किन्तु सब असम्बद्ध, इसी प्रकार वह खाता भी है किन्तु उसके स्वाद का ज्ञान प्रायः उसको नहीं होता । अपस्मार का रोगी एकदम बेहोश हो जाता है उसको दौरे के काल में कुछ भी ज्ञान नहीं रहना इसके अतिरिक्त वह किसी प्रकार की क्रिया भी नहीं कर पाता । इस तरह उन्माद में बुद्धि-विभ्रम तथा अपस्मार में बुद्धि-नाश पाया जाता है । अपस्मार रोग का दौरा होता है । यह दौरा आवश्यक एवं किंचित् काल स्थायी (या थोड़े देर का होता है) । फिर वह चेतना में आ जाता और सामान्य व्यक्ति जैसे दिखलाई पड़ता है—इनमें दौरे का समय भी प्रायः निश्चित सा ही रहता है । यह बात उन्माद में नहीं होती उन्माद का आक्रमण अस्थायी न होकर स्थायी स्वरूप का होता है, रोगी अचेन या बेहोश प्रायः कभी नहीं होता है ।

अपस्मार—चिन्ता-काम-क्रोध-शोक तथा उद्वेग जैसे मानसिक कारण एवं शिरोभिधात तथा मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis), मस्तिष्कगत रक्तस्राव (Apoplexy) तथा मस्तिष्कावृद्ध (Cerebral Tumour) के कारणों से सत्त्व के दुर्बल, रज तथा तम की प्रबलता होने पर उत्पन्न होता है । स्वभावतः दुर्बल मन (हीन सत्त्व) वाले व्यक्तियों में यह अधिक पाया जाता है । उपर्युक्त कारणों से कुपित हुए दोष मनोवह स्रोत (मस्तिष्क, मस्तिष्कगत इन्द्रियाधिष्ठान तथा वात नाडियो) में आश्रित होकर अपस्मार रोग को उत्पन्न करते हैं ।

१. चिन्ताशोकादिभिर्दोषाः क्रुद्धा हृत्स्रोतसि स्थिता ।

कृत्वा स्मृतेरपध्वसमपस्मारं प्रकुर्वते ॥

तम प्रवेश सरम्भो दोषोद्रेकहतस्मृते ।

अपस्मार इति ज्ञेयो गदो घोरश्चतुर्विधः ॥ (मा. नि)

स्मृतेरपगम प्राहुरपस्मार भिषग्विदः ।

तम प्रवेशं वीभत्सचेष्ट धीसत्त्वसण्णवात् ॥ (च. चि. १०)

आधुनिक ग्रंथों में अपस्मार के (Epilepsy) दो भेद प्रमुखतया मिलते हैं । औपद्रविक यह आघात, हृदय एवं रक्तवाहिनी के रोग, मस्तिष्कगत रोग तथा रोगों की विषमयता में पाया जाता है । २. अर्नेमिटिक या अज्ञात कारणजन्य यही बृद्ध अपस्मार नामक मानस-रोग है । साधारणतया अपस्मार कहने से इसी का बोध होता है । इसमें मस्तिष्क में कोई अंगगत विकृति नहीं दिखाई पड़ती है । वैज्ञानिकों ने अब तक रोग के कारण का निश्चित कारण नहीं स्थिर किया है । उनका मत है कि ममवर्त (Metabolism) के दोषों से शरीर में एक अतस्थ विष (Choline) बनता है जिसका प्रभाव मस्तिष्क पर होने से रोग का दौरा होता है और वह निमज होकर गिर पड़ता है । यदि प्रभाव छोड़ा हुआ तो लघु अपस्मार (Petit Mal) और प्रभाव के तीव्र होने पर तीव्र स्वरूप का बृहदपस्मार (Grand Mal) का रूप पाया जाता है । इस रोग में वंश-परम्परा की प्रवृत्ति पाई जाती है । रोग का प्रारम्भ बाल्यावस्था से ही जाता है ।

प्राचीन निदान के अनुसार वातिक, पित्तिक, श्लेष्मिक तथा भान्निपातिक भेद में अपस्मार के चार प्रकार होते हैं । इस रोग का दौरा एक मास के बाद, पन्द्रह दिनों के अंतर या बारह दिनों के अन्तर पर अथवा सप्ताह के बाद आते रहते हैं । बहुत बट जाने पर नित्य भी आ सकता है ।

अपस्मार एक कष्टसाध्य रोग है—नवीन और एकदोपज तो कुछ साध्य भी होते हैं, परन्तु त्रिदोषज, और दुर्बल रोगी के अपस्मार असाध्य हो जाते हैं । इसके अतिरिक्त जिस रोगी में बार-बार आक्षेप आते हों, जो अत्यन्त क्षीण हो, जिसकी मृकटियाँ ऊपर की चढ़ जायें और जिसकी आँखें भी विकृत हो जायें तो ये अपस्मार भी असाध्य हो जाते हैं ।^१

क्रियाक्रम—दानज अपस्मार में वस्तिकर्म, पित्तज में रेचन तथा श्लेष्मिक में वमन कर्म के द्वारा शोधन करना चाहिये । अपस्मार में प्रथम वमन के द्वारा शोधन उत्तम रहता है । इन कर्मों में अच्छी तरह से शोधन हो जाने के अनन्तर रोग की निवृत्तिसम्बन्धी आध्यात्मन रोगी को देते हुए अपस्मार को दूर करने के लिये निम्न लिखित मंथन के उपचारों के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ।^२

- १ सर्वैरैः समस्तैश्च लिङ्गैर्ज्येष्ठोपजः । अपस्मार म चासाध्यो यः क्षीणम्यानवश्च यः ॥ प्रतिस्फुरन्तं बृहद्यः क्षीणं प्रचलितध्रुवम् । नेत्राभ्याञ्च विकृर्वाणमपस्मारो विनाशयेत् ॥ (च० चि० १०)
- २ दानिक वस्तिभिः प्रायः पित्तं प्रायो विरेचनैः । श्लेष्मिकं वमनप्रायैरपस्मारमुपाचरेत् ॥ (च० पि०)

अंजन—१ मैनसिल, रसावजन, कबूतर (जंगली) की बिण्ठा, इन्हे मिला कर या पृथक्-पृथक् अंजन करने से उन्माद तथा अपस्मार मे लाभ होता है । २ मुलैठी, हीग, वच, तगर, गिरीष, लहसुन, कूठ को सम भाग मे लेकर बकरी के मूत्र मे पीसकर गोली बनाकर रख ले । और घिस कर आँखो में अंजन करे । इसका चूर्ण नस्य के रूप में भी प्रयुक्त हो सकता है । ३. करंजादि—करंज, देवदारु, सरसो, कटभी, हीग, वच, मजीठ, त्रिफला, त्रिकटु, प्रियङ्गु मम प्रमाण मे लेकर वस्तमूत्र (बकरी के मूत्र) में पीसकर बने योग का नस्य तथा अंजन रूप मे प्रयोग । पुष्पनचत्र मे उद्धृत कुत्ते के पित्त (Bile) का अंजन अपस्मारघ्न होता है । इसका घी के साथ धूपन में भी प्रयोग किया जा सकता है ।

नस्य—१ निर्गुण्डो स्वरस और बन्दाक का स्वरस या चूर्ण -नस्य रूप मे नाक से देने से अपस्मार मे निश्चित रूप से लाभ होता है ।

२ वचा, गिलोय, त्रिकटु, मधुर्याष्ट का सत्, रुद्राक्ष, सेंधा नमक, समुद्रफल, लहसुन, इन द्रव्यों का समभाग मे बनाये नस्य का प्रयोग । ३. कुत्ता, शृगाल, बिडाल और कपिल वर्ण की गाय के पित्त का नस्य अपस्मार को नष्ट करता है ।

स्नान, लेप तथा उद्वर्त्तन—१ श्वेत तुलसी, कूठ, छोटी हरें, जटामासी और ग्रथिपर्ण को समभाग मे लेकर गोमूत्र मे पीसकर उबटन लगाना और गोमूत्र से स्नान कराना ।

२. चमगादड़ की बिण्ठा और जलाये हुए बकरी के लोम, श्वेत सरसो और सहिजन की छाल को गोमूत्र मे पीस कर लेप करना । ३ सरसो के तेल मे चतुर्गुण बकरी का मूत्र और गाय का पुरीष और मूत्र डाल कर पका ले । इससे उबटन लगाना एव स्नान कराना उत्तम होता है ।

धूपन—नकुल, उलूक, मार्जार, गोघ, साँप और काक के तुण्ड, पुरीष और पक्ष से अपस्मार रोगी का धूपन करने से दुश्चिकित्स्य अपस्मार भी अच्छा होता है ।

भेषज—१ मधुर्याष्ट का कुष्माण्ड बीज के साथ पीसकर सेवन २. वचा का चूर्ण १ माशा मधु के साथ सेवन—भोजन मे दूध और भात । इस योग के सेवन-काल में देना चाहिये । ३ लहसुन का तेल में पकाकर सेवन ४ ब्राह्मी-

१ य खादेत् क्षीरभक्ताशी माचिकेण वचारज ।

अपस्मार महाघोर सुचिरोत्थ जयेद् श्रुवम् ॥

प्रयोज्य तैललशुन पयसा वा शतावरी ।

ब्राह्मीरसश्च मधुना सर्वापस्मारभेषजम् ॥ (अ र)

स्वरस या मण्डूकपर्णीस्वरस और मधु का सेवन ५. दूध के साथ गतावरी का सेवन सिद्ध प्रयोग है । ६. सद्यः प्रमूता वकरी के वच्चे के नाल को हाथ से दबा कर निर्द्रव करके कांजी के साथ पका कर सेवन करने से अपस्मार दूर होता है । ७. जिस रस्सी के द्वारा फासी लगाई गई हो उस रस्सी को जला कर उसकी राख को ठंडे जल से पीने से उद्धत अपस्मार भी अच्छा होता है । ८. खरमूत्र (गर्दभ या गर्दभी मूत्र) को परम अपस्मारनाशक कहा गया है । वास्तव में यह लाभ करता है । पुराने अपस्मार के रोगियों में भी इसके उपयोग से लाभ देखा गया है । मूर्च्छा, अपस्मार तथा अपतंत्रक में समान भाव से लाभप्रद रहता है । मात्रा २ तोले से ४ तोला । प्रातः काल ।^१

योग-कल्याण चूर्ण-पिप्पली, पिपरामूल, चव्य, चित्रक, सोठ, काली मिर्च, हरड़, बहेरा, आंवला, विडलवण, मैघव लवण, वायविडङ्ग, करंजबीज की मींगी, अजवायन, धनिया और जीरा प्रत्येक एक तोला । महीन कूट कर के चूर्ण बना ले । मात्रा—१-२ मांशा । अनुपान उष्णोदक । वातश्लेष्मज विकारों में लाभप्रद । उन्माद तथा अपस्मार में हितकर तथा अग्निवर्धक होता है ।

ब्राह्मी घृत—^२ मूर्च्छित गोघृत १ सेर, ब्राह्मी स्वरस ४ सेर, कूठ और शखपुष्पी का नम भाग में लिया कल्क १ पाव । अग्नि पर चढ़ा कर पाक करे । अपस्मार, उन्माद दोनों में लाभप्रद । मात्रा—१-२ तोला गाय के दूध में मिलाकर ।

म्वल्प—पंचराग्य घृत—^३ मूर्च्छित गोघृत १ सेर, गाय का गोबर १ पाव, गाय की खट्टी दही १ सेर, गाय का दूध १ सेर, गाय का मूत्र १ सेर । अग्नि पर चढ़ाकर पाक । ग्रहवाधा तथा अपस्मार में लाभ । मात्रा तथा अनुपान पूर्ववत् ।

कुष्माण्ड घृत—^४ गाय के घी में १८ गुना कुष्माण्ड स्वरस और मधुयष्टि

१ खरमूत्रमपस्मारोन्मादग्रहनाशनम् ॥ (च मू १)

२ ब्राह्मीरसवचाकुण्डलग्नपुष्पीभिरेव च ।

पक्व पुरातनं सर्पिरपस्मारहरं ब्रुवम् ॥ (भा प्र)

३. गोनाग्नद्रुमदध्यम्लजीरमर्चः समंघृतम् ।

सिद्धिं चातुर्विजोन्मादग्रहापस्मारनाशनम् ॥ (च.)

४ कुष्माण्डम्वरमे सर्पिरष्टादशगुणे पचेत् ।

यष्ट्याद्वक्त्रे तत्सिद्धमपस्मारहरं परम् ॥ (वृद्ध)

चूर्ण एक पाव का कल्क डाल कर पाक किया घृत । मात्रा और अनुपात पूर्ववत् ।

वातकुलान्तक रस—श्रेष्ठ कस्तूरी, शुद्ध मनशिला, नागकेसर का चूर्ण, बहेडे के छिलके का चूर्ण, शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, जायफल, छोटी इलायची और लवङ्ग प्रत्येक एक तोला । प्रथम पारद-गंधक को कज्जली बनावे । शेष चूर्णों को मिलावे । सब एकत्र महीन पोस कर २ रत्ती के परिमाण की गोली बना ले । यह अपस्मार में बड़ा श्रेष्ठ योग है विशेषतः आक्षेपयुक्त अपस्मार में । मात्रा दिन में तीन-चार गोली मण्डूकपर्णी के रस और मधु के योग से ।

स्मृतिसागर रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, हरताल, शुद्ध मनशिला, ताम्र भस्म । सम भाग में लेकर प्रथम कज्जली बना कर शेष द्रव्यों को मिला कर, वचा के वनाथ या स्वरस तथा ब्राह्मी स्वरस या कपाय से इक्कीस भावना दे । कटभी बीज के तैल की एक भावना दे । घृत और मिश्री के अनुपात से ४ रत्ती की मात्रा में प्रयोग करे । अपस्मार में एक परम उत्तम योग है ।

उपसंहार—यह एक बड़ा हठी रोग है । इसमें रक्त एवं पाखाने की परीक्षा करा लेनी चाहिये । यदि रक्त में फिरंग या उपदंश आदि की उपस्थिति मिले तो फिरंगनाशक चिकित्सा करते हुए पर्याप्त लाभ होता है । यदि कृमियो की उपस्थिति मिले तो कृमिघ्न उपचार अथवा यदि अभिघात का वृत्त मिले तो तदनुकूल उपचार करते हुए लाभ हो जाता है । (Antibiotic penicillin Procaine Injection) अन्यथा विशुद्ध मानस अपस्मार में, जो अनैमित्तिक स्वरूप का (Idiopathic) होता है, कोई बढ़िया फल नहीं दिखलाई पड़ता है । आज के युग में जितने नवीन (anti convulsants) योग चलते हैं उनका लाभ भी स्थायी नहीं रहता, जितने दिनों तक औषधि चलती रहती है, रोग ठीक रहता है, औषधि के छोड़ देने पर रोग का पुनरावर्तन होने लगता है ।

एक वृद्ध आचार्य कहा करते थे कि अपस्मार में सफल चिकित्सा के लिए किसी सिद्ध पुरुष, महात्मा या तांत्रिक की ही शरण लेना चाहिये । उन लोगों को आशीर्वाद या प्रयोगों से अपस्मार अच्छा हो जाय तो उत्तम अन्यथा आधिभौतिक चिकित्सा से कोई विशेष लाभ नहीं होता है । इस अधिकार में कथित चिकित्साये भी, जैसा कि ऊपर में देख चुके हैं, तांत्रिक प्रयोग ही है । इनके प्रयोग भी अधिक दुर्लभ और दुर्लभ हैं, करने से लाभ अवश्य होता है ।

अपस्मार में आगन्तुक उपसर्ग प्रतीत हो तो भूतोत्थ उन्मादवत् चिकित्सा करनी चाहिये । उन्माद रोगाधिकार में कथित यथायोग्य योगो का यथावसर प्रयोग अपस्मार रोग में भी किया जा सकता है । माध्य अपस्मारो में निम्नलिखित व्यवस्था में पर्याप्त लाभ होता है —

स्मृति मागररम ४ रत्ती प्रातः मण्डूकपर्णी के रस और मधु मे । वात-कुलान्तक रस माय २ से ४ रत्ती गोघृत, मीठी वच का चूर्ण ४ रत्ती और मिश्री से । अन्नगंधारिष्ठ भोजन के बाद दोनों वक्त २ तोला समान जल मिलाकर । लगुनादि वटी भी भोजन के अनन्तर एक-दो गोली देना चाहिये । न्मोन पिएड भी उत्तम योग है । अपस्मार और अपतंत्रक में लहमुन उत्तम कार्य करता है । निद्रा घृतो में से किमी घृत का प्रयोग नित्य करना चाहिये, जैसे ब्राह्मो घृत १ तोले की मात्रा में गाय के १ पाव दूध में डाल कर रात्रि में मोते व्रत । क्रोष्टुष्टि का ध्यान रखना—बीच बीच में एनीमा देकर या किसी रेचक औषधि का प्रयोग कर के कोष्ठ की शुद्धि कर लेनी चाहिये ।

आक्रमण काल में किसी नस्य या अंजन के प्रयोग से अथवा मूर्च्छाधिकार में कथित उपायो से रोगी को होश में लाना चाहिये । नस्य तथा अंजनों का प्रयोग दोरे के अतिरिक्त समय में हर तीसरे दिन या सप्ताह में एक दिन या बीच बीच में यथावश्यक करते रहना चाहिये । पचगव्य का उद्धर्तन और गोमूत्र का स्नान भी उत्तम रहता है ।

पथ्या-पथ्य—अपस्मारी को उन्माद सदृश रखना चाहिये । जल (जलाव-गाहन), अग्नि के समीप या भट्टी के समीप काम करना, पेड पर चढ़ना, पहाड या उँचे टीले आदि का चढ़ना प्रभृति कार्यों से मृगी वाले रोगियों को बचाना चाहिये । क्यो कि इन पदार्थों से उसको रोग का दौरा होता है और उसके प्राणनाश का भय रहता है ।^१

अतर्वाभिनिवेश—^२ चरक ने अपस्मार रोग को दुश्चिकित्स्य, त्रिर काल तक चलने वाला और रोगी के क्षीण होने पर असाध्य माना है । इसको

१. जलाग्निद्रुमशैलेभ्यो विपमेभ्यश्च तं सदा ।

रक्षेदुन्मादिनञ्चैव मद्य. प्राणहरा हि ते ॥

२. रजस्तमोभ्या वृद्धाभ्या वृद्धौ मनमि चावृते ।

हृदये व्याकुले दोषैरथ मूढोऽस्पृचेतन ॥

विपमा कुप्यते बुद्धि नित्यानित्ये हिताहिते ।

अतर्वाभिनिवेशं तमाहुराप्ता महागदम् ॥

महागद (महारोग) की संज्ञा भी दी है । अपस्मार से मिलते हुए लक्षणों वाले एक दूसरे रोग का वर्णन अतत्त्वाभिनिवेश नाम से किया है । इस को भी महागद वतलाया है ।

मलिन आहारशील, प्राप्त वेगों के रोकने वाले व्यक्तियों में, शीत-उष्ण-रूक्षादि के अति सेवन से रज एवं तमो गुण की वृद्धि होकर हृदय, मस्तिष्क तथा मनोवह स्रोतों की दुष्टि होती है । मनुष्य मूढ़ या अल्प चैतन्य का हो जाता है, उसकी बुद्धि विषम (विपरीत या उल्टी) हो जाती है फलतः वह हित को अहित, अहित को हित, भले को बुरा, बुरे को भला, नित्य को अनित्य और अनित्य को नित्य समझता है । इस रोग को महागद अतत्त्वाभिनिवेश कहते हैं । इसमें Fixed delusion, Amentia, Dementia जैसी अवस्था हो जाती है ।

क्रिया-क्रम—^१. इस रोग में रोगी का स्नेहन और स्वेदन करके वमन-विरेचन प्रभृति पंचकर्मों के द्वारा शोधन करना उत्तम रहता है । शोधन के अनन्तर ससर्जन करते हुए रोगी को प्रकृताहार पर लाना चाहिए । मेध्य-मस्तिष्क शक्ति या बुद्धिवर्धक आहार (भोजन) रोगी को देना चाहिये । शखपुष्पी, ब्राह्मी-स्वरस, मण्डूकपर्णी स्वरस, पचगव्य घृत, रसायनाधिकार में कथित मेध्य रसायन का उपयोग करना चाहिए । तैल और लहसुन का प्रयोग, दूध और शतावरी का प्रयोग तथा अन्य अपस्माराधिकार की औषधियों का योग अतत्त्वाभिनिवेश युक्त रोगियों में भी करना चाहिये । अपस्मार तथा अतत्त्वाभिनिवेश ये दोनों ही महारोग एवं दुश्चिकित्स्य हैं, अस्तु, रसायनों के दीर्घकाल के उपयोग से जीते जा सकते हैं । साथ ही धर्म, अर्थ से सम्बद्ध, प्रियमित्रों के अनुकूल वचन, विज्ञान, धैर्य, धृति और समाधि का योग उत्तम रहता है ।



१ सुहृदश्चानुकूलास्त स्वाप्ता धर्मार्थवादिन ।

सयोजयेयुर्विज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभि ॥

दुश्चिकित्स्यो ह्यपस्मारश्चिरकारी कृतास्पद ।

तस्माद्रसायनैरेन प्रायशः समुपाचरेत् ॥ (च० चि० १०)

पचीसवाँ अध्याय

वात-व्याधि प्रतिषेध

प्रावेशिक :- विकृत वातजन्य असाधारण व्याधि को वात व्याधि कहते हैं । चरक ने मामान्यज और नानात्मज भेद से दो प्रकार की व्याधियों का वर्णन किया है । जो व्याधियाँ वातादि प्रत्येक दोष व समस्त दोषों से होती हैं उन्हें मामान्यज कहते हैं । ज्वर, अतिसार, अर्श आदि व्याधियाँ इसके उदाहरण हैं । इनके विपरीत केवल एक ही दोष से उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ नानात्मज कहलाती हैं । यथा—आक्षेपक, पङ्गुत्व, गृध्रमी आदि रोग केवल वायु से ही होते हैं, पित्त और कफ से नहीं । इसी प्रकार दाह, ओष, चोष, पाक आदि पित्त से ही होते हैं, वायु और कफ से नहीं । तृप्ति, तन्द्रा, निद्रा आदि रोग कफजन्य ही होते हैं, पित्त तथा वात से नहीं । इस प्रकार शास्त्र में अस्मी वातात्मज, चालीस पित्तज तथा बीस कफ विकार से नानात्मज व्याधियों का उल्लेख मिलता है ।

अब यहाँ शका होती है कि चरक और सुश्रुत ने पित्त नानात्मज और कफ नानात्मज व्याधियों का स्वतंत्र अध्याय के रूप में वर्णन न करके केवल वात नानात्मज व्याधियों का ही स्वतंत्र अध्याय क्यों लिखा ? इस शका के निराकरणार्थ कई उपपत्तियाँ शास्त्र में पाई जाती हैं जिसमें वात दोष को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है । (देखिये चरक वातकलाकलीयाध्याय सूत्रस्थान में) । वात को माक्षात् स्वयंभू भगवान् वतलाया गया है । इस प्रकार वायु को सर्व प्रेरक, अति बलवान्, आशुकारी इनके विकारों को दुःसाध्य होने से प्रधानतया वात-विकारों का ही विस्तार से वर्णन किया है, पित्त तथा कफ का नहीं । चार्द्धवर की उक्ति है कि पित्त और कफ पंगु हैं वे निष्क्रिय हैं, सक्रिय केवल वात ही है, वह जहाँ पर जिम धातु या दोष को ले जाना चाहता है ले जाता है, जिस प्रकार बादलों को हवा । “पित्त पङ्गु कफः पङ्गु पङ्गुवो मलधातव । वायुना यत्र नोयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ।” चरकोक्त वात रोग चिकित्साविकार में लिखा है—वायु आयु है, वायु ही बल है, वायु ही शरीर का धारक है, वायु व्यापक और सम्पूर्ण क्रियाकलाप का अधिपति होता हुआ संसार का प्रभु है । जब तक यह स्थानमय (अपने स्थान में स्थित) और स्वभावस्थ—उसकी गति में कोई रुकावट

नही पैदा हो रही है, वह मनुष्य को या जीवधारी को नीरोग रख कर सैकड़ों वर्ष तक जीवित रख सकता है, परन्तु विपरीत होने से प्राण को सकट में डाल देता है। वह अपने प्राण-उदान-समान-अपान तथा व्यान भेद से पचधा विभक्त होकर शरीर का धारण करता है। इस प्रकार वायु के प्रधान धातु या दोष होने के कारण वात रोगाध्याय नामक स्वतंत्र अध्याय लिखने की आवश्यकता आसन्नकारो को प्रतीत हुई।^१ जो कुछ भी श्वास-प्रश्वास, आँखों के पलकों का खुलना या बंद होना, आकुंचन, प्रसारण, प्रेरण, सधारण तथा संवेदन आदि क्रियाएँ होती हैं, वायु के कारण ही होती हैं।

अब पुन शंका उठती है कि वायु से आधुनिक परिभाषा में हम क्या समझें? संक्षेप में उपर्युक्त वर्णन से शरीरगत कोई भी तत्त्व जो संचालन (Motor Function) कराता है या संवेदन कराता है अर्थात् वेदनाओं की सूचना (Sensory function) देता है उस शक्ति विशेष को वात कहते हैं। इन सम्पूर्ण शक्तियों का अधिपति वात सस्थान (Nervous System or Brain & Nerves) है। अस्तु, वात धातु से इन्हीं का ग्रहण करना सगत प्रतीत होता है। अस्तु, वात रोगाध्याय कहने का तात्पर्य (Diseases of the Nervous System) वात नाडी सस्थान का रोग समझना समीचीन है।

वायु के कारण विविध प्रकार के रोग होते हैं, फलतः इस अध्याय में बहुत प्रकार के रोगों का प्रसंग आयेगा। प्रसंगानुसार उनके क्रिया-क्रमों का भी एक-एक उल्लेख किया जावेगा। चिकित्सा में कुछ सामान्य बातों का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। जैसे वायु का कोष दो प्रकार से होता है—धातुक्षय से या मार्ग के आवृत होने से। “वायोर्धातोः क्षयात्कोषो मार्गस्यावरणो वा।” अधिकतर वायु के रोग प्रथम वर्ग के अर्थात् धातुक्षयजन्य ही पाये जाते हैं। अस्तु, सामान्यतया वृंहण उपक्रमों का ही ध्यान रखना चाहिये।

१. वायुरायुर्वलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम् । वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्तितः ॥ अव्याहता गतिर्यस्य स्थानस्य प्रकृतौ स्थितः । वायु स्यात्सोऽधिकं जीवेद्वीतरोगः समा. शतम् ॥ प्राणोदानसमानाख्यव्यानापानैः स पञ्चधा । देहं तत्रयते सम्यक् स्थानेष्वव्याहृतं चरन् ॥ विमार्गस्था ह्ययुक्ता वा रोगैः स्वस्थानकर्मजैः । शरीरं पीडयन्त्येते प्राणानाशु हरन्ति च ॥

क्रियाक्रम-सामान्य—अभ्यंग, स्वेदन वस्ति, स्निग्ध नस्य, स्निग्ध विरेचन, स्निग्ध-अम्ल-लवण और मधुर रस पदार्थों का सेवन^१, पित्त के आवरण में शीत और उष्ण उपचार, कफ या मेद या आम के आवरण में रुक्ष-उष्ण भक्ष्य तथा भेषज देना चाहिये । यदि विगुह्य वायु का ही कोप हो तो सर्वत्र स्निग्ध एवं उष्ण भक्ष्य एवं भेषज का उपयोग करना चाहिये । स्निग्ध, उष्ण-शीत-रुक्षादि उपक्रमों में यदि वायु का रोग न शान्त हो तो रोग में रक्त की दृष्टि समझनी चाहिए और वहा पर वायु की चिकित्सा के साथ ही रक्तशोधक उपचार भी करना उत्तम रहता है । विगुह्य वात के रोगी में प्रायः वृंहण चिकित्सा का ही विधान जैसा कि चक्रवर्त में लिखा है “घो-तैल-वसा-मज्जा का पान, अभ्यंग तथा वस्ति, स्निग्ध स्वेदन, वात के क्षोको में रहित (निवात) स्थान, गर्म वस्त्रों से शरीर को आवृत रखना, सामरस, दूध, मधुर, खट्टे और नमकीन पदार्थ तथा शरीर के वृंहण करने वाले पदार्थों का उपयोग हितकर होता है ।^२

० घातघ्न लेप—कुड्म का गोद २० तोला, आमालुकी ४ तोला, सज्जीखार २ तोला, एलवा (मुम्वर) ५ तोला, हीरा बोल २ तोला, आर्चा २ तोला, गेरू ५ तोला, मफेद सरसो १ तोला, हींग १ तोला, उगारे रेवन्द एक तोला, अजस्त २ तोला, डीकामाली का गोद २ तोला, मेदा लकड़ी २ तोला, चन्दमूर (चमूर हालीम) ४ तोला, मेथी २ तोला । इन सब का चूर्ण बना कर रख ले ।

उपयोग—आवश्यकतानुसार जल में महीन पीस कर गर्म करके जहाँ पर चोट लगी हो या वेदना हो वहाँ पर मोटा लेप कर ऊपर से रुई रख कर बांध दे । इससे पीड़ा और सूजन शान्त होती है ।

प्रदेह—जंगली बेर, कुलथी, देवदारु, रास्ना, उडद, अतसी का बीज तथा नैल, त्रिफला, कूठ, वच, सोये का बीज और जी का आटा । इन द्रव्यों को सम

१. अभ्यङ्गः स्वेदनं वस्तिर्नस्यं स्नेहविरेचनम् । स्निग्धाम्ललवण स्वादु वृष्यं वातामयापहम् ॥ पित्तस्यावरणे वातिरोगे शीतोष्णभेषजम् । कफस्यावरणे वायी रुक्षोष्ण भक्ष्यभेषजम् ॥ केवले पवने व्याधौ स्निग्धोष्णं भक्ष्यभेषजम् । स्निग्धोष्ण-शीतरुक्षाद्यैर्वर्तितो यो न शाम्यति । विकारस्तत्र विज्ञेयो दृष्टगोणिसंभवः ॥

२. मपिस्तैलवसामज्जपानाम्यञ्जनवस्तयः । स्वेदाः स्निग्धा निवातञ्च स्थानं शरवरणानि च ॥ रसा पयासि भोज्यानि स्वादुम्ललवणानि च । वृंहणं यत्त तत्सर्वं कर्तव्यं वातरोगिणाम् ॥

भाग में लेकर काजी में पीस कर गर्म करके सुहाता-सुहाता लेप कर वेदना और शोथ का शामक होता है ।^१

शाल्वण स्वेद—काकोल्यादि गण की औषधिया, ^२ भद्रदार्वादि गण की औषधिया (^३ वातघ्न गण की वाग्भटोक्त औषधिया) सर्व प्रकार के अम्ल द्रव्य^४, आनूपदेज के प्राणियों के मांस, सब प्रकार के स्नेह और लवण—इनका यथोचित मात्रा में यथालाभ लेकर अच्छी प्रकार से पीस के आग पर पानी मिलाकर चटाकर पकाले । वातरोगियों में पीडा के स्थान पर इसका उपनाह या पुष्टिम बाधनी चाहिये । इनमें काकोल्यादि गण की औषधिया १ भाग, भद्र-दार्वादि गण की औषधिया १ भाग, मांस २ भाग । अम्ल वर्ग की औषधिया उतनी हो जितने में अम्लता आ जावे, जितने स्नेह से स्निग्धता आ जाये उतना स्नेह और जितने लवण से लेप में नमकीनपन आ जाये उतना लवण छोड़ना चाहिये । इस उपनाह को अग पर लगा कर रुई रख कर कपड़े से बाध देना चाहिये ।

गण की औषधियों में यथालाभ (जितनी मिल जाय उतनी) उपयोग करने का नियम सर्वत्र समझना चाहिये । फलतः इस योग में भी वर्गोक्त समस्त, आधी या जितनी मिल सके, उतनी ही औषधियों का प्रयोग करना चाहिये । यह एक उत्तम लाभप्रद प्रक्रिया वात रोग में प्रत्यात है ।

वातहा पोटली—चक्रमर्द बीज, एरण्डमूल, महानिम्ब, निम्ब की छाल, बकुल की छाल, कटुकरज की छाल, नारिकेल के फल की मज्जा, पूतिकरज की छाल, कपास बीज, सहिजन की छाल, पोस्ता की डोड़ी, सुनिपण्णक (तिनपतिया), सर्पप, अकोल बीज (ढेरे का फल), रास्ना, कूठ, कुलथी, तिल (काली), वच, लहसुन, हींग, सफेद सरसो, सोठ इनका पानी में पिसा कल्क, घृत और तिल-तैल और सरसो का तेल मिलाकर कपड़े में बाधकर पोटली जैसे बनाकर सेंकना । वात रोगों में परम वेदनाशामक उपनाह है ।—(योगसार से उद्धृत)

१ कोल कुलत्थामरदारुस्नामापातसीतैलफलानि कुष्ठम् ।

वचा शताह्वा यवचूर्णमम्लमुष्णानि वातामयिना प्रदेहः ॥

२ काकोल्यादि गण—काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मुद्गपर्णी, मेदा, महामेदा, छिन्नरुहा, कर्कटशृङ्गी, तुगाक्षीरी, पद्मक, प्रणौडरीक, ऋद्धि, वृद्धि, जीवन्ती, मृद्वीका मधुकञ्च । (सु सू ३८)

३ भद्रदारुनिशे भाङ्गी वरुणो मेघशृङ्गिका । जटा झिएटी चार्त्तगलो वरा गोक्षुरतण्डुला ॥ अर्की श्वद्रष्ट्रा राजिका घुस्तूरश्चाश्मभेदक । वरी स्थिरा पाटला रुक्पर्णभ्रूवसुको यव । भद्रदार्वादिरित्येष गणो वातविनाशनः ॥ (वा सू १०)

४ अम्ल द्रव्य से यहा पर काजी का ग्रहण करना चाहिये ।

तैल द्रोणी या कांजिक द्रोणी-अवगाहन—द्रोणी के आकार के पात्र अथवा नाद (Tub) में तैल (तिल सर्पप कुसुम्भ आदि का यथालाभ मिश्रित तैल) भर कर या काजी भर कर उसमें रोगी को बैठाना और उसमें सिर के ऊपर तैल या कांजी से किसी पात्र से स्नान कराना या डुबकी लगा कर नहलाना वात रोगों में लाभप्रद रहता है। इसका प्रयोग पचवध, अर्दित, मन्यस्तिम्भ तथा अपतानक में लाभप्रद पाया जाता है।

अभ्यंगार्थ-तैल—

माष तैल—(चक्रदत्त) पाकार्थ तिल तैल ४ सेर। उडद ४ सेर, बला ४ सेर, जल ६४ सेर क्वाथ बनाकर अवशेष १६ सेर। उडद, केवाछ के बीज, अतीस, एरण्ड की जड़, रास्ना, सौंफ और सेधा नमक—सब का सम भाग में बना कर कल्क १ सेर। यथाविधि मद आँच पर पका कर सिद्ध करे। यह तैल—मालिग, नस्य और पीने से पचवध में लाभप्रद होता है।^१

महामाष तैल—उडद १२८ तोले, दशमूल की औषधियाँ २३ सेर, वक्रे का मास १॥ सेर, जल १२ सेर १२ छटाक ४ तोले। सब को लेकर बड़े भाण्ड में अग्नि पर चढ़ा कर क्वाथ करे, जब चतुर्थांश शेष रहे तो ठंडा होने पर छान ले। फिर एक बड़े कड़ाही में तिल तैल १ सेर, दूध ४ सेर तथा निम्न औषधियों का कल्क बना कर मद आँच पर पाक करे। कपिकच्छु का बीज, एरण्डमूल, सौंफ, सेंधानमक, कालानमक, विडनमक, जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, ऋद्धि, वृद्धि, मुलेठी, मुद्गपर्णी, मापपर्णी, मजिष्ठा, चव्य, चित्रक की जड़, कायफल, सोठ, मरिच, पिप्पली, पिपरामूल, रास्ना, देवदारु, गिलोय, कूठ, असगंध, वच, कचूर तथा कपूर प्रत्येक १ तोला। सब को जल के साथ पीस कर कल्क बना कर पाक करे।

इस तैल को उष्ण दूध में १-२ तोला मिलाकर पीना, वस्ति देना। मात्रा ४ तोला, अभ्यंग करना, नस्य लेना और कानों में छोड़ना। पक्षाघात, अर्दित, खज्ज और पंगुत्व में लाभप्रद।

निरामिष महामाष तैल—निरामिष भोजियों में मास का प्रक्षेप न करते हुए तैल का पाक कर लेना चाहिये।

माषवलादि तैल—तिल तैल ४ सेर। क्वाथार्थ—उडद २ सेर, जल १६ सेर, शेष जल ४ सेर, दशमूल की सम भाग में गृहीत औषधियाँ २ सेर, जल १६ सेर,

१ मापात्मगुप्ताऽतिविपोरूक-रास्नाशताह्वालवर्णं. प्रपिष्टं।

चतुर्गुणे माषवलाकपाये तैल कृतं हन्ति च पक्षाघातम् ॥

शेप ४ सेर । प्रसारणी २ सेर, जल १६ सेर, शेप जल ४ सेर । सौंफ २ सेर, जल १६ सेर, शेप जल ४ सेर । लाक्षा २ सेर, जल १६ सेर, शेप ४ सेर । काजी ४ नेर, शतावर का स्वरस २ सेर, पाताल कोहड़ा का स्वरस २ सेर, दही ४ सेर, गोदुग्ध ४ सेर । कल्क द्रव्य—सोया, सौंफ, मेथी, रास्ना, गजपीपरि, रास्ना, नागरमोथा, असगंध, खस, मुलेठी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बला, भुई आँवला प्रत्येक १६ तोले । मंद आँच पर पाक करे । यह एक उत्तम वृंहण तैल बहुत प्रकार की वात व्याधियो मे लाभप्रद होता है ।^१

सिद्धार्थक तैल—शतावरी स्वरस १॥ सेर ८ तोले, मूर्च्छित तिल-तैल १ नेर, गाय का दूध ४ सेर । अदरक का रस ३ पाव । सौंफ, देवदारु, बला-मूल, लाल चंदन, तगर, कूठ, छोटी इलायची, शालपर्णी, रास्ना, असगंध, मजीठ, श्वेत सारिवा, कृष्ण सारिवा, पृश्निपर्णी, वच, एरण्डमूल, सैन्धव लवण इन की सम भाग मे लेकर पीम कर कल्क १६ तोले । यथाविधि-पाक करे । यह नम्पूर्ण वात रोगो मे लाभप्रद है । इसका विशेष लाभ पोने से होता है । मात्रा १ से २ तोला भोजन के बाद दूध मे छोड कर ।^२

महाराज प्रसारणी तैल—प्रसारणी तैल के नाम से कई तेलो के पाठ सग्रह ग्रंथो में पाये जाते हैं । जैसे—पुष्पराजप्रसारणी, कुब्जप्रसारणी, त्रिशती प्रसारणी, सप्तशक्तिक प्रसारणी, एकादशशक्तिक प्रसारणी, अष्टादश शक्तिक प्रसारणी आदि । इनमे महाराज प्रसारणी तैल एक परमोत्तम योग है । उसका योग यहाँ दिया जा रहा है । यह तैल बहुत मूल्यवान् पडता है, इसमे भल्लातक पडा हुआ है । अल्प मात्रा मे भी अम्यग में प्रयुक्त होकर लाभ-प्रद होता है ।

गंधप्रसारणी का पचाग १५ सेर, पीले फूल वाली कटसरैया (संरेयक) १० सेर, असगंध, एरण्डमूल, बलापचाङ्ग, शतावर, रास्ना, पुनर्नवा-पचाङ्ग, केतकी की जड़ और पुष्प, दशमूल के प्रत्येक द्रव्य, नोम की छाल प्रत्येक ५ सेर,

१ वातरोग निहन्त्याशु मन्यास्तम्भं नियच्छति ।

हनुस्तम्भविकारञ्च जिह्वादन्तगलग्रहान् ॥

प्रमेहान् विशति हन्ति गात्रकम्पादिकं जयेत् ।

एतान् हरति रोगाश्च तैल माषबलादिकम् ॥ (भै र.)

२ मासमेकं पिदेद्यस्तु यौवनस्थ पुनर्भवेत् ।

सिद्धार्थकमिदं ख्यातं नरनारीहिताय वै ॥ भै० र० ॥

३० भि० सि०

देवदारु का बुरादा और गिरीप की छाल प्रत्येक २॥ सेर, लाक्षाचूर्ण तथा लोघ्र प्रत्येक १॥ सेर । इन सबो को जीकुट कर एक बड़े भाण्ड में ४२ मन जल मिलाकर दही भट्टी पर चढ़ाकर बवाथ करे । शेष जल २५ सेर ४८ तोले रहने पर बवाथ को नीचे उतार कर ठंडा कर के छान ले ।

फिर एक बड़े कड़ाहे में तिल-तैल १३ सेर ४८ तोले लेकर अग्नि पर चढ़ाकर उसको मूच्छित करके उसमें उपर्युक्त बवाथ, एवं उस बवाथ को जो इस प्रकार का बना हो, गाय का दूध आठ सेर, गाय की दही ८ सेर, दही का पानी ८ सेर, गन्नो का रस १६ सेर, वक्रे का मास १५ सेर, ३६ सेर जल में ववधित कर १३ सेर ४८ तोले शेष रहने पर उतार कर कड़ाहे में डाले । फिर उसमें मजीठ का काढ़ा १३ सेर ४८ तोला डाले । पश्चात् निम्नलिखित विधि से बने काजी का १२ सेर १२ छटांक डाले ।^२ अब तीन प्रकार के कल्को को डाल कर प्रत्येक से पृथक् पृथक् तेल का पाक करे ।

प्रथम कल्क—भिलावे (भल्लातक) फल की मज्जा, पिप्पली, शुण्ठी, कालोमिर्च, प्रत्येक २४ तोले, हरड, बहेरा, आंवला, सरल काष्ठ, वच, सौंफ, काकडामोमो, चोरपुष्पी, कचूर, मोथा, नागरमोथा, कमल, नीलकमल, पिपरामूल, मजीठ, असगंध, पुनर्नवा पचाङ्ग, दशमूल, चक्रमर्द, रसाञ्जन, गन्धतृण, हरिद्रा तथा जीवनीय गण की औषधियाँ पृथक् पृथक् प्रत्येक १२-१२ तोले । पत्थर पर पीस कर इस कल्क के साथ पाक करे यह प्रथम पाक हुआ । अब तेल को पक जाने पर छान ले और कड़ाही में लेकर अग्नि पर चढ़ाकर द्वितीय कल्क के साथ द्वितीय पाक प्रारम्भ करे ।

द्वितीय पाक प्रकार—फिर लोंग, बोल, तेजपात, राल, छैल छरीला, प्रियगु, खस, सौंफ, जटमासी, देवदारु, बलामूल, नलिका, खोटो, छोटी इलायची, कुन्दरु, मुरामासी, तीनो प्रकार की नखी (काकोदुम्बरपत्र, अश्वखुर, उत्पलपत्र), तेजपात, कपूरकचरी, खट्वाशी (पूति), चम्पे की कलिया, मंनफल, हरेणुका स्पृक्का (अमवरग), मरुवे का फूल (मरुवक पुष्प) प्रत्येक १२ तोले । सब को जल

१. महाराजप्रसारणो तैल की काजी का निर्माण-प्रकार—चावल का माड ६४ तोले, काजी १६ सेर, दही ३२ तोले, पुराना गुड ६४ तोले, मूली ३२ तोले, छिली अदरक ६४ तोले, छोटी पीपल, श्वेतजीरा, सेंधानमक, हल्दी, कालोमिर्च प्रत्येक ८-८ तोला । सब को एक मृत्पात्र में मुख की बंद करके रखे । ८ दिनों के पश्चात् शुक्त को निकाले । इस शुक्त में फिर इलायची, नागकेसर, दालचीनी, तेजपात प्रत्येक का चूर्ण ३-३ तोले छोट कर रखले ।

के साथ पत्थर पर पीस कर कल्क बनाकर तेल में डाल कर गंधोदक मिलाकर पुनः पाक करे। गंधोदक-विधि—तेजपात, खस, मोथा, बला की जड़ प्रत्येक १०० तोले, कूठ १० छटाक, जल २० सेर, आग पर चढ़ाकर पाक करे। आधा शेष रहने पर अर्थात् १० सेर शेष रहने पर छान ले। इस गंधोदक को द्वितीय पाक में कल्क के साथ डाले एवं पाक करे।

तृतीय पाक प्रकार—कल्क के लिये नागकेशर, कूठ, दालचीनी, तगर, केशर, सफेद चंदन का बुरादा, लता कस्तूरी, ग्रधिपर्ण, लवङ्ग, अगर, शीतल-चीनी, जावित्री, जायफल, छोटी इलायची और लवङ्ग के वृक्ष की छाल प्रत्येक १२ तोले। पत्थर पर पीसे हुए इस कल्क को तेल में छोड़कर, फिर उपर्युक्त गंधोदक तथा चंदनोदक (चंदन को खोलाकर बनाया जल) कुल १० सेर डाल कर पाक कर ले। फिर इस तेल को छानकर उसमें कस्तूरी २४ तोले और कपूर ६ तोले मिलाकर। सुरक्षित रख ले।

यह महागुणवान् प्रसारणी तैल अन्य प्रसारणी तैलो से अधिक गुणवान् है। अधिक व्यय तथा परिश्रम साध्य होने से श्रोमान् व्यक्तियों के लिये व्यवहार्य है। अस्तु, इसका नाम महाराज प्रसारणी तैल है। वात रोगों में सिद्ध एवं परमोत्तम योग है।

नारायण तैल—असगंध, बलामूल, बेलमूल, पाठर के मूल, छोटी कटेरी (रैगनी भटकटैया), बड़ी कटेरी (वनभटा), गोखरू, सभानू की पत्ती, सोनापाठा की छाल, गृहदूर्णा की जड़, उडद, कटसरैया, रास्ना, एरण्डमूल, देवदारु, प्रसारणी, अरणी प्रत्येक ४० तोले। इन द्रव्यों को जीकुट करके ४ द्रोण (४०९६ तोले) जल में पकावे। जब चौथाई जल शेष रहे तो ठंडा होने पर छान कर रख ले। पीछे उसमें तिल का तैल २५६ तोले, शतावर का रस २५६ तोले, गाय का दूध २५६ तोले। एवं निम्न औषधियों का कल्क छोड़कर अग्नि पर चढ़ाकर पाक करे। कल्कद्रव्य—कूठ, छोटी इलायची, श्वेत चंदन, बरियरा की जड़, जटामासी, छरीला, सेंधा नमक, असगंध, वच, रास्ना, सौंफ, देवदारु, सरिवन, पिठवन, मापपर्णी, मुद्गपर्णी और तगर इनमें से प्रत्येक ८ तोले। तैल का पाक करे। पाक के सिद्ध होने पर तेल को छानकर शीशियों में भरकर रख ले।

उपयोग—पक्षाघात, अर्धित, हनुस्तम्भ, मय्यास्तम्भ, अवबाहुक, कटिशूल, पार्श्वशूल, कान का दर्द, गृध्रसी, किसी अवयव का सूखना, एकाङ्ग घात, अर्धाङ्ग घात तथा सर्वाङ्ग घात में लाभप्रद। इसका उपयोग अभ्यंग के लिये, पीने के लिये, वस्ति देने में, नस्य में तथा कान में छोड़ने में किया जा सकता है।

यह सिद्ध वात रोग नाशक तैल है । नारायण तैल नामक कई पाठ मिलते हैं—नारायण तैल, मध्यम नारायण तैल तथा महा नारायण तैल । इनमें से एक पाठ शाङ्गिधर के अनुसार यहा उद्धृत किया गया है । उत्तम कार्य करना है ।

विष्णु तैल—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बला, शतावरी, एरण्डमूल, बड़ी कटकारी मूल, छोटी कंटकारी मूल, करज की जड़, अतिवला, या गोरखमुण्डी की जड़, कटसरैया की जड़ प्रत्येक ४-४ तोले । सबको लेकर पत्थर पर पीसकर कल्क बनावे । फिर इस कल्क को मूर्च्छित तिल तैल ६४ तोले, बकरी या गाय का दूध २५६ तोले, जल १०२४ तोले यथाविधि मद् आच पर पाक करे । पाक होने पर छान कर शीशियो में भर कर रख ले । फिर यथावश्यक पीने के लिये, नस्य के लिये और मालिश के लिये उपयोग करे ।

विष्णु तैल नाम से भी स्वल्प, मध्यम और बृहत् नाम से तीन योग भेषज्य-रत्नावली में संगृहीत हैं । यहा पर स्वल्प विष्णु तैल का एक योग उद्धृत किया गया है । जो बहुविध रोगों में लाभप्रद होता है । विष्णु तैल, नारायण तैल, माप तैल या प्रसारणी तैल, सभी बड़े सिद्ध एवं परम वीर्यवान् योग है जो अनेक गुणों से युक्त होते हैं और बहुत प्रकार के रोगों में लाभ करते हैं ।^१ क्लेब्य, हृच्छूल, पार्श्वशूल, अर्धाविभेदक, पाण्डु, मूत्र के रोग, क्षीणता, वार्द्धक्य दोष, क्षयरोग, आत्रवृद्धि, गण्डमाला, वातरक्त, अर्दित तथा वध्या स्त्रियों के पुत्र जनन में भी समर्थ होते हैं । पशुओं की चिकित्सा में भी इन का व्यवहार आशु लाभप्रद होता है ।

वात रोगाधिकार में पठित तैलों के दो प्रकार पाये जाते हैं । एक वे जिनमें निविप और बृहण एवं पौष्टिक औषधियाँ पड़ी हैं । दूसरे वे जिनमें सविप द्रव्य धतूर, वत्सनाभ आदि पड़े हैं । प्रथम वर्ग में अब तक के वर्णित सभी तैलों का ग्रहण हो जाता है । दूसरे वर्ग के कुछ तैलों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है । प्रथम वर्ग के तैलों का पीने, वस्ति तथा बाह्य मालिश आदि में सब तरह का उपयोग किया जा सकता है, परन्तु दूसरे वर्ग के तैलों का,

१. अस्य तैलस्य पक्वस्य शृणु वीर्यमत परम् । अश्वाना वातभग्नाना कुंजराणा तथैव च ॥ अपुमाञ्च नर पीत्वा निश्चयेन पुमान् भवेत् । हृच्छूले, पार्श्वशूले च तथैवार्द्धविभेदके ॥ कामलापाण्डुरोगेषु कामलास्वश्मरीषु च । क्षीणेन्द्रिया नरा ये च जरया जर्जरीकृता ॥ येषा चैव क्षयो व्याधिरन्त्रवृद्धिश्च दासणा । अर्दित गलगण्डं च वातशोणितमेव च ॥ स्त्रियो या न प्रसूयन्ते तामाञ्चैव प्रदापयेत् ॥ भै र

जिनका नीचे उल्लेख किया जा रहा है, केवल बाह्य प्रयोग अर्थात् मालिश में ही व्यवहार करना चाहिये । प्रथम की अपेक्षा द्वितीय वर्ग वाले तेल अधिक पीडाशामक होते हैं ।

विपगर्भ तैल—ताजे असगंध के मूल, कनेर की जड़, आक की जड़, धतूरे का पचाङ्ग, सभालू की पत्ती और कायफर की छाल प्रत्येक ६४-६४ तोले लेकर अठगुने जल में क्वाथ करे, जब चौथाई जल बाकी रहे तो कपड़े से छान कर उसमें तिलका तेल १२८ तोले, बछनाग, धतूरे के बीज, धुमची, अफीम, खुरासानी अजवायन, कलिहारी की जड़, कूठ और वच प्रत्येक ४-४ तोला कल्क मिला कर मद आँच पर पकावे । तैल तैयार होने पर कपड़े से छान कर कुछ गर्म हालत में ही कपूर का चूर्ण एक छटाक मिलाकर शीशी में भर कर रख ले ।

उपयोग—सधियात तथा शरीर के किसी भी अवयव में दर्द होता हो इसकी हल्के हाथ से मालिश करे । पीडा को शान्त करने के लिये यह उत्तम योग है ।

पंचगुण तैल—हरें, बहेरा, आँवला प्रत्येक ५ तोला, नीम और सभालू की पत्ती प्रत्येक १५-१५ तोले । जौकुट कर अठगुने जल में पकावे । जब चौथाई शेष रहे तो उसमें तिल का तेल ८० तोला, मोम, गंधविरोजा, शिलारस, राल और गुग्गुलु प्रत्येक ४ तोले डाल कर मदी आच पर पकावे । पकते-पकते जब खर पाक होकर तेल अलग हो जाय तब कपड़े से छान कर थोड़ी गर्म हालत में उसमें कपूर का मोटा चूर्ण ५ तोला चम्मच से चलाकर मिला दे । ठंडा होने पर उसमें तारपीन का तेल, यूकैलिप्टस का तेल, काजुपुट का तेल २॥-२॥ तोला मिला कर शीशी में भर ले ।

उपयोग—सभी प्रकार की वेदना, सधिशोध, गूल में वेदनाशामक होता है । कान के दर्द में कान में छोड़ने पर वेदना का शमन करता है । व्रणोपचार में व्यवहृत होकर व्रण का शोधन एवं रोपण करता है । ('सि. यो. सग्रह' से)

मिश्रक तैल—सरसो का तेल, तिल का तेल, नारियल का तेल, एरण्ड तेल, महुवे का तेल, कुसुम्भ (वरें) के तेलों का मिश्रण

छागलाद्य घृत—चर्म-खुर-लोम-सीग-आन्त्र से रहित बकरे का मांस २॥ सेर, दशमूल की समभाग में ली गई औषधियाँ ढाई सेर और जल २५ सेर ४८ तोले अग्नि पर चटाकर चतुर्थांश शेष रखे । कल्क द्रव्य—मधुयष्टी, जीवनीय गण की औषधियाँ पृथक्-पृथक् लेकर कुल मिलाकर ३२ तोले । फिर दुग्ध १२८ तोले । शतावरी का स्वरस १२८ तोले । गोघृत २ प्रस्थ (१२८ तोले) । मद आँच पर पाक करे । वात रोगों में इसका सेवन लाभप्रद होता है । यह परम वृहण

और धातुओं का पोषण करने वाला योग है। और एक बड़ा योग वृहत् छागलाघ घृत के नाम से भी पाया जाता है जो बहुत से रोगों में लाभप्रद होता है।

वस्ति—अनेक प्रकार के वस्ति के योग पाये जाते हैं जिनमें एक सामान्य योग का उल्लेख यहाँ पर किया जा रहा है। जिसका प्रयोग सर्वत्र वात रोगों में किया जा सकता है। दशमूल का कपाय ३३, नारायण तैल २ तोला, सेंधा नमक ३ भागे, मधु ६ माघे। पहले मधु और सेंधा नमक को खरल में मिलाकर एक कर ले, फिर उसमें नारायण तैल २ तोला मिलाकर एक करे पश्चात् दशमूल क्वाथ मिलाकर मय ले। अब एक एनीमा पाट में भर कर खर की नली और नोजल के सहारे गुदामार्ग से धीरे धीरे चढ़ावे। जब सब द्रव चढ़ जाय किंचित् शेष रहे तो चढ़ाना बंद करे।

इस वस्ति का प्रयोग प्रातःकाल में रोगी के शौच (पाखाने) से लौटने के बाद करना चाहिये। यदि पाखाना साफ न हुआ रहे तो केवल आस्थापन (नमक जल की वस्ति) देकर कोष्ठगुद्धि कर ले और दूसरे दिन इस वस्ति का प्रयोग करे। इस वस्ति का लगातार या एकान्तर क्रम से बत्तीस तक प्रयोग किया जा सकता है। पक्षवध तथा अर्वाङ्गवात के रोगियों में लाभप्रद होता है। इस वस्ति के लगाने के अनन्तर थोड़ी देर तक कम से कम एक घंटे तक रोगी को लेटा रखना चाहिये। उसको तत्काल शौच के लिये नहीं जाने देना चाहिये। इस अवधि में औषधि के गुण का शोषण होता है।

१ **पङ्कधरण योग**—चित्रकमूल, इन्द्रजौ, पाठा, कुटकी, अतीस, बड़ी हरड़ ममभाग में बनाया चूर्ण। मात्रा २ माघा। उष्ण जल से। सभी प्रकार के वात रोगों में विशेषतः आमोशयगत वात रोग में लाभप्रद है।

महारास्नादि कपाय—रास्ना २ भाग, बलामूल, एरण्डमूल, देवदारु, कचूर, वच, अडूसे का मूल, सोठ, हर्रे, चाव (चव्य), नागरमोथा, पुनर्नवा मूल, गुडूची, विधारा, मोया के बीज, गोखरू, असगंध, अतीस, अमस्ताग का गूदा, गतावर, छोटी पीपल, कटसरैया, घनिया, छोटी-बड़ी दोनों कटेरी, चोप-चीनी, गोरखमुण्डी, बेल के मूल, नागबला (गंगेरन)। इन सबों को जोकट करके रख ले। इसमें से एक तोला लेकर १६ तोले जल में खोलावे, ४ तोला शेष रहे तो एरण्ड तैल आधा तोला मिलाकर पी ले।

इस योग का उपयोग सभी प्रकार के वात रोगों में विशेषतः पक्षवध, गृध्रसी और संधिवात में या दीर्घ काल स्थित वात व्याधि में हितकर होता है।

रसोन पिराड—अच्छे रसदार लहसुन लेकर उसके ऊपर के छिलके भली प्रकार पृथक् कर के (यदि एक कली या पोती का लहसुन मिले तो अधिक उत्तम

है) उसको रात भर दही के मट्ठे में भिगो कर रख दे । इससे लहसुन को दुर्गंध चली जाती है । सुबह में छाछ से निकाल कर धोकर उसको खरल में महीन पीसे । इस पीसे हुए लहसुन का ६ तोला और उसमें घृतभर्जित हींग, जीरा सफेद, जीरा स्याह, अजवायन, सेंधा नमक, काला नमक, सोठ, काली मिर्च और छोटी पिप्पली का चूर्ण प्रत्येक १ माशे मिलावे और थोड़ा तिल का तेल मिलाकर एकग्र घोटकर शीशी में भर लेवे ।

उपयोग—अग्निबल एवं रोगों का बल, ऋतु तथा दूष्यादि का बल देख कर १ से २ तोला तक देकर ऊपर से एरण्डमूल का क्वाथ पिलावे । एकाग्र घात, अर्दित, अपतत्रक, अपस्मार, वातज उन्माद, गृध्रसी तथा विविध प्रकार की वातिक वेदनावों का शामक होता है ।

त्रयोदशाङ्ग गुग्गुलु—वव्वूल की छाल या गोद, असगंध, हाऊवेर गिलोय का सत्त्व या गिलोय, शतावर कद, गोखरू, विधारे का शुद्ध बीज, रास्ना, सौफ, कपूर, अजवायन और सोठ बराबर बराबर लेकर महीन कूट पीस कर कपड़े से छान लेवे । इस चूर्ण को खरल में डालकर चूर्ण के बराबर शुद्ध गुग्गुलु और गुग्गुलु का आधा गोघृत मिलाकर अच्छी तरह से घोटकर २ माशे की गोलियाँ बना ले और सुखाकर शीशी में भर ले । इस त्रयोदशाङ्ग गुग्गुलु का २, गोली दिन में तीन बार सुरा, यूप, मद्य, मंदोष्ण जल, दुग्ध या माँसरस इनमें से किसी एक के अनुपान से प्रतिदिन सेवन करें* । बहुत प्रकार के स्तंभ, शूल तथा घातजन्य वात रोगों में लाभप्रद होता है ।

रसायन योगराज गुग्गुलु—सोठ, पीपरा मूल, पीपल, चव्य, चीता का मूल, भुनी हींग, अजगोदा, सरसो, स्याह जीरा, सफेद जीरा, रेणुका, इन्द्रजी, पाठा, वायविडङ्ग, गजपीपल, कुटकी, अतीस, भारङ्गी, वच, मूर्वा, इन बीस औषधियों का चूर्ण ३-३ माशे मिलित ५ तोले । त्रिफला का चूर्ण दुगुना १० तोले, सबके बराबर (१५ तोले) गुग्गुलु लेवे । वग भस्म, चाँदी भस्म, सीसा भस्म, फौलाद भस्म (लौह भस्म), अभ्र भस्म, मण्डूर भस्म और रससिन्दूर प्रत्येक ४-४ तोले ले । घी डाल कर पहले गुग्गुलु को कूट ले फिर उसमें अन्यान्य चूर्ण तथा भस्मादि को देकर खूब कूटे । जब एक दिल होकर गोली बाँधने लायक हो जाय तो १-१ माशे की गोली बना ले ।

मात्रा तथा उपयोग—१-१ गोली दिन में दो बार महारास्नादि कषाय से सम्पूर्ण वात रोगों में तथा अनुपानभेद से विविध रोगों में लाभप्रद होता है । मंजिष्ठादि कषाय के साथ मेदो रोग और कुष्ठ में तथा निम्ब और निर्गुण्डी के क्वाथ से व्रण में भी लाभप्रद रहता है ।

गुग्गुलु एक रसायन औषधि है। वात रोगों के दूर करने में यह एक अत्यर्थ या रामबाण औषधि के रूप में प्रख्यात है। इसके कई योग विभिन्न संग्रह ग्रंथों में पाये जाते हैं। जैसे योगराज गुग्गुलु, द्वात्रिंशक गुग्गुलु, त्रयोदशगुग्गुलु, पञ्चजीति गुग्गुलु, गुग्गुलु वटी आदि। योगराज गुग्गुलु के पुनः कई योग मिलते हैं। जैसे योगराज गुग्गुलु, रसायन योगराज गुग्गुलु, वृहत् योगराज गुग्गुलु आदि।

यहाँ पर एक लाभप्रद और उत्तम योगराज गुग्गुलु का योग चिकित्सासार संग्रह नामक ग्रंथ में उद्धृत किया जा रहा है।

योगराज गुग्गुलु—चित्रक, पिप्पलीमूल, अजवायन, काला जीरा, मफेद जीरा, वायविडङ्ग, अजमोश, देवदारु, चव्य, बड़ी इलायची, मेधा नमक, कूठ, रास्ता, गोखरू, धनिया, त्रिफला, नागरमोथा, त्रिकटु, दालचीनी, खम, यवचार, तालीशपत्र, लवङ्ग, सज्जीखार, जटी (कचूर), दन्ती, गिलोय, हाऊवेर, अश्वगंध, गतावरी प्रत्येक का चूर्ण १ तोला, लौह भस्म ४ तोला। इन द्रव्यों के कपडछन सहित चूर्ण और कुल चूर्ण के बराबर शुद्ध गुग्गुलु लेकर धी मिलाकर खूब कूटकर एक कर ले और १ मासे की गोलियाँ बना कर वृत्तस्निग्ध भाण्ड में रख ले।

उपयोग—आमवात, वात रोग, दुष्ट व्रण, गुल्म, अर्श आदि पचन संस्थान के रोग तथा विविध प्रकार की वातिक वेदनाओं का शामक है। मात्रा एवं अनुपान ऊपर वाले योग के सदृश है।

गुग्गुलु वटी—शुद्ध गुग्गुलु, नीम के गिरी की मज्जा, घी में भुनी हींग, सोठ तथा लहसुन सम भाग में लेकर पूर्वोक्त राति में कूटकर वटी बनाना चाहिये।

एरण्ड पाक—मुषव एरण्डबीज को उसके ऊपर का छिल्का निकाल कर मज्जा को ६४ तोले लेकर ६ मेर ६ छटाक २ तोले गाय के दूध में अग्नि पर चढ़ाकर पाक करे। फिर उसी में घृत ३२ तोले और खाण्ड १२८ तोले मिलावे। पाक करता रहे जब गाढ़ा होने लगे तो उसमें निम्न द्रव्यों का चूर्ण एक-एक तोले की मात्रा में मिलाकर पकावे—त्रिकटु, चतुर्जाति, त्रिपिर्ण, चित्रक, चव्य, माँफ, सोया, बिब, जीरा मफेद और स्याह, हल्दी, दाहहल्दी, अश्वगंधा, बला, पाठा, हाऊवेर, मरिच, पुष्करमूत्र, गोखरू, आरग्वध, देवदारु, खोरे का बीज, ककड़ी का बीज, गतावरी।

पुराने आमवात, कटिजृठ, गृध्रसी, आनाह, ऊरुस्तम्भ आदि में लाभप्रद। मात्रा २ तोला। गाय के दूध के साथ।

अमृत भल्लानक—अच्छे पके और पृष्ठ भिलावे को एक दिन गोमूत्र में और तीन दिन गाय के दूध में भिगो कर रखे। फिर कपडछन त्रिवे द्वा एट्ट के

चूर्ण में ममल कर जल से धोकर सुगा लें। इस प्रकार शुद्ध किये भिलावे को राने के काम में लावे। २५६ तोले भल्लातक के फलों को सरोते से काट कर दो टुकड़े करके १०२४ तोले जल में पकावे। जब बवाथ चतुर्थांश बाकी रहे तो कपड़े में छान कर उसमें २५६ तोले गाय का दूध ६४, तोले गाय का घी मिलाकर मंदी आंच पर पतावे। पीछे नीचे उतार कर उसमें मिश्री कपडछान चूर्ण ६४ तोले मिलाकर मघनी से मय कर काच के बरतन में भर कर रख लें।

मात्रा—सवेरे-शाम १-१ तोले दैकर ऊपर से गाय का धारोष्ण दूध या गर्म करके ठंडा दूध पीने के लिये दे।

उपयोग—सब प्रकार के कफ और वात के पुराने रोग में विशेषतः कुष्ठ रोग, अर्श, पद्माघात और कमर के दर्द में इसका उपयोग करे। यह योग अच्छा पोष्टिक और वीर्यवर्धक एवं वाजीकरण है। इसके सेवन करने वालों को गर्म जल में स्नान, धूप में बैठना, अग्नि के पास बैठना निषिद्ध है। इसके सेवन-काल शरीर में खाज उठे तो सेवन बंद करा देना चाहिये। और नारियल का तेल तथा कपूर शरीर में लगाना चाहिये।

नारसिंह चूर्ण—शतावरी ६४ तोले, गोखरू ६४ तोले, वाराहीकद ८० तोले, गिलोय १०० तोले, शुद्ध भिलावे १२८ तोले, चित्रक के मूल की छाल ४० तोले, धोई हुई तिल ६४ तोले, दालचीनी, इलायची और तेजपात प्रत्येक ११-११ तोले, मिश्री २८० तोले, विदारीकद ६४ तोले। सब का महीन चूर्ण बनाकर एकत्र करके शीशी में भर लें।

मात्रा तथा अनुपान—३ मासे से ६ मासे। गाय का घी १ तो० और शहद १॥ तोले के साथ मिलाकर। सवेरे-शाम दे। ऊपर से गाय का दूध पिला दे।

पंचामृत लौह गुग्गुलु—शुद्ध पाण्ड, शुद्ध गंधक, रौप्य भस्म, अभ्रक भस्म और सुवर्ण माक्षिक भस्म प्रत्येक ४-४ तोले, लौह भस्म ८ तोले और साफ क्रिया शुद्ध गुग्गुलु २८ तोले। प्रथम पारद और गंधक की कज्जली करे। पीछे लोहे की खरल में लोहे की मूसली से थोड़े कड़वे तेल का छोटा देकर कूटे। जब गुग्गुलु नर्म हो जावे तब उसमें कज्जली तथा अन्य भस्म मिलाकर छै घंटा तक मर्दन करके ४-४ रत्ती की गोळियाँ बना ले।

मात्रा एवं अनुपान—१-१ गोली सवेरे गाम दूध से। अथवा चोपचीनी, असगंध, एरण्डमूल, उशवा, सोठ और कड़वे सुरजान के समभाग में लेकर बनाये काढ़े से।

इसके सेवन से अववाहुक, गृध्रसी, कमर और घुटने के दर्द में तथा अन्य प्रकार के वातिक वेदना में लाभ पहुँचता है। इसका उपयोग रक्तद्रुष्टि तथा कुष्ठ रोग में भी हितकर होता है।

वातगजाङ्गुश—रससिन्दूर, लोह भस्म, स्वर्णमाक्षिक भस्म, शुद्ध गंधक, शुद्ध हरताल, हरीतकी, काकडासींगी, शुद्ध वत्सनाम विप, सोठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, अरणी मूल की छाल और शुद्ध सुहागा प्रत्येक १ तोला। सब को एकत्र महीन पीस कर गोरखमुण्डी के व्वाथ या स्वरस की एक भावना फिर निर्गुण्डीपत्र स्वरस या कपाय की एक भावना देकर २-२ रत्ती भर की बटिकायें बना ले। यह वातगजाङ्गुश रस है। इस रस की १-२ बटी दिन में दो या तीन बार मजीठ के व्वाथ एवं पिप्पली चूर्ण के साथ देने से बहुविध वात रोगों में लाभप्रद रहता है। गृध्रसी, अववाहुक तथा पक्षाघात में लाभप्रद। बृहत् वातगजाङ्गुश नाम से भी एक पृथक् योग का पाठ मिलता है जिसमें सुवर्ण भस्म भी पड़ा हुआ है।

बृहद्वातचिन्तामणि रस—स्वर्ण भस्म १ भाग, रोप्य भस्म २ भाग, अन्नक भस्म २ भाग, मोती की पिष्टि ३ भाग, प्रवाल पिष्टि ३ भाग, काकोली का चूर्ण १ भाग, अम्वर १ भाग, चंद्रोदय ७ भाग ले। प्रथम चंद्रोदय को महीन पीस कर उसमें काकोली का चूर्ण, अम्वर डाल कर उसे कुमारी के स्वरस में भावित करे। जब वे अच्छी तरह से मिल जायें तब अन्य भस्मों मिलाकर पुनः घृतकुमारी के रस में मर्दन करके १-१ रत्ती की गोलियाँ बना ले और छाया में सुखाकर शीशी में भर कर रख ले।

मात्रा—१ गोली दिन में दो या तीन बार।

गुण और उपयोग—यह रस हृदय एवं मस्तिष्क के लिये परम बलकारक, वात और कफ का नाशक तथा वाजीकरण है। सब प्रकार के वात रोगों में मस्तिष्क तथा नाडी संस्थान के रोगों में इसका प्रयोग करे। आक्षेपक और अपतत्रक में मास्यादि व्वाथ के साथ दे। सन्निपात ज्वर में प्रलाप, मोह, नाडी की क्षीणता, हाथ-पाँव का कांपना, पसीना अधिक होकर शरीर का ठंडा पडना आदि लक्षण हो तो इसके प्रयोग से लाभ होता है। इसमें अनुपान में अदरक का रस १० बूंद और मधु २० बूंद देना चाहिये।

रसरंज—रससिन्दूर ४ तोला, अन्नक भस्म १ तोला, सुवर्ण भस्म, मोती की पिष्टि, प्रवाल भस्म $\frac{1}{2}$ आधा-आधा $\frac{1}{2}$ तोला, लोह भस्म, रोप्य भस्म, वंग भस्म, अनगध, लौंग, जायपत्री, जायफल और काकोली प्रत्येक चौथाई-चौथाई तोला ले। प्रथम रससिन्दूर को महीन पीस कर उसमें अन्य भस्मों तथा वनीर्पाधियों का

कपडछान चूर्ण मिलाकर एक दिन घृतकुमारी के रस में दूसरे दिन काकमाची के रस में मर्दन करके २-२ रत्ती की गोलियाँ बना ले ।

मात्रा-अनुपान—१-१ गोली सुबह-शाम दूध और मिश्री के साथ । इससे पक्षाघात, अर्धित, आक्षेप, कान में आवाज आना, चक्कर आना तथा उच्च रक्त निपीडजन्य उपद्रव शान्त होते हैं ।

वातकुलान्तक रस तथा कृष्ण चतुर्मुख रस—का उल्लेख अन्य अधि-कारो में हो चुका है । इनका उपयोग भी वात रोगों में लाभप्रद होता है ।

योगेन्द्र रस—रससिन्दूर २ तोला, स्वर्ण भस्म, कान्त लौह भस्म, अन्नक भस्म, मुक्ता भस्म, वंग भस्म प्रत्येक १-१ तोला । सबको एकत्र महीन खरल करके घृतकुमारी के रस में भावित करके गोला जैसा बनाकर एरण्डपत्र से आवेष्टित करके तीन दिनों तक घान की राशि में दबाकर पाक के लिये रख देना चाहिये । चौथे दिन निकाल कर पुन घृतकुमारी के रस में भावित करके १-१ रत्ती की गोली बना ले ।

गुण तथा उपयोग—यह रस योगवाही है—अनुपान भेद से या विविध योगों के साथ संयुक्त होकर सर्व रोगों को दूर करता है । मूर्च्छा-उन्माद-अपतंत्रक तथा वात रोगों में विशेष हितकर होता है ।

त्रैलोक्य चिन्तामणि रस

आदि कई योग वातरोगाधिकार में पठित ऐसे हैं जिसमें हीरक भस्म पड़ा हुआ है, जैसे वातनाशन रस, वातकंटक रस तथा त्रैलोक्य चिन्तामणि रस (रसेन्द्रसार संग्रह के योग) । इसमें त्रैलोक्य चिन्तामणि रस का योग यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—असाध्य वात रोगों में इसका प्रयोग करके देखना चाहिये—हीरा भस्म, सुवर्ण भस्म, रोप्य भस्म, तीक्ष्ण लौह भस्म प्रत्येक का एक भाग । चारों के बराबर अन्नक भस्म, अन्नक के बराबर रस सिन्दूर एकत्र करे । फौलाद या मजबूत पत्थर के बने खरल में इन द्रव्यों को खरल करके घी कुमारी के रस में भावित करके १ रत्ती के प्रमाण की गोलियाँ बना ले । सैकड़ों योगों से भी नष्ट नहीं होने वाली बीमारी को दूर करने के लिये श्रियोग ने इसको बनाया है । ऐसी प्रशंसा ग्रन्थों में मिलती है ।

कई बार वात रोगों में प्रायः फिरंग और उपदश के परिणाम स्वरूप होने वाले वात रोगों में सखिया युक्त योगों के देने की आवश्यकता होती है । इसके लिये कई योग बड़े उत्तम हैं—जैसे —मल्ल सिन्दूर, नवग्रह रस, सुवर्ण समीर पन्नग रस आदि । इनके योग तथा निर्माण की विधि नीचे दी जा रही है ।

नवग्रह रस—(नवग्रही शिरोराज भूषण रस)—शुद्ध किया हुआ सखिया विष, गुद्ध हिंगुल, गुद्ध गधक, गुद्ध पारद, गुद्ध खडिया मिट्टी (दुग्ध पापाण), गुद्ध नीला तूतिया, गुद्ध हरताल, शुद्ध मन गिला और गुद्ध खर्पर । इन सब द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर बारीक चूर्ण करके करैला और नीम के रस में ६-६ घण्टे तक मर्दन करके, ६-७ कपडमिट्टी किये हुए आतशी शीशी में भरकर मुख वन्द कर वालुका यंत्र में चढाकर एक दिन तक अग्नि जलाकर पाक करे । फिर स्वाङ्ग-शीतल होने पर निकाल कर प्रयोग करे । मात्रा १ चावल भर मक्खन के साथ दिन में दो बार । समस्त वात रोगों में लाभप्रद ।

मल्ल सिन्दूर—गुद्ध पारद ९ भाग, गुद्ध रसकर्पूर ९ भाग, शुद्ध गधक ५॥ भाग, गुद्ध सखिया ४॥ भाग । प्रथम पारद-गधक को कज्जली करे । पीछे उसमें रस कर्पूर और सखिया मिलाकर घृतकुमारी के रस में दो दिनों तक मर्दन करे । ७ कपडमिट्टी की हुई शीशी में भर कर दो दिनों तक वालुका यंत्र में पकावे । स्वाङ्ग-शीतल होने पर शीशी को तोड़कर शीशी के गले में जमे हुए मल्ल सिन्दूर को निकाल कर तीन दिनों तक खरल में पीस कर खूब महीन होने पर शीशी में भर कर रख ले । मात्रा आधा से १ रत्ती दो बार सितोपलादि चूर्ण १॥ मागा और शहद के साथ । उपयोग—सब प्रकार के वात एवं कफ के रोग में विशेषतः अर्दित तथा पक्षाघात में तथा तमक श्वास रोग में अच्छा लाभ होता है^१ ।

विशिष्ट क्रियाक्रम—जैसा कि ऊपर में बताया जा चुका है कि वात व्याधि का अध्याय एक बहुत बड़ा अध्याय है, इसमें अनेक रोगों का समावेश हो जाता है । ऊपर में बताये गये सामान्य योगों का यथारोग, देश, काल, वल, ऋतु, आदि का विचार करते हुए उपयोग करने से सर्वत्र पर्याप्त लाभ होता है । अब संक्षेप में प्रमुख रोगों का पृथक्-पृथक् क्रिया-क्रमों का आख्यान किया जा रहा है ।

कोष्ठगत वात—मे धारो का प्रयोग उत्तम रहता है । इसके लिये क्षार-गज २ माशा तथा हिङ्वादि वटी का मिश्रित प्रयोग उत्तम रहता है । हिङ्वादि वटी १ एवं धारराज २ माशा एक में मिलाकर । एक छटाँक जल में बनाये चीनी के गर्वत में छोटकर नीबू का रस मिला कर पीना । यदि दोष आमाशय तक ही सीमित हो तो वमन कराना, लंघन और उदर का स्वेदन सर्वत्र लाभप्रद

१ रसरसविधू नवाक्षी मार्घेपुचतु सुवर्णवलिमल्ली ।

कूप्या द्रव्यं विपचेत् पवनकफौ हन्ति मल्लसिन्दूरः ॥ सिद्धभेषजमणिमाला ।

होता है। पद्धरण योग को ३ मासे की मात्रा में गर्म जल से पीने के लिये देना उत्तम रहता है।

यदि दोष पक्वाशय में हो तो स्निग्ध विरेचन (एरण्ड तैल ४-५ तोले गर्म दूध में मिलाकर) देना, गोधन के वस्ति (Enema Saline or Soap) देना और घृत मिश्रित सैधव लवण या भास्कर लवण या हिंगवष्टक चूर्ण का प्रयोग उत्तम रहता है। इस अवस्था में देने के लिये एक स्नेह लवण का उल्लेख चक्रदत्त ने किया है—जिसमें सेंहुड का दूध, पंच-लवण, वैगन और चतु स्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा) इन सब को सम मात्रा में लेकर एक हण्डिका में रख कर उसका मुख कपडमिट्टी से बन्द करके जंगली कड़ों में अन्तर्धूम जला लेना चाहिये। मात्रा २ माशा। अनुपान् उष्णोदक।^१

सक्षेप में उदर का स्वेदन (Hot water Bag, Turpentine stoup), आस्थापन वस्ति (Soap or Salte Enema), स्निग्ध रेचन (Castoril), उपवास, उष्ण जल तथा वातानुलोमन के लिये क्षार, लवण, हिंगु, त्रिकटु युक्त योगो का उपयोग हितकर होता है।

त्वक्-मांस-रक्त एव सिरागत वात में—स्नेहन, स्वेदन, बधन, मर्दन, उपनाह, रक्त-मोक्षण तथा दाह कर्म के द्वारा उपचार करे।

मांस-मेद-अस्थि-मज्जागत वात में—विरेचन, निरुहण, शमन के योग वाह्य तथा आभ्यन्तर स्नेह से उपचार करे।

स्नायुसंध्यास्थिगत वात—स्नेह, स्वेद, उपनाह आदि करना चाहिये।

शुक्रगत वायु में—शुक्र-दोष की चिकित्सा करनी चाहिये।

स्रोतोगत वात में—स्नेहन, स्वेदन, उपनाह, मर्दन, आलेप आदि करे।

पक्ष-त्रिक और मन्या वात में—बधन, मर्दन एव नस्य से उपचार करे।

वस्तिगत वात में—वस्ति का विशोधन करे।

अष्टीला तथा प्रत्यष्टीला में—गुल्म और अतर्विद्रधि की चिकित्सा करनी चाहिये।

१ विशेषतस्तु कोष्ठस्थे वाते क्षारं पिबेन्नर ।

आमाशयगते वाते छर्दिताय यथाक्रमम् ॥

रूक्ष. स्वेदो लघनञ्च कर्तव्यं बह्निदोषनम् ।

पक्वाशयगते वाते हित स्नेहविरेचनम् ॥

वस्तय शोधनीया या. प्राशाश्च लवणोत्तराः । (यो र)

हिंवादि चूर्णं वा हिंगूग्रगन्धादि चूर्णं—हींग, वच, काला नमक, मोठ, जांग, हरीतकी, चीते का मूल और कूठ । इन द्रव्यों का कपड़यान चूर्ण ।

त्रिद्वारिष्ट—वायविउज्ज, पिप्पलीमूल, पाठा, आँवला, खीरे का बीज, कुटज की छाल, इन्द्रजी, राम्ना, भारङ्गी प्रत्येक २० तोले । सोलह गुने जल में खोलाकर चतुर्यागावधिष्ट क्वाथ बनावे । इस क्वाथ के ठंडा हो जाने पर सममें चातकी पुष्प १ सेर, त्रिकटु ३२ तोले, त्रिजात ८ तोले, फलिनी, हेम (सुवर्णक्षीरी), तोय (मुग्धवाला), लोघ्र प्रत्येक का ४-४ तोले डाल कर घृतलिप्त भाण्ड में एक माम तक सघान करे । पश्चात् निकाल कर प्रयोग करे । यह योग प्रत्यष्टीला, विद्रधि और भगंदर में लाभप्रद होता है^१ ।

आध्मान तथा प्रत्याध्मान में—आध्मान की अवस्था में रोगी का लंघन, हाथ का तलवा आग पर गरम करके उससे उदर का सेंकना, फलवर्त्ति (गुदानार्ग में (Suppository) का लगाना, शोधन वस्ति (Enema) तथा दीपन एवं पाचन योगों का उपयोग हितकर होता है ।

प्रत्याध्मान में वमन-लंघन तथा दीपन औषधियों का उपयोग करे । वृहत्पंच मूल का कपाय त्रिवृत् चूर्ण के साथ सेवन कराने । दोनों अवस्थाओं लाभप्रद^२ ।

उदर पर दारुपट्क को पानी में पीसकर या काजी में पीस कर गुनगुना गर्म करके लेप करना भी उत्तम होता है ।

दारुपट्क लेप—देवदारु, वच, कूठ, सौंफ (सोया), हिंगू, और सेंधानमक, डमका पीसकर उदर पर गर्म लेप आध्मान की अवस्था में सद्यो लाभप्रद होता है ।

तूनी तथा प्रतितूनी—पिप्पल्यादि गण की औषधियों का चूर्ण अथवा घृत २ ताले में घृतभोजित हींग १ माशा तथा यवक्षार १ माशा मिलाकर गर्म पानी से सेवन करना हितकर होता^३ है ।

पिप्पल्यादि गण (मुश्रुत)—पिप्पली वच, चव्य, चीता, अतीस, सोठ, जोरा, पाठा, हींग, रेणुका बीज, मुलैठी, सरसो, कुटकी, त्रिकटु, इंद्रयव, अज-

१. प्रत्यष्टीलाष्ठीलिकयोगुल्मेऽभ्यन्तरविद्रधौ ।

क्रिया हिंवादि चूर्णं च जस्यतेऽत्र विनोपत. ॥ (यो. २,)

२. आध्माने लंघनं पाणितापञ्च फलवर्त्तय. ।

दीपन पाचनञ्चैव वस्तिष्वाप्यत्र शोधनः ॥

प्रत्याध्माने तु वमनं लंघनं दीपनन्तथा ॥

३. पिप्पल्यादिरजस्तूनी-प्रतितून्यो. मुखाम्बुना ।

पित्रेहा स्नेहलवण सघृत चारहिगु वा ॥

मोद, त्रुटि, अजवायन, भारङ्गी और वायविडङ्ग । यह गण कफ रोगों को नष्ट करता है ।

गृध्रसी-प्रतिपेध—रोगी को पूर्ण विश्राम देना आवश्यक होता है—चलना-फिरना छोड़कर लकड़ी चीकी पर सोना उत्तम रहता है । गृध्रसी में विबध प्राय पाया जाता है । अस्तु, एरण्ड तैल का विरेचन बीच-बीच में देते रहना चाहिये । इसके लिये कई योग ग्रंथों में पाये जाते हैं—जैसे १. दशमूल के द्रव्य पृथक्-पृथक्, बला, रास्ना, गुडूची या सोठ का काढा बनाकर उसमें एरण्ड तैल छोटी चम्मच से १-२ चम्मच मिलाकर एक मास तक पिलाना । यह गृध्रसी रोग, खज्ज तथा पंगुत्व में भी लाभप्रद रहता है । २ बृहत् पचमूल के द्रव्यों को २ तोला लेकर ३२ तोले जल में खोलाकर ८ तोला शेष रहने पर उसमें काली निशोथ का चूर्ण २ मा० घृत ३ तोला और एरण्ड तैल १ तोला मिलाकर सेवन करना । ३. गोमूत्र १ छटाँक, पिप्पली चूर्ण २-४ रत्ती और एरण्ड तैल १ तोला मिलाकर लेना । ४ एरण्ड तैल में पकाये गये वैगन का सेवन । ५ एरण्ड के बीज की गूदी (गिरी) १ तोला से २ तोला तक लेकर दूध में पकाकर खीर जैसे बना कर थोड़ा शुठी का चूण मिलाकर सेवन । ६ एक मास तक प्रतिदिन १ तोले भर एरण्ड तैल को गोमूत्र एक छटाँक में मिलाकर सेवन ।^१ रास्नासप्तक कषाय का एरण्ड तैल १ तोले मिश्रित करके नित्य सेवन गृध्रसी में लाभप्रद होता है ।

अन्य घृत तैलादि के प्रयोग—वात रोगाधिकार में बतलाये तैल-अथवा घृत अथवा केवल तिल तैल और घृत को आदी के स्वरस और बिजौरे नोवू का रस, चुक्र (चूक) और पुराने गुडकी यथावश्यक मिलाकर सेवन करने से, कटि, ऊरु, पीठ, त्रिक के शूल, स्तम्भ, गृध्रसी रोग तथा उदावर्त्त रोग में लाभ होता है ।

गुग्गुलु के योग—त्रयोदशाङ्ग गुग्गुलु, योगराज गुग्गुलु अथवा गुग्गुलु बटी का १ माशे की मात्रा ८ दिन में तीन बार गर्म जल से दे । एक योग रास्ना गुग्गुलु का यहाँ दिया जा रहा है—रास्ना १ पल (४ तोले), शुद्ध गुग्गुलु १० तोले । इन दोनों द्रव्यों को थोड़ा घी मिला कर कूटकर एक करके एक-एक माशा की गोलीयाँ बनाये । मात्रा १-३ गोली । उष्णोदक से ।

१. तैलमेरण्डज वापि गोमूत्रेण पिबेन्नर. ।

मासमेक प्रयोगोऽयं गृध्रस्यूरुगदापहम् ॥

तैलाभ्यंग—पंचगुण या विपगर्भ तैल को हलके हाथ से मालिश भी वेदना का शमक होता है ।

वस्ति-प्रयोग—गृध्रसी से पीडित रोगी का प्रथम पाचनादि उपायो से अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिये । पश्चात् अग्नि के दीप्त हो जाने पर नारायण तैल, विष्णु तैल या माप तैल का वस्ति (गुदा मार्ग में देना) प्रारम्भ करना चाहिये । यदि रोगी को अग्नि दीप्त न हो, अथवा ऊर्ध्वगोधन न हुआ हो तो स्नेह वस्ति का प्रयोग निरर्थक होता है । इस की उपमा राख में डाली गई धूत की आहुति में शास्त्रकारों ने दी है । अविशुद्ध शरीर के व्यक्ति में प्रयुक्त स्नेह मन्दाग्नि के कारण पचता नहीं अपितु वैसा का वैसा ही मल के साथ निकल आता है ।

शेफालिका प्रयोग—निर्गुण्टी की पत्ती का काढा पीने से चिरकालीन गृध्रमी रोग में उत्तम लाभ होता है ।^१ महानिम्ब का कपाय या महानिम्ब के कल्क का लेप गृध्रमी को नष्ट करता है । गृध्रसी में शिरावेध भी लाभप्रद होता है ।

वातकंटक—रक्तावसेचन करके अशुद्ध रक्त का निर्हरण करना चाहिये । एण्ड तैल का प्रयोग कुछ दिनों तक कराना चाहिए । छोटी मूर्ई को रक्त तप्त करके उससे दाह करना चाहिये ।

पादहर्ष—(Numbness of the Feet)—अग्नि में प्रदीप्त किये हुए इंट के टुकड़ों को काजी में बुझाबुझा कर उसके वाष्प से पैर का स्वेदन करना हितकर होता है ।

झिन्झिनीवात—(झुनझुनी मालूम होना)—दशमूल के काढ़े में हींग (घी में भुनी) २ २० और पुष्करमूल ४ रत्ती मिलाकर पीने से लाभ होता है ।^२

पाददाह—दाहाधिकार में चिकित्सा देखें ।

खल्ली—(हाथ-पैर की टांग या टटाना)—कूठ-मैधानमक-चुक्र (चुक्र) को पानी में पीस कर सर्प तैल में मिलाकर किंचित् गर्म करके लेप करना ।^३

१ शेफालिकादलव्याधो मृद्वग्निपरिसाधितः ।

दुवारं गृध्रसीरोग पीतमात्रं नियच्छति ॥

२. कुष्ठमैन्धवयो कल्कश्चुक्रतैलमर्मान्वतः ।

सुखोष्णो मर्दने योज्यः खल्लिशूलनिवारणः ॥

३ दशमूलस्य निर्यहो हिङ्गुपुष्करसंयुतः ।

अमयेत् परिपीतस्तु वातं झिन्झिनिसंजितम् ॥

विश्वाची तथा अववाहुक—दशमूल-बला एवं माप का क्वाथ बनाकर तिल और घी मिलाकर पीना तथा इसी का नस्य लेना लाभ करता है। माप (उडद) और लहसुन से सिद्ध तैल का अभ्यंग बाहु पर करना भी लाभप्रद रहता है ।^१

बला के मूल किंवा नीम की पत्ती का स्वरस अथवा केवाच का स्वरस या क्वाथ बनाकर पीने या नस्य लेने से वज्र के समान बाहु हो जाता है ।

त्रिकशूल, कटिशूल और संधिवात में—गृध्रसी के समान सम्पूर्ण उपचार करना चाहिये । स्वेदन के लिए बालुका को पोटली में बाँधकर गरम करके अथवा करीपाग्नि (कण्डेकी आग बनाकर) उससे सँकना चाहिये । सर्वत्र कैशोर गुग्गुलु १ माशा और गोक्षुरादि गुग्गुलु १ माशा मिलाकर गर्म जल से दिन में दो बार देना रात्रि में सोते वक्त वैश्वानर चूर्ण ६ माशा देना और पंचगुण तैल की मालिश कराना लाभप्रद रहता है । इन रोगों में कोष्ठशुद्धि का विशेष ध्यान रखना चाहिये । इस के लिए बीच-बीच में आस्थापन वस्ति देकर कोष्ठ शुद्ध कर लेना चाहिये । इसके अतिरिक्त त्रिफला और गुडूची का कषाय अनुपान रूप में देकर अथवा दूध में १ छटाँक एरण्ड तैल देकर सप्ताह में एक बार रेचन करा देना चाहिये ।^२ दूध के साथ वृद्धदारुक वीज का सेवन भी लाभप्रद रहता है ।

पक्षाघात-प्रतिषेध—अगघात या अगवध चार प्रकार का हो सकता है । जैसे १ एकाङ्गघात (Monoplagia), पक्षवध या अर्धाङ्गघात (Hemiplegia) ३ सर्वाङ्गघात (Diplagia) ४ अधराङ्गघात (Paraplagia) इसमें खञ्जत्व और पङ्गुत्व दो आता है । इन चारों प्रकारों में चिकित्सा प्रायः एक सदृश ही होती है ।^३

१. मापतैलरसोनाम्या बाह्वोश्च परिवर्त्तनात् ।

दशाघ्निमापक्वाथेन जयेद् वँधोऽववाहुकम् ॥

दशमूलीबलामाषक्वाथं तैलाज्यमिश्रितम् ।

साय भुक्त्वा चरेन्नस्यं विश्वाच्या चाववाहुके ॥ (भै र)

२ गुग्गुलु क्रोष्टुशीर्पञ्च गुडूचीत्रिफलाम्भसा ।

क्षीरेणैरण्डतैलं वा पिवेद्वा वृद्धदारुकम् ॥

३ हृत्वैकं मास्तः पञ्च दक्षिण वाममेव वा । कुर्याच्चिष्टानिवृत्तिं हि रजं वाक्स्तम्भमेव च ॥ गृहीत्वार्धं शरीरस्य सिरास्नायू विशोष्य च । पादं संकोचयत्येकं हस्तं वा तोदशूलकृत् ॥ एकाङ्गरोगं त विद्यात् सर्वाङ्गं सर्वदेहजम् ॥

अंगघात की अवस्थायें कठिनाई से साध्य होती हैं । ये रोग दीर्घ काल तक चलते रहते हैं । आचार्य चरक ने लिखा है “संधिच्युति (नधि का वार-वार च्युत होना), हनुस्तंभ (Lock jaw), अंगमकोच, कुब्जता, अर्दित (Facial paralyeis), पक्षाघात, अगशोष, पंगुत्व, गुल्फ-संधि का वात (आमवात की एक अवस्थाविशेष), स्तंभ, आन्ध्रवात, मज्जा एवं अस्थि के रोग ये रोग बड़ी गहराई के वातुवो के विकार से पैदा होते हैं—इनको बड़े प्रयत्नपूर्वक चिकित्सा की जाय तो सफलता मिलती और नहीं भी मिलती है । रोगी यदि बलवान् और रोग नया या निरूपद्रव हो तब तो सम्यक् उपचार से लाभ की आशा रहती है अन्यथा सफलता की आशा कम रहती है ।”^१

इन कठिन रोगों की चिकित्सा की दुर्बलता और चिकित्सा की अल्प प्रति क्रिया की दृष्टि से ही यह उक्त वात रोगों में चलती है कि—‘ये वातव्याधियाँ असाध्य हैं दैव-कृपा से अच्छी हो जाती हैं, इन का वैद्यक (चिकित्सा) अनुमान से की जाती है और प्रतिष्ठा करके नहीं’ रोग के अच्छा होने की गारंटी पहले से ही नहीं दी जा सकती है ।^२

पक्षध्व में क्रियाक्रम (Upper Motor Neurone ty peof Paralysis)—पक्षाघात के रोगी में तीक्ष्ण विरेचन तथा वस्ति क्रिया द्वारा शोधन कराने से रोग जान्त होता है ।^३

पक्षाघात के रोगियों में पौष्टिक आहार देना चाहिये । इस के लिये-बला की जड़ का क्वाथ या बृहत् पंचमूल या दशमूल के द्रव्यों के क्वाथ के साथ बकरे का सिर (Brain), जलीय प्राणियों (मत्स्यादि) के मांस अथवा आनूपदेश के प्राणियों के मांस अथवा मासभक्षक प्राणियों के मांस पकाकर उस को छान कर रस निकाल कर देना चाहिये । इस मांसरस को घृत से छोक कर दही, काजी और निकटु चूर्ण (मोठ, मिर्च, पिप्पली) तथा नमक मिलाकर स्वादिष्ट

१. सन्धिच्युतिर्हनुस्तम्भः कुच्चन कुब्जतादितः । पक्षाघातोऽङ्गशोष पङ्गुत्व खुट्वातता ॥ स्तम्भनं चाट्यवातश्च रोगा मज्जास्थिगाश्च ये । एते स्थानस्य गाम्भीर्याद् यत्नात्सिद्ध्यन्ति वा न वा । नवान् बलवतस्त्वन्तान् साधयेन्निरूपद्रवान् ॥ (च. चि. २८)

२. वातरोगस्त्वसाध्योऽयं दैवयोगेन सिद्ध्यति ।

अनुमानेन कुर्वन्ति वैद्यक न प्रतिज्ञया ॥ (यो. २)

३. पक्षाघातसमाक्रान्तं सुतीक्ष्णश्च विरेचतैः ।

शोधयेद्वस्तिभिरचापि व्याधिरेवं प्रशाम्यति ॥ (भा. प्र.)

करके खाने के लिये देना चाहिये । इस मासरस के साथ ही उसको गेहूँ की रोटी, उडद की दाल आदि पथ्य देना चाहिये ।

लहसुन का प्रयोग भी रोगी को पर्याप्त मात्रा में कराना चाहिये । लहसुन की चटनी बनाकर भोजन के साथ देना या लहसुन को मसाले के रूप में देना अथवा लहसुन को तेल में पकाकर उस तेल और लहसुन को दाल में छोड़ कर खाने के लिये देना चाहिये । ऊपर रसोन पिण्ड नामक योग का आख्यान हो चुका है । उस रसोन पिण्ड का प्रयोग प्रचुरता से किया जा सकता है । सामान्यतया सभी वात रोगों में तैल के साथ लहसुन का प्रयोग करने को शास्त्र में बतलाया गया है, परन्तु पक्षवध, अर्दित आदि महारोगों में तो बड़ा ही उत्तम लाभ दिखलाता है । लहसुन के बाद दूसरा स्थान प्याज का वात रोगों में आता है । इसका भी प्रचुर प्रयोग करना चाहिये ।^१

लहसुन यदि एक गाँठ वाला मिले तो अधिक उत्तम रहता है । इस का उच्च रक्तनिपीड (Hyper tension) पर अच्छा प्रभाव दिखलाई पड़ता है । इस प्रकार लहसुन वात रोगों में एक महौषधि के रूप में प्रख्यात है ।

माषवलादि पाचन--उडद, बला की जड़, शुद्ध केवाच के बीज, रोहिण घास, रासन, असगध, एरण्ड की छाल । इन्हें सम प्रमाण में लेकर २ तोले को, ३२ तोले जल में खोलाकर जब ८ तोला शेष रहे तब उतार कर छान ले । उसमें १ रत्ती भर घृत में भुनी हींग का चूर्ण तथा १ माशा भर पिसा हुआ सेधानमक मिलाकर मन्दोष्ण नासिका द्वारा सात दिनों तक पीने से पक्षाघात, मन्यास्तम्भ, कान की पीड़ा और कर्णनाद तथा दुर्जय अर्दितवात अवश्य ही नष्ट हो जाता है ।^२ यदि नाक से रोगी न पी सकता हो तो इस क्वाथ का थोड़ा नाक से नस्य देना और शेष मुख से पीने को देना चाहिये ।

१ रसोनान्तर वायो पलाण्डु परमौषधम् ।

साक्षादिव स्थितं यत्र शकाधिपतिजीवितम् ॥ (अ. सं)

नान्यानि मान्यानि रसौषधानि परन्तु कान्ते ! न रसोनकल्कात् ।

तैलेन युक्तो ह्यपर प्रयोगो महासमीरे विपमज्वरे च ॥

(वै. जी.)

२ माषवलाशूकशिम्बीकतृणरास्नाश्वगंधोरूकाणाम् ।

क्वाथो नस्यनिपीतो रामठलवणान्वित कोष्णः ॥

अपहरति पक्षाघात मन्यास्तम्भ सकर्णनादरुजम् ।

दुर्जयमर्दितवातं सप्ताहाज्जयति चावश्यम् ॥ (वृन्द)

महारास्नादि कषाय—का पीना तथा नस्य लेना भी उत्तम होता है ।

महामंजिष्ठादि कषाय—(वातरक्ताधिकार योगरत्नाकर) जिसका योग बागे वातरक्ताधिकार में उद्धृत किया जा रहा है—उसका प्रयोग भी पक्षवध की अवस्था में उत्तम पाया गया है । अस्तु, महारास्नादि अथवा महामंजिष्ठादि कषायों में से किसी एक का प्रयोग प्रातः काल में एक मात्रा अवश्य करना चाहिये ।

सामान्यतया पक्षवध में—अधो लिखित प्रकार से व्यवस्था करना उत्तम रहता है । रसरज २-२ रत्ती, प्रातः—साय दूध और मिश्री से लेकर ऊपर से महारास्नादि या महामंजिष्ठादि कषाय प्रातः एक मात्रा दे । सायकाल में मापवलादि कषाय या केवल एरण्डमूल के कषाय के साथ दे । भोजन के बाद दोनों वक्त रसोन पिण्ड के अभाव में लसुनादि बटी एक-दो गोली दे ।

जिह्वास्तंभ-अर्धाङ्ग-घात में—जिह्वा और गले की पेशियों के घात के कारण रोगी के बोलने में कठिनाई होती है । उनमें जिह्वास्तंभ, मूकता, स्वरावनाद प्रभृति लक्षण पाये जाते हैं—इस अवस्था में कल्याण चूर्ण या कल्याणावलेह का प्रयोग करना चाहिये । प्रयोग-विधि यह है—कल्याण चूर्ण १-२ माशा लेकर उसको छागलाघ घृत में मिलाकर जीभ के ऊपर उंगली के सहारे हल्के हाथों से रगड़ना चाहिये । कुछ वैद्य-परम्पराओं में सिद्धार्थ तैल का उपयोग भी इस कार्य में होता है ।

कल्याण चूर्ण या कल्याणावलेह—हल्दी, नच, कूठ, पिप्पली, शुण्ठी, अजवायन, जीरा, और मधुयष्टी का सम भाग में बनाया चूर्ण ।^१

रसरज के स्थान पर बृहद्वातचिन्तामणि रस, वातकुलान्तक रस, योगेन्द्र रस, कृष्ण चतुर्मुख रस, वातविध्वंसन रस अथवा हीरक भस्म युक्त योग जैसे वातनाशन रस या त्रैलोक्य चिन्तामणि रस में से किसी एक का प्रयोग भी किया जाता है । रक्तनिषेध के व्यक्ति-क्रम से उत्पन्न अंगघातों में इन से उत्तम लाभ होता है ।

यदि पक्षवध के रोगी में फिरंग रोग का वृत्त मिले अथवा रक्त-परीक्षा से फिरंग दोष की उपस्थिति मिले (कानकसौटी अस्त्यात्मक हो) तो सखिया तथा

१. तच्चूर्णं सपिपाऽलोड्य प्रत्यहं भक्षयेन्नरः ।

एकविंशतिरात्रेण नरः श्रुतिवरो भवेत् ॥

मेघदुन्दुभिनिर्घोषो मत्तकोकिलनि स्वनः ।

जटगद्गदमूर्त्तत्वं लेहः कल्याणको जयेत् ॥

हरताल योग अधिक उपयुक्त होते हैं—ऐसी अवस्था में मल्लसिन्दूर, सुवर्ण समीर पन्नग, वातगजादूरा तथा नवग्रह रस में से किसी एक का प्रयोग करना चाहिये । अनुपान रूप में निर्गुण्डीपत्र स्वरस, मक्खन, मलाई या घी और मिश्री को देना उत्तम रहता है । शेष विधान उसी प्रकार रखना होता है ।

पक्षवध के रोगियो में विबंध प्रायः पाया जाता है—एतदर्थ नित्य कौष्ठशुद्धि होती रहे इस बात का ध्यान रखना चाहिये । नित्य थोड़ी मात्रा में एरण्ड तैल, त्रिफला या पद्धरण चूर्ण, वैश्वानर चूर्ण ६ माशे रात में सोते वक्त गर्म जल से देना चाहिये ।

गुग्गुलु के योगो में रसायन योगराज गुग्गुलु या त्रयोदशाङ्ग गुग्गुलु का उपयोग उत्तम रहता है । घी के साथ इन गुग्गुलु योगो को खाकर ऊपर से गर्म जल या दूध का सेवन उत्तम होता है । चूर्णों में प्रधान औषधि के रूप में नारसिंह चूर्ण का उपयोग श्रेष्ठ रहता है । इसमें तिल और भल्लातक पडा हुआ है । कई रोगियो में भल्लातक का उत्तम फल वात रोगो में विशेषतः पक्षघात में दिखलाई पड़ता है । भल्लातक के योगो में अमृत भल्लातक नामक पाक भी इसी उद्देश्य से व्यवहृत होता है और उत्तम फल वात रोगो में दिखलाता है ।

अभ्यंग—वात रोगाधिकार में विविध वृंहण तैलो का अभ्यंग पक्षवध के रोगियो में कराना चाहिये । विष्णु तैल, नारायण तैल, माप तैल अथवा महामाप तैल का अभ्यंग पूरे शरीर में विशेष करके विकृत आधे अंग पर करना चाहिये । अभ्यंग के अनन्तर उन तैलो को नाक के छिद्रो से ३-४ बूंद का छोड़ना, कान में डालना भी उत्तम होता है । महाराज प्रसारणी तैल बड़ा मूल्यवान होता है । इसलिये इसका अल्प मात्रा में सीमित एवं अधिक विकृत स्थान पर मालिश करना चाहिये । हाथ की हथेली को आग पर गर्म करके उस पर थोड़ा सा लेकर धीरे-धीरे मलकर त्वचा में सुखाना चाहिये । शेष अंग पर किसी अन्य तैल की मालिश करनी चाहिये ।

यदि रोगी नितान्त अर्थहीन हो तो उसके लिये लहसुन से पकाकर तैल बना लेना चाहिये । लहसुन ५१, सरसो के तैल १ सेर, पानी २ सेर । अग्नि पर चढ़ाकर पाक कर लें । इस तैल में कपूर मिलाकर मालिश करनी चाहिये । अथवा केवल शुद्ध सरसो के तैल में कपूर मिलाकर अभ्यंग करना चाहिये । अभ्यंग क्रिया से निष्क्रिय व्यायाम होता रहता है और पेशियो का अपचय (Degeneration) नहीं होने पाता है । अस्तु, अभ्यंग वात रोगो में आवश्यक और उपयोगी उपक्रम के रूप में माना जाता है ।

वस्ति का वर्णन ऊपर में हो चुका है । वस्ति देने के दो उद्देश्य होते हैं—
कोष्ठ की शुद्धि तथा वस्ति के वीर्य तैल आदि का गोपण करना । कोष्ठशुद्धि
की दृष्टि से तो साधारण 'साबुन के पानी' या 'नमक के जल' की वस्ति देना
पर्याप्त होता है, परन्तु जहाँ पर विशेष गुणाधान के विचार से प्रयोग करना हो
वहाँ पर उपर्युक्त वस्ति का उपयोग करना चाहिये । इस अवस्था में (पक्षवध में)
निगोप लाभ होता है ।

स्वेदस्नान—वात्त्वण योग से विकृत शरीरार्ध का उपनाह, लेप, प्रदेह आदि भी
उत्तम रहता है ।

अर्दित—यह कई बार स्वतंत्र और आम तौर से अर्धाङ्गघात के साथ-साथ
पाया जाता है । अर्धाङ्गघात के साथ होने पर उपर्युक्त उपचार से दोनों
अवस्थाओं में लाभ पहुँचता है । तथापि अर्दित रोग में शास्त्र में कुछ विशिष्ट
क्रियाक्रमों का उल्लेख पाया जाता है । इन क्रियाओं को स्वतंत्र रूप में पाये जाने
वाले अर्दित रोग में बरतना चाहिये । अर्दित में नस्य कर्म (नावन), सिर पर
तैलों का अभ्यंग या शिरोवस्ति, तर्पण (वृंहण आहार), नाड़ी स्वेद, आनूप
मांनों में उपनाह, म्लिग्ध स्वेद आदि उपचार करना चाहिये । आगे बतलाये जाने
वाले धनुर्वीर या अपतानक में भी इन क्रियाक्रमों को करना हितकर होता है ।^१

भेषज—१ रसोन कल्क पत्थर पर पिसे हुए ६ मासे लहसुन के कल्क
१ तोला मक्खन के साथ मिलाकर खाने से अर्दित रोग नष्ट होता है ।

२. अर्दित रोग में मक्खन के साथ उड़द का बड़े खाकर तदनन्तर दुग्ध या
मानरस के साथ भोजन करना उत्तम रहता है । अपराह्ण में दशमूल का ववाथ
भी लाभप्रद रहता है ।

३ इसके अतिरिक्त वात रोग के अन्य उपक्रमों को यथापूर्व रखना
चाहिये । स्वेद, अभ्यंग, शिरोवस्ति, स्नेहपान, नस्य (वातघ्न तैल या घृतो से)
तथा भोजन के पश्चात् घृत का पीना लाभप्रद रहता है ।^२

१. स्वेदाभ्यंग-शिरोवस्तिपाननस्यपरायणः ।

अर्दितं च जयेत् सर्पिः पिवेदौत्तरभक्तिकम् ॥

अर्दिते नवनीतेन खादेद् मापेण्डरी नरः ।

औरमांसरसैर्भुक्त्वा दशमूलैरसं पिवेत् ॥ (भे र)

२. उपाचरेवभिन्नव खज पद्ममथापि वा ।

शिरेकास्यापनस्वेदगुग्गुलुस्नेह-वस्तिभिः ॥

क्रमः कलायन्त्रजस्य खजपद्मवोरिव स्मृतः ।

विशेषात्स्नेहनं कार्यं कर्म ह्यत्र विचक्षणैः ॥ (भा. प्र.)

मन्या तथा ग्रीवा स्नंभ (Spasm of Sternocleidomastoid)—अभ्यंग, स्वेद, नस्य, पंचमूल अथवा दशमूल का क्वाथे पिलाना चाहिये । वरगंध, गोमूत्र और कड़वे तैल का लेप ग्रीवा और मन्या में करने से लाभ होता है । नस्य में 'अमोनियम कार्ब' का सुँघाना या कट्फल चूर्ण का नस्य देना भी अच्छा लाभ करता है ।

कलाय खंज—

खंज तथा पङ्गुत्व (Paralysis of Spinalorigin)—इस अवस्था में भी चिकित्सा पञ्च-वध के सदृश ही करनी पड़ती है । कलायखंज, खंज तथा पङ्गुत्व में समान उपचार की ही व्यवस्था करनी पड़ती है^१ कलाय खंज में विशेषतः स्नेहन एवं धातुओं के वर्धन का उपचार करना चाहिये । पञ्जाय की दाल खाने का वृत्त, रुक्ष अन्न सेवन का वृत्त, हीन पोषण का वृत्त इन रोगों में प्रायः पाया जाता है । एतदर्थ उपचार काल में सर्वप्रथम इन उत्पादक कारणों का वर्जन करना चाहिये । रोगी के लिये भोजन में अधिकतर उड़द की दाल का सेवन करने को बतलाना चाहिये । घृत, वसा, मज्जा, तैल, दूध, मानरस, जीवित्कि युक्त आहारों की व्यवस्था रोगी के लिये करनी चाहिये ।

नये खंज रोग तथा पङ्गुत्व का उपचार करने से लाभ भी शीघ्रता से होता है । पुराने रोगों में चिकित्सा का प्रभाव कम दिखलाई पड़ता है । उपचार में त्रिरेचन (नित्यकोष्ठ शुद्धि), स्थापन वस्ति, स्निग्ध वस्ति, विविध प्रकार के वृंहण तैलों का विशेष करें माप तैल का अभ्यंग, स्वेद, लहसुन और तैल का उपयोग तथा गुग्गुलु के उपयोग से लाभ होता है । गुग्गुलु के योगों में त्रयोदशाङ्गु गुग्गुलु, रसायन योगराज गुग्गुलु अथवा गुग्गुलु वटी के प्रयोग, एरण्डमूल के कषाय, उष्ण और या उष्ण जल के साथ उत्तम रहता है ।

इन रोगों (अर्धराङ्गधात, खंज एवं पंगु) में शुद्ध कुपीलु का उपयोग उत्तम रहता है । शुद्ध कुपीलु २ रत्ती से ४ रत्ती तक घृत और चीनी के साथ अथवा किसी गुग्गुलु के योग के साथ मिलाकर दिया जा सकता है । निम्नलिखित योग बड़ा लाभप्रद पाया गया है—

खञ्जनकारि रस—शुद्ध कुचले का कपडछन चूर्ण, मल्ल सिन्दूर, रोप्य

१. अदित नावन मूर्ध्नि तैल तर्पणमेव च ।

नाडीस्वेदोपनाहाश्चाप्यानूपपिशितैर्हिता ।

स्वेदनं स्नेहसंयुक्तम् ॥

(च. चि. २८)

भस्म समभाग में ले, पहले मल्ल सिन्दूर का खरल में वारीक पीत ले, पीछे उसमें धन्य द्रव मिलाकर, अर्जुन वृक्ष की छाल की ७ भावनार्थें देकर १ रत्ती की गोली बना ले । मात्रा १-२ गोली दिन में दो बार दूध या दशमूल कपाय के साथ ।
वर्धित, खंजवात, पङ्कत्व तथा पुराने पक्षाघात में इससे अच्छा लाभ होता है ।
(मि. यो. स)

मकरमुष्टि योग—मकरध्वज, स्वर्ण सिन्दूर या रस सिन्दूर में से किसी एक का १ रत्ती, कान्त लोह भस्म १ रत्ती तथा शुद्ध कुपीलु १ रत्ती मिलाकर एक या दो मात्रा कर के । मलाई, मक्खन या घृत और चीनी से देने भी अच्छा लाभ पहुँचता है ।

आक्षेपक - अपतानक-अन्तरायाम-वहिरायाम-दण्डापतानक-हनु-ग्रह-हनुस्तंभ—वातरोगाध्याय में पठित ये रोग बड़े भयंकर एवं घातक होते हैं । आधुनिक ग्रंथों में पठित धनुर्वीत (Tetanus) की विविध अवस्थाओं में पाये जाते हैं । धनुर्वीत का रोग यदि गर्भपात के अनन्तर हुआ हो या अति मात्रा में रोगी में रक्तज्वर हो गया हो अथवा अभिघातज (Traumatic origin) का हो तो असाध्य हो जाता है । रोग साध्य होते हैं । ऐसा प्राचीन ग्रन्थकारों का अभिमत है । धनुर्वीत के रोगी की मुखाकृति बदल जाय अर्थात् वह विवर्ण या त्रिकटाक्ष युक्त हो जावे, अंग शिथिल हो जावे और स्वेद अधिक मात्रा में निकलने लगे तो वह एक दारुण रोग है । दैवकृपा से अच्छा होता है । यदि रोगी की आयु रोग रहे और निम्नलिखित अरिष्ट लक्षण उपस्थित न हो तो उपचार करे—१. नेत्रों से जलस्राव, २ कम्प ३. चारपाई पकड़ लेना ४. तारों (Pupil) का विस्तृत होना । जब तक कि अपतानक के रोगी में ये लक्षण न पैदा हो गये हों उपचार करे ।^१

अरिष्ट लक्षण और उपद्रवों से युक्त रोगी, प्रायः असाध्य होते हैं । अस्तु, उपर्युक्त चिह्नों के मिलने के पूर्व ही शीघ्रता से उपचार प्रारम्भ करे ।

१ गर्भपात-निमित्तश्च शोणितातिस्रवाच्च यः ।

अभिघातनिमित्तश्च न सिद्ध्यत्यपतानकः ॥

विवर्णवद्वदन सस्ताङ्गो नष्टचेतनः ।

प्रतिस्वयंश्च धनुस्तम्भी दशरात्रं न जीवति ॥ (यो. र.)

अथापतानकेनार्त्तमस्रुताक्षमवेपनम् ।

अस्रद्वापातिनं चैव त्वरया नमुपाचरेत् ॥ (भा. प्र.)

उपचार—इन रोगों में अग्नि सदृश उपचार करना चाहिये । पीने के लिये अष्टमांशावधि जल (जल को एक मिट्टी के नये वर्तन में खीलाकर जब उसका आठवाँ भाग शेष रहे) देना चाहिये । दशमूल का कपाय पिप्पली चूर्ण अथवा अश्वत्थ की छाल का कपाय अधिक मात्रा में पिलाना चाहिये । वात रोगों में पठित वातघ्न तैलों का अम्यग या तैल को द्रोणी में भरकर अवगाहन कराना चाहिये । भैस का दूध मिश्री मिलाकर पर्याप्त मात्रा में रोगी को देना चाहिये ।

रोगी को स्नेहन, नारायण तैलादि को पिलाकर, मालिश करके करना चाहिये । स्वेदन की प्रचुर व्यवस्था करनी चाहिये । इसके लिये भैस के गोबर के दाने गोहरे की अग्नि बना कर उससे धूपन एवं स्वेदन करना चाहिये । यदि व्रण रोगी के शरीर पर उपस्थित हो तो व्रण का शोधन-रोपण प्रभृति उपचार करना चाहिये । स्वेदन के लिये अन्य प्रकार के वातनाशक स्वेदनो का जैसे शाल्वण स्वेद का भी उपयोग किया जा सकता है ।

धनुर्वात के रोगी में प्रथम लक्षण हनुस्तम्भ पैदा हो जाता है, जिसके कारण मुग्नसे क्षीपधि का नेवन भी कठिन होता है । प्रयत्नपूर्वक वृहत् वातचिन्तामणि रस अथवा वातकुलान्तक या कस्तूरी भैरव रस का प्रयोग अदरक, तुलसी के रस, घी और मरिच के अनुपान से करना चाहिये । सभी उद्भव के आक्षेपो में कस्तूरी के योगिको का विशेषकर वातकुलान्तक रस का उपयोग उत्तम लाभ दिलाता है । यदि एक, एक गोली की मात्रा से लाभ न दिखाई पड़े, तो दो, दो या चार, चार गोली एक साथ दे ।

वस्ति प्रयोग—दशमूल, बला, रास्ता, अश्वगंध प्रभृति वातनाशक द्रव्यों के बवाथ, वातघ्न तैल, सेंधानमक और मधुमिश्रित योग का गुदा से वस्ति देना लाभप्रद रहता है । अन्य वातनाशक योगों का प्रयोग किया जा सकता है ।^१

आवृत वात प्रतिषेध—वायु अपने कारणों से स्वतन्त्र या विकृत होकर रोग उत्पन्न करता है और कभी कभी वृद्ध कफ और पित्त आदि से आवृत होकर भी विकारों को उत्पन्न करता है । आचार्य चरक ने कहा है कि “वायु का घातुक्षय के कारण कुपित होना तथा मार्ग के आवरण से कुपित होना पाया जाता है ।” इस आवरण के बहुत से भेद हो सकते हैं । सब मिलाकर

१. बाह्यायामेऽन्तरायामे विधेयाऽदितवत् क्रिया । (भा. प्र)

बाह्यायामान्तरायामपाश्वशूलकटिग्रहान् ॥

खल्लीदण्डापतानी च स्नेहस्वेदपुटैर्जयेत् ।

अपतानव्रणायामौ स्नेहैर्गणचिकित्सितौ ॥

४२ प्रकार के हो सकते हैं। इनमें कुछ महत्त्व के भेदों का उल्लेख किया जा रहा है। वात के पित्त से आवृत होने पर उन उन स्थानों में दाह-उष्णता आदि तथा मूर्च्छा जैसे सार्वदेहिक लक्षण उत्पन्न होते हैं। कफ से आवृत होने पर शीतता, अरुचि, देहस्य तथा मलबद्धता आदि लक्षण पैदा होते हैं। अपान वायु के पित्तावृत होने पर गुदा, वस्ति, गर्भाशय, योनि तथा मेढू में विकार पैदा होता है। गर्भाशय या वस्ति से रक्त की प्रवृत्ति पित्तावृत अपान का उदाहरण है। समान वायु भोजन का परिपाक कराता है, किन्तु कफ से आवृत हो जाने पर वह उक्त कार्य नहीं कर पाता जिसमें आम दोष की उत्पत्ति होकर विविध वात रोग पैदा होते हैं।

इनके आवरणों के उपचार में सर्वप्रथम आवरण को दूर करना चाहिये फिर आवरण के दूर हो जाने पर विशुद्ध वायु की चिकित्सा करनी चाहिये। जैसे पित्तावृत में प्रथम शीत क्रिया करके पश्चात् उष्णोपचार करे। अथवा मिश्रित क्रिया—शीत और उष्ण दोनों क्रियाओं को करे। जीवनीय घृत, धन्वमास (जागल मासरस), क्षीरवस्ति, विरेचन, लघु पचमूल-शृत क्षीर। कफावृत में जी, मूंग की दाल, जागल पशु-पक्षी का मांसरस, स्वेद, तीक्ष्ण द्रव्यों का प्रयोग, निरुहण, वमन और विरेचन, पुराण घृत, तिल और सर्पप का उपयोग उत्तम है। शोणितावृत वात में वात-शोणितनाशक उपचार करना चाहिये। इसी प्रकार अन्यान्य आवृत वातों की चिकित्सा में प्रथम आवरण दोष जो प्रायः बलवान् होता है उसे वमन, विरेचन, वस्ति अथवा शमन क्रिया के द्वारा दूर करके पश्चात् शुद्ध वात रोग की चिकित्सा वातरोगाधिकार में पठित योगों से करनी चाहिये।

आवृत वात चिकित्सा—का प्रकरण अधिक शास्त्रीय है, व्यावहारिक पक्ष उसका अधिक महत्त्व का नहीं है। अस्तु, संक्षेप में इसका वर्णन किया गया है—बृहत् क्रियाक्रम के लिये चरक चिकित्सा स्थान वातरोगाध्याय देखना उत्तम होगा।

कम्पवात या वेपथुवात प्रतिपेध

कम्पवात या वेपथुवात प्रतिपेध—कम्प के सर्वाङ्गकम्प (सब अंगों का कम्पन) अथवा एकाङ्गकम्प (एक अंग का कापना) दो प्रकार पाये जाते हैं। कुछ विचारकों के मत से हाथ-पैर या सब अंगों के कम्प को कम्पवात और शिरःकम्प को वेपथु वात कहा जाता है।

इस में घात रोग की सामान्य चिकित्सा करते हुए तैलो के अम्यग, गुग्गुलु, चूर्ण तथा रसायन औषधियों के सेवन से लाभ होता है। तीन वर्ष से अधिक पुराना कम्पवात प्रायः असाध्य हो जाता है। कम्पवात में एक विशेष तैल 'विजय भैरव' तैल का वर्णन पाया जाता है—इस तैल को १-२ बूँद की मात्रा से पीना तथा मालिश करना कम्पवात में लाभप्रद होता है। कम्पवात अनेक कारणों से पैदा हो सकता है—इस को अंग्रेजी में Shaking Palsy या Tremors कहते हैं।

विजय-भैरव तैल—द्रव्य तथा निर्माण विधि—पारद, गंधक, मन-शिला, हरताल सब को शुद्ध करके सम भाग में लेकर चूर्ण बना लेना चाहिये। फिर इसे काजी के साथ पीस कर इस कल्क से क्षीम वस्त्र (रेशमी कपड़े) पर लेप चढ़ा देना चाहिये। फिर इस वस्त्र को मोड़ कर एक वर्ति जैसे बना लेना चाहिये। फिर उसको घृत से लिप्त करके ऊपरी सिरे पर दियासलाई से जला देना चाहिये। उस के जलने पर तैल टपकने लगता है—उसके नीचे एक पात्र रख कर जलित होने वाले तैल का संग्रह कर लेना चाहिये। इस विधि से स्रुत तैल का थोड़ी मात्रा में लेकर उसको किसी अन्य तैल में मिला कर मालिश करनी चाहिये। मुख से सेवन के लिये भी १-२ बूँद दूध में डाल कर पिलाना चाहिये। कम्पवात रोग में उत्तम लाभ दिखलाता है। यह तैल अन्य वात रोगों में भी लाभ दिखलाता है—विशेषतः कम्पवात में फलप्रद होता है।^१



१. सर्वाङ्गकम्प शिरसो वायुर्वैपयुसञ्जकः।

नाशयेत् स्रुततैलं तद्वातरोगानशेषतः।

बाहुकम्पं शिरःकम्पं जघाकम्पं ततः परम् ॥

एकाङ्गं च तथा घातं हन्ति लेपान्न संशयः।

रोगशान्त्यै सदा नस्यं तैलं विजयंभैरवम् ॥ (यो र.)

छत्तीसवाँ अध्याय

वातरक्त प्रतिषेध

प्रावेशिक—हाथी, ऊँट या घोड़े की अधिक सवारी (आधुनिक युग की साइकिल प्रभृति सवारियाँ जिसमें पैर को नीचे लटकाये रहना पड़ता हो या खड़ा रहने का व्यवसाय भी कारण रूप में ग्रहण किया जा सकता है) अधिक करने वाले व्यक्तियों में तथा विदाही अन्न का अधिक सेवन करने वाले व्यक्तियों में (विदाही अन्न, लवण, कटु, अम्ल, चार. स्निग्ध, उष्ण भोजन, अधिक मात्रा में रम्सेदार या सूखा अन्न, जल के जीवों के मांस, आनूपदेश के मांस, तिल, मूली, कुलथो, उड़द, शाक, ड्यूरस, गुड़, दधि, काजी, गुक्त, सुरा, आसव, अव्यशन, विरोधी अन्नपान, दिवास्वप्न, रात्रिजागरण प्रभृति अभिष्यन्दी आहार-विहार) रक्त में विदाह पैदा होता है और वह पैरों में संचित होने लगता है फिर अपने कारणों से वायु कुपित होकर इस दूषित रक्त से मिलकर वातरक्त नामक रोग पैदा करता है । कहने का तात्पर्य यह है कि इस रोग में वात की प्रधानता होती है नाथ ही साथ रक्त भी दूषित रहता है । अस्तु, वातरक्त कहलाता है । इसके उपचार में वात की चिकित्सा के साथ ही साथ रक्तदुष्टि का भी उपचार करना अपेक्षित रहता है ।

यह रोग अधिकतर सुकुमार प्रकृति के धनी व्यक्तियों में पाया जाता है । अस्तु, इसे आट्यवात (धनी रोगियों का वात रोग) भी कहते हैं । इस रोग में अधिकतर छोटी संधियाँ प्रभावित होती हैं । उनमें शोथ और जूल होता है । अस्तु, खुट्ट (छोटी संधि) वात भी कहा जाता है । इस रोग में शोणित के द्वारा आवृत पाई जाती है । अस्तु, वातबलान की भी संज्ञा दी गई है । इसमें शरीर की सभी संधियाँ विनोपत हाथ-पैर की छोटी संधियाँ शोथ तथा वेदना से युक्त हो जाती हैं ।

शास्त्र में दो रोगों का वर्णन रक्तावात और वातरक्त नाम से पाया जाता है । दोनों में ही रक्तावरण पाया जाता है । रक्तावात में रक्त शुद्ध रहता है केवल वात मात्र की दुष्टि पाई जाती है, परन्तु वातरक्त नामक रोग में वात तथा रक्त दोनों की दुष्टि प्रारम्भ से ही पाई जाती है ।

रक्त को दृष्टि होने से वातरक्त में कुछ रोग के लक्षणों की समानता पाई जाती है—जैसे त्वचा की विवर्णता, स्वेदका अधिक होना, चकत्तो (मण्डलो) की उत्पत्ति, चकत्तो के स्थान पर स्वेदाभाव, चकत्तो में स्पर्श का ज्ञान न होना (Anaesthesia) या अति रक्त (Hypersthesia), परन्तु वातरक्त रोग की अपनी विशेषता भी पाई जाती है—जैसे पादमूल की संधियों में शोथ, स्फुरण, शूल आदि । पिडिकोत्पत्ति (तरुणास्थि को वाताश्म Trophi), रोग का बार-बार आक्रमण होना, संधियों में विकृति का बार-बार होना और ठोक हो जाना । बार-बार आक्रमण होने से संधियों में स्थायी विकार भी पैदा हो जाता है । इस प्रकार रोग का पैरो के मूल से आरंभ होकर अथवा क्वचित् हाथों के मूल से आरंभ होकर चूहे के विष के समान (दूषीविष सदृश) धीरे धीरे शरीर के अन्य अंगों में भी पहुंचता है ।

चरक में उत्तान (Superficial) तथा गम्भीर (Deep) भेद से दो प्रकार वातरक्त के बतलाये गये हैं । त्वचा और मांसगत उत्तान तथा संधि, अस्थि और मज्जाश्रित गम्भीर होता है ।^१

इस रोग की बहुत कुछ समता आधुनिक युग के गाउट (Gout) रोग से पाई जाती है । द्विदोषज तथा एक साल से अधिक पुराना कृच्छ्र साध्य हो जाता है, परन्तु त्रिदोषज, उपद्रवयुक्त तथा अगूठे से आरम्भ कर के जानु तक पहुँच गया हो, त्वचा विवर्ण, विदोर्ण और स्नावयुक्त हो रही हो तो असाध्य हो जाता है ।^२

क्रियाक्रम—वातरक्त उत्तान तथा गम्भीर भेद से दो प्रकार का होता है । त्वचा एवं मांस में आश्रित हो तो उत्तान और आभ्यन्तर अवयवों में आश्रित हो तो गम्भीर कहलाता है । अधिक पुराना होने पर यह रोग दुर्जय हो जाता है ।

१. हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छतश्चाश्नतश्च विदाह्यन्नं सविदाहोऽशनस्य । कृत्स्नं रक्तं विदहत्याशु तच्च स्रस्तं दुष्टं पादयोश्चोयते तु ॥ तत्संपूक्तं वायुना दूषितेन तत्प्रावल्यादुच्यते वातरक्तम् ॥ प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्याहारविहारिणाम् । स्थूलानां सुखिना चापि कुप्यते वातशोणितम् ॥ पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपि आखोर्विपमिव क्रुद्धं तद्देहमुपसर्पति ॥ (सु) उत्तानमथ गम्भीरं द्विविधं तत्प्रचक्षते । त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम् ॥ (च)

२ साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् । एकदोषानुगं साध्यं नवं याप्यं द्विदोषजम् । त्रिदोषजमसाध्यं स्याद्यस्य च स्युरुपद्रवाः ॥ आजानु स्फुटितं यच्च प्रभिन्नं प्रसृतञ्च यत् । उपद्रवैश्च यज्जुष्टं प्राणमासक्षयादिभिः ॥ (सु.)

लेप, अम्भंग, परिपेक तथा अदगाहन प्रभृति उपचारो के द्वारा उत्तान मे तथा विरेचन, आस्थापन एवं स्नेहन प्रभृति उपचारो के द्वारा गम्भीर प्रकार में चिकित्सा करनी चाहिये ।

दोषो के अनुबन्ध का विचार करते हुए वाताधिक्य में स्नेहन, रक्ताधिक्य में रक्तमोक्षण, पित्ताधिक्य में रेचन, कफ की अधिकता मे वमन कराके आगे वक्ष्यमाण औषधियो का प्रयोग कराना चाहिये । यदि विकार मे दो दोषो का संसर्ग या त्रिदोषो का सन्निपात पाया जावे तो मिश्रित उपचार की व्यवस्था करनी चाहिये ।

वायु की रक्षा करते हुए, यथादोष-यथावल सभी प्रकार के वातरक्त के दूषित रक्त के निर्हरण की व्यवस्था करनी चाहिये । प्रथम रोगी का स्नेहन करने के पश्चात् रक्त-विस्त्रावण करना चाहिये । रक्त के निर्हरण के लिये शृंग, जलीका, अलाबू अथवा शिरावेध का यथास्थान यथावश्यक उपयोग करना चाहिये ।

शतधौत घृत का अम्भंग, भेंड के दूध का लेप तथा रुक्ष एवं मृदु औषधियो के योग से बने वस्ति का उपयोग सर्वत्र किया जा सकता है । वस्ति के समान कोई भी दूसरा उपचार वातरक्त में लाभप्रद नहीं होता है । अस्तु, वस्ति कर्म का सर्वत्र प्रयोग करना चाहिये ।^१

वातरक्त से पथ्य—चावल, गेहूँ, जी, अरहर, चना, मूंग, मसूर की दाल घृत मिलाकर, बकरी, भेंड, भैस या गाय का दूध, सूरण, गुडुची, पोई, मकोय, चौपतिया, त्रेनाग्र, बथुवा, करेला, पटोल, चौलाई, पुराना पेठा, प्रसारणो प्रभृति शाक, लावा, तित्तिर, मुर्गा, मोर, तोता, कवूतर आदि पक्षियो के मास, आंवला, मुनक्का, चीनी, मक्खन, घी प्रभृति तिक्त-मधुर पदार्थ पथ्य होते हैं । श्वेत चंदन,

२. वातरक्तं द्विधा ज्ञेयं गम्भीरोत्तानभेदतः । त्वङ्मासाश्रयमुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम् ॥ कालातिक्रान्तमेतत्तु कष्टं भवति दुर्जरम् । विरेकास्थापनस्नेहैर्गम्भीरं तदुपाचरेत् ॥ उत्तानं लेपनाभ्यङ्गपरिपेकावगाहनैः । वाताधिकं वातरक्तं स्नेहाद्यैः समुपाचरेत् ॥ रक्ताढ्यं रक्तमोक्षाद्यैः पित्ताढ्यं रेचनादिभिः । कफाढ्यं वमनाद्यैश्च प्रोक्तेरन्वीपर्वमपक् ॥ संसर्गे सन्निपाते च क्रियां मिश्रा समाचरेत् । वातरक्ते द्वित्रिलिङ्गे द्वित्रिहेतुसमुत्थिते ॥ वातशोणितिनो रक्तं स्निग्धस्य बहुशो हरेत् । अल्पाल्प रक्षता वायुं यथादोषं यथावलम् ॥ सर्वत्रासृक्क्षुतिः सूचीजलीकाशृङ्ग्यलाबुभिः । शतधौतघृताभ्यङ्गो मेपीदुग्धावसेचनम् ॥ रुक्षैर्वा मृदुभिः शस्तमसकृद्वस्ति-कर्म च । नहि वस्तिसमं किञ्चिद् वातरक्ते चिकित्सितम् ॥

शीशम, अगुरु, देवदारु एवं सरल वृक्ष से निकले तैलो का मर्दन भी पथ्य है ।^१
एरण्ड तैल का भी उपयोग उत्तम रहता है ।

अपथ्य-आहार-विहार—दिन में सोना, अग्नि का तापना, व्यायाम, कुश्ती आदि का लडना, धूप में रहना, स्त्रीप्रसंग, उडद, कुलत्थ, सेम, मटर और क्षार तथा लवण पदार्थों का सेवन । जलचर तथा आनूपदेश में पैदा होने वाले प्राणियों के मांस, परस्पर में विरुद्ध अन्न, दही, ईख, मूली, मद्य, तिलपिण्याक, कांजी प्रभृति अम्ल पदार्थ, कटु, उष्ण, गुरु एवं अभिष्यदी पदार्थ, ताम्बूल, लवण तथा सत्तू का सेवन वातरक्त में अपथ्य होता है ।^२

भेषज

१. हरीतकी—एक या दो हरीतकी को लेकर चूर्ण बना कर गुड में मिलाकर सेवन करे और उसके पश्चात् गुडूची के क्वाथ का अनुपान करे तो जानुपर्यन्त स्फुटित हुआ वातरक्त शान्त होता है ।

२ गुडूची—गुडूची स्वरस, कल्क, चूर्ण या क्वाथ को अधिक काल तक सेवन करने से वातरक्त शान्त होता है । ३. एरण्ड तैल ४. आरग्वध-अमलताश के फल का गूदा, गिलोय एवं बडूसे का काढ़ा बनाकर उसमें एरण्ड तैल १ तोला मिलाकर सेवन करने से वातरक्त में लाभ होता है । ५. अश्वत्थ (पीपल) की छाल का क्वाथ बना कर उसमें मधु मिलाकर पीने से त्रिदोषज भयङ्कर भी वातरक्त रोग नष्ट होता है ।^३ ६. त्रिवृत, विदारि एवं गोक्षुर का सम प्रमाण में बनाया कषाय पीने से वातरक्त नष्ट होता है । ७ शुद्ध शिलाजतु—मात्रा १ माशा प्रातः—सायं गुडूची से सेवन । ८. गोरखमुण्डी—गोरखमुण्डी का महीन चूर्ण ६ माशा, घी १ तोला, मधु १॥ तोला मिलाकर

१. आढक्यश्चर्णका मुद्गा मसूराः समकुष्ठकाः । यूषार्थे बहुसर्पिष्काः प्रशस्ता वातशोणिते ॥ पुराणा यवगोधूमनीवारा. शालिषष्टिकाः । भोजनार्थे हिता गव्य माहिषाजपयो हितम् ॥

२. दिवास्वप्नाग्निसताप व्यायामं मैथुनन्तथा ।

कटूष्णगुर्वभिष्यन्दिलवणाम्लानि वर्जयेत् ॥

३. हरीतकी प्राश्य समं गुडेन एकोऽथवा द्वे च ततो गुडूच्या । क्वाथोऽनुपीतः शमयत्यवश्यं प्रभिन्नमाजानुजवातरक्तम् ॥ शम्पाकामृतवासानामेरण्डस्नेहसंयुतम् । पीत्वा क्वाथमसृग्वातं क्रमात्सर्वगिजं जयेत् ॥ गुडूच्या स्वरसं चूर्णं कल्कं च क्वाथमेव वा । प्रभूतकालमासेव्य मुच्यते वातशोणितम् ॥ बोधिवृक्षकपायं तु पाययेन्मधुना सह । वातरक्तं जयत्याशु त्रिदोषमपि दारुणम् ॥ (भै. र)

सेवन करके ऊपर से गुडूची का काढा पीना । ९ पुराना गुड १ तोला गोघृत १ तोला मिलाकर सेवन करना । ये सभी भेषज सामान्यतया वातरक्त के शामक होते हैं ।

वाह्य प्रयोग के भेषज—१. तिल को भून कर गो का दूध के साथ पीस कर लेप करना । २. गेहूँ का आटा घी और बकरी के दूध का लेप । ३. बकरी के दूध के साथ एरण्ड बीज की मज्जा निकाल कर पीस कर लेप करना । ४. केवल भेंड के दूध या घी का लेप अथवा ५. शतधौत घृत (सौ पानी धोये गाय के घी) का लेप करना । ६. बकरी के दूध एवं सीफ का लेप करना । ७. घी और सर्जरस (सफेद राल) का लेप । ८. गृहधूमादि लेप—रसोई घर का बुंवा, बच्च, कूठ, सीफ, हल्दी, दारुहल्दी का बकरी के दूध में पीस कर लेप करना वेदनाशामक होता है । ९. चलादि प्रलेप—बला की ताजी जड़, रेडी के छिलके रहित बीज, जीरा सफेद, गुडूची और सीफ इनको बकरी के दूध में पीस कर वातरक्त के कारण स्फुटित हुए स्थान पर लेप करने से वेदना और जलन शान्ति होती है ।

गुडूची तैल—मूर्च्छित तिल तैल १२८ तोले, गुडूची का क्वाथ ५१२ तोले, गुडूची का पिसा हुआ कल्क ३२ तोले, गोदुग्ध ६४ तोले । इन द्रव्यों को कलईदार कड़ाही में लेकर अग्नि पर चढ़ा कर मंद आँच से पका कर सिद्ध कर ले । इस तैल का वाह्य प्रयोग मालिश के लिये तथा आम्भेतर प्रयोग दूध में १-२ तोला मिलाकर पीने के लिये भी किया जा सकता है ।

गुडूची तैल नाम से कई और योग पाये जाते हैं । बृहत् गुडूची तैल, महारुद्र गुडूची तैल आदि सभी वातरक्त और कुछ रोग में लाभप्रद पाये जाते हैं ।

पिण्ड तैल—मूर्च्छित तिल तैल १ सेर, कल्कार्थ—मोम, मजीठ, राल तथा शारिवा प्रत्येक ५, ५ तोले । तैल से चतुर्गुण अर्थात् ५ सेर जल डालकर यथा-विधि मंद आँच पर पकाले । इस तैल के अम्यंग से वातरक्तजन्य पीड़ा शान्त होती है ।

इस अधिकार में महा पिण्ड तैल नाम से एक बृहद् योग का भी पाठ मिलता है । लाभप्रद रहता है ।

सिरावेध—वातरक्त, रक्त-वात, कुष्ठ प्रभृति रक्तविकारों में विकृत रक्त के निर्हरण से उत्तम लाभ देखा जाता है । इसके लिए पैर, बाहु अथवा ललाट की किसी बड़ी उपरितन गिरा से यथाविधि रक्त-विस्त्रावण का विधान श्रव्यो में पाया जाता है । यदि रोगी बलवान् हो तो रक्तमोक्षण विधि से २० से ३० तोले तक उसके शरीर से निकाला जा सकता है—इससे अधिक रक्त

निकालने पर उसको दारुण वात रोग अथवा मृत्यु हो जाने की सम्भावना रहती है ।^१

अनः प्रयोज्य योग—

लघुसंजिष्ठादि कपाय—मज्जिष्ठा (मजीठ), हरें, वहेरा, आंवला, कुटकी, वच, दारुहल्दी, हल्दी और निम्ब को सम प्रमाण में लेकर जौकुट करके २ तोले लेकर, ३२ तोले जल में खोलाकर ८ तोले शेष रहने पर छान कर ठंडा कर मनु मिला कर पिलाना । कुछ तथा वातरक्त में उत्तम लाभप्रद योग है । बृहन्मज्जिष्ठादि कपाय का योग वातरोगाध्याय में आ चुका है । यह लघु से अधिक लाभप्रद होता है ।

निम्बादि चूर्ण—नीम की छाल, गिलोय, आंवला, हरड और बाकुची प्रत्येक ४ तोले, सोठ, वायविडङ्ग, चक्रमर्द के बीज, पिप्पली, अजवायन, वच, जीरा, कुटकी, खैर की छाल, सेंधा नमक, यवक्षार, हल्दी, दारुहल्दी, मोथा, देवदारु और कुछ प्रत्येक १-१ तोला । सब को एकत्र कर महीन पीस कर कपड़े से छान कर शीशी में भर ले । मात्रा २ माशे । गुडूची क्वाथ के अनुपान से । वातरक्त, कुछ तथा विविध प्रकार के रक्त दोष में परम हितकर होता है । रिवन कुछ में विशेष लाभप्रद होता है ।

कैशोर गुग्गुलु—रक्त वर्ण का गुग्गुलु १ प्रस्थ लेकर निर्मल वस्त्र की एक पोट्टली में बाँध ले । हरड, वहेरा, आंवला प्रत्येक एक-एक प्रस्थ, गुडूची १२८ तोले, जल १९ सेर १६ तोले भर लेकर एक बड़े पात्र में भर कर उसमें गुग्गुलु की पोट्टली लटका दे । वर्तन को अग्नि पर चढ़ा कर पकावे । आधा जल शेष रहने

१ अशुद्धो वलिनोऽप्यस्त्रं न प्रस्थात्स्त्रावयेत्परम् ।

अतिशुतो हि मृत्युः स्याद्दारुणा वातजामया ॥ (वा शि व्य)

यहाँ पर प्रस्थ १३॥ तोले का रहता है, इस प्रकार कुल रक्त निकालने की मात्रा ५४ तोले ठहरती है । अर्थात् आवश्यकता पड़ने पर बलवान् एव जवान व्यक्तियों में ५४ तोले तक रक्त निकाला जा सकता है । प्रत्येक रोगी में या प्रत्येक कर्म में उतना रक्त निकालने की आवश्यकता नहीं पड़ती है । किसी रोगी में २ तोले से कहीं पर ४ तोले से अन्यत्र ८ तोले से काम चल जाता है । रक्त के निर्हरण की मात्रा रोगी के बलावल के अनुसार निर्धारित की जाती है । अस्तु, एक सामान्य मात्रा २० से ३० तोले की वातरक्त या कुछ में बताई गई है । आधुनिक युग में कई रोगों में शिरावेध के द्वारा चिकित्सा की आवश्यकता पड़ती है, चिरकालीन हृद्रोग में २० से ३० औंस तक रक्त निकालने का विधान है ।

३२ भि० सि०

पर वर्त्तन को आग से नीचे उतार कर ठंडा करके छान ले । अब फिर एक लौह की कड़ाही में गुग्गुलु और यह क्वाथ डाल कर पकावे । पकाते-पकाते जब वह गाढ़ा हो जावे और दर्वों से चिपकने लगे तो कड़ाही को नीचे उतार कर ठंडा होने पर उसमें आंवला, हर्रे, बहेरा, सोठ, काली मिर्च, पिप्पली और वायविडङ्ग प्रत्येक दो दो तोला, त्रिवृत् और दन्तीमूल का चूर्ण १-१ तोला, गुर्च का चूर्ण २ तोला, गोघृत ३२ तोला मिलाकर एक दिल करके एक-एक माशे की गोलियाँ बना ले । सुखा कर शीशी में भर रख दे । मात्रा प्रतिदिन २-२ गोली दिन में चार बार । अनुपान जल ।

गोक्षुरादि गुग्गुलु—सोठ, छोटी पीपल, काली मिर्च, हर्रे का दल, बहेरे का दल, आंवला और नागरमोथा प्रत्येक ४ तोला । छोटे गोखरू के बीज का चूर्ण २८ तोले और अच्छा गुग्गुलु ५६ तोले ले । प्रथम गुग्गुलु को इमाम-दरते में कूटे जब वह नर्म हो जावे तो उसमें अन्य चूर्णों को मिलावे । जब गोली बनने लायक कूटते-कूटते हो जावे तो १॥ माशे की मात्रा की गोलियाँ बना ले । मात्रा १-२ गोली । सुबह-शाम । गोखरू के काढ़े, दूध, जल या किसी कपाय से सेवन करे ।

सर्वेश्वर रस—शुद्ध पारद १० तोला, शुद्ध गंवक, शुद्ध नील तुत्य १०-१० तोले, पलाश बीज चूर्ण ५ तोला, छोटी कंटकारी की जड़, कनेर की जड़, घतूरे की जड़ या बीज, अकरकरा, नीलझिण्टी, जटामासी, दालचीनी, शुद्ध कुचिला, मिलावे का शुद्ध चूर्ण १०-१० तोले । प्रथम पारद और गंवक की कज्जली बना कर शेष द्रव्यों का महीन चूर्ण मिलाकर एकत्र महीन पीसकर शीशी में भर ले । मात्रा २ रत्ती, रोगी को सहन हो सके तो तीन रत्ती तक दे । अनुपान गोघृत । इससे वातरक्त, कुष्ठ, त्वचा की खरता, अग्निमाद्य आदि रोग नष्ट होते हैं । (२ सार. मं)

उपसंहार—कुष्ठ एवं वातरक्त में चिकित्सा की बहुत समानता है । कुष्ठाधिकार के बहुत से योग वातरक्त में भी लाभप्रद होते हैं । रसमाणिक्य १ रत्ती और गुडूची सत्त्व १ माशा मिलाकर एक मात्रा । ऐसी दो मात्रा प्रतिदिन घी और चीनी या मक्खन के साथ देना ।

मारिवाद्यासव भोजन के बाद २ तोले समान जल मिलाकर देना तथा कैशोर गुग्गुलु २ माशे की मात्रा में रात में सोते वक्त जल से या दूध से देना उत्तम लाभप्रद रहता है । अमलताग, निशोथ और गिल्लोय का काढ़ा एरण्ड तैल १ तो मिलाकर देना भी उत्तम रहता है । रोगी को मालिश के लिये पिण्ड तैल, गुडूच्यादि अथवा मरिच्यादि तैल का अभ्यग कराना भी उत्तम है ।



सत्ताईसवाँ अध्याय

ऊरुस्तंभ-प्रतिषेध

प्रावेशिक—ऊरुस्तंभ एक विरलता से पाया जाने वाला रोग है। संभवतः प्राचीन युग में बहुत मिलता रहो हो, आधुनिक युग में तो बहुत कम मिलता है। स्व० कविराज गणनाथ सेनजी सरस्वती ने लिखा है—“पुराणा विलय यान्ति नवीना प्रादुरासते।” अर्थात् कुछ रोग पुराने जमाने में मिलते थे आज वे दृष्टिगोचर नहीं होते, इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे नवीन रोग भी होने लगे हैं, जो पुराने जमाने में नहीं मिलते थे।

शीत, उष्ण, द्रव, शुष्क, गुरु तथा स्निग्ध द्रव्यों के सेवन करने से, अजीर्ण में ही भोजन (अध्यशन) करने से, सम्पन्न व्यक्तियों में यह रोग होता है। इसमें अधिक मात्रा में आम-मेद-कफ से युक्त वायु पित्तको अभिभूत करके ऊरु (Thigh) में आकर दोनों संधियों को एवं उनकी अस्थियों को स्तिमित या श्लेष्मायुक्त कर देते हैं जिससे वे जकड़ जाते हैं।

इससे दोनों ऊरु (जाँघों) में जकड़ाहट, शीतता तथा अचेतनता आ जाती है। रोगी को अपने ऊरु पराये के समान भारी प्रतीत होते हैं वह उनको स्वतन्त्रता हिलाने में असमर्थ हो जाता है। टाँगों को उठा नहीं सकता तथा उनमें सुन्नता आ जाती है। उक्त लक्षणों से युक्त रोग को ऊरुस्तंभ कहते हैं। कुछ लोग इसे आढ्यवात भी कहते हैं। यह एक ही प्रकार का होता है “एक एव ऊरुस्तंभ”।^१

क्रियाक्रम—स्नेहन, वमन, विरेचन, वस्तिकर्म तथा रक्त-विस्रावण कोई भी शोधन कर्म ऊरुस्तंभ में नहीं करना चाहिये, क्योंकि ये सभी कर्म रोग के विरोधी पड़ते हैं। अस्तु, स्वेदन, लघन, प्रभृति रूक्षण क्रिया जो आम और कफ को नष्ट करनेवाली हो, करनी चाहिये। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि जो औषधि कफ एवं आम का नाश करती हो, किन्तु वात का प्रकोप न करती हो, उसीका

१. सवध्यस्थीनि प्रपूर्णान्त श्लेष्मणा स्तिमितेन च । तदा स्तभ्नाति तेनोर्ध्वं स्तब्धौ शीतावचेतनौ ॥ परकीयाविव गुरु स्यातामतिभृशव्यथौ । ध्यानाङ्गमर्द-स्तैमित्यतन्द्राच्छर्द्धश्चिज्वरै ॥ सयुतौ पादसदनकृच्छ्रोद्धरणसुप्तिभिः । तमूर्ध्व-स्तम्भमित्याहुराढ्यवातमथापरे ॥ (वा नि १५)

ऊर्हस्तंभ मे प्रयोग करना चाहिये । ऊर्हस्तंभ मे प्रारंभ मे कफनागक आहार, विहार एवं भेषज देकर पश्चात् वातविनाशक सम्पूर्ण क्रिया करनी चाहिये ।^१

ऊर्हस्तंभ रोग अधिकतर मेदस्वी तथा सुकुमार व्यक्तियों में होता है—कफ को क्षीण-करने के लिए रोगी को कर सकने वाले व्यायामो को करने के लिए कहना चाहिये । प्रातः काल में उठकर उसको विपम स्थान (ऊँची-नीची जमीन पर), बालू, धूल और कंकडीले स्थानों पर टहलने का व्यायाम कराना उत्तम रहता है । जल-संतरण—जिस नदी के अंदर नक्कादि हिंसक जल-जन्तु न हो, धार तेज न हो, स्वच्छ जल बहता हो, उसके प्रवाह के विरुद्ध दिशा में ऊर्हस्तंभी को तैराना चाहिये । यदि नदी न हो तो किसी नहर या जलाशय में रोगी को तैराना चाहिये । बार-बार तैरने से पानी में पैरो को चलाने से रोगी का कफ नष्ट होने से ऊर्हस्तंभ भी दूर होता है ।^२ यदि रोगी का अधिक रूक्षण हो जावे तो वायु के प्रकोप से निद्रानाग, वेदना की अधिकता प्रभृति उपद्रव होने लगते हैं—इस परिस्थिति मे रोगी का स्नेहन और स्वेदन करके वायु को शान्त करना चाहिये ।

ऊर्हस्तंभ मे प्रलेप—लहसुन, जीरा, सहिजन की छाल, कालीमिर्च, सरसों, जयन्ती पत्र, काले धतूरे की जड़, अफीम के फल के छिलके, करंज के फल, अश्वगंध मूल, नीमकी छाल, अर्कमूल । इन द्रव्यों को सम भाग में लेकर गोमूत्र में पीस कर गर्म करके लेप करना ।

तेल-अष्टकट्वर तैल—पिप्पलीमूल और सोठ दोनों का चार-चार तोला लेकर पानी में पीस कर कल्क बना ले । फिर सर्पप तैल (सरसों का तेल) ६४ तोले, दही ६४ तोले तथा माढी वाली दही (ससार दधि कट्वर कहलाती है) उस आठ ग्रंथ अर्थात् ६ सेर ३२ तोले, इसको मथकर तक्र बनाकर डाले । सब को कलईदार कड़ाही मे लेकर अग्नि पर चढ़ाकर मंद आँच पर यथाविधि मिट्टकर ले । इसके तेल की मालिश से गृध्रसी एवं ऊर्हस्तंभ में लाभ होता है ।

१ स्नेहामृक्त्वाववमन वस्तिकर्म च रेचनम् । वर्जयेदाढ्यवातेषु तैश्च तस्य विरोधतः ॥ तस्मादत्र सदा कार्यं स्वेदलंघनरुच्यणम् । आममेव कफाधिक्याद् मारुतं परिरुच्यता ॥ यत्स्यात् कफप्रगमनं न च मारुतकोपनम् । तत्सर्वं सर्वदा कार्यमूरु-स्तम्भस्य भेषजम् ॥ सर्वापिधक्रम कार्यस्तत्रादी कफनाशन । पश्चाद्वातविनाशाय कृत्स्ना कार्या क्रिया यथा ॥ (यो. २.)

२ प्रतारयेत् प्रतिस्त्रोती नदी शीतजला शिवाम् ।

नरश्च विमल शीतं स्थिरतोय पुन पुनः ॥

भेषज—१. शिलाजीत (शुद्ध) २ गुग्गुलु (शुद्ध) अथवा ३. पिप्पली चूर्ण मे से किसी एक का प्रयोग १ से २ माशा की मात्रा में दिन मे तीन बार । अनुपान दशमूल वनाथ तथा गोमूत्र ।^१ ४. त्रिफला चूर्ण और कुटकी चूर्ण मिलाकर ६ माशे की मात्रा मे मधु से लेना ।

५ षड्धरण या षट्चरण योग—(चित्रक, इन्द्रजौ, पाठा, कुटकी, खतीस, हरे) इन द्रव्यों को सम प्रमाण मे लेकर बनाया योग षड्धरण योग कहलाता है । इसका वर्णन वातरोगाध्याय में भी हो चुका है । इसका उपयोग महावात रोगो मे लाभप्रद बतलाया गया है । ऊरुस्तम्भ मे भी हितकर होता है । ६ गण्डीरारिष्ट^२ ७ पुनर्नवादि कषाय—पुनर्नवा मूल, सोठ, देवदारु, हरीतकी, शुद्ध भल्लतिक, गुडूची । इन द्रव्यों का समभाग में लेकर तथा दशमूल की सभी औषधियों को बराबर मात्रा में लेकर कषाय बना कर पीने से ऊरुस्तम्भ मे लाभ होता है ।

गुंजाभद्र रस—शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गंधक ४ तोला, शुद्ध गुंजा बीज २ तोला, जयन्ती, नीम तथा शुद्ध जयपाल के बीज प्रत्येक ४-४ माशा । प्रथम पारद और गंधक को कज्जली बनाकर उसमें शेष द्रव्यों के चूर्ण मिलावे, फिर खरल करके उसमे भाग, जयन्ती, जम्बीरी नीबू का रस और धतूर के रस को एक-एक भावना पृथक्-पृथक् दे । फिर घृत के साथ भावना देकर ४-४ रत्ती की गोलिया बना ले । कठिन ऊरुस्तम्भ के रोग मे भी लाभप्रद यह योग होता है । सेवन-विधि प्रतिदिन एक से दो गोली भुनी हींग का चूर्ण २ रत्ती और सेंधा नमक ४ रत्ती के साथ सेवन करे ।

पथ्य—आहार-विहार मे इस रोग मे रुक्ष उपक्रम रखना चाहिये । एतदर्थ स्वेदन, जागरण, शक्ति के अनुसार व्यायाम, चक्रमण (टहलना), नदी या तालाव मे तैरना, आदि विहार ठीक पडते हैं । भोजन मे जी, लाल चावल, कोदो, सावा, कुलथी, सहिजन की फलिया, करैला, परवल, लहसुन, चीपतिया, वथुवा, बैंगन, नीम के कोमल पत्ते, वैत के अकुर, छाछ, आसव, अरिष्ट, शहद, कटु एवं तिक्त पदार्थ, कषाय रस प्रधान द्रव्य, चारद्रव्य (यवक्षारादि या पत्र शाक, गोमूत्र,) उष्ण जल का पीना या उष्ण जल से स्नान आदि श्लेष्महर द्रव्य पथ्य होते हैं ।

१ शिलाजतु गुग्गुलु वा पिप्पलीमथ नागरम् ।

ऊरुस्तम्भे पिवेन्मूत्रं दशमूलरसेन वा ॥

२ ऊरुस्तम्भे प्रशंसन्ति गण्डीरारिष्टमेव वा ।

अपथ्य—गुरु-शीत-द्रव-अत्यन्त स्निग्ध, विरुद्ध एव असात्म्य भोजन, स्नेहन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, रक्तनिर्हरण ये सब ऊर्स्तभ से पीड़ित मनुष्य के लिये अहितकर हैं ।

एक समय अग्निवेश ने अपने गुरु आत्रेय से अपना सशय दूर करने के लिये पूछा कि-भगवन् आपने बतलाया है कि पंचकर्म सभी प्रकार के शरीर में होने वाली व्याधियों को दूर करने में असमर्थ है तो फिर इस नियम के अपवाद रूप में दोषज कोई ऐसा भी रोग है, जो साध्य होते हुए भी पंचकर्म के उपचारों द्वारा ठीक नहीं हो सकता है ? गुरु ने संदेह का निराकरण करते हुए उत्तर दिया 'हाँ एक मात्र ऊर्स्तभ एक ऐसा रोग है ।' जिसमें न स्नेहन करना चाहिये, न वस्ति और न विरेचन (वमन, रेचन एवं नस्य कर्म) कोई भी कर्म इसमें लाभप्रद नहीं होता है । प्रत्युत अपथ्य होते हैं^१ ।



अट्ठाईसवाँ अध्याय

आमवात-प्रतिपेध

प्रावेशिक—आमवात एक बड़ा कष्टप्रद रोग (Rheumatic and Rheumatoid Arthritis) है । इसमें रोगी के विभिन्न अंगों में विशेषतः संधियों में पीड़ा होती है, अरुचि, प्यास, आलस्य, शरीर का भारीपन, ज्वर, भोजन का परिपाक न होना और अंगों में सूजन होना, ये आमवात के लक्षण हैं ।

१ अग्निवेशो गुरुं काले सशय परिपृष्टवान् । भगवन् पंचकर्माणि समस्तानि पृथक् तथा ॥ निदिष्टान्यामयाना हि सर्वेषामेव भेषजम् । दोषजोऽस्त्यामयः कश्चिद्यस्य तानि भिषग्वर ॥ न स्युः शक्तानि शमने साध्यस्य क्रियया सतः । अस्त्यूरुस्तम्भ इत्युक्ते गुरुणा तस्य कारणम् ॥ तस्य न स्नेहनं कार्यं न वस्तिर्न विरेचनम् । सर्वो रूक्षक्रमः कार्यस्तत्रादौ कफनाशन ॥ पश्चाद् वातविनाशाय कृत्स्नं कार्यः क्रियाक्रमः ॥ (भै. र.)

आमवात प्रवृद्धावस्था मे सब रोगो से अधिक कष्टप्रद एवं कष्टसाध्य हो जाता है । इसमे हाथ, पैर, सिर, गुल्फ (Ankle), त्रिक (Sacrum). जानु तथा ऊरु की संधियों मे पीड़ायुक्त शोथ पैदा होता है । इस रोग की उत्पत्ति में प्रधान भाग आम दोष का होता है, आम दोष से एक प्रकार का अन्तः विष समझना चाहिये । शरीर से बहुविध त्याज्य पदार्थ मल-मूत्र एवं स्वेद के जरिये निकल जाया करता है । वह क्वचित् न निकले तो शरीर के रक्त में आम दोष संचरित होकर बहुत प्रकार के रोग पैदा होते हैं । आमवात भी एक ऐसा ही रोग है । जिसमे आम दोष के साथ वायु का कोप पाया जाता है । अस्तु, इस रोग की चिकित्सा मे आम के पाचन एवं निर्हरण के साथ साथ वायु के शमन की चिकित्सा करनी पडती है ।

आम वात में आम दोष जिन जिन स्थानो पर पहुचता है, उन-उन स्थानों पर अर्थात् विविध शरीर की बड़ी बड़ी संधियों मे वृश्चिकदश के समान वेदना होती है । साथ ही साथ अग्निमदता, शरीर की गुस्ता, ज्वर, उत्साह की कमो, पेशाव की अधिकता, निद्रानाश, तृपाधिक्य, हृदय प्रदेश मे पीडा या हृद्रोग तथा विवंध भी रोगी में उत्पन्न होता है ।

इनमे एकदोषज साध्य, द्विदोषज कृच्छ्र साध्य तथा त्रिदोषज या सर्वदेहज शोथ असाध्य होता है । यह रोग अधिकतर बाल्यावस्था मे या कम आयु के व्यक्तियों में होता है, वेदना भ्रमणशील होती है—आज एक संधि प्रभावित है तो दो दिन के बाद दूसरी फिर दो दिनों के बाद तीसरी । पूर्व की प्रभावित संधि मे वेदना कुछ कम हो जाती है फिर नई संधि प्रभावित होती और उसमे वेदना, रक्ताधिक्य शोथ अधिक हो जाता है । इसमे शरीर के सभी बड़ी संधियाँ एक के बाद दूसरी शोथ और वेदना से युक्त होती चलती है । संधियों मे पूयोत्पत्ति प्रायः नहीं होती है ।^१

क्रियाक्रम—प्रमेह, वात एवं मेदो रोग मे कफ एवं आम के पाचन के लिये जो उपचार बतलाये हैं । उन सबका आमवात रोग में प्रयोग करना चाहिये ।^२

१ अगमर्दोऽर्शचिस्तृष्णा ह्यालस्य गौरव ज्वर । अपाकः शूनताऽङ्गानामामवातस्य लक्षणम् ॥ स कष्ट सर्वरोगाणां यदा प्रकुपितो भवेत् । हस्तपादशिरोगुल्फत्रिकजानू-रुसंधिषु ॥ करोति सरुजं शोफो यत्र दोषः प्रपद्यते । स देशो रुजतेत्यर्थं व्याविद्ध इव वृश्चिकैः ॥ मा. नि. ॥

२. प्रमेहवातमेदोघ्नोरामवाते प्रयोजयेत् ॥ (च. चि.)

आमवात में रोगी तथा रोग के बलावल के अनुसार लंघन, स्वेदन, तिक्त तथा कटु रस द्रव्यों का उपयोग करना चाहिये । विरेचन, स्नेहपान तथा वस्ति कर्म भी लाभप्रद रहता है । सैन्धवादि तैल से अनुवासन वस्ति या चार द्रव्यों की वस्ति (Soap water Enema) देकर कोष्ठगुद्धि करके आम का निर्हरण करना चाहिये । बालू की पोदली बनाकर उससे संधियों या जोथ एवं पीडायुक्त स्थानों का स्वेदन करना हितकर होता है । स्नेह-हीन उपनाह भी लाभप्रद रहता है ।^१

पथ्य—आमवात से पीडित मनुष्य यदि पिपासा से युक्त हो तो उसको पीने के लिये पचकोल-शृत जल (पंचकोल चूर्ण २ तोले, जल २५६ तोले खोला कर आधा शेष रहे तो उतार कर) देना चाहिये । आमवात के रोगी में दूध भी एक उत्तम पथ्य है—इस दूध को भी पचकोल से शृत कर देना उत्तम रहता है । आमवात में वैगन भी एक उत्तम पथ्य है—इसका भर्ता या चोखा बनाकर देना या सौंदीर नामक काजी में उवाले वैगन का उपयोग उत्तम रहता है । वथुवे का शाक, पुनर्नवा का शाक, नीम के पत्तों का शाक, सहिजन, परवल, वरुण एवं करैले का शाक ठीक पड़ता है । जी, कोदो, साँवा, गेहूँ की रोटी या दलिया, कुलयी, चने और मटर की दाल, लवा पच्ची का मास इन रोगियों में अनुकूल पड़ता है । आर्द्रक या गुण्ठी का उपयोग, पीने के लिये गर्म किया जल भी पथ्य रहता है । कई रोगियों में उडद के तेल में पकाया बड़ा भी उत्तम लाभ दिखलाता है, विग्रेपतः उस अवस्था में जब ज्वर का प्रशमन हो गया हो केवल सविशेष और शूल शेष रहा हो । लहसुन का सेवन आमवात में भी उत्तम रहता है ।

अपथ्य—दधि, मछली, गुड, कच्चा दूध, उडद की दाल, दूषित जल, पुरवा हवा, असात्म्य एवं विरोधी भोजन, वेगो का रोकना, रात्रि-जागरण, गुरु एवं अभिष्यंदी अन्य आहार-विहार आमवात में प्रतिकूल पड़ते हैं, फलतः अपथ्य हैं । अभिष्यंदी, गुरु एवं पिच्छिल पदार्थ वर्जित हैं ।^२

१. लघन स्वेदन तिक्तदीपनानि कटूनि च । विरेचन स्ननपान वस्तयश्चाम मारुते ॥ रुक्षः स्वेदो विघातव्यो बालुकापोदलैस्तथा । उपनाहाश्च कर्त्तव्यास्ते ऽपि स्नेहविवर्जिताः ॥ विरेचनं स्नेहपान वस्तयश्चाममारुते । सैन्धवाद्येनानु-वास्य चारवस्ति प्रशस्यते ॥ आमवाताभिभूताय पीडिताय पिपासया । पचकोलेन ससिद्धं पानीयं हितमुच्यते ॥

२ अभिष्यन्दिकरा ये च ये चान्ये गुरुपिच्छलाः ।

वर्जनीया प्रयत्नेन आमवातादिर्नरैः ॥ (भै. र.)

भेपज—एरण्ड तैल—आम वात रोग में एरण्ड तैल एक रामावाण औषधि है । एरण्ड तैल में दो गुण होते हैं—रेचन क्रिया के द्वारा आम दोष का निकालना तथा स्निग्ध होने के कारण वायु का शमन करना । आमवात में यही दो विकार रहते हैं—उन दोनों ही विकारों का शमन एरण्ड तैल से हो जाता है । अस्तु, आमवात में विणिष्ट औषधि के रूप में यह व्यवहृत होता है । इसके प्रयोग के दो साधन हैं बड़ी मात्रा में (एक छटाक) रेचन के लिये या थोड़ी-थोड़ी मात्रा में १-२ चम्मच का प्रयोग करना । रेचन तो नित्य दिया नहीं जा सकता है—अस्तु, सप्ताह में एक दिन या दो दिन, पक्ष में एक दिन या मास में एक दिन रोगी तथा रोग के बल के अनुसार दिया जा सकता है । छोटी मात्रा में किसी कपाय (दशमूल कपाय, शुठी कपाय या रास्नासप्तक कपाय) के साथ मिलाकर मास, दो मास या अधिक लम्बे समय तक भी उपयोग में लाया जा सकता है । इस प्रयोग-विधि से तेज रेचन नहीं केवल कोष्ठगुद्धि होती है, आम निकल जाया करता है, और रोगी को अच्छा लाभ प्रतीत होता है । सौंफ के अर्क एक छटाँक में १ चम्मच मिलाकर भी लम्बे समय तक दिया जा सकता है । शोमूत्र एक छटाँक की मात्रा में उसमें १ चम्मच एरण्ड तैल मिलाकर भी लम्बे समय तक प्रयोग किया जा सकता है । एरण्ड बीज का प्रयोग भी आमवात में उत्तम रहता है, बीज को छिल्के से पृथक् करके उसकी गुद्दी का सेवन कराना अथवा वात रोगाधिकार में पठित एरण्ड-पाक का प्रयोग भी उत्तम रहता है । एरण्ड का प्रयोग केवल रेचन के विचार से आमवात में नहीं कराया जाता है, क्योंकि उसके लिये तो बहुत से रेचक योग हैं, प्रत्युत आमवात विशिष्ट लाभप्रद होने से कराया जाता है । भाव-प्रकाश ने एरण्ड तैल का आमवात में प्राशस्त्य बतलाते हुए लिखा है । शरीररूपी वन में विचरण करने वाले आमवातरूपी मतवाले हाथी को नष्ट करने के लिए एरण्ड तैल रूपी सिंह अकेला पर्याप्त है । ^१ एरण्ड के मूल का प्रयोग भी सभी वात रोगों में विशेषतः आमवात में लाभप्रद रहता है । जैसे—एरण्डमूल, गोखरू, रास्ना, सौंफ, पुनर्नवा इनका विधिवत्

१. आमवातगजेन्द्राणां शरीरवनचारिणाम् । निहन्त्यसावेक एव एरण्डस्नेह-
केशरी ॥ कटीतटनिकुञ्जेषु सचरन् वातकुञ्जर । एरण्डतैलसिंहस्य गन्धमाध्राय
गच्छति ॥ रास्नादिववाथसयुक्त तैल वातारिसङ्गम् । प्रपिवन् वातरोगार्तं सद्यः
शूलाद्विमुच्यते ॥ दशमूलकपायेण पिवेद्वा नागराम्भसा । कुक्षिवस्तिकटीशूले तैल-
मेरण्डसम्भवम् ॥ एरण्डो गोक्षुर रास्ना शतपुष्पा पुनर्नवा । पान पाचनके शस्तं
सामे वाते सुनिश्चितम् ॥ (यो)

सिद्धि कजाद का सेवन आमवात में लाभप्रद रहता है। एरण्ड-पायस एरण्ड बीज की मज्जा को दूध में पकाकर लेना भी श्रेष्ठ है।

हरीतजी—हरीतकी चूर्ण ३ मासे भर लेकर १-२ तोले भर एरण्ड तैल में मिलाकर उष्ण जल में सेवन करने से, आमवात, गृध्रसी, वृद्धि तथा अर्धित रोग में लाभ होता है।

आरग्वध—अमलताश के पत्रों को कड़ाही में लेकर सरसो के तेल में भूनकर अथवा काजी में स्विन्न करके सेवन करने से आमवात में लाभ होता है।

शुंठी—आमवात में एक उत्तम और विशिष्ट औषधि है—इसका आभ्यन्तर प्रयोग २ मासे की मात्रा में काजी के साथ या जल के साथ पीने से अथवा गुण्ठी का चूर्ण बना कर जोय और शूल युक्त मंत्रियों पर रगड़ने से लाभ करता है। इस प्रकार इस औषधि का बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार से उपयोग आमवात में उत्तम रहता है। कचूर एवं सोठ सम मात्रा में लेकर ३ मासे की मात्रा में गन्धर्वा के क्वाथ से लेना श्रेष्ठ है।

त्रिवृच्चूर्ण—त्रिवृत् का महीन चूर्ण करके उस को त्रिवृत् के काढ़े से एक सप्ताह तक भावित करके सुखाकर चूर्ण बना कर शीशी में भर ले। मात्रा ३ मासा। अनुपान जल या काजी के साथ।

रसोन—लहसुन की चटनी का सेवन या तेल में पकाकर सेवन या मसाले के तुरसे वाल-तरकारी में डाल कर लेना उत्तम रहता है। रसोनादि कषाय-लहसुन की गिरी, मोठ और निर्गुण्डी की जड़। उन्हें सम प्रमाण में लेकर २ तोले की ३२ तोले जल में खोलाकर ८ तोले घोष रहने पर पीने से आमवात में लाभ होता है। रसोन पिंड या महारसोन पिंड का (वात रोग में) सेवन भी लाभ-प्रद रहता है।

रसोन सुरा—विशुद्ध सुरा (Rectified spirit) ५ सेर, उसमें त्वचारहित लहसुन का कल्क २॥ सेर, पचकोल, जोरा, कूठ प्रत्येक १ तोला चूर्ण। एक सप्ताह तक संधान करके छान ले। मात्रा—२० से ३० बूंद पानी मिलाकर भोजन के बाद।

दशमूल—दशमूल की औषधियों का सममात्रा में ग्रहण कर बनाया कषाय उत्तम रहता है। रास्ना-रास्नापत्रक, महारास्नादि कषाय अथवा रास्ना सप्तक या रास्ना द्वादशक कषाय का पीना भी उत्तम रहता है। इन कषायों में १ तोला एरंड तेल मिलाकर सेवन करना अधिक लाभप्रद रहता है। रास्ना सप्तक कषाय-रास्ना, गिलोय, अमलताश का गूदा, देवदारु, गोखरू, एरंडमूल और पुनर्नवा उन्हें समभाग में लेकर २ तोले की ३२ तोले पानी में उबालकर ८ तोले

शेष रहने पर उसमें शुंठी चूर्ण १ माशा मिलाकर सेवन करना जंघा, ऊरु, पार्श्व प्रदेश, त्रिक प्रदेश और पीठ के शूल में लाभप्रद रहता है ।^१

पंचसम चूर्ण—शुठी, हरीतकी, पिप्पली, निशोथ तथा काला नमक सम-भाग में लेकर बनाया चूर्ण । मात्रा ३ माशे से ६ माशे । अनुपान उष्ण जल । यह चूर्ण-उदर विकार तथा आमवात में लाभप्रद होता है ।

वैश्वानर चूर्ण—सैन्धवलवण, अजवायन २. २ भाग, अजमोदा ३ भाग, मोठ ५ भाग, हरीतकी १२ भाग सब अच्छी तरह महीन कूट-पीसकर कपडछन चूर्ण बनाकर शीशी में भर ले । मात्रा ३ माशे से ६ माशे । अनुपान-दही का पानी, मट्ठा, काजी, घृत या गर्म जल से ।

● **अलम्बुषाद्य चूर्ण**—मुरडो १ भाग, गोखरू २ भाग, हरड ३ भाग, बहेडा ४ भाग, आंवला ५ भाग, सोठ ६ भाग, गिलोय ७ भाग तथा इन सबके बराबर विधारा की जड़ या काली निशोथ की जड़ । सबका महीन कपडछन चूर्ण । मात्रा ३ माशे से ६ माशा । अनुपान उपर्युक्त । यह चूर्ण आमवात तथा वात-रक्त दोनों में लाभप्रद होता है ।

आमवातारि गुग्गुलु—एरण्ड तैल, शुद्ध गंधक, शुद्ध गुग्गुलु, हरड, बहेरा एवं आंवला । इन सबको सम प्रमाण में लेकर । प्रथम चूर्ण बनाकर एरण्ड तैल से भावित करके १ माशे की मात्रा में गोलियाँ बनाले । १-२ गोली दिन में तीन बार । गर्म जल या दूध से ।

योगराज गुग्गुलु—इसका योग वात रोग में उद्धृत किया जा चुका है ।

सिंहनाद गुग्गुलु—त्रिकला का क्वाथ ३ पल, शुद्ध गंधक तथा शुद्ध गुग्गुलु १-१ पल, एरण्ड तैल ८ पल सबको लेकर एक कलईदार कड़ाही में अग्निपर चढ़ाकर पाक करे । फिर ठंडा होने पर १-२ माशे की गोलियाँ बना ले । यह योग सभी प्रकार के वात रोगों में विशेषत आमवात में लाभप्रद रहता है । यह दण्डपाणि नामक आचार्य के द्वारा प्रोक्त, सिंह की गर्जना की भाँति रोग रूपी हाथियों को भगाने वाला है । अस्तु, इसे सिंहनाद गुग्गुलु की सज्ञा दी गई है । (च द) । शिवा गुग्गुलु नामक एक दूसरा योग पाया जाता है उसमें भी घटक लगभग यही हैं ।

शुंठीघृत—सोठ का क्वाथ ८ पल, सोठ का कल्क $\frac{1}{2}$ प्रस्थ, मूर्च्छित गोघृत २ प्रस्थ लेकर कलईदार कड़ाही में पाक करे । फिर घृत को छान किसी शीशे के

१. रास्नाऽमृतारग्वधदेवदारुत्रिकटकैरण्डपुनर्नवानाम् ।

क्वाथं पिबेन्नागरचूर्णमिश्र जघोरुषार्श्वत्रिकपृष्ठशूलौ ॥ (यो. र.)

वर्तन या सर्तवान में भर कर रख ले । मात्रा १-२ तोला । दूध में मिलाकर ले । अग्नि को दीप्त करता है । कटिगूल एवं आमवात में लाभप्रद ।

आमवातारि रस—गुद्ध पारद १ भाग, गंधक २ भाग, समभाग में गृहीत त्रिफला चूर्ण ३ भाग, चित्रक मूल चूर्ण ४ भाग । प्रथम पारद और गंधक को कज्जली बनाले । पश्चात् शेष चूर्णों को मिलाकर उसमें एरण्ड तेल की भावना देकर खरल कर सुखाकर गोशो में भरले । मात्रा १ माथा । दिन में दो या तीन बार । गुंठी चूर्ण एवं मधु के साथ ।

आमवातिक ज्वर—आमवात रोग के प्रारंभ में ज्वर होता है और यह संतत स्वरूप का तीन या चार सप्ताह तक चलता रहता है । इस अवस्था में रोगी को पचकोल शृत क्षीर, पचकोल शृत जल, मूंग की दाल और शाक पर रखना चाहिये । यदि अग्निबल अच्छा हो और रोगी को भूख लगे तो जौ की रोटी भी दी जा सकती है । वाली वाटर भी उत्तम रहता है । औषधियों में ज्वराधिकार का हिंगुलेज्वर रस मात्रा २ २०, उपर्युक्त आमवातारि रस मात्रा १ माथा, दिन में दो या तीन बार देना चाहिये । अनुपान रूप में निर्गुण्डी स्वरस, शेकाली स्वरस, आर्द्रक स्वरस में से कोई एक और मधु मिलाकर देना चाहिये । राम्ना सप्तक कपाय का भी प्रयोग उत्तम रहता है । साथ में संधियों के जोथ तथा वेदना के शमन के लिए गालुका स्वेद, उपनाह, विपगर्भ तैल का अम्यंग अथवा निम्नलिखित किसी लेप का प्रयोग बाह्योपचार के रूप में करते रहना चाहिये ।

ज्वर के समाप्त हो जाने पर पश्चात् गुग्गुलु, चूर्ण, कपाय, प्रभृति अन्य योगों का प्रयोग लम्बे समय तक करते रहना चाहिये ।

विडङ्गादि लौह—लौह भस्म ५ पल, अन्नक भस्म २॥ पल, गुद्ध पारद २॥ पल, गुद्धगंधक २॥ पल । त्रिफला चूर्ण १ से १० तोले लेकर सोलहगुने जल में व्रथित कर अष्टमायावनिष्ट अर्थात् सवा दो सेर शेष रहने पर उतार ले । फिर इस व्राथ को एक लौह की कड़ाही में अग्नि पर चढ़ाकर उसमें लौह, अन्नक भस्म और कज्जली को डाल कर पाक करे । आमन्न पाकावस्था में उसमें गोघृत ३० तोले, शतावर का स्वरस ३० तोले और गाय का दूध ६० तोले छोड़कर पाक करता रहे । पाक मंद अग्नि पर करना चाहिये । जब पाक गाढ़ा होने लगे तो उसमें निम्नलिखित औषधियों का प्रक्षेप करे । वायविटङ्ग, मोठ, धनिया, गिलोय का मत्त्व, जीरा, पलाश के बीज, काली मिर्च, पिप्पली, गजपिप्पली, त्रिवृत की जट, त्रिफला, दन्तीमूल, इलायची, एरण्डमूल, चव्य, पोपरामूल, चित्रकमूल, मोथा और विवारा प्रत्येक का चूर्ण सम भाग कुल

३० तोले होना चाहिये । अच्छी प्रकार से कलछी से चलाते हुए सबको मिला लेना चाहिये । फिर सुखा कर चूर्ण बना ले । मात्रा—४ रत्ती से १ माशा ।

यह योग आमवात, शोथ, अग्निमाद्य, पाण्डु, कृमिज पाण्डु, कामला आदि अनुपान भेद से नष्ट करता है और उत्तम रसायन है ।

जीर्ण आमवात में जब रोगी में रक्ताल्पता आ जाती है—उस अवस्था में प्रयुक्त होकर विशेष लाभ करता है । आमवाताभ संधिशोथ (Rheumatoid Arthritis) में महारास्नादि कषाय के साथ इस योग का प्रयोग अच्छा लाभ दिखलाता है । इसके सेवन वाले रोगी को पर्याप्त पौष्टिक आहार और दूध का प्रयोग करना अपेक्षित रहता है ।

इसके साथ सुवर्ण के योगिको का देना उत्तम रहता है । एतदर्थ स्वर्ण भस्म प्रति मात्रा में $\frac{1}{2}$ रत्ती स्वतंत्रतया मिलाया जा सकता है । अथवा सुवर्ण के योगी में से बृहद्वातचिन्तामणि रस या योगेन्द्र रस १ रत्ती की मात्रा में मिलाकर दिया जा सकता है ।

प्रसारणी संधान—गघ प्रसारणी ८ सेर, जल ६४ सेर, शेष १६ सेर रखा कषाय । इस कषाय में लहसुन का रस १ सेर, पुराना गुड १ सेर मिला कर एक पात्र में भरकर उसका मुख बन्द करके एक सप्ताह तक संधान करे । इसमें प्रक्षेप रूप में पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चीता की जड़ और सोठ का चूर्ण कुल ३२ तोले भी डालना चाहिये । यह योग आमवात में बड़ा लाभप्रद होता है । भोजनोत्तर २-४ तोले की मात्रा में देना चाहिये ।

वाह्य प्रयोग—विषगर्भ तैल (वातरोगाध्याय) अफीम मिलाकर या सैधवादि तैल का वेदना युक्त स्थान पर हल्के हाथ से मालिश करना ।

सैन्धवाद्य तैल—सैधव, गजपीपल, रास्ना, सौफ, अजवायन, सज्जीखार, कालीमिर्च, कूठ, सोठ, सोचल नमक, विड लवण, वचा, अजमोद, मुलैठी, जीरा, पोहकर मूल और छोटी पिप्पली प्रत्येक २ तोला । इन द्रव्यों को कूट कर पानी से पीस कर कल्क बनावे । फिर एरण्ड तैल तथा सौफ का वचाथ दो-दो प्रस्थ, काजी एव दही का पानी ४-४ प्रस्थ सबको कलईदार कड़ाही में अग्नि पर चढ़ाकर मंद आँच से पाक करे ।

महाविषगर्भ तैल—धतूरे की जड़, निर्गुण्डी की जड़, कटुतुम्बी की जड़, गदहपुर्ना, एरण्ड मूल, अण्वगध मूल, चक्रमर्दमूल, चित्रकमूल, सहिजन की छाल, मकोय, कलिहारी की जड़, नीम की छाल, महानिम्ब की छाल, शिवलिङ्गी, दशमूल, शतावरी, करैला, अनन्तमूल, विदारीकद, स्तुही, अर्क, मेढाशृङ्गी मूल, पीत पुष्प कनेर मूल, वचा, काकजघा, अपामार्ग मूल, महाबला—बला-अति

बला-नागबला मूल, कंटकारी मूल, वासामूल, गुडूची एवं प्रसारणी । प्रत्येक ६ तोले १ द्रोण जल में क्वथित करके चतुर्थांश शेष रहने पर उतार कर छान ले । कन्कार्थ-सोठ, मरिच, छोटी पीपल, कूठ, कुचला, रास्ना बत्सनाभ, मोथा, देवदारु, गीठाविप, जवाखार, सज्जीखार, तूतिया, कायफल, पाठा, भारंगी, नौसादर, त्रायमाण, घमासा, जीरा और इन्द्रायण प्रत्येक १६ तोले जल से पीस कर कल्क बनावे । फिर एक कलईदार पित्तल के बड़े कटाह में क्वाथ, त्रक और मूर्च्छित तिल तैल १ प्रस्थ (तीन पाव ४ तोले) लेकर पाक करे । मन्दाग्निपर यथाविधि पाक । यह तैल आमवात जन्य पीडायुक्त स्थान पर तथा सर्वाङ्ग वात एवं पक्षाघात में मालिश के लिए परम लाभप्रद होता है ।

वातहर उपनाह तथा वातघ्न लेप—वात रोगाधिकार का उत्तम रहता है ।

हिंसादिलेप—हैस की जड़, कंटकारी, केवुक, सहजन की छाल, बल्मीक मृत्तिका—इन्हें गोमूत्र में पीसकर आमवात में पीडायुक्त स्थान पर लेप ।

शताह्वादि लेप—सौफ, वच, सहजन की छाल, गोखरू, वरुण की छाल, बला की जड़, गदहपुर्ना, कचूर, गंधप्रसारणी, जयन्ती, हींग इनको काजी या सिरके के साथ पीस कर गर्म करके लेप करना ।

० रास्नादि अवचूर्णन—रास्ना, सोठ, सहजन, कचूर प्रत्येक १ भाग, खडिया मिट्टी ४ भाग मिलाकर चूर्ण महीन बना कर आमवात के कारण उत्पन्न पीडायुक्त संधियों पर इस चूर्ण का घर्षण करना उत्तम लाभ दिखलाता है ।



शूल प्रतिषेध (Colics)

उन्तीसवाँ अध्याय

प्रावेशिक—शूल का शाब्दिक अर्थ है गंवाकार कोई नुकीला वस्तु । इस से चुभाने के समान के समान पीडा जिस रोग में हो उसे शूल रोग कहते हैं । शरीर के किसी भी भाग में इस प्रकार की तीव्र वेदना हो सकती है । स्थानानुसार उसकी विभिन्न नजारें भी दी जा सकती हैं । यथा सिर का दर्द—शिर शूल, कान का दर्द—कर्णशूल, छाती का दर्द—उरःशूल या वक्षस्तोद, वृक्क की वेदना—वृक्क-

शूल तथा वस्ति की वेदना—वस्ति शूल आदि । परन्तु शूलाधिकार नामक प्राचीनोक्त अध्याय में केवल उदर तथा वक्ष गुहास्थित अवयवों के विकार से उत्पन्न पीडाओं या शूलों का वर्णन करना अभिलषित रहता है । गुल्म रोग में जिस प्रकार पाँच स्थानों में होने वाले कष्टों का ही समावेश होता है उसी प्रकार शूल रोग का वर्णन भी दोनों पार्श्व, हृदय, नाभि तथा वस्ति इन पाँच स्थानों में होने वाली तीव्र पीडाओं तक ही सीमित है—अन्य स्थान पर होने वाली तीव्र वेदनाओं का उल्लेख यथास्थान प्रसंगानुसार अन्य अन्य स्थानों पर पाया जाता है । अस्तु, इस अध्याय में इन पाँच स्थानों में होने वाली तीव्र वेदनाओं का उल्लेख किया जावेगा ।

गुल्म के समान इस अध्याय के अंदर उदर एवं वक्ष में होने वाली वेदनाओं का ही वर्णन अपेक्षित है । दोनों पार्श्व, हृदय, नाभि तथा वस्ति ये गुल्म के पाँच^१ स्थान हैं । इन्हीं स्थानों में होने वाली सभी पीडाओं का इस अध्याय में समावेश हो जाता है ।

दोष भेद से शूल आठ प्रकार के होते हैं—वातज, पित्तज, श्लेष्मज, वात पित्तज, वात कफज, पित्त कफज, त्रिदोषज तथा आमज । किन्तु इन सभी प्रकार के शूलोंमें वायु की प्रधानता रहती है । इनमें वातिकशूल प्रायः हृदय, पार्श्व, पृष्ठ, त्रिक तथा वस्ति प्रदेश में विशेषतया होता है जैसे, हृच्छूल (Angina Pectoris) पार्श्व शूल (Pleurodyna, Inter Costal Neuralgia), त्रिकशूल (Lumbago), वस्तिशूल (Renal colicuterine colic etc), पैक्तिक शूल प्रायः पित्ताशय (Biliarycolic), कुक्षिशूल (Appendicular) कुक्षि आदि में होता है । श्लेष्मिक शूल प्रायः आमाशय भाग में (Acute-Gasteritis) विकृति आने से होता है । त्रिदोषज एवं त्रिदोषज शूल दोषानुबन्ध के भेद से विविध लक्षणों से युक्त होते हैं, तथा सर्वत्र हो सकते हैं ।^२

आमज शूल, कफज शूल के समान लक्षण एवं चिह्नो वाला होता है—इसका

१ शकुस्फोटनवत् तस्य यस्मात्तीव्राश्च वेदना ।

शूलासक्तस्य लक्ष्यन्ते तस्माच्छूलमिहोच्यते ॥ (सु)

दोषे पृथक्समस्ताम्या द्वन्द्वैः शूलोऽष्टधा भवेत् ।

सर्वेष्वेतेषु शूलेषु प्रायेण पवनं प्रभु ॥ (मा नि)

२ वायु प्रवृद्धो जनयेद्धि शूलं हृत्पार्श्वपृष्ठत्रिकवस्तिदेशे ।

वातात्मकं वस्तिगतं च शूलं पित्तात्मकं चापि वदन्ति नाम्याम् ॥

हृत्पार्श्वकुक्षौ कफसन्निविष्टे सर्वेषु देशेषु च सन्निपातात् ।

आमाशय या कुक्षि ही प्रधान अधिष्ठान होता है। इन शूलो के अतिरिक्त दो प्रकार के विशेष शूलो का वर्णन इस अधिकार में और पाया जाता है जिनका त्रिदोषज शूल के भीतर ही समावेश समझना चाहिये। इनमें पित्तोत्पन्नता होती है। इन दो प्रकार के शूलो में से एक परिणाम शूल दूसरा अन्नद्रव शूल कहा जाता है। इन दोनों का आधुनिक युग के (Peptic ulcer) के वर्णनो के साथ पूर्ण साम्य है। परिणाम शूल (Duodenal ulcer) का तथा अन्नद्रव शूल (Gastric ulcer) के रूप में स्पष्टतया प्रतीत होता है। भोजन के परिपाक काल में या भोजन के पच जाने पर (भोजन के दो-तीन घंटे बाद) होने वाले उदर शूल को परिणाम शूल और बिना किसी नियम के होने वाले शूल को जो भोजन करने के साथ ही या भोजन के पच जाने पर या रिक्त आमाशय पर या भरे आमाशय पर कभी भी हो जाता है और वमन हो जाने पर शान्ति मिलती है, अन्नद्रव शूल कहते हैं।^१

आधुनिक ग्रंथों में शूल (Colics) पाँच प्रकार के बतलाये जाते हैं—
वृक्क शूल (Renal Colics), पित्ताशय शूल (Biliarycolic), गर्भाशय शूल (uterine Colics), आत्रपुच्छ शूल (Appendicular Colics) तथा आत्र शूल (Intestinal Colics), तथा प्राचीन ग्रन्थकारों ने इन शूलो के अतिरिक्त कुछ अन्य शूलो का भी इसी अध्याय में समावेश कर रखा है। जैसे—हृच्छूल (Angina Pectoris), वक्षस्तोद (Pleurodyna) तथा परिणाम एव अन्नद्रव शूल (Peptic ulcers)। इनमें पित्त शूल, वृक्क शूल, हृच्छूल, परिणाम शूल एवं अन्नद्रव शूल इन रोगों में पित्तिक शूलवत् उपचार करने का विधान तथा अन्य शूलो में कफ एव वातजन्य शूलोपचार करने का विधान बतलाया गया है।

सामान्य क्रियाक्रम—शूल के रोगी में प्राथमिक उपचार के रूप में सर्वप्रथम लंघन (खाना बढ़ करके उपवास), वमन (ऊपर से दोषो को निकालने के लिये), फलवर्त्ति (अधो भाग से दोषो के निर्हरण के लिये सपोजिटरी

१ भुवते जीर्यति यच्छूलं तदेव परिणामजम् ।

जीर्णे जीर्यत्यजीर्णे वा यच्छूलमुपजायते ॥

पथ्यापथ्यप्रयोगेण भोजनाभोजनेन च ।

न शमं याति नियमात्सोऽन्नद्रव उदाहृत ॥

अन्नद्रवाद्यशूलेषु न तावत्स्वास्थ्यमश्नुते ।

वान्तमात्रे जरत्पित्तं शूलं चाशु व्यपोहति ॥ (मा. नि)

या नाबुन के पानी या लवण जल की वस्ति गुदा से देना), स्वेदन (उदर तथा अन्य शूलयुक्त अङ्ग का स्वेदन), पाचन तथा वायु का अनुलोमन करने के लिये धारो, चूर्णों और गोलियों का उपयोग करना उत्तम रहता है । इन सामान्य उपायो से शूल का शमन होता है । वास्तव में जैसा पूर्व में बताया जा चुका है कि शूल रोग में सर्वत्र वायु की ही प्रधानता होती है । अस्तु, सामान्य वात-शामक उपचार ही प्रशस्त माने गये हैं ।^१

विशिष्ट क्रियाक्रम—वातिक शूल में विशिष्ट रूप से स्नेहन तथा स्वेदन (पायस या कृशरा से सेंक, पिएड या पोट्टली बनाकर सेंक, स्निग्ध मास की पोट्टली बनाकर सेंक) विशिष्ट उपचार है । वायु का रोग आशुकारी होता है । अतः शीघ्रतापूर्वक उसका प्रतिकार करना चाहिए । शूलाभिपन्न व्यक्ति में स्वेदन (Fomentation) करना सद्यः सुख पहुँचाता है ।^२

तिलकल्कादि स्वेद—कांजी के साथ काली तिल को पीसकर कड़ाही में गर्म करके एक कपडे के टुकड़े में पोट्टली बनाकर गर्म-गर्म उदर के ऊपर बार-बार सेंकना शूल का शमन करता है ।

गर्म जल का सेक—एक बोतल में गर्म जल भर कर या खर के थैला में गर्म जल भर कर सेंकना (Hot water Bottle) गर्म जल में तारपीन का तेल छोड़कर उसमें तौलिया भिगोकर निचोड़ कर उदर का सेंकना (Turpentine stoup) भी उसी प्रकार लाभप्रद रहता है ।

१ वमनं लघनं स्वेदः पाचनं फलवर्त्तय ।

क्षारश्चूर्णं च गुटिका शस्यते शूलशान्तये ॥

२. ज्ञात्वा तु वातज शूल स्नेहं स्वेदैरुपाचरेत् ।

पायसे कृशरार्पिडे. स्निग्धैर्वा पिशितोत्करैः ॥

आशुकारी हि पवनस्तस्मात्तं त्वरया जयेत् ।

तस्य शूलाभिपन्नस्य स्वेद एव सुखावह ॥

नाभिलेपाज्जयेच्छूल मदन काजिकान्वितम् ।

विल्वैरण्डतिलैर्वापि पिष्टैरम्लेन पोट्टली ॥

राजिकाशिग्रुकल्कं वा गोतक्रेण च पेपितम् ।

तैर्न लेपेन हन्त्याशु शूल वातसमुद्भवम् ॥

हिङ्गु तैल सलवण गोमूत्रेण विपाचितम् ।

नाभिस्थाने प्रदातव्यं यस्य शूल सवेदनम् ॥ (यो २)

दिनीला, कुलथी, तिल, जी, एरण्डमूल, अतीस, पुनर्नवा, सन के बीज इन्हे काजी में पीसकर पृथक्-पृथक् या मिलाकर गर्म करके उदर का सेंक करना ।

लेप सेक—मदनफल को काजी के साथ पीसकर गर्म करके उदर पर लेप करना । राई, सहिजन की छाल इनको सममात्रा में गाय के मूट्टे के साथ पीसकर उदर पर गर्म गर्म लेप करने से सद्यः शूल का शमन होता है । हींग, सरसो का तेल, मेंढा नमक और गोमूत्र को गर्म करके उससे तैलिया भिगो कर निचोड़ कर उदर का सेंकना तथा नाभिछिद्र में भरना शूलशामक होता है ।

दही के मूट्टे के साथ जी का आटा गूँद कर उसमें जवाखार मिलाकर (जी का आटा ५, जवाखार ५—मिलाकर) गर्म करके उदर पर मोटा लेप करना उदर शूल का शमन होता है ।^१

१. कुलत्थ यूष या लावक यूष—कुलथी ४ तोले अथवा बटेर का मांस ४ तोले ६४ तोले जल में खोलाकर १६ तोले शेष रहने पर उतारे । उसमें हींग, सोठ, मरिच, पीपल (छोटी), सेंधा नमक, काला नमक प्रत्येक २ रत्ती मिलाकर घीसे छीक कर पिलाने से वातिक शूल का शमन होता है ।

२. बलादि कषाथ—बला, पुनर्नवा, एरण्ड, छोटी कटेरी तथा गोखरू मूल का समभाग में बनाये कषाय में घी में भुनी हींग और काला नमक का प्रक्षेप करके पीना ।

३. दशमूल कषाय में एरण्ड तैल, हींग और काला नमक का प्रक्षेप डाल कर पीना ।

४. करञ्ज के फल की मीगी (कटक करंज), काला नमक, शुंठी, घृत में भजित हींग ।^२ इनका समभाग में बना चूर्ण ३ मासे की मात्रा में गर्म जल से सेवन । इस चूर्ण को करंजादि चूर्ण कहते हैं । एक योग कुबेराद्यादि बटी नामक आज कल प्रायः चलता है । उसका योग इस प्रकार का है :—

५. कुबेराक्षादि बटी—बालू में भुना करंज बीज, मूट्टे में भिगो कर घी में तला लहसुन और सोठ प्रत्येक एक एक तोला, घी में तली हींग और सुहागे की खोल ६, ६ मासे । सहिजन के रस में घोट कर ४-४ रत्ती गोली । अनुपान गर्म जल । सभी शूल में लाभप्रद ।

१. तन्त्रेण पिष्टं यवचूर्णमुष्णं सक्षारमत्ति जठरे निह्न्यात् ॥ च. सू. ३

२. करञ्जसीवर्चलनागराणां सरामठानां समभागिकानाम् ।

चूर्णं कटुष्णेन जलेन पीत समीरशूलं विनिहन्ति सद्यः ॥

पैत्तिक शूल में विशिष्ट क्रियाक्रम—पुराना गुड, शालि चावल, जी, दूध, घृतपान, विरेचन, जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांस ये द्रव्य पित्तशूल से पीडित रोगियों में लाभप्रद होते हैं ।

पैत्तिक शूल में परवल की पत्ती और नीम की पत्ती को दूध, पानी या ईख के रस में पीसकर पिलाकर वमन कराना, शीतल जल में अबगाहन, शीतल वायु युक्त स्थानों पर नदी के किनारे आवास, शीतल जल से भरे कास्यपात्र (कटोरे प्याले) को शूलयुक्त स्थान पर रखना उत्तम रहता है ।^१

यचयूप, मण्ड या पेय १—वमन रोग, ज्वर, ज्वरातिसार, पैत्तिकशूल, तीव्र संताप एवं बार बार प्यास लगना (तृष्णा रोग) में जौ का मण्ड बनाकर ठंडा होने पर उसमें मधु मिलाकर (Barly water) पीने को देना चाहिये । इससे इन सभी रोगों में शान्ति मिलती है । धान के खील का मण्ड और मधु भी उत्तम पथ्य है । मांसरसो में खरगोश (शश) तथा लावा (बटेर) का मांस रस बनाकर दिया जा सकता है ।

भेषज—२ १ आमलकी स्वरस १ तोला या आमलकी चूर्ण ६ माशे से १ तोला मधु के साथ । २ विदारीकद स्वरस १ तोला । ३ त्रायमाणा का स्वरस या कषाय । ४ द्राक्षा का स्वरस या कल्क या कषाय । ५. त्रिवृत् (निशोथ काली) का चूर्ण मधु के साथ । ६ शतावरी का स्वरस मधु से ७ मधुयष्टि का कषाय एरण्ड तैल मिलाकर । ८ आरम्बध फल को मज्जा । या ९ त्रिफला का कषाय और मधु का प्रयोग पैत्तिक दाह तथा शूल में परम लाभप्रद होता है ।

त्रिफलादि कषाय—त्रिफला, निम्बपत्र, मधुयष्टि, कुटकी, अमलताश का गूदा, शतावरी, बला और गोक्षुर का कषाय यथाविधि बनाकर ठंडा होने पर मधु मिलाकर सेवन करने से पित्त की अधिकता शान्त होती है । रेचन हो जाने से तज्जन्य दाह एवं शूल दोनों का शमन होता है ।

श्लेष्म शूल में विशिष्ट क्रियाक्रम—कफज शूल में वमन, लंघन, ज्योतिष्मती (मालकगुनी) आदि द्रव्यों द्वारा शिरोविरेचन, मधु से बने सीधु या

१. गुड शालियवा क्षीर सपिण्णानं विरेचनम् ।

जाङ्गलानि च मासानि भेषजं पित्तशूलिनाम् ॥

पित्ते तु शूले वमनं पयोऽम्बुरसस्तथेक्षोः सपटोलनिम्बै ।

शीतावगाहाः पुलिता सवाता कास्यादिपात्राणि जलप्लुतानि ॥ (भै.)

२ प्रलिह्यात् पित्तशूलघ्नं धात्रीचूर्णं समाक्षिकम् ॥

वरिष्ठो का सेवन, शहद, गेहूँ एवं जी की रोटी, एवं अन्य रुक्ष एवं कटु द्रव्यों का सेवन करना चाहिये ।^१

भेषज—१ पंचकोलादि चूर्ण—पंचकोल, सैधव, सामुद्र तथा विडलवण वृत्तर्भजिन हीग सम मात्रा में लेकर चूर्ण बना ले । मात्रा १-३ माशे । अनुपात मदोष्ण जल । २. दशगूल कपाय बनाकर उसमें सेंधा नमक १ माशा, यवक्षार १ माना मिलाकर पीना । ३. विल्वादि क्वाथ—वित्त्वमूल, एरण्ड, चित्रक इन की जड़ें और शुण्ठी इन को सम भाग में लेकर कपाय बना कर उस में घी में भुनी हीग २ रत्ती और सेंधा नमक १ माशा मिलाकर सेवन करने से कफज शूलो का शमन होता है ।

त्रिदोषज शूल में विशिष्ट क्रियाक्रम—१ शंख भस्म, सेंधा नमक, सोठ, मरिच, छोटी पोपल घी में भुनी हीग । सम भाग में लेकर । गर्म जल से । मात्रा ३ माशे । सभी प्रकार शूलो में विशेषतः त्रिदोषज शूल में लाभप्रद होता है ।^२

२ गोमूत्र में सिद्ध मण्डूर भस्म को त्रिफला चूर्ण और मधु के साथ सेवन त्रिदोषज शूल में लाभप्रद रहता है ।

आम शूल में विशिष्ट क्रियाक्रम—आम शूल में कफ शूल के विनाशक उपचारों को वरतना चाहिये । पुनः आम के नष्ट हो जाने पर अग्निवर्धक उपचारों में अग्नि का दीपन करना चाहिये ।

पंचसम चूर्ण—आमवाताधिकार का गर्म जल से सेवन ।

द्विदोषज शूलों में विशिष्ट क्रियाक्रम—वात-पित्तज शूल में वृहत्यादि गण की औषधियों का कपाय मधु के साथ लेना तथा मिश्रित क्रिया करनी चाहिये । वृहत्यादि गण की औषधियों में छोटी-बड़ी कटुकारी, इन्द्रजी, पाठा, मुलेठी । ये औषधियाँ वात-पित्त की शामक होती हैं और मूत्रकृच्छ्र में लाभप्रद होती हैं । पित्त-कफज शूल में पित्त और कफ शूल की जो चिकित्सा बतलायी गई है उन दोनों का मिश्रित उपचार करना चाहिये । पटोलादि कपाय—पटोल, आंवला, हर्रे, बहेरा, नीम का क्वाथ मधु के साथ देना उत्तम रहता है । वात क्नेष्मज शूल में लहसुन के स्वरस का मद्य के साथ सेवन (१ तोला लहसुन का

१ श्लेष्मातके छर्दनलघनानि, शिरोविरेकं मधुसौधुपानम् ।

मधूनि गोधूमयवानरिष्टान् सेवेत रुक्षान् कटुकाञ्च योगान् ॥ भै. र.

२. शंखचूर्णं सलवणं सहिगु व्योपसंयुतम् ।

उष्णोदकेन तत्पीतं हन्ति शूल त्रिदोषजम् ॥

रस और ४ तोला मद्य के साथ पिलाना) उत्तम रहता है । लहसुन के रस को मधु मिलाकर सेवन भी उत्तम रहता है ।^१

श्रोणि तथा वृक्क-शूल (Renal or uterine colic)—

१ एरण्ड सप्तक कपाय—एरण्ड, विल्व, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, एवं विजोरे की नीबू की जड़, पापाण और गोखरू के बीज, पाठा एवं मुलेठी इन सब औषधियों का २ तोला लेकर, ३२ तोला जल में खोला कर शेष जल ८ तोला, इस में घी में भुनी हींग ४ रत्ती, यवक्षार १ माशा और एरण्ड तैल १ तोला मिलाकर पीने को देना चाहिये । इस क्वाथ से श्रोणि प्रदेश में होनेवाले (Pelvic region colic) शूल शान्त होते हैं ।

२. अश्मरीहर कपाय—(मूत्रकृच्छ्राधिकार) वृक्कशूल में लाभप्रद होता है ।

३. हिंवादि चूर्ण—घृतभजित हींग, सोचल नमक, हरड, विडलवण, सैन्धवलवण, तुम्बुरु (नेपाली धनिया) तथा पुष्करमूल प्रत्येक एक-एक तोला लेकर कूट-छान कर महीन चूर्ण बना ले । मात्रा ३ माशे । अनुपान दशमूल कपाय । (चक्रदत्त)

४. कुन्दरु को पत्ती या मूल का स्वरस या कपाय वृक्कशूल शामक होता है ।

इस चूर्ण का उपयोग पार्श्वशूल, हृच्छूल (Angina Pectoris) वस्ति कटि-पृष्ठ शूल (Uterine or Renal colics or Lumbago) में उत्तम कार्य करता है ।

५ शुण्ठ्यादि योग—शुण्ठी चूर्ण १ तोला, छिल्का रहित काली तिलका चूर्ण १ तोला और पुराना गुड १ तोला मिश्रित दूध के साथ सेवन करने से योनि या गर्भाशय शूल (Uterine colic) में उत्तम लाभ होता है ।^२ किन्तु गर्भाशय के शूल में विशेष उपयोगी है ।

पित्ताशय यकृतप्लीह शूल—(Biliary colics) में १ विजोरे नीबू की जड़ का क्वाथ या सहिजन की छाल का काढ़ा बनाकर उसमें यवक्षार १ माशा

१. रसोनं मधुसम्मिश्रं पिबेत् प्रातः प्रकाक्षितः ।

वातश्लेष्मभवः शूलं निहन्ति वह्निदीपनम् ॥

२. नागरार्द्धपलं पिष्टं द्वे पले लुञ्चितस्य च ।

तिलस्यैकं गुडपलं क्षीरोष्णेन तु पाययेत् ॥

वातगुल्ममुदावर्त्तं योनिशूलञ्च नाशयेत् ।

और १ तोला गन्धु मिलाकर देना । अथवा विजीरे नीबू का रस १ छटाक लेकर उरुधं ववक्षार १ माघा मिलाकर सेवन करना भी लाभप्रद रहता है ।

२. वदणादि कपाय—(अग्मरी अधिकार) उत्तम कार्यकर होता है ।

३. पंचतृण कपाय—कुश, कास, गर, दर्भ, डक्षु-मूल, नरकट मूल, ताल-मखाने का मूल इनका सम प्रमाण में लेकर बनाया कपाय । मधु से उत्तम कार्य करता है ।

४. पित्ताशमरी या पित्ताशय शूल में—वाकुची बीज (गोलदाने की) और वरुण की छान प्रत्येक २ तोला, जल ३ छटांक रात में भिगोकर सुबह मसल छान कर पीने से लाभप्रद रहता है ।

५. वीरतरादिगण—(अशमरीनाजक) औषधियों का यथालाभ कपाय का सेवन भी उत्तम रहता है ।

शूलहर धूप—कम्वल से शरीर को ढककर प्राणायाम करते हुए रोगी को कड़वा तेल से मिले हुए सत्तू से धूपन करने से शूल शान्त होता है ।

आंत्र शूल (Intestinal Colic)—में शूलाधिकार के बहुविध योग तथा पुरीषोदावर्त्त की चिकित्सा समुचित है ।

आंत्रपुच्छ शूल (Appendicular Colic)—में अन्तर विद्रवि एवं गुल्म रोग की चिकित्सा समीचीन है ।

परिणाम शूल तथा अन्न द्रव शूल में क्रिया क्रम—भोजनसम्बन्धी अनियमों के कारण अधिकतर इन शूलों की उत्पत्ति होती है । अस्तु, इन शूलों की चिकित्सा में आहार का नियन्त्रण सर्वाधिक महत्त्व रखता है । रोगी को शारीरिक एवं मानसिक विश्राम देना भी आवश्यक होता है । कार्याधिक्य, चिन्ता, शोक, क्रोध, भोजन करके दौड़ना-बूमना आदि कार्य यदि उत्पादक हेतु रूप में मिल रहे हो तो इन कार्यों से रोगी को विरत करना चाहिये । व्यायाम, मैथुन, मद्य, दाल (मूँग, मसूर, अरहर, चना, उड़द) आदि का अधिक सेवन, कटु पदार्थों का (तेल, मिर्च-मसाले का) सेवन बन्द करा देना चाहिये । मल-मूत्र, छीक, जम्माई, निद्रा, वमन आदि वेगों को रोकना बन्द करा देना चाहिये । चिन्ता अधिक, शोक क्रोध आदि के वातावरण से रोगी को दूर रखने का प्रयत्न करना चाहिये । परस्पर विरोधी अन्न-पान, रात्रि-जागरण, विषम-भोजन (समय-असमय का खाना), अधिक गरिष्ठ और शीतल अन्न का सेवन बन्द करना चाहिये । आहार-विहार सम्बन्धी इन नियमों का पालन सभी प्रकार के शूल रोगों में विशेषतः

परिणाम तथा अन्नद्रव शूलो में करना उत्तम रहता है ।^१ काजी, अचार, चटनी-खटाई एवं तिल का वर्जन करना भी उत्तम रहता है ।

परिणाम शूल तथा अन्नद्रव शूल के रोगी में सर्वप्रथम केवल क्षीराहार (गर्म करके ठंडा किये दूध) पर रखना चाहिये । दूध को मीठा एवं सचिकारक बनाने के लिये उसमें मिश्री, बताशे या चीनी मिलाकर देना चाहिये । इस प्रकार दूध पर एक-दो सप्ताह तक रोगी को रखकर चिकित्सा करते हुए शीघ्रता से लाभ होने लगता है । पश्चात् शूल कम होने पर दूध के साथ ही साथ रोगी को जी का मण्ड देना प्रारम्भ करे, जब पीड़ा और कम हो जावे तो जी की रोटी या गेहूँ-जी के मिश्रित आटे की रोटी और दूध पर रखकर औषधि द्वारा चिकित्सा करता रहे । इस रोग में चावल का प्रयोग रोगी को अनुकूल नहीं पड़ता है । नमक का सेवन भी उत्तम नहीं रहता है । अस्तु, जब रोग में दो-तीन सप्ताह की चिकित्सा से पर्याप्त सुधार प्रतीत हो तब शाक-सब्जी का प्रयोग करना प्रारम्भ करना चाहिये । शाको में परवल, सहिजन, करैला, मूली, चोलाई, बथुआ, चने का पाक एवं बैंगन आदि अनुकूल पड़ते हैं । रोटी-शाक और दूध का सेवन लम्बे समय तक कराते रहना चाहिये । इन शूलो में फल बड़े उत्तम पथ्य हैं—सर्वोत्तम फल अनार या वेदाना पड़ता है । इसके अलावे आंवले का प्रचुर प्रयोग करना चाहिये । चटनी, अचार, मुरब्बा अथवा चूर्ण के रूप में आंवले का उपयोग उत्तम रहता है । पके आम, मुनक्का, कैथ, चिरांजी, कागदी नीबू, विजौरा नीबू, अमरुद, सेब आदि फल बड़े उत्तम रहते हैं । इनका उपयोग रोगी को प्रारम्भ से ही कराना चाहिये । बेर का फल यदि लाल बेर या जंगली बेर हो तो और अच्छा रहता है इसका भी उपयोग परिणाम शूल, अम्लपित्त एवं वमन के रोगियों में हितकर होता है । क्षारो का सेवन शूलशामक होता है । अस्तु, सोडा का पानी, सज्जीखार (Sodu Bicarb), यवाखार आदि का भी पानी में घोलकर उपयोग करना लाभ दिखलाता है ।

परिणाम शूल में स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग श्रेष्ठ रहता है । एतदर्थ घी का सेवन उत्तम रहता है । परिणाम शूल में व्यवहृत होने वाली बहुत सी औषधियाँ आती हैं, जिनके अनुपान रूप में घृत और मधु का प्रयोग होता है । घी और

१ व्यायाम मंथुन मद्य, वैदल लवण तिलान् । वेगरोध शुचि क्रोध वर्जयेच्छूलवान्तर ॥ विरुद्धान्यन्नपानानि जागर विपमाशनम् । रुक्षतिक्तकषायाणि शीतलानि गुरुणि च ॥ मापादिशिम्विधान्यानि मद्यानि वनिता हिमम् । आतपं जागरं क्रोध शुचं संधानमम्लकम् ॥ वर्जयेत्पित्तशूलार्त्तस्तथा जीर्णतिलानपि ॥ भै र.

गूड का उपयोग भी उत्तम रहता है। गेहूँ, जौ या पुराने चावल का मण्ड बना कर उसमें घी डालकर कई बार पिलाना उत्तम रहना है। पीने के लिये गर्म करके ठंडा किया जल अथवा नारिकेल जल (डाभ का पानी) देना चाहिये।

कई बार सत्तू का उपयोग भी परिणाम शूल में लाभप्रद पाया जाता है। मलाई युक्त दही के साथ जौ या मटर का सत्तू केवल खाने को दिया जावे, साथ में दूसरा भोजन न दिया जावे तो उत्तम लाभ दिखलाई पड़ता है। दालों में मटर की दाल परिणाम शूल में अनुकूल पड़ती है। मटर की पतली, दाल बना कर उसमें जौ का सत्तू मिलाकर पीने से शीघ्र शूल में लाभ पहुँचता है।^१ पुराने तथा नवीन उभयविध परिणाम शूल में ही हितकर होता है।

औषध—मासरसो में जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस उत्तम रहते हैं। आज कल मासरसो के बहुत से योग (Protienous diet) अंग्रेजी दवाखानों में मिलते हैं। इनका उपयोग जाङ्गल मासरसो के अभाव में किया जा सकता है। रोगी के दोषों के संशोधन के लिये वमन, विरेचन तिक्त मधुर द्रव्यों से कराना चाहिये। आवश्यकतानुसार वस्ति (Enema) देकर भी कोष्ठशुद्धि करनी चाहिये।^२

भेषज योग—१. निर्मास शम्बूक (घोघे) की भस्म १ माशा की मात्रा में घृत के साथ चटाकर ऊपर से गर्म जल पिलाने से शूल में सद्यः शान्ति मिलती है। २. शख भस्म, सेंधानमक, सोठ, मरिच, छोटी पीपल और घी में भुनी होगी। समभाग में लेकर। मात्रा २-४ माशा गर्म जल से देना सद्यः शूल शामक होता है। ३. शंख चूर्ण—शख भस्म, सेंधानमक, सोचलनमक, विडनमक, सामुद्रलवण, खनिजलवण, यवक्षार, शुद्ध सुहागा, जायफल, साँफ, अजवायन, पी में भुनी होगी, सोठ, कालामिर्च, छोटी पीपल। इन द्रव्यों को समभाग में लेकर महीन चूर्ण कर ले। मात्रा २ माशा गर्म जल के अनुपान से सेवन यह सभी प्रकार के शूलों में जैसे—यकृच्छूल, पित्ताशय शूल (Biliary colic), आंत्रशूल (Intestinal colic), परिणाम शूल तथा अन्नद्रव शूल (Peptic ulcer), में

१. दध्नाञ्जूनसरेणाद्यात् सतीनयवशक्तुकान् ।

अचिरान्मुच्यते शूलान्नरोज्ज्वलपरिवर्जनात् ॥

य. पिबति सप्तरात्र शक्तूनेकान् कलाययूपेण ।

स जयति परिणामज शूल चिरजमपि किमुत नूतनजम् ॥

२. वमनं तिक्तमधुरैर्विरेकरचात्र शस्यते ।

वस्तयश्च हिता. शूले परिणामसमुद्भवे ॥

उत्तम लाभ दिखलाता है । ४ शुंठी क्षीरपाक—सोठ, कालीतिल और गुड समभाग में लेकर कुल २ तोला, दूध १६ तोला, पानी ६४ तोला आग पर चढ़ाकर दूध मात्र शेष रहने पर उतार लेना । इस विधि से बने क्षीर-पाक का प्रयोग एक सप्ताह तक करने से भयङ्कर परिणाम शूल भी शान्त होता है । ५ पटोल, त्रिफला, नीम का काढ़ा मधु के साथ पीने से पित्त-श्लेष्म से उत्पन्न रोगों में और अम्ल पित्त तथा परिणाम शूल में लाभप्रद होता है ।^१

तिलादिगुटिका—तिल, सोठ, हरड और शबूक भस्म (घोघा भस्म) प्रत्येक १ तोला, पुरानी गुड़ ८ तोला । सब को अच्छी तरह खरल करके ६, ६ मासे की गुटिका बना ले । शीतल जल के अनुपान से दिन में एक या दो बार ले । इसके सेवन काल में दूध-रोटी या मासरस और रोटी रोगी को खाने के लिये देना चाहिये ।

विडङ्गादि मोदक—वायविडङ्ग के बीज, सोठ, मरिच, पिप्पली, त्रिवृत, दन्ती की जड़, चित्रक की जड़ इन सबको समभाग में लेकर पीस छानकर सबसे द्विगुण गुड़ मिलाकर रख दे । यह अग्निवर्धक, कृमिघ्न तथा शूलघ्न योग है ।

लौह तथा मण्डूर के योग—आयुर्वेद के ग्रन्थों में लौह तथा मण्डूर को परम शूलशामक माना गया है । इसके कई प्रसिद्ध एव आशु लाभप्रद योगों का उल्लेख नाचे किया जा रहा है ।

नारिकेल लवण—अच्छी तरह से पके हुए नारियल को ले उसके ऊपर की जटा को पृथक् करे, फिर उसमें छेद करके, सेधानमक महीन चूर्ण भर दे फिर छिद्र को बन्द करके उसके ऊपर कपडमिट्टी कर उपले को आग में पोट देकर जलावे । जब वह अपने आप बुझकर शीतल हो जाय तो आग से निकालकर मिट्टी को दूर करके भस्मीभूत नारियल का महीन चूर्ण मय नमक के कर लेना चाहिये । मात्रा २ माशा । अनुपान पिप्पली चूर्ण ४ रत्ती और गर्मजल से । सभी प्रकार के शूलों में विशेषतः परिणाम शूल में लाभप्रद ।

शूलवर्जिनी चट्टी—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, लौह भस्म, शंख भस्म प्रत्येक २ तोला, शुद्ध सुहागा, धो में भुनी हींग, सोठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, हरड का दल, वहेरा का दल, आंवला, कचूर, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपात, तालीशपत्र, जायफल, लौंग, अजवायन, जीरा, धनिया प्रत्येक १ तोला ले । प्रथम पारद एव गन्धक की कज्जली बनाकर शेष भस्म तथा काष्ठीषधियों के चूर्णों को

१. पटोलत्रिफलारिष्टवार्थं मधुयुतं पिबेत् ।

पित्तश्लेष्मज्वरच्छदिदाहशूलोपशान्तये ॥ भै. र.

मिलाकर चरल करे। फिर उसमें बकरी के दूध की एक भावना और आँवले के रस की १ भावना देकर, ४-४ रस्ती की गोलीयाँ बना मुखाकर जीभियों में भर कर रख ले। मात्रा १-२ गोली बकरी के दूध से या ठण्डे जल से दे। सभी प्रकार के गूलों में विशेषतः परिणाम गूल में लाभप्रद रहता है।

त्रिरागुण्य रस—मुहागे की खील, मृगशृङ्ग भस्म, स्वर्ण भस्म, शुद्ध गन्धक तथा रस मिन्दूर समभाग में लेकर बदरक के रस में एक दिन तक भावित करके सम्पुट करके गजपुट में एक बार फूँक दे। स्वाद्ध-गीतल होनेपर निकाल कर प्रयोग करे। मात्रा २-८ रस्ती। अनुपान सेंधानमक, भुना जीरा, भुनी हींग प्रत्येक २ रस्ती, मधु ६ माशे और घृत १ तोले के साथ। परिणाम गूल में मधु लाभप्रद होता है। पार्श्वगूल और छाती के दर्द में विशेष लाभप्रद।

धात्री लौह—अच्छे पके हुए आँवलो को तोड़कर उनकी गुठली पृथक् करे, फिर छाया में मुखाकर उसका कपड़छन चूर्ण करे। इस प्रकार तैयार किया हुआ आँवले का चूर्ण ३२ तोला, लौह भस्म १६ तोला, मधुयष्टि चूर्ण ८ तोले। सबको एकत्र कर ताजी गिलोय के रस में मर्दन कर के कपड़छन चूर्ण बना लें। मात्रा ५-१० रस्ती। अनुपान घृत और मधु। भोजन के पूर्व, मध्य एवं अन्त में।

सप्तमृत लौह—मुलैठी, हरट, बहेरा, आँवला और लौहभस्म प्रत्येक १-१ तोला। खरल में एकत्र महीन पीस कर रख ले। मात्रा १ माशा। अनुपान गृह ३ तोला और घी १ तोला के साथ। यह योग परिणाम गूल के अतिरिक्त तिमिर नामक नेत्र रोग में भी लाभप्रद है।

इन लौह योगों के अतिरिक्त भी कई लौह योग जैसे गूलराज लौह, वैश्वानर लौह, चतुःसम लौह, लौहामृत और लौह गुटिका आदि कई योगों का गूलाधिकार में वर्णन आया है। मण्डूर के भी कई योग पाये जाते हैं, जैसे—चतुःसम मण्डूर, भीमवट मण्डूर, तारा मण्डूर, गतावरी मण्डूर, बृहत् गतावरी मण्डूर तथा गुड मण्डूर। ये सभी योग, पुराने परिणाम गूल में जब पोषण की कमी से रक्तान्धता हो जाती है, उत्तम कार्य करते हैं। इन लौह या मण्डूर के योगों की प्राग्दुरोग की चिकित्सा में भी व्यवहार किया जा सकता है। यहाँ पर एक मण्डूर का योग दिया जा रहा है—

तारा मण्डूर—वायविडम्ब, चित्रक की जड़, चव्य, हरीतकी, विभीतक, आँवला, मोठ, सरिच, छोटी पोपल प्रत्येक का चूर्ण १-१ तोला, मण्डूर भस्म १ तोला, गोमूत्र १८ तोला और पुराना गुड ९ तोला। कलईदार कड़ाही में रख अग्नि पर चढ़ाकर पाक करे। जब पक्के २ पिएट के रूप में हो जावे तो उत्तार घृत से निम्ब माण्ड में रख ले। मात्रा १ माशा। दिन में तीन बार प्रातः एवं

भोजन के बाद घृत और मधु के साथ प्रयोग करे। यह योग भयंकर परिणाम शूल, कामला, कृमिजपाण्डु, कृमि रोग, गुल्म, उदर रोग, शोथ तथा स्थूल्य मे हितकर होता है।

अभ्रक भस्म के योगो का भी उल्लेख परिणाम शूल चिकित्सा मे आता है—विद्याधराभ्र तथा बृहत् विद्याधराभ्र रस के नाम से दो योग मिलते हैं। उनका उपयोग शूल रोग मे उत्तम लाभ करता है।

विद्याधराभ्र रस (बृहत्)—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, हरड, बहेरा, आवला, सोठ, मरिच, छोटी पीपल, वायविडङ्ग, मोथा, त्रिवृत्तमूल, दन्तीमूल, चित्रकमूल, मूषाकर्णी और पीपरामूल प्रत्येक १-१ तोला, अभ्रक भस्म ४ तोला, लौह भस्म १६ तोला। प्रथम पारद-गन्धक की कज्जली करे, फिर शेष द्रव्यो का महीन चूर्ण मिलाकर महीन पीसकर घृत और मधु से खरल करके २ रत्ती के परिमाण की गोलियाँ बना ले। मात्रा १-२ गोली। अनुपान गाय का दूध या नारिकेल जल (डाभ-का पानी)। सभी प्रकार के शूलो मे लाभप्रद।

नारिकेलखण्ड—आदि कई पाक का उपयोग परिणाम शूल मे होता है। जैसे हरोतकी खण्ड, पूग खण्ड (सुपारी पाक), खण्डामलकी, नारिकेल खण्ड आदि। यहा पर नारिकेल खण्ड (बृहत्) का योग उद्धृत किया जा रहा है। यह एक परिणाम शूल के रोगी में उत्तम काम करने योग्य तथा वल्य एवं रसायन है।

सुन्दर पके हुए नारियल की गिरी को शिला पर पीसकर वस्त्र मे रख कर जलीयाश को निकाल कर पृथक् रख ले। फिर गिरी का कल्क १ सेर लेकर ४० तोले घी मे भूनकर उसमें कच्चे नारियल का जल १६ सेर, चीनी २ सेर, सोठ का चूर्ण ३२ तोला और गोदुग्ध २ सेर मिलाकर पाक करे। जब पाक तैयार हो जाय तो अग्नि से उतार कर उसमे निम्नलिखित द्रव्यो का महीन चूर्ण मिलाकर एक कर ले। वशलोचन, सोठ, मरिच, पीपल, नागरमोथा, दालचीनी, तेजपात, छोटी इलायची, नागकेशर, धनिया, जोरा, गजपीपल प्रत्येक ४ तोले। मात्रा ६ माशे। अनुपान दुग्ध या जल। इसका उपयोग सभी प्रकार के शूल विशेषतः परिणाम शूल, अन्नद्रव शूल, अम्लपित्त तथा छर्दि रोग मे लाभप्रद होता है।

शूल रोग मे कुछ व्यवस्था पत्र—

सामान्यतया शूल रोगो में वायु की अधिकता होती है, अस्तु; तीव्र उदर शूल से पीडित रोगी आवे तो उसको तत्काल उदर का स्वेदन करे। एतदर्थ वातिक शूल के जो उपचार बतलाये गये हैं उनका प्रयोग करे। जैसे गर्भ पानी को खर के थैले या बोतल मे भर कर सेकना, उदर पर जौ का आटा और जवाखार को

मट्टे में पीसकर मोटा लेप करना चाहिये ।

क्षारराज—(यवक्षार, सज्जीक्षार, तालवृन्तक्षार तथा सोडावाय काव का मिश्रण) इसे एक छटांक गर्म जल में २ माशा की मात्रा में डालकर कागजी नीबू का रस डालकर पिलाना । साथ में बने बताये योगो को मिलाना हो तो हिंवादि बटी (कुपीलुयुक्त) एक से दो गोली और क्षारराज १-२ माशा मिलाकर दो-दो घंटे के अंतर से गर्म पानी के शर्वत और नीबू के रस के साथ देता चले । शूलवर्जिनी बटी एक उत्तम योग है । इस की एक एक गोली एक दो घंटे के अंतर पर गर्म जल से देता चले ।

कोष्ठशुद्धि के लिए आस्थापन (सोपवाटर, सेलाइन वाटर का एनीमा) देना चाहिये । यदि एक आस्थापन से कोष्ठशुद्धि न हो तो दूसरी-तीसरी वस्ति भी दी जा सकती है ।

अन्नद्रव तथा परिणाम शूल में व्यवस्थापन—

सप्तामृत लौह या घात्री लौह ४ रत्ती से १ माशा, प्रतिमात्रा में । दिन में दो बार घी १ तो. और मधु १। तोले के साथ दे ।

धात्र्यरिष्ट—भोजन के बाद २ चम्मच पीने को दे । यदि धात्र्यरिष्ट सुलभ न हो तो घात्री (आंवले) का चूर्ण ६ माशे भोजन के बाद दे । आंवले का प्रचुर प्रयोग परिणाम शूल में हितकर होता है । अविपत्तिकर चूर्ण (अम्ल पित्ताधिकार) ६ माशे की मात्रा में रात में सोते वक्त दूध के साथ देना चाहिये ।

परिणाम शूल की वेदना को तत्काल शान्त करने के लिये शूलवर्जिनी बटी, गज्ज्वबटी, शबूक भस्म या चारराज या केवल सोडा वायकार्ब-निम्बू के शर्वत के साथ देना चाहिये । अम्लपित्ताधिकार की औषधियों का भी उपयोग किया जा सकता है ।



तीसवाँ अध्याय

उदावर्त तथा आनाह प्रतिषेध

प्रावेशिक—अधारणीय वेगो के धारण से (न रोकने वाले स्वाभाविक वेगो के रोकने से) आवृत वायु (रुद्ध हुई वायु) की विलोम (उल्टी) गति होने लगती है । वह इतस्ततः घूमती हुई विविध लक्षणों को पैदा करती है । इस रोग को उदावर्त कहते हैं । शरीर में स्वाभाविक वेग तेरह प्रकार के ऐसे पाये

जाते हैं जिन का रोकना उचित नहीं है जैसे—मल (पाखाने का), मूत्र, अपान वायु, उद्गार (डकार), छर्दि (वमन), छीक, जृम्भा (जभाई), क्षुधा, तृषा, निद्रा, अश्रु (आंसू), श्वास (परिश्रम से उत्पन्न श्वास) तथा शुक्र (काम वासना से उत्पन्न) के वेगो के रोकने से उदावर्त्त रोग होता है । इन वेगो की सख्या तेरह है और तेरहो के रोकने से तेरह प्रकार के उदावर्त्त भी हो सकते हैं, जैसे १ अपानोदावर्त्त २ पुरीषजोदावर्त्त (इनमे Pelvirectal stasis जैसे लक्षण पैदा होते हैं । ३ मूत्रोदावर्त्त (Distended Bladder due to Urethral Spasm), ४ जृम्भानिरोधज उदावर्त्त (ग्रीवास्तंभ Spasm of Sternocleidomastoid) ५ अश्रुज उदावर्त्त (Acute Dacrocystitis or Blepharitis सहस्र लक्षण), ६ छिक्कानिरोधज उदावर्त्त (Key Neck, Headache, Hemicrania सहस्र लक्षण), ७. उद्गारनिरोधज उदावर्त्त (Hiccup & chest pain), ८ छर्दिनिरोधज उदावर्त्त (Urticaria सहस्र लक्षण), ९ क्षुधानिरोधज या १०. तृषानिरोधज उदावर्त्त (Emaciation & Giddiness & Syncope, Dehydration symptoms), परिश्रमजन्य श्वास के वेगो के रोकने से ११ श्वासनिग्रहजन्य उदावर्त्त (हृद्रोग, मूर्च्छा प्रभृति लक्षण), १२ निद्रानिरोधज उदावर्त्त (जृम्भा, अगमर्द, शरीर का भारीपन) तथा १३. शुक्रनिरोधज उदावर्त्त इनमे वृषणग्रन्थि, शुक्रप्रणाली-शुक्राशय तथा पौरुष ग्रन्थि के विकार पैदा होते हैं ।^१

वेग-विधारण से वायु का कोप होता है । इस प्रकार सभी उदावर्त्तों में वायु की विगुणता होती है । अस्तु, पीडा का होना एक प्रमुख लक्षण के रूप में पाया जाता है, चिकित्सा में वायु का अनुलोमन करना ही प्रधान उद्देश्य चिकित्सक का रहता है । उदावर्त्त में लक्षण तीव्र अथवा चिरकालीन दोनों प्रकार के स्वरूप ले सकते हैं ।^२

१ वातविण्मूत्रजृम्भाश्रुक्षवयूद्गारवमीन्द्रिया ।

क्षुत्तृष्णोच्छ्वासनिद्राणा धृत्योदावर्त्तसंभवः ॥ (सु)

न वेगान् धारयेद्धीमाबू जातान् मूत्रपुरुषयो ।

न रेतसो न वातस्य न च्छर्द्या. क्षवधोर्न च ॥ च.

नोद्गारस्य न जृम्भाया न वेगान् क्षुत्पिपासयो ।

न वाष्पस्य न निद्राया निश्वासस्य श्रमस्य च ॥

२ सर्वैष्वेतेषु विधिवदुदावर्त्तेषु कृत्स्नश ।

वायो क्रिया विधातव्या स्वमार्गप्रतिपत्तये ॥

उपर्युक्त ये सभी वेग शरीर को स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं (Nature calls), शरीर को स्वस्थ रखने के लिये इन का रोकना हानिप्रद होता है । इन वेगों के अतिरिक्त कुछ मानसिक वेग भी होते हैं । जिनका धारण करना (रोकना) ही श्रेयस्कर होता है और स्वास्थ्य को ठीक रखता है । अस्तु, इन को रोकना चाहिये । उदाहरणार्थ—लोभ, शोक, भय, क्रोध, मान, निर्लज्जता, ईर्ष्या, अतिराग (मोह) तथा अभिध्या आदि । इनके न धारण करने से विविध प्रकार के भाकस्मिक (Accidental) या सद्योघातज रोगों के होने की संभावना रहती है ।^१

आनाह—उदावर्त्त से सम्बद्ध एक रोग आनाह पाया जाता है जिस रोग में पूर्णतया मल एव अपान वायु की प्रवृत्ति न हो, उदर में गुडगुड शब्द भी नहीं हो उसे आनाह कहते हैं । इस अवस्था में पूर्णतया अवरोध रहता है । मल का नि सरण बन्द हो जाता है, अपान वायु अथवा डकार का निकलना भी सर्वथा बन्द हो जाता है । आनाह आम तथा पुरीष दोनों के संचय से हो सकता है । आधुनिकदृष्ट्या इस अवस्था को बृहदंत्रघात (Paralytic Ileas) के कारण होने वाला आन्त्रावरोध (Intestinal obstruction) कह सकते हैं ।

आनाह से मिलती हुई एक अवस्था आध्मान का उल्लेख वातरोगाधिकार में आता है । इसमें भी वायु का निरोध पाया जाता है, पेट का फूलना, पेट में गुडगुडाहट, तीव्र उदर शूल, उदर का फूला हुआ (तनाव या आध्मान Distension) पाया जाता है—परन्तु इसमें मल का संचय होना आवश्यक नहीं होता है, साथ में गुडगुडाहट (आटोप या आत्रकूजन) पाई जाती है और उदर में पीडा की अधिकता रहती है ।

सामान्य क्रियाक्रम—सभी प्रकार के उदावर्त्त रोग में चिकित्सक को सम्पूर्णतया वायु को स्वमार्ग में ले आने की क्रिया करनी चाहिये, जिससे स्वाभाविक वेग प्रवृत्त हो और अवरुद्ध मल या दोष निकल जावे ।^२ इसके लिये स्नेहन

१ लोभशोकभयक्रोधमनोवेगान् विधारयेत् ॥
नैर्लज्ज्येर्ष्यातिरागाणामभिध्यायाश्च बुद्धिमान् । (चर)

२. सर्वेष्वेतेषु मिषजा चोदावर्त्तेषु कृत्स्नशः ।
वायो क्रिया विधातव्या स्वमार्गप्रतिपत्ताये ॥

आस्थापन मास्तजे स्निग्धरिवन्ने विशेषतः ।

पुरीषजे तु कर्त्तव्यो विधिरानाहकोदित ॥ यो. २

त्रिवृत्सुधापत्रतिलादिशाकग्राभ्योदकानूपरसैर्यवान्मम् ।

अन्यैश्च सृष्टानिलमूत्रविड्भिरद्यात् प्रमन्नागुडसीधुपायी ॥ भै. २.

स्वेदन, लेखन (Counter Irritants) तथा विरेचन, फलवीरि (Irritants) तथा अभ्यग, अजन, नस्य आदि करना चाहिये । भोजन एवं औषधि के रूप में ऐसी कल्पना करनी चाहिये जिससे मल, मूत्र तथा वायु (अपान या डकार) पर्याप्त मात्रा में निकले । भोजन में ग्राम्य (पालतू), आनूपदेशज तथा जलचर जीवों के मांस तथा जी का (बहुमूत्रशकृद्-यव) का बहुल प्रयोग करना चाहिये । वैगन, मूली, गुड, अदरक, नीबू, यवाखार, हरीतकी, लवङ्ग, हींग, द्राक्षा, पचलवण का अधिक प्रयोग करना चाहिये । औषधि के रूप में विशेषतः वायु एवं पुरीपज उदावर्त्त में मद्य, आसवारिष्ट, एरण्ड तैल, अमलताश का मज्जा, त्रिवृत् (काली निशोध), सेहुण्ड, दन्ती बीज, गोमूत्र आदि का प्रयोग करना चाहिये ।

वायु का अवरोध हो तो उदर पर तेल की मालिश और सेक करके आस्थापन द्रव्यों से वस्ति देना और पुरीपज उदावर्त्त में आनाह की वक्ष्यमाण चिकित्सा का क्रम रखना चाहिये ।

आस्थापन द्रव्यों में—त्रिवृत्, विल्व, पिप्पली, कुष्ठ, सर्पप, वच, इन्द्रियव, शतपुष्पा, मुलैठी ये दश द्रव्य विशेष लाभप्रद होते हैं, अस्तु, इनके कपाय से वस्ति देना उत्तम रहता है । (च)

उदावर्त्त में सामान्य सप्तलादिगण की औषधियाँ—सप्तला, शखिनी श्वेता, आरस्वध, तिल्वक, श्यामा, दन्ती, द्रवन्ती, स्नुही, त्रिवृत्, अमृता, महाश्यामा, काम्पिल्लक, करंज, स्वर्णक्षोरी—ये सभी तीव्र क्षोभक और रेचक औषधियाँ हैं इनका उपयोग रेचन में करे ।

मूत्रोदावर्त्त में—मूत्र के वेग के अभिहत होने वाले उदावर्त्त में मूत्रावरोध, होता है । एतदर्थ १ मद्य में काला नमक मिलाकर पिलाना । २. मद्य में छोटी इलायची का चूर्ण मिलाकर पिलाना । ३ दूध में जल मिलाकर पिलाना । ४. जवासा अथवा अर्जुनकी छाल की काढा पिलाना । ५ ककडी के बीज को पानी में पीसकर थोड़ा सेंधानमक मिलाकर पिलाना । ६ लघुपंचमूल कपाय या उससे सिद्ध चीर का पिलाना । ७ द्राक्षा का कपाय पिलाना । ८ मुनक्का के कपाय में या अगूर के रस में यवक्षार तथा शर्करा प्रत्येक १ माशा मिलाकर पिलाना । ९ शतावरी का स्वरस या कपाय शक्कर मिलाकर या १० कुष्माण्ड स्वरस या कपाय का शक्कर के साथ पिलाना भी उत्तम रहता है ।

लेप—पेड़ या वस्ति के ऊपर चूहे की मीगी, या चूहे के बिल की मिट्टी, किशुक (प्लाश पुष्प) को पीसकर किंचित् गर्म करके लेप करना । गोखरू के बीज, मदनफल, चूहे की, मीगी, ककडी के बीज, केले की जड़ को काजी के साथ पीसकर लेप करना । अन्य भी मूत्रकृच्छ्र तथा अश्मरी में प्रयुक्त होने वाली

लोषधियों का उपयोग मूत्रावरोध (Retention of urine) को दूर करता है ।

अन्य प्रकार के उदावर्त्तों में क्रियाक्रम—जृम्भा निरोधजन्य उदावर्त्त में स्नेहन और स्वेदन करे । अथुनिरोधज उदावर्त्त में नेत्र का स्वेदन कराके लेखन (मरिच आदि के योग से बने) अंजनों को लगाकर अथु की प्रवृत्ति कराना चाहिये । छोक के रुकावट से पैदा होने वाले उदावर्त्त में—नस्य लेकर, मूत्र की ओर देखकर या नाक को कुरेडकर छोक लाने का प्रयत्न करना चाहिये । डकार की रुकावट से पैदा हुए उदावर्त्त में—स्नेहिकधूम का उपयोग, अदरक एवं काला नमक का नेवन, मट्टे के साथ ग्वाह का सेवन कराना चाहिये । वमन विरोध से उत्पन्न उदावर्त्त में दोणानुनार वामक योग देकर वमन कराना । शुक्रोदावर्त्त में मैथुन का विधान है, साथ ही पीष्टिक एवं शुक्रवर्धक आहार-विहार जैसे अम्यंग, अवगाहन, मदिगा, मूर्गे का अण्डा या मांस, दूध, चावल और निम्बू वस्ति देना चाहिये । वस्तिशोधक द्रव्यों से मिट्टी क्षीर का प्रयोग उत्तम रहता है ।

भूख के निरोध से उत्पन्न उदावर्त्त में—स्निग्ध, रुचिकर एवं स्वल्प भोजन दे । तृषा-विधात में उत्पन्न उदावर्त्त में स्वादु एवं शीतल यवागू तथा मद्य का पिन्धाना हितकर होता है । परिथमजन्य ज्वास के अवरोध से उत्पन्न उदावर्त्त में—पूर्ण विश्राम और मासरस के माध्य भोजन देना हितकर होता है । निद्रा विधानज उदावर्त्त में—रात में सोते वक्त माहिप-और (भैंस का दूध) पीने के लिये देना चाहिये । माय ही तिल तैल से अम्यंग कराके रोगी को जमीन पर सोने के लिये प्रेरित करना चाहिये ।

इस प्रकार नामान्यतया उदावर्त्त रोग में स्नेहन, स्वेदन, आस्थापन वस्ति, त्रिरेचन तथा गुदवर्त्ति का प्रयोग लाभप्रद क्रियाक्रमों में माने गये हैं ।^१

१. स्नेहस्वेदनावर्त्तं जृम्भणं नमुपाचरेत् । अथुमोक्षोऽक्षिजे कार्यं स्निग्धस्विन्नस्य देहितः ॥ मरिचाद्यञ्जनैर्धर्मैरादित्याद्यवलोकनैः । क्षवथो क्षवयत्रेण घ्राणस्थेना-
ञ्जनयेत्क्षवम् ॥ उद्गारजं क्रमोपेतं स्नेहिकं धूममाचरेत् । मलयेट्टुचकं सार्द्रं
गण्डं वा मधिनान्वितम् ॥ वम्यं वान्तं यथादोषं नस्यस्नेहादिभिर्जयेत् ।
वस्तिशुद्धिकरेः मिष्टं चतुर्गुणजलं पय ॥ आवारिनाद्यात् क्षथितं पीतवन्तं
प्रकामतः । रमयेयुः प्रिया नार्यं शुक्रोदावर्त्तिनं नरम् ॥ तस्याम्यगावगाहाद्य-
मदिराश्वचरणायुधाः । शालिः पयो निरुहाद्य हितं मैथुनमेव च ॥ क्षुद्रविधाते
हितं स्निग्धं क्ष्यमल्पञ्च भोजनम् । तृषाघाते पिवेन्मद्यं यवागू स्वादु शीतलम् ॥
रसेनाद्यात्तु विश्रान्तः श्रमज्वासादिनो नरः । निद्राघाते पिवेद् दुग्धं माहिपं
रजनीमुषे ॥ तिलतैलेन मम्मूज्य भूतले गयनं चरेत् । उदावर्त्तिनमभ्यक्तं-
स्निग्धगात्रमुपाचरेत् ॥ वर्त्तिकास्थापनस्वेदवस्तिरेचनकर्मणा । (यो. र.)

आनाह तथा उदावर्त्त रोग में सामान्यतया चलने वाले योग—
उदावर्त्त रोगों में वायु तथा पुरीष के अवरोध तथा आनाह यही दो महत्त्व के रोग हैं। जिनमें चिकित्सा प्रायः तत्परता से करने की आवश्यकता पड़ती है। मल-वायु का अवरोध आनाह में भी पाया जाता है। अस्तु, दोनों में चिकित्सा क्रम सामान्य ही रहते हैं। अस्तु, यहाँ पर इन दोनों का विशेष उल्लेख किया जा रहा है। लिखा भी है “उदावर्त्त की क्रिया ही आनाह रोग में करनी चाहिए। आनाह की अमावस्था हो तो प्रथम लघन करा के फिर पाचन देना चाहिए।”^१

वायु एवं पुरीष के उदावर्त्त तथा आनाह रोग में अधो वायु का निरोध पाया जाता है—स्नेहपान (घृत का पिलाना या घृत के अनुपान से वातानुलोमक चूर्णों का प्रयोग), तेल का उदर पर मालिश, स्वेदन (उदर का सेक), उदर पर लेप, आस्थापन वस्ति (Enema) तथा गुडवर्त्ति (Suppositories) का प्रयोग हितकर होता है। गुडवर्त्ति के कई योग ग्रन्थों में पाये जाते हैं। इनमें किसी एक का उपयोग गुदामार्ग से करने पर अद्भुत लाभ दिखलाई पड़ता है।

फलवर्त्ति—मैनफल, पिप्पली, कूठ, वच, सपेद सरसो, गुड और यवक्षार इन द्रव्यों को सममात्रा में लेकर पीसकर वर्त्ति जैसी एक अगुली की मोटाई की वर्त्ति बनाकर गुदा में रखने से मल और वायु की प्रवृत्ति होकर उदावर्त्त दूर होता है।^२

हिग्वादिवर्त्ति—हीग, शहद और सेंधानमक सममात्रा में लेकर वर्त्ति बनाकर घृत से अभ्यक्त करके गुदा में प्रविष्ट करना। यह योग बड़ा ही उत्तम कार्य करता है।

अगार धूमादिवर्त्ति—रसोई घर का धुवा, सेंधानमक, पिप्पली, मैनफल, पीला सरसो—इन्हे समभाग में लेकर गोमूत्र में पीसकर तिल का तेल मिलाकर वर्त्ति बनाकर गुदा में प्रविष्ट करना।

१ अधोवातनिरोधोत्थे ह्युदावर्त्तं हितं मतम्।

स्नेहपान तथा स्वेदो वर्त्तिर्वस्तिर्हितो मतः॥

उदावर्त्तक्रियाऽऽनाहे सामे लघनपाचनम्।

आनाहेऽपि प्रयुञ्जीत उदावर्त्तहरी क्रियाम्॥

२ मदन पिप्पली कुष्ठ वचा गौराश्च सर्षपा।

गुडक्षीरसमायुक्ता फलवर्त्तिः प्रशस्यते॥

हिग्माचिकसिन्धूतैः पक्त्वा वर्त्ति सुवर्त्तिताम्।

गुडक्षीरसमायुक्ता फलवर्त्तिः प्रशस्यते॥

३४ भि० सि०

राठादिवर्त्ति—मन गिला, गृहधूम, काला नमक, सोठ, मरिच, छोटी पापल, निर्गुण्डीपत्र, ज्वेत सर्पप, कूठ और मैनफल । महीन पीसकर गोमूत्र में पकाकर अंगूठे के बराबर मोटी वर्त्ति बनाकर धी में लिप्त करके धीरे-धीरे गुदा में प्रविष्ट करने से आनाह में अद्भुत लाभ दिखलाता है ।

उदर का प्रलेप—बल्मीक (वाम्बी) की मिट्टी, करञ्जकी त्वचा, मूल, फल और पत्र तथा मरसो । इनको गोमूत्र में पीस कर उदर पर गुनगुना लेप करने से वायु का ठीक प्रकार से अनुलोमन होता है । इससे उदावर्त्त तथा आनाह का गमन होता है ।

पुरीषोदावर्त्त तथा आनाह में प्रयुक्त होने वाले आभ्यन्तर योग—

१. सप्तलादि गण (चक्रदत्तोक्त) की औषधियों का चूर्ण या कपाय रूप में मुख से उपयोग लाभप्रद रहता है । इन्हीं औषधियों का श्यामादि कपाय नाम से वृन्द ने उपयोग बतलाया है । इसका उल्लेख ऊपर ही चुका है ।

२. त्रिवृत्, हरोतकी और काली निगोथ इनका चूर्ण सममात्रा में लेकर स्नुही धीरे से भावित करके १-२ माशा की मात्रा में गर्म जल से देना ।^१

३. केवल स्नुही (सेटुएड मूल का चूर्ण) १-२ माशा गर्म जल से देने से आनाह में लाभ होता है ।

४. हिंवादि चूर्ण—धी में भुनी हींग १ भाग, द्विधिया वच २ भाग, कूठ ४ भाग, सज्जीखार ८ भाग, वायविडङ्ग १६ भाग । इनका कपड्डन चूर्ण । मात्रा १-२ माशा । अनुपात उष्णोदक । हृद्रोग, गुल्म, आनाह, डकार का अधिक आना में इसके प्रयोग से लाभ होता है ।

५. वचादि चूर्ण—द्विधिया वच, बड़ी हरड, चित्रकमूल, यवक्षार, पिप्पली, अतीम तथा कूठ । इन द्रव्यों को समभाग में लेकर बनाया महीन चूर्ण । मात्रा २-३ मागे । उदावर्त्त एवं आनाह (वायु का रुकना और अफारा) में लाभप्रद ।

६. नाराच रस—शुद्ध पारद एवं शुद्ध गंधक की कज्जली (प्रत्येक एक तोला), काली मिर्च १ तोला, शुद्ध सोहागा, पिप्पली चूर्ण प्रत्येक २-२ तोला, जयपाल (जमालगोटे) का शुद्ध चूर्ण ९ तोला । सब को मिलाकर थूहर के दूध के साथ तीन दिनों तक खरल करे । फिर इसको छिल्के रहित नारियल के फल के भीतर छोटा से छेदकर के उममें भर तीव्र आँच के भीतर रख कर पाक करे । फिर स्वाद्वशीतल होने पर चूर्ण को नारियल में बाहर करके पीस ले एवं शीशी में

१ त्रिवृद्धरीतकी श्यामा स्नुहीक्षीरेण भावयेत् ।

स्नुहीमूलस्य चूर्णं वा पिवेदुष्णेन वारिणा ॥ (भै. र.)

भर कर रख ले । मृदु कोष्ठ के रोगियो मे केवल नाभि मे लेप कर देने से रेचन होने लगता है । इन चूर्ण का गंध लेने से भी सुकुमार एवं स्निग्ध कोष्ठ के व्यक्तियों मे रेचन होता है । क्रूर कोष्ठ के व्यक्तियों मे १ रत्ती की मात्रा मे शीतल जल से देने से तीव्र रेचन होता है, उदावर्त्त तथा आनाह का शमन होता है ।

७ इच्छाभेदी रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गधक, शुद्ध सोहागा, काली मिर्च, प्रत्येक १ तोला, त्रिवृत् की जड़ तथा सोठ का चूर्ण प्रत्येक २ तोला, शुद्ध जयपाल का चूर्ण ९ तोला । प्रथम पारद और गधक की कज्जली बनाकर उसमे शेष द्रव्यो को संयुक्त करके अर्कक्षोर या अर्कपत्र—स्वरस की भावना देकर, अर्कपत्र में लपेट कर उपले की मृदु आँच में पका ले । फिर चूर्ण करके शीशी मे भर ले । मात्रा १-३ रत्ती तक । अनुपान शीतल जल ।^१

यह एक तीव्र रेचक योग है । इच्छा के अनुसार रेचन कराता है, अस्तु, इसका नाम ही इच्छाभेदी कर दिया गया है । जब तक दस्त कराने की इच्छा हो दस्त से लौटने के बाद ठंडा जल पीता रहे, जब दस्त बन्द करने की इच्छा हो तो उष्ण जल पीते दस्त बन्द हो जावेगा । यदि इस योग से दस्त बहुत होने लगे और बन्द न हो तो भिण्डी का रस पिलाना । भोजन मे दही-चावल खिलाना और उष्ण वस्त्र मे शरीर को आवृत कर सो जाने से तत्काल दस्त बन्द हो जाता है ।

इस योग का अनेक रोगो मे विबन्ध दूर करने के लिये प्रयोग होता है, परन्तु उदर रोग, आनाह तथा उदावर्त्त में विशेष क्रिया होती है ।

अपथ्य—वमन, वेगो का रोकना, शमीधान्य (विविध प्रकार की दाल), कोद्रव, शालूक (विस-मूणाल), जामुन, ककडी का फल, तिल की खली, सभी प्रकार के आनू, करीर, पीठी के पदार्थ, विबन्धकारक, विरुद्ध, कषाय रस द्रव्य, गुरुपाकी पदार्थों का सेवन निषिद्ध है ।



इकतीसवाँ अध्याय

गुल्म प्रतिषेध

हृदय और नाभि के बीच उदरस्थ अंगों में विशेषतः आंत्रों में होने वाले अर्बुद या उभार को गुल्म कहते हैं। इसकी उत्पत्ति में वायु प्रधान भाग लेता है, वह आंत्रके किसी भाग में भर कर उसका विस्फार पैदा करता है, जिससे उदर की दीवाल पर एक वृत्ताकार उभार सा दिखलाई पड़ता है अथवा स्पर्श द्वारा प्रतीत किया जा सकता है (Abdominal tumour due to Gaseous distension of Intestinal coil) यह उभार चल (संचारी) या स्थिर भी हो सकता है—वायु की विगुणता में वह स्थिर रहता है और वायु के अनुलोमन हो जाने पर वह अपचय को प्राप्न होकर नष्ट हो जाता है। अर्थात् आंत्र में कभी घटने और कभी बढ़ने वाले उभार को गुल्म कहते हैं।^१

आचार्य सुश्रुत ने इसको अर्बुद से पृथक् रोग माना है क्योंकि अर्बुदों का स्वतंत्र अध्याय में वर्णन किया है। विद्रधि (Abscess) से भी इसको पृथक् माना है। विद्रधि में इसका पार्थक्य करते हुए उन्होंने लिखा है—कि विद्रधि एक सीमित स्थान पर बाह्य या आन्तरिक अवयवों में उत्पन्न होती है। वह स्थिर या अचल (Immovable) होती है और संचारी (Mobile) नहीं होती है। विद्रधि एक स्यायी विकार है जिसमें रक्त-मासादि धातुओं का आश्रय पाया जाता है, अस्तु, उनका मूल होता है और वास्तुपरिग्रहवान् (एक घेरायुक्त) होती है, इसमें पाक या पूयोत्पत्ति होती है। परन्तु, गुल्म में पाक नहीं होता है इसमें दोष ही स्वयं गुल्म का रूप धारण कर लेते हैं और उभार चल होता है उसका चलना आँखों से दिखाई पड़ता है अथवा स्पर्श के द्वारा प्रतीत किया जा सकता है।

चरक ने गुल्म में भी कई बार पाकोत्पत्ति होते बतलाया है। विद्रधि के भाँति इसमें पक्वापक्वावस्था का निदान, चिकित्सा में उपनाह तथा शस्त्रकर्म का

१ हृन्नाम्योरन्तरे ग्रथिः संचारी यदि वाऽचल ।

वृत्तश्चयापचयवान् स गुल्म इति कीर्तित ॥

क्रुपितानिग्नमूलत्वात् सचित्तत्वान्मलस्य च ।

तुन्यत्वाद्वा विशालत्वाद् गुल्म इत्यभिधीयते ॥ (सु)

विधान बतलाया है। परन्तु, पाक की अवस्था में गुल्म को गुल्म न कहकर विद्रधि कहना ही अधिक उचित प्रतीत होता है। सहिताकार ने जो वर्णन किया है वह भी विद्रधि का ही है। पकने वाले गुल्म की तीन विशेषतायें दी गई हैं—

१. कृतवास्तुपरिग्रह २. कृतमूल ३. रक्तमासाश्रयी ।^१

गुल्म के स्थान एवं भेद—मिथ्या आहार-विहार से कुपित हुए दोष कोष्ठ (उदर) में ग्रधि के आकार के पाँच प्रकार के गुल्मों को पैदा करते हैं। गुल्म दोनो पार्श्व, हृदय, वस्ति तथा नाभि इन पाँच स्थानों में होता है। वात, पित्त, कफ, सन्निपात तथा रक्त से उत्पन्न होने वाले पाँच प्रकार के गुल्म होते हैं। इनमें प्रथम चार पुरुष और स्त्री दोनों में किन्तु रक्तज गुल्म केवल स्त्रियों में उनके गर्भाशय में होता है।^२

गुल्म का पूर्वरूप—डकारो का अधिक आना, कोष्ठवद्धता, भोजन में अरुचि, शक्ति का ह्रास, आत्रकूजन (गुडगुड शब्द होना), पेट का फूलना या अफारा, उदरशूल तथा पचन शक्ति का कम होना ये लक्षण गुल्म के पूर्वरूप में मिलते हैं।^३

रूप—उपर्युक्त लक्षण अधिक व्यक्त हो जाते हैं। भोजन में अरुचि, मल-मूत्र तथा अपानवायु के निकलने में कठिनाई, आत्रो में गुडगुड शब्द होना, आनाह तथा ऊर्ध्ववात—डकारो का अधिक आना, सभी गुल्मों में सामान्य रूप से पाये जाते हैं। फिर दोषानुसार वातिक, पित्तिक, श्लेष्मिक तथा सान्निपातिक अथवा

१ विदाहलक्षणे गुल्मे बहिस्तुङ्गे समुन्तते ।

श्यावे सरक्तपर्यन्ते सस्पर्शे वह्निसन्निभे ॥

निपोडितोन्नते स्तब्धे सुप्ते तत्पार्श्वपीडनात् ।

तत्रैव पिण्डिते शूले सपक्वे गुल्ममादिशेत् ॥

तत्र धान्वन्तरेयाणामधिकार क्रियाविधौ ।

रक्तपित्तातिवृद्धत्वात् क्रियामनुपलभ्य च ॥

यदि गुल्म विदह्येत शस्त्रं तत्र भिपन्जितम् ॥ (च चि ५.)

२ कुर्वन्ति पचया गुल्म कोष्ठान्तर्ग्रन्थिरूपिणम् ।

तस्य पचविध स्थान पार्श्वहृन्नाभिवस्तयः ॥ (मा नि.)

न व्यस्तैर्जायते दोषैः समस्तैरपि चोच्छ्रितैः ।

पुरुषाणां तथा स्त्रीणां ज्ञेयो रक्तेन चापरः ॥ (सु)

३ उद्गारबाहुल्यपुरीषबन्धतृप्त्यक्षमत्वान्त्रविकूजनानि ।

आटोपमाध्मानमपक्वितशक्तिरासन्नगुल्मस्य वदन्ति चिह्नम् ॥

स्त्रियो में पाया जाने वाला रक्तज गुल्म अपने विशिष्ट लक्षणों से युक्त मिलते हैं।^१ रक्तज गुल्म का वर्णन स्त्री रोग विज्ञान में विस्तार से तथा पक्व गुल्मों का शत्यतन्त्र में विद्रधि के अधिकार में विस्तार के साथ लिखा गया है। यहाँ पर काय-चिकित्सा से सम्बद्ध चतुर्विध (वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक तथा सान्नि-पातिक) गुल्मों की चिकित्सा का लिखना अभिलषित है। अस्तु, इन्हीं चारों की चिकित्सा का आख्यान नीचे किया जा रहा है।

गुल्म रोग में सामान्य क्रियाक्रम—

हारीत महिता में गुल्म-चिकित्सा में व्यवहृत होने वाले ग्यारह क्रियाक्रमों का उल्लेख किया है। जैसे—स्नेहन, स्वेदन, निरुहण, अनुवासन, विरेचन, वमन, वृंहण, शमन, शोणितमोक्षण तथा अग्निर्कर्म। इस प्रकार इन एकादश प्रकार के क्रियाक्रमों में से दोष, दूष्य तथा रोगी के बलावल का विचार करते हुए प्रयोग करना चाहिये।^२

जैसा कि ऊपर में बतलाया जा चुका है गुल्म रोग में वायु की ही प्रधानता पाई जाती है। अस्तु, गुल्मरोगियों में सर्वप्रथम वात शामक ही चिकित्सा करनी चाहिये। क्योंकि वायु के स्वभावस्थ हो जाने पर स्वल्प चिकित्सा से भी अन्य उदीर्ण दोषों का स्वयमेव शमन हो जाता है।^३ अस्तु, गुल्म रोग में स्नेह तथा स्वेदन प्रधान उपक्रमों के रूप में बरते जाते हैं। स्नेहन के अनन्तर स्वेदन करने से स्रोतम् मृदु हो जाते हैं, विवद्ध (रुद्ध) वात का संशमन होता है तथा रुक्षता के कारण आत्र में संचित मल का भेदन होकर गुल्म का विनाश होता है।

गुल्म को नष्ट करने के लिये रोगी के उदर पर तेल की मालिश करके सेंकना उत्तम रहता है। इसके लिये १. वातहर औषधियों के क्वाथ के वाष्प से सेंक करना (कुम्भीस्वेद), २. उड़द कुलथी, जो प्रभृति द्रव्यों के चूर्ण को पानी में

१. अर्शचि कृच्छ्रविण्मूत्र वातान्त्रप्रतिकूजनम् ।

आनाह चोध्ववातत्व सर्वगुल्मेपु लक्षयेत् ॥ (सु)

२ मिद्धमेकादशविध शृणु मे गुल्मभेषजम् ।

स्नेहनं स्वेदनञ्चैव निरुहमनुवासनम् ॥

विरेकवमने चोभे लघनं वृंहण तथा ।

शमनञ्चावसेकञ्च शोणितस्याग्निकर्म च ॥

कारयेदिति गुत्माना यथारम्भ चिकित्सितम् ॥ (हा)

३ गुल्मिनामनिलगान्तिरुपायैः सर्वशो विधिवदाचरितव्या ।

मारुते ह्यवजितेऽन्यमुदीर्णं दोषमल्पमपि कर्म निहन्यात् ॥ (भै र.)

उवाल कर उसका पिएड बनाकर कपडे मे पोटली बनाकर सेंकना, ३. ईंट को गर्म करके ऊपर वातहर क्वाथ का छोटा देकर उसके वाष्प से सेंकना अथवा गर्म ईंटे को वातहर क्वाथ मे बुझा कर उससे सेंकना । ४ वातहर औषधियो को पीसकर कल्क बनाकर गर्म करके उदर को सेंकना या लेप करना । ५ वात रोगाधिकार में पठित ।^१ शाल्वण स्वेद से उदर का स्वेदन करना भी हितकर होता है । ६ तिलादिस्वेद-तिल, एरण्ड बीज, अतसीबीज, सरसो पीसकर गर्म करके पोटली बनाकर सेंकना ।

गुल्म के स्थान से रक्त-विस्त्रावण, बाहु की शिरा के वेध (Cubitalvein), स्वेदन तथा वातानुलोमन सदैव हितकर रहता है । लघन (उपवास या लघु भोजन), अग्नि को प्रदीप्त करने वाले एव स्निग्ध उष्ण तथा वात के अनुलोमक पदार्थ तथा वीर्य को बढ़ाने वाले सभी प्रकार के खाद्य एव पेय द्रव्यो का सेवन गुल्म रोग मे हितकर होता है ।^२

पथ्य—वातनाशक दशमूलादि द्रव्यो से सिद्ध की हुई पेया, कुलथी का यूप, जगली पशु-पक्षियों के मासरस, तथा वृहत् पचमूलादि से सिद्ध यूप गुल्मरोगियो मे हितकर होते हैं । पुराना चावल, गाय या बकरी का दूध, मुनक्का, फालसा, खजूर, दाडिम, आंवला, नारंगी, नीबू, अम्लवेत, तक्र, एरण्ड तैल, लहसुन, छोटी मूली, बयुवा, सहिजन की फली, जवाखार, हरें, हींग, विजौरा नीबू, त्रिकटु, गोमूत्र आदि पथ्य होते हैं ।

अपथ्य—विरोधी भोजन, गरिष्ठ अन्न, मछली, बड़ो मूली, मीठे फल, शुष्क शाक, आलू का अधिक सेवन, शमी धान्य (दाल आदि), वेगो का रोकना, वमन, अधिक जल पीना गुल्म रोगी को छोड देना चाहिये ।

विशिष्ट क्रियाक्रम—वात गुल्म मे स्नेहन, स्वेदन, स्निग्ध विरेचन, निरूहण तथा अनुवासन, शैष्मिक गुल्म में लघन, लेखन, स्वेदन, अग्नि का दीपन, कटु एव क्षार द्रव्यो से सिद्ध घृत । तथा स्निग्ध एवं उष्ण द्रव्यो से उत्पन्न पित्त गुल्म में स्रंसन एवं रूक्षोष्ण सेवन से उत्पन्न पित्त गुल्म मे घृतका प्रयोग उत्तम रहता है ।

१ स्निग्धस्य भिषजा स्वेदः कर्तव्यो गुल्मशान्तये ।

कुम्भोपिण्डेष्टकास्वेदान् कारयेन् कुशलो भिषक् ॥

उपनाहाश्च कर्तव्या सुखोष्णा शाल्वणादयः ।

२ स्थानावसेको रक्तस्य बाहुमध्ये शिराव्यधः ।

स्वेदोऽनुलोमनञ्चैव प्रशस्त सर्वगुल्मिणाम् ॥

पेया वातहरैः सिद्धा कौलत्था धान्वजा रसाः ।

खडा. सपचमूलाश्च गुल्मिणा भोजने हिताः ॥

वात गुल्म में शेषज—१. विजोरे नीबू का रस एक छटाँक में भुनी होग २ रत्ती, वाडिम धीज का चूर्ण १ माया या स्वरस १ तोला, काला नमक ४ र०, सेंधा नमक ४ रत्ती मिलाकर सेवन ।

२ सोठ का चूर्ण १ तोला छिल्का रहित तिल १ तोला, और पुराना गुड १ तोला मिलाकर दूध के साथ सेवन करने से वातिक गुल्म, उदावर्त तथा गर्भाशय के शूल में उत्तम लाभ होता है ।

३ वारुणीमण्ड सुरा (Alcoholic drinks) में एरण्ड तैल ४ तोला या उष्ण दुग्ध में एरण्ड तैल ४ तोला मिलाकर पीने से वातिक गुल्म में उत्तम लाभ होता है ।

४. लघुन क्षीर—छिल्को से रहित करके सुखाया हुआ लहसुन ४ तोला लेकर उसको अष्टगुण क्षीर अर्थात् ३२ तोले में डालकर अग्नि पर पका कर जब दूध मात्रा शेष रह जावे, तो पिलाने से लाभ होता है । इस योग का प्रयोग राजयक्ष्मा, हृद्रोग, विद्रधि, उदावर्त, गुल्म, गृध्रसी, श्लीपद तथा धिपम ज्वर में लाभप्रद होता है ।

पित्त गुल्म में—मृदु रेचन अथवा स्रंसन के लिये १. कवीले का चूर्ण १ माया, ३ माशे मधु के साथ २ द्राक्षा का रस या द्राक्षा (मुनक्का) का गुड के साथ सेवन । ३ त्रिवृत् चूर्ण ३ माशे त्रिफला के कपाय के साथ । ४. हरीतकी चूर्ण और पुराना गुड के साथ सेवन । ५. आमलकी-कपाय का मधु के साथ सेवन । ६ द्राक्षा, विदारी, मधुयष्टि, श्वेत और पद्माक्ष का समभाग में लेकर बनाया चूर्ण । मात्रा ३ माया मधु एवं चावल के पानी से ।

पित्त गुल्म में पाक होने लगे तो उपनाह (पुल्टिश) बाँधना उत्तम होता है । पक जावे तो भेदन, शोधन तथा रोपण आदि व्रणवत् उपचार करना चाहिये ।

वज्रक्षार—पंच लवण (सामुद्र, सैधव, विड, रुचक, सोचल), यवक्षार, सज्जीखार, शुद्ध मुहागा । प्रत्येक को समभाग में लेकर तीन दिनो तक अर्क-चोर में भावित करे । पश्चात् स्नुहीचोर (धूहर के दूध) में तीन दिनो तक भावना दे । मुगाकर इस कुल चूर्ण को अर्क के पत्र में लपेट कर सकोरे में कपडमिट्टी करके बंदकर लघु पुट में पुट देना चाहिये । फिर उसको पुट से निकालकर चूर्ण कर ले । फिर इस कुल चूर्ण की आधी मात्रा में निम्नलिखित द्रव्यों का समभाग में लिया महीन चूर्ण डालकर मिला ले । सोठ, मरिच, पीपरि, हरट, बहेरा, आंवला, जीरा, हल्दी और विचक मूल । मात्रा २ माशे । अनुपान—उष्ण जल या काजी के साथ ।

काङ्कायन गुटिका—कचूर, पोहकरमूल, दन्ती की जड़, चित्रक की जड़, अरहर की जड़, सोठ, वच, निशोध की जड़ प्रत्येक ४ तोला, शुद्धहींग १२ तोला, यवक्षार, अम्लवेत ८-८ तोला, अजवायन, धनिया, जीरा, काली मिर्च, कालाजीरा, अजमोद प्रत्येक १-१ कर्ष । सब द्रव्यों का महीन कपडछन चूर्ण बनाकर विजौरे नीबू के रस के साथ एक सप्ताह तक भावना दे । पश्चात् ४-४ रत्ती की गोली बना ले । मात्रा १-२ गोली दिन में तीन बार । अनुपान—उष्णोदक । यह गुटिका अर्श, हृद्दोग, उदावर्त तथा गुल्म रोग में लाभप्रद होती है । अनुपान भेद से विविध प्रकार के गुल्मों में इसका उपयोग प्रशस्त है । जैसे, श्लेष्मगुल्म में गोमूत्र के अनुपान से । पित्तज गुल्म में दूध के अनुपान से । मद्य तथा अम्ल से वातिक गुल्म में । त्रिफला कपाय, गोमूत्र के साथ त्रिदोषज गुल्म में । ऊँटनी के दूध के साथ स्त्रियों के रक्त गुल्म में लाभप्रद होती है ।

गुल्मकालानल रस—इस योग के नाम से तीन पाठ भैषज्यरत्नावली में मिलते हैं । गुल्मकालानल रस के दो तथा बृहत् गुल्मकालानल रस नाम से । यहाँ पर एक उत्तम योग का पाठ दिया जा रहा है ।

शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, शुद्ध हरताल, ताम्रभस्म, शुद्ध टकण एवं यवक्षार प्रत्येक २ तोला, नागरमोथा, पिप्पली, शुठी, कालीमिर्च, गजपीपल, हरीतकी, वच और कूठ प्रत्येक का चूर्ण १ तोला । प्रथम पारद और गंधक की कज्जली बनाकर शेष द्रव्यों को संयुक्त करके, पित्तापापडा, मोथा, सोठ, अपामार्ग, पाठा, भृगराज, धतूर के पत्र के स्वरस या कपाय की पृथक्-पृथक् एक एक भावना देकर घोटकर सुखाकर शीशी में भर लेवे । मात्रा ४-रत्ती । अनुपान हरीतकी चूर्ण २ माशा और मधु से दिन में दो बार । गुल्म रोग में उत्तम कार्य करना है ।

नागेश्वर रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, नागभस्म, वगभस्म, शुद्धमन-शिला, शुद्ध नवसादर, यवक्षार, सर्जिका क्षार, शुद्ध टकण, लोहभस्म, ताम्रभस्म और अभ्रक भस्म १-१ तोला । सर्वप्रथम पारद एवं गंधक की कज्जली बनाकर शेष द्रव्यों को संयुक्त करे । फिर यूर के दूध (स्नुहोक्षीर) की एक भावना दे । पश्चात् चित्रक-अडूसा अथवा दन्ती स्वरस की एक एक भावना दे । फिर सुखाकर शीशी में भर ले । मात्रा १-२ रत्ती । अनुपान—ताम्रबलपत्र-स्वरस और मधु । इसके प्रयोग से शोथ, आध्मान, प्लोहावृद्धि, यकृत वृद्धि तथा गुल्म ठीक होता है ।

प्रवाल पंचामृत—प्रवाल भस्म २ तोला, मुक्ता पिष्टि, शखभस्म, शुक्ति भस्म, वराट भस्म (कौडी का भस्म) । अकक्षीर ६ तोला । अर्कक्षीर से सभी द्रव्यों को भावित करके शराव-सम्पुट में रखकर एक-दो घुट दे । इसमें

अज्झीर की भावना मारित मृगशृंग भस्म भी १ तोला मिलाकर योग बनाया जाय तो अधिक उत्तम कार्य करता है। यह प्रवाल पंचामृत एक उत्तम योग है जो वृत्त प्रकार के रोगों में अनुपान भेद में व्यवहृत होता है। शरीर में खटिक लवणों (Calcium Deficiency) की कमी से होने वाले रोगों में इसका उपयोग उत्तम रहता है। इसका प्रयोग हृद्रोग, आनाह, गुल्मरोग, अग्निमांघ, ग्रहणी, सूत्रस्थान के रोग, उदर के रोग आदि में होता है। इन योगों के अतिरिक्त—योगराज गुग्गुलु (वातरोगाधिकार), क्रव्यादरस, हिंग्वष्टक चूर्ण (अग्निमांघाधिकार), हिंग्वादि बटी, लगुनादि बटी, रसोन पिण्ड, अमयारिष्ट, कुमार्यासव (यो. र.)। आदि का उपयोग भी उत्तम रहता है।

हिंग्वादि चूर्ण या बटिका—गुडहिंग, सोठ, मरिच, पिप्पली, पाठा, हृषुग, हरड, कचूर, अजमोठा, अजवायन, तिल्लिडीक, अम्लवेत, दाडिम के बीज, पुष्करमूल, धनिया, जीरा, चित्रकमूल, यवाखार, सज्जीखार, सैधव, मोचल नमक, वच, हरीतकी और चव्य। इन द्रव्यों का महीन चूर्ण बनाकर आर्द्रक स्वरस की एक भावना तथा नीबू (विजौरे) के रस की ७ भावना देकर सुखा कर चूर्ण रूप में रख ले अथवा गोली बनाकर १ मासे की रख ले। यह योग परम वातानुलोमक एवं अग्नि को दीप्त करने वाला है। उष्ण जल या मद्य के अनुपान से देने पर इससे हृच्छूल, पार्श्वशूल, आध्मान, अफारा, उदावर्त, गुल्म, तीव्र उदर शूल आदि में लाभ होता है।

श्रीरघट्पल घृत—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक की जड़, सोठ तथा यवखार प्रत्येक १-१ पल (४-४ तोले) लेकर पीसकर कल्क बनावे। उसको एक एक प्रस्थ घृत और दुग्ध (६४ तोले प्रत्येक) तथा सम्यक् पाकार्य जल ४ प्रस्थ लेकर मंद आँच पर पाक करे। इस घृत का १ तोले की मात्रा में प्रयोग करने से गुल्म रोग में उत्तम लाभ होता है।

वरुणादि कषाय—वरुण की छाल, अगस्त्य का पुष्प, विल्व की छाल, अपामार्ग, चित्रक की छाल, दोनों वरुणी की छाल, दोनों शिग्रु की छाल, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी की छाल, तीनो कटसरैया, मेढाशृङ्गी, चिरायता, अजशृङ्गी, विन्दी, करंज तथा गतावर। इन द्रव्यों का सममात्रा में योग करके २ तोले द्रव्य को ३० तोले पानी में उबाल कर चौथाई शेष रहने पर मधु मिलाकर सेवन। यह वरुणादि गण की औषधियों का क्वाथ कफ रोग, मेदीवृद्धि, गुल्म, शिरःशूल तथा आभ्यन्तर विद्रवधियों में लाभप्रद होता है।

उपमंहार—गुल्म एक दीर्घ काल तक चलने वाला रोग है। यह रोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक पाया जाता है। वायुगोला नाम से लोक में इस

रोग का व्यवहार होता है । इसके निदान में कठिनाई नहीं होती है क्योंकि स्वयं रोगी इस रोग का निदान अपने मुख से इस रोग को तकलीफ रूप में बतलाता है । इस रोग के दौरे होते हैं । कुछ दिनों तक रोगी खाता-पीता हुआ स्वस्थ रहता है अचानक एक मास या पंद्रह या आठ दिनों के अंतर पर रोग का दौरा आता है, रोगी बेचैन हो जाता है, उस के उदर में तीव्र शूल होता है, डकारों की अधिकता, उदर के ऊपर आत्र में वायु भर जाने से आत्र की गति एक तरफ से दूसरे तरफ को दिखलाई पड़ती है । इन आत्र गतियों को स्पष्ट द्वारा भी प्रतीत किया जा सकता है । उदर के ऊपर गोला जैसे उभार दिखलाई पड़ता है । दवाने से वह आत्र के अधोभाग में जाकर विलीन हो जाता है और पुन उठता है । रोगी को इस दौरे के काल में वमन होता है, फिर पतले दस्त होते हैं । उदरशूल शान्त हो जाता है, दौरा निकल जाता है । फिर कुछ दिनों तक रोगी ठीक रहता है । बार बार रोग का दौरा होता है ।

गुल्म रोग स्वयं एक याप्य व्याधि है । इसमें जब तक रोगी पथ्य से रहता है ठीक रहता है—अपथ्य होने से पुन. उपस्थित हो जाता है । यदि रोगी क्षीण हो तो उसका रोग असाध्य हो जाता है । चिकित्सा में कोष्ठ को शुद्धि का ध्यान सदा रखना चाहिये । उसे नित्य वातानुलोमक अथवा मृदु विरेचक औषधियों का उपयोग करना चाहिये । हरीतकी, त्रिवृत् या द्राक्षा आदि सारक या स्रसनयोगों का नित्य व्यवहार करना चाहिये । दौरे के काल में वेदना के शमन के लिये तीव्र उदर शूल या उदावर्त्त के समान चिकित्सा करनी चाहिये । दौरे के अवान्तर काल में निम्नलिखित योगों के उपयोग से पर्याप्त लाभ होता है ।

१. गुल्मकालानल रस अथवा नागेश्वर रस २-४ रत्ती की मात्रा में, हरीतकी चूर्ण २ माशे और मधु से दिन में दो बार प्रात-सायम् ।

२ हिग्वादि चूर्ण अथवा हिग्वष्टक चूर्ण ३ माशे की मात्रा में घी के साथ भोजन के पूर्व ।

३ कुमार्यासव भोजन के बाद २ चम्मच समान जल मिलाकर ।

४ वैश्वानर चूर्ण ६ माशा (आमवाताधिकार) रात में सोते वक्त गर्म जल से ।

गुल्मकालानल रस के स्थान पर प्रवालपचामूत तथा शृग भस्म का प्रयोग भी १ माशे की मात्रा में उत्तम रहता है । वज्रक्षार का प्रयोग भी भोजन के बाद उत्तम रहता है ।

वत्तीसवाँ अध्याय

हृद्रोग प्रतिषेध

प्रावेशिक—अति व्यायाम, परिश्रम, दुःसाहस, अत्युष्ण-गुरु-कटु-तीक्ष्ण भोजन का सेवन, अध्यगन-चिन्ता-भय-त्रास आदि मानसिक कारण, वेगविधारण, लंघन-वमन-विरेचन तथा वस्ति आदि के प्रयोग से अतिकर्षण, आमवात, फिरङ्गादि रोगों के उपद्रव रूप में तथा अभिघानादि कारणों से पाच प्रकार के हृद्रोग होते हैं—वातिक, पैत्तिक, श्लेष्मिक, त्रिदोषज तथा कृमिज । इन सभी हृद्रोगों में विकार पैदा होता है, जिसके परिणाम स्वरूप वैवर्ण्य (Pallor, Cyanosis, Malar Flush) मूर्च्छा (Syncope), ज्वर (Inflammatory diseases of the heart), कास-ह्रिकका-श्वास (Pressure in Mitral regurgitation or stenosis), वमन, अरुचि, श्वास-कृच्छ्रता, छर्दि, कफोत्क्लेश, आस्यवैरस्य (Due to coronary insufficiency), तृपाधिक्य, चक्कर आना (Giddiness), हृद्द्रव (Heart Palpitation), हृच्छून्यभाव (हृदय के स्थान पर शून्यता का भाव का होना) प्रभृति लक्षण सामान्य होते हैं ।^१

वातिक हृद्रोगमें—सूचिकावेधनवत् पीडा, मन्थवत् पीडा, फाड़ने वा चीरने जैसी पीडा अथवा आरे कुल्हाड़ी से काटने जैसी पीडा, हृदय में खिचावट तथा हृद्द्रव (घडकन) आदि लक्षण पैदा होते हैं । इस प्रकार की हृदय प्रदेश (बायें ओर के वक्ष) में पीडा आधुनिक निदान के अनुसार Angina Pectoris (हृच्छूल) में होती है । हृच्छूल हृद्वाहिनी की घनास्रता (Coronary thrombosis) में भी पाया जाता है, परन्तु इसमें कफाधिक्य के भी चिह्न पाये जाते हैं । अस्तु, श्लेष्मानुबन्धी हृद्रोग रोग या श्लेष्मज हृद्रोग में इसका समावेश समझना चाहिये । पैत्तिक हृद्रोग में पित्ताधिक्य के तृष्णा, ऊष्मा,

१ व्यायामतीक्ष्णातिविरेकवस्ति-चिन्ताभयत्रासगदातिचाराः ।

छर्द्यामसधारणकर्णनानि हृद्रोगकर्तृणि तथाऽभिघात ॥

वैवर्यमूर्च्छाज्वरकासह्रिकका-श्वासास्यवैरस्यतृपाप्रमोहा ।

छर्दि कफोत्क्लेशरुजोऽरुचिश्च हृद्रोगजा स्युर्विविधास्तथाऽन्ये ॥

हृच्छून्यभावद्रवशोषभेदस्तम्भाः समोहा. पवनाद्विशेष. ॥ (च. चि २६)

दाह, स्वेद और मूर्च्छा प्रभृति लक्षण विशेषतया मिलते हैं। त्रिदोषज हृद्रोग में मिश्रित लक्षण उपस्थित रहते हैं। कृमिज हृद्रोग में कृमियो की मात्रा में उपस्थिति तथा तज्जन्य रक्ताल्पता होकर हृदय-प्रत्युद्गिरण (Regurgitation) का दोष आजाता है, जिससे श्रवण यत्र से हृत् प्रदेश पर एक विशेष प्रकार की मर्मर ध्वनि (Haemic Marmur) सुनाई पड़ती है।

हृद्रोग प्रतिषेध—हृद्रोग में रोगी को विश्राम का कार्य करना चाहिये। अधिक परिश्रम, कार्य भार बढ़ कर देना चाहिये। अधिक दौड़ना-धूपना, धूप में कार्य करना भी रोग के प्रतिकूल पड़ता है, अस्तु, विश्राम का जीवन, ब्रह्मचर्य का पालन, स्त्रीसंग प्रभृति काम-वासनाओं से पृथक् हृद्रोगी को रखना चाहिये। क्रोध, रोष, चिन्ता आदि मानसिक उद्वेगों से भी रोगी को दूर रखने का ध्यान रखना चाहिये। अधिक बोलना, भाषण-प्रवचन आदि भी रोगी को अनुकूल नहीं होता है। तैल, खट्टा तक्र (मट्ठा), काजी आदि अम्ल, गरिष्ठ अन्न का सेवन, अध्यशन (अधिक मात्रा में भोजन), कपाय द्रव्यों का सेवन भी ठीक नहीं रहता है। अस्तु, इनका भी परित्याग करना चाहिये। वेगो का सधारण, नदी-जल, दूषित जल, भेड का दूध, महुवेका उपयोग, पत्र शाक भी ठीक नहीं होते हैं।

रोगी को खाने में जी, गेहूँ, मूग, पुराना चावल, जाङ्गल पशु-पक्षियों के मासरस, मरिच (गोल या कालीमिर्च) से युक्त करके देना चाहिये। परवल, करंला आदि फलशाक देना चाहिये। केले का फल, पेठा, नई मूली, मुनक्का, पुराना गुड, ताल या खजूर का गुड, मिश्री, सोठ, अजवायन, लहसुन, हरीतकी, अदरक, कस्तूरी, चदन प्रकृति द्रव्य अनुकूल पड़ते हैं।^१

हृद्रोग में वायु की अधिकता हो तो रोगी का स्नेहन कराके वमन करावे। शोधन के अनन्तर पुष्करमूल, विजोरे नीबू की जड़ की छाल, सोठ, कचूर, हरड, वच। इन द्रव्यों से निर्मित कषाय में यवक्षार, घृत, सेंधानमक और काँजी मिला कर पीना। पित्त की अधिकता होने पर मधुर द्रव्यों से सिद्ध क्षीर या घृत का उपयोग करे। जैसे—गाम्भारी का फल, मुनक्का, मधुयष्टि। इन द्रव्यों का कपाय बनाकर इसमें घृत-मधु और पुराने गुड या चीनी का प्रक्षेप डालकर पिलाना। कफाधिक्य युक्त हृद्रोग में वमन द्वारा शोधन करके त्रिवृत् मूल, बला, रास्ना, शुठी,

१ शालिमुद्गयवा मास जाङ्गल मरिचान्वितम्।

पटोल कारवेल्लञ्च पथ्य प्रोक्त हृदामये ॥

तैलाम्लतक्रगुर्वन्नकपायश्रममातपम्।

रोष स्त्रीनर्म चिन्ता वा भाष्यं हृद्रोगवास्त्यजेत् ॥ (यो. र)

हरीनकी, पुष्करमूल, छोटी इलायची, पीपरामूल । इन द्रव्यों का चूर्ण बनाकर गोमूत्र या उष्ण जल से सेवन । सात्रा ३ मासे । त्रिवोपज हृद्रोग में मिश्रितक्रम रखे । कृमिज हृद्रोग में—रोगी को सर्वप्रथम स्नेहयुक्त मांस, दही और तिल के साथ चावल का भात तीन दिनों तक खिलाकर पश्चात् तीव्र रेचन देना चाहिये, दालचीनी, इलायची, तेजपात, नागकेसर, मैथव, श्वेत जीरे के चूर्ण के साथ किसी एक रेचन औषधियोग को दे । इस क्रियाक्रम से हृदय को वाघा पहुँचानेवाले कृमि निकल जाते हैं । कृमिजन्य हृद्रोग में गोमूत्र एक छटाँक लेकर उसमें वायविडङ्ग २ माशा और कूठ का चूर्ण १ माशा टालकर पिलाना भी हितकर होता है । रेचन हो जाने के बाद रोगी को विडङ्ग के क्वाथ में बना यवागू खाने को देना चाहिये । १

सामान्य-चिकित्सा

१. एरण्डमूल ८ तोले, जल ६४ तोले खीलाकर बनाया क्वाथ १ छटाँक में यवक्षार छोड़कर पिलाना ।

२. दण्डमूल का कपाय बनाकर उसमें सेंधानमक और यवक्षार मिलाकर सेवन ।

३ अर्जुन-सिद्धक्षीर—अर्जुन की छाल २ तोला, दूध १६ तोला, जल ६४ तोले दूध मात्र जेप रहने पर उतार कर पिलाना । इसी विधि से गालपर्णी-सिद्धक्षीर, बलामिद्ध क्षार, मधु-यष्टी से सिद्ध क्षीर अथवा पंचमूल से सिद्ध क्षीर का सेवन भी हृद्रोग में उत्तम रहता है ।

४ अर्जुन का पत्रस्वरस मधु के साथ देना अथवा अर्जुन चूर्ण ३ माशा १ तोले घृत के साथ देकर ऊपर से दूध देना भी उत्तम रहता है ।

५. पुष्करमूल का चूर्ण ४ रत्ती से १ माशा मधु के साथ देने से हृच्छूल, वधस्तोद, श्वाम तथा काम में लाभप्रद रहता है ।

६ गोधूम प्रयोग—गेहूँ का काटा बनाकर देना भी हृद्रोग में उत्तम रहता है । गेहूँ का काटा लेकर घृत और तिल-तैल में भूनकर पुराना गुड़ डालकर मीठा बनाकर उसमें अर्जुन चूर्ण मिलाकर, इस लप्सिका (हलुवा) का सेवन आम

१ कृमिहृद्रोगिणं स्निग्ध भोजयेत् पिशितोदनम् ।

दध्ना च पललोपेत अर्हं पञ्चाद् विरेचयेत् ॥

कृमिजे च पिवेन्मूत्रं विडङ्गामयमंयुतम् ।

हृदि स्थिता पतन्त्येव ह्यवस्तात् कृमयो नृणाम् ॥

यत्रान्नं विनरेच्चाग्ने सविडङ्गमतः परम् ।

रहता है। इस हलवे में पानी की जगह बकरी का दूध और गुड़ की जगह मिश्री का चूर्ण या चीनी भी मिला सकते हैं। शीतल होने पर मधु भी मिलाया जा सकता है।^१

७ नागवला—का चूर्ण ३ मासे में ६ मासे दूध के साथ सेवन।

८ हिंगूगंधादि वटी—(उदावर्त)—कई बार इस गोली का सेवन-चूसना या जो के बवाथ के साथ सेवन हृच्छूल तथा बेचैनी को शान्त करता है।

९ पाठाद्य चूर्ण—पाठा, बच, यवाखार, हरड, अम्लवैत, यवासा, चित्रक की छाल, सोठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, हरड, बहेरा, आंवला, कचूर, पोहकर-मूल, वृक्षाम्ल, दाडिम की छाल, अनारदाना, विजौरा नीबू के जड़ की छाल। सम मात्रा में कूटकर चूर्ण बना ले। मात्रा २-४ मासे। मद्य या जल के साथ।

१० मृगशृंग भस्म—बारहसींगे के सींग को (अच्छे पुष्ट भरे) ले। उसको काटकर छोटे-छोटे टुकड़े कर ले। गजपुट में फूक दे। स्वागशीतल होनेपर दूसरे दिन निकाल कर उसको चूर्ण करके अर्कक्षीर से भावित करे। टिकिया बना ले। शराव-सम्पुट में बदकर पुनः उपले की अग्नि में एक पुट दे। शहद और गाय के घी के साथ २ रत्ती से १ माशा तक दे। हृच्छूल, पार्श्वशूल, विविध प्रकार के हृद्रोग तथा कफ कास में प्रयोग करे। बृहद् धमनी-विस्कार (Fusiform Dilatation of Aorta) में इसका उत्तम लाभ एक बार देखने को मिला था। अर्कक्षीर से भस्मीकृत शृंग का ही प्रयोग हृद्रोग में लाभप्रद रहता है।^२

११ नागार्जुनान्न रस (श्वासरोगाधिकार)—परम बल्य, वृष्य एवं हृद्य रसायन है। हृद्रोग में उत्तम कार्य करता है।

१२ हृदयार्णव रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक ताम्र भस्म प्रत्येक एक तोला। त्रिफला कपाय की एक भावना, काकमाची (मकोय) के स्वरस या कपाय की एक भावना दे पश्चात् २-२ रत्ती की गोलियाँ बना ले। अर्जुन चूर्ण आंवले के चूर्ण-घृत और मिश्री के साथ दे। शीथ युक्त पुराने हृद्रोग में उत्तम लाभ करता है।

१२ प्रभाकर वटी—स्वर्णमाक्षिक भस्म, लौह भस्म, अभ्रक भस्म,

१. गोघूमककुभचूर्णं छागपयोगव्यसर्पिषा पक्वम् ।

मधुशर्करासमेतं हृद्रोगं बहुसमुद्धतं पुसाम् ॥ (भै र)

२ पुटदग्धमश्मपिष्टं हरिणविपाण च सर्पिषा पिवत ।

हृत्पृष्ठशूलमुपशममुपयात्यचिरेण बहु कष्टम् ॥

वंगलोचन, गुद्ध शिलाजीत प्रत्येक एक तोला । खरल में मिलाकर अर्जुन के छाल के क्वाय की भावना देकर ४-४ रत्ती की गोलियाँ बनाकर सुखाकर रख ले । नमी प्रजार के हृद्रोग में उत्तम लाभ करता है ।

१३. चिन्तामणि रस—गुद्ध पारद, गुद्ध गंधक, अभ्र भस्म, लोह भस्म, वंग भस्म । गुद्ध शिलाजीत १-१ तोला, स्वर्ण भस्म $\frac{1}{2}$ तोला तथा चांदी भस्म $\frac{1}{2}$ तोला । प्रथम पारद एवं गंधक की कज्जली बनाकर शेष भस्मों को मिलावे । फिर चित्रक क्वाय, भृङ्गराज स्वरस, अर्जुन का क्वाय इनमें प्रत्येक में पूयक्-पूयक् सात-सात भावना देकर २-२ रत्ती की गोलियाँ बनाकर छाया में सुखाकर गीगी में भर कर रख ले । मात्रा—१-२ बटी दिन में दो बार । अनुपान—गेहूँ का क्पाय । यह बलवर्द्धक एवं हृदय के लिये हितकारी रसायन है । विविध प्रकार के हृद्रोगों में लाभप्रद है ।

१४ विश्वेश्वर रस—मुवर्ण भस्म, अभ्रक भस्म, लोह भस्म, गुद्ध पारद, गुद्ध गंधक तथा वैक्रान्त भस्म १-१ तोला ले । प्रथम पारद और गंधक की कज्जली बनाकर शेष भस्मों को मिलावे । फिर अर्जुन के स्वरस से भावित करके २-२ रत्ती की गोलियाँ बनावे । मात्रा १-२ गोला प्रातः-सायम् । अनुपान—अर्जुन पत्र-स्वरस और मधु ।

१५ अर्जुन घृत—गोघृत १ प्रस्थ, अर्जुन क्पाय ४ प्रस्थ (अर्जुन को छाल २ प्रस्थ जल १६ प्रस्थ, अवशिष्ट ४ प्रस्थ), अर्जुन की छाल कल्कार्थ $\frac{1}{2}$ प्रस्थ, मन्द अग्नि में घृत का पाक करे । मात्रा १-२ तोला अनुपान गाय का दूध ।

१६ पार्थाधरिष्ट या अर्जुनारिष्ट—अर्जुन की छाल ४०० तोले, मुनक्का २०० तोले, महुए का फूल ८० तोले, जल ६४ सेर । चतुर्यागावशिष्ट क्वाय बना ले । फिर छानकर एक भाण्ड में इस जल को लेकर उसमें धाय के फूल का चूर्ण ८० तोले और पुराना गूड ४०० तोले मिलाकर संधिवधन करके रख दे । १ मास के अनन्तर छानकर फिर गीगियों में भर कर रख ले । मात्रा—२ तोला । अनुपान नमान जल । दोनों समय भोजन के बाद ।

१७. रत्न एवं मणियों का धारण अथवा उनकी बनी पिष्टियों का मुख से नेवन करना परम ह्य है । एतदर्थ कई योग व्यवहृत होते हैं । यहाँ जवाहर मोहरा नामक एक प्रसिद्ध योग का उद्धरण दिया जा रहा है । यूनानी वैद्यक में मणियों की पिष्टिका का प्रचलन विशेष रूप से है । जवाहर मोहरा माणिक्य पिष्टि २ तोला, पन्ना की पिष्टि २ तोला मुक्तापिष्टि २ तोला, प्रवाल पिष्टि ४ तोला, बह्मवा की पिष्टि २ तोला, चांदी का वरक आधा तोला, सोने का वरक आधा तोला, दरियाई नारियल का चूर्ण ४ तोला, आवरेद्यम कतरा हुआ २ तोला,

मृगशृङ्ग भस्म ४ तोला, जद्वार (निर्विपो) का चूर्ण २ तोला, कस्तूरी १ तोला, अम्बर २ तोला ले । अच्छे न घिसने वाले खरल में प्रथम सब पिष्टियों को डालकर उसमें सोने और चादी के वरको को एक-एक कर मिलावे और मर्दन करता रहे । जब सब वरक मिल जावे तब उसमें अर्क गुलाब थोड़ा डाल कर १४ दिनों तक मर्दन करे । १५ वें दिन उसमें कस्तूरी और अम्बर डाल कर एक दिन तक गुलाब के अर्क में मर्दन करके १-१ रत्ती की गोलियाँ बनाकर छाया में सुखाकर शीशी में भर लेवे ।

मात्रा एवं अनुपान—१-१ गोली सुबह-शाम खमीरीगाव जवान से या मधु से सेवन करे ।

उपयोग—यह हृदय को बल देने वाला उत्तम योग है । हृद्रव (दिल का घड़कना), थोड़ा परिश्रम से दम भरना प्रभृति हृदय की दुर्बलता से पैदा होने वाले लक्षणों में अच्छा कार्य करता है । (सिद्धयोग संग्रह से)

उपसंहार—व्यवस्थापत्र—

(१) अर्जुन क्षीर प्रातः ।

(२) रस-सिन्दूर या स्वर्ण सिन्दूर या चन्द्रोदय या मकरध्वज १ र०
प्रवाल पिष्टि २ र०

चिन्तामणि विश्वेश्वर, हृदयार्णव रस या प्रभाकर वटी २ र०
मृगशृङ्ग भस्म ४ र०

इन तीन में से { व्योमाश्म पिष्टि १ र०
कोई, एक दो { रक्ताश्म पिष्टि १ र०
या तीनों { हरिताश्म पिष्टि १ र०

मिश्र २ मात्रा

प्रातः-सायं अर्जुन चूर्ण + घी + चीनी से या

दिन में दो बार गेहूँ के कांडे से ।

(३) हिम्वादि वटी (उदावर्त्त) भोजन के बाद १ गोली खिलाकर ऊपर से

(४) अर्जुनारिष्ट या धान्यरिष्ट या अश्वगधारिष्ट बड़े चम्मच से २ चम्मच
बराबर पानी मिलाकर ।

(५) चन्द्रप्रभा वटी (अशोधिकार)

१-२ गोली रात में सोते वक्त दूध से ।

(६) जब कभी बेचैनी, घबराहट, तनाव आदि प्रतीत हो तो अर्क वेद-
मुष्क (लताकस्तूरी), अर्क अजवायन, अर्क सौफ, अर्क पुदीना और
गुलाब जल मिलाकर पीने के लिये देना चाहिये ।

(७) नारायण तैल का गरीर एवं शिर मे अम्यंग ।

(८) रेचन के लिये एरण्ड तैल 'शतपथ्यादि चूर्ण' गुलकंद आदि का उपयोग करे, श्वादि के लिये वस्ति का उपयोग भी ठीक रहता है ।

सक्षेपत हृदय मे दो प्रकार के रोग होते हैं—१ हृदय का अंगसम्बन्धी विकार (organic disorders) २ क्रियासम्बन्धी विकार (Functional disorders) इनमे क्रियासम्बन्धी विकारो का गमन शीघ्र हो जाता है, परन्तु आङ्गिक विकारो का सुधार विलम्ब से होता है, क्वचित् नही भी होता है । हृद्रोग में रसायन एवं वस्ति दोनों का उपयोग श्रेष्ठ रहता है । आँवले का सेवन, च्यवनप्राश का सेवन, अश्वगंध का सेवन—वातानुलोमक एवं मृदु रेचन की व्यवस्था भी ठीक रहती है । चेतस्, हृदय, मानस और मन ये शब्द पर्यायरूप मे व्यवहृत होते हैं । अस्तु, मन को प्रौढ बनाने के लिये तथा चित्त को प्रसन्न रखने के लिये उपाय करना चाहिये । हृद्रोगो में प्रमुखतया हृच्छूल तथा व्यतिरिक्त अन्य लक्षण दो प्रकार के होते हैं । इन उभयविध लक्षणो के होने पर चिकित्सा मे उपयुक्त योगो से चिकित्सा करते हुए लाभ की संभावना रहती है । तथापि हृदय एक सर्वाधिक महत्त्व का मर्माङ्ग है । इसमे अभिघात या विकार का होना प्रायः घातक होता है । अस्तु, इस मर्माङ्ग की सुरक्षा तथा तद्गत रोगो के प्रतिकारो में सदैव तत्परता रखनी चाहिए ।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थो में हृदय की रचना-शारीर का वर्णन विस्तार से नही पाया जाता, तथापि इस अंग मे होने वाले विकारो तथा चिकित्सा का वर्णन पश्चात्कालीन ग्रन्थो मे पर्याप्त मिलता है । इन ग्रन्थो के आधार पर चिकित्सा करते हुए सफलता भी मिलती है । क्योंकि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जावे तो वस्तुतः हृदय मे आम तौर से मिलने वाली पाँच प्रकार की व्याधियाँ दिखाई पड़ती हैं—

१ चेतना-विकारजन्य मानस रोग (Cardiac Nurosis)—इनमें चेतना-स्थान हृदय तथा मन को प्रौढ बनाना चिकित्सा है । २. सहज हृद्रोग (Congenital Heart disease)—जन्मजात व्याधियो में किसी विशेष उपचार की आवश्यकता नही पड़ती है । रसायन औषधियो का सेवन, विश्राम का जीवन, कोष्ट को शुद्धि आदि, आहार-विहार एवं पथ्य के द्वारा ही उपचार पर्याप्त होता है । ३. उच्च रक्तनिपीडजन्य हृद्रोग (Hypertensive), इनमें वायु की अधिकता होती है । अस्तु, वात रोग (रक्तवात) की चिकित्सा करने से ही रोगो में उपचार की आशा रहती है । ४ आमवातज हृद्रोग (Rheumatic Heart Disease)—इसमें आम का पाचन, अग्निदीपन, एरण्ड तैल के

प्रयोग प्रभृति आमवातघ्न उपचारो से शमन प्राप्त करने की आवश्यकता रहती है । ५ हृदय का रक्त द्वारा सम्यक् रीति से पोषण न होने के कारण होने वाले रोग (Ischaemic Diseases of the Heart)—वास्तव में हृच्छूल शब्द से उसी रोग का वर्णन हृद्रोगाधिकार के वैद्यक-ग्रंथों में पाया जाता है । हृच्छूल दो कारणों से Angina Pectoris तथा Coronary Thrombosis से हो सकता है । हृद्रोग-चिकित्साधिकार में इसके प्रतिषेध एवं क्रिया-मो का ऊपर में वर्णन हो चुका है ।



तैत्तिरीयसर्वा अध्याय

मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात तथा अश्मरी एवं शर्करा प्रतिषेध

मूत्रकृच्छ्र—कष्ट या पीडा के साथ मूत्र-त्याग होना मूत्रकृच्छ्र कहलाता है । “मूत्रस्य महता कष्टेन दु खेन प्रवृत्ति ।” इस अवस्था में मूत्र पर्याप्त बनता है, वस्ति मूत्र से भरी रहती है, रोगी मूत्र-त्याग की इच्छा भी करता है । परन्तु, मार्ग में किसी प्रकार का अवरोध होने से मूत्र-त्याग कष्ट के साथ होता है । मूत्र-त्याग में रोगी को जलन एवं पीडा होती है । इस अवस्था को अंग्रेजी में Painful Micturation or Dysurea कहते हैं ।^१ इसकी उत्पत्ति में आधुनिक ग्रंथकारों के अनुसार त्रिविध कारण भाग ले सकते हैं—१. वस्तिगत कारण—तीव्र या जीर्ण वस्तिशोथ (Acute or chronic cystitis), २. मूत्रपरमाम्लता (Hyperacidity), ३. फिरगी खञ्जता (Tabes Dorsalis), अपतंत्रक (Hysteria) आदि ।

मूत्र-प्रणालीगत कारण—शिशनकला शोथ (urethritis), पूयमेह (Gonorrhoea), मूत्र-मार्गगत सौत्र संकोच (urethral stricture),

१ स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि नृणा तथाष्टौ ।

पृथङ्मला स्वैः कुपिता निदाने सर्वेऽथवा कोपमुपेत्य वस्ती ॥

मूत्रस्य मार्गं परिपीडयन्ति यदा तदा मूत्रयतीह कृच्छ्रात् ॥

(च. चि '६)

कई बार अष्टोलावृद्धि (Enlarged Prostate), अर्ध तथा सूत्रकृमि (Threadworms) में भी मूत्रकृच्छ्र उत्पन्न हो सकता है ।

चरक के अनुसार मूत्रकृच्छ्र आठ प्रकार का हो सकता है । वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, शल्याभिघातज (आघात या विजातीय वस्तु की मूत्रमार्ग में उपस्थिति), पुरोपोदावर्त्त (पुरीष के वेग को रोकने से), मूत्रमार्ग स्थित अश्मरी के कारण अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र (Bladder stone) तथा शुक्रोदावर्त्तज (शुक्र के वेग को रोकने से) ।

मूत्राघात—इस अवस्था में मूत्र का पूर्णतया अवरोध हो जाता है (Retention of urine), मूत्र का त्याग बूंद बूंद करके बिना पीडा के हो जाता है, वस्ति, मूत्र से पूर्णतया भर जाती है, परन्तु, रिक्त नहीं होती है । मूत्रकृच्छ्र में मूत्र का अवरोध नहीं होता है बल्कि मूत्रस्राव होता है—किन्तु पोड़ा, वेदना और जलन के साथ । मूत्राघात में वेदना मूत्र के अवरोध या रुकावट के कारण होती है । कईवार मूत्रावसाद की भी एक अवस्था पाई जाती है । जब शरीर से जलीयाण बहुत निकल गया हो, हृदय की पेशियाँ कमजोर हो गई हो, मूत्र का बनना ही कम हो जाता है (Suppression of urine) जैसा विसूचिका के उपद्रव में होता है । मूत्राघात रोग में इस अवस्था का भी समावेग हो सकता है । (इसके ज्ञान के लिये विसूचिका अध्याय देखें) ।

मूत्राघात तेरह प्रकार के होते हैं—१ वातकुण्डलिका (Spasm of urethra), २ वातवस्ति एवं ३ मूत्रजठर (Distended Bladder), ४ अष्टोला (Enlarged Prostate), ५ मूत्रातीत (Incontinence of urine), ६ मूत्रोत्थग (stricture of urethra). ७ मूत्र-क्षय (पूर्वोक्त मूत्रावसाद Anurea or suppression of urine), ८ मूत्रग्रंथि (Enlarged prostate or Tumour of the Bladder), ९ मूत्रशुक्र, १० उष्णवात (Chronic cystitis or urethritis of Gonorrhoeal or other origin), ११ मूत्रसाद (Suppression or Scanty urine), १२ विड्विघात (Recto vesical Fistula, १३ वस्तिकुण्डल (Atonic state of the Bladder) ।^१

अश्मरी या शर्करा (Stone or Calculus)—पथरी शरीर में विविध प्रकार की विभिन्न स्थानों में पाई जाती है । जैसे क—मूत्राश्मरी (Urinary

१ जायन्ते कुपितैर्दोषैर्मूत्राघातास्त्रयोदश ।

प्रायो मूत्रविघाताद्यैर्वातकुण्डलाकादयः ॥ (मा नि.)

Calculus) १ वृक्कगत (Renal) २ गवीनीगत (Ureteric), ३ वस्तिगत (Bladder), ४. अष्टोलागत (Prostatic), ५. प्रसेकगत या मूत्रमार्गगत (Urethral), ६ शिश्वचर्मगत (Prepusal), ख-पित्ताश्मरी (Biliary Calculus), ७ पित्ताशयगत (Gall Bladder), एवं पित्तानलिकागत (Bileduct) ग--अग्न्यश्मरी (Pancreatic Calculus), घ-लालाश्मरी (Salivary Calculus), ङ--नाभिगत (Umbilical), च--पुरीषाश्मरी (Fecolith), छ--शुक्राश्मरी (Prostatic or Spermolith), ज--रक्ताश्मरी (Calcified thrombus),

प्राचीन ग्रन्थों में अश्मरी से केवल मूत्राश्मरी का ही वर्णन पाया जाता है । इसके तीन स्थानों का भी उल्लेख स्पष्टतया पाया जाता है । १. वस्तिगत (Vesical), २. गवीनीगत (Urethral), ३ शुक्राश्मरी (Spermolith or Prostatic Calculus), वस्तिगत अश्मरियों के तीन भेदों का भी उल्लेख वाताश्मरी (Oxalic), पित्ताश्मरी (Uricacid), श्लेष्माश्मरी (Phosphatic) । अन्य अश्मरियों का उल्लेख नामतः प्राचीन ग्रन्थों में नहीं हुआ है, तथापि लाक्षणिक दृष्टि से रोग का प्रसंग अवश्य पाया जाता है । जैसे-गवीनी-प्रसक्त अश्मरी का वात व्याधि में तूनी एवं प्रतितूनी नाम से तथा श्लेष्माधिकार में पठित विविध शूलों में पित्ताश्मरियों का पाठ पाया जाता है । यहाँ पर केवल मूत्राश्मरी तक अपने विषय को सीमित रखना उद्देश्य है ।

वात पित्त, तथा कफ भेद से तीन एवं शुक्राश्मरी ये चार प्रकार की मूत्रगत अश्मरियाँ होती हैं-इनकी उत्पत्ति में कफ दोष की प्रधानता रहती है ।

समवर्त्त की विकृति से मूत्र में १ तरलता की कमी एवं घनता की वृद्धि २. मिहिक अम्ल तथा फास्फेट (Uric acid, oxalate, Phosphate) जैसे पदार्थों की प्रचुरता होने पर उनके कण धीरे धीरे संचित होकर अन्ततः गत्वा अश्मरी का रूप धारण करते हैं । अश्मरियाँ अधिकतर बाल्यावस्था में पैदा होती हैं । परन्तु युवावस्था में भी वृक्काश्मरियाँ या शुक्राश्मरियाँ पैदा होती हैं ।^१

शर्करा—अश्मरी छोटे छोटे टुकड़े या कण के रूप में बाहर निकलती है तो उसको शर्करा (Passing of Gravels) कहते हैं । इस तरह अश्मरी और

१. वातपित्तकफैस्तिस्त्रचतुर्थी शुक्रजाऽपरा ।

प्रायः श्लेष्माश्रया सर्वाश्मर्यः स्युर्यमोपमा ॥

शर्करा में परिमाण के अतिरिक्त और कोई भेद नहीं है। इन दोनों की उत्पत्ति समान कारणों से होती है, लक्षण और चिह्न भी तुल्य स्वरूप के ही होते हैं और चिकित्सा भी समान ही है। मूत्रवेग के साथ शर्करा के निकलने से मूत्र-कृच्छ्र तथा वेदना होती है—और निकल जाने पर वेदना शान्त हो जाती है—जब तक अन्य शर्करा मूत्रस्रोत को फिर से अवरोध न कर दे।^१

अश्मरी में सामान्य लक्षण—नाभि, सेवनी, अण्ड एवं गुदा के मध्य में, वस्ति के ऊपरी भाग पेड़ में वेदना होती है। अश्मरी के द्वारा मूत्रमार्ग के अवरोध हो जाने पर मूत्र कई धाराओं में निकलता है। मूत्रमार्ग से अश्मरी के हट जाने पर रोगी मूत्रच्छ या गोमेद के समान कुछ रक्त वर्ण का मूत्रत्याग करता है। यदि अश्मरी के रगड़ से वस्ति में क्षत हो जाय तो मूत्र में रक्त भी आने लगता है। मार्ग में अश्मरी के रहने पर प्रयत्नपूर्वक मूत्र-त्याग किया जाय तो भयङ्कर पीड़ा होती है।^२

मूत्रकृच्छ्र-मूत्राघात तथा अश्मरी प्रतिषेध—इनमें बहुत सी अवस्थायें हैं जिनमें रोग गत्यकर्म साध्य रहता है। अस्तु, यदि औषधियों के सेवन से कोई परिवर्तन रोगी में न दिखाई पड़े तो किसी गत्यतन्त्रविद् की सलाह लेनी चाहिये और आवश्यक हो तो शल्यतन्त्रीय उपचार के लिये रोगी को प्रेषित करना चाहिये।

इन सभी रोगों में परम्पर में सामञ्जस्य है। मूत्रकृच्छ्र, वस्ति की उपरी भाग में वेदना, मूत्र की धारा का दोष प्रभृति लक्षण उन तीनों रोगों में समान भाव से पाये जाते हैं। अस्तु, चिकित्सा में व्यवहृत होने वाले योगों में भी पर्याप्त साम्य है। यहाँ पर पृथक् पृथक् क्रियाक्रम तथा भेषजों का उल्लेख किया जा रहा है। भेषजों में बदल-बदल कर तीनों अवस्थाओं में प्रयोग किया जा सकता है।

मूत्रकृच्छ्र—में वातिक लक्षणों की प्रबलता हो तो अभ्यग, स्नेहन, स्वेदन, उपनाह, वातघ्न औषधियों से परिपेक, निरुह वस्ति तथा उत्तर वस्ति का उपयोग किया जा सकता है। पैत्तिक लक्षणों की प्रबलता हो तो शीतल उपचार, विरेचन, परिपेक, अवगाहन, शीतल औषधियों का लेप (चदन, कमलनाल, कपूर प्रभृति),

१ अश्मर्येव च शर्करा । सा भिन्नमूर्तिवर्तिन शर्करेत्यभिधीयते । मूत्रवेग-निरस्ताभि प्रक्षमं याति वेदना । यावदस्या पुनर्नति गुडिका स्रोतसो मुखम् ॥

२ आदौ शूल कुचिदेशे कटौ स्यात् पञ्चाद्रोधो जायते मूत्ररक्तम् ।

एतैर्लिङ्गैश्च अश्मरीरोगचिह्नं ज्ञात्वा कुर्याद् भेषजाद्यैश्चिकित्ताम् ॥ यो. र.

दूध, द्राक्षा, विदारी कंद, इक्षुरस, घृत, शीतल पेय (Cold drinks) प्रभृति स्वादु-
स्निग्ध एव शीतल उपचारो से ठीक करना चाहिये । श्लेष्मिक लक्षणो की प्रवृत्ता
मूत्रकृच्छ्र में दिखलाई पड़े तो भोजन एवं औषध के रूप में चारो का उपयोग
उष्ण एव तीक्ष्ण अन्नपान, स्वेदन, जी का प्रयोग, वमन, निरुहण, मट्टा, तिक्त
औषधियो से सिद्ध तैल का अभ्यंग एव पान करे । त्रिदोषज लक्षण मिलें तो
व्यामिश्र क्रियाओ को करते ।^१

भेषज—१. कूष्माण्ड रस—पेंठे का स्वरस ४ तोला उसमें यवक्षार
६ माशे मिलाकर चार मात्रा में विभाजित करके दिन में कई बार पीना ।

२ आमलकी स्वरस या कषाय—आमलकी २ तोला, जल १६ तोला
अग्नि पर चढ़ाकर अवशिष्ट जल ४ तोला, उसमें पुराना गुड २ तोला मिलाकर
सेवन करने से रक्तपित्त, रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर तथा मूत्रकृच्छ्र दूर होता है ।
थकावट दूर होती है और चित्त प्रसन्न होता है ।

३ एवारी बीज—खोरे या ककडी का बीज भी अच्छा मूत्रल और मूत्र-
कृच्छ्रशामक होता है । इसका स्वतंत्र अथवा अन्य औषधियो का योग करके सेवन
उत्तम रहता है । जैसे ककडी का बीज ६ माशा, मधुयष्टी ३ माशा, दारुहरिद्रा
चूर्ण ३ माशा । मिलाकर एक मात्रा, चावल के पानी और मधु के साथ सेवन ।

४. यवक्षार—यवक्षार १ माशा और खांड या देशी चीनी के शर्बत का
सेवन । ५. कटकारी स्वरस २ तोला, मधु ६ माशा का सेवन । ६. सूर्यावर्त
(सूरजमुखी) अथवा सुवर्चला (हुरहुर) के बीजो को पत्थर पर पीस कर ताम्र
घट में रखे हुए वासी जल के साथ सेवन । ७ शुद्ध गंधक—शुद्ध गंधक ४ रत्ती,
यवक्षार १ माशा, चीनी ६ माशे तक में मिला कर सेवन करने से पूयमेहज
मूत्रकृच्छ्र में लाभ होता है । ८ नारिकेल पुष्प—नारियल के फल के भीतर
की पुष्पाकृतिरचना को निकाल कर चावल के धोवन के साथ पीस कर पीने से
रक्तस्ताव के साथ होने वाले मूत्रकृच्छ्र में लाभ होता है ।

९ गोक्षुर—गोक्षुर बीज का कषाय यवक्षार मिलाकर पीना सरक्त मूत्र-
कृच्छ्र में लाभ करता है । १० पंच-तृण कषाय—कुश, कास, शर, दर्भ और ईख के

१ नस्याञ्जनस्नेहनिरुहवस्तिस्वेदोपनाहोत्तरवस्तिसेकान् । स्थिरादिभिर्वात-
हरैश्च सिद्धा दद्याद्रसाश्चानिलमूत्रकृच्छ्रे ॥ सेकावगाहा शिशिराः प्रदेहा ग्रन्थो
विधिर्वस्तिपयोविकारा । द्राक्षाविदारीक्षुरसैधृतैश्च कृच्छ्रेषु पित्ताप्रभवेषु कार्या ॥
चारोष्णतीक्ष्णोपघमन्नपान स्वेदो यवान्न वमन निरुहा । तक्र सतिवत्तीषधसिद्ध-
तैलमभ्यगपान कफमूत्रकृच्छ्रे ॥

मूल का कपाय परम पित्ता-शामक, मूत्रकृच्छ्र को दूर करने वाला और वस्ति का विशोधक होता है। इसका उपयोग मूत्रसंस्थान के रोगों के अतिरिक्त पित्ता-श्मरीजन्य शूल में भी किया जा सकता है। ११. पंच-तृण सिद्ध क्षीर—उन्हीं औषधियों के योग से पकाया दूध भी उत्तम कार्य करता है।^१ इस योग में शतावरी, तालमखाना, गोखरू, विदारीकद, नरकट, धान का मूल इन औषधियों के मूलों का भी यथालाभ समिश्रण करके उपयोग उत्तम रहता है। १२. इक्षुरस—गन्ने के रस। १३. तक्र—मक्खन युक्त मट्ठे का चीनी के साथ १४ क्षीर—गर्म करके ठंडा किया दूध मिश्री खाड़ मिलाकर प्रचुर मात्रा में सेवन करना भी लाभप्रद रहता है।^२ १५. करज की छाल (१ तोला) को गाय के दूध (५) के साथ पीस कर पीना। १६ आखुविट्-चूहे की भीगी का गन्ने के रस के साथ सेवन सद्य मूत्रकृच्छ्र का शामक होता है।^३ १७. त्रिफला ३ माशा पानी के साथ पीस कर सेंधानमक मिलाकर सेवन करना।

१८. सूदमैला—छोटी इलायची का चूर्ण २ माशा, गोमूत्र, केले के मूल के रस या मद्य के साथ पीना मूत्र की पीड़ा को शान्त करता है।^४

१९ हरीतक्यादि कपाय—हरीतकी, गोखरू का बीज, अमलताश की गुद्दी, पापाणभेद के मूल या पत्ती तथा यवासा समान भाग में लेकर जीकुट करके २ तोले को १६ गुने जल में ववथित करके चौथाई शेष रहने पर उतार कर ठंडा करके उस में शहद ३ माशे मिलाकर सेवन करने से वेदनायुक्त मूत्र कृच्छ्र भी शान्त होता है। यह एक सिद्ध योग है बहुत प्रकार के मूत्रकृच्छ्र में उत्तम लाभप्रद पाया गया है।

२० पापाणभेदादिक्वाथ—पापाणभेद, मुलंठी, छोटी इलायची, एरण्डमूल, अडूसा, गोखरू बीज, अमलताश, हरड, छोटी कंटकारी मूल, सम-भाग में लेकर २ तोले द्रव्य को अष्टगुण जल में खोलाकर चतुर्थांश शेष रहने

१ कुश. काम शरो दर्भ इक्षुश्चेति तृणोद्भवम् ।

पित्तकृच्छ्रहर पचमूल वस्तिविशोधनम् ॥

२. भृष्टेक्षुस्वरसं ग्राह्यमाखुविट्सहितं पिवेत् ।

नाशयेन्मूत्रकृच्छ्राणि सद्य एव न सशय ॥

३ गुडेन मिश्रितं दुग्ध कटुष्ण कामत. पिवेत् ।

मूत्रकृच्छ्रेषु सर्वेषु शर्करा वातरोगनुत् ॥

४ मूत्रेण गुरया वापि कदलीस्वरसेन वा ।

कफकृच्छ्रविनाशाय सूक्ष्मां पिष्ट्वा श्रुति पिवेत् ॥

पर छान कर उसमें सुवर्चला (हुरहुर या सूरजमुखी) के बीज का चूर्ण ४ रत्ती और मधु ६ माशे मिलाकर पिलाना भी उत्तम रहता है ।

२१ एलादि चूर्ण—छोटी इलायची के दाने, पाषाणभेद, शुद्ध शिलाजीत, छोटी पिप्पली । सम भाग में बना चूर्ण । मात्रा २ माशा । अनुपान चावल का पानी ।

२२. श्वेत पर्पटी, क्षार पर्पटी या सित चूर्ण—अच्छा कल्मी शोरा ४० तोला, फिटकरी ५ तोला और नीसादर २॥ तोला । सब का मोटा चूर्ण करके मिट्टी की हाड़ी में पकावे । जब सब द्रव हो जाय तो जमीन पर गोबर बिछाकर ऊपर केले का अखण्ड पत्ता रख कर उस पर डाल दे और तुरन्त उसके ऊपर दूसरा केले का पत्र रख कर दबा दे । ठंडा होने पर निकाल कर कपड़े छान करके चूर्ण बना कर शीशी में भर ले । इस योग का कई नामों से वैद्य-परम्पराओं में व्यवहार पाया जाता है—जैसे सितचूर्ण, वज्रक्षार, क्षार पर्पटी, शीतल पर्पटी और श्वेत पर्पटी । मात्रा १ से २ माशा । शीतल जल में घोल चीनी के शर्बत में मिलाकर या कर्पूरीदक में मिलाकर या कच्चे नारियल के पानी के घोलकर ।

उपयोग—यह अच्छा मूत्रल, स्वेदल और वातानुलोमक योग है । अम्ल-पित्त, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, अश्मरी तथा पेट का अफारा में प्रयोग करे । इसका स्वतंत्र या किसी क्वाथ में मिलाकर अथवा यवक्षार के साथ मिलाकर (श्वेत पर्पटी २ माशा और यवक्षार १ माशा मिश्र १ मात्रा । चीनी के शर्बत में घोल कर पिलाना उत्तम रहता है ।

त्रिकट्वादि या गोलुरादि गुग्गुलु (प्रमेहाधिकारोक्त)—इस वटी का प्रमेह, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र तथा अश्मरी में दूध या जल के अनुपान से प्रयोग करे ।

तारकेश्वर रस—शुद्धपारद, शुद्ध गंधक, लौहभस्म, वंग भस्म, अम्रभस्म, जवासा, यवक्षार, गोक्षुरबीज चूर्ण, हरीतकी चूर्ण प्रत्येक १ तोला । प्रथम पारद एवं गंधक की कज्जली बनाकर शेष द्रव्यों को मिलाकर कुष्माण्ड फल स्वरस, पंचतृण कपाय तथा गोखरू के क्वाथ की पृथक् पृथक् भावना देकर २ रत्ती के प्रमाण की गोलियाँ बनाले । मात्रा १-२ गोली दिन में २ बार । उदुम्बर फल चूर्ण ३ तोला और मधु के साथ सेवन करावे । इस औषध के सेवन काल में हल्का पथ्य रखे । बकरी का दूध, गन्ना का रस या खाँड का शर्बत पीने को दे । सभी प्रकार के मूत्राकृच्छ्र एवं मूत्राघात में लाभप्रद होता है ।

चन्द्रकला रस—शुद्ध पारद, ताम्रभस्म, अभ्र भस्म प्रत्येक १ तोला, शुद्ध गंधक २ तोला । प्रथम पारद और गंधक की कज्जली बनाकर शेष द्रव्यों को मिलाकर अच्छी प्रकार घोटले । फिर उसमें कुटकी, गिलोय का सत्व, पित्त-पापडा, खश, माववी लता का चूर्ण, अनन्तमूल, श्वेत चन्दन प्रत्येक का चूर्ण १ तोला भर मिलाले । पश्चात् नागरमोथा, मीठा अनार, दूर्वा, केवडे का फूल, सहदेवी, घृतकुमारी, पर्पट, रामशीतलिका, शतावरी इनका यथालाभ क्वाथ या स्वरस से पृथक्-पृथक् एक एक दिन तक यथाविधि भावित करके सुखाकर रख ले । इसको द्राक्षादि गण की औषधियों के क्वाथ (द्राक्षा, सन्तरा, केला, ताडफलगिरी, जामुन एवं आम) से भावित करके या द्राक्षा के काढे या अगूर के रस में ७ दिनों तक भावित करके औषधि का गोला बनाकर पत्तो में लपेट कर एक सप्ताह तक धान्यराशि में रख दे । धान्यराशि में पाक हो जाने पर एक सप्ताह के पश्चात् औषधि को निकाले । पश्चात् गोलियाँ चने के बराबर की बनाकर छाया में सुखाकर रखले । यह चन्द्रकला रस शरीर के दाह, चक्कर आना, मूर्च्छा, खासी से रक्त आना, रक्त का वमन, रक्तपित्त, रक्तप्रदर, रक्तार्श, जीर्णज्वर तथा मूत्रकृच्छ्र में परम लाभप्रद होता है । यह परम पित्तशामक औषधि है । मात्रा १-२ गोली दिन में तीन बार, पेठे के काढे या रस के साथ । (बृहत् निघटु रत्नाकर) ।

सुकुमारकुमारक घृत—पुनर्नवा की जड़ १ तोला लेकर २ द्रोण जल में खोलाकर चतुर्थांशवशिष्ट क्वाथ बनावे एवं छानकर रखले । फिर दशमूल, शतावर, बला की जड़, असगंध, तृणपचमूल, गोखरू, विदारीकद, शालपर्णी, नागबलामूल, गिलोय और अतिबला प्रत्येक ४०-४० तोले लेकर दो द्रोण (३२ सेर) जल में खोलाकर चतुर्थांशवशिष्ट क्वाथ बनाकर छान कर रखले । फिर गोघृत १२८ तोले तथा मधुयष्टी, अदरक, द्राक्षा, सैधव, छोटी पीपल ८-८ तोले, अजवायन १६ तोले, गुड १२० तोले, एरण्डतैल ६४ तोले का कल्क एवं दोनों क्वाथों को अग्नि पर चढ़ाकर यथाविधि पाक करे । यह सुकुमार प्रकृति के व्यक्तियों के लिये, राजा अथवा राजा के समान या श्रीमन्त मनुष्यों के लिये हितकर, बलकारक एवं शीतवीर्य रसायन औषधि है । अनेक रोगों में विशेषतः मूत्रकृच्छ्र और मूत्राघात में लाभप्रद रहता है । मात्रा १ तोला गर्म दूध में डाल कर दिन दो या तीन बार । (चक्रदत्त)

मूत्राघात प्रतिपेध—मूत्राघात की चिकित्सा में दोपानुसार मूत्रकृच्छ्र रोग की चिकित्सा में व्यवहृत होने वाली औषधि योगों का प्रयोग करना चाहिये तथा वस्ति, उत्तरवस्ति एवं एरण्डतैल से विरेचन देना चाहिये ।

मूत्राघात (Retention of urine or Distended Bladder)–

मे पेडू के ऊपर (वस्ति के उपरितन प्रदेश पर) कई लेप करने से लाभ होता है । जैसे—१. सेमल के फूल को एरण्ड तैल में पीस कर गर्म करके लेप करना । २. चूहे की मीगी को केले के रस में पीस कर लेप करना ।

४. धारा चिकित्सा—१. किशुक (पलाश के फूल) का काढा बनाकर पेडू के ऊपर गुनगुना छोड़ना २. मेघनाद (वन चौलाई) का गर्म गर्म लेप या काढा बना कर धारा रूप में पेडू पर छोड़ना । ३. कर्कोटक (खेखसा) को गर्म करके सेकना या लेप करना या उसका काढा बनाकर पेडू के ऊपर छोड़ना ४. केवल गर्म जल या गर्म तैल की धारा छोड़ना उत्तम रहता है । ५. बिम्बी, कुन्दरू को लता की जड़ को काजी में पीस कर गर्म करके पेडू पर लेप करना या उसका पानी बनाकर धारा के रूप में छोड़ना ।

अन्य उपाय—लिङ्ग के छिद्र में कपूर का चूर्ण २ रत्ती महीन पीस कर लिङ्ग में छोड़ना । यदि इन उपायों से मूत्राशय रिक्त न हो तो मूत्रसारिणी स्वर की नाडी (Rubber catheter) को मूत्रमार्ग में लगाकर मूत्र को निकाले । यदि इससे भी मूत्र न निकले तो लौहनिर्मित मूत्र नाडी (Metal catheter) अथवा लोह शलाका (Metal sounds) का प्रवेश करा के मूत्र का निकालना उत्तम रहता है ।^१

अंत प्रयोज्य औषधियों में मूत्रकृच्छ्रहर पूर्वोक्त औषधि योगों का प्रयोग हितकर होता है, जैसे—ककड़ी या खीरा के बीज, कुष्माण्ड स्वरस, गोक्षुर क्वाथ, तृण पंचमूल, श्वेत चदन आदि ।

कुछ विशेष योगों में—१. अशोक के बीजों का चूर्ण २ माशे शीतल जल पीसकर पीना । २. रुद्रजटा के मूल का मट्टे के साथ पीसकर सेवन । ३. वटपत्री या पापाणभेद के पत्र को मट्टे, तेल या घी के साथ पीसकर पीना । ४. मद्य में इलायची का चूर्ण ४ रत्ती, नागरमोथा का चूर्ण ४ रत्ती, सेंधा या कालानमक, अनार का रस और मधु मिलाकर सेवन करना । ५. शुद्ध शिलाजीत ४ रत्ती से १ माशा, शहद ३ तोला, शक्कर १ तोला, मिलाकर सेवन । ६. शुद्ध शिलाजीत ४ रत्ती, शक्कर ६ माशा, दशमूल कषाय के साथ । इनसे मूत्रकृच्छ्र मूत्रजठर, मूत्रातीत, वातवस्ति, अष्टौला प्रभृति अवस्थाओं में रुका हुआ मूत्र स्रवित होता है ।^२

१ क्षतशल्यसमुद्भूतमूत्राघातनिवृत्तये ।

प्रवेशयेन्मूत्रमार्गं शलाका मूत्रसारिणीम् ॥ (भै र)

२ सशर्करं च ससितं लीढं सिद्धं शिलाजतु ।

निहन्ति मूत्रजठरं मूत्रातीतं च देहिनः ॥

अश्मरी प्रतिषेध—अश्मरी रोग में श्लेष्म दोष की प्रधानता है। यह वृक्क में पैदा होकर कई स्थानों पर पड़ी गरीर में मिल सकती है, जैसे—वृक्क, गवीनी अथवा मूत्राशय। अश्मरी रोग अविकतर शस्त्रकर्म-साध्य है तथापि कुछ अवस्थाओं में औषधि के प्रयोग से लाभ की आशा रहती है। ऐसे योगों का चत्लेख नीचे दिया जा रहा है। अश्मरी में वातिक लक्षणों की प्रमुखता हो तो घृतपान कराने से लाभ होता है, औषधियों में वरुणादि गण का उपयोग, पित्तसदृश लक्षण मिलें तो पापाणभेद का उपयोग और श्लेष्माधिक्य का चिह्न मिले तो चार का उपयोग करना चाहिये।

सामान्य योग—१. वरुणादि कषाय—वरुण की छाल, सोठ, गोखरू बीज, मुसली, कुलथो, कुश-कास-गर-दर्भ एवं इक्षुमूल। इनको सम प्रमाण में लेकर २ तोले को ३२ तोले जल में खोलाकर चौथाई गेप रखकर २ तोले देशी चीनी और यवचार १ माशा मिलाकर पिलाना। २ वरुण अथवा जिग्रु का कपाय गुड के साथ मिलाकर सेवन।

३ एलादि क्वाथ—छोटी इलायची, पिप्पली, मुलैठी, पापाणभेद, रेणुका, गोखरू, अडूसा, एरण्डमूल। इनको समभाग में लेकर २ तोले को ३२ तोले जल में खोलाकर चौथाई गेप रहने पर छानकर गुंडू गिलाजीत ४ रत्ती, ६ माशे मधु और १ तोला शक्कर मिलाकर सेवन।

४. गोखरू बीज—गोखरू बीज का चूर्ण ६ माशे और मधु १ तोला मिलाकर बकरी या भेंड के दूध के साथ सेवन करना। एक सप्ताह तक इसके प्रयोग से अश्मरी का भेदन होता है।^१

५. वाकुची बीज ३ माशे, वरुण की छाल ३ माशे रात में किसी मिट्टी के पात्र में भिगो कर सुबह मसल कर पानी को छान कर पीने से अश्मरी का भेदन होता है। इस योग का उपयोग पित्ताश्मरी में भी लाभप्रद रहता है।

६ वीरतरादि गण—शर की जड़, नील तथा पीत पुष्प वाला सैरेयक (पियावासा), दर्भ, वृक्षादनी (वादा), नरसल, गिलोय, कुश, कास, पापाणभेद, ईख की जड़, सोनापाठा, कटसरैया, सूर्यमुखी या हुरहुर, अगस्त्य की छाल, अरणी, नीलोत्पल, गोखरू तथा कपोतवक्त्रा (इलायची या काकमाची)

दशमूलीशृतं पीत्वा सशिलाजतु शर्करम् ।

वातकुण्डलिकाष्टीलावातवस्तो प्रमुच्यते ॥ (यो. र.)

१. त्रिकण्टकस्य बीजानां चूर्णं माक्षिकमंयुतम् ।

अजाक्षीरेण सप्ताहं पेयमश्मरिभेदनम् ॥ (सु)

इस गण की औषधियाँ मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, अश्मरी में लाभप्रद, शीतवीर्य एवं पित्तशामक होती हैं ।

७ ऊपकादि गण—क्षारयुक्त मृत्तिका, सेधा नमक, हींग, धातु काशीस, पुष्प काशीस, शुद्ध गुग्गुलु, शुद्ध शिलाजीत, शुद्ध तुल्य । इन औषधियों के सम भाग में बने योग को ऊपकादि गण कहते हैं । इन औषधियों का क्वाथ या चूर्ण के रूप में सेवन करना कफ रोग, मेदो वृद्धि, अश्मरी तथा मूत्रकृच्छ्र में लाभप्रद रहता है ।

८ ताम्रघट में रखे हुए वासी पानी के साथ मुसली का कल्क ३ माशे अथवा इन्द्रायण की जड़ का चूर्ण १ माशा पीस कर लेने से भी अश्मरी का भेदन होता है ।

९ अश्मरीभेदक अन्य योग—गोखरू, तालमखाना, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, एरण्ड मूल । सम भाग में लेकर ६ माशे चूर्ण मीठे दही के साथ सेवन करना । इसका एक सप्ताह तक प्रयोग करने से अश्मरी का भेदन होता है ।^१

१० कुलत्थ यूष भी अश्मरीभेदक होता है ।

११. कुन्दरू का स्वरस—विम्बी पत्र या मूल का स्वरस या कषाय अश्मरी शूल में लाभप्रद होता है ।

१२ हरिद्रा और गुड प्रत्येक १ तोला काजी के साथ पीस कर सेवन अश्मरीभेदक होता है । १३ वन्व्या कर्कोटिका कन्द मधु के साथ अश्मरीभेदक होता है ।

१४. वरुणाद्य लौह—वरुण की छाल और आंवले का चूर्ण ८-८ तोला, धाय का फूल ४ तोला, हरड का चूर्ण २ तोला, पृश्निपर्णी का चूर्ण—लौह भस्म और अभ्रक भस्म प्रत्येक १ तोला । सब औषधियों को घोट पीस करके शीशी में भर ले । इस योग को २ माशा की मात्रा में तृण पंचमूल के क्वाथ के साथ, शहद से या केवल जल से सेवन करने से भयंकर मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र तथा अश्मरी रोग में लाभ होता है ।

अश्मरीहर कषाय—पाषाणभेद, सागौन के फल, पपीते की जड़, छातावर, गोखरू बीज, वरुण की छाल, कुशमूल, कासमूल, धान का मूल, पुनर्नवामूल, गिलोय, अपामार्गमूल, खीरा का बीज प्रत्येक समभाग । जटामासी

१ मूलं श्वद्रष्ट्रेक्षुरकीरूकात् क्षीरेण पिष्ट वृहतीद्वयाच्च ।

आलीड्यय दध्ना मधुरेण पेय दिनानि सप्ताश्मरिभेदनार्थम् ॥

और खुरासानी अजवायन की पत्ती या बीज प्रत्येक दो भाग ले। सब को जी कुट करके रख ले। इसमें से एक तोला लेकर १६ गुने जल में खोलाकर ४ तोला शोष रहे तो उतार कर छान कर उसमें ५ से १० रत्ती शुद्ध शिलाजीत, श्वेत पर्पटी १० रत्ती और यवक्षार ५ से १० रत्ती तक मिलाकर दे। इस प्रकार रोगी को दिन में तीन-चार बार पिलावे। इसके साथ हजरत जहूद की भस्म देने से विशेष लाभ होता है।

अश्मरी या शर्करा तथा उससे होने वाले गुर्दे (वृक्कशूल Renal Colic) में विशेष उपयोगी है। (सि. यो. संग्रह)

हजरत जहूद की भस्म—एक लम्ब गोल ऊपर से रेखा वाला पत्थर है। यूनानी दवा वेचने वालों के पास इसी नाम से मिलता है। यूनानी वैद्यक में यह मूत्रल और पथरी को तोड़कर निकालने वाला माना गया है।

भस्म-निर्माण विधि—पहले पत्थर को जल से धो कर कपड़े से पोछ कर साफ कर ले फिर लौह के डमामदस्ते में कूटकर कपडछन चूर्ण बनावे। फिर पत्थर के खरल में तीन दिनों तक मूली के स्वरस में मर्दन करके टिकिया बनाकर सुखा ले। पश्चात् मिट्टी के दो कसोरो में टिकियों को रखकर अर्धगजपुट में अग्नि दे। स्वाङ्गशीतल होने पर टिकिया को निकाल कर पीसकर शीशी में भर ले। ४-८ रत्ती की मात्रा में दिन में तीन बार अश्मरीहर कपाय के अनुपान से सेवन के लिए रोगी को दे।

यदि अश्मरी छोटी हो तो कुछ दिनों तक इसके सेवन करने से पेशाब के रास्ते निकल जाती है। (सि. यो. संग्रह)

उपसंहार—जैसा कि ऊपर में बतलाया जा चुका है, उपर्युक्त रोगों में प्रायः ये रोग अल्पकर्म से साध्य होते हैं—फिर भी कई अवस्थायें हैं जो औपध-साध्य हैं। इन अवस्थाओं में इन औपधियों के प्रयोग से उत्तम लाभ होता है। अश्मरी-भेदक औपधियों का पर्याप्त ज्ञान आधुनिक विज्ञान में नहीं है। अस्तु, इन औपधियों को शस्त्र कर्म के पूर्व एक बार परीक्षा करके अवश्य देखना चाहिये। वृक्क अथवा मूत्र-वह स्रोत तक अश्मरियों का भेदन हो जाना तो युक्त प्रतीत होता है, परन्तु वस्तिगत अश्मरी में औपधियों से लाभ पहुँचना कठिन रहता है। अस्तु, शस्त्र क्रिया की ही अरण लेना उत्तम रहता है। एक और बड़ी विचित्रता इन योगों की है कि जो अश्मरीभेदक योग हैं वे केवल मूत्राश्मरी पर ही सीमित नहीं हैं बल्कि के अन्य भागों में होने वाली अश्मरियों पर भी उनके भेदन में उनकी क्षमता देखी जाती है।

मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, मूत्राघात से पीडित रोगियों में आहार-विहार के सम्बन्ध का विशेष ध्यान रखना चाहिये । एतदर्थ रोगी को जौ का मण्ड (२ तोले को ६४ तोले जल में उवाल कर चौथाई शेष रखकर कपड़े से छान कर), कच्चे नारियल का पानी, नारियल की गिरी, गन्ने का रस, लौकी, पेठा, ककड़ी, खीरा, पुनर्नवा की पत्ती, कासनो की पत्ती, कुन्दरू, कुन्दरू की पत्ती, मकौय, पत्र शाक, उवाला हुआ जल का अधिक मात्रा में सेवन प्रभृति मूत्रल द्रव्यों का प्रयोग हितकर होता है ।

द्विदल धान्य (विविध प्रकार के दालों का उपयोग), मास, कंदशाक तथा स्नेह पक्व (घृत या तैल-पक्वान्न) अपथ्य है । अवगाहन स्वेद (गरम जल में कमर का भाग डूबा रहे) मूत्रकृच्छ्र एवं अश्मरी में हितकर होता है । रोग का दौरा शान्त हो जाने पर भी उपर्युक्त पथ्यों का ध्यान रखना चाहिये और भोजन में पुराना चावल, जौ, गेहूँ, मूँग या कुलथो की दाल, तक्र (मट्ठा) या गाय का दूध, पेठा आदि मूत्रल आहार रोगी को सेवन के लिए देना चाहिये ।

पीड़ा के साथ मूत्रत्याग का वृत्त—वाल्यावस्था में प्रायः अश्मरी के कारण युवावस्था में प्रायः पूयमेह (Gonorrhoea) के कारण तथा वृद्धावस्था में प्रायः अण्ठीला ग्रन्थि की वृद्धि के कारण पाया जाता है । ऊपर लिखे मूत्रल कपाय एवं योगों के प्रयोग से सभी अवस्थाओं में कुछ लाभ अवश्य पहुँचता है । अश्मरियों के प्रतिषेध के सम्बन्ध में तो बहुत कुछ लिखा जा चुका है । यहाँ पर पूयमेह तथा अण्ठीला वृद्धि के सम्बन्ध में विशेष कथन अभिप्रेत है ।

पूय-मेह प्रतिषेध—

इस रोग की तीव्रतावस्था में रोगी को पूर्णतया शारीरिक विश्राम देना चाहिए । मानसिक उत्तेजनाओं से विरत करना चाहिए, विशेषतः कामवासनोत्तेजक भावों से । भोजन में केवल दूध (गाय का) रोटी या चावल खाने को देना चाहिए । मद्य, मास, गर्म मसालों का त्याग करना चाहिए । रोगी को पर्याप्त मात्रा में शीतल जल पिलाना चाहिए ।

वास्तव में पूयमेह (Gonorrhea) आधुनिक सभ्यता का रोग है और कुप्रसंग से पैदा होता है, प्राचीन ग्रन्थों में इसका यथार्थ वर्णन नहीं पाया जाता है । फलतः चिकित्सा में भी आधुनिक विज्ञान सम्मत औषधियोग (Sulpha drugs, Penicillin, Streptomycine) तथा अन्य (Antibiotic) सद्यः चमत्कारक लाभ दिखलाते हैं । परन्तु, इनके प्रयोग से लाभ तो शीघ्र हो जाता है, किन्तु रोग का पुनरावर्तन प्रायः होता रहता है । अस्तु, आयुर्वेदीय पद्धति से चिकित्सा करना भी आवश्यक हो जाता है ।

रोग की तीव्रतावस्था में—शुद्ध गंवक १ माशा की मात्रा में घी और चीनी में सुबह-शाम देकर तक्र (छाछ) पिलाना चाहिये। अनुपान रूप में गिगु का कपाय, अथवा हरीतक्यादि कपाय का भी उपयोग किया जा सकता है।

श्वेत पर्पटी—२ माशा और यवक्षार १ माशा मिलाकर एक छटाँक पानी में बने चीनी के शर्वत में घोलकर दोनो वक्त भोजन के बाद पिलाना चाहिये।

चंदन का तेल—५ बूद बताशे में रख कर पिलाने से भी उत्तम लाभ होता है। पूयको रोकने में इसका विशेष प्रभाव होता है।

चंदनादि वटी—श्वेत चंदन का बुरादा, छोटी इलायची के बीज, कवाव चीनी, सफेद राल, गंधा विरोजे का सत, कत्था और आँवला प्रत्येक चार-चार तोला। कपूर १ तोला उत्तम चंदन का तेल (इत्र) ५ तोला, रसोत (दारुहरिद्रा का घनसत्त्व) इतनी मात्रा में जितने में गोली बन सके। ५-५ रत्ती की गोलियाँ बनाले। मात्रा-२-४ गोली दिन में तीन बार ठंडे जल से। पूय (मवाद) मेह में पेशाब की जलन होने पर विशेष लाभ करता है। (सिद्ध योग संग्रह)

पूयमेह की जीर्णावस्था में—उष्णवात की चिकित्सा करनी चाहिये। इसके लिये तिन्तिडी चूर्ण—डमली के बीज का कपटछान चूर्ण ६ माशे की मात्रा में जल या मधु के साथ अथवा हरिद्रा योग-हरिद्रा, आमालकी, दारुहरिद्रा तथा आमलकी का सम भाग में लेकर बनाया चूर्ण ३ माशे की मात्रा में घी या गाय के दूध से देना उत्तम रहता है। संधिवात (Gonorrhoeal Arthritis) से उपद्रत जीर्ण पूयमेह में गोचुरादि गुग्गुलु २ गोली दिन में तीन बार, हरीतक्यादि कपाय से देना चाहिए। शेष लाक्षणिक उपचार करना चाहिये। जीर्ण पूयमेह में प्रमेहाधिकार के योग, जैसे—चंद्रकला वटी, वसन्ततिलक रस, गिवा गुटिका आदि भी लाभप्रद रहते हैं। वग के योगों में विशेषतः सुवर्णवर्ग का उपयोग करना चाहिये।

अण्डोला वृद्धि (Enlarged Prostate)—वृद्धावस्था में होने वाला शल्यसाध्य रोग है। निम्न लिखित योगों के प्रयोग से लाभ प्राप्त होता है—

गोमूत्र स्निग्ध हरीतकी—हरीतकी १ पाव लेकर पानी से धोकर मिट्टी के वर्तन में गोमूत्र में भिगो दे। चौबीस घंटे के पश्चात् उसे निकाल ले और एरण्ड तैल ५ में भूनकर पकाकर रख ले। १-२ हरीतकी दिन में दो बार सेवन करे।

तारकेश्वर रस अथवा गिवा गुटिका अथवा अश्मरीहर कपाय का भी उपयोग यथावसर करना चाहिये।

चौतीसवाँ अध्याय

प्रमेह प्रतिपेध

प्रावेशिक—अश्मरी, मूत्राघात एवं मूत्रकृच्छ्र के पश्चात् मूत्र रोगो मे दूसरा अध्याय प्रमेह का पाया जाता है। प्रमेह शब्द को शाब्दिक व्याख्या—प्रकर्षेण-प्रभूत-प्रचुर वारंवार-मेहति मूत्रत्याग करोति यस्मिन् रोगे स प्रमेह। अर्थात् जिस रोग मे अत्यधिक या बार बार मूत्रत्याग (Frequency, of micturation or Total out put of urine increased) होता है अथवा मूत्र मे आविलता—गँदलापन (Turbidity) पाया जाता है, उस रोग को प्रमेह कहते हैं। इन सभी प्रमेहो मे मूत्र-संस्थान की विकृति पाई जाती है। विकृति की विभिन्नता के अनुसार प्रमेह के लक्षणो मे भी भेद पाये जाते हैं और विनिष्ट लक्षण मिलते हैं।

आचार्य वाग्भट ने लिखा है कि वस्तुतः 'मूत्र की अधिकता और गदलापन सभी प्रमेहो का सामान्य लक्षण है। सभी प्रमेहो मे दोष एव दूष्य के समान रहने पर भी उनके संयोग विशेष के कारण मूत्र के वर्ण, गंध, स्पर्श आदि भेदो से प्रमेहो के अनेक भेद हो जाते हैं।'१

सामान्य दोष, दूष्य तथा मेहों के भेद—२ प्रमेह एक त्रिदोषज व्याधि है। दोषो की उत्पणता या अधिकता के अनुसार वातिक, पैत्तिक एवं श्लेष्मिक भेद किये जाते हैं। प्रमेह की उत्पत्ति मे दूष्यो की समानता पाई जाती है। दूष्यो मे मेद, रक्त, शुक्र, जल, वसा, लसीका, मज्जा, रस, ओज तथा मास शरीर के धातु, दूष्य बनते हैं। इन दोष एव दूष्यो की विकृति के प्रभाव से दोष-भेदो के अनुसार कफज दश (उदकमेह, इक्षुमेह, सान्द्रमेह, मुरामेह, पिष्टमेह, शुक्र-

१ सामान्य लक्षण तथा प्रभूताविलमूत्रता।

दोषदूष्याविशेषेऽपि तत्संयोगविशेषतः ॥

मूत्रवर्णादिभेदेन भेदो मेहेषु कल्प्यते।

मूत्राघाता प्रमेहाश्च शुक्रदोषास्तथैव च ॥

मूत्रदोषाश्च ये वापि वस्ती चैव भवन्ति हि।

२. कफ सपित्त. पदनश्च दोषा मेदोऽल्लशुक्राम्बुवसालसीका।

मज्जारसौज पिशित च दूष्या प्रमेहिणा विशतिरेव मेहा ॥

३६ भि० सि०

मेह, शीतमेह, सिकतामेह, अनैर्मेह, लालामेह) पित्तज छ (चार-काल-नील-रक्त-माजिष्ठ-हारिद्रमेह) तथा वातज चार (वसा-मज्जा-हस्ति-मधुमेह) एवं कुल मिलाकर तीन प्रकार के प्रमेह होते हैं ।

प्रमेह रोग में विशिष्ट हेतुओं के अनुसार ये भेद बतलाये गये हैं । सामान्यतया भी कुछ हेतु प्रमेहों की उत्पत्ति में भाग लेते हैं । ये सामान्य हेतु कफ दोष तथा कफ दोष से समता रखने वाले दूष्यों को विकृत करके रोग की उत्पत्ति कराते हैं—जैसे गुदगुदे विस्तर पर निश्चेष्ट शारीरिक परिश्रम से विमुख होकर आराम से पड़े रहना, अधिक बैठे रहने का व्यवसाय, निश्चिन्त होकर अधिक सोना, दही का अधिक सेवन, ग्राम्य (पालतू जीवों के मांस), मछली आदि जल-मांस तथा भैंसा, गूकर प्रभृति आनूपदेशज प्राणियों के मांसों का सेवन, दूध तथा दूध से बने रवड़ी, मलाई आदि का अधिक उपयोग, गुड तथा गुड के बने पदार्थ मिश्री, चीनी, खाड आदि का सेवन, नवोन पैदा हुआ अन्न और पान का सेवन सभी कफवर्धक आहार प्रमेह के उत्पादक होते हैं ।^१ (Rich & fatty diet & Seditary life).

साध्यासाध्यता—इन तीनों प्रकार के मेहों में कफज मेह साध्य, पित्तज मेह याप्य तथा वातज मेह असाध्य होते हैं । साध्यासाध्यता की उत्पत्ति में प्राचीन ग्रन्थकारों ने यह बतलाया है कि कफज मेहों में दोष (कफ) एवं दूष्य (मेदादि) की समानता है दोनों के प्रतिकार में कटु, तिक्त आदि रसों का प्रयोग हितकर होता है । अस्तु, समान क्रिया से दोष एवं दूष्य दोनों का शमन करना सम्भव रहता है । अस्तु, सभी साध्य होते हैं । पित्तज मेहों में पित्त दोष एवं दूष्य पूर्ववत् मेदादि होते हैं । इस प्रकार दोष और दूष्यों को एक ही क्रिया गामक नहीं होती है । प्रत्युत विपरीत पड़ती है ।—जैसे पित्ताहर जो मधुरादि रसवाले द्रव्य हैं वे मेह के वर्द्धक होते हैं—और मेदोहर कटुकादि उपचार पित्त के बढ़ाने वाले पड़ते हैं । अस्तु, क्रिया की विपरीतता उत्पन्न हो जाती है फलतः पित्तज मेह सुखसाध्य न रहकर याप्य हो जाते हैं । वातज मेहों में मज्जादि गम्भीर धातुओं का नाश होने से बहुत से उपद्रव खड़े हो जाते हैं । रोग भी शीघ्र विनाशकारी हो जाता है अतएव वातज मेह असाध्य होते हैं ।^२

१. आस्यासुखं स्वप्नसुखं दधीनि ग्राम्योदककानूपरसा पयासि ।

नवान्नपानं गुडवैकृतञ्च प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वम् ॥ (वा. नि. १०)

२. साध्याः कफोत्था दश पित्तजा पद् याप्या न साध्य पचनाच्चतुष्कः ।

समक्रियत्वाद् विपमक्रियत्वाद् महात्ययत्वाच्च यथाक्रमं ते ॥ (च. चि. ६.)

कुलज सभी रोग असाध्य—प्रमेह भी यदि कुलज हो तो असाध्य होता है। प्रमेही से उत्पन्न संनान भी प्रायः प्रमेही पैदा होती है और उसका रोग भी असाध्य हो जाता है। इन दोनों अवस्थाओं में असाध्यता पैदा करने वाला कारण गर्भारिभक्त बीजदोष (शुक्रकीट, डिम्बगत क्रोमोजोम्स) होता है। यदि प्रमेही का बल-मास बहुत क्षीण हो गया हो तब भी वह असाध्य हो जाता है।^१ सभी प्रमेह सम्यक् रीति से उपचार न होने से अंत में मधुमेहत्व को प्राप्त करते हैं और तब वे असाध्य भी हो जाते हैं।

मधुमेह—समय पर उचित उपचार न करने से सभी प्रमेह मधुमेह में परिणत होकर असाध्य कोटि में पहुँच जाते हैं। चूँकि मधुमेह में रोगी मधु के समान मधुर मूत्र का त्याग करता है और शरीर में भी माधुर्य रहता है अतः इस रोग को मधुमेह कहते हैं। मधुमेह कारणभेद से दो प्रकार का होता है—एक धातुचय से कुपित वायु से तथा दूसरा पित्त और कफ से आवृत वायु के द्वारा। इनमें आवरण-दोषजनित या उपेक्षित प्रमेहजन्य मधुमेह कष्ट-साध्य किन्तु स्वतंत्र वातकोपजन्य में मधुमेह असाध्य होता है।

मधुमेह आधुनिक विद्वानों के अनुसार प्राङ्गोदीयो (Carbohydrates) के ममवर्त्त (Metabolism) की विकृति का परिणाम होता है। मधुमेह प्रमेह रोग अन्तिम परिणाम (Sequella) के रूप में पैदा होता है—इसमें मूत्र की मधुरता के साथ-साथ शरीर की भी मधुरता पाई जाती है। शरीर की मधुरता से रक्तगत शर्करा की वृद्धि समझनी चाहिये। अर्थात् मधुमेह में रक्तगत शर्करा की वृद्धि के साथ-साथ मूत्र द्वारा भी शर्करा का उत्सर्ग होता है। इसे मधुमेह युक्त परम मधुमयता (Hyper Glycaemia with Glycosuria or Diabetes Mellitus) कहते हैं। श्लेष्मिक प्रमेहों में पाये जाने वाले रोग इक्षुमेह से इसका यही भेद है—इक्षुमेह में केवल मूत्र में माधुर्य (Glycosuria) पाई जाती है, परन्तु Diabetes Mellitus में शरीर का मधुर होना या रक्त-गत शर्करा का वृक्क देहली (Renal Threshhold) से अधिक होना आवश्यक है जब कि इक्षुमेह में रक्तगत शर्करा की वृद्धि नहीं होती है।^२

१ जात प्रमेही मधुमेहिनी वा न साध्य उक्त स हि बीजदोषात् ।

ये चापि केचित् कुलजा विकारा भवन्ति तास्तान् प्रवदन्त्यसाध्यान् ॥ (च)

२ सर्व एव प्रमेहास्ते कालेनाप्रतिकारिणः ।

मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि ॥ (सु) ।

प्रमेह में सामान्य क्रियाक्रम—प्रमेहपीडित रोगी दो प्रकार के मिलते हैं—एक स्थूल (मोटे) एवं बलवान् दूसरे कृश एवं दुर्बल । इनमें स्थूल एवं बलवान् रोगी में बड़े हुए दोषों को दूर करने के लिये वमन एवं विरेचन प्रभृति कर्मों के द्वारा संशोधन करना उचित रहता है—कृश एवं दुर्बल रोगियों में बल-मासादि को बढ़ाने के लिये वृहण करना अपेक्षित रहता है ।

स्थूल एवं बलवान् प्रमेह के रोगियों की वमन एवं विरेचन कर्म के द्वारा ऊर्ध्व और अधो मार्ग में लीन हुए मल के दूर हो जाने के पश्चात् संतर्पण क्रम से ही चिकित्सा करनी चाहिये । जो रोगी अत्यन्त क्षीण या दुर्बल होने के कारण संशोधन के योग्य नहीं है उनकी सशमन क्रिया के द्वारा चिकित्सा प्रारंभ से ही करनी चाहिये ।

सामान्यतया मूत्र-संस्थान के रोगों में अपतर्पण पथ्य होता है—परन्तु प्रमेह रोग में संशोधन के अनन्तर अग्निका बल देखते हुए संतर्पण की भी व्यवस्था करनी चाहिये । प्रमेह में सामान्यतया कफ-पित्तानाशक उपचार पथ्य होता है । अस्तु, अपतर्पण की ही क्रिया अधिक प्रशस्त है ।^१

प्रमेह रोग में सशमन के लिये निम्न लिखित आहार-विहार की व्यवस्था करनी चाहिये । रोगी को बल के अनुसार शारीरिक श्रम कराना, भोजन में लघु भोजन जैसे—जी, कोदो, साँवा, गेहूँ (रोटी, दलिया, भात या सत्तू बनाकर यथा-योग्य) का प्रयोग करना चाहिये । पुराने चावल का सेवन भी कराया जा सकता है, परन्तु सब से उत्तम अन्न जी है । इसका बहुलता के साथ उपयोग

मधुमेहे मधुसमं जायते स किल द्विधा । क्रुद्धे धातुक्षयाद्वायुर्दोषावृतपथेऽथवा ॥
आवृतो दोषलिङ्गानि सोऽनिमित्तं प्रदर्शयन् । क्षणात्क्षीणं क्षणात्पूर्णं भजते कृच्छ्र-
साध्यताम् । मधुरं यच्च मेहेषु प्रायो मध्विह मेहति । सर्वेऽपि मधुमेहाख्या
माधुर्याच्च तनोरत ॥ (वा नि. १०)

१. स्थूल प्रमेही बलवानिहंक कृशस्तथैक परिदुर्बलश्च । सर्वहणं तत्र कृशस्य कार्यं संशोधनं दोषबलाविकस्य ॥ ऊर्ध्वं तथाऽधश्च मलेऽपनीते मेहेषु संतर्पण-
मेव कार्यम् । संशोधनं नाहति यः प्रमेही तस्य क्रिया संशमनी प्रयोज्या ॥ यवस्य-
भक्ष्यान् विविधास्तथाद्यात् कफप्रमेही मधुमंप्रयुक्तान् । भृष्टान् यवान् भक्षयत प्रयो-
गान् शुक्लाश्च सवत्स्रन् भवन्ति मेहाः ॥ व्यायामयोगैर्विविधैः प्रगाढैश्चर्तनैः स्नान-
जलावसेकैः ॥ विरुक्षणार्थं कफपित्तजेषु सिद्धा प्रमेहेष्वपि ते प्रयोज्या । बलेदश्च
मेदश्च कफश्च वृद्ध प्रमेहहेतु प्रसमीक्ष्य तस्मात् । वैद्येन पूर्वकफपित्तजेषु मेहेषु
कार्याण्यपतर्पणानि ॥

कराना चाहिये । जौ के बने विविध प्रकार के भोजन जैसे—दलिया, रोटी, हलुवा, अपूपा (पूवा), वाटी आदि बनाकर भी दिया जा सकता है—“यवप्रधानस्तु भवेत्प्रमेही ।” दालो में मूंग, चना एवं अरहर, कुलथी का और विशेष कर मूंग का उपयोग करना चाहिये । शाक-तरकारी में तिवत और कपाय कटु रस युक्त पत्र, पुष्प, फल वाले शाको का जैसे—नीम की पत्ती, परवल, करेला, केला, गूलर आदि का सेवन कराना चाहिये । मूल और कदो का शाक रूप में उपयोग कम करना चाहिये ।

मासरसो में प्रतुद (चोच से निकालकर मासादि खाने वाले गोध, बाज, काकादि) एवं विष्किर (जमीन को कुरेदकर या नख से बिखेर कर खानेवाले—मुर्गे वत्तक, तितिर, लावा आदि) पक्षियों के मास या अन्य जाङ्गल पशुओं के मास प्रमेह में उत्तम रहते हैं । प्रमेह में मट्टे का सेवन तथा मधु का उपयोग उत्तम रहता है—फलो में आँवला, जामुन, आम, केला, अगूर मुनक्का, सेव, अमरूद, तथा अन्य ऋतु-फलो का सेवन पथ्य रहता है । फलो के माधुर्य से मधुमेह में भी हानि नहीं होती है । जौ के सत्तू का सेवन भी हितकर है । तैलो में सर्पप, अतसी एवं डगुदी तैल का उपयोग खाद्य रूप में करना उत्तम रहता है ।

रूक्ष पदार्थ जैसे—निम्ब-हरिद्रादि द्रव्यों के चूर्ण के द्वारा या महीन मिट्टी के द्वारा शरीर के ऊपर गाढ़ा उद्धर्त्तन करना, स्नान करना, व्यायाम करना, रात्रि में जागरण, पथ्य है । दिन में न सोना, अधिक बैठना या सोना, आराम-तलबी का जीवन तथा स्निग्ध, गुरु एवं अभिष्यदी आहार प्रमेह में अनुकूल नहीं पड़ते हैं—। अस्तु, इन आहार-विहार एवं औषधियों का बाह्य तथा आन्तरिक प्रयोग प्रमेह रोग में हितकर होता है । निदान या कारण का परिहार सभी रोगों में चिकित्सा सूत्र है—फलतः प्रमेह के उत्पादक सामान्य हेतुओं का—जिनका ऊपर में कथन हो चुका है—पूर्णतया परित्याग करना आवश्यक होता है ।^१ जैसे दधि, आनूपदेशज मास, उडद, घी, रवड़ी, मलाई, कुण्माण्ड, इक्षुरस, गुड, स्वादु, अम्ल एवं लवण का उपयोग सर्वथा बंद कर देना चाहिये ।

गाय का दूध पानी मिलाकर सेवन करना उत्तम रहता है । धारोष्ण हो एवं बराबर पानी मिलाकर लिया जावे तो अधिक उत्तम रहता है ।^२

१ यैर्हेतुभिर्ये प्रभवन्ति मेहास्तेषु प्रमेहेषु न ते निषेव्या । हेतोरसेवा विहिता यथैव जातस्य रोगस्य भवेच्चिकित्सा ॥ (च चि ६)

२ आमदुग्ध समजल य पिवेत् प्रातरुत्थित । नि सशय शुक्रमेह पुराण-स्तस्य नश्यति ॥ सर्वमेहहरो धान्या रस क्षौद्रनिशायुतः । लीढः सारो गुडूच्यास्तु मधुना तत्प्रमेहनुत् ॥ पीतो रसो गुडूच्या वाम धुना मेहनाशन । पलाशपुष्प-तोलैक सितायाश्चार्धतोलकम् । पिष्ट पीताम्भसा पीत मेह हन्ति न सशयः ॥

(भै. र.)

प्रमेहद्वय सामान्य औषधियाँ—१. हरिद्रा (हृदी का चूर्ण ३ माणा मधु ६ माणा) । २. आमलकी मधु के साथ । ३. गुडूची दवाय या स्वनम मधु के साथ । गुडूचीस्त्व १-२ माणा मधु के साथ । ४ खदिर का दवाय या जल । ५. कुश का दवाय या जल । ६ मधु का गर्वत (पानी में घोल कर बनाया जल) । ७. त्रिफला चूर्ण ३ माणा ६ माणा या त्रिफला दवाय का मधु से सेवन । ८. दारुहरिद्रा का चूर्ण २ माणा मधु से । ९ गतावरी-मूल का स्वरस १ तोला लेकर उसे १ पाव दूध में मिलाकर सेवन । १०. पलाश पुष्प १ तोला मिश्री ३ तोला जल से पीसकर गर्वत बना कर लेना प्रमेह रोग में लाभप्रद रहता है । ११ गुड स्फटिका चूर्ण-१ माणा की मात्रा में नारिकेल जल के साथ सेवन विगेषतः जीर्ण प्रमेह (Gleet) में उपयोगी है ।

१२. गुड गिलाजीत १ माणा की मात्रा में दूध में घोल कर सेवन । १३. लौह भस्म १ २० की मात्रा में त्रिफला चूर्ण एवं मधु के साथ लेना । १४. त्रिवंग (नाग-वग-यशद) में से किसी एक का भस्म १-२ रस्ती की मात्रा में हरिद्रा चूर्ण १ माणा और आंवले का स्वरस ६ माणा एवं मधु ६ माणा के साथ सेवन ।

१५ भूम्यामलकी का स्वरस १ तोला, मरिच २० दाने के साथ सेवन करना ।

१६ कतकबीज (निर्मली बीज) का चूर्ण १ तोला तक्र के साथ पीसकर मधु मिला कर सेवन ।

१७. गुडमार की पत्ती का कतक या स्वरस कालीमिर्च के साथ पिलाने से बहुमूल्य तथा मधुमेह और इक्षुमेह में लाभप्रद रहता है ।

१८. गुजामूल चूर्ण ३ मासे मधु से ।

१९ वक्रायन की मीगी या पूतिकरज की मीगी का चूर्ण १-२ मासे मधु में सेवन ।

दोषानुसार तथा प्रमेहभेदानुसार विशिष्ट क्रिया क्रम—

श्लेष्म प्रमेह—कफज प्रमेह दस प्रकार होते हैं । उनमें सामान्य उपचार के रूप में लेवन, लेखन तथा सशोषन क्रियाओं को यथामय करना हितकर होता है । विविध औषधियों का एकैक्य वर्णन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है ।

१. उदक मेह—(Diabetes Insipidus) पारिजात का कपाय (२ तोले पारिजातपत्र ३२ तोले जल में उवाल कर ८ तोले शेष रहने पर पिलावे ।) (मु) द्रष्ट, कायफल, नागभोज्य और लोत्र सम भाग में लेकर २ तोले द्रव्य का कपाय बनाकर मधु मिलाकर सेवन । (यो. २)

२ इन्जुमेह (Glycosuria Alimentry)—निम्ब के पत्र या छाल का काढा (सु) पाठा, वायविडङ्ग, अर्जुन की छाल और धमासा-समभाग लेकर जीकूट कर २ तोले द्रव्य का यथाविधि क्वाथ बनाकर मधु के साथ । (यो. रत्नाकर मे कदम्ब के पाठ से उद्धृत) जयन्ती क्वाथ भी उत्तम रहता है ।

३ सान्द्रमेह (Phosphaturia)—सप्तपर्ण का कषाय । (सु) हरिद्रा, दारु हरिद्रा, नागरमेथा और वायविडङ्ग समभाग में लेकर २ तोले द्रव्य का यथाविधि बनाया कषाय मधु के साथ ।

४ पिष्टमेह (Chyluria)—हरिद्रा एवं दारु हरिद्रा का कषाय (सु) दारु हरिद्रा, वाय विडङ्ग, खदिर की छाल और धव की छाल का सम भाग में गृहीत का कषाय मधु के साथ ।

वरतुत पिष्टमेह और सान्द्रमेह दोनों में लक्षण एवं चिकित्सा का बहुत साम्य है—। अस्तु, एक में प्रयुक्त औषधि दूसरे में भी व्यवहृत हो सकती है । इन दोनों अवस्थाओं में मण्डूर भस्म ४ रत्ती की मधु से दिन में दो बार देकर त्रिफला का कषाय पिलाने से अद्भुत लाभ होता है ।

५ सुरामेह (Acetonuria)—सुरातुल्य गन्ध का मूत्र । यह भी एक प्रकार का सांद्रमेह ही है । मधुमेह (Diabetes Mellitus) का एक विशिष्ट लक्षण है । शाल्मली (सेमलमूल) का कषाय उत्तम रहता है (सु) । कदम्ब की छाल अथवा फूल, शाल की छाल, अर्जुन की छाल और अजवायन समभाग में लेकर २ तोला द्रव्य का यथाविधि बना कषाय मधु के साथ ।

(योग र.)

६ शुक्रमेह (Spermatorrhea)—दूर्वा, शैवाल, पूति करञ्ज, कशेरुक, केवटी मोथा, सेवार, जलकुभी कषाय का (सु) देवदारु, मीठा कूठ, अगुरु और लाल चंदन इन द्रव्यों को सम भाग में लेकर यथाविधि निर्मित कषाय मधु के साथ । (यो र) न्यग्रोधादि गण की औषधियाँ मधु में ।

७ सिकतामेह (Lithuria or Passing of Gravels)—अश्मरी तथा शर्करा अधिकार की चिकित्सा करे । निम्ब का कषाय पान (सु) दारुहल्दी, अरणी की छाल, त्रिफला और वच का कषाय मधु के साथ (यो र) चित्रक का क्वाथ भी उत्तम है ।

८ शीतमेह—स्वभावतः मूत्र शरीर के रक्त-ताप के समान उष्ण होता है, पर जिन अवस्थाओं में (Nitrogenous) पदार्थों की अमोनिया आदि की उत्पत्ति अधिक होती है, मूत्र शीतल होता है । संभवतः इसी अवस्था को ध्यान

मे रखकर आचार्यों ने इस अवस्था का वर्णन किया है। उपचार मे व्यवहृत होने वाली औषधियाँ—पाठा एव गोक्षुर कपाय (सु.) अथवा पाठा, मूर्वा और गोखरु का कपाय मधु से पिलावे। (यो. र)

९ शनैर्मेह—धीरे-धीरे मद वेग से मूत्र का स्राव होना। त्रिफला और गुडूची का कपाय। (सु) वच, खस, हरड, गिलोय इनका समभाग मे लेकर २ तोले द्रव्य का कपाय लाभप्रद होता है। (यो. र.)

१० लालामेह—स्निग्ध एवं पिच्छिल वस्तु का मूत्र से स्रवित होना। यद्यत् दोष से शुक्रकीट ही शुक्र द्रव (Spermatie Fluid Prostatic or Seminal vesical Secretion) का स्राव। त्रिफला और अमलताश का कपाय (सुश्रुत)। अडूसा, हरीतकी, चित्रक की छाल और सप्तपर्ण की छाल का कपाय लालामेह को दूर करता है। (यो. र.) वकायन के बीज की सीमी २ माणा का चूर्ण मधु से।

सुश्रुत ने लवणमेह (जिसमे क्लोराइड्स की मात्रा अधिक आवे इस प्रकार का मूत्र) तथा फेनमेह (मूत्र मे फेन या वायु की उपस्थिति होना— Pneumaturia) का वर्णन जीतमेह तथा लालामेह के स्थान पर किया है। फेनमेह मे त्रिफला, आरग्वध और द्राक्षा कपाय मधु के साथ पिलाने को बतलाया है। अगुरु तथा पाठा का क्वाथ लवणमेह मे उत्तम बताया है।

पित्तप्रमेह—पित्त प्रमेह छ. प्रकार के होते हैं। इनमे सामान्यतया विरेचन, सप्तपर्ण तथा सशमन के द्वारा उपचार करना होता है। एकैकशः इनकी चिकित्सा का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. क्षारमेह (Alkalineurine)—त्रिफला कपाय (सु.)। खस, लोघ्र, अर्जुन की छाल और चदन का सम भाग मे लेकर जौ कुटकर २ तोले द्रव्य का कपाय मधु से।

२. नीलमेह (Indicanuria)—शालसारादि कपाय, अश्वत्थ कपाय (सु.)। खस, मोथा, आंवला एव हरड का कपाय।

३ अम्लमेह (Highly acidic urine)—का वर्णन केवल सुश्रुत मे आता है। इसमें क्षारीय द्रव्यो का उपयोग करना चाहिये। शेष हारिद्र, माजिष्ट, रक्त और काल मेह वास्तव मे रक्तपित्त या रक्तमेह के ही विविध प्रकार हैं—'रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोप. (चरक)।

३. हारिद्रमेह (Haemoglobinuria)—आरग्वध कपाय (सु.) मोथा, हरड, पुष्करमूल, ध्वेत कुटज की छाल इनका क्वाथ।

४ मांजिष्ठ मेह (Haemoglobinuria or urobilinuria)—मंजिष्ठा एवं चंदन का कपाय (सु) लोध्र, नेत्रवाला, दारुहरिद्रा और धाय के फूठ का कपाय ।

५ रक्तमेह या शोणितमेह (Haematuria)—गुडूची, तिन्दु-कान्धि, गाम्भारी और खजूर के फल का कपाय मधु मिलाकर लेना । सोठ, अर्जुन की छाल, शिरीष की छाल, छोटी इलायची और नील कमल का कपाय । रक्त चंदन, मधुघृष्टि, मुनक्का—से सिद्ध क्षीर का प्रयोग । वृक्काश्मरी, अर्बुद, अभिघात-क्षय, वस्तिगत अश्मरी तथा रक्तपित्त आदि विविध कारणों से यह अवस्था उत्पन्न होती है । कारणानुरूप चिकित्सा करनी चाहिये । तथापि उपर्युक्त योगों से अथवा के गुठ स्फटिका १ माशा की मात्रा में गूलर के कपाय से देने से लाभ उत्तम दिताई पड़ता है ।

६ कालमेह (Melanuria)—यह भी रक्तमेह का एक प्रकार है । न्यग्रोधादि कपाय । पटोलपत्र, निम्ब की छाल, आंवला और गिलोय इनका वनाथ मधु मिलाकर ।

वातिक प्रमेह—वातिक प्रमेहों में अत्यधिक मात्रा में धातुक्षय हो जाता है जिससे वायु कुपित होकर प्रमेह रोग को पैदा करता है । ये सभी प्रमेह असाध्य हो जाते हैं । अस्तु, इनकी चिकित्सा की विशेष चिन्ता की आवश्यकता नहीं रहती है । वातघ्न औषधियों से मिद्ध तैल या घृत का सेवन रोगी को कराना चाहिये ।^१ भेदानुमार यहाँ एकैकश चिकित्सा का वर्णन किया जा रहा है । इन रोगों के असाध्य होते हुए भी यापनार्थ कुछ औषधि योगों का व्यवहार अपेक्षित रहता है ।

१ वसामेह (Lipuria)—मूत्र में अत्यधिक मात्रा में वसा आती है । अग्निमथ (अरणो) का अथवा शिशपा (शीसम) का कपाय मधु से । (सु)

२ मज्जामेह—इसे सुश्रुत ने सर्पि-मेह की संज्ञा दी है । यह वसामेह का ही एक प्रकार है । इसमें वसा के साथ रक्त का भी मिश्रण पाया जाता है । ऐसी अवस्था वृक्क-विद्रधि, पुराना पूयमेह तथा मूत्र-संस्थान के राजयक्ष्मा में मिलती है । चिकित्सा में कूठ, कुटज, पाठा, हिज्जु, कटुरोहिणी (कुटकी), गुडूची और चित्रक का कपाय । (सु) । त्रिफला, मूर्वा की जड़, सहिजन की छाल, नीम की छाल, मुनक्का और सेमल के जड़को छाल, इनका कपाय बना कर

१. या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्तावातोल्बणाना विहिता क्रिया या ।

वायुहि मेहेष्वतिकर्शिताना कुप्यत्यसाध्यान् प्रति नास्ति चिन्ता ॥ (च चि ६)

मधु के माथ । मम प्रमाण में इन औषधियों को जौकट कर के २ तोले को ३२ तोले जल में उवाल कर ८ तोले जेप रहने और ठंडा होने पर मधु मिला कर लेना । चीत्र लाभ पहुँचाता है ।

हस्तिमेह—मतवाले हाथी के समान वेगरहित अजस्र मूत्र का स्राव होता है । मूत्र लसीका युक्त और विवद्व रहता है । संभवतः जीर्ण वृक्क गोत्र का यह वर्णन है, जिस में शुक्ली (Albumin-), निर्मोक (Casts) और पोरुष बहुमूत्रता (Polyuria) आदि लक्षण मिलते हैं ।

कुछ विद्वानों के मत में यह एक प्रकार का मिथ्या मूत्रकृच्छ्र (False in Continence of urine)—जो मुपुम्ना स्थित मूत्र केन्द्र के घात अथवा ग्रन्थिकी वृद्धि में पाया जाता है ।

चिकित्सा में तिन्दुक, कपित्थ, शिरीष, पलाज, पाठा, मूर्वा, धमासा का कपाय मधु मिश्रित कर के पिलाना अथवा—हार्था, अन्व, झूकर, खर (गर्दभ) और जैट की हड्डी की भस्म का उपयोग करना उत्तम बनलाया है ।

४ **औट्रमेह या मधुमेह या ओजोमेह**—आधुनिक परिभाषा के अनुसार इस रोग को 'डायबेटोस मेलाइटस (Diabetes Mellitus) कहा जाता है । यह एक वाप्य रोग है, इस में मूत्र में शर्करा का उत्सर्जन होता है । रक्तगत शर्करा की भी मात्रा बढ़ जाती है । इस रोग की चिकित्सा में आहार-विहार का सम्यक् रीति से अनुपालन करना आवश्यक होता है । जब तक रोगी पथ्य में रहता है, ठीक रहता है अन्यथा रोग पुन हो जाता है । प्रमेह रोगों में बतलाये गये सभी पथ्यों का इस अवस्था में उपयोग करना चाहिये ।

यह रोग प्रायः समाज के उस वर्ग में पाया जाता है जो शारीरिक श्रम से विमुख होकर सम्पन्नता का जीवन व्यतीत करते हैं । दैनिक कार्यक्रम में जिनको शारीरिक श्रम बहुत ही कम करना पड़ता है, अधिकांश बैठे रहना पड़ता है । आहार भी अत्यधिक पोष्टिक, स्निग्ध, कफ-मेदोवर्धक पदार्थों की बहुलता रहता है । अन्तु, चिकित्सा करते समय सर्वप्रथम इन कारणों को दूर करना आवश्यक होता है । एतदर्थ मधुमेह में पीडित व्यक्तियों के लिए व्यायाम या शारीरिक पन्थिम जो उनके शरीर को आवश्यक कराना चाहिये । सभी प्रकार के व्यायाम—टहलना, दौड़ना, खेल-कूद में भाग लेना, दण्ड-वैठक करना, दण्ड, मुद्गर-कुक्षी पादाघात आदि यथायोग्य कराना चाहिये । आरामतन्त्रों का जीवन छोड़कर मुनियों की तरह ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कराना आवश्यक होता है । प्रतिदिन बिना जूते और छाते के धारण किये मार्ग में भ्रमण करते हुए, गृहस्थों के घर में

माँगी हुई भिक्षा से उदर पालन करते हुए तथा मुनियों की तरह ब्रह्मचर्यादि का पालन करते हुए सौ योजन (८०० मील) या इससे भी अधिक योजनों तक निरन्तर भ्रमण करने से मधुमेह रोग नष्ट होता है । अथवा केवल जंगल में गहकर नीवार और आँवले के फलों में भोजन-वृत्ति का निर्वाह करते रहने से सर्व प्रकार के प्रमेह नष्ट होते हैं । सक्षेप में आढ्य-वृत्ति का परित्याग और दरिद्र-वृत्ति का अनुपालन श्रेयस्कर रहता है ।^१

नवारियों में गद्देदार और आरामदेह सवारियों के स्थान पर हाथी और घोड़े की सवारी मधुमेह में अच्छी मानी गई है । उपर्युक्त पथ्य सभी प्रकार के प्रमेह रोग में विपत्त मधुमेह में हितकर होते हैं । सूर्य-प्रकाश या धूप में भ्रमण करना या काम करना भी उत्तम रहता है ।^२

मधुमेह पीडित रोगी को अपने भोजन में मधुर-अम्ल एवं लवण रस पदार्थों का सेवन अथवा स्निग्ध (घी मलाई-रवड़ी और खोये का बना पदार्थ या मिष्ठान्न) जो रक्त एव मेद के वर्धक होते हैं पूर्णतया छोड़ देना चाहिए । रुच, कटु, तिक्त एव कषाय रस युक्त पदार्थों का सेवन रखना चाहिये ।

इस प्रकार के पथ्यों में उत्तम आहार जौ की रोटी या दलिया, मूँग की दाल और मूँट्टे का पर्याप्त सेवन उत्तम रहता है । शाको में परवल एव करैले का सेवन उत्तम रहता है । गूलर एव केले के शाक का सेवन या अन्य प्रकार के पत्रशाको का जैसे मूली, चोलाई, सोया एव पालक का उपयोग ठीक रहता है । बद शाको में आलू, शलजम आदि अनुकूल नहीं पड़ते हैं । फलों का सेवन उत्तम रहता है । दूध एव फलाहार अनुकूल पड़ता है ।

ओषधि-ऋपाय-स्वरस—करैले के ताजे फल का स्वरस १ तोला प्रातः काल में खाली पेट पर लेना । निम्बपत्र-स्वरस ६ माशा मधु के साथ । विल्वपत्र स्वरस व बेल की पत्ती का रस या बेल की छाल का काढा बना कर लेना । विम्बी पचाङ्ग का स्वरस मधु के साथ १ तोला । आमलकी स्वरस । कच्ची हल्दी का स्वरस या अभाव में हर्गिद्रा का चूर्ण २ माशा । जामुन का फल, जामुन के मूल की छाल का कषाय या जामुन की गुठली का चूर्ण १-३ माशे मधु के साथ सेवन । विजयसार-इसकी लकड़ी को ताम्रघट में रखे जल में

१ व्यायामजातमखिल भजन्मेहान् व्यपोहति । पादातपच्छन्नरहितो भिक्षाशी मुनिवद्यत ॥ योजनानां शतं गच्छेदधिकं वा निरन्तरम् । मेहं जेतुं वने वापि नीवारामलकाशन ॥

२ हस्त्यश्ववाहनमतिभ्रमण रवित्विद् ॥ (भै र)

छोड़ देना चाहिये—इसमें पानी का ठणं किंचित् ताल रंग का हो जाता है ।
इस जल को पीने के उपयोग में लाना चाहिये ।

त्रिफला चूर्ण २ मे ४ मांघा मधु के साथ प्रातः—नायम् । आम या जामुन
(जिना फल लगे) के त्वक् चूर्ण या कषाय का मधु में सेवन । पूनिकरंज के
बीज की सींगी का उपयोग भी उत्तम है । गुड़मार के पत्र के चूर्ण या कषाय का
उपयोग ।

शालसारादि गण (मुशुनोक्त) औषधियों का यथाशक्त कषाय बनाकर
मधु मिलाकर दिन में दोवार सेवन करना उत्तम रहता है । बहुमृशता को कम
करने के त्रिफलादि कषाय-त्रिफला, बांसकी पत्ती, नागरमोथा और पाठा का
मनमात्रा में बनाया कषाय मधु के साथ देना चाहिये ।^१

शालसारादि गण—माल वृक्ष, साल के भेद (अजकर्ण), खदिर,
निन्दुक वृक्ष, सुपारी, भृङ्गपत्र, मेपशृङ्गी, निनिश, ध्वेत चंदन, स्वत चंदन,
शोमम, चिरीष, अर्जुन, धव, अमन (विजयसार), ताड़ का मूल, शक वृक्ष,
करंज एवं पूनिकरंज, अयवकर्ण, अगर तथा पीत चंदन ।

रसोपधियों में शिलाजीत, त्रिवण (वंग-नाग-यमदभस्म), लोह तथा गुग्गुलु के
योग उत्तम रहते हैं जैसे—शिला गुठिका १ मांघा दूध में घोल कर प्रातः-सायं
अथवा चंद्रमावटी १-२ गोली दूध से प्रातः-नायम् । स्वर्ण और मुक्ता के
योगिकों में वसन्तकुमुदाकर रम का सेवन कराना १-२ रत्नी-आंवले और हल्दी
के रस और मधु के साथ उत्तम कार्य करता है । त्रिवंग भस्म या तवायस लोह
का गुठली मत्त्व एवं मधु में सेवन भी उत्तम रहता है ।

कई औषधि योगों का नीचे संग्रह किया जा रहा है, इनका उपयोग प्रमेह तथा
मधुमेह की विभिन्न अवस्थाओं में करने से लाभ प्राप्त होता है ।

न्यग्रोधादि चूर्ण—वट-मूलर-मीपल और सोनापाठा की छाल, अमरताय
का गूदा, अमन (विजयसार) की छाल, आमकी गुठली, जामुन की गुठली, कैथफल
की मज्जा, चिरीजी, अर्जुन की छाल, धव की छाल, महुए की छाल, मधुयष्टी,
पठानी लोह, अगूर के पीदे की जड़, करंज फल की गिरी और त्रिफला पृथक्-
पृथक्, टण्डव और शुद्ध मर्यातक ४-४ तोले चूर्ण कर्ण । मात्रा ३ मांघा ।
प्रातः-सायं त्रिफला के कषाय में ।

१. त्रिफलाचूर्णपुत्राच्छपाठामधुयुतं. कृत. ।

कुम्भयोनिस्त्रिवाग्मोधि बहुमृशं तु शोषयेत् (यो. र.)

कुशावलेह—कुशा-कास-खस-इक्षु-एव रामशर की जड़ प्रत्येक का १०—१० पल लेकर २ द्रोण जल में ववथित कर अष्टमाश शेष रहने पर छान ले । फिर इसको कड़ाही में लेकर अग्नि पर चढ़ाकर १ प्रस्थ खाँड डालकर दो तार की नाशनी बनावे, जब वह किंचित् गाढा होने लगे तो उसमें निम्नलिखित द्रव्यों का चूर्ण डाले—मधुयष्टि, खीरा-कुष्माण्ड एवं ककडी के बीज-गिरी, वंशलोचन, आँवला, तेजपात, दालचीनी, इलायची नागकेशर, वरुण की छाल, गिलोय का सत्त्व, प्रियंगु प्रत्येक एक तोला । फिर अच्छी तरह से आलोकित करके मिलावे । और पाक बना ले । मात्रा १ तोला । दूध के साथ प्रातः-सायम् ले । सभी प्रकार के प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात में लाभप्रद ।

गोक्षुरादि गुग्गुलु (वातरक्ताधिकार)—मधुमहेज वातिक वेदना एव संधि-शोथ एवं पूयमेहज संधिवात में लाभप्रद ।

चंद्रकला वटी—छोटी इलायची के बीज, कपूर, शिलाजीत, आँवला, जायफल, केशर, सेमल के मूल, रस सिन्दूर, वग भस्म और अभ्रक भस्म समभाग में ले । प्रथम रस सिन्दूर को खरल में महीन पीसे । पीछे उसमें शिलाजीत, भस्मों तथा अन्य द्रव्यों के कपडछान चूर्ण को मिलावे । फिर हरी गिलोय और सेमल के मूल के रस से तीन-तीन दिनों तक मर्दन करके ३-३ रत्ती की गोलियाँ बना ले । छाया में सुखा कर शीशी में भर ले । मात्रा २ गोली सुबह-शाम मधु से चाट कर ऊपर से गाय का दूध ले । सर्व प्रमेहों में लाभप्रद । विशेषतः शुक्रमेह एवं स्वप्नदोष में हितकर है ।

चंद्रप्रभा वटी—कपूर, वच, मोथा, चिरायता, देवदारु, हल्दी, कडवी अतीस, दारुहल्दी, पीपरामूल, चित्रक की छाल, निशोथ, दन्ती की जड़, तेजपात, दालचीनी, इलायची, वंशलोचन, गिलोय, प्रत्येक १-१ तोला, घनिया, हरड, वहेरा, आँवला, चव्य, वायविडङ्ग, गजपीपल, स्वर्णमाक्षिक भस्म, सोठ, मरिच, पीपल (छोटी), सजिष्कार, यवक्षार, सैबव, सोचल तथा विडलवण प्रत्येक का चूर्ण ४-४ माणै, लौह भस्म २ तोला, चीनी ४ तोला, शुद्ध शिलाजीत तथा शुद्ध गुग्गुलु ८-८ तोले ।

प्रथम गुग्गुलु को साफ करके लोहे के इमामदस्ते में कूटे जब गुग्गुलु नर्म हो जाय तो उसमें अन्य भस्म तथा द्रव्यों के कपडछान चूर्ण मिलावे । जब गोली बनने लायक हो जावे तो उसमें त्रिफला क्वाथ की भावना देकर ५-५ रत्ती की गोलियाँ बनाकर शीशी में भर ले । मात्रा १-२ गोली । अनुपान गाय के दूध से ।

उपयोग—सभी प्रकार के मूत्र-संस्थान के विकारों में तथा यकृत दोष में लाभप्रद । चंद्रप्रभा गुटिका (अर्शोविकारोक्त) भी प्रमेह रोग में लाभप्रद होती है ।

वसन्ततिलक रस—लौह भस्म, वंग भस्म, सुवर्णमाक्षिक भस्म, सुवर्ण भस्म, अभ्रभस्म, प्रवाल भस्म, रजत (चादी) भस्म, मुक्ता भस्म, जावित्री, जायफल, दालचीनी, इलायची, तेजपात, नागकेशर प्रत्येक एक एक तोला । एकत्र महीन पीसकर त्रिफला के स्वरस की भावना देकर २-२ रत्ती की गोली बनावे । यह एक उत्तम वल्य रसायन योग है । अनुपान भेद से नाना प्रकार के चातविकार, अपस्मार, मूर्च्छा, उन्माद, सन्यास (Coma), क्षय, विविध प्रकार के मेह रोग विशेषतः मधुमेह में लाभप्रद है ।

वसन्तकुसुमाकर रस—सुवर्ण भस्म, रजत भस्म २-२ माशे, सीसक (नाग) तथा कान्त लौह भस्म ३-३ माशे, अभ्रक भस्म, प्रवाल भस्म, मुक्ता भस्म प्रत्येक ४-४ माशे । प्रथम इन द्रव्यों को खरल में लेकर महीन कर उसमें निम्नलिखित द्रव्यों की एक एक भावना दे । गाय के दूध, गन्ने के रस, अटूसे का क्वाथ, लाक्षा स्वरस, सुगन्ध वाला का क्वाथ, कदलीकद का स्वरस, कमल पुष्पो का स्वरस, मालती पुष्प का स्वरस । पश्चात् १ तोले कस्तूरी को गुलाब जल में पीनकर उसमें मिला दे । फिर दो-दो रत्ती की गोलियां बनाकर छाया में सुखाकर रखले । मात्रा १ गोली दिन में दो बार घृत ६ माशा, मधु १० माशा, चीनी ६ माशे के साथ सेवन । यह उत्तम रसायन एवं वल्य योग मेधा शक्ति और कामशक्ति बढ़ाती है—जरूर पुष्ट होता है प्रमेह नष्ट होते हैं । मधुमेह रोग में परम वल्य रसायन है । वसन्त कुसुमाकर मधुमेह (Diabetes) को विट्यात औषधि है । मधुमेह के विविध उपद्रवों में लाभप्रद होता है । वसन्ततिलक अथवा वसन्त कुसुमाकर में से किसी एक का प्रयोग हरिद्रा स्वरस ३ माशा आमलकी स्वरस २ माशा और मधु ६ माशे के साथ मधुमेह (Diabetes) में उत्तम रहता है ।

वृहद् वंगेश्वर रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, लौह भस्म, अभ्रक भस्म, सुवर्ण भस्म, वंग भस्म, मुक्ता भस्म तथा सुवर्ण माक्षिक भस्म प्रत्येक एक तोला । प्रथम पारद और गंधक की कज्जली बनावे फिर शेष भस्मों को मिलावे और घोट लेवे । पश्चात् घृतकुमारी स्वरस से भावना देकर २-२ रत्ती की गोली बनावे । पुराने मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात (Gleet) तथा विविध प्रकार के मेहों में लाभप्रद ।

सुवर्ण वंग—शुद्ध वंग २० तोले लेकर उसे लोहे या मिट्टी के पात्र में डालकर, पात्र को चूल्हे पर चढ़ाकर मद-मद आँच पर वंग को पिघलावे। फिर इस पिघले वंग को एक पत्थर के खरल में जिसमें २० तोले शुद्ध पारद हो तुरन्त उसमें छोड़े और अच्छी प्रकार से घोंटे। फिर दोनों की पिष्टि हो जाने पर उसमें ५ तोला सैधव लवण डालकर घाटे। आधे घंटे तक घोटने के पश्चात् उसको जल में प्रक्षालित करे। इस प्रकार २१ बार लवण के साथ मर्दन कर उसको २१ बार प्रक्षालित करे। फिर उसमें पारद के बराबर शुद्ध गंधक (२० तोला) मिलाकर कज्जली बनावे, पश्चात् २० तोला नवसादर मिलाकर मर्दन करे फिर पारद से चौथाई कलमी शोरा (५ तोला) डालकर खूब घोटकर रखे। अब इस द्रव्य को सात बार कपडमिट्टी की हुई आतशी शीशी में उसके चतुर्थांश तक भर कर आतशी शीशी को बालुका यत्र में चढ़ाकर १२ घंटे तक पाक करे। अग्नि की आँच देना प्रारंभ करे। थोड़ी देर में कज्जली उबल कर ऊपर आने लगे तो आँच को मद कर दे। बीच बीच में लोहे की शलाका को शीशी के मुख के भीतर प्रविष्ट करके गंधक के जलने का ज्ञान होता चलता है। जब शीशी पर श्वेत धूम न दिखलाई पड़े और जब शलाका प्रविष्ट करने पर उसके अग्रपर लाल चमकते पीले रंग के कण लगने लगे तो आँच देना कम कर देना चाहिये। यह गंधक के जीर्ण हो जाने का चिह्न है। इस प्रकार खुले मुख से ही सुवर्ण वंग का पाक होता है।

इस प्रकार पाक करने से सुवर्ण के समान चमकता हुआ अत्यन्त सुन्दर 'सुवर्ण वंग' नामक रसायन सिद्ध होता है। यह सुवर्ण वंग बलवर्धक, प्रमेहनाशक, जीर्ण पूयमेहादि में लाभप्रद, शरीर की कान्ति, मेवा, वीर्य एवं अग्नि का बढ़ाने वाला होता है।

अपूर्वमालिनी वसन्त-वैक्रान्त भस्म, अन्न भस्म, ताम्र भस्म, सुवर्णमाक्षिक भस्म, चादी भस्म, वंग भस्म, प्रवाल भस्म, रस सिन्दूर, लौह भस्म, शुद्ध टकण, शुद्ध शख भस्म (शम्बूक या घोघा की भस्म, प्रत्येक १-१ तोला लेकर सब को महीन पीस कर खस, हरिद्रा तथा शतावर के क्वाथ की पृथक्-पृथक् सात-सात भावना दे। फिर उसमें कस्तूरी तथा कपूर प्रत्येक १-१ तोला मिलाकर २-२ रत्ती की गोलियाँ बना ले। पिप्पली चूर्ण और मधु के अनुपान से एक-एक गोली प्रातः-सायम् देने से सभी प्रकार के जीर्ण ज्वरो में लाभ होता है। गुडूचीसत्त्व और मिश्री के अनुपान से सभी प्रमेहों में प्रशस्त है। नीबू के जड़ के क्वाथ के साथ मूत्रकृच्छ्र तथा अश्मरी में प्रयोग करना चाहिये।

शिवागुटिका—उत्तम गुद्ध शिलाजीत १ सेर ले । इसे त्रिफला के क्वाथ में आप्लुत करके रात भर रहने दे । दूसरे दिन खरल को घूप में रखकर घोंटे इस प्रकार तीन भावना दे । इसी प्रकार दशमूल, गिलोय, वला, पटोलपत्र और मधुयष्टि के स्वरस या कपाय में यथालाभ भावना दे । प्रत्येक से तीन तीन बार भावना पश्चात् गोदुग्ध की भावना देकर सुखाकर रख ले । पश्चात् काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, विदारी, क्षीरविदारी, गतावर, द्राक्षा, ऋद्धि, वृद्धि, जीवक, ऋपभक, जटामासी, गोरखमुण्डी, श्वेत जोरक, कृष्ण जोरक, शालपर्णी, पृष्णिपर्णी, रास्ना, पुष्कर्मूल, चित्रकमूल, दन्तीमूल, गजपीपल, इन्द्र जी, चव्य, नागरमोथा, कुटकी, शृङ्गो और पाठा इनमें प्रत्येक औषधि को ४-४ तोले लेकर पोडण गुण जल में चतुर्थांशवशिष्ट क्वाथ बनावे । इस क्वाथ से पूर्वोक्त शिलाजीत की सात भावना देकर सुखा ले ।

इस प्रकार से बने शिलाजीत में अब निम्नलिखित द्रव्यों का महीन चूर्ण मिलावे—सोठ, पिप्पली, कुटकी, काकडासीगी और काली मरिच का चूर्ण ८-८ तोले, विदारी कद का चूर्ण ४ तोला, तालीशपत्र का चूर्ण १६ तोला, मिश्री ६४ तोले, गोघृत १६ तोले, गृहद ३२ तोले, तिल तैल ८ तोले एवं वंशलोचन, तेजपात, दालचीनी, नागकेशर और छोटी इलायची प्रत्येक २ तोले । सब द्रव्यों को अच्छी प्रकार से मिलाकर १-२ मासे की गोलियाँ बना ले । मात्रा १-२ मासा दिन में दो बार । अनुपान दूध, मासरस, अनार का रस, सुरा, आम्रव, गृहद या केवल गीतल जल में घोलकर सेवन । यह एक परमोत्तम रसायन योग है । इसके सेवन से सम्पूर्ण रोगों का नाश हो, नव-यौवन की प्राप्ति होती है । मधुमेह रोग में यह अमृत तुल्य औषधि है ।

लोध्रासव—लोध, कचूर, पुष्कर मूल, छोटी इलायची, मूर्वा, वायविडङ्ग, त्रिफला, अजवायन, चव्य, प्रियंगु का फूल, सुपारी, विशाला (?), चिरायता, कुटकी, भारङ्गी, नत, चीता, पिप्पलीमूल, कूठ, अतीस, पाठा, इन्द्रियव, नागकेशर, नख, तेजपात, काली मिर्च, प्लव—प्रत्येक एक-एक कर्प लेकर १२ सेर १२ छटांक ४ तोले जल में उवाल कर चतुर्थांशवशिष्ट क्वाथ बनावे । इस क्वाथ में आधा मधु मिलाकर एक घृतलिप्त भाण्ड में मुख बंद कर एक पक्ष तक संधान करे । पश्चात् छानकर बोललो में भर कर रख ले और औषधि रूप में उपयोग में लावे । सेवनविधि २ तोला समान जल मिला कर भोजन के बाद ।

शारिवाचासव—कृष्ण शारिवा, नागरमोथा, लोध, बट की छाल, पीपर की छाल, कचूर, अनन्तमूल, पद्माख, नेत्रवाला, पाठा, बाँवला, गिलोय, खस, श्वेत चंदन, रक्त चंदन, अजवायन, कुटकी, तेजपात, छोटी इलायची, बड़ी इला-

यची, कूठ, सनाय, हरड प्रत्येक २०-२० तोले लेकर ३२ सेर जल में डाल कर तीन तुला (१५ सेर) पुराना गुड, धाय के फूलों का चूर्ण २॥ सेर, मुनक्का पौने चार सेर मिलाकर घृत सुगंधित भाण्ड में भर कर सधिवधन करके १ मास के लिये एकान्त स्थान में सुरक्षित रख दे । एक मास के अनन्तर छानकर मर्त्तबान में भर कर रख ले । इसके सेवन से वातरक्त, रक्तदुष्टि प्रमेह-पिडिका एवं विविध प्रमेह रोगों में लाभ होता है । सेवनविधि-भोजन के बाद २ चम्मच समान जल के साथ मिलाकर ।

प्रमेहमिहिर तैल—सौफ, नागरमोथा, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, मूवमूल, कूठ, अश्वगधा, श्वेत चदन, लाल चन्दन, हरेणुका, कुटको, मुलैठो, रास्ना, दाल-चीनी, इलायची, ब्रह्मदण्डी (भारगी), चव्य, धनिया, इन्द्रियव, करंजबीज, तगर, तेजपात, त्रिफला, नालुका, गधवाला, बला एवं अतिबला की जड़, मजीठ, सरल काठ, पटुसकाठ, लोध, छोटी सौफ, ववा, जोरा, खस, जायफल, अडूसा, तगर प्रत्येक १-१ तोला लेकर पानी से पीस कर कल्क बना ले । पश्चात् तिल-तैल तथा शतावरी का कषाय प्रत्येक १२८ तोले (या १-१ सेर), लाक्षा क्वाथ तथा दही का पानी ४-४ सेर और दूध १ सेर । यथाविधि कड़ाही में अग्नि पर चढ़ाकर पाक करे । विविध प्रकार के जीर्ण ज्वर, हस्त-पादादि-दाह, क्षीणेन्द्रियता, ध्वजभग आदि उपद्रवों में अभ्यग से लाभ होता है ।

स्वाप्तिक शुक्रक्षय या स्वप्नदोष—युवावस्था में अविवाहित व्यक्तियों में निद्रा में शुक्र-क्षय होना बहुलता से पाया जाता है । सोलह वर्ष की आयु के अनन्तर पुरुषों में प्रजननसम्बन्धी अवयवों का जैसे अण्ड, शुक्रग्रंथि, पौरुष-ग्रंथि आदि की क्रिया प्रारंभ हो जाती है—फलतः पुरुषत्व का आगमन, कामवासनाओं की वृद्धि, प्रजनन अंगों के विकास के साथ शुक्रक्षय की प्रवृत्ति भी जागृत होती है । इसके परिणामस्वरूप निद्राकाल में शुक्रक्षय का होना भी स्वाभाविक रहता है । इस अवस्था को स्वप्नदोष या स्वाप्तिक शुक्रक्षय कहते हैं ।

इस आयु में शुक्र-संरक्षण या ब्रह्मचर्य का पालन प्रायः कठिन होता है । प्राचीन युग में ऋषियों ने ब्रह्मचर्य के पालन के लिये बहुविध साधन बतलाये हैं, जैसे—गुरुकुल में वास, तपोवन, सध्योपासन, परिश्रम का जीवन, सीमित रुक्ष सात्त्विक आहार, स्वल्प निद्रा, शृंगार-साधनों का जैसे, तैलाम्यग, केशप्रसाधन, सुखासन-सुखशय्या आदि का परिहार, स्त्री के सभापण-दर्शन आदि से दूर रहना, इन नियमों के अनुसार रहते हुए ब्रह्मचर्य भी संभव है । परन्तु, आज के युग में इसके ठीक विपरीत वातावरण से होकर युवक को गुजरना पड़ता है । फलतः वीर्य की रक्षा करना अथवा ब्रह्मचर्य का पालन बड़ा दुर्घट हो जाता है ।

प्राचीन ग्रंथों में स्वप्नदोष या स्वापनिक शुक्रक्षय नामक किसी रोग विशेष का उल्लेख नहीं पाया जाता है। इसके दो कारण हो सकते हैं—१ इसको कोई रोग या वैकारिग्न स्थिति (Pathological condition) न समझा गया हो—वर्तक एक स्वाभाविक क्रिया (Physiological functions of Puberty in males) माना गया, जिसमें किसी उपचार की आवश्यकता न समझी गई हो। २ भववन प्राचीन युग में यह विकार होता ही कम होवे, फलस्वरूप आचार्यों को इसका स्वतन्त्र रोग के रूप में उल्लेख करने की या चिकित्सा चलाने की आवश्यकता ही न प्रतीत हुई हो। दोनों पक्ष ही युक्तियुक्त हैं तथापि प्रथम पक्ष अधिक विज्ञानसम्मत प्रतीत होता है।

वाम्त्व में स्वप्न में वीर्य का क्षय होना कोई रोग नहीं है—प्रत्युत एक प्राकृतिक क्रिया है—जो दो कारणों से उत्पन्न होती है—१. प्रजनन अंगों के स्वाभाविक विकास २ तथा कामवासनाओं की उत्तेजना तथा उसको अतृप्ति (Dissatisfaction of the Sexual Hunger) में। क्योंकि ऐसा बहुधा देखा जाता है कि स्वापनिक शुक्रक्षय में ग्रस्त व्यक्तियों का वैवाहिक सम्बन्ध या गार्हस्थ्य स्थापित हो जाने पर निद्रा से वीर्य-क्षय होने का विकार स्वतः शान्त हो जाता है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि एक सीमित मात्रा तक मान में १ से ४ दिनों तक स्वप्न में शुक्र-क्षय का होना कोई चिन्त्य विषय नहीं है, परन्तु, इससे अधिक होना कुछ मानसिक उत्तेजनाओं का द्योतक होता है। इसके लिये कुछ सन्तानमय योगों का देना आवश्यक हो जाता है।

प्रतिषेध—१ स्वप्न-दोष—शब्द के शाब्दिक अर्थ का विचार करने में स्पष्ट हो जाता है स्वप्न का दोष। स्वप्न कहते हैं निद्रा को, अस्तु, निद्रा का दोष ही प्रदान हेतु शुक्रक्षय में कारण बनता है। स्वाभाविक निद्रा में दो प्रकार की अवस्थाएँ पाई जाती हैं—१ पहली अवस्था—स्वप्न—जिसमें निद्रा एवं जागरण का मिश्रण पाया जाता है दूसरे शब्दों में अप्रगाढ निद्रा इसे कहते हैं। २ दूसरी अवस्था सुषुप्ति जिसमें प्रगाढ (गाढी) निद्रा रहती है। प्रथमावस्था में कई प्रकार के दिन में देखे गये विचार निद्रा में आते रहते हैं और उसके फलस्वरूप शुक्रक्षय भी हो जाया करता है। अस्तु, प्रगाढ निद्रा का प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये मस्तिष्क का सन्तान एव मृदु निद्राकर औषधियों का उपयोग करने से पर्याप्त लाभ पहुँचता है। शुक्रक्षय की चिकित्सा में व्यवहृत होने वाले सभी योग शीतवीर्य एवं मस्तिष्क-तन्तुओं के सन्तान करने वाले हो तो उनका प्रयोग करने हुए व्यक्ति को लाभ पहुँचता है। साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि व्यक्ति को सीमित समय तक चारपाई पर पड़े

रहने दे । दिन में सोना या एक साथ में ६ घंटे से अधिक सोना भी अनुकूल नहीं पड़ता है । आलस्य को त्याग कर सोना, ब्राह्म मुहूर्त में उठना, जब मूत्र का वेग प्रतीत हो मूत्रत्याग, शौच का वेग आने पर शौचत्याग करने का अभ्यास करना चाहिये । औषधि रूप में निम्नलिखित औषधियोगों का व्यवहार करते हुए पर्याप्त लाभ होता है ।

गुडूची, वशलोचन, हरिद्रा, दाह्रिद्रा, आंवला, मजीठ, अगर, कूठ, नागर-मोथा, देवदारु, श्वेत चंदन, त्रिफला, कशेरु, अर्जुन की छाल, सेमल की मुसली, बलामूल, शीतलचीनी, कर्पूर प्रभृति औषधियों का उपयोग उत्तम रहता है । यदि रोगी में विषय का वृत्त मिले तो वस्ति या मृदु रेचन से कोष्ठशुद्धि कर लेनी चाहिये ।

१ हरिद्रादि योग—हरिद्रा चूर्ण २ माशा, आमलकी चूर्ण २ माशा और मधु ६ माशा का जल के साथ सेवन ।

२ समुद्रशोषादि चूर्ण—समुद्रशोष १ भाग, साफ राल २ भाग और मिश्री ८ भाग इस अनुपात में बना चूर्ण । मात्रा ६ माशे ठंडे जल से । पुरुषों के शुक्रक्षय तथा स्त्रियों के श्वेत प्रदर दोनों रोगों में लाभप्रद होता है ।

३ शीतलचीनी का चूर्ण २ मा० मधु ६ माशे के साथ मिलाकर सेवन ।

४ सुवर्णमाक्षिक भस्म १ रत्ती, शहद ६ माशे के साथ अथवा प्रवालपिष्ट २ रत्ती और गुडूची सत्त्व १ माशा मिलाकर मधु के साथ दिन में दो बार । रस सिन्दूर १ रत्ती, शुद्ध शिलाजीत ४ रत्ती इस योग में मिला दिया जावे तो उत्तम लाभ होता है । चद्रकला वटी-१-२ गोली सुबह-शाम मधु के साथ सेवन उत्तम है ।

५ चद्रकला वटी २ रत्ती, प्रवालपिष्ट १ रत्ती, सुवर्ण माक्षिक भस्म १ रत्ती, गुडूची सत्त्व १ माशा मिला कर एक मात्रा-ऐसी दो मात्रा सुबह-शाम लेने से उत्तम होता है । साथ में चंदनासव-भोजन के बाद २ चम्मच समान जल मिलाकर देना भी उत्तम रहता है ।

६ यदि रोग बड़ा ही हठी हो तो कुछ दिनों तक निद्राकर योगों का प्रयोग करना भी उत्तम रहता है—जैसे जटामास्यादि कषाय अथवा शुद्ध कपूर १ रत्ती और शुद्ध अहिफेन $\frac{1}{2}$ रत्ती मिश्रित १ मात्रा ।

७ चंदनासव—श्वेत चंदन, नागरमोथा, नेत्रवाला, गम्भारी की छाल, नील कमल, प्रियंगु, पद्माख, पठानी लोध, मजीठ, लाल चंदन, पाठा, विरायता, वट की छाल, पिप्पली, कचूर, पित्तपापडा, मुलैठी, रासना, पटोलपत्र, कचनार की छाल, आम की छाल, और मोचरस प्रत्येक चार-चार तोला । धाय का फूल

१ सेर, मुनक्का १। सेर, जल ३२ सेर, अर्कुरा ६। मेर, गुड ३ सेर २ छटाँक । चूर्ण करने लायक औषधियों का महीन चूर्ण करके वृत्तलिप्त भाण्ड में संधान करना चाहिये । १ मास तक भाण्ड का मुख बंद करके रखना चाहिये । एक मान के अनन्तर छान कर शीशी में भर कर रख ले । मात्रा २ तोला भोजन के बाद ।

८ दल्य चूर्ण—बद्वूल की फली, समुद्रगोप, अष्टवर्ग की औषधियाँ या उनके शास्त्रोक्त प्रतिनिधि द्रव्य, नालिव मिश्री, सेमर का मुसला, तृणकान्त (कहरवासमई), छोटी इलायची के बीज, कतौरा, सफेद मुसली प्रत्येक १ भाग, इसवगोल को भूसी ४ भाग । सब का चूर्ण बनाकर कुल के बराबर मिश्री मिला कर रख ले । मात्रा २ माशा । अनुपान जल या दूध से । (श्री पं० राजेश्वर दत्त शास्त्री हि वि. वि काशी)



पैंतीसवाँ अध्याय

मेदोरोग प्रतिपेय

प्रावेशिक-मेदो रोग या स्थौल्य—वह रोग जिसमें शरीर में अत्यधिक वसा (मेद या चरबी) का संचय हो जावे । व्यायाम का अभाव, अधिक सोना, निश्चिन्तता का जीवन, दिवास्वप्न, श्लेष्मा-वर्धक आहार का भक्षण, मधुरतायुक्त अन्न-रस म्लिग्ध होने से मेद को उत्पन्न करता है । मेद के द्वारा त्तोतों का अवरोध होने से अन्य धातुओं का पोषण नहीं होता केवल मेद की ही वृद्धि निरन्तर होती रहती है । इससे रोगी कोई काम नहीं कर पाता । उसको थोड़े श्रम से ही साँस फूलने लगती है । मेदस्वी को भूख, प्यास एवं निद्रा अधिक होती है । अंग शिथिल हो जाता है, पसीना अधिक आता है, पसीने में बदबू पाई जाती है । रोगी की जीवनी शक्ति, मैथुनशक्ति एवं प्रजननशक्ति भी कम हो जाती है । उदर में मेद का संचय होने से उस का आकार विगेय बढ़ जाता है ।

स्थौल्य में ग्रस्त व्यक्ति या मेदस्वी व्यक्ति की स्फूर्ति या गति-शीलता कम हो जाती है, शरीर का गठन बिगड़ जाता है, विचर्चिका या कच्छु रोग (Eczyma) अथवा मधुमेह होने की प्रवृत्ति पाई जाती है ।

उपद्रव रूप में हृदय का वसामय अपजनन (Fatty degeneration of the heart)—रोगी का हृदयातिपात होकर अल्प आयु में मृत्यु भी हो सकती है ।

मेदो रोग में कुछ कुलज प्रवृत्ति भी पाई जाती है, कुछ अशो के लोगो में स्थूलता प्रायः दिखलाई पड़ती है । पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में यह रोग अधिक मिलता है । यद्यपि यह रोग किसी भी आयु में पैदा हो सकता है तथापि चालीस वर्ष की आयु के बाद अधिक पाया जाता है । आधुनिक वैज्ञानिकों ने स्थूल्य की उत्पत्ति में उपर्युक्त कारणों (व्यायामाभाव, दिवास्वाप एवं अत्यधिक पौष्टिक आहार) के अतिरिक्त कुछ अन्य कारणों का भी भाग लेने की चर्चा की है । जैसे, अवटूका (Thyroid), पीयूष (Pitutary) एवं अधिवृक्क (Suprarenal) तथा वृषण (Testes) ग्रन्थि के अतः स्रावों की कमी । इससे मौलिक समवर्त्त (Basic Metabolism) की क्रिया बिगड़ जाती है, जिससे सेवन किये गये सम्पूर्ण वसा का भंजन नहीं हो पाता और वह वसा शरीर के विभिन्न धातुओं में संचित होने लगती है, व्यक्ति मेदस्वी हो जाता है ।

मेद की अस्वाभाविक वृद्धि के कारण जिस व्यक्ति के नितम्ब, उदर एवं स्तन हिलने लगते हैं तथा जिस के शरीर का विकास एवं उत्साह यथायोग्य नहीं है उसे अतिस्थूल कहते हैं ।^१

मेदोरोग में क्रिया सूत्र—

निदान-परिवर्जन—जिन कारणों से स्थूल्य होता है उन कारणों का परित्याग करना परमावश्यक है । अस्तु, आहार-विहार सम्बन्धी उपचारों पर ही विशेष ध्यान देना चाहिये । स्थूल्य का प्रधान कारण अल्प परिश्रम एवं अधिक पौष्टिक भोजन (Highcaloric diet) होता है । अस्तु, स्थूल व्यक्ति के लिये—परिश्रम का कार्य, शारीरिक व्यायाम (खेल, कूद, दौड़, घोड़े की सवारी आदि), चिन्ता का कार्य, स्त्रीसंग, अल्प निद्रा का अभ्यास, अर्थोपार्जन, शास्त्रचिन्तन आदि मानसिक परिश्रम अधिक करने का उपदेश देना चाहिये । संक्षेप में अधिक सतर्पण से यह रोग पैदा होता है । अस्तु रोगी का अपतर्पण करना चाहिये ।

१ मेदोमासातिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदरस्तन ।

अयथोपचयोत्साहो नरोऽतिस्थूल उच्यते ॥ (च सू २१)

स्थूले स्युर्दुस्तरा रोगा त्रिसर्पा सभगन्दरा ।

ज्वरातिसारमेहार्श श्लीपदापचिकामला ॥

अपतर्पण के लिये—अधिक जागरण, लघन (उपवास), चिन्ता, श्रम, सायकिल, हाथी या छोडे की सवारी, धूप में चलना या काम करना, भ्रमण करना, उबटन लगाना, शरीर की मालिश करना, वमन एवं विरेचनादि शोधन कर्म करना उत्तम रहता है । भोजन में इन रोगियों को पुराना अन्न विशेषतः रुच अन्न जैसे जी, साँवा, कोदो, नीवार, कङ्ग धान्य तथा अन्य तृण धान्य या मुन्यन्न का सेवन करना चाहिये । दालों में कुलथी, मूग, मसूर, चना, तुवरी, लाज (खील), मधु, मट्ठा (मक्खन निकाला दूध या मट्ठा), आसव, अरिष्ट, सुरा, सर्पप तैल, पत्र शाक (पत्ती वाले शाक), वैगन का भत्ता, विंगट मछली (छोटी जाति की मछली) प्रभृति कटु-तिक्त-कपाय रस वाले द्रव्य एवं रूक्ष गुण भूयिष्ठ पदार्थों का सेवन रोगी को कराना चाहिये ।^१

औषधियों में—त्रिफला, गुग्गुलु, लोह के योग, गोमूत्र, विडङ्गादि कृमिघ्न द्रव्यों के योग, त्रिकटु, शिलाजीत, पीने के लिये उष्ण किया जल, उष्ण जल से स्नान, जल का कम सेवन और भोजन के पूर्व जल का पीना उत्तम रहता है । लेखन वस्तियों का भी उपयोग करना चाहिये ।

अपथ्य—शीतल जल से स्नान, नवीन अन्न (चावल, गेहूँ), सुखपूर्वक सदा गद्दी और तकिये के सहारे बैठना, दूध, मलाई, रवडी, मावा या खाड-राव का खाना, अधिक स्निग्ध एवं पौष्टिक आहार, मछली, मासादि का अधिक सेवन, दिन का सोना, भोजन के बाद का जल पीना इन कार्यों को मेदस्वी व्यक्तियों को समभाव में बाने के लिये अर्थात् नातिस्थूल नातिकृश बनने के लिये छोड देना चाहिये ।

भेषज—१ शहद १ तोला एवं जल ४ तोला मिलाकर प्रातः काल में सेवन । २ चावल का गर्म मण्ड पीना । ३. दधि-मस्तु (दही का पानी), अथवा मथी हुई दधि का मक्खन निकाला छाछ तथा पचकोल भी कर्पक होता है । ४. अरणी की छाल का क्वाथ बनाकर उसमें शुद्ध शिलाजीत १ माशा मिलाकर पिलाना । ५. एक तोले भर बेर की पत्ती को काजी में पीस कर सेवन करना । ६ एरण्डपत्र को जलाकर उसका क्षार बनाकर २ माशा की मात्रा ४ रस्ती घृत भजित हींग मिलाकर गर्म जल में घोल कर सेवन ।

१ श्रमचिन्ताव्यवायाध्वक्षीद्रजागरणप्रिय ।

हन्त्यवश्यमतिस्थाल्य यवश्यामाकभोजनै ॥

अस्वप्नञ्च व्यवायञ्च व्यायामं चिन्तनानि च ।

स्थीत्यमिच्छन् परित्यक्तु क्रमेणातिप्रवर्द्धयेत् ॥

२ प्रातर्मधुयुत वारि नेवित स्थीत्यनाशनम् ।

उष्णमन्नस्य मण्ड वा पिवन् कृशतनुर्भवेत् ॥ (भै ७)

योग-शक्तु प्रयोग-चव्यादिशक्तुक-चव्य, जीरा, मोठ, मरिच, पिप्पली, घृतभजित हीग, सोचल नमक, चित्रक की छाल, इन्हे सम प्रमाण में लेकर महीन चूर्ण कर लें। यह चूर्ण २ माशा, जौ का सत्तू एक छटाँक, दधि का पानी घोलकर सेवन करने से स्थूलत्व दूर होता है।

व्योपाद्यशक्तुक—सोठ, मरिच, पिप्पली, वायविडङ्ग, सहिजन की छाल, हरड, बहेडा, आंवला, कुटकी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, हरिद्रा, दारु हरिद्रा, पाठा, अतीस, शालपर्णी, घृतभजित हीग, केवुक की जड़, अजवायन, धनिया, चित्रक की छाल, सोचल नमक, श्वेत जीरा, हाऊवेर, इन द्रव्यों को सम भाग में लेकर चूर्ण कर शीशो में भर दें। फिर यह चूण, तैल, घृत और शहद प्रत्येक ४-४ माशे और जौ का सत्तू १६ गुना २१ तोले ४ माशे जल में घोलकर पीना। इस प्रयोग में अग्नि दीप्त होती है, प्रमेह, कुष्ठ, कामला, प्लीहावृद्धि, कृमिरोग तथा मेदो रोग में लाभ होता है।

नवक-गुग्गुलु—त्रिकटु, त्रिफला, चित्रक की छाल, नागरमोथा, वाय विडङ्ग तथा गुग्गुलु। सबको बराबर भाग लेकर प्रथम गुग्गुलु को कूटकर उसमें शेष द्रव्यों का चूर्ण मिश्रित करके गोली बनाले। मात्रा १ माशा। अनुपान मधु। दिन में तीन बार।

अमृताद्य गुग्गुलु—गिलोय १ तोला, छोटी इलायची २ तोला, वाय-विडङ्ग ३ तोला, कुटज की छाल ४ तोला, बहेडा ५ तोला, हरड ६ तोला, आंवला ७ तोला, शुद्ध गुग्गुलु ८ तोला। मात्रा २ माशा। अनुपान मधु। दिन में तीन बार। प्रमेहपिडिका, भगदर तथा रयित्यरोग में इससे लाभ होता है।

त्रिफलाद्य तैल—तिल तैल ५१, सुरसादि गण की औषधियों का क्वाथ ४ सेर, काली तुलसी, सफेद तुलसी, मरुवा, आजवल, रोहिस तृण, गंध तृण, वन तुलसी, कृष्णार्जक, कासमर्द, नर्कछिकनी, खरपुष्पा, वायविडङ्ग, जायफल, सफेद, एवं नीले फूल को निर्गुण्डी, मूषाकर्णी, भारगो, काकजवा, काकमाची एवं कुचैला-सम भाग में लेकर १ सेर द्रव्य को १६ सेर जल में क्वथित करके ४ सेर शेष करें। एवं हरड, बहेरा, आंवला, अतीस, मूर्वामूल, त्रिवृत् मूल, चित्रक मूल, अड़सा, नीम की छाल, सप्तपर्ण की छाल, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, गिलोय, निर्गुण्डी, पिप्पली, कूठ, सरसो, सोठ इन्हे सम प्रमाण में लेकर कुल एक पाव लेकर जल के साथ पीस कर कल्क के रूप में डालें। यथाविधि मद अग्नि पर चढ़ाकर तैल का पाक करें।—इस तैल का पान, अभ्यग, गण्डूप, नस्य तथा वस्ति के रूप में प्रयोग करने से स्थूलता, आलस्य, कण्डु तथा कफ एवं मेदो दोष से उत्पन्न विकार शान्त होते हैं।

लौहारिष्ट—शालसारादि गण की औषधियों के बवाण (प्रमेहाधिकारोवन) बनाकर छान ले । फिर इस बवाण में ठंडा हो जाने पर मधु मिलाकर मोठा करे । फिर गुड की चागनी तथा पिप्पल्यादि गण की औषधियों का प्रक्षेप मिलावे । फिर घृत-पिप्पली चूर्ण एवं मधु से अंदर से लिप्त नाफ घड़े के भीतर रखे । इस घड़े में तीक्ष्ण लौह के पतले पत्रों को खदिर की अग्नि में डालकर बुझावे, लौह पत्रों को उसी में पड़ा रहने दे । फिर घड़े के मुख को भलीभाँति बंद करके ३-४ मास तक जी की राशि के भीतर रख कर पड़ा रहने दे । पश्चात् उसको छान कर गीणियों में भर कर रख ले । यह सुश्रुतोक्त लौहारिष्ट है । इसके उपयोग से मधुमेह, मेदो रोग, प्रमेह पिडिका, पाण्डु रोग, प्लीहा, एवं उदर रोग में लाभ होता है । मात्रा २ तोला । समान जल मिलाकर भोजन के बाद ।

विडङ्गाद्यलौह—वायविडङ्ग, हरड, वहेरा, आँवला, नागरमोथा, पिप्पली, सोठ, वेल की छाल, पके वेल का गूदा, श्वेत चन्दन, सुगन्धवाला, पाठा, खस तथा बला की जड़ प्रत्येक एक तोला सब के बराबर लौह भस्म १३ तोले । पानी में पीस कर घृतलिप्त अंगुली से १ मासे प्रमाण की गोलियाँ बनाले । मात्रा १-२ बटी दिन में दो बार । अनुपान गर्म दूध ।

वडवाग्नि लौह—रससिन्दूर, शुद्ध हरताल, लौह भस्म, ताम्र भस्म सभी समान भाग । अर्कचक्र-स्वरस की भावना । मात्रा १ रत्ती । अनुपान मधु या घृत और मधु से । दिन में दो बार ।

स्वेदहर तथा दुर्गंधनाशक लेप—१. अडूसे का रस, विल्व पत्र का रस प्रत्येक एक एक तोला उसमें जंघ भस्म २ माशा मिलाकर लेप करने से शरीर के पसीने की बढवू दूर होती है ।

२. हरड, लोध, नीम की पत्ती, आम की अंतर छाल, अनार का छिलका इनका समभाग में लेकर महीन कूट पीसकर—१ तोले से २ तोले पानी के साथ पीसकर लेप करने में दुर्गंध दूर होती है । स्त्रियों के मुख की विवर्णता दूर होती है, हाथी-घोड़े पर चलने वाले श्रीमन्त व्यक्तियों के जाँघ तथा नितम्ब प्रदेश की त्वचा की विवर्णता भी दूर होती है । यह स्त्रियों के लिये अगराग तथा नराधियों के लिये जघा कपाय है ।^१



१ हरिनाडी लोघ्नमरिष्टपत्रचूतत्वचो दाडिमवत्कलञ्च ।

एषोऽङ्गराग कथितोऽङ्गनाना जंघाकपायश्च नराधिपानाम् ॥

छत्तीसवाँ अध्याय

उदर रोग प्रतिषेध

प्रावेशिक—वातोदर, पित्तोदर, कफोदर, सन्निपातोदर, यकृत-प्लीहोदर, वदगुदोदर, क्षतोदर तथा जलोदर भेद से उदर रोग आठ प्रकार के होते हैं। उदर रोगों में उत्सेद्युक्त सम्पूर्ण उदरगुहागत रोगों का समावेश हो जाता है, जिसमें कारण औदरिक वृद्धि (Generalised Abdominal Enlargement) पाई जाती है। प्राचीन ग्रंथों में उदररोगों के उत्पादक तीन कारण बतलाये गये हैं—१. मन्दाग्नि २. मलसंचय ३. पाप कर्म। उदर रोगों की सामान्य सम्प्राप्ति के सम्बन्ध में यह बतलाया गया है कि संचित हुए दोष स्वेद-चाही तथा जलवाही स्रोतों में अवरोध उत्पन्न करके प्राण-अपान एवं जठराग्नि को दूषित कर उदररोगों को उत्पन्न करते हैं। सब प्रकार के उदर रोगों में आध्मान (पेट का तनाव), चलने-फिरने में असमर्थता, दुर्बलता, पाचन करने वाली अग्नि की मदता, शरीर में सूजन, अंगों में शिथिलता, वायु एवं मल का अवरोध, दाह एवं तद्रा ये सामान्य लक्षण पाये जाते हैं।^१ चरक संहिता में इन प्रत्येक उदर रोगों का विस्तार ८ वर्णन पाया जाता है। वातोदर में मलका अवरोध, आध्मान, गूल आदि के साथ “आध्मातद्वतिवच्छब्दमाहृतं प्रकरोति च” अर्थात् आध्मानयुक्त उदर में स्पर्शन अथवा अगुलताडन करने से, भरी हुई मशक के ठोकने पर जैसा शब्द मिलता है वैसे ही शब्द पाया (Tympanitic node) जाता है, यह विशिष्ट लक्षण है जो आधुनिक दृष्टि से (Tympanitis) के वर्णन से सादृश्य रखता है। इसी प्रकार पित्तोदर का वर्णन अर्वाचीन, शास्त्रों में वर्णित उदरावृत्तिशोफ (Peritonitis) के साथ साम्य रखता है। कफोदर में आमजीर्ण कफज ग्रहणी आदि आमप्राय विकारों के साथ या उनके बाद होता है, उदर में शोथ होता है। अर्वाचीन दृष्टि से इसका सामञ्जस्य (Amoebiasis) या तत्सदृश विकारों से कर सकते हैं। कालान्तर में ये

१ पृथग्दोषं समस्तैश्च प्लीहवद्वक्षतोदकैः । सभवन्युदराण्यष्टौ तेषां लिङ्गं पृथक् शृणु ॥ रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ सुतरामुदराणि च । अजीर्णान्मलिनैश्चान्ने-
जयन्ते मलसचयात् ॥ आध्मानं गमनेऽशक्तिर्दौर्बल्यं दुर्बलाग्निः । शोथं सदन-
मङ्गानां सङ्गो वातपुरीषयोः ॥ दाहस्तन्द्रा च सर्वेषु जठरेषु भवन्ति हि ॥

सभी मन्त्रिपातोदर या दूष्योदर का रूप धारण करके असाध्य हो जाते हैं। बृहत्तुदर, तीव्र आन्त्रावरोध (Acute Intestinal obstruction) के रूप में स्पष्टतया प्रतिभात है और क्षातोदर भी एक तीव्रवस्था का ही वर्णन प्रतीत होता है जब कि किसी रोग के उपद्रव रूप में आन्त्र-छिद्र (Perforation of the Intestine) हो जाय।

इस प्रकार उदर रोग में अधिकतर तीव्र रोगों (Acute Abdomen) का ही वर्णन पाया जाता है। इनमें अधिक शल्यतंत्रीय चिकित्सा ही लाभप्रद भी होती है। इसके अनिश्चित कुछ ऐसे भी रोगों का वर्णन उदर रोगों के अव्याय में पाया जाता है, जिनमें उत्पादक कारणों की मन्दता, दोषों की अल्पता आदि से जीर्ण स्वरूप की व्याधियाँ हो जाती हैं। जैसे, प्लीहोदर (Splenomegaly), यकृतहात्युदर (Cirrhosis of the liver), तथा जलोदर (Ascitis), आदि। ये सभी अनुतीव्र या विरकालीन स्वरूप (Sub-acute or chronic type) की व्याधियाँ हैं। वस्तुतः, कायचिकित्सक को अपने को यहाँ तक सीमित रखना श्रेयस्कर होता है। अन्य रोगों में उदावर्त्त मह्य उपचार करते हुए सफलता मिल जावे तो ठीक है, अन्यथा किसी शल्यतंत्रीय चिकित्सक को रोगी को देना उत्तम रहता है। “मर्वाण्येव प्रत्यास्थायोपक्रमेत्। तेष्वचश्चतुर्वर्गो भेषजमाद्यः। उत्तरः शस्त्रसाध्यः। कालप्रकर्षात् सर्वाण्येव शस्त्रसाध्यानि भवन्ति वर्जयितव्यानि वा।” (मु)

संक्षेप में कहना हो तो उदररोगों में बहुत से तीव्र (Acute), अनुतीव्र (Subacute) तथा जीर्ण (Chronic) स्वरूप की व्याधियों का उल्लेख प्राचीन शास्त्रकारों ने किया है जिनके कारण उदर की दीवाल उभरी हुई प्रतीत हो (All acute or subacute conditions of Abdomen causing enlargement of the Abdominal wall)

इन अष्ट उदर रोगों में काय-चिकित्सक के लिये दो बड़े महत्त्व के रोग हैं—
१ यकृतप्लीहोदर तथा २ जलोदर। इन्हीं दोनों के प्रतिषेध का वर्णन इस अध्याय का प्रतिपाद्य विषय है। १ यकृतप्लीहोदर या प्लीहयकृतहात्युदर अथवा प्लीहोदर एवं यकृतहात्युदर-विदाही तथा अभिष्यदी पदार्थों का अत्यधिक सेवन करने से मनुष्य का श्वेत और कफ अधिक कुपित हो जाता है। फलतः प्लीहा की निरन्तर वृद्धि होती जाती है। प्लीहा बढ़कर उदर का उभार पैदा कर देती है। इस अवस्था को प्लीहोदर कहते हैं। प्लीहा की वृद्धि उदर में बाईं ओर होती है। इस अवस्था में रोगी मद् उदर एवं मन्दाग्नि से विशेष रूप से पीड़ित रहता

है । उनमें कफ एव पित्त के लक्षण और उपद्रव मिलते हैं । रोगी का बल क्षीण एव वर्ण पीला हो जाता है ।

निदान लक्षण तथा चिकित्सा को समानता के कारण प्राचीन ग्रंथकारों ने यकृद्वात्युदर का पाठ भी प्लीहोदर के साथ ही किया है । अन्तर केवल इतना ही है कि प्लीहोदर उदर के बाई ओर तथा यकृद्वात्युदर दाहि ओर होता है । कुछ रोगों में इन दोनों को एक साथ भी वृद्धि होती है । प्लीहा की वृद्धि करने वाले कालाजार, मलेरिया, राजयक्ष्मा, फिरण, फक्करोग, ल्युकीमियाँ आदि रोगों की किमी अवस्था में यकृद्-वृद्धि भी अवश्य होती है । साथ ही यकृत् की वृद्धि के कारण भी प्लीहा की वृद्धि करते हैं । अस्तु, दोनों रोगों के हेतु, लक्षण तथा चिकित्सा में पर्याप्त साम्य है । अस्तु, दोनों रोगों का एक साथ ही वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है । उक्ति भी पाई जाती है—‘प्लीहोदरस्यैव भेदो यकृद्वात्युदर तथा ।’ (भा प्रा) । ‘तदेव प्लीहोदर यकृद्वात्युदर ज्ञेयम् ।’ (डल्हण) । ‘तुल्यहेतु-लिङ्गोपधत्वात् तस्य प्लीहजठर एवावरोध इत्येतच्चकृत्प्लीहोदरम् ।’ (चरक) । रोग के प्रसार की दृष्टि से विचार दिया जाय तो भी प्लीहावृद्धि के रोगी यकृत्-वृद्धि की अपेक्षा अधिक सस्या में पाये जाते हैं । इस प्रकार प्लीहोदर नामक प्रधान व्याधि के अन्दर यकृत्-वृद्धि नामक गाण व्याधि अन्तर्विष्ट हो जाती है ।^१

जलोदर या दकोदर—उदरगुहा में जलसंचय को जलोदर कहते हैं । प्राचीनों ने जलवाही स्रोतों की दृष्टि को जलोदर का कारण माना है । आधुनिक विद्वान् इसके निम्नलिखित कारण मानते हैं—१ हृद्रोग २ वृक्क रोग ३ यकृद्रोग (प्रतिहारिणी सिरा का अवरोध Portal obstruction) तथा ४ क्षयजन्य उदरवृत्तिशोथ (T B Peritonitis) ५ प्लीहोदर के परिणाम स्वरूप । सामान्य लक्षणों में उदर में उत्सेध, नाभि का उल्टा होना (Everted umbilicus), मशक के समान क्षोभ या कम्प (Thrill), दृढत्व गव्द (Percussion Dullness), हृद्द्रव (Palpitation), श्वासकृच्छ्र, कान्, बुभुक्षानाश, अग्निमाद्य, विबन्ध, चलने में असमर्थता, पेशों पर सूत्र, मूत्र की कमी आदि लक्षण मिलते हैं ।^२

१ विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य जन्तो प्रदुष्टमत्यर्थमसूक् कफश्च । प्लीहाभिवृद्धि कुश्न प्रवृद्धौ प्लीहोत्थमेतज्जठर वदन्ति ॥ तद्वामपार्श्वे परिवृद्धिमेति विशेषतः सीदति चातुरोऽत्र । मन्दज्वराग्नि कफपित्तलिङ्गैरुपद्रुत क्षीणबलोऽतिपाण्डु । सव्यान्यपार्श्वे यकृति प्रवृद्धे ज्ञेय यकृद्वात्युदर तथैव ॥ (सु नि ७)

२ य स्नेहपीतोऽप्यनुवासितो वा वान्तो विरिक्तोऽप्यथवा निरुद्ध । विवेज्जलं

साध्यासाध्यता—सामान्यतया उत्पत्ति-काल से ही सर्व प्रकार के उदर रोग कृच्छ्रसाध्य होते हैं। उदरावरण की गुहा में जल का संचय (जलोदर) रोगो का अंतिम परिणाम है। उदर रोगों का परिपाक होकर जलोदर होता है। अस्तु, प्रायः सभी असाध्य हो जाते हैं तथापि रोगी यदि बलवान् हो और रोग नवीन हो तो यत्नपूर्वक चिकित्सा करने से लाभ की आशा रहती है और रोग याप्य या कृच्छ्रसाध्य रहता है।^१

उदर रोगों में सामान्य प्रतिषेध—उदर रोगों में मल की अधिकता पाई जाती है। अस्तु, विरेचन के द्वारा उसका शोधन सदैव हितकर होता है।^२ इसके लिये दूध, एरण्ड तैल, त्रिवृत्, त्रिफला, दशमूल कषाय, दन्ती, स्नुहीक्षीर, इंद्रायण मूल, गोमूत्र अथवा अष्ट-मूत्र, काम्पिल्लक, पिप्पली, हरीतकी, गुग्गुलु, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, पटोल, पुनर्नवा तथा देवदारु, शिलाजीत आदि औषधियाँ उत्तम रहती हैं।^३

पुनर्नवाष्टक कषाय—पुनर्नवा, नीम की छाल, पटोलपत्र, शुठी, कुटकी, गिलोय, देवदारु, हरीतकी इन द्रव्यों का समभाग लेकर २ तोले को ३२ तोले जल में उबाल कर ८ तोले शेष रहे तो छानकर शहद मिलाकर पिलाना। सर्वाङ्ग-शोध, जलोदर एवं पाण्डु में लाभप्रद।^४

शीतलमाशु सम्यक् स्रोतासि दूष्यन्ति हि तद्वहान् ॥ स्नेहोपलिप्तेष्व-
थवाऽपि तेपूदकोदर पूर्ववदभ्युपैति । स्निग्धं महत्तत्परिवृत्तनाभि समाततं
पूर्णमिवाम्बुना च ॥ यथा वृत्तिः क्षुभ्यति कम्पते च शब्दायते चापि दकोदर
तत् । (सु)

१ जन्मनैवोदर सर्वं प्रायः कृच्छ्रतम मतम् ।

बलिनस्तदजाताम्बु यत्नसाध्य नवोत्थितम् ॥ (च. चि. १३)

अन्ते सलिलभाव हि भजन्ते जठराणि तु ।

सर्वाण्येवं परीपाकात्तदासाध्या भवन्ति हि ॥ (सु)

२ दोषादिमात्रोपचयात् स्रोतोमार्गनिरोधनात् ।

सम्भवन्त्युदर तस्मान्नित्यमेतं विरेचयेत् ॥

पाययेत्तैलमैरण्ड समूत्र सपयोपि वा ।

३. शिलाजतूना मूत्राणा गुग्गुलोस्त्रैफलस्य च ॥

स्नुहीक्षीरप्रयोगाश्च शमयन्त्युदरामयम् । (भै.)

४ पुनर्नवानिम्बपटोलशुठीतिक्तामृतादावर्भयाकषाय ।

सर्वाङ्गशोधोदरकासशूलश्वासान्वितं पाण्डुगदं निहन्ति ॥

नारायणचूर्ण—अजवायन, हाउवेर, धनिया, त्रिफला, काला जीरा, सौंफ, पिप्पली मूल, अजमोद, कचूर, बच, सोया बीज, श्वेत जीरा, सोठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, स्वर्णक्षीरी मूल, चित्रक, यवक्षार, सज्जीखार, पुष्करमूल, कूठ, सैधव, सामुद्र लवण, मोचल लवण, विड लवण, उद्भिद् लवण और वायविडङ्ग प्रत्येक १ तोला । दन्ती की जड़ ३ तोले, निशोथ तथा इन्द्रायण की जड़ २-२ तोले, सातला की जड़ ४ तोले । सबका महीन कपडछन चूर्ण । यह नारायण चूर्ण अनेक रोगों में अनुपान भेद में लाभप्रद होता है । मात्रा २-४ माशे । उदर रोगों में मट्टे के साथ, गुल्म रोग में वेर के क्वाथ के साथ, अर्श एवं विबन्ध रोग में दही के पानी या अनार के रस के साथ और अजीर्ण में गर्म जल के साथ देने से उत्तम लाभ होता है । पाण्डु, हृद्रोग, कास-श्वास तथा ग्रहणी एवं विष चिकित्सा में भी उपयोगी है ।

देवदार्वार्दि लेप—देवदारु, पलाश के बीज या मूल, आक के पत्र या जड़, गजपिप्पली, सहिजन की छाल, असगंध और काकमाची इन्हें सम प्रमाण में लेकर गोमूत्र में पीसकर उदर पर गर्म गर्म लेप करने से आध्मान कम होता है । यकृत एवं प्लीहा की वृद्धि भी कम होती है ।^१

सहस्रपिप्पली प्रयोग—यूहर के दूध में सात बार या इक्कीस बार भिगोयी और सुखाई पिप्पली का सेवन एक सहस्र की संख्या में करने से और केवल क्षीराहार पर रोगी के रहने से उदर रोग नष्ट होता है । इसमें वर्धमान पिप्पली के क्रम से प्रयोग करना उत्तम रहता है । १० पिप्पली से प्रारंभ करे प्रथम दिन दूध में पीसकर तीन हिस्से में बाँटकर प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल में दूध के साथ १० छोटी पीपल का प्रयोग दूसरे दिन २० और तीसरे दिन ३० तथा इस प्रकार बढ़ाते हुए दसवें दिन १०० पिप्पली का सेवन करावे फिर दस के क्रम से घटाते हुए १० पिप्पली प्रतिदिन पर लेकर क्रम को बदल दे । इस प्रकार पूरे कल्प में १००० पिप्पली लगती है—रोगी को क्षीराहार पर रखकर इस प्रयोग से यकृद्वाल्गुदर (Cirrhosis of the liver) एवं तज्जन्य उपद्रवों में जलोदर आदि में उत्तम लाभ होता है । रोगी और रोग के बल के अनुसार तीन, पाँच या सात के क्रम से भी वृद्धि की जा सकती है । और पिप्पली कुल संख्या कम की जा सकती है—यह सहस्र पिप्पली प्रयोग बड़ा उग्र है और बलवान रोगियों में ही करना संभव है । इसकी एक तृतीयांश अर्थात् ३३० पिप्पली का कुल

१ देवदारुपलाशार्कहस्तिपिप्पलिशिगुर्क ।

साश्वगधं सगोमूत्रं प्रदिह्यादुदर शनैः ॥

प्रयोग अधिक अनुकूल पड़ता है। यह क्रम ३-३ पिप्पली के वर्धमान प्रयोग में पूर्ण हो जाता है। कुछ वैद्य १-१ के क्रम से बढ़ाते हुए उपयोग करते हुए लाभ उठाते हैं। बिना स्नुही से भावित पिप्पली के उपयोग में भी पर्याप्त लाभ होता है। इस वर्धमान पिप्पली प्रयोग से बढ़कर उदर रोग में कोई चिकित्सा जगत् में नहीं है।^१

वर्धमान पिप्पली प्रयोग—इस प्रयोग में पिप्पली (छोटी पीपल) दो प्रकार की हो सकती है—केवल पिप्पली या भावित पिप्पली या संस्कारित पिप्पली। संस्कारित पिप्पलियों में १ किंशुक (पलाश) के क्षार जल में भिगोयी पिप्पली या पिप्पली को सात दिन तक मट्ठे में भिगोकर पञ्चात् निकाल कर प्रयुक्त अथवा स्नुहीक्षीर में भावना देकर बनायी पिप्पली। इनमें केवल पिप्पली या पलाश क्षार जल में भिगोयी, मट्ठे में भिगोयी-पिप्पली का प्रयोग जब केवल यकृत एवं प्लीहा की वृद्धि (Enlargement of spleen or Cirrhosis of liver) मात्र हो, उपद्रव रूप में जलोदर साथ में न हो (अजातोदक) तब करना उत्तम रहता है, परन्तु जब इनके उपद्रव रूप में जलोदर (जातोदक) हो जावे तो स्नुही क्षीर से भावित पिप्पली अधिक उत्तम रहती है।

रोगी के बल, काल, महन-शक्ति का विचार करते हुए वर्धमान पिप्पली का प्रयोग करना चाहिये। सब से उत्तम क्रम १० पिप्पली से प्रारंभ करके प्रथम दिन दस, दूसरे दिन बीस, तीसरे दिन तीस करके देना है, इस प्रकार दसवें दिन भी पिप्पली का उपयोग प्रतिदिन प्रयोग करने से हो जाता है। इस वर्धमान पिप्पली के उपयोग काल में रोगी को केवल दूध (गरम करके ठंडा किये दूध) पर रखना चाहिए। और दूध में पीसकर हा पिप्पली का सेवन करने को देना चाहिये। दिन में दो या तीन हिस्से में विभाजित कर प्रतिदिन की पिप्पली की सख्या को देना चाहिये। जैसे जैसे पिप्पली बढ़ती चले दूध की भी मात्रा एक नियमित क्रम से बढ़ानी चाहिये। जैसे रोगी के प्रारम्भिक दूध की मात्रा १ मेर रही हो तो प्रत्यह १ पाव या आधा सेर बढ़ाते जाना चाहिये। दसवें दिन

१ स्नुहीपयोभाविताना पिप्पलीना पयोगन ।

महस्र चेद भुजीत शक्तितो जठरामयो ॥

पिप्पलीवर्धमान वा कल्पदष्ट प्रयोजयेत् ।

जठराणा विनाशाय नास्ति तेन समं भुवि ॥ (भै. र.)

त्रिभिरथ परिवृद्ध पञ्चमि सप्तभिर्वा दशभिरथ विवृद्ध पिप्पलीवर्धमानम् ।

इति पिवति युवा यस्तस्य न श्वाभकामज्वरजठरगुदाशोवातरक्तक्षया. स्युः ॥

(यो र.)

दूध एव पिप्पली की मात्रा पूरी हो जाती है । फिर ग्यारहवें दिन से पिप्पली की संख्या प्रत्यह दस कम करता चले साथ ही दूध की मात्रा भी १ पाव प्रतिदिन कम करता चले । इस प्रकार उन्नीसवें बीसवें दिन रोगी पिप्पली तथा दूध की प्रारम्भिक मात्रा पर आ जाता है एव कल्प पूरा हो जाता है । पूरे कल्प से एक सहस्र पिप्पली का उपयोग हो जाता है ।

कल्प के पूरा हो जाने पर, पिप्पली और दूध के जीर्ण हो जाने पर रोगी की स्तुधा जागृत होती है, उसको साठो के चावल का भात और दूध खाने को देना चाहिये ।

इस महस्र पिप्पली कल्प में १० के क्रम से वृद्धि उत्तम, ६ पिप्पली के क्रम से वृद्धि मध्यम तथा ३ पिप्पली के क्रम से वृद्धि करके पूर्ण करना अवसर माना गया है ।^१

यह बधमान पिप्पली कल्प रसायन है, वृहण, वृष्य तथा आयु के लिये हितकर है । कही-कही ग्रथो में पाँच पिप्पली का प्रयोग प्रारम्भ करके प्रतिदिन पाँच बढ़ाते हुए पाँच सौ (अर्ध सहस्र) तक बढ़ाकर फिर पाँच घटाते हुए सहस्र पिप्पली का भी प्रयोग पाया जाता है । रोगी की आयु, बल, काल आदि का विचार करते हुए किसी एक क्रम का निर्णय करना चाहिये ।

आज यकृत और प्लीहा रोगों में कई जटिल रोग पाये जाते हैं । इनका सम्यक् उपचार भी ज्ञात नहीं है । जैसे यकृद्वृद्धि (Cirrhosis of liver), प्लीहोदर (Spleno medulary Leukaemia), बालयकृद्वात्युदर, यकृत कैंसर आदि । इन रोगों में इन प्रयोगों को करके देखना चाहिये, संभव है—इन में इस कल्प की कुछ उपयोगिता सिद्ध हो ।

देवद्रुमादि योग—देवदारु, सहिजन की छाल, अपामार्ग पचाङ्ग-सम मात्रा में लेकर चूर्ण बनाकर गोमूत्र के साथ सेवन । मात्रा—३ माशा चूर्ण एक छटाँक गोमूत्र से ।

१ क्रमवृद्ध्या दशाहानि दशपिप्पलिक दिनम् ।

वद्वयेत्पयसा साद्धं तथैवापनयेत्पुनः ॥

जीर्णाजीर्णं च भुञ्जीत षष्टिक क्षीरसर्पिषा ।

पिप्पलीना सहस्रस्य प्रयोगोऽयं रसायनः ॥

दशपिप्पलिकः श्रेष्ठो मध्यमः षट्प्रकीर्तितः ।

यस्त्रिपिप्पलिपर्यन्तं प्रयोग सोऽवरः स्मृतः ॥

अश्वगंध—केवल अश्वगंध का चूर्ण ६ माशा का गोमूत्र के साथ सेवन ।

अष्ट-मूत्र—के द्वारा उदर का मँक करने अथवा मूत्र से पिलाने से उदर रोगों में लाभ होता है ।

गवाक्ष्यादि—इन्द्रायण (गवाक्षी की जड़), स्नुहीमूल, दन्तीमूल एवं नीलिनी के पत्ते सम मात्रा में लेकर २ माशा की मात्रा में गोमूत्र के साथ पीन कर लेने में सभी प्रकार के उदर रोगों में लाभ होता है ।

त्रियोग—१. भैम के दूध में गोमूत्र (१ पाव दूध में २½ तोला) मिलाकर पीना २. त्रिफला का चूर्ण (३ माशा) गाय के दूध (१ पाव) में मिलाकर पीना ३. दुग्धाहार पर रहकर गोमूत्र का सेवन ।

यकृतस्त्रीहृ प्रतिपेध—यकृत् एव प्लीहा की वृद्धि में यदि मूल रोग का निदान हो जाय जैसे जीर्ण प्रवाहिका, रक्ताल्पता, विषम ज्वर या कालज्वर तो मूल व्याधि की विशिष्ट चिकित्सा करने से स्वयमेव यकृत् अथवा प्लीहा भी ठीक हो जाती है । परन्तु यदि विशिष्ट कारण का पता न लग सके तो कुछ सामान्य सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए चिकित्सा करनी चाहिये । जैसे रनेहन, स्वेदन, प्लीहा एव यकृत् का मर्दन तथा गिरावेध । प्लीहा—यकृत् के क्षेत्र पर तेल का मर्दन करना, अष्टमूत्रों को गर्म करके उममें कपटा या रुई भिगोकर मँक करना उत्तम रहता है ।

मुश्रुत ने यकृत् एव प्लीहा वृद्धि की चिकित्सा में गिरावेध तथा दाह कर्म का विधान बतलाया है—इस क्रिया का प्रयोग करके देखना चाहिये । इन पर लेखक का अपना कुछ भी अनुभव नहीं है, परन्तु ग्रंथों में उल्लेख पाया जाता है—बहुत में प्रयोगों के अनन्तर ही इस पर कोई सिद्धान्त दिया जा सकता है । विधान यह है कि रोगी को दही के साथ अन्न खिलाकर उसके दाह के मध्य वाली जिग का वाम कुर्पर अधिगत मिरा (Cabital vein) का तथा यकृत् रोग में दक्षिण बाह को मिरा का वेध करना चाहिये । इस में सिद्धान्त यह है—प्लीहा एवं यकृत् में इस क्रिया में आकुचन होता है और कुछ रक्त निकल जाता है और और रोग शान्त हो जाता है ।^१

१ स्नेहस्वेदप्रकाशदि विधेय प्लीहोरोगिणि । दध्ना मुक्तावतो वामबाहुमध्ये गिरा भिषक् । विष्येत्प्लीहविनाशाय यकृन्नाशाय दक्षिणे । प्लीहानं मर्दयेद् गाटं दृष्टरक्तप्रणान्तये ॥ (सु.)

प्लीहानं यकृत् वृद्ध मृत्रस्वेदरूपाचरेत् ।

प्लीहजिह्वच्छरुंवाया कल्कस्तर्पणे सेवितः ॥ (भै र)

ढाढ़—वामबाहु मे मणिवध के आगे वामाङ्गुष्ठ के समीपवर्ती शिरा को क्षार मे या शर मे (तप्त करके) जलाना चाहिए ।^१

प्लीहोदर मे ओषधि—१ शरपुंखा मूल के कल्क का तक्र के साथ सेवन अथवा शरपुंखा-स्वरप ६ माशे से १ तोला की मात्रा मे मधु से अथवा शरपुंखा का चार बनाकर उसका सेवन १ माशा की मात्रा मे ।

२. रोहीतक—रोहीतक की छाल तथा अभया प्रत्येक १-१ तोला लेकर क्वाथ बनाकर उसमें पिप्पली चूर्ण ४ रत्ती और यवक्षार या शरपुंखा चार १ माशा मिलाकर सेवन । रोहीतक का स्वतन्त्र चूर्ण, कपाय या अरिष्ट धृत के रूप मे सेवन भी लाभप्रद रहता है ।

३ शिशु—(१) सहिजन की छाल का कपाय बनाकर उसमे पिप्पली, कालीमिच, अम्लवेत एव सैधव लवण प्रत्येक ४-४ रत्ती का प्रक्षेप छोड़कर सेवन ।

(२) सहिजन के क्वाथ मे सैन्धव लवण, चित्रक की छाल तथा पिप्पली-चूर्ण प्रत्येक ४-४ रत्ती का प्रक्षेप छोड़कर सेवन ।

(३) सहिजन के क्वाथ मे पलाश चार तथा यवचार प्रत्येक ४-४ रत्ती की मात्रा मे प्रक्षेप देकर पिलाना यकृच्छोथ तथा प्लीहशोथ (Hepatitis or splenic congestion) मे लाभप्रद होता है ।

४. शाल्मलिपुष्प क्वाथ—सेमल के फूल को पानी मे खोलाकर स्विन्न कर ले, फिर उसे रातभर रख कर दूसरे दिन प्रातः काल में (मात्रा २ तोला) हरिद्रा का चूर्ण २ माशा मिलाकर सेवन ।

५ तालपुष्प—नाड के फूलों को जलाकर उसका क्षारविवि से क्षार बनाकर २ माशे पुराने गुड के साथ सेवन ।

६ चित्रकमूल—चित्रकमूल का चूर्ण १-२ माशे पुराना गुड २ तोले के साथ सेवन ।

७ हरिद्रा—हरिद्रा का चूर्ण ३ माशे का गुड के साथ सेवन ।

८. अर्कपत्र—मदार के कोमलपत्र २-४ लेकर पुराना गुड के साथ सेवन ।

९ धाय के फूल—धाय के फूल का चूर्ण २ माशा, पुराना गुड १ तोले के साथ सेवन ।

१० लशुन-लहसुन—पिप्पलीमूल एव हरीतकी प्रत्येक समान मात्रा मे लेकर चूर्ण बनाकर ६ माशे की मात्रा मे एक छटाँक गोमूत्र के साथ सेवन ।

१ मणिवन्धसमुत्पन्नवामाङ्गुष्ठसमीरिताम् ।

दहेच्छिरा शरेणाशु वैद्य प्लीह प्रशान्तये ॥ (सु)

३८ भि० सि०

११ पिप्पली—पलाय के रस या पलायक्षार के जल में पिप्पली को २१ बार भावित करके घृत में भूनकर सामान्य या वर्द्धमान क्रम से दूध के साथ उपयोग करने से यकृत एवं प्लीहा रोग दोनों में लाभ होता है ।

१२. प्रतिकरंज—पूतिकरज के मूल के चार को कांजी में भावित करके उसमें विडलवण और पिप्पली चूर्ण ४-४ रत्ती मिलाकर सेवन करने से यकृतप्लीहा-वृद्धि का गमन होता है ।

१३ शार्ङ्गोष्ठा निर्यूह—काकजवा या काकमाची या लता वरज या गुच्चा का कषाय बनाकर उसमें सेंधा नमक और इमली का क्षार मिलाकर (प्रत्येक ४-४ रत्ती) सेवन करने से प्लीहरोग में लाभ पहुँचता है ।

१४. जखनाभि की भस्म—मात्रा-२ माशे जम्बीरी निम्बू का रस २ तोले मिलाकर दिन में दो-तीन बार सेवन करना—इस योग से दीर्घकालीन प्लीहावृद्धि में भी लाभ होता है ।

१५ शुक्तिभस्म—समुद्र-गुब्बित भस्म १-२ माशा की मात्रा में दूध में डालकर सेवन ।

१६ काली तिल—काली तिल ६ माशा और सेन्धा नमक २ माशा मिला कर सेवन करने से यकृत की वृद्धि (Cirrhosis) में लाभ होता है ।

१७ पके आम के फल के रस—पके आम के फल के रस का मधु मिलाकर सेवन या अमावस्य का बहुल प्रयोग या पके आम का सेवन यकृत के रोगों में उत्तम औषधि है ।

१८ भल्लातक—गुडभल्लातक, हरड और जोरा (भुना) सम भाग में लेकर पुराने गुड के साथ लड्डू बनाकर रख ले । १-२ माशे की मात्रा में दूध या जल के अनुपात से सेवन करने से यकृत एवं प्लीहा रोगों में उत्तम लाभ होता है । एक मप्नाह के उपयोग से दारुण प्लीहा-वृद्धि में भी पर्याप्त लाभ पहुँचता है ।

योग १ रोहितकाय चूर्ण—रोहितक की छाल, यवक्षार, चिरायता, कुटकी, नवनादर, अतीम और मोठ । सम प्रमाण में लेकर बनाया चूर्ण । मात्रा-१ से ३ माशा प्रातः-मायम् । अनुपात—जल, मट्ठा या आनवारिण्टो में मिलाकर । यकृतोग (Cirrhosis of liver) में लाभप्रद ।

२. गुडूच्यादि चूर्ण—तीम गिन्जोय, अतीम, मोठ, चिरायता, कालमेघ या यवतिष्ठा, नागरमोथा, पिप्पली, यवक्षार, गुड कासीय, चम्पे की जट की छाल । समभाग में लेकर बनाया चूर्ण । मात्रा-२ माशा । अनुपात—उष्ण जल प्लीहा वृद्धि में लाभप्रद ।

३ अर्क लवण—अर्क या मदार के पत्र पर तह करके दो पत्तो के बीच में सेन्धा नमक रखकर एक मिट्टी की हडिका में कई तहें लगाकर रख दे। हडिका का मुख ढक्कन देकर कपडमिट्टी कर बन्द करके गजपुट में एक पुट दे। स्वाग-शीतल होने पर उसको निकाल और सबको पीस ले। यह अर्क लवण नमक योग है। इसके उपयोग से उदरशूल विशेषतः यकृच्छूल का सब शमन होता है। पुरानी बढी प्लीहा या यकृत-वृद्धि में भी लाभ होता है। रोगी को कब्ज विशेष रहता हो, पाखाना साफ न होता हो तो भोजन के पश्चात् इसके उपयोग से लाभ होता है। मात्रा-२ माशा। भोजनोत्तर गर्मजल के अनुपान से।

४ रोहितकादि वटी—रोहेड़े की छाल, चित्रकमूल की छाल, अजवायन, तालमखाना प्रत्येक १०-१० तोला, सेंधानमक २ तोला तथा नवसादर १ तोला। सबको कूटकर महीन चूर्ण बना ले। फिर करज-स्वरस की भावना देकर ४-४ रत्ती की गोलियाँ बनाले। मात्रा-१-२ गोली दिन में तीन बार। अनुपान-उष्ण, जल।

५ रोहीतक लौह—हरड, बहेडा, आंवला, शुण्ठी, मरिच, पिप्पली, चित्रकमूल की छाल, नागरमोथा, वायविडङ्ग प्रत्येक १-१ भाग, रोहेड़े वृक्ष की अन्तर्छाल ९ भाग—सबका कपडछन चूर्ण कर उसमें लौह भस्म या मण्डूर भस्म ९ भाग मिलाकर उसमें रोहितक के अन्तर्छाल की सात भावनाएँ देकर छाया में सुखाकर रख ले। मात्रा-३ रत्ती। अनुपान-दूध या छाछ।

उपयोग—यकृत प्लीहा की वृद्धि, पाण्डु रोग, जीर्ण विषम ज्वर में यह अच्छा लाभ देने वाला योग है।

बृहल्लोकनाथ रस—लोकनाथ रस नाम से भेपज्य रत्नावली में तीन पाठ मिलते हैं, इनमें द्रव्य प्रायः तीनों में समान हैं—कुछ भावनाओं का भेद है। यहाँ पर बृहल्लोकनाथ रस नामक पाठ का योग उद्धृत किया जा रहा है —

शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गन्धक २ तोला लेकर खरल में कज्जली बनावे, पश्चात् उसमें अभ्रक भस्म १ तोला, लौह भस्म २ तोला, ताम्र भस्म २ तोला, कपर्द (बराट) भस्म ९ तोला मिलावे। पश्चात् घृतकुमारी स्वरस, एव मकोय के रस को एक एक भावना देकर गराव-सम्पुट में बन्द करके लघुपुट में रखकर अग्नि में पकावे। पश्चात् स्वाङ्ग-शीतल होने पर खरल करके जीशी में भर लेवे। मात्रा-१-२ रत्ती। अनुपान-भुने जीरे का चूर्ण और मधु, हरीतकी और गुड, अजवायन का चूर्ण एवं शहद, पिप्पली चूर्ण एवं गुड या मधु, केवल मधु या खदिर के काढ़े से।

यह योग सभी प्रकार की यकृत-प्लीहा की वृद्धि, विषमज्वरजन्य प्लीहा वृद्धि तथा बाल यकृतहृत्पित्त (Infantile Cirrhosis) में विशेषतः लाभप्रद है ।

प्लीहारिवटी—मुसव्वर, अम्रक भस्म, शुद्ध हीरा कासीस और लहसुन इन्हें सम भाग में लेकर द्रोणपुष्पी (गूमा के रस में तीन प्रहर (९ घंटे) तक भाविन कर के २ रत्ती के प्रमाण में गोलियां बनाकर रख ले । १-१ वटी सुबह-गाम जल से ।

यकृतप्लीहारि लौह—शुद्ध पारद, शुद्धगंधक, लौह भस्म, अम्रक भस्म प्रत्येक १ तोला, ताम्र भस्म २ तोला, शुद्ध मन शिला, हस्तिना चूर्ण, शुद्ध जयपाल, शुद्ध, टकण, शुद्ध शिलाजीत प्रत्येक सरल करे । फिर दन्तीमूल, निशोथ, चित्रकमूल, निर्गुण्डी, गुठी, मारिच, पिप्पली, अदरक और भृंगराज प्रत्येक के बराबर से एक एक भावना पृथक् पृथक् दे कर दो रत्ती की गोलियां बना ले । मात्रा १-२ गोली दिन में दो बार अनुपान गरपुंखा के स्वरस और मधु से ।

यकृदरि लौह—लौह भस्म, अम्रक भस्म प्रत्येक २-२ तोले, ताम्र भस्म १ तोला, निम्बू के जड़ की छाल का चूर्ण तथा मृगचर्म भस्म प्रत्येक ५-५ तोला । सबको एकत्र महीन चूर्ण कर । जल में घोटकर १ माशा की मात्रा में गोलियां बना ले । १-१ गोली प्रातः नायम् मधु से ।

शखद्रावक—शख द्राव, महाशखद्राव, द्रावक रस, महाद्रावक रस नाम से कई योग भैषज्यरत्नावली में उल्लिखित हैं । ये सभी द्राव बड़े तीव्र पाचक, क्षारीय गुण के, तीव्र उदर शूलशामक, प्लीहा एवं यकृद्वृद्धि में लाभप्रद होते हैं । ये सभी द्रावक द्रव रूप में होते हैं—चिकित्सा में इनका उपयोग भोजन के पश्चात् कुछ वृद्ध की मात्रा (२ से १० वृद्ध तक) से काँच के वर्तन में पानी में घोल कर हल्का कर के देना होता है । निर्माणविधि सबकी समान है—उनमें पजने वाले द्रव्यों में भेद हो जाता है । यहाँ पर एक शख द्रावक का योग दिया जा रहा है —

जख भस्म, यवक्षार, नजिका क्षार, टकण, पाँचो लवण पृथक्-पृथक्, फिट-फिरी तथा नीमादर, शुक्ति भस्म, बराट भस्म प्रत्येक ४-४ तोला लेकर काचकूपी में रखकर अग्नि पर चढ़ाकर वक्रयत्र से उटाकर द्रव की रख कर काच पात्र में रख लेना चाहिये ।

रोहितकारिष्ट—रोहिटे की छाल ६ सेर, ६४ सेर जल में व्रथित कर चौगई १६ सेर गेप रखे । शीतल होने पर उसे छान ले फिर उसमें गुड १२॥

सेर, धाय का फूल १ सेर तथा पिप्पली, पिप्पली मूल, चव्य, चित्रक की जड़, मोठ, दालचीनी, इलायची, तेजपात, हरड़, बहेरा, आँवला प्रत्येक ५-५ तोला डाल कर घृत से स्निग्ध मिट्टी के भाण्ड में भर कर भाण्ड के मुख पर ढक्कन रक्क कर कपड़मिट्टी कर १ मास तक सुरक्षित स्थान पर रख दे। फिर छान कर बोतलो में भर दे। मात्रा २ तोला। अनुपान समान जल मिलाकर भोजन के पश्चात्।

कदल्यादि क्षार तैल—केला, तिलनाल और तालमखाना इनका क्षार बना कर उस धार से तिल तैल को सिद्ध कर सेवन करने से कफवातज प्लीहा में लाभ होता है।

वाल्यकुट्टाल्युदर प्रतिपेध (Infantile Cirrhosis)—वाल्य-वस्था में होने वाली यकृतवृद्धि एक असाध्य स्वरूप की व्याधि है। चिकित्सा में सफलता कम एवं असफलता ही अधिक मिलती है। रोग से पीडित होने पर चालक दिन-पतिदिन सूखता जाता है, शरीर में भेद का भाग शुष्क हो जाता है, कोष्ठवदता प्रायः पाई जाती है—शुष्क, गाठदार एवं श्वेत वर्ण पुरोप त्याग करता है, चिड़ाचड़ा बहुत हो जाता है। रोग के प्रारंभ में चिकित्सा की जाय तो लाभ की आशा रहती है। अन्यथा कामला और जलोदर का उपद्रव हो जाने पर पूर्णतया असाध्य हो जाता है। (विस्तृत वर्णन के लिये लेखक की बालरोग-चिकित्सा देखें)।

रोग की चिकित्सा के लिये यकृत एवं प्लीहा के प्रतिपेध में बताये योगों का उपयोग करना चाहिये। विशेष चिकित्सा के लिये—बालक को माता का दूध बढ़ कराके डिव्ने के दूध पर (Glaxo) रखना चाहिये। साथ में बालीवाटर (जी का यूष) पीने के लिये देना चाहिये। फलों में अनार बेदाना, मोसम्मी, सतरा, अगूर, मुनक्का, केला, टमाटर का यूप आदि देना चाहिये। खाली पेट पर प्रातः काल में गोमूत्र छोटी चम्मच से १-२ चम्मच पिलाना चाहिये। कालमेघ या यवतिष्ठा का ताजा स्वरस मिल जाय अथवा “लिविड एक्सट्रैक्ट कालमेघ” छोटी चम्मच १ चम्मच दिन में तीन बार देना चाहिये। मासरस में यकृत का केमा बनाकर या उसका कच्चा रस टमाटर के रस में मिलाकर पिलाना चाहिये। प्याज का स्वरस भी उत्तम पाया गया है। अस्तु, इसका भी दिन में दो बार छोटी चम्मच से १-२ चम्मच देना चाहिये। रस के योगों में यकृतदिह लीह, यकृत-प्लीहारि लीह का ३ रत्ती की मात्रा, शरपुखा स्वरस ३ माशा और मधु के साथ देना चाहिये। लोकनाथ रस या बृहल्लोकनाथ रस इस रोग में चलने वाला एक उत्तम योग है। इसका उपयोग ३—१ रत्ती की मात्रा में दिन में दो-तीन बार हरीतकी चूर्ण एवं

मधु (१ माद्या चूर्ण और ३ माद्या मधु) के साथ करना चाहिये । उदर के ऊपर विशेषतः यकृत प्रदेश पर गोमूत्र या अष्टमूत्र को रम करके उसमें रुई भिगो कर उसमें सेंकना भी उत्तम रहता है । देवदारुदि लेप का लेप भी यकृत-प्रदेश पर करना उत्तम रहता है । आरोग्यवर्धिनी वटी का उपयोग भी उत्तम रहता है, रात में सोते वक्त रोगी को २ रत्ती की मात्रा में दूध के साथ देना चाहिये । रोग से पीड़ित बालक को आरारोट का विस्फुट अनुकूल नहीं पडता है । अस्तु, उसका निषेध करना चाहिये । इस रोग में बालक मीठी चीजें बहुत पसंद करता है, एतदर्थ उसे मिथी, वतासा या मधु दिया जा सकता है—दूसरी खोबे से बनी मिठाइयों पर पूर्णतया प्रतिबंध रखना चाहिये ।

अजातोदक अवस्था में जब तक कि उदर में जल संचय न हुआ हो तो इस प्रकार के पथ्य एवं उपचार पर रोगी को रखना चाहिये । जब जातोदक की अवस्था आ जावे अर्थात् उदर में जल संचय हो जावे तो जलोदर की चिकित्सा प्रारंभ कर देनी चाहिये ।

जलोदर प्रतिषेध—आचार्य सुश्रुत ने लिखा है, उदर रोगों का परिपाक हो जाने पर अंतिम परिणाम जलोदर होता है—उदर अंत में मलिल भाव (जल भाव) को प्राप्त होकर असाध्य हो जाता है । फलतः इस में रोग का निमूलन तो होता नहीं है, परन्तु समुचित पथ्य और औषधि आदि की व्यवस्था से रोगी का यापन मात्र करते हुए कुछ स्वस्थ रखा जा सकता है ।

सुश्रुत ने जलोदर की चिकित्सा में जल-विस्त्रावण (Tapping Abdomen) का विधान बतलाया है । पश्चात् रोगी को पूर्ण विश्राम देते हुए एक वर्ष तक पथ्य पर रहने की व्यवस्था की है । रोगी को निरन्न (बिना अन्न) तथा निर्जल (बिना जल पिलाये) तथा निर्लवण (बिना नमक के) रखना चाहिये । प्रारंभिक छ मास तक उसे केवल दूध अथवा मामरस (जाङ्गल अर्थात् हल्के पगु-पक्षियों के मामरस-गोरवे) पर रखना चाहिए । उसके बाद तीन मास तक दूध में आधा जल मिला कर देना चाहिये—फलों के रस तथा मासरस देना चाहिये । अवशिष्ट अन्त के तीन महीनों में लघु एवं हित अन्न का सेवन, जैसे—मण्ड, पेया, त्रिलेपी, कृगरा, ओदन आदि का सेवन करना चाहिये । नमक का अब भी परिहार रखना चाहिये । एक वर्ष के अनन्तर रोगी को प्राकृत आहार पर ले आना चाहिये । इस प्रकार जलोदर की चिकित्सा में पूरे एक वर्ष का समय लगता है, पश्चात् रोगी रोगमुक्त होता है ।

आधुनिक युग में भी उदर वेध कर के जल-विस्त्रावण की प्रक्रिया जलोदर में

चलती है, परन्तु, यह क्रिया अल्पकालीन आराम के लिये होती है। इस का रोगी नीरोग नहीं हो पाता है। यदि चरक या सुश्रुत मत से उसको एक वर्ष तक कड़े पथ्य (Restricted diet) पर रखा जाय तो लाभ स्थायी होता है।^१

केवल ओषधि प्रयोग से जलोदर प्रतिषेध—अवहार में यह देखा गया है कि विस्त्रावण (Tapping) के अनन्तर आये रोगियों की चिकित्सा में यश नहीं मिलता। सम्भवतः उन में पथ्य की ठीक व्यवस्था न होने से या सहसा जल के निरुद्धने से हृदय दुर्बल हो जाता है, फलन चिकित्साकाल में उनको मृत्यु हो जाती है। अतः, चिकित्सा में ऐसे रोगियों का लेना जिन में जल-विस्त्रावण की क्रिया न की गई हो, उत्तम रहता है।

जलोदर के रोगी को निर्जल, निर्लवण एवं निरन्न रख कर केवल दूध का पथ्य देते हुए उपचार प्रारम्भ करना चाहिए और यह क्रम तब तक रखना चाहिये जब तक कि उदर प्राकृतावस्था में न आ जावे। पश्चात् ससर्जन करते हुए क्रमशः मण्ड, पेया, विलेपी आदि देते हुए दूध और भात अथवा दूध एवं रोटी पर रोगी को ले आना चाहिये। पुनः इस आहार पर उसको एक वर्ष तक रखना चाहिये अन्यथा जलोदर के अच्छे हो जाने के पश्चात् भी उस में अपथ्य सेवन से पुनरुद्भव की आशंका रहती है।

चिकित्सोपक्रम—रोगी को स्वेदल, मूत्रल एवं रज्जक औषधियों का प्रयोग करते हुए उदरगत जल के निकालने का प्रयत्न करना चाहिये। साथ ही इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि रोगी का हृदय कमजोर न होने पावे, एतदर्थ हृद्य योगों का सेवन भी कराते रहना चाहिये। रोगी को जल का परित्याग चिकित्सा-काल में करना चाहिये। क्षुधा एवं तृप्ता दोनों के शमन के लिये गर्म कर के ठंडा किया दूध (शृतशीतक्षीर)^२ ही पथ्य होता है, परन्तु यदि ऋतु अनुकूल न हो, अथवा रोगी की तृप्ता (प्यास) बहुत तीव्र हो तो जल के स्थान पर किसी अर्क का उपयोग पीने के लिये किया जा सकता है। अर्कों में काकमाची, पुनर्नवा, शतपुष्पा (सौफ) या अजवायन का अर्क दिया जा सकता है—नारिकेलजल (जाम का पानी) भी उत्तम रहता है।

१ परमासाश्व पयसा भोजयेज्जाङ्गलरसेन वा । ततस्त्रीन्मासान्द्विदकेन पयसा फलाम्लेन जाङ्गलरसेन वा । अवशिष्ट मासत्रयमन्नं लघु हितं वा सेवेत् । एवं सवत्सरेणागदो भवति ॥ (सु चि १४)

२ सर्वोदग्मिष्य कुशलं प्रयोज्य क्षीरं शृतं जाङ्गलजो रसो वा । (सु) प्रयोगाणां च सर्वेषामनुक्षीरं प्रयोजयेत् । दोषानुबन्धरक्षार्थं वलस्थैर्यार्थमेव च ॥ प्रयोगापचिताङ्गानां हितं चोदरिणा पयः । सर्वघातुक्षयादीनां देवानाममृतं यथा ॥ (च)

औषधि-योगो मे जलोदरारि रस का प्रयोग उत्तम रहता है, मुक्कह-गाम दो-दो रस्ती की मात्रा में पुनर्नवास्वरस ३ माशा और मधु ६ माशे के साथ । हृद्य योग के लिये रससिद्धर १ रस्ती, हृदयार्णव २ रस्ती, प्रवालपिष्टि २ रस्ती, जहरमुहुरा २ रस्ती, अर्जुन चूर्ण ४ माशा मिला कर दो मात्रा में दाट कर दिन में दो बार देना चाहिए । रोगी को रात में सोते वक़्त आरोग्यवर्धनी ४ रस्ती—८ रस्ती तक एक मात्रा दूध के साथ देना चाहिए । यदि पेट पर शोथ एवं रक्तताल्यता हो तो नवायन अथवा पुनर्नवा म्पडूर का निक्षण भी यथावश्यक किया जा सकता है । इस व्यवस्था में रोगी का रैचन एवं वानानुलोमन होता चलता है । इस व्यवस्था के बावजूद भी रोगी का रैचन बरना आवश्यक रहता है । एतदर्थ एक एक दिन के अन्तर से प्रातःकाल में इन्हाभेदी रस २-४ रस्ती नाराच रस १-२ रस्ती, जलापा चूर्ण २—४ माशा अथवा नमूचेचन (मँगमफ) एवं सोडा सर्फ १ औंस ठंडे जल या चीनी के घर्बत के साथ देने की आवश्यकता पड़ती है । इस क्रिया में तीव्र रैचन होकर रोगी के उदर का आयाम घटता है ।

इन औषधि योगो के अतिशक्ति भी बहुत से उन औषधियों का प्रयोग किया जा सकता है जिनका ऊपर में नामोल्लेख हो चुका है । जैसे—अष्टमूत्र या गोमूत्र का १ छटाक की मात्रा में प्रातःकाल में उपयोग, हरीतकी चूर्ण ६ माशा की मात्रा में गोमूत्र के अनुपात में ।

जलोदर प्रतिषेध में सर्पविष का प्रयोग^१—आचार्य चरक ने लिखा है कि जब सम्पूर्ण प्रकार की चिकित्सा करने पर कोई लाभ न हो, न दोषो का ही घमन हो पावे और न जलोदर का ही, तो अंतिम उपचार के रूप में इस भयंकर एवं खतरनाक उपाचार का भी प्रयोग किया जा सकता है । यह एक दारुण कर्म

१. क्रियातिवृत्ते जठरे विदोषे चाग्रगाम्यति ।

जातीन् नमुहदो दारान् ब्राह्मणान्पतीन् गुरुन् ॥

अनुजाप्य भिषक् कर्म विदध्वान् मय्य ब्रुवन् ।

अत्रिषाण्य ब्रुव मृत्यु क्रियाया मंथयो ब्रुवन् ॥

एवमान्प्राय तथेदमनुजात मुहद्गणैः ।

पानभोजनमयुक्त्वा विषमस्मै प्रयोजयेत् ॥

यस्मिन् वा रुपित र्षो विनृनेद्वि फले विषम् ।

भोजयेत्तदुदरिण प्रविच्य भिषक्वरः ॥

तेनास्य दोषमंघान स्थितो न्योनो विमार्गः ।

विषेणाशु प्रमाथित्व दाशु मित्त प्रवर्त्तते ॥

है—शोध अनुसंधान का विषय है । सब से बड़ी कठिनाई इस में मात्रा-निर्धारण और उपयोग की विधि की उपस्थित होती है ।

चरकाचार्य ने लिखा है कि इस दारुण कर्म करने के पूर्व रोगी के ज्ञाति, कृदुम्ब्री, मित्र, स्त्री, ब्राह्मण, गुरु तथा राजा को सूचित किया जावे और उन की अनुज्ञा या अनुमति ले ली जावे, चिकित्सक भी स्वयं अपना सदेहात्मक अभिमत प्रकट कर दे “कि उपचार नहीं किया जायगा तो रोगी की मृत्यु ध्रुव है, इस उपचार में भी संशय है कि रोगी रोग से बच जावेगा और स्वस्थ हो ही जावेगा ।” पश्चात् विष का प्रयोग रोगी के भोजन या पेय के साथ संयुक्त करके करे अथवा सर्प से किसी फल को कटवा के—जिसे सर्प ने अपने विष से युक्त कर दिया हो—खिलाया जावे । उत्तम चिकित्सक को चाहिये कि विचार करके उसकी मात्रा का निर्धारण कर के प्रयोग करे । इस क्रिया से रोगी का विमार्गस्थित दोषमंडात जो शरीर में स्थिर एवं लीन हो गया है उसका विघात होकर शीघ्रता से निकल जाता है क्योंकि विष तीव्र आशुक्रारो एवं प्रमाथी होता है । दोषों के निर्हरण हो जाने के अनन्तर रोगी का शीतल जल से परिषेक करके उसको बल के अनुसार पर्याप्त मात्रा में गाय का दूध अथवा यवागू का प्रयोग भोजन के रूप में करना चाहिये । पश्चात् त्रिवृत् पत्र, मण्डूकपर्णी का पत्र, बथुवा का शाक, या काल शाक को स्विन्न कर के बिना खटाई, मसाला, नमक और स्नेह (तेल या घी) के या यवयूप खाने के लिये देना चाहिये । एक मास तक रोगी को निरन्न ही रखना, पर्याप्त मात्रा में दूध एवं उपर्युक्त शाको को स्विन्न करके या बिना स्विन्न किये देना चाहिये । रोगी को जल भी नहीं देना चाहिये । प्यास लगने पर उपर्युक्त शाको का स्वरस ही पीने के लिये देना चाहिये । इस प्रकार एक मास के अनन्तर दोषों के सम्पूर्णतया निकल जाने पर दुर्बल रोगियों में बल के वर्धन के लिये ऊटनी का दूध (कारभ पय) पिलाना चाहिये । पश्चात् यवयूप आदि देते हुए क्रमशः ससर्जन क्रम से रोगी को धीरे धीरे प्राकृत आहार पर ले आना चाहिये ।^१



१. विषेण हृतदोष त शीताम्बुपरिपेक्षितम् । पाययेत् भिषग् दुग्धं यवागू वा यथावलम् ॥ त्रिवृन्मण्डूकपर्णोश्च शाकं सयववास्तुकम् । भक्षयेत् कालशाकं वा स्वरसोदकसाधितम् ॥ निरम्ललवणस्नेहं स्विन्नास्विन्नमनन्नभुक् । मासमेकं ततश्चैव तपित स्वरसं पिबेत् ॥ एवं विनिर्हृते दोषे शाकैर्मसात् परं तत । दुर्बलाय प्रयुञ्जीत प्राणभृत् कारभ पय ॥ (च चि १३)

सैंतीसवाँ अध्याय

शोथरोग प्रतिपेध

रोग परिचय—श्वयथु, शोथ एव शोफ ये तीनों शब्द सूजन के बोधक होते हैं एव प्रायः पर्याय रूप में व्यवहृत होते हैं। शोथ रोग कहने का तात्पर्य होता है देह के सूजन की बीमारी। शोथ रोग में कई प्रकार के वर्गीकरण प्राचीन ग्रन्थों में पाये जाते हैं। जैसे—कारणभेद से सूजन के दो प्रकार किये जा सकते हैं—निज तथा आगन्तुक। निज वे शोथ हैं जो विविध प्रकार के मिथ्या आहार-विहार के कारण दोषों के शरीर में कुपित होने से होते हैं। दूसरा वर्ग आगन्तुक कारणों का होता है जिसमें आघात, अग्नि या अग्निउत्पन्न पदार्थों से जलना, रासायनिक पदार्थ या तीव्र अम्ल या क्षारों से जलाना, विविध विकारी अणुजीव, विष-सम्पर्क तथा विद्युत् आदि से त्वचा, मांस आदि में शोथ हो जाता है। इन दो भेदों में नव प्रकार के शोथों का समावेश हो जाता है—यथा-वातज-पित्तज कफज-वातपित्तज, पित्तकफज, वातकफज, सन्निपातज (निज प्रकार में) तथा अभिघातज एव विषज (आगन्तुक प्रकार में)। आधुनिक ग्रन्थों में भी शोथ के दो प्रकार पाये जाते हैं। निष्क्रियशोथ (Passive Oedews) तथा सक्रिय शोथ (Active oedema or Inflammatory oedema) सक्रिय शोथ को प्राचीन परिभाषा में व्रण शोथ कहते हैं। दूसरे शब्दों में निष्क्रिय शोथ वा 'ईडिमा' को प्राचीनोक्त निजवर्ग में तथा व्रण-शोथ (Inflammatory oedema) को आगन्तुकवर्ग में रखा जा सकता है।

चरक के अनुसार शोफ के तीन भेद किये जा सकते हैं—१ सर्वाङ्गशोफ (Generalised oedma)—जब शोफ सम्पूर्ण शरीर में हो। २ अर्धाङ्ग-शोफ-आवे अङ्ग में शोफ का होना—ऐमा शोफ हृदय एव यकृत की विकृति में अधराङ्गशोफ अथवा वृक्क के विकारों में लब्ध्वाङ्गशोफ अधिकतर होता है। ३ एकाङ्गशोफ या एकदेशीयित शोफ (Localised oedema)। आगन्तुक कारणों से प्रायः एकदेशीयित शोफ होता है। इस प्रकार का शोफ व्रणशोथ में तथा श्लीपद में पाया जाता है।

वाग्भट ने आकृतिभेद से भी शोथो के पृथु, उन्नत एव ग्रथित भेद से तीन प्रकार किये हैं। साध्यासाध्यता एव चिकित्सा भेद की दृष्टि से भी शोथो का एक वर्गीकरण पाया जाता है। जैसे पादज शोथ—पैरो से शोथ का प्रारम्भ होकर सम्पूर्ण या आधे शरीर में फैल गया हो अथवा मुखज शोथ—मुख से शोथ का प्रारम्भ होकर सम्पूर्ण या आधे शरीर में व्याप्त हो गया हो अथवा गुह्यज या उदरज शोथ, जो गुह्य स्थान या उदर से प्रारम्भ करके सम्पूर्ण या आधे शरीर में व्याप्त हो। इन शोफो में उपद्रव होने पर पादज शोथ, जो प्रायः हृदय के विकारो में होता है। पुरुषो के लिये घातक होता है, मुखज शोथ, जो प्रायः वृक्क विकारो में पाया जाता है, स्त्रियो में घातक होता है। गुह्यज शोथ अर्थात् गुह्य अङ्गो से शोफ का प्रारम्भ हुआ हो और उपद्रव युक्त हो, तो स्त्री-पुरुष दोनों को समान भाव से घातक सिद्ध होता है।^१ इसका कारण सर्माङ्गो का विकार ग्रस्त होना ही है। पुरुषो में हृद्रोग असाध्य होता है जिसमें पादज शोथ पाया जाता है। स्त्रियो में वृक्क रोग होने से उसके उपसर्ग का प्रभाव श्रोणिगुहा के विविध अङ्गो को शोथयुक्त करके श्रोणिगुहागत पाक प्रभृति साघातिक उपद्रव पैदा करके स्त्रियो के लिये विशेष रूप से घातक होता है। इनमें मुखज शोथ ही प्रारम्भिक लक्षण के रूप में पैदा होता है। गुह्यज या उदरजशोथ क्षयज आन्त्रावृत्ति शोफ (T B Peritonitis) या यकृद्वालयुदरज जलोदर (Hepatic cirrhosis) में पाया जाता है जो दोनों लिङ्गो के व्यक्तियो में समान भाव से घातक सिद्ध हो सकता है।

शोफ की सम्प्राप्ति—रक्तवह सिरा की दुष्टि होने से रक्ताभिसरण क्रिया में बाधा होने से शोथ रोग की उत्पत्ति मानी जाती है। प्राकृतः वस्या में रक्तवह सूक्ष्म केशिकावो (Arterial capillaries) की दीवाल से पोषक पदार्थयुक्त रक्त रस स्रवित होकर तत्स्थानगत धातुवो का पोषण करता है, फिर वहाँ से त्याज्यपदार्थयुक्त वही रक्तरस सिरा सूक्ष्म केशिकावो (Venous capillaries) के द्वारा शोषित होकर उससे लेकर लीटता है और विविध विसर्जन के अंगो द्वारा उसका निर्हरण करता है। इस प्रकार की क्रिया प्राकृतावस्था में चलती रहती है। जब किसी भी कारण से इस धातुगत रस के शोषण में बाधा उत्पन्न होती है या स्रुत रक्त रस अधिक होने लगता

१. अनन्योपद्रवकृत शोथः पादसमुत्थितः ।

पुरुष हन्ति नारीञ्च मुखजो गुह्यजो द्वयम् ॥ (वा. नि १३)

है, तब धातुओं के संयोजक घातुओं में अधिक तरल का संचय होने लगता है और वहाँ उत्सर्ध या उभार पैदा होता है—इसी को शोथ कहा जाता है।^१

इस प्रकार के परिवर्तन सामान्यतया निम्नलिखित कारणों से होते हैं जिनके परिणामस्वरूप शोथ रोग पैदा होता है।

१ धातुगत परिवर्तन—धातुओं में लवण जमे कतिपय पदार्थों के संचय हो जाने पर उनको धोने के लिए अधिक जल की आवश्यकता पड़ती है—और अधिक जल-संचय न शोथ की उत्पत्ति होती है।

२ रक्तगत विभिन्न संघटकों का प्रभाव—इसमें जल और नमक (Sodium chloride) का अधिक महत्त्व है। शोथ की चिकित्सा में जल और नमक का निषेध कर देने से शोथ में निश्चित लाभ देखा जाता है। रक्त में जल और लवण की अधिकता से शोथ अधिक बढ़ता है।

३ रक्त रसगत 'प्रोटीन' की कमी—जैसा कि वृक्क विकारों में शुक्लीमेह (Albuminuria) के कारण हीन पोषण से भोजन में प्रोटीन या जीवविकृतियों (Vit A & B) की पर्याप्त मात्रा में न मिलना (Femine oedema) अथवा पाण्डुरोग में रक्तगत 'प्रोटीन' शोणित वर्तुलि (Haemoglobin) का अत्यधिक मात्रा में कम हो जाना (अकुश कुमिजन्य पाण्डुता या रक्ताल्पता में) शोथ की उत्पत्ति होती है। ऐसा मानते हैं कि रक्त में 'प्रोटीन' की मात्रा स्वाभाविक ७ प्रतिशत होनी चाहिए, जब यह मात्रा ५-५% से कम हो जाती है, आसूतीय सम्पीडन (Osmotic pressure) कम हो जाता है और धातुगत तरल का शोषण रक्त-रस के द्वारा पूर्णतया नहीं हो पाता है, फलतः धातुओं में तरल या द्रव का संचय अधिक होने लगता है। जिसके परिणाम स्वरूप त्वचा और मांस में उभार पैदा होकर शोथ की उत्पत्ति होती है।

४ रक्तवह स्त्रोतगत भारवृद्धि—हृदय रोग में रक्तसंचारगत बाधा होने से शिराओं में रक्तभार स्वाभाविक से बहुत अधिक हो जाता है। उससे शोषण कार्य में बाधा होने से तरल संचय होकर शोथ पैदा होता है।

५ स्रवणक्षमता की वृद्धि—कई बार आगन्तुक कारणों से अभिघातजन्य शोथ में या कई रोगों में रक्तवाहिनियों की स्रवण क्षमता (Permeability

१ रक्तपित्तम्फान् वायुर्दुष्टो दुष्टान् वहि मिरा ।

नीत्वा रुद्धगतिर्नर्ति ह्युत्पत्तिवत्सामसंश्रयम् ।

उन्नेध महर्तं शोथं तमाहूनिचयादत ॥ (मा नि)

of capillary epithelium) बट जाती है । सामान्यतया सिरास्रोतो की भित्ति से केवल जारक (O_2) और जल या उसमें घुले हुए कुछ सीमित द्रव्य ही स्रोत में बाहर आते हैं और तत्रस्थ धातुओं का पोषण करते हैं, परन्तु जब 'प्रोटीन' भी रक्तसरस के साथ बाहर आ जाती है, तब इस तरल के शोषण में बाधा उत्पन्न होकर शोथ पैदा होता है ।

शोथ रोग में सामान्य लक्षण—गुरुता (भारीपन), अस्थिरता (शोक का एक स्थान पर सीमित न रहकर फैलना), उत्सेध (उभार), उष्णता (यह केवल व्रणशोथ में मिलता है—सामान्य शोथों में नहीं), रक्तवाहिनियों का विस्फार, रोमाञ्च (रोगों का खड़ा होना) तथा वर्ण की विकृति ये सामान्य लक्षण एवं चिह्न शोथ रोग में पाये जाते हैं ।^१

सामान्य क्रिया-क्रम—आमज शोथ में लघन एवं पाचन करे, अति बड़े हुए दोष में शोधन से उपचार करे । अर्थात् शिरोगत शोथ में नस्य के द्वारा शिरोविरेचन, ऊर्ध्वगशोथ में वमन तथा अधोग शोथ में रेचन के द्वारा उपचार करे । यदि शोथ का उत्पादक हेतु अति स्नेहन हो तो रोगी का रूक्षण करे और यदि उत्पादक हेतु अति रूक्षण ज्ञात हो तो स्निग्ध क्रिया करनी चाहिए ।^२

इस प्रकार शोथ रोग की चिकित्सा में लघन, पाचन, वमन, विरेचन, आस्थापन तथा शिरोविरेचन प्रभृति क्रियाओं के द्वारा यथादोष एवं यथावल उपचार करना उत्तम रहता है ।^३

विशिष्ट क्रियाक्रम—दोषानुसार विचार कर वातिक शोथ में स्नेहपान एवं कोष्ठवद्ध हो तो निरूहण (आस्थापन वस्ति), पैत्तिक शोथ में दूध एवं घृत का उपयोग तथा श्लैष्मिक शोथों में विरूक्षण की क्रिया करनी चाहिए ।^४

१ सगौरव स्यादनवस्थितत्वं सोत्सेधमूष्माऽथ सिरातनुत्वम् ।

सलोमहर्षश्च विवर्णता च सामान्यलिङ्गं स्वयथो प्रदिष्टम् ॥

(च चि १२)

२ अथामज लघनपाचनक्रमैर्विशोधनैरुत्पन्नदोषमादितः ।

शिरोगत शीर्षविरेचनैरधोविरेचनैरूर्ध्वहरैस्तथोर्ध्वगम् ॥

उपावरेत् स्नेहभवं विरूक्षणैः प्रकल्पयेत्स्नेहविधिञ्च रूक्षणे ॥

३. स्नेहोऽथ वातिके शोथे वद्धविट्के निरूहणम् ।

पयो घृत पैत्तिके तु कफजे रूक्षणक्रमः ॥

४ लघन पाचन शोथे शिर कायविरेचनम् ।

वमनञ्च यथासत्त्वं यथादोषं विकल्पयेत् ॥

वातिकशोथ में दशमूल ववाथ का सेवन या विबन्ध होने पर दूध में एरएड तैल छोड़कर पिलाना उत्तम रहता है। पैत्तिक शोथ में दूध का उपयोग उत्तम रहता है, त्रिवृत्, गुडूची एवं त्रिफला का सेवन उचित रहता है, शीतल उपचार अनुकूल पड़ते हैं। श्लेष्मिक शोथ में उष्ण एवं सूक्ष्म उपचार विज्ञेयतः पटोल, त्रिफला, निम्ब, दारुहल्दी और गुग्गुलु का सेवन उत्तम रहता है। त्रिदोषज शोथ में मिश्र उपक्रमों को वरतना चाहिए। रोगी को भोजन दूध के साथ देना चाहिए और औषधियों में अदरक, मोठ, शिलाजीत या त्रिफला का प्रयोग करना चाहिए।

पथ्यापथ्य—शोथ के उत्पादक कारणों का परित्याग करना चाहिये। एतदर्थ उउद, गेहूँ, नया अन्न, आनूपदेशज पशु-पक्षियों के मांस, गुड, दधि प्रभृति गुरु पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिये। शोथ रोग में अधिक जल का पीना या नमक का सेवन भी अनुकूल नहीं पड़ता है। अस्तु, इनका भी परिहार रोगी के लिये आवश्यक होता है। कई उष्ण एवं तीक्ष्ण द्रव्य जैसे—मद्य का सेवन, गर्म ममाले या खटाई का सेवन, मिट्टी का खाना, तैल एवं सूखे लाल मिर्च का सेवन भी शोथ रोगीको अनुकूल नहीं पड़ता है। इसी प्रकार सूखे मांस या शाक, विरुद्ध आहार, दाहकारक भोजन, वेगावरोध, दिवास्वप्न (दिन का सोना) तथा मैथुन भी शोथरोगी को प्रतिकूल पड़ता है।

अस्तु, रोगी को पूर्ण विश्राम के साथ रखना चाहिये। परिश्रम में शोथ बढ़ता है और विश्राम करने से शमन होता है। भोजन में हल्के एवं सुपाच्य आहार की व्यवस्था करनी चाहिये। सब से उत्तम आहार गर्म करके ठंडा किया दूध रहता है। जब तक शोथ अधिक हो रोगी को दूध के अतिरिक्त कुछ भी न दे। भूख लगे तो दूध, प्यास लगे तब भी दूध ही देना चाहिये। लवण एवं जल का पूर्णतया निषेध रखना चाहिये। यदि तृप्ता की अधिकता हो तो सौंफ, काकमाची, पुनर्नवा या जेवायन का अर्क पीने को देना चाहिये। नारियल का जल या डाव का पानी भी ठीक रहता है। जब शोथ का शमन हो जावे तो रोगी को दूध के साथ हल्का भोजन देना चाहिये। जठ्र को खोलकर ठंडा करके या पुनर्नवा में श्रुत कर के देना चाहिये, भोजन में पुराना चावल, जी, कुल्थी, मूंग, मट्ठा, शहद, आम्र, सेम की फली, करेला, मूज, पन्वेल, खैर, गाजर, मानकंद, वैगन, मूली, पुनर्नवा, नीम आदि द्रव्यों का सेवन उत्तम है। मांसाहारों व्यक्तियों में प्रारंभ में ही दूध के साथ या बाद में भोजन के साथ मांसरसों का उपयोग शोथ रोग में उत्तम रहता है। इसके लिये हल्के मांसरस अर्थात् जाङ्गल पशु पक्षियों के मांसरस जैसे—गोह, नेह, तीतर, मुर्गा, बटेर, छोटी जाति की मछली या कच्छप मांसरस या जाङ्गल पशु पक्षियों के मांसरस दिये जा सकते हैं।

शोथ रोग में दोपनिरपेक्ष सामान्य औषधियाँ—

पुनर्नवा—शोथ रोग में यह एक रामबाण महौषधि है। इसका स्वतंत्र तथा योगों के रूप में शोथ रोग में भूरिश प्रयोग होता है। जैसे—पुनर्नवाष्टक कपाय, पुनर्नवादशक कपाय, पुनर्नवादि चूर्ण, पुनर्नवारिष्ट, पुनर्नवासव, पुनर्नवादि तैल तथा पुनर्नवामण्डूर आदि।

गोमूत्र—सर्व प्रकार के शोथ में चाहे वह यकृत विकार या हृदयविकार, वृक्कविकार से उत्पन्न हुआ हो सब में लाभप्रद रहता है। इसको स्वतंत्र खाली पेट पर एक छटाक की मात्रा में प्रातःकाल में रोगी को पीने को देना चाहिये अथवा त्रिफला कपाय में मिलाकर देना उत्तम काय करता है।

गुग्गुलु—पुनर्नवा, देवदारु और गुठी के काढ़े के साथ १-२ माशा की मात्रा में गुग्गुलु का सेवन अथवा गोमूत्र के साथ गुग्गुलु का सेवन शोथ में उत्तम रहता है।

पुनर्नवादि गुग्गुलु—पुनर्नवा, देवदारु, हर्रें, गुडूची इनको समभाग लेकर २ तोले को ३२ तोले जल में खीलाकर ८ तोले शेष रहने पर उसमें गोमूत्र २ तोले और शुद्धगुग्गुलु २ माशा मिला कर सेवन।

मानकद—मानकद का स्वरस या दूध में पकाकर मानकद का प्रयोग अथवा मानकद मिद्ध घृत का उपयोग भी शोथ रोग में लाभप्रद होता है।

माणक घृत—मानकद २ सेर लेकर १६ सेर पानों में खीलाकर ४ सेर रहे तो उतार कर छान ले फिर इस स्वरस में १ पाव मानकद कल्क, घृत १ सेर मिला कर यथाविधि अग्नि पर चढ़ा कर मंद आंच से पकावे। यह सान्निपातिक शोथमें भी लाभप्रद है। मात्रा १ तोला गाय का दूध डाल कर पिलावे।

अदरक, सोंठ, हरड़ एवं पिप्पली—

गुडाद्रक, गुडशुण्ठी, गुडाभया अथवा गुडपिप्पली योग शोथ रोग में स्वनाम-ख्यात है।

अदरक का रस ६ माशे से १ तोला लेकर उस में पुराना गुड २ तोला मिला कर सेवन करने से और आहार में केवल वकरी का दूध पीने से थोड़े दिनों में ही शोथ रोग से मुक्ति हो जाती है।

गुड और अदरक या गुड और हरड़ का चूर्ण या गुड और पिप्पली का चूर्ण इन चारों योगों में से किसी एक का एक एक तोले का मोदक बना लेना चाहिये। “मोदके द्विगुणो गुड” अर्थात् चूर्ण से द्विगुण पुराना गुड इस मोदक में रखना चाहिये। एक मोदक से प्रारम्भ कर के प्रतिदिन एक एक बढ़ाते हुए तीन पल या १५ तोले तक बढ़ावे, फिर एक एक क्रमशः कम करते हुए एक

मोठक पर आ जाना चाहिये । इस प्रकार एक पत्त अथवा एक माम तक इस योग के सेवन करने में शोथ, प्रतिश्याय, गले के रोग, श्वास, कास, अरुचि, पीनत्व, जीर्णज्वर, अर्श, मंग्रहणी तथा अन्य कफ एवं वायु के रोग गान्त होते हैं ।

विल्व पत्र स्वरस-या निम्ब पत्रस्वरस—नीम की पत्ती का रस या वेल की पत्ती का रस १ तोला उसमें काली मिर्च का चूर्ण १ माशा मिला कर सेवन करने में शोथ, विवध, अर्श एवं कामला में लाभ होता है ।^२

देवदारु—केवल देवदारु से सिद्ध क्षीर का सेवन अथवा देवदारु और त्रिकटु के योग से पकाया दूध अथवा देवदारु, गुग्गुलु, सोठ, चित्रक की छाल और पुनर्नवा के योग से पकाया या शृणु दूध शोथशामक होता है ।

भूनिम्ब—चिरायता और शुण्ठी का चूण प्रत्येक २ माशे भर लेकर खाकर ऊपर में पुनर्नवा का ववाय पीने से सर्वाङ्ग गाफ के रोग में उत्तम लाभ होता है ।

स्थलपद्म—केवल स्थलपद्म के कल्क को दूध के माध्य सेवन करने में शोथ रोग में लाभ होता है । स्थलपद्म से निम्नलिखित द्रव्यों में से किसी एक का ग्रहण किया जा सकता है—जैमे—सेवती, गुल्दाउदी, नेपाली, वकुल या कदम्ब का फूल । स्थलपद्म से 'ओलट कम्बल' का भी ग्रहण होता है । प्रयोग करके देखना चाहिए । स्थलपद्म धृत का भी योग भेषज्य रत्नावली में पठित है ।

कोकिलाक्ष—तालमखाना का उपयोग भी शोथ रोग में उत्तम रहता है । इसका कपाय या पीदे को जलाकर उसकी राख बनाकर २ माशे की मात्रा में गोमूत्र या दूध के साथ देना चाहिये ।

अपामार्ग—चारीय द्रव्य शोथ में उपयोगी होते हैं । फतल अपामार्ग स्वरस या कल्क का उपयोग भी शोथ में लाभप्रद रहता है । अपामार्ग के अतिरिक्त तालमखाना, मूली, निर्गुण्डी आदि का भी प्रयोग शोथ में होता है ।

मण्डूर तथा लौह—मण्डूर अथवा भस्म का उपयोग स्वतंत्रतया या किसी योग के रूप में करना शोथ रोग में लाभप्रद होता है । इसके कई योग बड़े उत्तम हैं जैमे—पुनर्नवामण्डूर, शोथारिमण्डूर, तारामण्डूर, रसाभ्रमण्डूर, शोथारि लौह, त्रिकट्वादि लौह एवं नवायस आदि ।

१ गुडाद्रकं वा गुडनागर वा गुटाभया वा गुडपिप्पली वा ।

कर्पाभिवृद्ध्या त्रिपलप्रमाण खादेन्तरः पक्षमथापि मासम् ॥

शोथप्रतिश्यायगलास्यरोगान् मज्जानकासारुचिपीनसादीन् ।

जीर्णज्वरार्शोत्रहणीविकारान् हन्यात्तथान्यान् कफवातरोगान् ॥ (च द)

२ निम्बपत्ररसं पातुं (त्रित्वपत्ररसं पातुं) सोपण श्वयथी त्रिजे ।

त्रिदमगे चैव दुर्नाम्नि विदध्यात् कामलासु च ॥

विष प्रयोग—शोथ रोग में धतूर, अहिफेन या विजया का भी उपयोग उत्तम रहता है—इसके कई योग दुग्धवटी, क्षौद्रवटी, तक्रवटी आदि के उपयोग बड़े उत्तम प्रमाणित होते हैं ।

योग-कपाय—

५ पुनर्नवाष्टक कपाय—पुनर्नवा मूल, नीम की छाल, परवल के पत्ते, सोठ, कुटका, गुडूची, देवदारु और हरीतकी—समभाग में लेकर जीकुट कर २ तोले द्रव्य को ३२ तोले जल में खीलाकर ८ तोले शेष रखकर मधु के साथ पिलाना । यह एक अत्यन्त उपयोगी योग है जिसका सर्वाङ्ग शोफ, जलोदर, हृद्रोग, श्वामकृच्छ्र एवं रज्ज्तालपत्र में विश्वास के साथ उपयोग किया जा सकता है ।^१ इस कपाय में गोमूत्र-मिलाकर पीने से अधिक लाभ होता है ।

चूर्ण-पुनर्नवादि चूर्ण—पुनर्नवा, देवदारु, हरड, पाठा, पक्व बिल्वफलमज्जा, गोखरू, छोटी कटकारी की जड़, बड़ी कटेरी, हल्दी, दाहहल्दी, छोटी पीपल, गज-पीपल, चित्रक की छाल, अडूना की जड़ । समभाग में लेकर बना चूर्ण । मात्रा ३-६ माशे । अनुपान गोमूत्र एक छटाँक ।

मूत्रल कपाय—शोथ रोग में मूत्र का साफ न होना प्रायः पाया जाता है । इस अवस्था में मूत्र को साफ ले आने के लिये मूत्रल कपाय की आवश्यकता पड़ती है । मूत्रल कपाय का वर्णन मूत्रकृच्छ्राधिकार में किया जा चुका है, उस का उपयोग इस अवस्था में करना उत्तम रहता है । स्थल पत्र, तालमखाना और अपामार्ग शोधन एवं मूत्रल है ।

आसव-पुनर्नवासव—त्रिकटु, त्रिफला पृथक् पृथक्, दाह हरिद्रा, गोखरू, छोटी बड़ी दोनों कटेरी पृथक् पृथक्, अडूना, एरण्ड मूल, कुटकी, गजपीपल, पुनर्नवा, नीम की छाल, गिलोय, सूखी मूली, जवासा, पटोलपत्र प्रत्येक का जीकुट चूर्ण पाँच-पाँच तोले, धाय का फूल १ सेर, मुतूक १। सेर, शर्करा ६। सेर, उत्तम शहद ३ मेर २ छटाँक, जल ३२ मेर लेकर सबको एक घृत से स्निग्ध भाण्ड में भरकर सधिवधन करके एक मास तक जी के भूसे के ढेर में रख देवे । १ महीने के पश्चात् छानकर मर्त्तवान में भर देवे । पुनर्नवामव-शोथ, उदर रोग, प्लोहावृद्धि, यकृद्वृद्धि, गुल्म आदि को नष्ट करता है । मात्रा २ तोला बराबर पानी मिला कर भोजन के बाद दोनों वक्त ।

१ पुनर्नवानिम्बपटोलशुठीतिक्तामृतादार्वभयाकपाय ।

सर्वाङ्गशोथोदरपार्श्वशूलश्वासान्वितं पाण्डुगद निहन्ति ॥

३६ भि० सि०

रस के योग

त्रिनेत्र रस—गुद्ध सुहागा, ताम्र भस्म, लोह भस्म, गुद्ध पारद और गुद्ध गंवक । प्रथम गुद्ध पारद और गुद्ध गन्धक को कज्जली बनावे । पश्चात् जेप द्रव्यों को मिलाकर अदरक के रस की भावना देकर टिकिया बनाकर गराव-मपुट में बन्दकर के लघुपुट में एक आँच दे । मात्रा ४ रत्ती से एक माशा । अनुपान मधु से चटाचर ऊपर से एरण्डमूल और अपामार्ग का काढा बनाकर पिलावे ।

दुग्धवटी—वटी के कई योग भैषज्यरत्नावली के शोथधिकार में पाये जाते हैं—जैसे—कल्पलता वटी, दुग्ध वटी, क्षार वटी, तक्र वटी, बंद्य वटी या वधि वटी । यथानाम दुग्ध या तक्र पर रोगी को रखकर इन वटियों का प्रयोग किया जाता है । रोगी के लिए जल और नमक प्रयोगकाल में पूर्णनया निषिद्ध रहता है । बालकों के शोथ रोग में दुग्ध वटी अनुपम लाभ दिखलाती है । छतिसार के बाद होनेवाले शोफ में यह वटी उत्तम कार्य करती है । बृक्क विकार-जन्य शोफों में इसका उपयोग श्रेष्ठ रहता है । यहाँ पर एक क्षीर वटी का पाठ उद्धृत किया जा रहा है । इनके घटकों में धतूर, अहिफेन एवं विजया भी है ।

गुद्ध हिगुल १ तोला, लवङ्ग चूर्ण, गुद्ध अफीम, गुद्ध वत्सनाभ, जायफल और धतूरे का गुद्ध बीज प्रत्येक $\frac{1}{2}$ — $\frac{1}{2}$ तोला लेकर खरल में डालकर अत्यन्त सहीन चूर्ण करले । फिर साँग के व्याध के साथ भावना देकर मूँग के बराबर की गोलियाँ बनाले और छाया में सुखाँकर शीशी में भर ले । दूध के अनुपान से वटी का एक एक कर के दिन में चार बार उपयोग करे, भोजन में दूध ही रोगी को पिलावे । यदि भूख बहुत लगे तो पुराना चावल या जौ अथवा गेहूँ को ढलिया दूध के साथ दे । शोथ रोग में यह प्रयोग विधि है । यदि ग्रहणी के रोगों को देना हो तो विजया वटीय के अनुपान से देना चाहिए । मात्रा १-२ रत्ती ।

पुनर्नवा मण्डूर—इसका योग पाण्डुरोगाधिकार में दिया जा चुका है । शोथ रोग में भी यह एक उत्तम औषधि है ।

रसाभ्र मण्डूर—गुद्ध गन्धक, अत्रक भस्म तथा पारद दो-दो तोला, मण्डूर भस्म एवं हरड का चूर्ण आठ-आठ तोले, तिलाजीत १ तोला, कान्त लोह भस्म १ तोला । प्रथम पारद और गन्धक को खरल में मिलाकर कज्जली करे फिर जेप द्रव्यों को मिलाकर खरल करे । पश्चात् भृङ्गराज, कैशराज, निर्गुण्डो, मानकन्द का यथाभाग वक्राय या स्वरस १-१ सेर लेकर पृथक्-पृथक् सूर्यताप में घोटते हुए सुखावे । फिर उसमें त्रिकटु, त्रिफला, चन्द और नागर-सोवे का चूर्ण पृथक्-पृथक् सवा-सवा तोले मिलाकर ४ तोले गृह्द और २ तोले

गोघृत मिलाकर मर्दन करके मृतवान में भर दे । मात्रा—१ से २ माशा । यह शोथ मे एक उत्तम योग है ।

शोथारि लौह—लौह भस्म ४ तोला, सोठ, मरिच, पीपरि तथा यवक्षार एक-एक तोला भर लेकर परस्पर मे मिश्रित करके खरल करके रख ले । मात्रा—२-४ रत्ती । अनुपान—त्रिफला क्वाथ ।

शोथ में बाह्यप्रयोग

दोपन्नलेप—पुनर्नवा, देवदारु, सोठ, सफेद सरसो और सहिजन की छाल इनका कपडछन चूर्ण करके मकोय के रस मे पीस करके लेप करना शोफ का गामक होता है ।

शुष्कमूल्याद्य तैल—सूखी मूली, दशमूल, पिपरामूल तथा पुनर्नवा एक एक सेर लेकर जोकुट करके ३२ सेर जल मे खोलाकर आठ सेर शेष रखे । फिर डमे छानकर उनमे निलतैल २ सेर, गोमूत्र २ सेर लेवे और सूखी मूली, गिलोय, सोठ, पटोलपत्र, पिप्पली, बलामूल, पाठा, पुनर्नवा, नेत्रवाला, खम, सहिजनपत्र, निर्गुण्डीपत्र, भाग, श्यामलता, करज की छाल, अडूसे की पत्ती, हरड, पिप्पली, वच, पुष्करमूल, रास्ना, वायविडङ्ग, चट्य, हल्दी, दारुहल्दी, धनिया, स्वर्जिका चार, यवक्षार, सैधव, देवदारु, पद्मकाष्ठ, कचूर, गजपीपल, पक्व विल्वमज्जा, मजीठ इनमे प्रत्येक २ तोला लेकर पत्थर पर पीसकर कल्क बना ले । अग्नि पर तैल का पाक करे । इस तैल का अभ्यग शोथ मे लाभप्रद रहता है ।

पुनर्नवादि तैल—पाण्डु रोगाधिकार मे इस योग का उल्लेख हो चुका है । शोथ रोग मे इस तैल का अभ्यग भी लाभप्रद रहता है ।



अड़तीसवाँ अध्याय

श्लीपद प्रतिषेध

परिचय—जिस रोग मे पैर शिला के समान स्थूल एवं कठोर हो जाय उसको श्लीपद कहते हैं । अथवा धीरे-धीरे होने वाले घने शोथ को श्लीपद कहते हैं । वस्तुतः लसीकावाहिनियो का अवरोध होकर किसी भी स्थान की त्वचा मे शोथ होकर श्लीपद हो सकता है । किन्तु मुख्यतया या सर्वाधिक पैरो मे इसकी उत्पत्ति होती है अतः श्लीपद कहलाता है । अन्यथा हाथ, कान, नाक, ओष्ठ, पुरुष जननेन्द्रिय, वृषण या स्त्रियो के भगोष्ठ आदि मे भी श्लीपदकृत शोथ हो सकता है ।

इस रोग की ममता आधुनिक दृष्टि में Filariasis or Elephantiasis रोग में है। इसकी उत्पत्ति रूप में आधुनिक विद्वान् श्लीपदाणु कृमि (Micro-filaria Bancrofti) को हेतु मानते हैं। ये कृमि एक विविष्ट जाति के मच्छरी (Culex Falgans) के काटने से मनुष्य-शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। शरीर में प्रविष्ट होकर लसीका-वाहिनी, रसकुट्या एवं लसीका-ग्रथियों में अपनी वृद्धि करके लमीका वाहिनियों में अवरोध पैदा करते हैं। इस प्रकार स्थानीय लम्बिका-मंचय से क्रमशः सूजन प्रारंभ हो जाती है। जो आगे चलकर शिला या पत्थर के समान कठोर हो जाती है। सर्वप्रथम लमीका-ग्रथि में सूजन होती है—गोथ का परिणाम स्वरूप ज्वर होता है जो प्रायः शीत के साथ होता है और दो-चार दिनों तक बना रहता है फिर क्रमशः पूरे अंग में सूजन हो जाती है। फिर रोग का दौरा चला जाता है, सूजन भी कम हो जाती है, परन्तु कुछ सूजन शेष रह जाती है। रोग का पुनः पुन आक्रमण होता रहता है—ज्वर, लमीका ग्रथियों का फूटना और अंग का सूजन बार-बार होता रहता है। हर दो-तीनों में कुछ न कुछ सूजन शेष रहती चलती है। इस तरह वर्ष में कई दो-तीनों आने के फल स्वरूप उस अंग विशेष में पत्थर जैसी घनी सूजन होकर श्लीपद नामक रोग का स्वरूप प्राप्त हो जाता है।

पैर के श्लीपद में सर्वप्रथम वक्षः प्रदेश की लसीका ग्रथियाँ सूज जाती हैं, रोगी को ज्वर आता है, इसमें पीड़ा भी रहती है। पुनः यह सूजन ऊपर, जानु, जंघा में होते हुए नीचे की ओर उतर कर पैर में पहुँच जाती है। रोग की यही सम्प्राप्ति प्राचीन ग्रन्थकारों ने बतलाई है।^१ श्लीपद रोग में दो विशेषतायें प्राचीनों ने बतलायी हैं, प्रथम यह है कि यह देशज अर्थात् आनूपदेशज रोग (Endemic Disease) है—अस्तु यह रोग सर्वत्र नहीं प्राप्त होता बल्कि “पुराने जल से नन्दा नरें रहने वाले तथा सब ऋतुओं में शीतल रहने वाले देशों में श्लीपद रोग विशेषतया उत्पन्न होता है।” दूसरी विशेषता यह है कि “सभी प्रकार के श्लीपद कफ की अधिकता में होते हैं, क्योंकि मोटापन और भारीपन तथा अवरोध कफ के बिना नहीं होता है।” इन दोनों विशेषताओं का ध्यान रखते हुए कफघ्न उपचार श्लीपद में लाभप्रद रहता है।^२

१. यः सज्वरो वक्षणजो भृशान्तिः शीतो नृणा पादगतः क्रमेण ।

तच्छ्लीपदः स्यात्करकण्ठनिग्रथिघ्नीष्टनामास्वपि केचिदाहुः ॥

२. ग्रीष्मेतानि विजानीयाच्छ्लीपदानि कफोच्छ्रयात् ।

गुरुत्वं च महत्त्वञ्च यस्मान्नास्ति कफाद्विना ॥ (मा नि)

साध्यासाध्यता—श्लीपद एक कृच्छ्र साध्य रोग है, नया रोग जो एक वर्ष कम का हो ठीक हो जाता है। पुराना रोग, जो एक वर्ष से अधिक समय का हो, अथवा जिसमें सूजन अत्यधिक कड़ो हो गई हो और अंग अतिशय मोटा पड़ गया हो, अथवा सूजन में वल्मीक के समान उभार या गाँठें पड़ गई हो प्रायः असाध्य हो जाते हैं।

क्रिया क्रम—श्लीपद रोग की चिकित्सा में लंघन, वमन, आलेपन, स्वेद, रेचन, शोणितमोक्षण (रक्तावसेचन) तथा कफघ्न अन्य उपचारों की आवश्यकता पड़ती है।^१

लंघन—श्लीपद कफज व्याधि होती है फलतः उपवास या लघु भोजन करना श्रेष्ठ रहता है। उपवास की विशेष विधि वैद्य-परम्पराओं में इस रोग में चरती जाती है। जब रोग के आक्रमण का काल हो तब तो रोगी को पूर्ण लंघन करना ही चाहिये, परन्तु आक्रमण के अनन्तर या अवान्तर काल में उपवास कुछ विशेष तिथियों पर ही करना चाहिये। इन तिथियों में महत्त्व की—मास की दोनों एकादशी, अमावास्या, पूर्णिमा तथा दोनों प्रतिपदाएँ दोनों अष्टमी तिथियाँ हैं। ऐसा देखा जाता है कि इन तिथियों में कफाधिक्य प्रकृति में पाया जाता है। अस्तु, रोग के दौरा होने की भी संभावना भी इन तिथियों में अधिक रहती है। अमावास्या अथवा पूर्णिमा की तिथियों के समीप की तिथियों में रोग का दौरा होना प्रायः पाया जाता है। अस्तु, एकादशी, अमावास्या और पूर्णिमा तिथियों का ध्यान रखते हुए रोगी को उपवास कराने से रोग के दौरे से रोगी को बचाया जा सकता है। यदि व्यक्ति पूर्णतया उपवास न कर सके तो दिन में एक बार भोजन करे, रात्रि में विलकुल भोजन न करे, भोजन में चावल, दही आदि का सेवन न कर के हल्का भोजन—दूध, फल या शाक पर रहे। पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा पूर्ण रूप से उदय लेते हैं—समुद्र में जल का वेग प्रबल होता है, ज्वार का वेग रहता है, संभवतः इसका प्रभाव सम्पूर्ण प्रकृति पर होकर कफाधिक्य स्वभावतः पाया जाता है फलतः कफवर्धक उपक्रम आहारादि का सेवन रोगी के लिए प्रतिकूल पड़ता है। इस रोगी की एक विशेषता रात्रि के सम्बन्ध का होता है—रोग का दौरा सायंकाल के पश्चात् रात्रि में प्रायः होता है—क्योंकि दिन की अपेक्षा रात्रि में कफ की अधिकता प्रायः पाई जाती है, रात्रि के कफाधिक्य से बचने के लिए रोगी को अधिक रात्रि में भोजन न देना (Late night's

१ लघनालेपनस्वेदरेचनं रक्तसेचनं । प्रायः श्लेष्मद्वरैरुष्णं श्लीपदं समुपाचरेत् ॥

प्रच्छर्दनं लघनमस्रमोक्षं स्वेदो विरेकपरिलेपनञ्च ॥ (भै र.)

meals) भी प्रगस्त रहता है अस्तु, श्लीपद रोगियों में सूर्यास्त के पूर्व तक ही, नायाह्न भोजन की व्यवस्था करनी उत्तम रहती है। वचिन्त सायाह्न भोजन समय से न मिल सके और निशीथ हो जावे तो रोगी को दूध पांकर ही रह जाना अनुकूल पड़ता है। इस प्रकार श्लीपद में लंघन अर्थात् विधिपूर्वक उपवास व्रत तथा लघु भोजन की व्यवस्था करनी चाहिये। कहा भी है “लंघनं लघुभोजनम् ।”

आधुनिक वैज्ञानिकों के विचार से श्लीपद रोग एक विशेष प्रकार के अणु-कृमियों के कारण पैदा होता है। प्राचीन ग्रन्थकार कृमियों की उत्पत्ति में कारण श्लेष्मा दोष, श्लैष्मिक आहार-विहार को मानते हैं। अस्तु, कफनाशक आहार-विहार श्लीपद रोग में सदैव अनुकूल पड़ता है। एतदर्थ रोगी को नया अन्न, अधिक चावल, दही, गुड, उड़द, अम्ल पदार्थ, मछली, वैगन, तिल, गुड, कुष्माण्ड, मलाई, रवड़ी, मिष्ठान्न, आनूप देशज मास, आनूप देश का वास, नदी जल या कच्चे जल का सेवन, अन्य पिच्छिल, गुरु एवं अमिष्यंदी आहारों का त्याग करना चाहिये।

श्लीपदी को भोजन में पुराना अन्न, जी, गेहूँ, कुलथी, मूंग, चने एवं रहर की दाल, परवल, सहिजन, करैला, वास्तूक, पुनर्नवा प्रभृति—कटु, तिक्त और दोषन द्रव्यों का भोजन में प्रयोग करना चाहिये। शाक भाजी कढ़वे तैल (मर्षप तैल) में मिर्च एवं गरम मसालेदार भोजन एवं लहसुन और प्याज का प्रचुर मात्रा में उपयोग करना चाहिये। श्लीपद रोग में लहसुन एक उत्तम द्रव्य है। गोमूत्र का सेवन भी उत्तम माना जाता है। एरण्ड तैल का प्रयोग रोगी में दीच दीच में कराते रहना चाहिये जिससे विवध न रहे और रोगी की कोष्ठशुद्धि होती रहे।^१ श्लीपद रोग में जल के दोषों से बचाने के लिये पंचकोल चूर्ण का उपयोग १-२ माथा की मात्रा में भोजन में छिड़क कर करना चाहिये।

श्लीपद रोग आनूप देशज व्याधि है—अर्थात् एक विशेष प्रकार के भूखण्ड में पाई जानेवाली व्याधि है, अस्तु, इसमें जल-वायु या देश के परिवर्त्तन से पर्याप्त लाभ की आशा रहती है। यदि देश-परिवर्त्तन संभव न हो तो रोगी की ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये, जिसमें जल दोष रोगी को न होने पावे इसलिये पंचकोल चूर्ण थोड़ी मात्रा में भोजन और पेय के साथ मिलाकर देने से जल दोष नहीं होने

१ पुरातना. पष्टिकशालयश्च यवाः कुलत्थ्य लगुन पटोलम् ।

एरण्डतैलं सुरभीजलञ्च कटूनि तिक्तानि च दोषनानि ॥

एतानि पथ्यानि भवन्ति पुना रोगे सति श्लीपदनामवेये । (यो. र)

पित्रेत्सर्पपतैलं वा श्लीपदाना निवृत्तये ॥ (सु)

पाता है। लहसुन, प्याज, गोमूत्र आदि का सेवन भी ऐसा ही कार्य करता है। वमन—श्लोपद कफज व्याधि होने से बीच बीच में रोगी का वमन (मास में एक या दो बार) कराने से उत्तम लाभ होता है। इसके लिये सोये का बीज, मूली का बीज पानी से पीसकर तीन-तीन मासे की मात्रा में देना चाहिये। अथवा पटोलपत्र, निम्बपत्र, मदनफल और सैधव प्रत्येक तीन मासे पानी से पीसकर पानी में धोल बनाकर पिलाना चाहिये अथवा कषाय बनाकर मधु के साथ पिलाना चाहिये। वमन कराने से कफ दोष का निर्हरण होकर रोग में लाभ की संभावना रहती है।

लेप एवं स्वेद—श्लोपद रोग में हाथ, पैर आदि अंगों की सूजन को दूर करने के लिये कई लेप बड़े प्रशस्त हैं।

धस्तूरादि लेप—धतूरे की पत्ती या जड़, एरण्ड मूल, निर्गुण्डी, पुनर्नवा की जड़, सहिजन की छाल, समान भाग में लेकर काजी के साथ पीसकर, जलसे पीसकर या गोमूत्र से पीसकर उसमें सरसों का तेल मिलाकर गर्म करके मोटा लेप शोथयुक्त अंग पर करने से सूजन शीघ्रता से कम हो जाती है। यह एक सिद्ध योग है।^१

२ श्वेत अर्क की मूल की छाल को लेकर काजी के साथ पीसकर लेप करना चाहिये।

३ चित्रक, देवदारु, श्वेत सर्पपत्र एवं सहिजन की छाल का समभाग लेकर काजी से पीसकर लेप करना भी उत्तम है। काजी के स्थान पर गोमूत्र में भी पीसकर गर्म करके लेप किया जा सकता है।

४ मदनान्दि लेप—मदनफल और समुद्रलवण दोनों को एक एक तोले लेकर १ तोले मोम और तीन तोले भैंस के घी के साथ मिश्रित कर के अग्नि पर सतप्त कर के लेप करने से पुराने श्लोपदजन्य त्वक्-वैवर्ण्य एवं विदार एक सप्ताह के उपयोग से ठीक हो जाते हैं।

५ विडङ्गादि तैल—वायविडङ्ग, काली मिर्च, अर्क मूल, सोठ, चीते की जड़ की छाल, देवदारु, एलुवा तथा पाचो नमक प्रत्येक एक-एक तोला लेकर पानी से पीस कर कल्क बना ले। इस कल्क से चतुर्गुण तिल या सर्पपत्र तैल अर्थात् ४८ तोले और तैल से चतुर्गुण जल अर्थात् १९२ तोले पानी मिला कर अग्नि पर चढ़ाकर मंद आंच से पकावे। इस तैल का श्लोपद रोग में अम्यग

१ धस्तूरैरण्डनिर्गुण्डीवर्षाभूशिशुसर्पपत्रै ।

प्रलेप श्लोपद हन्ति चिरोत्थमपि दारुणम् ॥

उत्तम रहता है। पीने में भी इस तैल का उपयोग हो सकता है। मात्रा १-१ तोला।

६. श्लीषदगन खुजली को दान्त करने के लिये मक्खन और मधु का लेप उत्तम रहता है। कांजी एवं सरसो के तैल का लेप वात-कफज वेदना को कम करता है। श्लीषद में पिन्नाधिक्य होने पर दाह के दमन के लिये—

संजिष्ठादि लेप—मजीठ, मुलैठी, रास्ता, हंस की जड़ और पुनर्नदामूल इनको समभाग में लेकर कांजी के साथ पीस कर लेप करना चाहिए। विविध प्रकार के श्लीषदों में भी इस लेप का उपयोग किया जा सकता है।

रेचन—श्लीषद रोग में कोष्ठगुद्वि होती रहे। रोगी में विविध न हो इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए। एतदर्थ त्रिफला, हरीतकी चूर्ण, मधुयन्दी-चूर्ण, अमलताज, गोमूत्र तथा एरण्ड तैल का प्रयोग रोगी में करना चाहिये।

१. श्लीषद के दीरे में त्रिफला कषाय बनाकर उसमें २॥ तोला गोमूत्र मिलाकर दिन में एक-दो बार देना उत्तम होता है। श्लीषदजन्य अण्डवृद्धि में यह एक उपयोगी योग है।^१

२ गोमूत्र में भिगोयी हुई या पकाई हुई हरीतकी को एरण्ड तैल में भूनकर चूर्ण बनाकर ३ मासे की मात्रा में म्वतंत्र या सेंधा नमक मिला कर चूर्ण बना कर मिश्रित ४ मासे की मात्रा में जल के साथ या गोमूत्र के अनुपात के साथ नित्य सेवन करने से श्लीषद रोग में बड़ा ही उत्तम लाभ देखने को मिलता है। इस योग का उपयोग विविध प्रकार की अण्डवृद्धि, आत्रवृद्धि तथा श्लीषद में दृढता पूर्वक किया जा सकता है। प्लोला वृद्धि (Enlarged Prostate) में जो प्रायः वृद्धावस्था में पाया जाता है इस हरीतकी योग में उत्तम लाभ होता है।^२

रक्तावसेचन या शोणित मोक्षण—श्लीषद में निरावेध का बड़ा माहात्म्य चिकित्सा में बनलाया गया है। वातिक श्लीषद में यदि पैर का हो तो गुल्फमधि के ऊपर वाली निरा का वेज, पैत्तिक श्लीषद में गुल्फ की अध निरा का वेज और श्लैष्मिक श्लीषद में क्षिप्रमर्म को बचाते हुए अगुष्ट के समीप की निरावेध करने की विधि बतलाई गई है।

१ त्रिफलापत्राथगोमूत्रं पिवेन्नानरतन्द्रित ।

कफवातोद्वनवं हन्ति श्वयथु वृष्णोत्थितम् ॥

२ गोमूत्रमिद्धा द्युतैलभृष्टा हरीतकी सैन्धवचूर्णयुक्ताम् ।

सादेन्नरः कोष्ठनानुपाना निहन्ति वृद्धिं चिरजा प्रवृद्धाम् ॥

गंधर्वनैलभृष्टा हरीतकी गाजलेन यस्तु ।

पिबति श्लीषदबन्धनमुक्तो भवति हि स मत्तरात्रेण ॥

आज कल शिरावेध का कार्य प्रचलित नहीं है—यह एक शोध का विषय है। इस दिशा में इंगित मात्र करना ही लक्ष्य है।

ओषधि—श्लीपद रोग में सशमनार्थ बहुत प्रकार की ओषधियों का व्यवहार होता है और ये सभी दृष्टफल भी हैं।

१ **दारु हरिद्रा एवं रक्त चन्दन**—इन दोनों ओषधियों में से किसी एक का या दोनों को समभाग में लेकर कपाय बना कर २ तोले द्रव्य, ३२ तोले जल में खोलाकर ८ तोला शेष रख कर मधु के साथ सेवन। यह परम उत्तम योग है।

२ **सर्पप तैल**—का स्वतन्त्र १ तोले की मात्रा में पीना। लम्बे समय तक प्रयोग करने से श्लीपद रोग से निवृत्ति होती है। सर्पप तैल का बाह्य प्रयोग अभ्यग के रूप में या सर्पप वीज का लेप भी उत्तम रहता है।

३. **पूतिकरंज**—डिठउरी की पत्ती का रस ६ माशे से १ तोला स्वतन्त्र या सर्पप तैल में मिला कर सेवन।

४. **पुत्रजीवक**—स्वरस का भी उपर्युक्त प्रकार से सेवन लाभप्रद रहता है।

वृद्धदारुक—विधारे के बीज या छाल का चूर्ण ३ माशे की मात्रा में १६ छटाक गोमूत्र के अनुपान से, सर्पप तैल के अनुपान से सेवन उत्तम रहता है।

६ **हरिद्रा**—हरिद्रा चूर्ण या हरिद्रा स्वरस ३ माशे, पुराने गुड १ तोले के साथ सेवन करके गोमूत्र का अनुपान करना उत्तम रहता है।

७ **गुडूची**—गिलोय का स्वरस १ तोला, कटु तैल (सर्पप तैल) १ तोला मिलाकर प्रातः काल में लेना।

८ **पिण्डारक**—नामक वृक्ष के ऊपर लगे हुए वन्दाक (वादे) के चूर्ण का १-२ माशे घृत के साथ सेवन अथवा पिण्डारक की जड़ को सूत्र में बांध कर पैर में बाधना उग्र श्लीपद में भी लाभप्रद रहता है।

९. **गोधावती**—मूल और उडद की पिष्टि बनाकर सरसो के तेल में पका कर सेवन करने से श्लीपद ज्वर में लाभ होता है।

१० **शाखोटक**—सिहोर की छाल का २ तोले की मात्रा में कपाय बना कर सेवन करना, इस ववाय से प्रारम्भ में वमन हो सकता है। इसका स्वतन्त्र या गोमूत्र मिला कर उपयोग करे। इसके ४० दिनों के सेवन से पुराने श्लीपद में भी लाभ होता है।

११ **खदिर और नीम** की छाल का चूर्ण बनाकर ३ माशे की मात्रा में गोमूत्र के अनुपान से सेवन।

वृद्धदारुक समचूर्ण—त्रिकटु एवं त्रिफला पृथक्, पृथक्, चव्य,

दारुहरिद्रा, वरुण की छाल, गोखरू बीज, मुण्डी और गिलोय इन्हें प्रत्येक एक एक तोला लेकर महीन चूर्ण करे फिर इस चूर्ण के बराबर अर्थात् १२ तोले विधारा के मूल का या बीज का चूर्ण मिलावे । मात्रा ३-६ माशे । अनुपान—काजी या गोमूत्र ।

पंचकोल चूर्ण—पिप्पली, पिप्पली मूल, चव्य, चित्रक और शुंठी का सम प्रमाण में लेकर बनाया चूर्ण । मात्रा १-२ माशा । भोजन के साथ मिलाकर सेवन ।

नित्यानन्द रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, ताम्र भस्म, कास्य भस्म, वग भस्म, शुद्ध हरताल, शुद्ध तुत्थ, शंख भस्म, कर्पदिका भस्म, लीह भस्म, त्रिकटु, त्रिफला, विडङ्ग, पच लवण, चव्य, पिपरामूल, हाउवेर, वच, कचूर, पाठा, देवदारु, इलायची, विधारा, निशोथ, चित्रकमूल तथा दन्तीमूल प्रत्येक का चूर्ण १-१ तोला । प्रथम पारद-गंधक की कज्जली बनावे फिर अन्य भस्मों तथा चूर्णों को खरल कर मिलावे । फिर हरीतकी के रस की भावना देकर पाँच-पाँच रत्ती की गोलियाँ बना ले । मात्रा १-२ गोली प्रातः साय शीतल जल या दूध से । बहुत से रोगों में विशेषतः श्लीपद में यह एक उत्कृष्ट योग तथा एक सिद्ध एवं प्रसिद्ध वैद्यकीय योग है जिसका श्लीपद में उपयोग परम लाभप्रद होता है ।

श्लीपद गज केशरी रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, त्रिकटु, शुद्ध वत्सनाभ, अजवायन, चित्रक मूल, शुद्ध जयपाल बीज, शुद्ध टकण और शुद्ध मन-शिला । प्रत्येक १-१ तोला । प्रथम पारद एवं गंधक को खरल कर कज्जली बनावे पश्चात् अन्य द्रव्यों का सम्मिश्रण करके खरल करे । फिर भृंगराज स्वरस, गोखरू वनाय, अदरक के रस और जम्बीरी नीबू के रस की पृथक्-पृथक् एक-एक दिन तक भावना देकर २-२ रत्ती की गोलियाँ बनाकर छाया में सुखाकर रख ले । मात्रा १-२ गोली । अनुपान उष्ण जल । विविध कोष्ठ से युक्त श्लीपद रोगों में उत्तम एवं श्रेष्ठ योग है ।

मण्डूर—केवल मण्डूर भस्म ४ रत्ती की मात्रा में या पुनर्नवा मण्डूर ४ रत्ती-१ माशा मधु के साथ दिन में दो बार देना श्लीपद में हितकर होता है ।

उपसंहार—श्लीपद के रोगों को विश्राम देना चाहिये । अधिक पैदल चलना या नायकिल चलाना भी अच्छा नहीं पड़ता है । सोते समय उसको शीथ युक्त शाखा को तकिये के सहारे ऊँचा उठा कर रखना अच्छा रहता है । कृमि रोग तथा शोधाधिकार में प्रयुक्त मण्डूर, लीह के योग अथवा कृमिघ्न योगों का सेवन भी श्लीपद में लाभप्रद रहता है ।

श्लीपद के आक्रमण काल में ज्वर प्रायः आता है। इस ज्वर में विषम ज्वर वाला उपचार करना चाहिये। नित्यानन्द रस का तुलसी, निर्गुण्डो, पारिजात अथवा अदरक के रस और मधु से उपयोग उत्तम रहता है। चन्दन और दारु हल्दी का कषाय श्लीपद के आक्रमण काल में उत्तम रहता है। त्रिफला कषाय में गोमूत्र मिला कर देना भी उत्तम रहता है।

दौरे के बीच में नित्यानन्द रस या श्लीपद गजकेशरी रस का प्रयोग कई मास तक करने की आवश्यकता रहती है। तीन से छ. मास तक उपयोग करने पर बड़ा ही उत्तम लाभ देखने को मिलता है। इस अधिकार में अन्य औषधियों और योगों का उपयोग भी हितावह रहता है।



उन्तालीसवाँ अध्याय

कुष्ठरोग प्रतिषेध

परिचय—“कुष्णातीति कुष्ठम्” शरीर की त्वचा आदि धातुओं का नाश करने के कारण उस रोग को कुष्ठ कहते हैं। आयुर्वेद में कुष्ठ शब्द से दाद, खुजली जैसे साधारण त्वचा के रोगों से लेकर बड़े-बड़े रोग जैसे कोढ़, कुष्ठ आदि का भी ग्रहण किया जाता है। इन दोनों में भेद-प्रदर्शन के लिये क्षुद्र कुष्ठ तथा महाकुष्ठ ये दो प्रकार कुष्ठ रोग के बतलाये गये हैं। पुनः क्षुद्र कुष्ठ ग्यारह प्रकार के और महाकुष्ठों के सात प्रकार बतलाये गये हैं। आधुनिक-दृष्ट्या विचार करने पर क्षुद्र कुष्ठों को त्वचा के रोग (Skin Diseases) और महाकुष्ठों को वास्तविक कुष्ठ या Leprosy कहते हैं।

हेतु तथा सम्प्राप्ति—विरुद्ध अन्न-पान, अपक्व एवं गरिष्ठ अन्न का सेवन, अध्यशन, अधारणीय वस्त्रों का रोकना, भोजन के अनन्तर व्यायाम करना, अधिक सन्ताप या धूप का सेवन, परिश्रम के अनन्तर सहसा शीतल जल के सेवन, नवीन अन्न, अधिक दही-मत्स्य-लवण-उडद-आलू-पिष्टद्रव्य-तिल-गुड-अम्ल का सेवन, दिवास्वप्न, माता-पिता-गुरु ब्राह्मण एवं आचार्य का तिरस्कार करना तथा अन्य

नीच कर्मों के प्रभाव से तीनो दोष कुपित होकर त्वचा-रक्त-माम और शरीर के जलीय धातु को दूषित कर देते हैं। इस से अठारह प्रकार के कुष्ठ रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार सात द्रव्य अर्थात् तीन दोष एवं चार दूष्य मिल कर कुष्ठ के उत्पादक होते हैं। आचार्य सुश्रुत का मत है कि त्रिदोष कुपित होकर प्रथम त्वचा में लक्षण उत्पन्न करता है—और उपेक्षा करने पर पश्चात् रक्तादि धातुओं को प्रभावित करता और अन्दर में प्रविष्ट कर जाता है।

आधुनिक ग्रंथों में कुष्ठ में उत्पादक हेतु के रूप में दो वर्ग पाये जाते हैं। प्रधान हेतु कुष्ठ दण्डाणु (*Bacillus leprae*) का उपसर्ग तथा सहायक हेतु इसके अनर्गत आहार-विहार सम्बन्धी अनियम, दुर्बलता उत्पन्न करने वाले रोग जैसे विषम ज्वर-कालाजार-फिरंग-अकुश कृमि प्रभृति रोग। इस रोग का संचय काल २ साल से दस साल तक या अधिक भी हो सकता है।

कुष्ठ के प्रकार—सभी कुष्ठ त्रिदोषज होते हैं; फिर भी दोषों की उत्पन्नता के विचार से उनके कई भेद हो जाते हैं। महा कुष्ठ सात प्रकार के होते हैं उनके नाम १. कापाल कुष्ठ (वाताधिक्य से), २. औदुम्बर कुष्ठ (पित्ताधिक्य से), ३ मण्डल कुष्ठ (श्लेष्माधिक्य से), ४ ऋण्यजिह्व (वात-पित्ताधिक्य से) ५. पुण्डरीक कुष्ठ (पित्तकफाधिक्य से) ६. सिध्म कुष्ठ (वातकफाधिक्य से) तथा ७ काकण कुष्ठ (त्रिदोष से) क्रमशः पाये जाते हैं।

अठारह क्षुद्र कुष्ठों में १ एक कुष्ठ (*Psoriasis*), २. गजचर्म या हस्तिचर्म, ३ किटिभ ४ वैपादिक (*Rhagades*) ५ अलस या अलमक (*Linchen*), ६. चर्मदल (*Excoriation*) ७. पामा (*Scabies*) ८ कच्छु (*Dry Eczyma*) ९ विस्फोट (*Bullae*), १० विचर्चिका (*Weeping Eczyma*), ११ शतार (*Erythemas*) गिनाये गये हैं।

कुष्ठों के नामकरण में चरक तथा सुश्रुत के मन्तव्य में थोड़ा अन्तर है। सुश्रुत ने चर्मकुष्ठ, वैपादिक, अलमक, कच्छु, विस्फोट तथा शतार का वर्णन क्षुद्र कुष्ठों में नहीं किया है अपितु इनके स्थान पर स्थूलारुण्य, परिसर्प, रकमा, विसर्प, महा-कुष्ठ और सिध्म का वर्णन किया है। दद्रु का वर्णन सुश्रुत ने महाकुष्ठ में और चरक ने सिध्म का वर्णन महाकुष्ठों में किया है।

क्षुद्र कुष्ठों में दोषों का विचार करें तो चर्मकुष्ठ, एककुष्ठ, किटिभ, सिध्म, अलम और विपादिका वात और कफ की अधिकता से पैदा होते हैं। दद्रु, शतार, विस्फोट, पामा तथा चर्मदल नामक कुष्ठ कफ-पित्ताजन्य होते हैं।

सामान्य लक्षण—लक्षण और निवृत्त के अनुसार आधुनिक ग्रन्थों में कुष्ठ के तीन प्रकार बतलाये गये हैं ।

१. ग्रन्थि कुष्ठ (Nodular or lempromatous type) रोग में प्रथम कई आकार-प्रकार की लालरंग की गांठें उत्पन्न होती हैं । कभी-कभी कई ग्रन्थियाँ मिल कर एक बड़ा धब्बा बना लेती हैं । सन्नावाही नाड्यग्रंथि (Nerve endings) के नष्ट होने पर ये स्वापयुक्त (anaesthetic) एवं लोमरहित हो जाती हैं । ये गांठें अधिकतर चेहरे पर मस्तक, भ्रू, कपोल और कर्णपाली में पाई जाती हैं । इसके अतिरिक्त इस तरह की गांठें रोगी के हाथ, कलाई, बाहु, ऊरु तथा कटि प्रदेश के बाह्य तल पर भी पैदा होती हैं । इस से रोगी का चमड़ा बहुत मोटा और चेहरे की आकृति बहुत खराब सिंहसम (Lion face) हो जाती है । ग्रन्थियों के फूटने से व्रण बनते हैं । रोग का प्रभाव मुख, गला, नासिका और नेत्रों में पाया जाता है । गले में होने पर स्वरभंग, नासा में होने से नासाभग और आँखों के प्रभावित होने पर आँखें लाल हो जाती हैं ।

२. नाड़ी कुष्ठ (Nervous variety)—इस में कुष्ठ के जीवाणुओं का नाड़ों के ऊपर प्रभाव पड़ता है । जिससे स्वार, स्वेदाभाव, सरसराहट, चुनचुनाहट आदि लक्षण पैदा होते हैं । जो प्राचीन दृष्टि से कुष्ठ के वातिक प्रकार में मिलते हैं ।

३. मिश्र प्रकार (Mixed type)—इस में कुष्ठ के दोनों प्रकार के लक्षण मिलते रहते हैं । इस प्रकार के रोगी ही अधिक मिलते हैं । इसमें ग्रन्थियाँ भी उत्पन्न होती हैं और वात नाडियाँ मोटी पड़ जाती हैं ।

इन्हीं लक्षणों का वर्णन प्राचीन ग्रन्थकारों ने स्पष्ट महाकुष्ठों में किया है ।

कुष्ठ के त्वचागत होने से वर्ण में परिवर्तन, त्वचा में रुक्षता, सुन्नता, रोमहर्ष तथा स्वेद की अत्यधिक प्रवृत्ति होती है । रक्तगत कुष्ठ के होने पर खुजली तथा दुर्गन्धित पूयस्राव होता है, कुष्ठ मासाश्रित होने पर त्वचा का मोटा होना, मुख का सूखना, कर्कशता, पिडिकाओं की उत्पत्ति, सुई की चुभोने जैसी पीड़ा, फोड़ों की उत्पत्ति इत्यादि लक्षण पाये जाते हैं । जब कुष्ठ का प्रभाव मेदधातु तक पहुँच जाता है, तो अंगुलि का गलकर गिरना, गति करने में असमर्थता, अगो में पीड़ा, घावों का फैलना आदि पाया जाता है । अस्थि और मज्जा तक कुष्ठ के पहुँचने पर नासिका का गलकर बैठ जाना, आँखों में लाली, घावों में फोड़ों का पड़ना तथा स्वरावसाद आदि लक्षण होने लगते हैं ।

साध्यासाध्यता—त्वचा, रक्त एवं वात-कफजन्य कुष्ठ साध्य होता है ।

मेद धातु में प्रविष्ट एवं द्विदोषज कृच्छ्रसाध्य होता है। मज्जाश्रित, क्रिमि-तृपा-दाह-मदाग्नि युक्त एवं त्रिदोषज कुष्ठ असाध्य होता है। कुष्ठपीडित व्यक्ति का शरीर जब फट गया हो, अंग सड़ने लगे हों, जिसके नेत्र लाल हो, जिसको बोलने की शक्ति नष्ट हो गई हो और जो पंचकर्म गुणातीत (अर्थात् जिस में पंचकर्म न किया जा सकता हो) असाध्य हो जाते हैं।^१

श्वित्र^२—कुष्ठ के अध्याय में श्वित्र नामक एक रोग का भी उल्लेख पाया जाता है। कुष्ठ के जो उत्पादक कारण बतलाये गये हैं वे ही कारण श्वित्र के भी उत्पादक होते हैं। श्वित्र रोग के कई पर्याय ग्रंथों में पाये जाते हैं चरक ने लिखा है “दान्णं वारुणं श्वित्रं किलास नाम भिस्त्रिभिः” अर्थात् श्वित्र के तीन प्रकार दान्ण, वारुण तथा किलास हैं। इस रोग को माधारण बोल चाल में श्वेत कुष्ठ या मफेद दाग (Leucoderma) कहते हैं। श्वित्र में किसी प्रकार का श्वाव नहीं होता है—यह वातादि तीनों दोषों में रक्त-मास और मेद धातु में आश्रित रह कर उत्पन्न होते हैं। वातिक किलाम रूख एवं लाल रंग का, पैत्तिक कमल या ताम्र वर्ण का, और लोमो को नष्ट करनेवाला होता है। कफज श्वेतवर्ण का भारी और खुजली युक्त होता है।

श्वित्र के उत्पत्ति भेद से दो प्रकार होते हैं—व्रणज और दोषज। व्रणज किसी व्रण या अग्नि दाह के परिणाम स्वरूप और दोषज वैसे ही होते हैं। श्वित्र में केवल त्वचा की ही विकृति पाई जाती है। जैसा कि सुश्रुत के वचनों से सिद्ध है “त्वग्गतमेव किलामम्”। इस प्रकार श्वित्र रोग में कृमि का कोई सम्बन्ध नहीं रहता, फलतः संक्रामक नहीं होता है। यह एक दोषज व्याधि है दूसरे कुष्ठों जैसा त्रिदोषज नहीं है। इसमें शरीरगत धातुओं का नाश भी नहीं होता है।

ऐसे श्वित्र, जिनमें बाल मफेद न हुए हो, जिसका विस्तार कम हो, जो एक दूसरे में मिटे हुए न हो, नवीन और आग से जलने के बाद उत्पन्न हुआ न हो साध्य होते हैं। इसके विपरीत लक्षणों से युक्त होने पर असाध्य हो जाता है।

१. नाध्य त्वग्रक्तमामस्य वातश्लेष्माधिकञ्च यत् ।

मेदमि दृन्धजं याप्य वज्रं मज्जास्थिसश्रितम् ॥

क्रिमितृदाहमन्दाग्निमयुक्त यत्त्रिदोषजम् ।

प्रभिन्नं प्रसृताङ्गं च रक्तनेत्रं हतस्वरम् ।

पञ्चकर्मगुणातीतं कुष्ठं हन्तीह मानवम् ॥ (मा. नि)

२. वचाभ्यतथ्यानि कृत्स्नभावा निन्दा गुह्यणा गुरुधर्पणञ्च ।

पापक्रिया पूर्वकृतञ्च कर्म हेतुः किलामस्य विरोधि चान्नम् ॥ (चर)

गुह्य स्थान, हाथ-पैर के तलवे और ओष्ठ में पाये जाने वाले शिक्त्र तथा दीर्घकाल का पुराना शिक्त्र भी असाध्य होता है ।^१

क्रियाक्रम—सामान्यतया सभी रोगों में सर्वप्रथम उपचार 'निदान परिवर्जन' या 'हेतोरसेवा' अर्थात् रोगोत्पादक हेतुओं का परिवर्जन करना होता है । कुछ के उत्पादक हेतुओं में बहुविध आहार-विहार सम्बन्धी विषमताओं के अतिरिक्त अधर्म या पापाचरण को भी रोगोत्पादक बतलाया गया है । अस्तु, आहार-विहार सम्बन्धी दोषों के दूर करने के साथ ही साथ पाप कर्म का भी पुण्यकर्मों के अनुष्ठान के द्वारा दूरीकरण का प्रयत्न करना चाहिये । इसके लिए कई सदाचरणों का उपदेश आचार्य वाग्भटने किया है । इनके सम्यक् आचरण से कुछ रोग से मुक्त होना संभव रहता है । जैसे—व्रत-दम-यम-सेवा-त्याग-शील का अभियोग, द्विज-देवता-गुरु की पूजा, सभी जीवों में मैत्री रखना, शिव-गणेश-जिन-जिन-पुत्र-तारा तथा सूर्य देव की आराधना पाप के फलस्वरूप पैदा होने वाले कुछ रोग का उन्मूलन करती है । सूर्य की आराधना से सभी रोग दूर हो सकते हैं । शरीर सदैव स्वस्थ रखा जा सकता है । सूर्य की आराधना या पूजन विशेषतः कठिन नेत्र रोग और कुछ रोग में लाभप्रद रहता है । सूर्य की आराधना में अर्घ्य पूजन एवं सूर्य स्तव (आदित्य हृदय स्तोत्र आदि) का पाठ उत्तम रहता है ।^२ सूर्यव्रतो में रविवार का व्रत उत्तम रहता है, इस दिन उपवास, लवणवर्ज्य आहार और एक समय का भोजन उत्तम रहता है ।

रोगी को नया अन्न, दधि, दूध, मद्य, तिल, मछली, नमक, उडद, मूली, गुड, अभिष्यदी आहार एवं विरोधी भोजन तथा शुक्र-क्षय का होना समुचित नहीं रहता है, अस्तु, ब्रह्मचर्य के साथ जीवन-यापन करते करते हुए उपर्युक्त आहार का वर्जन करना चाहिये । अधिक धूप में काम करना या भट्टी प्रभृति अग्नि के

१. अशुक्लरोमाऽवहुलमसश्लिष्टमथो नवम् ।

अनग्निदग्धज साध्य शिक्त्रं वर्ज्यमतोऽन्यथा ॥

गुह्यपाणिंतलीष्ठेषु जातमप्यचिरन्तनम् ।

वर्जनीय विशेषेण किलास सिद्धिमिच्छता ॥

२ व्रतदमयमसेवात्यागशीलाभियोगो द्विजसुरगुरुपूजा सर्वसत्त्वेषु मैत्री ।

शिवशिवसुततारा (जिनजिनसुततारा) भास्कराराधनानि प्रकटितमलपाप

कुष्ठमुन्मूलयन्ति । (अ. ह. चि. १९)

समीप कार्य करना भी अनुकूल नहीं पड़ता । अस्तु, ऐसे व्यवसायो को या दिन का सोना, आग का तापना भी रोगी को छोड़ देना चाहिये ।^१

पथ्य—कुष्ठ रोगियों में घृत (वि.प करके गोघृत) का उपयोग बड़ा ही उत्तम पाया गया है । पुगने अन्नो में जी, गेहूँ, चावल, मूँग, अरहर, चना, मसूर का सेवन अनुकूल पड़ता है । चना गेहूँ की रोटी और घी का सेवन पथ्य रूप में उत्तम रहता है । गहद, जाड़ल पशु-पक्षियों के मांस, आपाढ में पैदा होने वाले फल जैसे ककड़ी, खरबूजे, तरबूज, बेंत की कोपल, परवल, तरौई, मकोय, नीम की पत्ती, लहसुन आदि का उपयोग ठीक रहता है । हुरहुर, पुनर्नवा, मेढासिंगी, चक्रमर्द की पत्ती, ताल के पके फल, जायफल, नाग केसर, कंजर पथ्य होते हैं । तैलो में-तिल-मरसो-नीम-हिणोट-सरल-देवदारु-सीमम-अगुरु-चदन तुवरक (चालू मोगरा) आदि कुष्ठ में हित रहते हैं । गोमूत्र तथा गवा-ऊँट-घोडा-या भैंस का मूत्र तथा तिक्त पदार्थों का सेवन पथ्य है । इन पथ्यापथ्यों का विचार सभी प्रकार के कुष्ठ रोगों में विशेषतः महाकुष्ठों के सम्बन्ध में करना चाहिये ।

पंचकर्म या संशोधन—कुष्ठ रोग में संशोधन को चिकित्सा एक आवश्यक एवं उत्तम उपक्रम माना गया है । इसके द्वारा दोषों के निर्हरण हो जाने के अनन्तर पथ्य एवं औषधि का उपयोग करते हुए रोगी को रोगमुक्त किया जा सकता है । अस्तु, एक-एक पक्ष (पन्द्रह-पन्द्रह दिनों) के अन्तर में रोगी का वमन कराना, एक-एक मास के अन्तर में विरेचन देना, प्रति तीसरे-तोमरे महीने पर शिरोरेचन या नस्य कर्म कराना तथा छठे-छठे महीने पर रक्त विस्रावण (शिरावेध के द्वारा रक्त का निकालना) कुष्ठ रोग में हितकर रहता है—ऐसा आचार्यों का मत है ।^२ इन कर्मों का सामान्यतया विधान हाते हुए भी कुष्ठ में वाताधिक्य होने पर अर्थात् वातोल्वण कुष्ठ में घृतपान, कफोल्वण कुष्ठ में वमन

१ पापानि कर्माणि कृतघ्नभावं निन्दा गुल्फणा गुरुधर्पणञ्च । विरुद्धपाना-
शनमल्लि निद्रा चण्डाशुतापं विषमाशनञ्च ॥ स्वेद रत वेगनिरोधमिक्षुं
व्यायाममम्लानि तिलाश्च मापान् । द्रवान्तगुर्वन्ननवान्नमुक्त विदाहि
विष्टमि च मूलकानि ॥ सध्याद्रिविध्याद्रिसमुद्भवाना तरङ्गिणीनामुदकानि
चापि । क्षानूपमामं दधिदुग्धमद्यं गुड च कुष्ठामयिनस्त्यजेयुः ॥ अन्नपानं
हितं कुष्ठे न त्वम्ललवणोपणम् । दधिदुग्धगुडानूपतिलमापास्त्यजेत्तराम् ॥

(यो. र.)

२. पष्ठे मासे शिरामोक्षं प्रतिमामं विरेचनम् ।

प्रतिपक्षं च वमनं कुष्ठे लेपं त्र्यहाचचरेत् ॥ (यो. र.)

तथा पित्तोत्प्लवण कुष्ठ मे विरेचन तथा रक्त-विस्त्रावण कराना श्रेष्ठ रहता है ।^१ रक्त-विस्त्रावण के सम्बन्ध मे यह ध्यान में रखना चाहिये कि यदि कुष्ठ का प्रसार रक्त धातु मे न हुआ हो और त्वचा के ऊपर एक-दो स्थानो मे सीमित हो तो उसका प्रच्छान करके शृङ्ग के द्वारा रक्त निकाले, परन्तु जब कुष्ठ का दोष सर्व-शरीर में व्याप्त हो तो उस अवस्था मे रोगी का सशोधन शिरावेध करके (फस्त खोलकर) करना चाहिये ।

वमन कराने के लिये—वासा, अडूसा, परवल की जड़, नीम तथा प्रियंगु की छाल, मैनफल का काढा बनाकर मधु मिलाकर वमन कराना तथा—विरेचन के लिये त्रिवृत् (निशोथ), दन्तीबीज (जयपाल) तथा त्रिफला का चूर्ण या काढा बनाकर दस्त कराना कुष्ठ रोगियो मे हितकर होता है ।

अंतःप्रयोज्य रक्त-शोधक या कुष्ठशामक औषधियाँ—कुष्ठ के रोगियो मे बहुत सी रक्तशोधक औषधियाँ व्यवहृत होती हैं—जिनके द्वारा कुष्ठ के लक्षणो का सशमन होकर रोग दूर होता है । जैसे,

१ धात्री और खदिर का क्वाथ—खदिर की छाल १ तोला, आंवला १ तोला लेकर ३२ तोले जल में खोलाकर ८ तोले शेष रहने पर मधु मिलाकर पिलाना । २. धात्री और खदिर के बने क्वाथ मे वाकुची का चूर्ण १ माशा प्रक्षिप्त करके पीना । ३ भयङ्कर कुष्ठ से पीडित व्यक्ति भी यदि एक वर्ष तक वाकुची का चूर्ण २ माशे और काली तिल का चूर्ण ३ माशे मिलाकर एक मात्रा प्रातः-सायम् सेवन करे तो कुष्ठ रोग से मुक्त हो जाता है ।^२ ४ अथवा केवल वाकुची का २ माशे से ३ माशे प्रतिदिन जल या दूध के साथ सेवन करे तो कुष्ठ रोग से मुक्त हो जाता है ।

इन योगो का उपयोग सभी प्रकार के कुष्ठ रोगो मे लाभप्रद होता है, परन्तु विशिष्ट रूप से श्वित्रकुष्ठ (श्वेतदाग) में लाभदायक होता है । इन योगो के सेवन काल में श्वित्र कुष्ठ के रोगी मे गाय के दूध की व्यवस्था पर्याप्त मात्रा में करनी चाहिये—रोगी को आहार में रोटी और दूध या पुराना चावल और दूध ही पथ्य कर देना चाहिये । श्वित्र के अतिरिक्त दूसरे कुष्ठ रोगो में वाकुची का प्रयोग करना हो तो घृत या गोघृत की पर्याप्त व्यवस्था करनी चाहिये क्योंकि दूध अन्य

१ वातोत्तरेषु सर्पिवमनं श्लेष्मोत्तरेषु कुष्ठेषु ।

पित्तोत्तरेषु मोक्षो रक्तस्य विरेचनं श्रेष्ठम् ॥

२ तीव्रेण कुष्ठेन परीतदेहो य सोमराजी नियमेन खादेत् ।

संवत्सरं कृष्णतिलद्वितीया स सोमराजी वपुषाऽतिशेते ॥

कुष्ठो में उतना उपयोगी नहीं रहता है। रोगी को गोघृत के साथ ही भोजन देना चाहिये। वाकुची को सोमराजी कहते हैं—सोमराजी का अर्थ होता है चंद्रमा की कान्ति, अर्थात् जो कुष्ठ से विरूप हुए व्यक्ति को चंद्रमा की कान्ति जैसे कान्तिवान् बना दे। सोमराजी के प्रयोगों में कई घृत और तैलों का भी पाठ मिलता है जैसे सोमराजी तैल तथा सोमराजी घृत इनका पाठ घृतों के प्रसंग में आगे दिया जावेगा। वाकुची वीज चूर्ण के अतः प्रयोग में मात्रा का ध्यान रखना चाहिये, ग्रन्थों में १ तोले तक की प्रतिदिन की मात्रा बताई गई है, परन्तु रोगी को प्रारंभ में १-२ माशा तक दे।^१ जैसे-जैसे रोगी को सह्य होता चले बढ़ावे। घृत के अनुपान से देना चाहिये—वाकुची के प्रयोग-काल में रोगी के लिये पर्याप्त गोघृत की व्यवस्था कर लेनी चाहिये। वाकुची का बाह्य प्रयोग श्वित्र कुष्ठ में भूरिगः हुआ है इसका वर्णन लेपो के प्रसंग में आगे किया जावेगा। श्वित्र में वाकुची की एक और भी प्रयोगविधि है। प्रथम दिन पाँच वीज वाकुची के ठंडे जल से निगलावे। प्रतिदिन १-१ दाना बढ़ाता चले। इस प्रकार २१ तक बढ़ाकर फिर १-१ दाना घटा कर पाँच पर लावे। इस प्रकार का वर्धमान वाकुची का प्रयोग जब तक रोग अच्छा न हो जावे कई बार करे। साथ में शुद्ध वाकुची का तेल उस में बराबर तुवरक का तेल मिलाकर श्वित्र पर लगावे। इस प्रकार खाने एवं लगाने के वाकुची के उपयोग से श्वित्र में उत्तम लाभ होता है।

५. 'खदिरः कुष्ठघ्नानाम्' कुष्ठघ्न औषधियों में खदिर का उपयोग भी बहुलता से हुआ है—कुष्ठघ्न योगों में खदिर बहुशः प्रयोग आया है। खदिर का स्वतंत्र प्रयोग करना हो तो खदिर की छाल का ष्वाथ बनाकर देना चाहिये। अथवा कत्थे को २ माशा पानी में खोलाकर पीना चाहिये। श्वित्र कुष्ठ में कत्थे का घोल उत्तम लाभ दिखलाता है। खदिर के योगों में खदिरारिष्ट का उपयोग उत्तम रहता है—इसके योग का उल्लेख आगे किया जा रहा है।

६. गुडूची—गुडूची का स्वरस २ तोले या यथावल मात्रा में नित्य लेकर सेवन करने से तथा आहार में मूँग की दाल और पुराने चावल का भात खाने से कुष्ठ रोग से मुक्ति होती है।^२

१ अवलगुजावीजकर्पं पीत्वा कोष्णेन वारिणा ।

भोजन सर्पिषा कार्यं सर्वकुष्ठविनाशनम् ॥

२ छिन्नाया स्वरसो वापि सेव्यमानं यथावलम् ।

जीर्णं घृतेन भुञ्जीत मुद्गयूपीदनेन च ॥

अपि पूतिशरीरोऽपि दिव्यरूपी भवेन्नर ।

७. निम्ब—निम्ब एक उत्तम रक्तशोधक ओषधि है। इसके पंचाङ्ग का चूर्ण बना लेना चाहिये। इस चूर्ण के ६ माशे का ६ माशे हरीतकी चूर्ण या ६ माशे आंवले के चूर्ण के साथ सेवन करने से उत्तम लाभ होता है। कुष्ठ के प्रारंभिक अवस्था में एक मास के प्रयोग से रोगी को बहुत लाभ होता है। निम्ब के कई योग पंचनिम्बचूर्ण, निम्बादिचूर्ण, बृहत् पंचनिम्बादिचूर्ण प्रभृति योगों का उल्लेख आगे किया जा रहा है—इनका प्रयोग भी किया जा सकता है।

८. गोमूत्र—सर्व प्रकार के कुष्ठ रोगों में गोमूत्र एक परमौषधि है। इसका उपयोग प्रातः काल में खाली पेट पर एक छटाँक की मात्रा में कुष्ठों की प्रतिदिन करना उत्तम रहता है। इस गोमूत्र के साथ हरीतकी चूर्ण ६ माशे का उपयोग किया जाय तो सफलता और उत्तम मिलती है। अर्थात् उससे निश्चय ही कुछ अच्छा होता है। लम्बे समय तक प्रयोग की आवश्यकता होती है। कुष्ठ रोग में गोमूत्र से स्नान और प्रक्षालन भी उत्तम रहता है।^१

९ तुवरक—(चालमोगरा) इसका दूसरा नाम कुष्ठवैरी भी है, जिसका अर्थ होता है कुष्ठ रोग का शत्रु। इसके चूर्ण एवं तैल का अन्तः प्रयोग तथा बाह्य प्रयोग कुष्ठ में उत्तम कार्य करता है। आधुनिक चिकित्सा में भी कुष्ठ रोग में 'चालमोगरा' तथा 'हिडनोकार्पस' के तैल का सूचीवेध के द्वारा उपयोग उत्तम लाभप्रद प्रमाणित हुआ है। तुवरकाद्य तैल नामक एक योग का, बहुलता से विभिन्न त्वक् रोग तथा कुष्ठ में व्यवहार वैद्यक में होता है—इसमें तुवरक तैल २ भाग, वाकुची तैल २ भाग तथा चंदन का तैल १ भाग की मात्रा में मिश्रित रहता है—इसका स्थानिक प्रयोग अम्भ्यग रूप में होता है। तुवरक तैल में गंधक एवं मोम मिलाकर त्वचा पर लेप करने से कुष्ठजन्य चर्म दोष में सुधार होता है।

तुवरक तैल का मुख से प्रयोग की विधि—शुद्ध तुवरक तैल का ५ बूँद की मात्रा में १ तोला मक्खन या दूध की साड़ी में रखकर दिन में दो बार देना प्रारंभ करना चाहिये। प्रति चौथे दिन ५ बूँद की मात्रा बढ़ावे। रोगी जितनी मात्रा सहन कर सके, उतनी बढ़ावे। जब मात्रा सहन नहीं होती, तो जी मिचलाने लगता है और वमन भी हो जाता है। जब ऐसा लक्षण होने लगे तो मात्रा घटा देनी चाहिए। रोगी को स्नान करा के इस तैल का अम्भ्यग भी कराना चाहिये। अधिक से अधिक मात्रा, जिसे रोगी सहन कर सके उतनी मात्रा, छ मास तक या जब तक रोगी रोगमुक्त न हो जाय तब तक देता रहे।

१ कुष्ठाना विनिवृत्तौ च गोमूत्रं परमौषधम्।

अभयासहितं तद्धि घृत्तुं सिद्धिप्रदं मतम् ॥

तैल के सेवन-काल में पथ्य—यदि रोगी केवल गाय के दूध, मोसम्मी, मीठा नीबू, अनार, सेव, केला, मीठा अंगूर आदि मीठे फलों पर रहकर उपयोग करे तो लाभ विशेष एवं शीघ्र होता है। यदि हम पथ्य पर न रह सके तो उसे पुराने चावल का भात, जौ-गेहूँ की रोटी, घृत और दूध के साथ खावे। अम्ल, लवण, चटपटे और गरम मसालेदार भोजनों का वर्जन करे।

नव प्रकार के महाकुष्ठों में इसके लगाने और खाने से बड़ा लाभ होता है। इस तैल में कपड़ा भिगोकर व्रण पर बांधने से व्रण शीघ्र भरते हैं।

१० भल्लातक—गुद्द मिलावे का उपयोग भी कुष्ठ में उत्तम पाया गया है। इसके कई योग जैसे 'अमृत भल्लातक'; 'भल्लातक गुद्द' आदि बड़े प्रसिद्ध और उत्तम योग हैं, जिनके प्रयोग से कठिन रोगियों में लाभ पहुँचता है। चक्रदत्त का—

मम्लसमयोग—काली तिल, त्रिकटा, त्रिकटु, घृत, मधु, एव गर्करा प्रत्येक १ भाग। साज्जा ३-६ मासे। इसके सेवन काल में किसी पथ्य की आवश्यकता नहीं रहती है। यह रसायन है, कुष्ठ में उत्तम लाभ करता है।

११. सुधोदक—चूने के पानी का ३० से ६० बूँद तक पिलाना भी उत्तम रहता है विक्षेपत. कुष्ठ प्रतिक्रिया (Lepra reactions) में। आधुनिक चिकित्सा में कुष्ठ प्रतिक्रिया 'कैल्शियम्' का मुख या सूचीवेध के द्वारा प्रयोग उत्तम पाया गया है।^१

१२ किरात—चिरायते का पानी या काढ़ा भी रक्तशोधक होता है।

१३ गोरख मुरण्डो—का उपयोग भी रक्तशोधन में हिम या अर्क के रूप में करना श्रेष्ठ है।

१४ पाताल गूडी का स्वरम पीना तथा पत्तियों का वायु लेप।

— १५ काष्ठोदुम्बर—शास्त्र में कठगूलर को भी कुष्ठघ्न बताया गया है। इसके कई छोटे योग उत्तम लाभप्रद होते हैं जैसे—गूलर तथा बहेरे की जड़ की छाल समभाग में लेकर कुल २ तोले का बवाय बनाकर उसमें बाकुची का चूर्ण ४ रत्ती मिलाकर पिलाना। विक्षेपत. श्वित्रकुष्ठ में लाभप्रद रहता है।

— कुष्ठारि योग—कठगूलर, भार्गी, बला, नागबला और अतिबला सबको सम प्रमाण लेकर चूर्ण बना ले। साज्जा ३-६ मासे। मधु से सेवन। गलित, पूय एवं कीट युक्त कुष्ठ में एक मान के उपयोग से पर्याप्त लाभ होता है।^२

१. सुधोदकञ्च कुष्ठघ्नं त्रिषाद्विबन्धुमितेन हि। (भै. र.)

२. काष्ठोदुम्बरिकाचूर्णं ब्रह्मदण्डी बलात्रयम्।

प्रत्यहं मधुना लीढं वातरक्तापहं नृणाम्॥

चरद्वन चलन्मासं मासमात्रेण नर्वया।

गलत्पूय पतत्कीटं त्रिटङ्कं सेव्यमीरितम्॥

कुष्ठनाशक रस—कठगूलर, करंज के पत्र, हरड, शिरीष की छाल और बहेडा, सम प्रमाण में लेकर चूर्ण बना ले। इसका चूर्ण ३ मासे, मुनक्का १ तोला, शुद्ध टंकण १ माशा और गोमूत्र २½ तोला। अलोडित कर (मथकर) फेन उठने पर पीये। एक सप्ताह के उपयोग से सप्त धातु तक प्रविष्ट महाकुष्ठो में भी पर्याप्त लाभ होता है।^१

१२ शुद्ध गंधक—दूध में या मट्टे में शुद्ध किये गंधक का ४ रत्ती से एक माशा की मात्रा में घी और चीनी के साथ प्रयोग उत्तम रहता है। इसके दो योग उत्तम हैं।

१ सौगंधिक चूर्ण—शुद्ध गंधक १ भाग, काली मरिच १ भाग, त्रिफला ६ भाग और अमलाश की गुद्दी ६ भाग मिश्रित करके बनाया चूर्ण ३ मासे। अनुपान जल से।

२ गंधक रसायन-निर्माण-विधि—गाय के दूध से तीन बार शुद्ध किया गंधक ६४ तोले ले, उसको पत्थर के खरल में डालकर, दालचीनी, तेजपात, छोटी इलायची और नागकेसर इनमें प्रत्येक के कपड़छन चूर्ण को रात में द्विगुण जल में भिगो सवेरे हाथ से मसलकर कपड़े से छाने हुए जल से, ताजी गिलोय के स्वरस से, हरे और बहेडे के क्वाथ से, आंवला, भांगरा और अदरक इनमें प्रत्येक के स्वरस से आठ आठ दिनों तक मर्दन करे। अर्थात् प्रत्येक के जल, क्वाथ या स्वरस में आठ-आठ दिनों तक भावना दे। कुल ८० भावना दे। प्रत्येक भावना में ३-६ घंटा तक मर्दन करके छाया में सुखाने के बाद दूसरी भावना दे। अन्त में सुखाकर समान भाग मिश्री मिलाकर सुखाकर शीशी में भर ले।

मात्रा और अनुपान—४-८ रत्ती की मात्रा में सुबह-शाम घृत के साथ, दूध से, मजिष्ठादि कषाय से या सारिवादि हिम के साथ सेवन करावे। सभी प्रकार के कुष्ठ रोग में लाभप्रद।

१७ हरताल—शुद्ध हरताल, रसमाणिक्य, तालकेश्वर, महातालकेश्वर आदि का उपयोग भी जिसमें हरताल प्रमुख भाग में पाया जाता है, उत्तम रहता है।

१ चिरविल्वपत्रपथ्याशिरोपञ्च विभीतकम्।

काण्ठोदुम्भरिकामूल मूत्रैरालोड्य फेनितम्॥

कर्पमात्र पिवेद्रोगी गोस्तन्या सह टंकणम्।

सप्तसप्तकपर्यन्त सर्वकुष्ठविनाशनम्। (र. सा. सं.)

योग :-

० मद्यन्त्यादि चूर्ण—छाया मे सुखाये मेंहदी के बीज या पत्ती का चूर्ण २ भाग और भृंगराज के स्वरस में शुद्ध किये गन्धक का १ भाग । दोनों को तीन घण्टे तक मर्दन करके शीशी में भर ले । मात्रा १-२ मासे, जल या सारिवादिहिम के अनुपान से । कण्डु, पामा, फोडे-फुन्सी मे इसका उपयोग उत्तम रहता है ।

सारिवादि हिम—अनन्तमूल, उषवा, चोपचीनी, मजीठ, गिलोय, धमासा, रक्तचंदन, गुलबनप्ता, खस, गोरखमुण्डी, शाहतारा, कमल के फूल, गुलाब के फूल, गन्नाहुली प्रत्येक समभाग में लेकर चूर्ण करके रख ले । इसमें १ तोले चूर्ण को रात में छ तोले गर्म जल में मिट्टी या काँच के पात्र में भिगो दे । सवेरे हाथ से मसलकर कपड़े से छानकर पीने को दे । फिर उसी वर्त्तन मे सुबह ५ तोला गर्म जल डालकर रख छोड़े । उसको शाम को मसलकर कपड़े से छान कर पीने को दे ।

उपयोग—सब प्रकार के रक्तविकार, कण्डु, पामा, हाथ-पाँव के जलन, जीर्ण ज्वर, अम्लपित्त, रक्त एवं पित्त के विकारो में लाभप्रद रहता है । (नि यो सं.)

मंजिष्ठादि काथ (लघु)^१—मजीठ, हरड, बहेरा, आँवला, कुटकी, वच, देवदारु, हरिद्रा और निम्ब की छाल इनमे प्रत्येक १ तोला, लेकिन हरीतकी २ तोला ले । जीकुट करके २ तोले द्रव्य को ३२ तोले पानी में खीलाकर ४ तोले घेप रहने पर मधु मिलाकर सेवन करे । मंजिष्ठादि क्वाथ नाम से कई पाठो का संग्रह पाया जाता है जैसे लघु, मध्यम तथा महा । यहाँ पर लघु एव महा मजिष्ठादि क्वाथ का वर्णन दिया जा रहा है ।

महामंजिष्ठादि या बृहद् मंजिष्ठादि क्वाथ—मजीठ, नागरमोथा, कुटज, गिलोय, कूठ, सोठ, भारंगी, छोटी कटेरी, वच, नीम की छाल, हल्दी, दारुहल्दी, पटोल, कुटकी, मूवा, वायविडङ्ग, विजयसार, शाल, गतावर, त्रायमाण, गोरखमुण्डी, इन्द्रजी, अडूमा, भृंगराज, देवदारु, पादल, खैर, रक्तचंदन, निशोथ, वरुण की छाल, चिरायता, वावची, धमल्लाश, वकायन की छाल, करज, अतीस, खस, इन्द्रायण की जड़, धमासा, अनन्तमूल, पित्तपापडा सब समभाग । उपर्युक्त के अनुमार मात्रा निर्माण एवं सेवन विधि ।

१. मजिष्ठा त्रिफला तिक्ता वचा दारु निशाऽभया ।

निम्बश्चैव कृत. क्वाथ सर्वकुष्ठं विनाशयेत् ॥

पंचनिम्ब चूर्ण—निम्ब के पत्र, जड़, छाल, पुष्प और फल इन्हे सम प्रमाण में लेकर महीन कपडछान चूर्ण बनावे । मात्रा ३ मासे । अनुपान—घृत, गाय का दूध, आवले का स्वरस या जल के साथ ।

खदिरारिष्ट—खैर की लकड़ी का बुरादा २०० तोले, देवदारु २०० तोले, वावची ४८ तोले, दारुहल्दी १०० तोले, हर्रे, बहेरा और आवला मिलाकर ८० तोले । इन्हें सब को जोकुट कर ८१९२ तोले जल में पका कर १०२४ तोले जल शेष रहने पर कपडे से छान ले । पीछे उसमें शहद ४०० तोले, चीनी ४०० तोले, धात के फूल अस्सी तोले, कवावचीनी, नागकेशर, जायफल, लौंग, छोटी इलायची, दालचीनी, तेजपात प्रत्येक ४-४ तोले और अनन्तमूल ३२ तोले इनका कपडछान चूर्ण मिला कर किसी पेचदार चीनी मिट्टी के वर्तन या मिट्टी के भाण्ड में या सागौन की लकड़ी के पीपे में मुँह बन्द करके एक मास तक पड़ा रहने दे । १ मास के बाद छानकर शीशियों में भर ले । मात्रा २ तोले से ४ तोले बराबर पानी मिलाकर ।

कुष्ठ मे घृत-प्रयोग—कुष्ठ रोग में घृतों के प्रयोग से उत्तम लाभ होता है । तिक्त घृत, महातिक्त घृत, पचतिक्त घृत, महाखदिर घृत आदि श्रेष्ठ योग है । इनमें कुछ, पर उत्तम घृतों का योग नीचे दिया जा रहा है—

महातिक्त घृत (चरक)—छतिवन, अतीस, अमलताश, कुटकी, पाद, नागरमोथा, खस, हर्रे, बहेरा, आवला, परवल की पत्ती, नीम, पित्तपापड़ा, धमासा, बन्दन, छोटीपीपल, पद्माग्व, हल्दी, दारुहल्दी, वच, इन्द्रायण की जड़, शतावर, अनन्तमूल, अडूसा, कुटज की छाल, जवासा, मूर्वा, गिलोय, चिरायता, मुलैठी, और त्रायमाण प्रत्येक १-१ तोला लेकर कपडछान चूर्ण बनाकर पानी से पीस कर कल्क बनावे पश्चात् उसमें घी १२८ तोले, जल १०२४ तोले और आवले का रस २५६ तोले मिलाकर घृत का मद आच पर पाक करे । तैयार होने पर कपडे से छानकर काच के बरतन में भर ले । मात्रा १ तोला, प्रातः समय ।

पंचतिक्त घृत—निम्ब की छाल, पटोलपत्र, कटकारी पंचाङ्ग, गिलोय, एव अडूसे को प्रत्येक ४० तोले लेकर १६ सेर जल में पकावे । ४ सेर क्वाथ के शेष रहने पर उसमें घी १ सेर और त्रिफला कल्क २० तोले भर मिला कर पकावे ।

सोमराजी घृत—खदिर ८ पल, बाकुची २ पल, त्रिफला, नीम, देवदारु, दारुहरिद्रा, पित्तपापड़ा १-१ पल, कटकारी २ पल । इन द्रव्यों को जो कुट कर के चतुर्गुण जल में पका कर चौथाई शेष रहने पर उतार कर छानले । फिर बाकुची ४ पल, खदिर की छाल १ पल, परवल की जड़, हरड, बहेरा, आवला,

त्रायमाणा, जवासा, कुटकी १-१ तोला और शुद्ध गुग्गुलु का चूर्ण ८ तोला लेकर पानी में पीस कर कल्क बनावे। इस कल्क से चतुर्गुण (२। सेर) गोघृत लेकर घृतपाक विधि से पाक करे। यह योग कुष्ठ की परमौपधि है। मात्रा ६ माशे से १ तोला।

पंचतिक्त घृत गुग्गुलु—नीम की छाल, गिलोय, अडूसा पचाङ्ग, पटोल पत्र और कंटकारी की जड़ प्रत्येक ८ तोला लेकर ३२ सेर जल में क्वथित करे ४ सेर शेष रहने पर उतारे। फिर उसमें शुद्ध गुग्गुलु २४ तोले और गोघृत १ सेर लेकर मंद आच पर पकावे। जब पाक समीप आवे तो निम्नलिखित द्रव्यों का कल्क छोड़े और पाक करता चले। कल्क द्रव्य—पाठा वायविडङ्ग देवदारु, गजपोपल, सज्जीखार, यवक्षार, सोठ, हल्दी, सौंफ, कूट, तेजवल, काली मिर्च, इन्द्रजौ, जीरा, चित्रक की छाल, कुटकी, शुद्ध भल्लातक, बचा, पीपरामूल, मंजिष्ठा, अतोस, हरड, वहेरा, आवला और अजवायन प्रत्येक १-१ तोला पाक के मिद्ध हो जाने पर कपड़े से छान कर रख ले। मात्रा ६ माशे से १ तोला।

यह योग परम रक्तशोधक है। बहुविध रोगों में व्यवहृत होता है। उत्तम रक्त-शोधक है। कुष्ठ रोग में लाभप्रद है। गुग्गुलु के और कई योग जैसे एकविंशतिक गुग्गुलु तथा अमृताद्य गुग्गुलु भी कुष्ठ रोग में उपयोगी हैं।

अमृतभल्लातक—इस योग का पाठ वातरोगाधिकार में हो चुका है। यह एक उत्तम रसायन है। वात रोगों तथा कुष्ठ रोगों में इस प्रयोग से उत्तम लाभ होता है। कुष्ठ रोग की चिकित्सा में अमृत भल्लातक की प्रशंसा करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है 'किं जिम मनुष्य के कान, अंगुलियाँ, नासिका ये कुष्ठ के कारण गलकर गिर गये हों, मारा शरीर कुष्ठ कृमियों से व्याप्त हो रहा हो, गला विकृत हो गया हो, वह मनुष्य भी इस औषध-सेवन के प्रभाव से क्रमशः धीरे-धीरे जलवृष्टि से जैसे अंकुर और शाखायें निकलकर धीरे-धीरे पूरा वृक्ष बन जाता है, उसी तरह नष्ट हुए अंग-प्रत्यंग पुनः विकसित होकर पूर्ण शरीर युक्त हो जाते हैं।' १

वातवीर्य योग :-

तालकेश्वर रस—शुद्ध पत्र हरताल ४ तोले लेकर खरल में पीसकर चक्रमर्द म्वग्ग और गरपुष्पा के क्वाथ के साथ तीन-तीन घण्टे तक घोटकर चन्त्रिकायें बनावे, उन्हें मुग्गाकर एक हडिजा में रखकर ऊपर-नीचे पलाश की राख

१. विशीर्णकृर्णाद्भुलिनामिकोऽपि क्रिम्यदितो भिन्नगलोऽपि कुष्ठो।

सोऽपि क्रमादद्दृरिताग्रशाखस्तर्न्यया भाति नभोऽम्बुसिक्तः ॥ (भै. र.)

भरकर अग्नि पर चढ़ाकर चौबीस घण्टे तक पाक करे। फिर इन टिकियों को निकालकर चक्रमर्द तथा शरपुंखा क्वाथ से घोटकर पुटपाक देना चाहिये। जब भस्म श्वेतवर्ण की हो जावे तथा उसके थोड़े से भाग को प्रदीप्त अंगार पर रखने से धुँवा न निकले तब अच्छी प्रकार से मृत भस्म जान कर पुट देना बन्द कर देना चाहिये। मात्रा $\frac{1}{4}$ रत्ती से $\frac{1}{2}$ रत्ती तक। अनुपान घी एवं मिश्री। उपयोग बहुत प्रकार के कुष्ठ, रक्तदुष्टि, शीतपित्त और गलत् कुष्ठ में लाभप्रद।

रसमाणिक्य—पत्रताल हरताल को लेकर उसे कुष्माण्ड स्वरस, दही के पानी और काजी में पृथक्-पृथक् दोलायत्र विधि से नौ-नौ घण्टे तक, तीन-तीन दिनो तक स्वेदन करे। फिर उसको सुखाकर चावल के बराबर के टुकड़े कर ले। अब इन टुकड़ों को एक मिट्टी के पात्र में या शराव-सम्पुट में एक श्वेतपत्र अन्नक पत्र रखे, उस पर उन हरताल के टुकड़ों को रखकर ऊपर से दूसरे श्वेत अन्नक पत्र से ढँककर पात्र के मुखपर एक सकोरा रखकर दोनों का मुख बन्द कर ले। बेर की पत्ती के कल्क से दोनों सकोरों के संधिस्थल के मुख को पूर्ण-तया बन्द कर देना चाहिये। फिर अग्नि में रख कर पाक करे। जब पात्र के नीचे का भाग लाल रंग का हो जाय तो अग्नि देना बन्द करके, शीतल हो जाने पर माणिक्य के समान आभावाले रस को बाहर निकाल कर शीशी में रख ले। मात्रा $\frac{1}{4}$ रत्ती से १ रत्ती। गुडूची सत्त्व १ माणा, घी और मिश्री के अनुपान से दिन में दो बार सुबह-शाम।

हरताल के योगों के, लम्बे समय तक, १ वर्ष या दो वर्ष तक भी, उपयोग की आवश्यकता महाकुष्ठों में पड़ती है। कई बार इनके प्रयोग-काल में रोगी में रोग की प्रतिक्रिया होकर चकत्ते अधिक लाल रंग के और स्पष्ट हो जाते हैं। ऐसी दशा में कुछ दिनो तक औषधि का सेवन बन्द कराके प्रवाल पिष्टि ४ रत्ती प्रतिदिन देना चाहिये। फिर रसमाणिक्य का प्रयोग चालू करना चाहिये।

ब्रह्मरस—रम सिन्दूर १ तोला, शुद्ध गंधक, चित्रक मूल की छाल, वाकुची बीज, ढाक बीज प्रत्येक १२-१२ तोले तथा पुराना गुड ३० तोला, एकत्र शहद के साथ खरल करके ४-४ रत्तों की गोलियाँ बना ले। १-१ गोली दिन में तीन बार पातालगरुडी के काढ़े के साथ सेवन।

गलत्कुष्ठारिरस—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, ताम्र भस्म, लौह भस्म, शुद्ध गुग्गुलु, चित्रक मूल, शुद्ध शिलाजीत, शुद्ध कुपीलु और त्रिफला प्रत्येक १-१ तोला, अन्नक भस्म एवं करंज बीज का चूर्ण प्रत्येक ४-४ तोले। घृत और मधु से घोट कर १ माशे की गोलियाँ बनावे। मंजिष्ठादि क्वाथ के अनुपान से

औपधि का प्रयोग करे, चावल के भात और दूध का पथ्य रखे । इस प्रयोग से गलत्कुष्ठ ऐसे कोढी, जिनके आँख, कान, नाक और अंगुलि गल रहे हो, उनमें भी लाभ होता है ।

सर्वेश्वर रस—शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गंधक ४ भाग । एक प्रहर तक मर्दन करके कज्जली करे । फिर उसमें ताम्र भस्म, लौह भस्म, अभ्रभस्म, शुद्ध-हिंगुल ४-४ तोले, स्वर्ण-भस्म, रजत भस्म २॥-२॥ तोले, हीरक भस्म १ माशा, शुद्ध हरताल १० तोले । जम्बीरी नीबू, धतूर की पत्ती, यूहर की पत्ती, अर्क-पत्र प्रत्येक के स्वरस तथा शुद्ध कुचिला और कनेर के क्वाथ से पृथक्-पृथक् एक-एक दिन तक खरल करे । इस तरह एक सप्ताह तक घोटने के बाद गोली बनाकर चीपहे वस्त्र में आवेष्टित करके कपड़मिट्टी कर वालुका यत्र में रख मृदु अग्नि से तीन दिनों तक पाक करे । पश्चात् शीतल होने पर खूब महीन खरल करके उसमें शुद्ध वत्मनाभ विष का चूर्ण ५ तोला तथा पिप्पली चूर्ण १० तोला मिलाकर महीन पीस कर शीशी में भर दे । मात्रा २ रत्ती । अनुपान वाकूची और देवदारु चूर्ण १॥-१॥ माशे और एरण्ड तैल १ तोला । इसके प्रयोग से सुप्त और मण्डल कुष्ठ में लाभ होता है ।

आरोग्यवर्धिनी—शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गंधक १ भाग, लौह भस्म १ भाग, अभ्र भस्म १ भाग, ताम्र भस्म १ भाग, बड़ी हरड़ का दल २ भाग, आँवला २ भाग, बहेडा २ भाग, गिलाजीत ३ भाग, शुद्ध गुग्गुलु ४ भाग, चित्रक मूल की छाल ४ भाग और कुटकी २२ भाग ले । प्रथम पारद और गंधक को कज्जली करके उसमें शेष द्रव्यों का कपडछान चूर्ण मिलावे । पीछे गुग्गुलु को नीम की ताजी पत्ती के स्वरस में ६ घंटा तक भिगो कर मसलकर कपड़े से छान कर उसमें अन्य द्रव्यों को मिला ले । फिर नीम की ताजी पत्ती के रस में तीन दिनों तक मर्दन करके तीन-तीन रत्ती की गोलियाँ बना ले ।

मात्रा १ से ३ गोली ।

अनुपान—रोगानुसार जल, दूध, पुनर्नवा कपाय, दशमूल कपाय अथवा मूत्रल कपाय से ।

गुण तथा उपयोग—बहुत प्रकार के रोगों में इस योग का व्यवहार होता है । जैसे, जीर्ण विवध (पुरानी कब्ज), यकृत दोष, उदर, यकृत-प्लीहा-वृद्धि, सर्वांग शोफ, जलोदर, मेदो रोग आदि । यह उत्तम रक्तशोधक औषधि है । अस्तु, कुछ रोगों में या त्यक्त रोगों में इसका व्यवहार होता है । हृद्य होने से हृद-विकारों में भी लाभप्रद होती है । यह एक मूत्रल औषधि के रूप में सर्वांग शोफ एवं जलोदर में भी उपकारक है ।

कुष्ठ में बाह्य प्रयोग—जैसा कि पूर्व में उल्लेख हो चुका है—कुष्ठ रोग में बहुत से त्वग्गत रोगों का समावेश हो जाता है—इन त्वचा के विकारों में कई प्रकार के लेप एवं तैलों का उपयोग किया जाता है। कुष्ठ में त्वचागत दोषों को लेपों के द्वारा दूर करने के पूर्व दूषित रक्त का निर्हरण तथा आशयों का संशोधन भी अपेक्षित रहता है। तो भी जल्दी सफलता मिलती है।^१

लेप :-

दद्रु-रकसा-विचर्चिका-कच्छु आदि में व्यवहृत होने वाले लेप—
(Ringworm & Eczema) में—

कठजामुन की छाल दही के साथ पीसकर लेप।

मनःशिलादिलेप—मैन्शिल, हरताल, काली मिर्च, इनमें प्रत्येक का १-१ तोला लेकर चूर्णित करके सरसों का तेल ४ तोला और अर्क क्षीर २ तोला मिलाकर खरल करके लेप बना ले। इस लेप से पुराने त्वक् रोगों में भी उत्तम लाभ होता है।^२

करञ्जादि लेप—करंज के बीज, चक्रमर्द के बीज तथा कूठ इनको पीसकर गोमूत्र मिलाकर लेप।^३

आरग्वधादि लेप—रोगी के शरीर पर प्रथम सरसों के तेल का अभ्यंग करावे पश्चात् अमलताश, मकोय और कनेर के पत्तों को छाल के साथ पीसकर उबटन लगावे। विविध प्रकार के त्वक् विकारों में उत्तम लाभ करता है।^४

भल्लातकादि लेप—मिलावे का फल, चित्रक मूल, थूहर की जड़, आक की जड़, गुग्गुला का मूल या फल, सोठ, मरिच, पिप्पली, शख भस्म, नीला थोथा, कूठ, पाचो लवण, सर्जिहार, यवक्षार तथा कलिहारी इन सब द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर महीन चूर्ण बना कर कड़ाही में चढ़ाकर चौगुने थूहर या अर्क-क्षीर के साथ पाक कर लेना चाहिये। यह तीव्र क्षणन क्रिया करने वाला योग (Causticaction) है। इसका उपयोग लोहे की शलाका से सीमित स्थान पर करना चाहिए। इसका प्रयोग कुष्ठ के मण्डल (मोटे चकत्ते), अर्श के मस्से या चर्मकील पर करना चाहिये।

१ ये लेपा कुष्ठाना युज्यन्ते निर्गतास्रदोषाणाम्।

संशोधिताशयाना सद्य सिद्धिर्भवेत्तेषाम्॥

२ मनःशिलाले मरिचानि तैलमाकं पय कुष्ठहर प्रदेह।

३ करंजबीजैडगज. सकुष्ठ गोमूत्रपिष्टश्च वर. प्रदेह.।

४ पर्णानि पिष्ट्वा चतुरगुलस्य तक्त्रेण पर्णान्यथ काकमाच्याः।

तैलाक्तगात्रस्य नरस्य कुष्ठान्युद्वर्त्तयेदश्वहनच्छदैश्च ॥ (च)

कुक्करीधा १ भाग, नरमो का तेल ४ भाग, जल ८ भाग । तैल पाक विधि से पका ले । इसका अम्यंग विचचिका में सिद्धयोग है ।

दद्रु में लेप—चक्रमर्दादि लेप—चक्रमर्द का बीज, कासमर्द बीज या मूल, तुलसी पत्र, वायविडंग, कूठ, हरिद्रा, हरीतकी, ध्वेत सरसो, महजन की छाल, हर्वा, शाल की गोद और कपूर सम मात्रा में लेकर काजी में पीसकर गोली बनावे । नीबू के रस के साथ गोली को लगावे । प्राचीन ग्रन्थों में चक्रमर्द बीज का दाद में बहुत उपयोग पाया जाता है—इसका दूसरा नाम ही दद्रुघ्न वतलाया गया है ।

दद्रुघ्नवटी—पारसीकयवानी (खुरासानी अजवायन), गन्धक, टंकण, राल एवं कपूर समान भाग लेकर काजी में पीस कर गोली बना ले । नीबू के रस में घिस कर दद्रुमण्डल पर लगावे ।

पामा में लेप—

रन्मादि लेप—पारा, जीरा (मफेद एवं काला दोनों), हल्दी, आमाल्दी, जाली मिर्च, सिन्दूर, गंधक और मेनजिल सम भाग । प्रथम पारद एवं गंधक को कण्जली बना ले पश्चात् अन्य द्रव्यों के महीन चूर्णों को मिलाकर मली प्रकार से खरल कर ले । इस चूर्ण को घृत में मिलाकर पूरे शरीर में यदि खुजली हो तो मालिश करे । पश्चात् साबुन से स्नान कर ले । घी के अभाव में नारिकेल तैल में भी मिलाकर लेप किया जा सकता है । यह एक पामा में व्यवहृत होने वाला उत्तम और निष्ठ योग है । इसमें नूनी और गोली दोनों प्रकार की खुजली या खारियो में लाभ होता है । तीन दिनों के उपयोग से खुजली दूर हो जाती है ।^१ इस योग में यदि दद्रुघ्न बीज का चूर्ण भी १ भाग मिला लिया जावे तो सभी प्रकार के काट्युक्त त्वचा के रोगों में जैसे दद्रु, विचचिका प्रभृति रोगों में भी उत्तम लाभ देखा जाता है ।

गंधक द्रव—गंधक १ भाग, चूने की कली १ भाग और जल १६ भाग ।

सिध्म या सेहुंवा में लेप—१. अपानार्ग के स्वरस, गोमूत्र, मट्ठे या काजी के साथ मूली के बीज को पीसकर लेप करना, २. हृत्दी को केले के रस से भिगो कर एक मष्ठाद तत्र छूटने दे, फिर उसे केले के रस में पीने और लेप करे । ३. जलमर्द बीज, मूला के बीज, गन्धक, यवलाग, इन द्रव्यों को चूर्ण करके कटुवे

१. रन्मादिजीरनिशामरीचसिन्दूरदैत्येन्द्रमनःशिलानाम् ।

चूर्णाद्वताना घृतमिश्रिताना त्रिभिः प्रलेपैरपयाति पामा । (वै. जी.)

तेल में मिलाकर लेप करना । ४ कूठ, मूली के बीज, प्रियङ्गु, सरसो, हल्दी इन द्रव्यों को समभाग में लेकर चूर्ण करे, उसमें छठाँ भाग केशर मिलावे, फिर काजी, गोमूत्र या तक्र के साथ पीस कर लेप करने से बहुत वर्ष के सिध्म में भी लाभ होता है । ५ आंवला, राल और यवक्षार को काजी में पीस कर उबटन करना । ६ अमलताश की पत्ती को काजी के साथ पीसकर लगाना । ७ मूली का बीज, सफेद सरसो, नीम की पत्ती और गृहधूम समभाग में लेकर पानी से पीसकर मक्खन मिलाकर पूरे शरीर पर लगावे फिर गर्म जल से स्नान करे तो तीन दिनों में सिध्म (सेंहुवा) दूर होता है ।^१

८. कपास की पत्ती, काकजघा और मूली के बीज को मट्ठे से पीसकर मगल के दिन उबटन लगाने से सिध्म शीघ्र दूर होता है ।^२

कच्छु-काछ-एक प्रकार की दद्रु या विचर्चिका जो अधिकतर गुह्यागो पर चूतड़, वृषण एवं गुदा प्रभृति उपागो में होता है । वृषणकच्छु (Scatol Ecrsymba) एक प्रसिद्ध रोग है—जो प्रायः हठी स्वरूप का होता है । है । इसमें दो लेपो का उपयोग उत्तम रहता है—१ बाकुची, कासमर्द के बीज, चक्रमर्द बीज, हल्दी, आमालहदी, संधानमक । समभाग में लेकर चूर्ण बनाकर । मट्ठे या काजी से पीसकर लेप करना । २ अडूसे के कोमल पत्ती और हल्दी को लेकर गोमूत्र में पीस कर लेप करना ।

कुष्ठ रोग में व्यवहृत होनेवाले तैल—

० अर्क तैल—सरसो का तैल १ सेर, अर्कपत्रस्वरस ४ सेर, मन शिला तथा हल्दी को सम मात्रा में लेकर पीसकर ५। कल्क से यथाविधि तैल सिद्ध कर ले । यह खुजली में लाभप्रद रहता है ।

करवीर तैल—श्वेत करवीर (श्वेत कनेर) की जड़ का क्वाथ तथा गोमूत्र ४-४ सेर, वायविडङ्ग और चित्रक की छाल २-२ छटाँक, तिल तैल १ सेर । यथाविधि पाक करके अम्यग । सभी प्रकार त्वक् रोगों में उपयोग ।

कृष्ण सर्प तैल—कृष्ण सर्प वसा को सोमराजी तैल में मिलाकर लगाने से गलत् कुष्ठ में लाभप्रद होता है ।

१ बीज मूलकज निम्बपत्राणि सितसर्पपान् ।

गृहधूमं च सम्पिष्य जलेनागं प्रलेपयेत् ॥

उद्वर्त्य नवनोतेन क्षालयेदुष्णवारिणा ।

ग्रहादनेन सिध्मानि शाम्यन्त्याशु शरीरिणाम् ॥

२. कार्पासिकापत्रविमिश्रकाकजघाकृतौ मूलकबीजयुक्त ।

तक्रेण लेप क्षितिपुत्रवारे सिध्मानि संधी नेयति प्रणोशम् ॥ (यो. र.)

मरिचादि तैल—काली मिर्च, हरताल, मनःशिला, नागरमोथा, आक का दूध, कनेर की जड़, जटामानी, निशोय, गोवर का स्वरस, इन्द्रायण की जड़, कूठ, हरिद्रा, देवदारु, श्वेतचंदन प्रत्येक २-२ तोले लेकर कटक बनावे। फिर सरसो का तेल १ सेर और गोमूत्र ४ सेर लेकर यथाविधि पाक कर ले। सभी प्रकार के कुष्ठों में इसके अम्यंग से लाभ होता है।

मरिचादि तैल नाम से दो पाठ मिलते हैं। एक लघु जिसका ऊपर में योग दिया गया है। एक बृहत् मरिचादि तैल—जिसमें अधिक औषधियों का योग है। यह वैद्य-परम्परा में व्यवहृत होनेवाला एक व्यापक योग है।

सोमराजी तैल—दो योग इस तैल के भी हैं लघु तथा बृहत्। तैल का पाठ दिया जा रहा है। बाकुची बीज, चक्रमर्द बीज ६१-६१ सेर लेकर जल ३२ सेर जेष ८ मेर पृथक्-पृथक् दोनों का दवाय बनाकर गोमूत्र ४ सेर, सरसो का तेल १ सेर। कल्कार्थ द्रव्य—चित्रक एवं कलिहारी मूल, सोंठ, कूठ, हन्दी, करंजबीज, हरताल, मन शिला, अपरांजिता, आक की जड़, कनेर का जड़, नप्तपर्ण की छाल, गोवर, खदिर की छाल, निम्बपत्र, काली मिर्च और काममर्द के बीज या मूत्र का चूर्ण १-१ कर्प लेकर कल्क बनाकर तैल पाक विधि में पाक कर ले। सभी प्रकार के त्वग्गत रोग तथा कुष्ठ में लाभप्रद।

तुवरकाद्य तैल—केवल चावल भोगरा का तैल अथवा—बाकुची और चन्दन का तेल मिलाकर शरीर पर लगाना उत्तम कुष्ठनाशक उपाय है।^१

श्वेत कुष्ठ चिकित्सा—सफेद कोष्ठ को दूर करने के लिये बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के प्रयोगों की आवश्यकता रहती है। बाह्य प्रयोग में व्यवहृत होने वाले कुछ उत्तम योगों का नीचे संग्रह दिया जा रहा है। श्वित्र को चिकित्सा में बाकुची एक महत्त्व का स्थान रखती है। इसके बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रयोग का विधान ऊपर में बाकुची योग के नाम से बताया जा चुका है। यहाँ कुछ अन्य योगों का उल्लेख किया जा रहा है।

१. गुंजाफलचित्रक लेप—गुंजा के फल और लाल चीते की छाल को समभाग में लेकर गोमूत्र में पीसकर लगाना। २. मनःशिला और अपामार्ग को

१ वैवस्वतद्रुमसमुद्भवबीजतैलं कृष्टापहं निखिलचर्मरुजापहञ्च ।

अभ्यञ्जनं निगदितं ननु वैद्यवन्द्यं भूयोऽनुभूय भुवि रोगिजनेष्वजन्तम् ॥

(भै. र.)

२. कूटवं बाकुचीबीजं (१६ तोला) हरितालपलान्वितम् (४ तोला) ।

गवां मूत्रेण नमिष्य लेपनाच्छिद्रव्रणान्तम् ॥

जलाकर उसकी राख को गोमूत्र में भिगोकर लगाना । ३. सफेद जयन्ती के मूल की छाल को गोमूत्र में पीसकर लगाना । ४. वाकुची बीज और हरताल का महीन चूर्ण बनाकर गोमूत्र से पीसकर लेप करना । ५. गजादि चर्म मसी-हाथी, चीता और शेर के चमड़े को जलाकर काजल बनाकर लेप करना । ६. पूतिकोट को सरसो के तेल में पीसकर लगाना । ७. श्वित्रहर लेप—अर्क मूलत्वक्, हल्दी, आम्रा हल्दी, वाकुची, हरताल समभाग चूर्ण बनाकर गोमूत्र के साथ श्वित्र पर लेप करना । ८. काकनासा की पत्ती के कल्क या स्वरस का लेप । ९. गजलिगड योग—हाथी के मूल को अच्छी तरह सूखने पर जलाकर उसकी राख को जल में घोलकर सात बार निधारकर प्राप्त क्षार जल में जल से दशमांश वाकुची बीज का चूर्ण डालकर अग्नि पर पकावे । चिक्कन होने पर गुटिका बना ले । इस गुटिका को पानी में घिसकर श्वित्र पर लगाने पर श्वित्र नष्ट होता है । और त्वचा सवर्ण हो जाती है । १०. वाकुची तैल—शुद्ध वाकुची के तैल का श्वित्र पर लगाना भी उत्तम लाभ करता है । ११. सोमराजी, पचानन या आरग्ववादि तैल का लेप भी उत्तम रहता है ।

ओष्ठ-श्वित्रहरलेप—ओष्ठश्वित्र कष्टसाध्य होता है । इसके लिये गंधक, चित्रक, कासीस, हरताल, बहेरा और आंवले को जल में पीसकर ओष्ठ के श्वित्र पर लगाने से लाभ होता है ।

श्वित्र में लेप प्रायः तीक्ष्ण होते हैं । फलतः इनके लगाने से कई बार त्वचा पर छाले पड़ जाते हैं । छाले हो जायें तो औषध प्रयोग कुछ दिनों के लिये बन्द कर देना चाहिये । छालो को सूई से विद्ध करके जल को स्रवित करके पुनः लेप का उपयोग करना चाहिये ।

पंचानन तैल—अंकोठ (डेरा), कडवी तरौई, एरण्ड, तुलसी, वाकुची एवं चक्रमर्द के बीज, पिप्पली, मन.शिला, कासीस, हरड, कूठ, वायविडङ्ग को दो-दो तोले लेकर कल्क करे, सरसो का तेल, गोमूत्र, गोदधि, गोदुग्ध, वकरी का मूत्र प्रत्येक १ सेर और जल ४ सेर मिलाकर कड़ाही में अग्नि पर चढ़ाकर पाक करे । इस सिद्ध तैल का श्वित्र में लेप करे । प्रथम श्वित्र स्थान के ताम्र के पैसे में रगड़ ले पश्चात् तैल को लगावे ।

आरग्ववाद्य तैल—अमलताश तथा धव की छाल, कूठ, हरताल, मन.शिला, हरिद्रा, दासुदरिद्रा प्रत्येक तीन-तीन तोले भर कल्क बनावे फिर १ सेर तैल और ४ सेर पानी मिलाकर तैल का पाक कर ले । उपयोग पूर्वोक्त तैलवत् ।

श्वित्रकुष्ठ मे अन्तः प्रयोग की औपध

✓ १ शुद्धगन्धक या गन्धक रसायन ४ रत्ती—१ माशा तक घृत और गकरा के साथ ऊपर से आँवला और खैर का काढ़ा पिलावे । सुबह और शाम दिन मे दो बार । अथवा केवल धात्री और खदिर (आँवले और कत्थे) का काढ़ा में वाकुची बीज १ माशा मिलाकर पिलाना भी श्वित्र में हितकर होता है ।^१

२ वाकुची बीज का खाने में उपयोग—प्रतिदिन १-२ माशा चूर्ण का जल, दूध या गोघृत के साथ लगातार एक पक्ष या मास तक सेवन करना । दूसरे वर्धमान वाकुची सेवन का ऊपर मे उल्लेख हो चुका है । दोनों में जो रोगी को अनुकूल प्रतीत हो उस विधि का प्रयोग करे । इसके प्रयोगकाल में घृत का सेवन रोगी को कराना चाहिये और भोजन में सात्त्विक आहार देना चाहिये ।

२. विभीतक और काष्ठोदुम्बर की छाल का काढ़ा कर उमर्गे वाकुची बीज का प्रलेप करके सेवन ।

श्वेतारिदस—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, हरड़, बहेरा, आँवला, भृङ्गराज, वाकुची, शुद्ध भल्लातक, काली तिल, निम्ब बीज का चूर्ण १-१ तोले । भृङ्गराज स्वरम की भावना देकर ४ रत्ती की गोलियाँ बना ले । मात्रा १-२ गोली दिन मे दो बार । अनुपान ६ माशा घृत एवं ८ माशा मधु ।

४. पंचनिम्ब चूर्ण प्रभृति अन्य भी कुष्ठाधिकार के योगों का सेवन रक्त-शोधन के निमित्त श्वित्र में किया जा सकता है ।

उपसंहार—कुष्ठ एक दीर्घ काल तक चलनेवाला रोग है । इसमें चिकित्सा लम्बे समय तक ६ मास, एक वर्ष, दो वर्ष या अधिक अवधि तक करनी होती है । लम्बी अवधि तक पथ्य एवं औषधि सेवन करते हुए रोगी घबड़ा जाता है । कुष्ठ के रोगियों मे एक विचित्रता और पाई जाती है कि उनके लिये जो पथ्य कर आहार-विहार आदि का उपदेश वैद्य करता है—उसके विपरीत रोगी छिपाकर आचरण करना चाहता है । अस्तु, दृढ़ता-पूर्वक उपचार करने की आवश्यकता रहती है । उसके अतिरिक्त रोगी को सात्त्विक आहार, उदार विचार, परोपकार की प्रवृत्ति तथा देवोपासना को भी आवश्यकता रहती है । कुष्ठाधिकार में वर्णित चिकित्सा का सम्यक्तया अनुपालन करने से कुष्ठ रोग में लाभ निश्चित होता है ।

विपाटिका कुष्ठ—इसको पाददारी (Rhagades) भी कहने हैं । इस रोग में वायु की अधिकता या रुक्षता से हाथ एवं पैर या केवल पैर फट जाता है ।

१. धात्रीनदिरयो. क्वायं पीत्वा च मधुसयुतम् ।

शंखकुन्देन्दुधवलं जयेच्छ्वित्रं न मंगय ॥

यह रोग कई बार सामान्य रूप का और कई बार कुष्ठ के उपद्रव रूप में पाया जाता है । इस अवस्था में निम्नलिखित योगों का लेप उत्तम लाभ दिखलाता है ।

सर्जरसादिलेप—राल, सेंधानमक, गुग्गुलु, गेरू, गुड, घृत, मोम, शहद प्रत्येक एक-एक तोला लेकर कड़ाही में सबको एकत्रित करके पका लेना चाहिये । इस लेप से परो का फटना निश्चित रूप से अच्छा हो जाता है । (भै. र)

जीवन्त्यादि लेप—जीवन्तीमूल, मजीठ, दाहहल्दी और कबीला प्रत्येक का कपडछान चूर्ण ४-४ तोला और नीलाथोथा का चूर्ण १ तोला इन को जल में पीसकर कल्क करे । पीछे उसमें तिल का तेल ३२ तोले, गाय का घी ३२ तोले, गाय का दूध ६४ तोले और पानी २५६ तोले मिलाकर स्नेहपाक-विधि से पकावे । जब स्नेह सिद्ध हो जाय तो उसे उतार-छानकर थोड़ा गर्म करके उसमें राल का चूर्ण ८ तोला और मोम ८ तोला मिला कर कपडे से छानकर काँच के बरतन में भर ले । अथवा उसको एक सौ बार पानी से धोकर काँच या चीनी मिट्टी के पात्र में भर कर और ऊपर चार अंगुल तक ठंडा जल डालकर रख छोड़े । ४-४ दिनों पर ऊपरका जल बदलता रहे । **उपयोग**—विना धोये मल्हम को हाथ-पाँव के तलों के फटने और पाँव की अंगुलियों के बीच के हिस्से में पकने या मडने में लगावे । धोये हुए मल्हम को अग्निदग्ध व्रणों, पामा, कण्डु और अर्श के मस्सों पर लगावे । (सि. यो. सं०)

मधूच्छिष्टादि लेप—मोम, मुलैठी, लोध, राल, मजीठ, श्वेत चंदन और मूर्वा प्रत्येक ४-४ तोले तथा घी ६४ तोले लेवे । प्रथम मुलैठी, लोध, मजीठ, चंदन, राल और मूर्वा इनका कपडछान चूर्ण कर पानी में पीस कर फिर उसमें घी और मोम मिलाकर घृतपाकविधि से पकावे । घृत तैयार होने पर कपडे से छान कर शोशी में भर ले । **उपयोग**—त्वचा के विदार, कुष्ठ, व्रण एवं अग्निदग्ध व्रणों में लेप रूप में उपयोग करे ।

चालीसवाँ अध्याय

शीतपित्त-प्रतिपेध

रोग परिचय—त्वचा पर ततैयो के काटने (वरटीदश) के समान सूजन जो छोटी-छोटी फुन्सी या चकत्ते के रूप में एवं बहुसंख्यक पैदा होती है तथा जिसमें खुजली, सूई चुभाने कीसी पीड़ा, जलन एवं कई बार वमन और ज्वर भी ४१ भि० सि०

होता है, उसे शीतपित्त कहते हैं । इसी को कुछ विद्वान उदर भी कहते हैं । शीतपित्त में कुछ वायु की अधिकता और उदर में कफाधिक्य पाया जाता है ।^१

इसी से मिलता हुआ एक कोठ रोग भी होता है जो हेतु एवं लक्षण की दृष्टि से शीतपित्त या उदर से कुछ भिन्न स्वरूप का होता है । वमन के हीन योग या मिथ्या योग या अति योग से अथवा निकलते हुए कफ एवं अन्न के वेग को धारण करने से इनकी उत्पत्ति होती है । इनमें लाल रंग के बड़े-बड़े अनेक चकत्ते निकलते हैं । ये अल्प काल तक रहते हैं— इनमें पुनरुद्भव की प्रवृत्ति नहीं रहती है । शीतपित्त एवं उदर में बार-बार होने की प्रवृत्ति पाई जाती है ।^२

शीतपित्त एवं उदर का आधुनिक ग्रंथों में (urticaria) नाम से और कोठ रोग का (Angioneurotic) नाम से वर्णन पाया जाता है । ये सभी त्रिदोष रोग हैं । परन्तु जैसा कि नाम से स्पष्ट है ये शीत और पित्त अर्थात् दोनों के प्रभाव से पैदा हो सकते हैं । फलतः इनमें पित्त और श्लेष्म दोषों की प्रधानता रहती है । आधुनिक विद्वान इनकी उत्पत्ति में एक प्रकार की अनूर्जता (Allergy) को कारण मानते हैं, जो किसी असात्म्य द्रव्य के सम्पर्क में आने से या भोजन में सेवन किये जाने (Unsuitable protien or Histamin producing substances) से उत्पन्न होती है । इसमें कई प्रकार के विषों के जैसे सखिया, क्विनीन आदि के सेवन काल में, अथवा कृमिदश के प्रभाव से या आन्त्रगत कृमियों की उपस्थिति से अथवा विकृत मत्स्य, मांस, अण्डा, कई प्रकार के शाक के सेवन से अथवा विविध प्रकार के तृणों के पराग के नाक के सम्पर्क में आने से (Hay fever) शीतपित्त की उत्पत्ति सुसृतया पाई जाती है ।

क्रियाक्रम^३—शीतपित्तादि रोगों में कड़वे तैल का अम्यंग, उष्ण जल से

१ वरटीदशमंस्थान शोफ संजायते वहि ।

सकण्डुतोदबहुलच्छिद्विज्वरविदाहवान् ॥

उदरमिति तं विद्याच्छीतपित्तमथापरे ।

वाताधिकं शीतपित्तमुदरस्तु कफाधिकः ॥

२ मण्डलानि सकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च ।

उत्कोठ सानुवधश्च कोठ इत्यभिधीयते ॥

३. अम्यंगकटुनैलेन सेकश्चोष्णेन वारिणा ।

तथानु वमनं वायं पटोलारिष्टवानकैः ॥

त्रिफलापुष्कृष्णाभिर्विरकश्चात्र शस्यते ।

नपि. पीत्वा म्हातिक्त्त वायं शोणितमोक्षणम् ॥

स्नान, वमन एवं विरेचन तथा शोणितमोक्षण कराना प्रशस्त है। रोग की क्रिया-क्रमों में वमन एवं विरेचन पर विशेष ध्यान देना चाहिये। वमन के लिये पटोल, निम्बपत्र और मदन फल का उपयोग तथा विरेचन के लिये त्रिफला चूर्ण का मधु के साथ सेवन उत्तम रहता है। शीतपित्त में संशोधन के पश्चात् निम्न लिखित संशमन योगों को देना चाहिये। ये सभी द्रव्य क्रिया में Anti allergic or anti histaminic प्रतीत होते हैं।

१. मधुयष्टि एवं शर्करा योग—मुल्लैठी ६ माशा और मिश्री १ तोला मिलाकर जल से सेवन। प्रातः-सायम्।
 २. आमलकी एवं गुड योग—आंवले का चूर्ण ६ मा०, पुराना गुड १ तोला मिलाकर जल से सेवन। प्रातः-सायम्।
 ३. अजवायन एवं गुड योग—अजवायन ३ माशे, पुराना गुड १ तोला मिला कर लेना। प्रातः-सायम्।
 ४. घृत-मरिच योग—काली मिर्च ३ माशे, घृत १ तोला मिला कर सेवन। प्रातः सायम्।
 ५. अरणीमूल-घृत योग—अरणीमूल का चूर्ण ६ माशे १ तोला घृत के साथ सेवन। प्रातः-सायम्।
 ६. आर्द्रक गुड योग—अदरक ३ माशे, पुराना गुड १ तोला मिलाकर सेवन। प्रातः सायम्।
 ७. हरिद्रा चूर्ण—३ माशे मिश्री या मधु १ तोला के साथ सेवन। प्रातः-सायम्।
 ८. गुडूची—का क्वाथ बनाकर मधु के साथ सेवन। प्रातः-सायम्।
 ९. गाम्भारी फल—पके गाम्भारी फल का दूध के साथ सेवन करना। प्रातः-सायम्।
 १०. निम्ब पत्र—निम्बपत्र एवं आंवले का चूर्ण समभाग में लेकर ३-६ माशे घृत के साथ सेवन। प्रातः-सायम्।
 ११. पिप्पली—पिप्पली चूर्ण १ माशा घृत के साथ सेवन। प्रातः-सायम्।
 १२. लशुन—का घृत के साथ सेवन। प्रातः-सायम्।
 १३. पुनर्नवा—पुनर्नवा मूल ६ माशे, हरीतकी बड़ी २, मरिच ७ अडे और मिश्री २ तोले का शर्बत बनाकर लेना। प्रातः-सायम्।
 १४. त्रिफला—त्रिफला चूर्ण ३ माशे की मात्रा में मधु के साथ सेवन। प्रातः-सायम्।
- नवकार्पिक क्वाथ—हरड, विभीतक, आंवला, नीम की छाल, मजीठ, वच, कुटकी, गिलोय और दाह हरिद्रा इन नौ द्रव्यों में से प्रत्येक को एक एक कर्प लेकर अष्टगुण जल में पकाकर चतुर्थांश शेष रहने पर उतार कर मधु

मिला कर पिलाना चाहिये । एक कर्ष का आधुनिक मान से १ तोला होता है । फलतः इस क्वाथ को बना कर नौ हिस्से में बाँट लेना चाहिये । एक बार बना लेने पर तीन दिनो तक दिन में तीन मात्रा देकर पिलाया जा सकता है । इस कपाय के पीने से वातरक्त, कुष्ठ, शीतपित्त, कोष्ठ प्रभृति रोगो में उत्तम लाभ होता है । शीतपित्त में यह एक सिद्ध कपाय है ।

अमृतादि कपाय—गिलोय, अडूसा, परवल की पत्ती, नागरमोथा, छतिवन की छाल, खैर की छाल, काला बेंत, निम्बपत्र, हरिद्रा, दारु हरिद्रा । प्रत्येक सम-भाग । इन औषधियों को जौकुट कर एकत्र करके २ तोले की मात्रा में लेकर अष्टगुण जल में पकाकर चतुर्थांश शेष रखकर मधु के साथ पिलाना चाहिये । यह विसर्पाधिकार का कपाय है, शीतपित्त और मसूरिका रोग में उत्तम लाभप्रद है ।

मधुयष्ट्यादि कपाय—मुलैठी, महुवे का फूल, रास्ना, रक्तचंदन, श्वेत-चंदन, निर्गुण्डी और पिप्पली को समभाग में लेकर २ तोला का कपाय बनाकर सेवन शीतपित्तघ्न होता है ।

हरिद्रा खण्ड—घी में किंचित् भुनी हरिद्रा चूर्ण $\frac{1}{2}$ सेर, गोघृत ६ छटाँक, गोदुग्ध ४ सेर, शक्कर ३ सेर २ छटाँक । अग्नि पर चढ़ाकर यथाविधि पकावे । जब पाक गाढ़ा होने लगे तो उसमें सोठ, मरिच, छोटी पीपल, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपात, वायविडङ्ग, निगोथ, आंवला, हरड, बहेरा, नागकेशर, मोथा और लौह भस्म पाँच पाँच तोले लेकर महीन कपडछान चूर्ण बनाकर मिलावे और करछी से पाक को चलाता रहे । मात्रा $\frac{1}{2}$ से १ तोला । अनुपान उष्ण जल । यह जीर्ण और हठी शीतपित्त में लाभप्रद परमौषधि योग है ।

विश्वेश्वर रस—रससिन्दूर, ताम्रभस्म, तीक्ष्ण लौहभस्म, प्रवालभस्म, शुद्ध हरताल, शुद्ध गंधक, कायफल, मेघशृङ्गो, वच, सोठ, भारंगी, हरड, नेत्रवाला तथा धनिया का चूर्ण प्रत्येक १-१ तोला भर लेकर पटोलपत्र का स्वरस या क्वाथ से एक दिन तक खरल करे । पश्चात् १ मागे की गोली बनाकर मुखाकर शीशी में भर लेवे । मात्रा १ गोली सुबह-शाम । अनुपान—मधु । सहपान—मकोय का स्वरस और मेंढा नमक ।

इन योगो के अतिरिक्त बृहद् योगराज गुग्गुलु या कैशोर गुग्गुलु या आरोग्य-वर्धनी या मारिवाद्यासव या अमृतारिष्ट या कनकामव का भी उपयोग शीतपित्त रोग में आवश्यक और यथालाभ किया जा सकता है । शीतपित्तादि रोगो में कई बार १ रत्ती रससिन्दूर के साथ प्रवाल भस्म १-२ रत्ती और गुडूचीमत्त्व १ माशा मिलाकर घी-चीनी के अनुपान से देना भी उत्तम रहता है । कई बार गैरिक का बाह्य तथा आन्तरिक प्रयोग भी लाभप्रद रहता है । इनके लिये

कामदुघा चूर्ण (शुद्ध सुवर्ण गैरिक मे आमलकी स्वरस की ७ भावना देकर निर्मित) २-४ माशे की मात्रा मे उष्ण जल के अनुपान से देना अथवा सद्भामृत योग (शुद्ध सुवर्ण गैरिक १ भाग, गोदन्ती २ भाग, शुद्ध स्फटिका ३ भाग और गुडूची सत्त्व ४ भाग मिश्रण से निर्मित) १-२ माशा की मात्रा मे घी और शक्कर के अनुपान से दिये जा सकते हैं ।

वाह्य प्रयोग—उदरदादि रोग मे जब चकत्ते बहुत निकल गये हो उनमें खुजली एव जलन बहुत हो तो निम्नलिखित लेपो मे से किसी एक का व्यवहार करना चाहिये ।

सिद्धार्थ लेप—श्वेत सरसो, हरिद्रा, कुष्ठ, चक्रमर्द बीज और तिल सम भाग मे लेकर महीन चूर्ण बनाकर या पानी से पीसकर उसमें सरसो का तेल मिलाकर उबटन जैसे लगाना ।

दूर्वादि लेप—हरी दूब, हल्दी को जल में पीसकर गुनगुना करके लगाना । या क्षार जल में या चूर्ण के पानी मे पीसकर लगाना ।

क्षारजल—सज्जीखार, यवाखार या सोडा वाई कार्व को पानी में घोल कर सरसो का तेल मिलाकर लगाना ।

दार्वी तैल—दारु हरिद्रा, तुलसी, मुलैठी, गृहधूम (रसोई घर का कज्जल), और हरिद्रा प्रत्येक १, १, भाग लेकर कल्क करे उसमे सरसो का तेल कल्क से चतुर्गुण और तैल से चतुर्गुण जल डालकर मद अग्नि पर तैल का पाक कर ले । इस तैल के लेप से शीतपित्त का शीघ्रता से शमन होता है ।

कोठ-रोग मे क्रियाक्रम—शीतपित्त एव उदर रोग में जो चिकित्सा-क्रम बतलाया गया है, उसी क्रम से कोठ रोग में भी चिकित्सा रखनी चाहिये । कुष्ठ रोग तथा अम्लपित्त रोग में भी जो चिकित्सा बतलाई गई है वह भी शीतपित्त, उदर एवं कोठ रोग मे लाभप्रद रहती है । विशेषत रक्तशोधन के विचार से महातिक्त घृत का सेवन कोठ रोग मे करना चाहिये और रोगी का सिरावेध करके रक्तविस्रावण कराना हितकर होता है ।^१

शीतपित्तादि मे पथ्यापथ्य—गरिष्ठ अन्न-पेय, दूध के विकार जैसे-खोआ, रबड़ी, मलाई, दही प्रभृति, ईख के विकार जैसे—गुड, राव आदि, शूकर, मछली आदि आनूपदेशज मांस या जलजीवो के मांस, नवीन मद्य, पूर्व तथा दक्षिण दिशा की

१. कुष्ठोक्त च क्रम कुर्यादम्लपित्ताघ्नमेव च ।

उदरदोक्ता क्रियाञ्चापि कोठरोगे समासतः ॥

सपि पीत्वा महातिक्त कार्यं रक्तस्य मोक्षणम् ।

ठंडी हवा का सेवन, शीतल जल से स्नान, धूप का अधिक सेवन, दिन का सोना, वेगो का रोकना, स्निग्ध एवं अम्ल पदार्थों का अधिक उपयोग, मैथुनकर्म शीतपित्त के रोगियो मे विपवत् होते हैं—अस्तु इन आहार-विहारो का रोगी को पूर्णतया परित्याग करना उचित है ।

रोगी को पथ्य रूप में हल्का एवं सुपच्य आहार देना चाहिये । जैसे पुराना अन्न, मूग, कुल्यी आदि की दाल, जागल पशु-पक्षियो के मासरस, खेखसा, करैला, मूली, पोई का शाक, वेंत की कोपल, अनार, त्रिफला, मधु आदि का सेवन लाभप्रद रहता है । संक्षेप मे श्लेष्मा और पित्त को नष्ट करने वाले कटु-तिक्त एवं कपाय रस द्रव्य रोगी के लिये अनुकूल पडते हैं ।

उपसंहार—शीतपित्त एव उदरद एक हठी स्वरूप के रोग होते हैं । वर्षों तक चलते रहते हैं । अल्प काल तक चलने वाले रोगो मे तो स्वल्प उपचार से ही लाभ हो जाता है । परन्तु जीर्णकालीन रोगो मे पूर्ण पथ्य-व्यवस्था के साथ उपचार करने की आवश्यकता पडती है । अभ्यायोक्त क्रियाक्रम, एकौपधि योग तथा बड़े योगो का यथावसर उपयोग करते हुए रोग का निर्मूलन संभव रहता है ।



इकतालीसवां अध्याय

अम्लपित्त प्रतिषेध

रोग परिचय—विरुद्ध भोजन, दूषित भोजन, अत्यधिक अम्ल, विदाह पैदा करने वाला तथा पित्तप्रकोपक भोजन एवं पेय से अथवा पित्त को कुपित करने वाले कारणो से व्यक्ति का पित्त विदग्ध हो जाता है—जब विदग्ध पित्त की वृद्धि हो जाती है तो उस रोग को अम्लपित्त कहते हैं । सुश्रुत मे पित्त का स्वाभाविक या प्राकृतिक रस कटु बतलाया है और विकृत हो जाने पर पित्त विदग्ध कहलाता है और उसका रस अम्ल हो जाता है । अम्लपित्त रोग मे यही अवस्था उत्पन्न हो जाती है “अम्लं विदग्धं च तत् पित्तम् अम्लपित्तम् ।”^१

आधुनिक दृष्ट्या इस रोग को आमागय शोथ (Gastritis) कहते हैं । प्राज्ञोदीय (Carbohydrates) का पाचन ठीक न होने से, आमागय की

१ विरुद्धदुष्टाम्लविदाहिपित्तप्रकोपिपानान्नभुजो विदग्धम् ।

पित्तं स्वहेतुपचितं पुरा यत्तदम्लपित्तं प्रवदन्ति नन्तः ॥

श्लेष्मलकला के शोथ युक्त होने से या अत्यन्त क्षोभक पदार्थों जैसे गर्म मिर्च-मनाले, घूँसपानादि से यह रोग होता है। इस रोग में प्रायः अम्लातिशय (Hyperacidity) पाई जाती है ववचित् इसके विपरीत स्थिति अर्थात् अम्ला-ल्पता (Hypo acidity) से भी अम्लपित्त सदृश लक्षण पैदा हो सकते हैं। अस्तु, अम्लपित्त में अम्लातिशय, अल्पता या अभाव भी हो सकता है।

लक्षण—अम्लपित्त में सामान्यतया भोजन का न पचना, बिना परिश्रम के थकावट, मिचली, कड़वी या खट्टी डकारें, शरीर में भारीपन, उदर में भारी-पन, हृदय प्रदेश तथा गले में जलन, भोजन में अरुचि प्रभृति लक्षण पाये जाते हैं। अम्लपित्त के दो प्रकार हैं—ऊर्ध्वग तथा अधोग।^१

साध्यासाध्यता—यह अम्लपित्त रोग नवीन होने पर यत्नपूर्वक चिकित्सा करने से भी ठीक हो जाता है, पुराना होने पर यह याप्य और किसी किसी में कृच्छ्रमाध्य भी होता है।^२

क्रियाक्रम—अम्लपित्त रोग में सशोधन आवश्यक होता है। एतदर्थ सर्व-प्रथम पटोलपत्र, निम्बपत्र, मदनफल सम भाग में लेकर कपाय बनाकर मधु मिलाकर वमन कराने के लिये देना चाहिए। वमन से ऊर्ध्वग दोषों के अथवा श्लेष्म दोष के निर्हरण के अनन्तर पित्त दोष के निर्हरण के लिये मृदु विरेचन देना चाहिए। अम्लपित्त में रेचनार्थ त्रिवृत् (निशोथ) का चूर्ण ४ माशा मधु से अथवा त्रिकला चूर्ण ६ माशे या कपाय एक दृष्टांक की मात्रा में पिलाना चाहिये। नये अम्लपित्त में वमन-विरेचन कराना ही पर्याप्त होता है, परन्तु यदि रोग पुराना हो तो वमन, विरेचन के अतिरिक्त स्थापन एवं अनुवासन वस्ति कर्म भी आवश्यक होता है।

अम्लपित्त रोग में शीतपित्त एवं उदर की भाँति ही कफ तथा पित्त दोषों की प्रवृत्ति पाई जाती है। अस्तु, वमन एवं विरेचन आदि सशोधनो से इनके निर्हरण हो जाने के पश्चात् संशामक पथ्य, आहार एवं औषधि की व्यवस्था

१. अविपाकवलमोत्वलेशतिक्ताम्लोद्गारगौरवैः ।

हृत्कण्ठदाहारुचिभिश्चाम्लपित्तं वदेद् भिषक् ॥

२. रोगोऽयमम्लपित्ताख्यो यत्नात् ससाध्यते नव । चिरोत्थितो भवेद्याप्य-
कृच्छ्रसाध्यश्च कस्यचित् ॥ तस्य सशोधनं पूर्वं कार्यं पश्चाच्च भेषजम् । पूर्वं तु-
वमनं कार्यं पश्चान्मृदु विरेचनम् ॥ कृतवान्तिविरेकस्य सुस्निग्धस्यानुवासनम् ।
स्थापनं च चिरोत्थेऽस्मिन् देयं दोषाद्यपेक्षया ॥ अम्लपित्ते प्रयोक्तव्यः कफपित्त-
हरो विधिः । पाचनं तिक्तवहलं पथ्यं च परिकल्पयेत् ॥

करनी चाहिये । तिक्त रस द्रव्यों का पाचन एवं पथ्य रूप में अम्लपित्त में उपयोग करना चाहिये ।

पथ्यापथ्य—अम्लपित्त के रोगी को तिक्तभूयिष्ठ आहार एवं पेय देना उत्तम है । तीक्ष्ण द्रव्य जैसे मिर्च, गर्म मसालो से रहित भोजन देना चाहिये । जौ, गेहूँ और धान के लाज का सत्तू, मोठा बना कर देना चाहिये । चावल एवं दाल का व्यवहार—भोजन पूर्णतया वन्द कर देना चाहिये । अम्लपित्त में कोई भी दाल प्रशस्त नहीं है, वैसे मूग की दाल का सेवन किया जा सकता है । जाड़ल पशु-पक्षियों के मासरस, चीनी, मिथी, बताशे, मधु, खीलाकर ठंडा किया जल प्रशस्त है । शाक-सब्जियों में अम्लपित्त को परवल, करैला, खेखसा, मूली, लीकी, तरौई, नेनुवा, हिलमोचिका, सोआ, पालक, बथुवा, चोलाई, चने का शाक, वेत्र के ज्योपल, पका कुप्पागड, केले के फूल प्रशस्त है । फलों में कैथ, नारियल, केला, पका आम, मोमम्मी, आंवला, अनार वेदाना, मुनक्का, गुलकद, आंवले का मुरव्वा, वेर तथा अन्य कफपित्तशामक तिक्त, कपाय एवं मधुर रस प्रधान द्रव्य प्रशस्त है । गाय या भैंस का दूध भी अम्लपित्त में अनुकूल पड़ता है ।^१ ताजा मक्खन या घी भी दिया जा सकता है । मसालो में धनिया, जीरा, हल्दी, अदरक, कागदी नीबू, सेंधा नमक, आदि का उपयोग उत्तम है ।

नया अन्न विशेषतः चावल, विरोधी अन्न, पित्तप्रकोपक भोजन, तिल, उटद, की दाल, वेगन, मछली, कुलथी, तैल, मिर्च-मसाले, दही, भेंड का दूध, काजी, लवण, अम्ल एवं कटु रस द्रव्य, गरिष्ठ भोजन और मद्य आदि द्रव्य अम्ल पित्त में अनुकूल नहीं पड़ते हैं । अस्तु, अम्लपित्त को इन पदार्थों का परित्याग करना चाहिये । तेल में तली पूड़ी, पकोटी, आदि अपथ्य है ।

अम्लपित्त में सामान्यतया गेहूँ, जौ की रोटी, मूँग की दाल या सावूत मूँग का जूँम और ऊपर में कथित शाक-सब्जियों का व्यवहार रखना चाहिये । रोटी, शाक और दूध पर्याप्त मात्रा में रोगी को दिया जा सकता है । स्नेहो में थोड़े घी या मक्खन का सेवन रखा जा सकता है । अम्लपित्त रोग में पथ्यकर आहार पर विशेष ध्यान देना चाहिये । पथ्य आहार के अभाव में यह रोग अच्छा नहीं होता है । अम्लपित्त एक हठी रोग है, वर्षों तक चलता हुआ रोगी के लिये रोग न रहकर भोग स्वरूप बन जाता है—इस लिये पथ्य को अनुकूल

१. निवृत्तभूयिष्ठमाहारं पानञ्चापि प्रकल्पयेत् ।

यवगोधूमविकृतीस्तीक्ष्णरसस्कारवजिताः ।

ययास्त्रलाजशक्नुन् वा मितामधुयुनान् पिबेत् ।

रखना परमावश्यक है । अच्छा हो जाने पर भी अपथ्य होने से इसके पुनरुद्भव की संभावना रहती है । पुराने अम्लपित्त को याप्य व्याधि शास्त्रकारों ने बतलाई है । अस्तु, इस रोग में पथ्यकर आहार-विहार की विशेष महत्ता दी गई है ।

आँवला—आँवले का उपयोग अम्लपित्त में श्रेष्ठ है । आँवले के स्वरस ६ माशे से १ तोला का १ तोला मिश्री के साथ सेवन या आँवले का चूर्ण ६ माशा का मिश्री या मधु से सेवन उत्तम लाभ करता है ।

पिप्पली—पिप्पली चूर्ण १-२ माशा का मधु ६ माशे के साथ सेवन ।

कुष्माण्ड—स्वरस १ तोला दूध में मिलाकर लेना अथवा कुष्माण्ड स्वरस में गुड मिलाकर लेना ।

जम्बीरी नीबू—स्वरस १ तोला की मात्रा में सायंकाल में पीना । कागजी नीबू का रस भी पानी में डालकर सायंकाल में ३ बजे पीना लाभप्रद रहता है ।^१

हरीतकी चूर्ण या त्रिफला चूर्ण—३ माशे की मात्रा में मधु से दिन में दो बार । त्रिफला सेवन का एक और भी विधान है । त्रिफला चूर्ण ६ माशे लेकर कान्त लौह पात्र पर लेप कर दे । रात भर व्युपित होने पर दूसरे दिन उसको निकालकर मधु के साथ सेवन करना ।^२

भृंगराज—भृंगराज का चूर्ण ३ माशा, हरीतकी चूर्ण ३ माशा मिश्रित कर १ तोला पुराने गुड के साथ सेवन ।

आर्द्रक या शुण्ठी—सोठ ४ माशा, पटोलपत्र ८ माशे भर लेकर १६ तोले जल में खोलाकर ४ तोले शेष रख क्वाथ में मधु मिलाकर सेवन ।

मधुयष्टी—चूर्ण ५ माशा मधु के साथ सेवन ।

त्रिवृन् चूर्ण—६ माशा मधु से सेवन ।

जौ—जोमण्ड (वाली वाटर) का सेवन अम्लपित्तघ्न होता है । यदि तुपरहित जौ, पिप्पली और पटोलपत्र का क्वाथ बनाकर मधु के साथ दिया जाय तो अधिक लाभ होता है ।

अंगूर या द्राक्षा—का मिश्री के साथ मिश्रित करके सेवन उत्तम रहता है ।

१. पिप्पली मधुसयुक्ता अम्लपित्तविनाशिनी ।

जम्बीरस्वरस पीत साय हन्त्यम्लपित्तकम् ॥

२ कान्तपात्रे वराकल्को व्युपितोऽभ्यासयोगतः ।

सिताक्षौद्रसमायुक्तः कफपित्तहर स्मृतः ॥

कपित्थ या चदर—पकी लाल वेर या कैथ को चटनी जैसी बनाकर उसमें अदरक, मिश्री और नैधानमक मिलाकर भोजन के साथ सेवन करना अम्लपित्त में लाभप्रद रहता है ।

सर्जिकाचार—मोडा वाय कार्व—२ मासे की मात्रा में लेकर एक शीशे के ग्लास में रख तीन छटाँक जल में घोलकर एक कागजी नीबू का रस छोड़कर दिन में एक बार सायंकाल में तीन बजे लेना उत्तम लाभ दिखलाता है । 'मोडावाटर' का पानी भी उत्तम है ।

नारिकेल—नारिकेल की गिरी या जल-डाव का पानी अम्लपित्त में उत्तम लाभ करता है ।

वासादशाङ्ग कपाय—अडूसा, गिलोय, पित्तपापडा, नीम की छाल, चिरायता, भृङ्गराज, आंवला, हरड़, वहेरा और पटोलपत्र को समभाग में ग्रहण करे । फिर उन्हें जीकुट करके २ तोले द्रव्य का ३२ तोले जल में क्वथित करके ८ तोले गेप रहे तो उतार-छान कर ठंडा होने पर शहद मिलाकर सेवन करना अम्लपित्त में अद्भुत लाभप्रद पाया गया है ।^१

द्राक्षादि चूर्ण—मुनक्का, धान का लावा, श्वेत कमल, मुलेठी, गुठली निकालकर छुहारा, अनन्तमूल, बंगलोचन, खस, आंवला, नागरमोथा, सफेद चदन, तगर, कवावचीनी (शीतल मिर्च), जायफल, दालचीनी, तेजपात, छोटी इलायची, नागकेशर, छोटी पीपल और धनिया सब समभाग तथा मिश्री सब के बराबर लेकर कपडछान चूर्ण करे । मात्रा १-३ मासे । अनुपान शीतल जल दिन में तीन-चार बार चार-चार घंटे के अन्तर से दे । उत्तम पित्तशामक योग है ।

अविपत्तिकर चूर्ण—सोठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, हर्रे, वहेरा, आंवला, नागरमोथा, नौमादर, वायविडङ्ग, छोटी इलायची और तेजपात प्रत्येक १-१ तोला, लवङ्ग ११ तोला, निगोथ का मूल २२ तोला, मिश्री ४४ तोले लेकर मदन कपडछान चूर्ण बना कर रख ले । मात्रा ३-६ मासे अनुपान दूध, जल या नारिकेल जल । यह अम्लपित्त की एक मिद्ध औषधि है ।

द्राक्षादि गुटिका—धोकर बीज निकाली हुई मुनक्का १ भाग, गुठली निकाली बड़ी हर्रे एक भाग, मिश्री २ भाग । प्रथम मुनक्के को महीन पीसे ।

१ वामाऽमृतापपेटकनिम्बभूनिम्बमार्कवं ।

प्रिफागकुलकै क्वाथः सद्योऽद्रव्याम्लपित्ता ॥ (भै र.)

भूनिम्बनिम्बप्रिफलापटोलवासाऽमृतापपेटमार्कवाणाम् ।

पयाधो हरेत् क्षोद्रयुतोऽम्लपित्तं चित्तं यथा वारवधूकटाञ्च ॥ (वै जी)

पीछे उसमें हरें और मिश्री का कपडछान चूर्ण मिलाकर १ तोले के गोले बना ले । १-२ गोले रात में सोते वक्त कुनकुने जल से सेवन करे । इसके सेवन से कब्जियत दूर होती है, छाती और कंठ की जलन जो अम्लपित्त में प्रायः पाई जाती है, दूर होती है । (सि. यो. मं.)

नारिकेल खण्ड—नारिकेल की ताजी गिरी १६ तोले लेकर भली प्रकार से पीसले फिर उसमें ४ तोला घी छोड़कर अग्नि पर चढ़ा हल्का भुने । पश्चात् उसमें नारिकेलजल ६४ तोले और मिश्री का चूर्ण १६ तोले डाल कर पाक करे । आसन्न पाक होने पर उसमें निम्नलिखित द्रव्यों का महीन चूर्ण बनाकर डाले । प्रक्षेप द्रव्य—धनिया, पिप्पली, नागरमोथा, वशलोचन, जीरा सफेद, जीरा स्याह, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र और केशर प्रत्येक ३ मासे । अम्लपित्त, छदि तथा परिणाम शूल में यह उत्तम योग है । मात्रा १-२ तोला । अनुपान-दूध ।

खण्डकुम्भाखण्डावलेह—पके पेठे का रस ४०० तोले, गाय का दूध ४०० तोले, आमलकी चूर्ण ३२ तोले, मिश्री या चीनी ३२ तोले । मंदान्नि से पाक करे । पाक के सिद्ध होने पर अम्लपित्त में प्रयोग करे । मात्रा २ तोले से ४ तोला प्रतिदिन । अनुपान जल या दूध ।

सौभाग्य शुंठी—सोठ, मरिच, पिप्पली, हरड, बहेडा, आंवला, भृङ्गराज, श्वेत जीरा, स्याह जीरा, धनिया, कूठ, अजवाइन, लौह भस्म, अभ्रक भस्म, काकडाशुद्धी, कायफल, मोथा, छोटी इलायची, जायफल, जटामासी, तेजपात, तालीसपत्र, नागकेशर, गंधमातृका, कचूर, मुलेठी, लवङ्ग, लालचन्दन १-१ तोला तथा सोठ २८ तोला (सभी चूर्ण के बराबर) चीनी ११२ तोला, गोदुग्ध २२४ तोला लेकर यथाविधि पाक करले । मात्रा १ तोला । अनुपान गोदुग्ध या शीतल जल ।

गुण—यह क्षीपघ्नि बहुत से रोगों में लाभप्रद होती है । इसका विशेष प्रयोग प्रसवकाल में, सूतिका रोग में तथा अम्लपित्त के पीठिक योग के रूप में होता है । इस योग का ताजा प्रयोग करना ही लाभप्रद रहता है ।

नारायण घृत—पिप्पली १ सेर लेकर १० सेर जल में ववधित कर २॥ सेर शेष रखे । इस बवाथ को ले उसमें २॥ सेर गोघृत, गिलोय का स्वरस १ सेर, आंवले का स्वरस पीने चार सेर । कल्कार्थ—मुनक्का, आंवला, पटोलपत्र, सोठ एवं वच प्रत्येक ४ तोले । घृतपाकविधि से घृत को बनाले । मात्रा १-२ तोला । अनुपान—१ पाव दूध में घोल कर ले ।

वाज्यरिष्ट—पाण्डुरोगाधिकार का भोजन के बाद २ तोला समान मात्रा में जल मिलाकर लेना । अम्लपित्त में उत्तम लाभ दिखलाता है ।

रस के योग—

सूतशेखररस—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, सुवर्ण भस्म, रौप्य भस्म, ताम्र भस्म, गज भस्म, शुद्ध टंकण, सोठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, दालचीनी, तेजपात छोटी इलायची, नागकेसर, शुद्ध धतूरे का बीज, पके बेल की मज्जा और कचूर प्रत्येक सम भाग । प्रथम पारद एवं गंधक की कज्जली करे पश्चात् अन्य द्रव्यों का कपडछान चूर्ण मिलाकर, भृङ्गराज स्वरस की २१ भावना देकर २-२ रत्ती की गोलियाँ बनाकर छाया में सुखाकर रख ले । मात्रा—१ गोली दिन में चार बार । अनुपान—१॥ माशा शहद और ३ माशा घी के साथ । पश्चात् मोठे वेदाना का रम या शर्वत पिलावे । उपयोग—अम्लपित्त, छाती का जलन, चक्कर आना, मूर्च्छा, वमन, पेट का शूल आदि पित्तदोषज विकारों में लाभप्रद रहता है ।

लीलाविलास रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, अभ्र भस्म, ताम्र भस्म, लौह भस्म प्रत्येक का ४-४ तोले लेकर उसमें आमलकी स्वरस या क्वाथ, विभीतक कपाय, भृङ्गराज स्वरस या कपाय की पृथक् पृथक् तीन-तीन भावनायें देकर २ रत्ती की गोलियाँ बनाले । मात्रा—१-२ गोली दिन में दो बार । अनुपान—आमलकी स्वरस, कुष्माण्ड स्वरस और मिश्री के साथ ।

अम्लपित्तान्तक लौह—रससिन्धूर, ताम्र भस्म, लौह भस्म प्रत्येक १-१ तोला, हरीतकी चूर्ण ३ तोला एकत्र मिला लें । मात्रा—२ रत्ती से ४ रत्ती दिन में दो बार मधु से ।

सितामण्डूर—अच्छी बनी मण्डूर भस्म ४ तोला, मिश्री २० तोला, पुराना गोवृत ३२ तो०, गोदुग्ध ६४ तोला लेकर या लोहे की कड़ाही में ढालकर यथाविधि पका कर कुछ उष्ण रहते ही उसमें सोठ, मरिच, पीपर, छोटी इलायची, दुरालभा (यवासा), वायविडग, आंवरा, हर्रा, बहेडा, कूठ, लॉग एक-एक तोला मिलावे । पुनः शीतल होने पर शहद ८ तोला मिला लेवे । सेवन-विधि—शुभ मूर्त के दिन भोजन के पूर्व प्रथम दिन १॥ माशे की मात्रा में प्रारम्भ कर प्रति दिन थोड़ा थोड़ा बढ़ाकर एक एक तोले सेवन करें । तथा चन्द्रमा के किरणों से शीतल हुये दुग्ध का अनुपान करें । गुण—यह दिव्य 'सितामण्डूर' अम्लपित्त तथा तृणज्वर शूल, वमन, आनाह, मूर्च्छा, प्रमेह तथा अनेक प्रकार के रक्तजन्य विकारों को नष्ट करता है ।

श्रीविल्वतैल—कच्चे विल्व फल को गज्जा ४०० तोला तथा जल २ द्रोण

(३२ सेर) लेकर क्वाथ करे अष्टमाशावशेष अर्थात् आठ सेर शेष रहने पर छान ले तथा उसमें १ सेर तिल का तेल, १ सेर आंवले का स्वरस, बकरी का दूध १ सेर एवं कल्कार्थ-आंवला, लाक्षा, हरड़, मोथा, लाल चन्दन, गन्धवाला, सरल काष्ठ, देवदारु, मजिष्ठा, श्वेन चन्दन, कूठ, इलायची छोटी, तगर, जटामासी, शैलेयक (छल छरीला), तेजपात, प्रियगु, अनन्तमूल, वच, शतावर, असगन्ध, सौफ, पुनर्नवा का मिलित कल्क १ पाव भर लेकर, यथाविधि तैल सिद्ध कर लेवे और बोतलो में भर कर मुखबन्द करके १ मास तक रख दे । उसके बाद इसे अभ्यग एव नस्यादि रूप में प्रयुक्त करें ।

इस तैल का मुख से सेवन १ तोलेकी मात्रा में १ पाव दूध में मिलाकर या नस्य रूप में नासाछिद्रों से ४-६ बूद या अभ्यङ्ग के रूप में करने से अम्लपित्त में लाभ होता है ।



वयालीसवाँ अध्याय

वाजीकरण

निरुक्ति :—महाफलवती रसायन ओषधियों के सेवन के अनन्तर उनकी अपेक्षा अल्पफलवान् वाजीकरण योगों की चाह मनुष्य को करनी चाहिये । वाजीकरण शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है 'वाज शुक्रम् (वाज का अर्थ है शुक्र या वीर्य, सोऽस्यास्तीति वाजी ।' वह जिसको है वह हुआ वाजी), अवाजी वाजी क्रियतेऽनेनेति-वाजीकरणम् अर्थात् अवाजी को वाजी जिस क्रिया के द्वारा किया जाता है उस क्रिया को वाजीकरण कहते हैं । वाजीकरण शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति भी है । वाजी कहते हैं घोड़े को, जिस क्रिया से घोड़े के समान अप्रतिहत सामर्थ्य होकर युवक पुरुष युवती के पास जाता है उसको वाजीकरण कहा जाता है । वाजीकरण के फलस्वरूप पुरुष स्त्रियों के लिए अतिप्रिय होता है, उसका शरीर पुष्ट होता है क्योंकि वह शरीर को बल एव कान्ति विशेष रूप से देता है ।

वाजीकरण का उपयोग नित्य करना चाहिये । रसायन औषधियों का प्रयोग एक बार किया जाता है, परन्तु, इसका सेवन आत्मवान् पुरुष को नित्य करना होता है । जिस प्रकार शरीर की वृद्धि एवं पुष्टि के लिए आहार की नित्य

आवश्यकता होती है उसी प्रकार शुक्र की पुष्टि एवं वृद्धि के लिये और शरीर को स्वस्थ बनाये रखने के लिये वाजीकरण की सदा आवश्यकता रहती है ।

वाजीकरण शब्द की एक तीसरी व्युत्पत्ति भी ग्रंथों में पाई जाती है । वाज शब्द से मैथुन कर्म का अर्थ ग्रहण करने से वाजी का अर्थ होगा मैथुन-शक्ति-सम्पन्न । फिर वाजीकरण का समूह में अर्थ हुआ अवाजी अर्थात् मैथुन-शक्ति-रहित पुरुष, मैथुन शक्ति से समर्थ जिस क्रिया द्वारा बनाया जावे उसको वाजीकरण कहते हैं । अस्तु, वाजीकरण संज्ञा से पुस्त्व का ही बोध होता है । इससे यह सिद्ध होता है कि पुस्त्व को बढ़ानेवाली क्रिया को वाजीकरण कहते हैं ।

अंग्रेजी में इस प्रकार की क्रिया वाली औषधियों को Aphorodiasic or Sexstimulent कहा जाता है ।

उपर्युक्त व्युत्पत्ति से स्पष्टतया यह ज्ञात हो रहा है कि वाजीकरण पद में दो शब्द हैं वाजी तथा करण । वाजी शब्द का तीन अर्थों में व्यवहार होता है वाजी एक अर्थ शुक्रवान्, दूसरा अर्थ घोड़ा और तीसरा अर्थ पुस्त्व या पुरुषत्व है और करण का एक ही अर्थ है करना या बनाना । अस्तु, वाजीकरण का अर्थ होगा आदमी को Potent बनाना-अर्थात् क्षीणबल पुरुष Impotent man को जिस क्रिया द्वारा आजीवन बलवान् (Potent man) बनाया जावे उम चिकित्सा-पद्धति को वाजीकरण कहा जाता है । जैसा निम्नलिखित सूत्रों में स्पष्ट है :—

१ वाजः—शुक्रम् तदस्यातीति वाजी अवाजी वाजी क्रियतेऽनेनेति वाजीकरणम् ।

२. वाजी नाम प्रकाशत्वात्तच्च मैथुनसंजितम् ।

वाजीकरणसंज्ञाभिः पुंस्त्वमेव प्रचक्षते ॥

३ येन नारीषु सामर्थ्यं वाजिवत्लभते नरः ।

येन वाऽप्यधिकं वीर्यं वाजीकरणमेव तत् ॥

४ चिन्तया जरया शुक्रं व्याधिभिः कर्मकर्षणात् ।

अथ गच्छत्यनशनात् स्त्रीणां याति निषेवणात् ॥ (भै० २०)

५ मेवमानो यदौचित्याद् वाजीवात्यर्थवेगवान् ।

नारीस्तर्पयते तेन वाजीकरणमुच्यते ॥ (सु० चि० ३६)

६. वाजीवातिबलो येन यात्यप्रतिहतोऽङ्गनाः ।

भवत्यतिप्रियः स्त्रीणां येन येनोपचीयते ॥

तद्वाजीकरणं तद्धि देहस्योर्जस्करं परम् ।

७. वाजीकरणमन्विच्छेत् सततं विप्रयी पुमान् ॥ (वा० ३-४०)

८. येन नारोषु सामर्थ्यं वाजिवल्लभते नरः ।

ब्रजेच्चाभ्यधिक येन वाजीकरणमेव तत् ॥ (चरक-चि० २)

वाजीकरणमन्विच्छेत् पुरुषो नित्यमात्मवान् ।

९ यद् द्रव्यं पुरुषं कुर्याद् वाजिवत् सुरतक्षमम् ।

तद् वाजीकरणं ख्यातं मुनिभिर्भिषजा वरैः ॥ (यो० २०)

अर्थात् विविध प्रकार की चिन्ता, वृद्धावस्था, व्यायामादिक कर्म, पंचकर्म, अनशन तथा अतिस्त्रीसेवन से शुक्र का क्षय होता है । जिस औषध, आहार एवं विहार के द्वारा वीर्यहीन मनुष्य स्त्रियों के साथ सम्भोग करने में अश्व के समान शक्ति प्राप्त करले उसे वाजीकरण कहते हैं । अथवा जिस क्रिया के द्वारा वीर्य की अति वृद्धि होती हो उसे वाजीकरण कहते हैं । वाजपद से मैथुन का अर्थ ग्रहण करने से वाजी शब्द का अर्थ मैथुन-शक्ति वाला हुआ, अतः जिस औषध से मैथुन-शक्ति रहित पुरुष मैथुन-शक्ति सम्पन्न बनाया जाता है, वह वाजीकरण कहलाता है ।

अतः वाजीकरण शब्द से पुस्त्व का ही बोध किया जाता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि पुस्त्व को बढ़ानेवाली औषधि को वाजीकरण कहते हैं ।

जिन औषधियों का उचित मात्रा में उपयोग करने से घोडे के समान अत्यधिक वेगवान होकर स्त्री को तृप्त करने का सामर्थ्य मनुष्य में प्राप्त होता है, उसे वाजीकरण कहा जाता है । इसके उपयोग से पुरुष स्त्रियों के लिये अति प्रिय हो जाता है और स्त्री तथा पुरुष दोनों का शरीर अधिक शक्तिशाली हो जाता है । फलतः विषयी पुरुष को नित्य वाजीकरण का सेवन करना चाहिये अर्थात् वाजीकरण प्रक्रिया का नित्य उपयोग करना चाहिये ।

वाजीकरण शब्द की परिभाषा बनाते हुए आचार्य सुश्रुत ने लिखा है :— वाजीकरणं तत्र उस तत्र को कहते हैं—जिसमें स्वभाव से अल्पवीर्य वाले व्यक्ति का आप्यायन (पूरण), दुष्ट वातादि दोषों से दूषित वीर्यवाले व्यक्ति का प्रसादन, अत्यधिक क्षय को प्राप्त हुए क्षीण वीर्य व्यक्ति का उपचय या वृद्धि करना, वृद्धावस्था या प्रौढावस्था में शुष्क वीर्य वाले व्यक्ति का शुक्रोत्पादन तथा स्वस्थ व्यक्ति में शुक्र की वृद्धि एवं स्राव करने के निमित्त उपचार वतलाये जावें ।

वाजीकरणतन्त्रं नामाल्पदुष्टक्षीणविशुष्करेतसाम् आप्यायनप्रसादोपचयजनननिमित्तं प्रहर्षजननार्थञ्च । (सु० सू० १)

वाजीकरण का माहात्म्य—आयुर्वेद के आठ प्रधान अंग या विभाग वतलाये गये हैं उसमें एक अन्यतम अंग वाजीकरण माना जाता है । रसायन

तन्त्र के परवात् दूसरा महत्त्व का तन्त्र यह वाजीकरण तन्त्र है । रसायन तन्त्र का मुख्य लक्ष्य आरोग्य एवं दीर्घ जीवन की प्राप्ति है । इस दीर्घ जीवन की प्राप्ति के अनन्तर प्राण का परिपालन, धनार्जन (धन का कमाना), धर्मार्जन (धर्म का संग्रह करना), पुरुष का कर्त्तव्य हो जाता है । इन कर्त्तव्यों का तीन एणवावो या इच्छावो के नाम से या पुरुषार्थों के नाम से प्राचीन ग्रन्थों में वर्णन पाया जाता है साथ ही इनके प्राप्त करने की महत्ता भी बतलाई गई है । इतना ही नहीं पुरुष को पुरुष तभी कहा जाता है जब वह तीनों एणवावो की प्राप्ति में सदैव तत्पर रहता है । इसीलिये इन्हें पुरुषार्थ भी कहते हैं—पुरुषार्थ चार होते हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । एणवायें बहुविध होती हुई भी तीन बड़े वर्गों में ममाविष्ट हैं—प्राणैपणा, धनैपणा तथा परलोकैपणा । पुरुष का पौरुष (शारीरिक बल) तथा पराक्रम (मानसिक बल) का सर्वोत्कृष्ट फल इसी में निहित है कि वह सदैव त्रिविध एणवावो या पुरुषार्थों की प्राप्ति में तत्पर रहे । पुरुषार्थयुक्त पुरुष को पुरुष कहा जाता है, दूसरे को नहीं । पुरुषार्थ के अभाव में वह पशुतुल्य ही रहता है ।

आचार्य चरकने भी लिखा है कि मनुष्य को अपने शरीर, मन, बुद्धि, पौरुष तथा पराक्रम से इसलोक तथा परलोक में हित का विचार करते हुए तीनों प्रकार की एणवावो की प्राप्ति में मतत प्रयत्नशील रहना चाहिये । उदाहरण के लिए प्राणैपणा, धनैपणा तथा परलोकैपणा के प्रति ।

“इह खलु पुरुषेणानुपहतसत्त्वबुद्धिपौरुषपराक्रमेण हितमिह चामुष्मिश्च लोके समनुपच्यता तिस्र एपणाः प्रयष्टव्या भवन्ति । तद्यथा प्राणैपणा, धनैपणा, परलोकैपणेति ।” (चर० सू० ११)

मनुष्य को इच्छावो में से सर्वप्रथम इच्छा प्राण (जीने) की होती है क्योंकि प्राण के त्याग से सब कुछ चला जाता है । इसके पालन के लिये स्वस्थ को स्वस्थवृत्त के सूत्रों का आचरण, रोग हो जाने पर रोग के सद्यः प्रगमन के उपाय करते हुए दीर्घायुष्य को प्राप्त करना प्रथम इच्छा होनी चाहिये । प्राण के अनुपालन के अनन्तर दूसरी इच्छा धन के साधन की होनी चाहिये । कृषि, व्यवसाय या नौकरी करके धन का संग्रह करना चाहिये । प्राणैपणा एवं धनैपणा में कामनामक पुरुषार्थ-चतुष्टय का अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि शरीर नम्पत्ति और धन-नम्पत्ति में काम का ही पोषण होता है । यह कामैपणा स्वतः उत्पन्न होती है । फलतः इसके सम्बन्ध में अधिक उपदेस की अपेक्षा नहीं रहती यह प्रकृति से स्वयमेव उत्पन्न होती है । परलोकैपणा से धर्म और मोक्ष प्रभृति अन्तिम पुरुषार्थों का ग्रहण हो जाता है ।

अब इस कामपणा की तृप्ति के लिये बहुविध कामशास्त्र के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं जिनमें काम केलियों के विविध उपाख्यानो का वितृस्त वर्णन पाया जाता है । इस कामशास्त्र के सहायभूत अग वाजीकरण तन्त्र है । यह विशुद्ध वैद्यक का विषय है । इसका सीधा सम्बन्ध एक प्रधान पुरुषार्थ या एषणा अर्थात् काम वासना के साथ है—अस्तु, वैद्यक शास्त्र में एक पृथक् तन्त्र रूप में या अग रूप इसका वर्णन पाया जाना युक्तियुक्त है ।

वस्तुतः ऐहिक सुखों में तीन ही सुख प्रधान माने गये हैं—“सुत वित नारि ईपना तीनां, केहि के मति नहि कीन मलीनी” ससार में सुख की लिप्सा से मनुष्य धनार्जन करना, अधिक से अधिक स्त्री-सेवन तथा पुत्र को उत्पत्ति करना इन तीन ही इच्छाओं से प्रेरित होकर व्याकुल रहता है । इन तीनों एषणाओं को सम्यक् रीति से प्राप्ति का साधन वाजीकरण तन्त्र के द्वारा ही संभव है अतएव इस तन्त्र का बड़ा महत्त्व है । चरकाचार्य ने इसी लिये लिखा है—वाजीकरण के अधीन हा धर्म, अर्थ, काम, यश तथा श्रेष्ठ पुत्र की उत्पत्ति रहती है :—

तदायत्तौ हि धर्मार्थौ प्रीतिश्च यश एव च ।

पुत्रस्यायतन ह्येतद्गुणाश्चैते सुताश्रयाः । (च० चि० २)

आज के युग में इस विषय का महत्त्व कम नहीं है । कामवासना कारक, कामोत्तेजक, वीर्योत्पादक, सन्तानोत्पादक तथा वीर्यस्तम्भक योगों के सेवन की चाह दिनों दिन लोक में बढ़ती जा रही है । ऐसे समय में वाजीकरणाध्याय की चर्चा अधिक उपयुक्त सिद्ध हो रही है ।

वाजीकरण के गुण या फल—वाजीकरण के सेवन से पुरुष को तुष्टि (प्रसन्नता), पुष्टि (बल), गुणवान् सतान, अबाधित रूप से सतान-प्रवाह (वश-परम्परा का अक्षुण्ण बना रहना) तथा तुरन्त तात्कालिक प्रहर्षण प्रभृति लाभ होते हैं । इसके सेवन से शरीर को विशेष रूप से बल एव कान्ति की प्राप्ति होती है ।

अल्पसत्त्व व्यक्ति के लिये, रोग से दुर्बल शरीर वाले कामी व्यक्ति के लिये, शरीर की क्षय से रक्षा के लिये मुख्यरूप से वाजीकरण तन्त्र का उपदेश किया गया है ।

नीरोगी, युवा एव वाजीकरण सेवन करने वाले पुरुष के लिये सब ऋतुओं में प्रतिदिन भी मैथुन निषिद्ध नहीं है ।

तुष्टिः पुष्टिरपत्य च गुणवत्तात्र सश्रितम् ।

अपत्यसन्तानकर यत्सद्यः सम्प्रहर्षणम् ॥

तद् वाजीकरण तद्धि देहस्योर्जस्कर परम् ॥ (वा० उ० स्था० ४०)

वाचार्य सुश्रुत ने लिखा है कि वाजीकरण के मुख्यतया तीन ही लक्ष्य हैं । १ स्त्री में प्रीति पैदा करना २. संतानोत्पादन तथा ३ सद्यः कामतृप्ति के लिये बल या हर्ष का पैदा करना । देश-बल-काल-व्यक्ति का विचार करते हुए यथा-वश्यक एवं यथालभ्य इन वाजीकरण के साधनों का सेवन करना चाहिये । सेवन के पूर्व व्यक्ति के मल का शोधन करके तदनन्तर दृष्य योगो का अनुष्ठान करना चाहिये ।

एते वाजीकरा योगाः प्रीत्यपत्यबलप्रदाः ।

सेव्या विशुद्धोपचितदेहैः कालाद्यपेक्षया ॥ (सु. चि. २६)

वाजीकरण के विषय—अधिक कामी या विषयी पुरुष को नित्य वाजीकरण योगो का सेवन करना चाहिये । पुरुष ही वाजीकरण के सेवन का अधिकारी है । उसी को आवश्यकता भी है । स्त्री और नपुंसक को नहीं । क्योंकि पुरुष सक्रिय होता है स्त्री निष्क्रिय (Active & Passive) । दूसरा कारण यह है कि स्त्रियो में प्रकृति से पुरुषो को अपेक्षा आठ गुना रति को शक्ति होती है.—

‘पुग्रहण स्त्रीपण्डादिनिवृत्त्यर्थम् । पुरुषग्रहण बालात्यन्तवृद्धनिरसनार्थम् ।

न पुनः स्त्रीपण्डव्युदासार्थम्, तेषां तु वाजीकरणप्राप्तेः इति जेज्जटः ।’

पुरुष शब्द के कहने से तरुण पुरुष (युवक पुरुष) समझना चाहिये । क्योंकि बालको में अर्थात् सोलह वर्ष की आयु के पूर्व अथवा वृद्धो में अर्थात् सत्तर वर्ष के पश्चात् वाजीकरण का सेवन व्यर्थ या अकिञ्चित्कर होता है । उक्ति भी पाई जाती है कि अत्यन्त बाल्यावस्था में मनुष्य के धातु, सम्पूर्णतया बने नहीं रहते हैं ऐसी आयु में स्त्रीगमन से वह उसी प्रकार सूख जाता है जिस प्रकार तालाब का स्वल्प जल ग्रीष्म ऋतु में सूख जाता है । अस्तु बाल्यावस्था में मंथुन निषिद्ध है । इसी प्रकार रुखा, सूखा, घुन लगा और जर्जर पेड़ जिस प्रकार छूने मात्र से ही गिर जाता है उसी तरह अत्यन्त वृद्ध पुरुष स्त्रीसंग से ।

अतिबालो ह्यसपूर्णसर्वधातुः स्त्रियो ब्रजन् ।

उपशुष्येत सहसा ताडागमिव काजलम् ॥

शुष्कं रुक्ष तथा काष्ठ जन्तुजग्वं विजर्जरम् ।

स्पृष्टमाशु विगीर्येत तथा वृद्धस्त्रियो ब्रजन् ॥ (च चि. २)

योगरत्नाकर ने वाजीकर योगो के सेवन की आयु बतलाते हुए स्पष्टतया लिखा है कि सोलह वर्ष की आयु के पूर्व या सत्तर वर्ष की उमर के पश्चात् वाजीकर योगो का उपयोग नहीं करना चाहिये । क्योंकि आयु की चाह रखने वाले व्यक्ति को सोलह के पूर्व या सत्तर वर्ष की आयु के पश्चात् मंथुन कर्म का पूर्णतया परित्याग कर देना चाहिये—अन्यथा, करने में अकाल-मृत्यु का भय

रहता है। इस प्रकार सोलह वर्ष से लेकर सत्तर वर्ष की आयु तक वाजीकरण या वृष्य योगो के सेवन करने की काल-मर्यादा बताई गई है—

सतत्यन्त प्रकुर्वात वर्षादूर्ध्वं तु षोडशात् ।

न चैव षोडशादूर्वाक् सतत्या. परतो न च ॥

आयुष्कामो नरः स्त्रीभिः सयोग कर्तुमर्हति ।

अकाल्मरणञ्च स्याद् भजतः स्त्रियमन्यथा ॥ (यो० २०)

आत्मवान् या सदाचारी पुरुषो को ही वाजीकरण सेवन के लिये देना चाहिये। दुरात्मा या दुष्ट व्यक्तियों को नहीं। क्योंकि दुरात्मा व्यक्ति वृष्य योगो के सेवन से धातुओं की वृद्धि के कारण कामातुर होकर अगम्या स्त्री के साथ भी गमन करने लगता है—जिसमें लोक में, समाज में या धर्म की दृष्टि से हानि होती है। अस्तु, पूर्ण विचारवान् व्यक्तियों में ही वाजीकरण योगो के प्रयोग को भीमित रखना चाहिये।

आचार्य सुश्रुत ने लिखा है कि वाजीकरण के उपयोग की आवश्यकता निम्न-लिखित व्यक्तियों में होती है। नीरोग व्यक्ति, तरुणावस्था के व्यक्ति, प्रौढावस्था में रमण की इच्छा रखने वाले व्यक्ति, स्त्रियों में प्रीति या वाल्लभ्य की चाह वाले व्यक्ति, अति स्त्री प्रसंग से शुक्रक्षययुक्त व्यक्ति, क्लोब व्यक्ति (Impotent), अल्पशुक्र व्यक्ति, विलासी व्यक्ति, धनी व्यक्ति, रूप एवं युवावस्था से युवत व्यक्ति तथा बहुत स्त्री वाले व्यक्ति। इन पुरुषों में वाजीकरण योगो का सेवन हितकर होता है।

कल्पस्योदग्रवयसो वाजीकरणसेविनः ।

सर्वैस्त्वृत्तुष्वहरहर्व्यवायो न निवारितः ॥

स्थविराणा रिरसूना स्त्रीणा वाल्लभ्यमिच्छताम् ।

योपित्प्रसगात् क्षीणाना क्लीबानामल्परेतसाम् ॥

विलासिनामर्थवता रूपयौवनशालिनाम् ।

नृणा च बहुभार्याणा योगा वाजीकरा हिता. ॥ (सु चि २६)

हिता वाजीकरा योगाः प्रीत्यपत्यवलप्रदा ॥

. सुश्रुत ने क्लैव्य के ६ प्रकार बतलाये हैं—१ मानस (Psychtological) २ आहारज (कटु-उष्ण-अम्ल-लवण रस के अधिक खाने से) ३ वाजीकररहित होकर अतिव्यवायज (शुक्रक्षय की अधिकता से ध्वजभग) ४ मेढूरोगज शस्त्रच्छेदज (Traumatic) ५ सहज क्लैव्य-जन्म से ही क्लोब होना तथा ६ स्थिर शुक्रनिमित्तज-ब्रह्मचर्य व्रत में क्षुब्ध मन के निरोध से। उनमें

सहज और मर्म च्छेदज क्लेश अमाध्य है; किन्तु ये चार प्रकार के क्लेश हेतु-
त्रिपणेन चिन्तिता तथा वाजीकर योगो के प्रयागो में ठीक हो जाते हैं। अन्तु-
इन चतुर्विध क्लेशों में भी वाजीकरण की मत्त आवश्यकता पड़ती है।

“योपित्तसंगात्क्षीणाना क्लीवानामल्यरेतसाम् ।

द्विता वाजीकरा योगाः प्रीणयन्ति बहुप्रदाः ॥ (भा. प्र.)

वाजीकरण के अभाव में दोष—वाजीकरण के अभाव में स्त्री के वशी
भूत होकर मैथुन करने से ग्लानि, कम्प, अवसाद (गिरियलता), कृशता,
इन्द्रियों की क्षीणता, घोष, श्वास, उपदंश, ज्वर, अर्ज, भगन्दरादिक गुदा के
रोग, रम-गतादि वातुओं की क्षीणता, भयङ्कर वात रोग, क्लीबता और लिङ्ग-
भग (ध्वज भग) आदि उपद्रव होते हैं। इसलिये कामी पुरुषों को नित्य वाजी-
करण योगों का सेवन करना चाहिये।

ग्लानिः कम्पोऽवसादस्तदनु कृशता क्षीणता चेन्द्रियाणां

शोषोच्छ्वासोदगज्वर गुदजगदा क्षीणता सर्वधातौ ॥

जायन्ते दुर्निवाराः पचनपरिमगः क्लीबता लिङ्गभगो

वामाऽवस्थातियोगाद् भजत इह सदा वाजिकर्माच्युतस्य ॥ (मै र.)

ब्रह्मचर्य तथा वाजीकरण—अब यहाँ शका पैदा होती है कि वायुर्वेद
जहाँ पर ब्रह्मचर्य तथा शुक्रसंरक्षण की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है—आहार, स्वप्न
तथा ब्रह्मचर्य को तीन जीवन स्तंभ मानता है वहाँ पर कामपणा की तृप्ति के
लिए वाजीकरण तन्त्र का समका उपदेश कहाँ तक युक्तिमंगत है। इनका समा-
धान यह है कि वस्तुतः इन दोनों विचारों में कोई विरोध नहीं है। विधिपूर्वक
गम्य स्त्रियों में और ऋतु काल में किया गया मैथुनविहित कर्म है और वह
निषिद्ध नहीं है। इस प्रकार का विहित मैथुन कर्म ब्रह्मचर्य या शुक्र संरक्षण का
सहायन बन जाता है। इसमें संदेह नहीं कि ब्रह्मचर्य एक अत्यधिक महत्त्व का
आचरण है। यह धर्म के अनुकूल आचरण है। इसके द्वारा यश की प्राप्ति,
आयु की वृद्धि, उल्लोक तथा परलोक में रमायन (उपकारक) गुणों की प्राप्ति
होती है। सर्वथा निर्मल ब्रह्मचर्य का आम्न सदैव अनुमोदन करना है। परन्तु
ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान सब के लिये सरल नहीं होता है। यह बड़ी ही कठिन
तपस्या है। फलतः ब्रह्मचर्य का स्वरूप होना ही स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में
जिन प्रकार के हम अपने कामपणावा की तृप्ति करने हुए स्वस्थ रहकर दीर्घायु
की प्राप्ति कर सकते हैं। एतदर्थ ही वाजीकरण विद्या का आचार्यों ने उपदेश
दिया है। संक्षेप में ऐसा कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य का धारण तो निर्विवाद

सर्वाधिक आयु देने वाला है “ब्रह्मचर्यमायुष्कराणां श्रेष्ठतमम्” (चरक) परन्तु इसका यदि पालन सभव न हो सके तो गृहस्थी में रहकर स्वास्थ्य-संरक्षण का दूसरा उत्कृष्ट मार्ग वाजीकरण सेवन का है । कारण यह है कि वाजीकरण या वृष्य योगो के सेवन से शुक्र की उत्पत्ति और वृद्धि होती रहती है और शुक्र के क्षय होने पर भी पुरुष में किसी प्रकार की दुर्बलता नहीं आने पाती प्रत्युत उसका स्वास्थ्य अधिकाधिक बढ़ता चलता है ।

वाजीकरण तथा सन्तानोत्पत्ति—वाजीकरण योग वृष्य होते हैं—उनमें शुक्र जनन की क्रिया अधिक हो जाती है । इनसे शुक्र कोट (Sperms) भी दृढ हो जाते हैं । परिणाम स्वरूप सन्तानोत्पत्ति भी अवश्यम्भावो हो जाती है । प्राचीन काल में पुत्रोत्पादन या सन्तानोत्पादन की बड़ी महत्ता दी जाती थी । पुत्र पद की व्याख्या करते हुए शास्त्रों में लिखा है—पुंताम नरक से जो रक्षा करता है उसे पुत्र कहते हैं । फलतः पुत्रोत्पादन एक धर्म कार्य है । इसके विपरीत नि सन्तान व्यक्ति की निन्दा समाज में होती थी, लिखा है—छाया-रहित, दुर्गन्धित पुष्पो वाले, फलरहित और एक शाखा वाले अकेले वृक्ष को भाँति सन्तानहीन पुरुष होता है । सन्तानरहित व्यक्ति की उपमा चित्र में खीचे दीपक से, सूखे तालाव से, सुवर्ण की आभा वाले असुवर्ण से, तृण के बने पुतले से, दी गई है । समाज में उसकी प्रतिष्ठा नहीं होती है । उसे नग्न के समान, एकेन्द्रियवाला तथा निष्क्रिय व्यक्ति माना जाता है ।

एतद्विपरीत सन्तानयुक्त पुरुष की प्रशंसा करते हुए भी वचन पाये जाते हैं—जैसे बहुत सन्तानयुक्त व्यक्ति को बहुत मूर्तिवाला, बहुत मुख वाला, बहुत च्यूह (बहुत रूप का) वाला, बहुत नेत्रों वाला, बहुत ज्ञान वाला, बहुत आत्मा-वाला तथा बहुक्रिय व्यक्ति कहा गया है । बहुत सन्तान वाले व्यक्ति को मंगल-मय दर्शन वाला, प्रशंसित, धन्यवाद का पात्र, वीर्यवान् एवं बहुत शाखाओं से युक्त वृक्ष की भाँति स्तुत्य कहा गया है । अपत्य या सन्तान के अधीन प्रीति, बल, सुख, वृत्ति, कुल का विस्तार, लोक में यश तथा सुख की प्रीति सभव रहती है । इसलिये गुणवान् एवं सच्चरित्र सन्तान पैदा करने के लिये मनुष्य को सतत प्रयत्नशील रहने का भी उपदेश पाया जाता है । इस प्रकार कामैषणा की तृप्ति के लिये कामसुखों को प्राप्त करने के लिये, ससार के सम्पूर्ण सुखों के उपभोग के लिये वीर्य तथा सन्तानोत्पादन क्रिया के बढ़ाने वाले वाजीकरण साधनों का पुरुष को नित्य उपयोग करना अपेक्षित है । वाजीकरण तन्त्र की महत्ता इस दृष्टि से भी स्वीकार की गई है ।

अच्छायएक शाखश्च निष्फलश्च यथा द्रुमः ।
 अनिष्टगन्धश्चैकश्च निरपत्यस्तथा नरः ॥
 बहुमूर्तिर्वहुमुखो बहुव्यूहो बहुक्रियः ।
 बहुचक्षुर्वहुज्ञानो बह्वात्मा च बहुप्रजः ॥

+

+

+

वाजाकरणनित्यः स्यादिच्छन् कामसुखाने च ।

उपभोगसुखान् सिद्धान् वीर्यापत्पविवर्धनान् ॥ (च. चि. २)

आज युग बदल गया है । देश में दरिद्रता के साथ ही साथ जनसंख्या भी बढ़ती जा रही है । आज बहुपत्पता या बहुत सन्तान पैदा करना एक अभिगाप हो गया है । नियोजित पितृत्व, सन्तति-निरोध या परिवार-नियोजन (Family Plannig or Brth control) की चर्चा चारों ओर सुनाई पड़ती है । ऐसे युग में सन्तति-नियमन ही (कम सन्तानों का पैदा करना ही) सद्गुण हो गया है और बहुप्रज होना एक महान् अमंगल कर्म हो गया है । फिर भी सन्तानोत्पादन का महत्त्व कम नहीं हुआ है—अप्रज (बिना सन्तान वाले व्यक्ति) की आज भी निन्दा ही है । सन्तानें जरूर पैदा होवें, परन्तु बहुत सख्या में नहीं होनी चाहिये । नीति का भी वचन यही है—“एक भी गुणी पुत्र का होना सी मूर्ख एवं दरिद्र सन्तानों के पैदा होने से अच्छा है ।” अथवा “बहुत सी सन्तानों का होना दरिद्रता का प्रतीक है ।” “वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतान्यपि । एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणैरपि ।” “बहुपत्यं दरिद्रता ।”

आज के युग में कम सन्तानों का पैदा होना यद्यपि एक श्रेष्ठ गुण है तथापि हम ब्रह्मचर्य या इन्द्रिय-दमन के द्वारा इस कार्य का सम्पादन नहीं कर सकते । क्योंकि कामुक वासनाओं का नियमन करना असंभव है । यह वासना आज के युग में पूर्व की अपेक्षा किसी कदर कम नहीं हो सकी है । यदि यह कहीं संभव रहता तो हमें आज सन्ततिनिरोध के लिये बड़ी-बड़ी औपधियों की खोज की योजना या सन्तति-नियामक विविध प्रबन्धों, प्रचारों, शिक्षण तथा शस्त्र कर्म के अनुसन्धान की आवश्यकता नहीं पड़ती केवल पति-पत्नी के मयम से ही काम चल जाता । चूँकि इनकी कामवासनाओं का दमन करना सर्वथा असंभव है । अस्तु, हमें सन्तान नियमन के लिए नाना प्रकार के कृत्रिम साधनों का (Contraceptive Methods) ईजाद करना पट रहा है ।

कन्त आज समाज की ऐसी औपधियाँ की जरूरत हैं जो कामुकवासनाओं को जगत्क रगें, परन्तु गर्भाधान या सन्तानोत्पत्ति कम हो या बिल्कुल न हो । कामुकवासनाओं या कामपेक्षा की पूर्ति का होना आज भी उतना ही आवश्यक

है जितना पहले किमी युग मे रहा होगा । एतदर्थ वाजीकरण तन्त्र की सार्थकता तथा उसकी उपयोगिता आज भी कम नहीं हो पाई है । आज भी उसकी उपादेयता अक्षुण्ण बनी हुई है केवल एक प्रतिबन्ध के साथ कि सतति की औसत वृद्धि न होवे । एतदर्थ सतति-नियामक विधियों के साथ-साथ वाजीकरण का विधान सर्वथा और सर्वदा युक्तियुक्त है ।

सामान्य वाजीकर द्रव्य—बहुत प्रकार के आहार-विहार, आचार एवं परिस्थितियाँ वाजीकरण के रूप में होती हैं । उदाहरणार्थ, अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र भोजन, विविध प्रकार के पीने के पदार्थ, संगीत, कान को प्रिय लगने वाले मधुर वचन, त्वचा को स्पर्श से प्रिय लगने वाले वस्त्र-स्पर्श, आभूषणादि, चन्द्रमायुक्त रात्रि, नवयौवना स्त्री, कान-मन को हरने वाले गाना-बजाना आदि, ताम्बूल (पान की बीडा), मद्य (मदिरा), माला (सुगंधित पुष्पों की माला), सेण्ट, इतर तैल आदि खुशबूदार या सुगंधित द्रव्य, सुन्दर मनोहर चित्र-विचित्र पुष्पों वाला उद्यान और मन को प्रसन्न रखने वाले कर्म मनुष्य को मैथुन-शक्ति प्रदान करने वाले हैं ।

भोजनानि विचित्राणि पानानि विविधानि च ।

गीत श्रोत्राभिरामाश्च वाचः स्पर्शसुखास्तथा ॥

यामिनी सेन्दुतिलका कामिनी नवयौवना ।

गीत श्रोत्रमनोहारि ताम्बूल मदिरा स्रजः ॥

गन्धा मनोज्ञा रूपाणि चित्राण्युपवनानि च ।

मनसश्चाप्रतीघातो वाजीकुर्वन्ति मानवम् ॥

(सु चि २६ तथाष्टिभा प्र)

सम्पूर्ण प्रकार के वाजीकर द्रव्यों से सर्वाधिक वाजीकरण स्त्री को माना गया है । कामवासनाओं के जागृत करने वाले एक-एक विषय जैसे मनोहर शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध पुरुष को बलपूर्वक अपनी ओर आकर्षित करने वाले होते हैं—और इनसे एक-एक के द्वारा भी प्रीति उत्पन्न हो सकती है । जब ये सभी विषय एकत्र होकर सघात के रूप में स्त्री में व्यवस्थित रहते हैं तब उससे बढ़कर और बड़ा वाजीकरण हो ही सकता है । स्त्री में प्रकृति से ही (उनकी मधुमय वाणी), रूप (उनका लावण्यमय रूप), स्पर्श (उनके शरीर का कोमल स्पर्श), रस (उनके अधरगत रस) तथा गन्ध (उनके शरीर की गंध) का आकर्षक सामंजस्य सघात रूप में स्थापित रहता है जो पुरुष के लिये परम आकर्षण, प्रीति तथा वाजीकरण का प्रत्यक्ष हेतु बनता है । इस प्रकार का सघात अन्यत्र कहीं

भी नहीं पाया जाता है। इसलिये स्त्री को श्रेष्ठ वाजीकरण, प्रहर्षिणी-वृष्य तथा श्रेष्ठतम वाजीकर माना गया है। वृष्यतम स्त्री के लक्षणों को बतलाते हुए आचार्य ने लिखा है—“जो स्त्री स्ववती, युवती, कामशास्त्रोक्त शुभ लक्षणों से युक्त, मन को प्रिय लगने वाली तथा काम शास्त्र में शिक्षित हो-वृष्यतमा स्त्री कहलाती है। स्वभाव ने ही युवती स्त्री वृष्य होती है और पुरुष के आकर्षण का कारण बनती है।

स्त्रियो में धर्म, अर्थ, काम प्रतिष्ठित है। वह लक्ष्मीस्वरूपा होती है। उसमें सम्पूर्ण लौकिक यश एवं कीर्ति निहित है। मन्तान की उत्पत्ति भी स्त्री पर ही आश्रित है। इसीलिये इनमें पुन्य की विशेष प्रीति का होना स्वाभाविक है। अपने चरित्र, मन्तान, कुल-मर्यादा, वंशपरम्परा तथा अपनी अपनी रक्षा स्त्री की रक्षा करने में ही संभव है। अम्नु, जाया या स्त्री की रक्षा मदैव करनी चाहिये ऐसा स्मृति भी कहती है।

वाजीकरणमग्रं च क्षेत्रं स्त्री या प्रहर्षिणी ।

दृष्टा ह्येकैकशोऽप्यर्थाः परं प्रीतिकराः स्मृताः ॥

किं पुनः स्त्रीगरीरे ये संवातेन व्यवस्थिताः ।

स्त्रीषु प्रीतिर्विशेषेण स्त्रीष्वपत्यं प्रतिष्ठितम् ॥

धर्मार्थं स्त्रीषु लक्ष्मीश्च स्त्रीषु लोकाः प्रतिष्ठिताः ।

सुख्या यौवनस्था या लक्षणैर्या विभूषिता ॥

या वक्ष्या शिक्षिता या च सा स्त्री वृष्यतमामता । (च. चि २)

स्वा प्रवृत्ति चरित्रं च कुलमात्मानमेव च स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जाया रक्षन् हि गच्छति ॥ (मनु.)

वृष्य स्त्री का वर्णन चरक तथा वाग्भट में उत्कृष्ट कोटि का पाया जाता है। संक्षेप में वाग्भट के अनुसार यहाँ पर उद्धरण दिया जा रहा है। जिसका नाम भी हृदय को आनन्द देने वाला हो, जिसके देखने में कभी तृप्ति नहीं होती हो, जो सब इन्द्रियों को जीवने के लिये पाशरूप हो, जो पति के अनुकूल व्रत में दीक्षित हो, कला विलस के अंगों तथा वय में विभूषित हो, पवित्र, लज्जाशील, एगान्त में प्रगल्भ एवं प्रिय बोलनेवाली हो, जिसकी कामवानना पति के समान हो, ऐसी स्त्री पुन्य के लिये परम वृष्य या वाजीकर होती है।

इनके अनतिरिक्त कामसूत्र में वर्णित निर्दोष, पापरहित ऐसी रतिचर्या को जानने वाली स्त्री जो देश-काल-वय और शक्ति के अनुरूप एवं आयुर्वेद शास्त्र के सम्पूर्ण रतिचर्या के अनुकूल हो, ऐसी स्त्री भी उत्तम वृष्य होती है।

इस प्रकार के गुणों से युक्त स्त्री पुरुष के हृदय में प्रविष्ट हो जाती है इससे वियुक्त होकर आदमों संसार को स्त्री से हीन मानता है, इससे रहित होकर अपने को पुरुष इन्द्रियों से शून्य अनुभव करता है और उसके शरीर का धारण करना या जोवित रहता भी दुर्भर हो जाता है । पुरुष ऐसी स्त्री के समीप अत्यधिक हर्ष और वेग से जाता है । बार-बार जाने पर भी उससे उसकी तृप्ति नहीं होती है । ऐसी स्त्री पुरुष के लिए सदैव अपूर्व या नित्य नवीन बनी रहती है । ऐसी स्त्री वृष्यतमा होती है । गम्य स्त्री को निम्नलिखित विषयों से युक्त होना चाहिए । जैसे अतुल्य गोत्र (असमान गोत्र) की, वृष्य स्त्री के गुणों से युक्त, नित्य प्रसन्न, नीरोग या उपद्रवों से रहित तथा रज स्रावकाल के अनन्तर स्नान करके शुद्ध हुई स्त्री पुरुष को भी नीरोग एवं स्वस्थ, सन्तान से युक्त होकर स्त्री-संग धर्म के अनुसार करना चाहिये ।

वाजीकर या वृष्य द्रव्य—जो भी द्रव्य मधुर, स्निग्ध, वृहणकारक, बलवर्धक और मन को प्रमत्त करने वाला है, वह वृष्य कहलाता है । इस प्रकार के द्रव्यों का सेवन करके, आत्मवेग से दर्पित होकर तथा लावण्य, हाव-भाव आदि स्त्री गुणों से प्रहर्षित होकर पुरुष को स्त्रियों के पास जाना चाहिये । इस प्रकार शुक्रजनन, जीवनीय वृहण, बलवर्धन तथा क्षीरजनन द्रव्य सभी वृष्य योगों में प्रयुक्त होते हैं ।

यकिञ्चिन्मधुर स्निग्ध वृहण बलवर्धनम् ।

मनसो हर्षणं यच्च तत्सर्वं वृष्यमुच्यते ॥

द्रव्यैरेवविधैस्तस्मादर्चितः प्रमदा व्रजेत् ।

आत्मवेगेन चोदीर्णः स्त्रीगुणैश्च प्रहर्षितः ॥ (वा ३. ४०)

नाना वृष्य औषधियाँ—वृष्य औषधियों में निम्नलिखित औषधियाँ प्रायः ग्रहण की जाती हैं । सरकण्डा, गन्ना, कुश, कास, विदारो, उशीर, कटेरी के मूल, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, ऋद्धि, वृद्धि, बला, अतिबला, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, शतावर, असगंध, केवाछ, पुनर्नवा, विदारो, क्षीर विदारो, जीवन्ती, रास्ना, गोखरू, मधुयष्टो, कठगूलर, पका आम, पिप्पली, द्राक्षा, खजूर, वल्लोचन, दालचीनी, इलायची, नागकेशर, आमलकी, तालमखाना, कसेरू, चिरीजी, रत्ती (घुमची), सिंघाडा, मुनक्का, कमलगट्टा प्रभृति औषधियाँ वृहण योग बहुलता से व्यवहृत होते हैं । मिश्री, घृत, मलाई, मक्खन, दूध प्रभृति निरामिष भोजन तथा मछली, सूअर, मगर, कबूतर, तित्तिर, मर्गी, चटक (गौरैया) प्रभृति पशु-पक्षियों के मांस अथवा विविध प्रकार के पक्षियों के अण्डे जैसे केकडा,

चटक, हम, मोर, मुर्गा अथवा गोह, कच्छप एवं मगर के अण्डे तथा शूकर, शेर आदि के बमाओं का तथा भैंसे, साड़ तथा बकरे का वीर्य पीना प्रभृति आमिष प्रयोग वाजीकरण एवं वृष्य होते हैं। घी और दूध का सेवन, नैरुज्य, अभ्यग, उवटन, स्नान, गव द्रव्यों का लगाना आदि कर्म भी वृष्य होते हैं।

कुलीरकर्मनक्राणामण्डान्येवं तु भक्षयेत् ।

माहिर्पर्षभ्वस्ताना पिवेच्छुक्राणि वा नरः ॥ (सु० चि० २६)

आचार्य सुथुत ने लिखा है कि वृष्य आहार की दृष्टि से कई दूध प्रशसित हैं। जैसे गृष्टक्षीर-प्रथम प्रसूता गाय या भैंस, वृद्धवत्साक्षीर-वकेना का दूध अर्थात् दूध देने वाले पशु जिनके बछड़े लगभग एक वर्ष के हो गये हैं। मापपर्ण भृत-जो-गाय को उडद की पत्ती खिलाकर ग्रहण किया दूध, इन दूधों की वृष्य योगों में प्रशंसा पाई जाती है।

वाजीकरण कार्य में क्षीर वर्ग, मांस वर्ग तथा काकोल्यादिगण की औषधियाँ श्रेष्ठ मानी गई हैं—अस्तु, इनका वृष्य योगों में बहुलता से उपयोग करना चाहिये।

गृष्टीणा वृद्धवत्साना मापपर्णभृता गवाम् ।

वत्क्षीरं तत्प्रशसन्ति बलकामेषु जन्तुषु ॥

क्षीरमासगणाः सर्वे काकोल्यादिश्च पृजितः ।

वाजीकरणहेतोर्हि तस्मात्तत्तु प्रयोजयेत् ॥ (सु चि २६)

वृष्य वातावरण—मन को प्रिय लगने वाले स्थान तथा परिस्थितियाँ जैसे मनोरम गृह, सुन्दर शय्या, आसन, स्त्री, सवाहन, निर्झर, मनोरम दृश्य युक्त एकान्त स्थान, आभूषण, सुगंध, माला, इच्छित स्त्री, प्रिय हमजोली, कोकिल कूजन, कुमुदित वन, सगीत-गोष्ठी, नई जवानी ये परम हर्षोत्पादक परिस्थितियाँ होती हैं।

एतेर्प्रयोगेविविचद् वपुष्मान् वीयोपपन्ना बलवर्णयुक्तः ।

हर्षान्वितो वाजिवदष्टवर्षो भवेत्समर्थश्च वराङ्गनासु ॥

यत्रच किञ्चिन्मनसः प्रियः स्याद् रम्या वनान्ताः पुलिनानि शैलाः ।

शृङ्गाः न्नियो भूषणगन्धमाल्य प्रिया वयस्याश्च तद्वन्नयोज्याः ॥

सुखाः सहर्म्याः परिपुष्टशृङ्गा फुल्ल वनान्ता विशदान्नपानाः ।

गन्धर्वशब्दाश्च सुगन्धयोग्याः सत्त्वं-विशाल निरुपद्रवश्च ॥

निद्वार्थता चाभिनव च कामः त्वा चायुव सर्वमिहात्मजस्य !

वयो नव जातमदश्च कालो हर्षस्व योनिः परमा नराणाम् ॥

(च० चि० २)

वाजीकर औषधि की प्रयोग विधि—जैसे मलिन वस्त्र पर बढिया रंग नहीं चढता है उसके लिये सर्वप्रथम उसका खूब साफ धुला होना आवश्यक होता है—उसी प्रकार मलयुक्त शरीर में वृष्य योगो का भी प्रभाव उत्तम नहीं दिखलाई पडता है—अस्तु वृष्य योगो या वाजीकरण औषधियो के सेवन कराने के पूर्व व्यक्ति का सशोधन अपेक्षित रहता है । सशोधन के लिये व्यक्ति का विरेचन तथा निरूहण कराके कोष्ठ (Purgatives-anemata) शुद्ध करानी चाहिये । स्रोतस के शुद्ध हो जाने पर व्यक्ति का शरीर शुद्ध हो जाता है—ऐसी स्थिति में सीमित मात्रा में भी यथाकाल प्रयुक्त वृंहण योग परम वृंहण करता है और व्यक्ति को बल देता है । व्यक्ति का सशोधन उसके बल के अनुसार मृदु, मध्यम या तीव्र कर लेना चाहिये पश्चात् वाजीकरण योग का उपयोग करना चाहिये ।

स्रोतःसु शुद्धेष्वमले शरीरे वृष्य यदा नामितमस्ति काले ।

वृषायते तेन पर मनुष्यस्तद् वृंहण चैव बलप्रदञ्च ॥

तस्मात्पुरा शोधनमेव कार्यं बलानुरूपं नहि वृष्ययोगाः ।

सिद्ध्यन्ति देहे मलिने प्रयुक्ताः क्लिष्टे यथा वाससि रक्तयोगाः ॥

(च चि २)

वाजीकरण में अपथ्य—जो मनुष्य कामी, रति करने वाला या स्त्रियो का चाहने वाला हो वह अत्यन्त उष्ण, कटु, तिक्त, कषाय, रूक्ष, अम्ल, क्षार द्रव्यो का पत्र-शाक का तथा अधिक लवणयुक्त पदार्थो का सेवन न करे । ऐसी लोक तथा समाज में प्रसिद्धि है —

“ अत्यन्तमुष्णकटुतिक्तकषायमम्लं क्षारञ्च शाकमथवा लवणाधिकञ्च ।

कामी सदैव रतिमान् वनिताभिलाषी नो भक्षयेदिति समस्तजनप्रसिद्धिः ॥

(भै० २०)

वाजीकरण योग—१ घृत में भुनी हुई उडद की दाल प्रत्येक १-२ छटाँक आधा सेर दूध में पकाकर खीर जैसे बनाकर उसमें मिश्री १ छटाँक मिलाकर सेवन । घृतभृष्टमाषदुग्धपायसो वृष्य उत्तम । अथवा साठी के चावल का भात घृत और उडद की दाल के साथ सेवन करना भी उत्तम वृष्य होता है ।

२ शतावरी १ छटाँक दूध आधा सेर, पानी आधा सेर डालकर पकावे जब दूध मात्र शेष रहे तो मिश्री डालकर सेवन करे ।

३ पुरानी सेमल के मूल को लेकर उसका स्वरस निकालकर या बवाय बनाकर मिश्री मिलाकर एक सप्ताह तक सेवन करने से शुक्र की वृद्धि होती है ।

४ दो-तीन वर्ष पुराने सेमल के मूल का चूर्ण ६ माशे तथा मुसली का चूर्ण ६ माशे मिश्रित करके घृत और मिश्री के साथ मिलाकर सेवन करे और ऊपर से दूध पिये तो उत्तम वीर्यवर्धक होता है ।

५. विदारो कंद के चूर्ण ६ माशे से १ तोला को घी और चीनी से चाटकर ऊपर से दूध पीने से या गूलर की छाल का काढ़ा या स्वरस पीने से वृद्ध मनुष्य भी काममम्पन्न हो जाता है । अथवा विदारोकंद के चूर्ण को विदारोकंद स्वरस में भावित करके उपर्युक्त अनुपान से ले । मात्रा १ तोला ।

६ आमलकी चूर्ण को आमलकी स्वरस में सात भावना देकर छाया में सुखाकर रख ले । इस चूर्ण को घृत और मधु मिलाकर सेवन करे और साथ में दूध पिये तो वृष्य क्रिया होती है ।

७. केंवाछ और तालमखाने के बीज का चूर्ण ६ माशे उसमें १ तोला मिश्री चूर्ण मिलाकर दूध के अनुपान से सेवन ।

८ गुल्जा को जड़ या बीज का चूर्ण ६ माशे अथवा गुंजामूल और शतावरी प्रत्येक का चूर्ण ४-४ माशे लेकर मिलाकर प्रतिदिन दूध के अनुपान से लेने में उत्तम वाजीकर होता है ।

९ उच्चटादियोग-गुजा, केंवाछ तथा गोक्षुर बीज का चूर्ण बनाकर तीनों को मिलाकर ६ माशे-१ तोला । दूध में पकाकर मिश्री डालकर पीने से वृद्धावस्था में काम का वर्द्धक होता है, तो युवावस्था में इसका पूछना ही क्या है ?

१०. मधुयष्टि चूर्ण १ तोला, घृत १। तोला मधु १ तोला, मिश्रित करके दूध साथ नित्य दिन एक बार लेने से नित्य सम्भोग के लिये पुरुष उत्सुक रहता है ।

११ गोक्षुरादि चूर्ण-गोखरू, तालमखाने के बीज, शतावर, शुद्ध केंवाछ के बीज, नागवला तथा अतिवला के मूल का चूर्ण बनाकर ६ माशे से १ तोले की मात्रा में दूध के अनुपान से लेने से अतिवृष्य होता है—

गोक्षुरकः क्षुरकः शतमूली वानरि नागवलातिवला च ।

चूर्णमिदं पयसा निशि पेयं यस्य गृहे प्रमदाशतमस्ति ॥

१२ गेहूँ और केंवाछ के बीज को दूध में पकावे अथवा केंवाछ और उडद की दाल को दूध में पकावे, ठंडा होने पर उसमें घी और मधु मिलाकर सेवन करे ।

१३ अश्वत्थ (पोपल) के फल, मूल, त्वक् और शुङ्ग से सिद्ध किये क्षीर पाक विधि से पकावे, दूध में मिश्री और मधु मिलाकर सेवन करने से चटक पक्षी के समान व्यक्त कामुक हो जाता है ।

अश्वत्थामलमूलत्वक्शुगासिद्धपयो नरः ।

पीत्वा सशर्कराक्षौट्रं कुलिङ्ग इव हृष्यति ॥ (स० चि० २६)

१४. कामदीपक चाण्डालिनी योग—श्वेत पुनर्नवा का चूर्ण बनाकर सेमल के कद के स्वरस के साथ सात बार भावित कर सुखाकर चूर्ण बना ले । फिर उसमें उतना ही सेमल का गोद मिला ले । अब चूर्ण के बराबर शुद्ध गंधक चूर्ण पीसकर मिला दे । इस चूर्ण की ४ रत्ती से १ माशा की मात्रा में मधु के अनुपात से दे । औषधि के खाने के बाद १ पाव गाढ़ा दूध व्यक्ति को पिलावे । यह योग बड़ा तीव्र उत्तेजक होता है ।

आमिष प्रयोग—

१ वकरे के अण्ड ग्रथियो को प्रथम थोड़े पानी में उवाल ले । फिर बढ़िया घी में उसको लाल होने तक भुने फिर उसमें पिप्पली चूर्ण और सेधा नमक मिला कर यथायोग्य मात्रा में सेवन करने से उत्तम वाजीकरण होता है ।

२ वकरे की अण्ड ग्रंथि २ तोले लेकर १६ तोले दूध में ६४ तोले पानी छोड़कर पकावें । जब दूध मात्र शेष रहे तो कालो तिल का चूर्ण २ तोले पीसकर मिलावे और सम्पूर्ण का सेवन करे । यह उत्तम दृष्य योग है ।

३ ताजा मछली या शफरी मछली का मांस घृत में भूनकर सेवन करने से उत्तम वृष्य होता है ।

४ कच्छप मांस या कच्छप का अण्डा भी घृत में भूनकर सेवन करने से वृष्य होता है ।

५ भैंसे के मांस में वकरे के अण्ड ग्रंथि और उडद को पकाकर नये घृत में भून ले फिर उसमें ताजे फलों के रस, धनिया, जीरा, सोठ और नमक मिलाकर सेवन करे तो उत्तम वृष्य होता है ।

६ गीरेये को तित्तिर के मासरस में पकावे या तित्तिर मांस को मुर्गे के मासरस में पकावे या मुर्गे के मांस को मोर के मासरस में पकावे या हंस के मासरस में मोर के मांस को पकावे । नवीन देशी घी में तलकर फलों के रस और गन्ध द्रव्यों से संयुक्त करके सेवन करने से उत्तम वृष्य होता है ।

७ चटक (गीरेये) का मांस पकाकर खाकर ऊपर से दूध उत्तम वाजीकरण होता है ।

८ घडियाल के शुक्र में भुने हुए मुर्गे के मांस का सेवन या घडियाल के अण्डो और मुर्गे के मांस के साथ पकाकर खाना उत्तम वृष्य योग है ।

९ मछली के अण्डो को घी में तलकर सेवन । अथवा हंस-मोर-तित्तिर और मुर्गे के अण्डे का सेवन उत्तम वाजीकरण होता है ।

१० भैंसा, साढ़ या वकरे को उत्तेजित करके उसके शुक्र का सेवन भी उत्तम वाजीकरण होता है ।

आज विविध पशुवो के अण्डकोषो के सत्वो का (Testicularextract) तथा शुक्र सत्व (Male Hormones) का व्यवहार चिकित्सा मे बहुलता के साथ हो रहा है। विविध प्रकार के भाव से सेवन योग्य तथा सूचीवेष के द्वारा मंस मार्ग से दिये जाने वाले योग बने बनाये बाजार मे विक्रिते हैं। उपर्युक्त संहितोक्त मूल-द्रव्य यदि सुलभ न हो अथवा इनका सेवन न कराया जा सकता हो तो उसके प्रतिनिधि द्रव्यो के रूप मे प्राप्त होने वाले इन योगो का उपयोग किया जा सकता है।

अपत्यकर स्वरस—केवाछ के बीज, उडद, खजूर, शतावरी, सिंघाडा के फल और मुनक्का प्रत्येक दो दो तोला लेकर उसमें दूध १६ तोले और १६ तोले जल लेकर पकावे जब दूध १६ तोले शेष रह जाये तो मसल कर कपडे से छान कर दूध को रख ले। उसमे मिश्री २ तोला, वंशलोचन ३ माशे और नवीन घृत २ तोला और मधु १ तोला मिलाकर पीले। इस योग के सेवन काल मे पथ्य में माठी का चावल, उडद की दाल और दूध देना चाहिए। इस योग के उपयोग से दुर्बल एवं वृद्ध व्यक्ति को भी युवक के समान हर्ष होता है और विपुल सन्तान पैदा होती है। यह एक सिद्ध योग है, आचार्य श्री प० सत्यनारायण जी शास्त्री का भी बहुश. अनुभूत है। पुत्रप्रद यह योग है।

कमलाक्षादि चूर्ण—कमलगट्टा ७ तोला, जायफल २ तोला, केशर १ तोला, तेजपात १ तोला, सालमपजा २ तोला, छोटी इलायची के बीज १ तोला मोठ १ तो०, शतावर २ तोला, असगंध २ तोला, वंशलोचन १ तोला, रुमी मन्तगी १ तोला, पोपगामूल १ तोला, कवाव चीनी १ तोला। सबको कपडछान चूर्ण बना शीशी मे भर ले।

मात्रा एव अनुपान—३-६ माशे चूर्ण को १ तोला गाय के घी मे जरा ना भुनकर उसमे आधासेर दूध और यथासुचि मिश्री डालकर ५-७ उफान आने तक उवाले फिर नीचे उतार कर ठंडा कर ले और पी जावे।

उपयोग—इसके सेवन से शरीर पुष्ट होता है, वीर्य बढ़ता है तथा कामोत्तेजना पैदा होती है।

(सि० यो० म०)

वानरी गुटिका—केवाछ के बीज १६ तोले लेकर ६४ तोले दूध में दोला यत्र विधि मे तीन घंटे तक स्वेदन करे। फिर पोटली से बीज निकाले और उनको टिलके मे रहित करे। फिर उसे सील पर पीसकर छोटे छोटे बडे के मद्दग ६-८ मागे की बटिकायें बना ले। अब इस बडे को गोघृत मे पकावे। फिर इन द्रव्य मे दुग्गुनी मात्रा में चीनी लेकर गाढी चामनी अलग से बना ले। इस चायनी

मे वटिकाओ को डुवो दे । एक दो घण्टे बाद इन वटिकाओ को निकालकर एक मृतवान या काँच के वर्तन में शहद भरकर उसमें इन गुटिकाओ को डुवो कर रख दे । एक बड़ा सुवह और शाम दूध के अनुपान से ले यह एक उत्कृष्ट वाजीकरण योग है, वलैव्य, ध्वजभग, वीर्यपतन आदि विकारों को ठीक करता है ।

श्री मदनानन्द मोदक—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, लौह भस्म १-१ तोला, अभ्रक ३ तोले, भीमसेनी कपूर, मैधव, जटामासी, आँवला, छोटी इलायची, सोठ, मरिच, छोटी पीपल, जावित्री, जायफल, तेजपत्र, लवङ्ग, श्वेत जीरा, काला जीरा, मुलँठी, वच, कूठ, हरिद्रा, देवदारु, हिज्जल बीज, शुद्ध टकण, भारगी, सोठ, नाग-केसर, काकडासोगी, तालीसपत्र, मुनक्का, चित्रक, दन्ती, बला-अतिबला की जड़े पृथक्, दालचीनी, धनिया, गजपीपल, कचूर, नेत्रवाला, नागरमोथा, गंधप्रसारणी, विदारीकंद, शतावर, आक को जड़, कँवाछ के बीज, गोखरु के बीज, विधारा के बीज तथा भाग के बीज प्रत्येक १-१ तोला । प्रथम पारद-गंधक की कज्जली करे फिर लौह भस्म एवं अभ्रक भस्म को मिलावे फिर शतावरी क्वाथ की भावना देकर सुखा ले पीछे शेष द्रव्यों के कपडछान चूर्णों को मिलावे । फिर समस्त चूर्ण में चौथाई प्रमाण में सेमल की मुसली का चूर्ण तथा उस मिश्रित चूर्ण से आधा विजया का चूर्ण डालकर बकरी के दूध से भावित कर एक दिन तक खाल करके सुखा ले । पश्चात् सम्पूर्ण चूर्ण से दुगुनी खाड़ को उससे चौगुने दूध में डालकर पाक करे । गाढ़ा होवे पर दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपात, नागकेसर, भीमसेनी कपूर, सेधानमक तथा त्रिकटु का मिश्रित चूर्ण २ तोला मिलाकर चलाता रहे । फिर उसमें यथावश्यक घी और मधु डालकर आलोडित करके चार-चार माशे का मोदक बना ले । फिर इस योग को मात्र से अभिमन्त्रित करके सुवर्ण, रजत, काच या मृतवान में रख देवे ।

मात्रा—१-१ मोदक सायकाल में रुद्राक्ष चूर्ण १ माशा, काली तिल ३ माशा और गोघृत १ तोले के साथ खाकर ऊपर से दूध पीना ।

गुण—तीन सप्ताह के सेवन से हो पर्याप्त काम शक्ति बढ़ती है । यह एक श्रेष्ठ वृष्य एवं वाजीकर योग है ।

महाचंदनादि तैल—मूर्च्छित तिल तैल १ सेर, कल्कार्य श्वेत चन्दन, लाल चन्दन, पतंग, अगर, तगर, देवदारु, सरल वृक्ष, पदमाख, तून की लकड़ी, कपूर, कस्तूरी, लता कस्तूरी, शिलारस, केसर, जायफल, चमेली की पत्ती, लौंग, छोटी इलायची, बड़ी इलायची, दालचीनी, मुरा, कपूर, छैलछरीला, नागरमोथा, रेणुका, प्रियंगु, गंधा विरोजा, गुग्गुलु, लाख, नखी, राल, धाय के फूल, गठिवन, मजीठ, मोम प्रत्येक ३-३ माशे सम्यक् पाकार्थ जल ४ सेर ।

गुण—इस तैल के अम्यग से ८० वर्ष का वृद्ध मनुष्य भी बलवीर्यादि सम्पन्न हो जाता है, बंध्या स्त्री गर्भ धारण करती है, नपुंसक मनुष्य पुंस्त्व प्राप्त करता है तथा संतानहीन संतान प्राप्त करता है ।

भल्लातक तैल—भिलावा, बड़ी कटेरी का फल तथा अनार के फल का छिल्का इनको समभाग में लेकर १ सेर कल्क बनावे, ४ मेर सरसो का तेल और १६ सेर जल डालकर तल का पाक करे । तैलमात्र शेष रहने पर उतार कर छान ले । यह एक तिला है जिसका जननेन्द्रिय पर मालिश करने से उसमें दृढता एवं स्थूलता आती है ।

वसायोग—केवल शूकर की चर्बी का जननेन्द्रिय पर मालिश कर पान के पत्तों में आवृत कर रखे । इससे भी लाभ होता है ।

करभवारुणी मूल—ऊँटकटेला की जड़ को एक सप्ताह तक बकरी के दूध में भिगो कर एवं पीस कर जननेन्द्रिय पर लेप करने से शैथिल्य नहीं आता है ।

दशमूलारिष्ट—ववाय्य द्रव्य दशमूल की प्रत्येक औषधि २०-२० तोले चित्रक की जड़ की छाल और पुष्कर मूल १००-१०० तोले, पठानी लोध तथा गिलोय ८०-८० तोले, आँवले ६४ तोले, जवासा ४८ तोले, खैर की छाल, विजय, सार, गुठली रहित बड़ी हरड प्रत्येक ३२ तोले, कूठ, मजीठ, देवदारु, वायविडङ्ग, मुलेठी, भारगी, कैय के फल की मज्जा, बहेरा, पुनर्नवा की जड़, चव्य, जटामांसी, फूत्रप्रियङ्गु, सारिवा, काला जीरा, निगोथ, सम्भालू के बीज, रास्ना पिप्पली, मुपारी, कचूर, हरिद्रा, सौंफ, पटुमकाठ, नागकेसर, नागरमोथा, इन्दजी, काकडा-मांगी, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, ऋद्धि-वृद्धि प्रत्येक ८-८ तोले लेकर जो कुट करे । फिर आठ गुने जल में डालकर ववाय्य चीयाई शेष रखे । फिर इस ववाय में मुनक्के का ववाय अलग बनाकर मिलावे एतदर्थ ३ सेर मुनक्का लेकर पीसकर उसको चौगुने जल में ग्वीलावे, तृतीयाश शेष रहने पर उतार कर छान ले । इन दोनों ववायों के मिलाने के अनन्तर उसमें १२८ तोले गृहद और २५ मेर गुड का चूर्ण कर मिलावे । फिर उनमें धाय के फूठ १२० तोले, शीतल चीनी, नेत्रवाला, श्वेत चन्दन, जायफल, लवङ्ग, दालचीनी, छोटी इन्धायची, तेजपत्र, नागकेसर और छोटी पिप्पल प्रत्येक का चूर्ण ८-८ तोले और वस्तूरी ३ माशा प्रक्षिप्त करे । फिर स्निग्ध एवं धूपित भांड में सम्पूर्ण को भग्न भाण्ड के मुख पर टक्कन रखकर कपडमिट्टी करके जमीन के भीतर गाड़कर एक मास तक संधान करे । पश्चात् सिद्ध औषधि को छान कर उसमें ४ तोले

निर्मली का वल्क डालकर एक रात के लिए ढककर रखे फिर नितरे हुए अरिष्ट को शीशियो मे भर कर डाट लगाकर सुरक्षित रख ले ।

मात्रा—२ तोला समान जल के साथ मिलाकर भोजन के उपरान्त ।

गुण—यह योग बहुत प्रकार के रोगो में विशेषत सूतिका रोग मे लाभप्रद है । यह धातु को पुष्ट करता है, बंध्या स्त्री के लिए पुत्रप्रद होता है—पुरुष के लिए वाजीकर भी होता है ।

मृतसंजीवनी सुरा—नवीन गुड ४०० तोले, बबूल की छाल, बेर की छाल तथा सुपारी प्रत्येक ६४-६४ तोले, पठानी लोह १६ तोले, अदरक ८ तोले । इन सब द्रव्यों से आठ गुणा जल ग्रहण करे । इस जल में प्रथम गुड को घोले पश्चात् उसमे पीसा हुआ अदरक डाले, फिर बबूल की छाल या चूर्ण पश्चात् बेर की छाल या चूर्ण डाले । फिर शेष अन्य द्रव्यों को भी चूर्णित कर मिलावे । सब को अच्छी तरह से मथकर घृतस्निग्ध एवं धूपित नये भाण्ड मे भर कर उसके मुख को यथाविधि बन्द कर बीस दिनो तक पड़ा रहने दे । २१ वे दिन उसको मयूर यन्त्र मे रख कर मन्द मन्द आँच पर गर्म करे । पश्चात् सुपारी, एलुवा, देवदारु, लौंग, पद्माक्ष, खस, लाल चन्दन, सोया, अजवायन, काली मिर्च, श्वेत जीरा, कालाजीरा, कच्चा, जटामासी, दालचीनी, छोटी इलायची, जायफल, मोथा, गठिवन, सोठ, सौंफ, मेथीबीज, सफेद प्रत्येक २-२ तोला लेकर कपडछान चूण बनाकर उसमे मिलावे । फिर भवके मे चढाकर इनका अर्क खींच ले फिर शीशियो मे भरकर रख ले ।

उपयोग—यह सुरा धातुवर्धक, वल्य एवं पुष्टिकर होता है । अग्नि को दीप्त करता है । वायु विकारो का शमन करता है । परम उत्साहवर्धक तथा वाजीकर योग है ।

नारसिंह चूर्ण (वातरोग) या अमृत भल्लातक (कुछ रोग)—ये दोनों मिलावे के योग भी अतिवृष्य होते हैं ।

आम्रपाक या खण्डाम्रक—बीजू आम के पके हुए फलो का रस १६ सेर, स्वच्छ दानेदार चीनी ४ सेर । गो घृत २ सेर, सोठ का चूर्ण आधा सेर, काली मिर्च का चूर्ण १ पाव, पिप्पली का चूर्ण दो छटाँक, पाकार्य जल ४ सेर । सबको एकत्र कर अग्नि पर चढावे जब गाढ़ा होने लगे तो उसमे तेजपात का चूर्ण १६ तोला तथा पिपरामूल, चित्रकमूल, नागरमोथा, धनिया, श्वेत जीरा, काला जीरा, सोठ, मरिच, छोटी पीपल, जायफल, तालीश पत्र, दाल चीनी, छोटी इलायची और नागकेशर का चूर्ण ४-४ तोले मिलावे । फिर अग्नि से नीचे उतार करके ठंडा होने पर उसमे मधु १ पाव मिलाकर रख ले । मात्रा २ तोला

प्रात एवं सन्ध्या समय अनुपान दूध । यह एक उत्तम वृष्य योग है । यह पुरुष तथा स्त्री दोनों के लिये उपयोगी है । पाण्डुरोग, प्रमेह तथा मूत्रकृच्छ्र में भी लाभ प्रद होता है । स्त्रियो में सन्तानोत्पादक होता है ।

वीर्य स्तंभकर योग—

१ शुद्ध किया सूरण का कंद तथा तुलसी को जड़ का चूर्ण बनाकर एवं मिश्रित कर १-२ मागे की मात्रा में पान के बीड़े में रखकर खाने से वीर्य च्युति शीघ्र नहीं होती है । इन दोनों औषधियों का एकैकश. स्वतन्त्र उपयोग भी लाभप्रद रहता है ।

२. चटक पत्ती के अण्डों को मक्खन में पीसकर सम्भोग काल में पैर के तलवों में लेप करने से जब तक पैर पृथ्वी से न छुवे तब तक वीर्यपात नहीं होता ।

३ नील कमल तथा सफेद कमल के केसर को चोनी और मधु में मिलाकर नाभि में लेप करने से शीघ्र वीर्य का स्खलन सम्भोग काल में नहीं होता ।

४ भूमिलता (केवुवे) को वरें के तैल में पीसकर पैरों पर लेप करने से भी रति काल में वीर्य स्खलन शीघ्रता से नहीं होता है ।

५ कामिनी विद्रावण रस—अकरकरा, सोठ, लवङ्ग, केशर, पिप्पली, जायफल, जावित्री, श्वेत चन्दन । इनमें से प्रत्येक १-१ तोला, शुद्ध हिंगुल और शुद्ध गंधक ४-४ माशे, शुद्ध अफीम ४ तोले । हिंगुल और गंधक को खरल कर कज्जली बनावे । फिर शेष औषधियों को चूर्ण करके मिलावे । पीछे पान के स्वरस में खरल कर ३-३ रत्ती की गोलियाँ बना ले छाया में सुखाकर बीशों में भरकर रखे । मात्रा १ गोली दिन में दो या तीन बार दूध के साथ सेवन करे । यह उत्तम वीर्य स्तंभक अहिफेन का योग है ।

वीर्य स्तंभ वटी—जायफल, लवङ्ग, जावित्री, केशर, छोटी इलायची, अहिफेन, अकरकरा प्रत्येक १-१ तोला, कपूर ३ माशा पान की पत्ती के रस में घोटकर चने के बराबर की गोली बना ले । शरीर के बल वर्णादि को बढ़ानी है तथा वीर्य स्तम्भन करती है ।

वृष्य रसौषधि योग—

पुष्पधन्वा रस—रस मिन्दूर, नाग भस्म, लौह भस्म, अभ्र भस्म, वग भस्म । प्रत्येक १-१ तोला । इन्हें एकत्र पीसकर घतूर की पत्ती के स्वरस, भाग के बवाय, मुलेठी के बवाय, सेमल की जड़ के बवाय और पान के पत्र स्वरस में पृथक्-पृथक् एक-एक भावना देकर २-२ रत्ती की गोलियाँ बना ले । घी ६ माशा और मनु ८ माशा के माय गोथी को ग्राकर ऊपर से मिश्री मिश्रित दूध पिये । प्रातः नायम् । उत्तम वाजीकरण है । बल एवं आयु का वर्धक है ।

हरजभुजगलौह चाभ्रकं वंगचूर्णं
कनकविजयवट्टी शाल्मली नागवल्ली ।

घृतमधुसितदुग्धं पुष्पधन्वा रसेन्द्रो ।

रमयति गतरामा दीर्घमायुर्वलञ्च ॥ (भै० र०)

कामिनी दर्पधन रस—शुद्ध पारद और शुद्ध गंधक दोनों की कज्जली करे दोनों के बराबर घतूर बीज (शुद्ध) का चूर्ण मिलावे । फिर घतूर बीज से निगले तैल की भावना देकर छाया में सुखाकर शीशी में भरकर रख ले । मात्रा आधी रत्ती । अनुपान घी, चीनी तथा दूध । इसके उपयोग से प्रमेह रोग दूर होता है, मनुष्य को अधिक वीर्यशाली और कामक्षम बनाता है ।

मन्मथाभ्र रस—शुद्ध पारद तथा गंधक समभाग लेकर कज्जली ४ तोला, निश्चन्द्र अभ्रक भस्म २ तोला, भीमसेनी कपूर १ तोला, वग भस्म एवं ताम्र भस्म $\frac{1}{2}$ — $\frac{1}{2}$ तोला, लौह भस्म १ तोला, विधारे की जड़ या बीज, श्वेत जीरा, विदारीकद, शतावर, तालमलाना बीज, खिरंटी वाज, केवाछ बीज अतीस, जावित्री, जायफल, लवङ्ग, भाग के वाज, श्वेतराल, अजवायन प्रत्येक का चूर्ण ६-६ मासे । सबको जल के साथ घोटकर २-२ रत्ती की गोलियाँ बना ले । मन्दोष्ण दुग्ध के अनुपान के साथ १-१ गोली दिन में दो या तीन बार ले । यह श्रेष्ठ बलवर्धक एवं उत्तम बाजीकरण योग है । यह तीव्र अग्निवर्धक है, ध्वजभंग की चिकित्सा में प्रायः व्यवहृत होता है ।

चन्द्रोदय रस—कूपीपत्र रसायनो में रस सिन्दूर, स्वर्ण सिन्दूर, चन्द्रोदय मकरध्वज, सिद्ध मकरध्वज सभी वृष्य एवं बाजीकरण होते हैं । इनका स्वतन्त्र अथवा अन्य औषधियों के साथ मिलाकर भी उपयोग किया जा सकता है । एक दो उत्तम योग नीचे उद्धृत किए जा रहे हैं ।

चन्द्रोदय मकरध्वज (स्वल्प)—जायफल, लवङ्ग, भीमसेनी कपूर, काली मिर्च का चूर्ण प्रत्येक एक-एक तोला, स्वर्ण भस्म तथा कस्तूरी १-१ माशा तथा रस सिन्दूर ४ तोले २ माशा । सबको एकत्र खरल कर पान के रस में घोटकर २-२ रत्ती की गोलियाँ बना ले, छाया में सुखा कर शीशी में भर ले । यह योग बल, वीर्य एवं अग्नि का वर्धक तथा अत्यन्त बाजीकर है ।

मकरमुष्टि योग—मकरध्वज, कान्तलौह भस्म तथा शुद्ध कुपीलु सब सम-भाग । पीसकर शीशी में भर कर रख ले । मात्रा १-२ रत्ती । अनुपान पान के बीड़े में रख कर भोजन के बाद । घृत, मलाई या मखन के साथ सुबह शाम ।

अश्वगंधा घृत या कामदेव घृत—अश्वगंध ४०० तोला, गोखरू २०० तोला, वरियारा, गिलोय, सखिन, विदारीकद, शतावरी, शुठी, पुनर्नवा.

पीपल के कोपल, गाम्भारी के फूल कमलगट्टा और उडद प्रत्येक ४० तोला सबको जोकट कर ४०९६ तोले जल में पकावे । जब चौथाई जल बाकी रहे तो कपड़े से छान ले और उसमें गाय का घी २५६ तोले मेदा-महामेदा, जीवरु, ऋषभक, काकोली, चीर काकोली, ऋद्धि, वृद्धि, कूठ, पदमाख, रक्त चंदन, तेजपात, पिप्पली, द्राक्षा, कँवाछ, नील कमल, नागवेंसर, शारिवा, बला, अतिबला प्रत्येक १-१ तोला और मिश्री ८ तोले इनके कपडछान चूर्ण का जल में बनाया हुआ कल्क का योग करके घृत पाक विधि से मद आँच पर पाक कर ले । घृत तैयार होने पर कपड़े से छानकर शीशी में भर ले । मात्रा १-२ तोले उतनी ही मिश्री का चूर्ण मिला कर दे और ऊपर से दूध पिलावे ।

यह योग उत्तम पौष्टिक तथा वाजीकर है । वीर्य क्षय, शरीर की कुशला और नपुंसकता में इसका प्रयोग करे । (सि. यो. स.)

इन योगों के अतिरिक्त वसन्त कुसुमाकर, शिलाजत्वादि वटी, जयमगल रम, पूर्णचन्द्र रम, अपूर्वमालिनी वसन्त, वसन्त तिलक रस आदि का प्रयोग भी यथायोग्य अनुपान से वाजीकरण के रूप में किया जा सकता है ।



तैत्तलीसर्वा अध्याय

रसायन (Geriatrics)

शाब्दिक-व्युत्पत्ति—रस + अयन इन दो शब्दों से रसायन शब्द की निष्पत्ति होती है । रस शब्द के बहुत से अर्थ प्रसङ्गानुसार संस्कृत वाङ्मय में पाए जाते हैं । विद्युद्ध वैद्यक शास्त्र की दृष्टि से विचारें तो भी रस शब्द के कई अर्थ हो सकते हैं, जैसे रस शास्त्र में रस पारद के अर्थ में, द्रव्य गुण विषय में पड़रसों के अर्थ में और शरीर शास्त्र में रस अन्नो के परिपाक होने के अनन्तर बनने वाले रस के अर्थ में व्यवहृत होते हैं । शास्त्रकारों ने रसायन शब्द में व्यवहृत होने वाले रस की इसी अन्तिम अर्थ में ग्रहण किया है । भोजन के सेवन के अनन्तर शरीर की पाचकाग्नि से पच जाने के पश्चात् जो अन्न रस बनता है, उसको रस शब्द से अनिहित किया गया है । इस रस के द्वारा सम्पूर्ण धातुओं का पोषण होता है । यह दिन रात शरीर में भ्रमण करता रहता है और यथावश्यक, यथाम्भान रक्त, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र प्रभृति धातुओं का पोषण करता हुआ सतत गमनशील है । एतदर्थ ही इसे रस की संज्ञा दी गयी है, अहरहः

‘गच्छतीति रस’ । यह रस सम्पूर्ण धातुओं का आदि धातु है इसी के परिणाम से रक्त मासादि धातुओं का पोषण होकर शरीर स्वस्थ एवं प्रभावान् रहता है । जबतक शरीर में यह भ्रमणशील धातु रहता है, तब तक शरीर जीवित है । जब यह रस अपनी गति बन्द कर देता है तो जीवन भी समाप्त हो जाता है । रस को दार्शनिकों ने ब्रह्म माना है, “रसो वै स” अर्थात् वह ब्रह्म या आत्म-तत्त्व या जीवन-तत्त्व रस ही है । इस रस की महत्ता दर्शन कराने के लिए इतना कथन ही पर्याप्त है ।

रस की महत्त्व सूचक एक दूसरी दृष्टि भी है । रस को आदि धातु माना है अर्थात् इसके स्वस्थ या विकृत होने का प्रभाव शरीर के स्वास्थ्य एवं दुःस्वास्थ्य पर अवश्यभावि है । अस्तु, रस शुद्ध स्वरूप का बने और उससे स्वस्थ एवं अविकृत धातुओं का निर्माण होकर शरीर का स्वास्थ्य चिरन्तन बना रहे इस प्रकार की विचारधारा का उदय भी स्वतः होता है “प्रीणन जीवन लेपः स्नेहो-धारण पूरणम् । गर्भोत्पादश्च कर्माणि धातूना क्रमशः स्मृतम् ।” रसायन शब्द में दूमेरा उपशब्द अयन है । अयन का प्रयोग मार्ग, आवास या प्राप्ति के अर्थ में पाया जाता है । यहाँ पर अयन शब्द प्राप्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । समास में रसायन शब्द का अर्थ होता है उत्तम या प्रशस्त रस की प्राप्ति । इसकी प्राप्ति का जो मार्ग है वह है रसायन । इसी अर्थ में आचार्य चरक ने रसायन शब्द की व्याख्या की है “लाभोपायो हि शस्ताना रसादीना रसायनम् ।” अर्थात् प्रशस्त रस आदि धातुओं के शरीर को प्राप्त कराने के उपाय को रसायन कहते हैं । किस प्रकार से प्रशस्त रसों का शरीर में निर्माण हो और उससे शरीर को लाभ पहुँचते हुए शरीर समुन्नत एवं स्वस्थ बन सके यह सब विधियाँ वैद्यक शास्त्र के जिस अंग में वर्णित की जाती हैं, उस अंग को ‘रसायन-तन्त्र’ कहा जाता है ।

परिभाषा.—आचार्य सुश्रुत ने रसायन तन्त्र की परिभाषा करते हुए कहा है “रसायन तन्त्रं नाम वयःस्थापनमायुर्मैवा वलकर रोग हरण ममर्थञ्च” । अर्थात् रसायन तन्त्र वैद्यक तन्त्र का वह अंग है जिसमें वयःस्थापन, (सौ वर्षतक आयु निरवच्छिन्न रखना), आयुष्कर (आयु को सौ वर्ष से भी अधिक बढ़ाना) मेधाकर (मस्तिष्क शक्ति को बढ़ाना), बलकर (स्वास्थ्य को अधिक शक्तिशाली या क्रियाशील बनाना), रोगापहरण (रोग का सदा के लिए दूर करना), तथा जरापहरण (वाङ्मय दूर कर बहुत काल तक व्यक्ति को तरुणावस्था में रखना) प्रभृति साधनों का उल्लेख पाया जाता है । (सु० सूत्र १ अ)

इस तन्त्र का प्रयोजन या सामर्थ्य बतलाते हुए इस अंग का विशेषण “सर्वो-पघात शमनीय रसायनम्” (सु चि २७) अन्यत्र लिखा है । इसका सारांश यह

है कि इस अंग के द्वारा सम्यक् रीति से अनुष्ठान किए जाने पर सम्पूर्ण प्रकार के उपशान्त या वाचाएँ दूर हो सकती हैं। इन सूत्र में रसायन शब्द की व्याख्या करने हुए इलहग ने लिखा है : “रसादि धातुनामयनं आप्यायनम्” अथवा “मेघजायितानां रस वीर्यविपाकप्रभावपरमायुर्वलवीर्याणां बलस्यैर्यकराणा-मयनम्, रसायनम्, वर्द्धकं स्थापकम् अप्राप्य प्रापकं वेत्यर्थः ।” अर्थात् स्वस्थ रस रक्तादि धातुओं का पूरण या प्राप्ति रसायन है। अथवा औषधियों के रस, वीर्य, विपाक, प्रभावों का आयु, बल, वीर्य बलस्यैर्य के लिए संयुक्त करने की क्षमता को रसायन कहते हैं। अर्थात् रसायन औषधियाँ अपने प्रभाव में आयु, बल एवं वीर्य की अधिक वर्द्धक एवं स्थिरता पैदा करने वाली होती हैं। अथवा अप्राप्य वस्तु की प्रापक (प्राप्त कराने वाली) होती है।

वाग्भट ने भी लिखा है—रसायन के सेवन से मनुष्य दीर्घायु, शक्ति, स्मृति, मेधा (मस्तिष्क शक्ति), उत्तम आरोग्य, तरुणावस्था (यौवन), प्रभा, वर्ण एवं स्वर की निर्मलता, शरीर तथा जानेन्द्रियों के अक्षुण्ण बल, वाक्सिद्धि (जो कहता हो उमका होना), वीर्य परिपूर्णता तथा कान्ति को प्राप्त करता है। संक्षेप में जिस तन्म-ज्ञान के द्वारा मनुष्य श्रेष्ठ रस रक्तादि धातुओं को प्राप्त करता है वह रसायन है। इसी भाव की उक्ति चरक संहिता में भी मिलती है।^१

रसायन शब्द का दूसरा व्यवहार वैद्यक शास्त्र में रस या पारद घटित औषधियों के अर्थ में भी पाया जाता है। नागार्जुन नामक शास्त्रकार रस विद्या के जन्मदाता माने जाते हैं। उन्होंने चिकित्सा में स्वास्थ्य संरक्षण तथा रोग चिकित्सा के लिए पारद, गन्धक एवं विविध प्रकार के धातुपधातुओं का प्रयोग प्रारम्भ किया। प्रगति करते-करते रस विद्या आज के युग में सर्वोत्तम सिद्ध हुई और आज वैद्यों में रस वैद्य ही अधिक पाए जाते हैं। रस विद्या के दो ही प्रधान सहेन्य थे। १—लौह मिद्धि अर्थात् अल्प मूल्य की धातुओं का जैसे चाँदी, सोना आदि में परिणत करना तथा २—वेह मिद्धि अर्थात् शरीर को उतना दृढ़ बना देना, जिससे विविध प्रकार के शरीर एवं आगन्तुक व्याधियों से मुक्त हुआ जा सके। इसी अर्थ में रसायन को भी रसायन कहा जाता है।

१ दीर्घमायुः स्मृति मेधामारोग्यं तरुणं वयः। प्रभावर्णस्वरोदायं देहेन्द्रियबलं परम्। वाक्सिद्धिं प्राप्तिं कान्तिं लभते ना रसायनात्। तामोषाद्यो हि यस्तानां रसादीनां रसायनम् ॥
(च० चि० १)

बहुत से धातवीय या खनिज पदार्थों का उपयोग रसायन रूप में अर्थात् नैऋज्य सम्पादन, जरावस्थाजन्य विकारों को दूर करना तथा दीर्घायु की प्राप्ति के निमित्त पाया जाता है। इनमें शिलाजीत, लौह, तथा कज्जली घटित कुछ योग अधिक प्रसिद्ध हैं। अध्याय के अन्त में ऐसे कुछ योगों का उल्लेख किया जा रहा है।

भेषजाभेषजः—चरक ने लिखा है^१ कि भेषज के पर्याय रूप में चिकित्सित व्याधिहर, पथ्य, साधन, औषध, प्रायश्चित्त, प्रशमन, प्रकृति स्थापन तथा हित शब्द का प्रयोग होता है। इन सभी शब्दों का एक ही अर्थ है चिकित्सा कार्य में व्यवहृत होने वाले औषध या भेषज दो प्रकार के होते हैं। १. स्वस्थ को अधिक ऊर्जस्कर या अधिक प्रशस्त बनाने वाले तथा २. रोगी के रोग दूर करने वाले। ऊर्जस्कर या प्रशस्तकर भेषज से तात्पर्य यह है कि ऐसी औषध जो १ जरा-व्याधि-मृत्यु प्रभृति स्वाभाविक (Natural decaying) व्याधियों को दूर कर सके अथवा २ अहर्ष, मंथुनको अशक्ति एवं अशुक्रता को दूर कर मनुष्य को अधिक हर्षयुक्त, मंथुनक्षम एवं अधिक वीर्ययुक्त बना सके। इनमें प्रथम वर्ग को रसायन औषध और दूसरे वर्ग को वाजीकरण औषध कहते हैं। कुछ ऐसी भी औषधियाँ हैं जो केवल ज्वर, आतिसार, रक्त पित्त आदि की चिकित्सा में अर्थात् रोगी के रोग के दूर करने में ही उपयुक्त होती हैं।

अब यहाँ पुनः शका होती है कि क्या इन भेषजों का यह वर्गीकरण ठीक है? क्योंकि बहुत से भेषज जो वृष्य या वाजीकरण बतलाए गए हैं वे रसायन रूप में भी व्यवहृत होते हैं अथवा बहुत से रसायन रूप में कथित औषध रोग की चिकित्सा में भी व्यवहृत होते हैं।

उदाहरण के लिए क्षतक्षीण की चिकित्सा में व्यवहृत सर्पिगुड आदि बहुत से योग रसायन एवं वृष्य भी होते हैं। पाण्डु रोगाधिकार में चिकित्सा में व्यवहृत होने वाला योगराज रसायन भी बतलाया गया है और कास रोग में व्यवहृत होनेवाला अगस्त्य हरीतकी योग रसायन रूप में भी कथित हुआ है। इसके अतिरिक्त रसायन तथा वाजीकरणाधिकार के बहुत से भेषज चिकित्सा में रोग प्रशमन में भी प्रयुक्त होते हैं। फलतः इस तरह का भेषज का वर्गीकरण अनुप-

१. चिकित्सित व्याधिहर पथ्यं साधनमौषधम्। प्रायश्चित्तप्रशमनं प्रकृतिस्थापनं हितम्। विद्याद् भेषजनामानि, भेषजं द्विविधं च तत्। स्वस्थस्योर्जस्करं किञ्चित् किञ्चिदार्तय रोगनुत् ॥ स्वस्थस्योर्जस्करं यत्तु तद् वृष्यं तद् रसायनम् ॥

(च० चि० १.)

युक्त है। अस्तु, शास्त्रकारों के इस प्रकार के विभाजन का लक्ष्य केवल बाहुल्य प्रदर्शन है। अर्थात् जिन भेषजों में रसायन गुणों की बहुलता है, वे रसायन, जिनमें वृष्य कार्य की बहुलता है वे वाजीकरण और जिनमें रोगों के रोग प्रशमन की बहुलता पाई जाती है वे रोगनुत् औषध हैं। यद्यपि सभी औषधियाँ उभयार्थ-कारी होती हैं, सभी प्रयोजनों में व्यवहृत हो सकती हैं, परन्तु उनमें तद्-तद् गुणों की बहुलता विशेषतया आधिक्य होने में तद्-तद् औषधियों का वृष्य रसायन या रोगनुत् का विशेषण दिया गया है। प्रायः शब्द का व्यवहार इनकी विशेषता द्योतनार्थ होता है।^१ इस प्रकार मक्षेप में कहना हो तो ऐसा कहेंगे कि जो औषधियाँ आमलकी, कपिकच्छू आदि विशेषकर स्वस्थ को अधिक प्रगस्तकर बनाती हैं वे वृष्य या रसायन के विभाग में और जो बहुलता से रोग प्रशमन में व्यवहृत होती हैं जैसे पाठा, कुटज, मसृपणं प्रभृति वे व्याधिहर औषधियों के वर्ग में आती हैं। इनमें स्वस्थ को उर्जस्कर बनाने वाले भेषजों के दो विभाग हैं— रसायन तथा वाजीकरण एवं व्याधिहर औषधियों का एक दूसरा ही वर्ग है जिनका उल्लेख पूर्व के अध्यायों में चिकित्सा बीज में हो चुका है। इस प्रकार भेषजों के तीन वर्ग रसायन, वाजीकरण तथा व्याधिहर हैं।^२

भेषज का विपरीत शब्द अभेषज है। इनका सेवन नहीं करना चाहिए ये शरीर के लिए हानिप्रद हैं। ये न रसायन हैं, न वाजीकर^३ और न व्याधिहर, प्रत्युत विकल्प हैं। शरीर को स्वस्थ बनाए रखने के लिए केवल भेषज या औषध का उपयोग करना चाहिए, अभेषज का नहीं। ये अभेषज भी दो प्रकार के होते हैं। १. वाधन तथा २. सानुवाधन। वाधन उन अपथ्यों या अभेषजों को कहते हैं जो तत्काल अपना हानिप्रद प्रभाव शरीर के ऊपर दिखावे। जैसे विविध प्रकार के तीव्र विष। अनुवाधन उन अपथ्यों या अभेषजों को कहते हैं जो दूषी विष या गर विष स्वरूप के और दीर्घ-काल तक अपना प्रभाव दिखाकर कुष्ठादि व्याधियों को पैदा करें। नमामतः सद्यो बाधक अभेषजों को बाधन तथा दीर्घ-कालीन परिणामी अभेषजों का अनुवाधन कहते हैं।

१ स्वस्थम्योर्जस्करं यत्तु तद् वृष्य तद् रसायनम् ।

प्रायः प्रायेण रोगाणां द्वितीयप्रशमे मतम् ॥

प्रायः शब्दो विशेषार्थो ह्युभय ह्युभयार्थकृतः । (च. चि १)

२. स्वस्थम्योर्जस्करत्वे द्विविधं प्रोक्तमौषधम् ।

यद् व्याधिनिर्घातिकरं वक्ष्यते तच्चिकित्सिते ॥

एक मे Acute Poisoning और दूसरे मे Slow Poisoning या Chronic Poisoning स्वरूप होता है। दूसरे शब्दों मे इनको सद्योविपाकी तथा कालान्तर विपाकी कहा जाता है।^१

रसायन के गुण—ब्राह्म रसायन की महिमा का उल्लेख करते हुए लिखा है :— यह महर्षिगण से सेवित रसायन है। उसके प्रयोग से मनुष्य निरोग, दीर्घ आयु वाला एवं बलवान् होता है। उसका शरीर कान्तिमान तथा चन्द्र और सूर्य के समान देदीप्यमान हो जाता है। स्मृति-शक्ति इतनी बढ जाती है कि सुनने के साथ ही उसका धारण भी किया जा सकता है। मनुष्य का शरीर ऋषिसत्त्व हो जाता है। वह पर्वत के समान पृथ्वी का धारण करने वाला, वायु के समान विक्रम वाला हो जाता है। उसके शरीर मे विष का कोई प्रभाव नहीं होता।

च्यवनप्रास रसायन की महिमा बताते हुए कहा गया है कि यह एक परम उत्तम रसायन है। कई रोगों मे इसका उपयोग उत्तम लाभप्रद होता है। जैसे—कास-श्वात, क्षत-क्षीण, स्वरक्षय, उरोरोग, हृदय रोग, वात रक्त, तृष्णा, मूत्रदोष, शुक्रदाप आदि। इस रसायन का उपयोग वृद्धों और बालकों के अंग की वृद्धि करने के लिए करना चाहिए। इसके उपयोग से च्यवन ऋषि अत्यन्त वृद्ध होने पर भी पुन युवावस्था मे आ गये थे। इसके सेवन से मेधा, स्मृति, आयु, अग्नि, इन्द्रियबल, कान्ति, नैरोग्य, स्त्री मे हर्ष प्रभृति की वृद्धि होती है। शरीर का वर्ण बढता है। इसका कुटी प्रावेशिक नामक विशेष विधि से सेवन करने पर सम्पूर्ण वृद्धावस्था का स्वरूप परिवर्तित होकर नवीन युवावस्था का स्वरूप मनुष्य का बन जाता है।^२

आमलक धृत की गुण स्तुति करते हुए भी लिखा है कि इसके सेवन करने से शरीर पर्वत के समान वृहत् और सारयुक्त हो जाता है, इन्द्रियाँ बलवान् एवं स्थिर हो जाती ह। स्वरूप सुन्दर हो जाता है, चित्त प्रसन्न रहता है, घोष घने बादल के मानिन्द हो जाता है और वह मनुष्य बहुसंख्या मे बली सन्तानों का जन्म देने वाला होता है। इसी प्रकार आमलक्यबलेह प्रभृति अन्यान्य रसायन

१ अभेषजमिति ज्ञेयं विपरीत यदौषधात्।

तदसेव्य निषेव्य तु प्रवक्ष्यामि यदौषधम् ॥

अभेषज च द्विविध बाधन सानुबाधनम्। च वि १

२ इत्ययं च्यवनप्रास परमुक्तो रसायन।

कासश्वासहरश्चैव विशेषेणोपदिश्यते ॥

योगी की प्रशंसा में लिखा है कि इनके सेवन से बिना वृद्धावस्था का अनुभव किए हुए मनुष्य सौ वर्ष तक जीता है ।

रसायनों की प्रशंसा में यह समासोक्ति पर्याप्त है कि जैसे देवताओं के लिए अमृत है, मर्षों के लिए सुधा का स्थान है वैसे ही प्राचीन काल में महर्षियों के लिए रसायन का स्थान था । इसके प्रभाव से न उनमें वृद्धावस्था आती थी न दुर्बलता, न रोगी होते थे और न मरते थे । रसायनों के प्रयोग से सहस्र वर्ष तक की आयु का निर्वाच भोग करते थे । फलतः रसायन के सेवन से न केवल दीर्घायु की प्राप्ति होती है, प्रत्युत देवर्षियों के द्वारा प्राप्त होने वाली परमगति अर्थात् अक्षय ब्रह्म गति की भी प्राप्ति होती है ।^१

दिव्यौषधियो अथवा रसायनों का अवतरण .—प्राचीन काल में किसी समय गालीन एवं यायावर दोनो वर्ग के ऋषिगण ' गालीन का अर्थ होता है घर बना कर गृहस्थ जैसे रहना और यायावर का अर्थ होता है भ्रमण करने वाले), ग्रामीण या नागरिक लोग जिन औषधियों (गेहूँ, यव, चावल आदि आहार) का भोजन करते हैं, उन्हीं औषधियों का भोजन करते हुए सम्पन्न पुरुषों के सदृश भारी शरीर, भारी पेट वाले और आलसी हो गये जिसके फल-स्वरूप पूर्ण निरोग नहीं रह गये । वे भृगु, अङ्गिरा, वसिष्ठ, अत्रि, काश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, कामदेव, अमित और गौतम प्रभृति महर्षि जब इस आहार के करने में अतः तपश्चर्या, पूजा-पाठ करने में भी असमर्थ हो गये तब उन्होंने

क्षीणक्षतानां वृद्धानां बालानां चाङ्गवर्द्धनः ।

स्वरक्षयं उरोरोगं हृद्रोगं वातशोणितम् ॥

पिपासा मुखशुक्रस्था दोषाश्चाप्यपकर्षति ।

अस्य मात्रा प्रयुञ्जीत योषुष्यान्मभोजनम् ॥

यस्य प्रयोगाच्चव्रतन. नुवृद्धोऽभूत् पुनर्युवा ।

मेधा स्मृतिरिति कान्तिमनामयत्यं आयुः प्रवर्धं बलमिन्द्रियाणाम् ।

श्रोत्रं प्रहर्षं परमाग्निवृद्धिं वर्णप्रसादं पवनानुलोम्यम् ॥

रसायनस्यैव नरः प्रयोगाल्लभेन जीर्णोऽपि कुटीप्रवेष्टान् ।

जराकृतं रूपमप्यस्य सर्वं विभक्तिं रूपं नवयौवनस्य ॥ (च चि ?)

१ यथा नराणाममृतं तथा भोगवता सुधा । तथाभवन्महर्षीणां रसायनदिव्यं पुरा । न जरा न च दीर्घत्वनातुर्यं निधनं न च । जन्मवर्षमहन्त्राणि रसायनपरं पुरा ॥ न केवलं दीर्घमिहायुरश्नुते रसायनं यो विधिवन्निपेवते । गतिं न देवर्षिनिपेविता शुभा प्रपद्यते ब्रह्म तथेति चाक्षरम् । च. वि. २

विचारा कि नगर या ग्राम-वास से उनकी यह दुरवस्था हुई है। फलतः उन्होंने निश्चय किया कि हम लोग इस दुरवस्था से बचने के लिए ग्राम्य दोष से रहित कल्याणकारक, पुण्य एवं उदार स्थान, पापियों के लिए अगम्य, गंगा के उत्पत्ति स्थान, देव-गन्धर्व-यक्ष-किन्नरो की सञ्चार भूमि, अनेक रत्नों की खान, अचिन्त्य एवं अद्भुत प्रभाव वाले ब्रह्मपियों-सिद्ध पुरुषों के चरणों से सेवित, दिव्य तीर्थ एवं दिव्य औषधियों के उत्पत्ति स्थान, अतिशरण्या तथा देवराज इन्द्र से सुरक्षित हिमालय पर्वत पर चले और उन्होंने ऐसा ही किया।

हिमालय में पहुँचने पर देवताओं के गुरु इन्द्र ने उन लोगों का स्वागत एवं सत्कार किया और कहा कि आप लोग ज्ञान एवं तपस्या में बड़े हुए ब्रह्मज्ञानों पुरुष हैं। परन्तु ग्राम्यवास के कारण आप लोगों का शरीर कष्टयुक्त हो रहा है, स्वर एवं वर्ण में अन्तर आ गया है तथा असुख का अनुभव कर रहे हैं। ग्राम का वास वास्तव में अप्रशस्त है, इस वास से बहुधा असुख उत्पन्न हो रहे हैं। आप पुण्यवानों का ग्रामवासी जनता के कल्याण के लिए यहाँ आगमन हुआ अपने शरीर के दोषों के परिमार्जन के साथ-साथ ग्राम-वासी जनता का भी आप कल्याण करना चाहते हैं एतदर्थ आप लोगों का यहाँ आगमन हुआ है। यह काल भी आयुर्वेद के उपदेश के लिए उपयुक्त है। अस्तु, मैं आप लोगों को आयुर्वेद का उपदेश करूँगा, जिसके द्वारा आप अपना तथा ग्रामवासी प्रजा दोनों का कल्याण कर सकें। फिर इन्द्र ने इन महर्षियों को आयुर्वेद का उपदेश किया।

इन्द्र ने कहा कि यह आयुर्वेद का उपदेश अपने तथा प्रजा के कल्याण के लिए है। इस आयुर्वेद का उपदेश अश्विनी कुमारों ने मुझे किया था, अश्विनी कुमारों को यह ज्ञान प्रजापति से प्राप्त हुआ था और प्रजापति को साक्षात् जगत् के स्रष्टा ब्रह्मा ने उपदेश किया था। इस उपदेश का प्रधान उद्देश्य ग्रामवास करते हुए प्रजा का कल्याण ही है। लोक की प्रजा रोग, वृद्धावस्था (छोटी उमर में ही वर्द्धव्य का अनुभव) दुःख एवं दुःख की परम्परा से पीड़ित हैं, वे अल्पायु हो गये हैं, उनमें तप-दम-नियम एवं अध्ययन की कमी होती जा रही है। अस्तु, मैं उन लोगों को तप-दम-नियम-अध्ययन में अधिक समर्थ करने के लिए, आयु को बढ़ाने के लिए, जरावस्था एवं रोग को दूर करने के लिए, स्वस्थ प्रजा को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए, आप लोगों के समक्ष ब्रह्म, आर्ष, अक्षय, परम कल्याणकारक, उदार एवं अमृत स्वरूप आयुर्वेदीय रसायनों का उपदेश कर रहा हूँ। आप सभी एकाग्रचित्त होकर सुनें और सुनकर प्रजा के कल्याण के लिए इसे प्रकाशित करें और प्रचार करें। इन्द्र के इस वचन को सुनकर ऋषियों ने इन्द्र की स्तुति की और बड़े प्रसन्न हुए।

इन प्रकार इन्द्र ने आयुर्वेद के अनृत स्वरूप इन रसायन औषधियों का तथा दिव्य औषधियों का परिचय ऋषि लोगो को कराया। उन्होने यह भी कहा कि हिमालय पर्वत में पैदा होने वाली ये दिव्य औषधियाँ सम्पूर्ण वीर्ययुक्त हो गयी हैं और इनके उपयोग का यही उपयुक्त समय है, इनका मचय भी अभी करना चाहिए। इन औषधियों को सिद्ध औषधियाँ या इन्द्रोक्त रसायन कहते हैं। जैसे ऐन्द्री, ब्राह्मी, पयस्था (क्षीर काकोले), क्षीर पुष्पो (गन्ध पुष्पो या विष्णुक्रान्ता), श्रावणी (मुण्डी), महाश्रावणी (मुण्डो भेद), गतावरी (गतावर), विदारीकन्द, जीवन्ती, पुनर्नवा, नागवला, स्थिरा (चालपर्णी), वचा, छत्रा, अतिछत्रा, मेदा, महामेदा, अन्य जीवनीय गणकी औषधियाँ जैसे जीवक, ऋषभक, मुद्गपर्णी, मापपर्णी, मधुयष्टी। इनके छ मास के उपयोग में आयु की परम वृद्धि होती है, व्यक्ति सदा युवा बना रहता है, निरोग रहता है, वर्ण और कान्ति की वृद्धि होती है, मस्तिष्क और मेवा की शक्ति प्रखर होती है, बल की वृद्धि होती है तथा अन्य भी इच्छित कामनाओं की पूर्ति करने में ये सिद्ध हैं। इन औषधियों के अतिरिक्त अन्य भी कई निद्ध रसायनों का ज्ञान ऋषियों को प्राप्त हुआ। यथा —

ब्रह्म मुवर्चला- नामक औषधि जिसका क्षीर मुवर्ण के रंग का होता है एवं पत्र पुष्कर सदृश होते हैं। आदित्य पर्णी नामक औषधि जिसको सूर्यक्रान्ता भी कहते हैं इसका भी क्षीर मुवर्ण वर्ण का और पुष्प सूर्य मण्डल के आकार का होता है। नारी नामक औषधि जिसे अश्ववला भी कहते हैं जिसके पिप्पली (दन्तवज) सदृश पत्र होते हैं। काष्ठगोवा नामक औषधि जो गोह (गोवा) के आकार की तथा सर्पा नामक औषधि सर्प के आकार की होती है।

सोम नामक औषधियों का राजा जिममें पन्द्रह गाँठ और प्रत्येक गाँठ पर एक पत्ती लगी हुई कुल पन्द्रह पत्तियों वाली औषधि है, इसमें सोम (चन्द्र) के समान वृद्धि और ह्लाम पाया जाता है। अर्थात् पूर्णिमा के दिन यह औषधि पन्द्रह पत्तों में पूर्ण रहती है। कृष्ण पक्ष में तिथि के क्रम से पत्र गिरते हैं और अमावास्या के दिन यह पूर्णतया निष्पत्र हो जाती है। पद्मा नामक औषधि पद्मादार, लाल कमल के आकार की एवं पद्म (लाल कमल) के गन्ध की होती है। अजा नामक औषधि को अजशृङ्गो भी कहते हैं। नीला नामक औषधि नील वर्ण के फूलवाली, नीले रङ्ग के दूधवाली और लता के प्रतान के रूप में पाई जाती है।

एन श्याम औषधियों (नीवीं औषधिराज सोम) में से जो-जो भी औषधि प्राप्त है उन-उन औषधियों के स्वरूप को पेट भर पीकर घा, तेल आदि स्नेह में भावित ताजी (गीली) पत्थान की बनाई हुई टोपी (Tub) में जिन पर पत्थान की ताजी लकड़ी का ढकना भी है, नग्न होकर लेट जाय। वह

वहाँ मूर्च्छित हो जाता है। छ मास के पश्चात् पुन संज्ञा में आता है। उस समय उसे बकरी के दुग्ध पर सजीवावस्था में रखना चाहिए अर्थात् बकरी का दूध पीने को देना चाहिए। छ मास के बाद वह आयु, वर्ण, स्वर, आकृति, बल तथा कान्ति में देवताओं के सदृश हो जाता है और स्वयं ही उसे सब भाषाएँ प्रकट होती हैं अर्थात् सभी भाषाओं का उसे अनायास ही ज्ञान हो जाता है। उसके नेत्र और कर्ण दिव्य हो जाते हैं। जो साधारण मनुष्य देख और सुन नहीं सकते वह भी उसे दिखाई और सुनाई देता है। वह एक हजार योजन तक एक दिन में चल सकता है। रोग आदि उपद्रवों से रहित दश हजार वर्ष की आयु होती है।

साधारण देश में उत्पन्न होनेवाली औषधियों के सेवन की भी वही विधि है जो हिमालय पर उत्पन्न होनेवाली दिव्य औषधियों की है। किन्तु इनका वीर्य क्षेत्र के गुणों के कारण तथा कर्म (जरा-व्याधि-नाश आदि) के मध्यम होने से मृदु होता है। वही औषधियाँ हिमालय के अतिरिक्त अन्य देशों में उत्पन्न होने पर वीर्य में मृदु होती हैं, क्योंकि उन देशों की भूमि वह उत्तम प्रभाव नहीं रखती जो हिमालय पर्वत रखता है। जो वानप्रस्थी उद्यमी तथा संयमी हो वही इन मृदु वीर्य वाली औषधियों का सेवन कर सकते हैं। असयत पुरुष इन मृदु वीर्य वाली औषधियों को भी सहन नहीं कर सकते। तीक्ष्ण वीर्य वाली ब्रह्मसुवर्चला आदि औषधियों के वीर्य को केवल वही मनुष्य सह सकते हैं जो हिमालय पर्वत पर रहकर तपस्या आदि का अनुष्ठान करते रहते हैं। जो लोग नगर आदि या नगर के समीप के वनों में रहते हैं तथा संयमी हैं वे बल में मध्यम होते हैं तथा वे मृदुवीर्य ब्रह्मसुवर्चला इत्यादि के वीर्य को सह लेते हैं। जो साधारण पुरुष आलसी तथा विषय जाल में फँसे होते हैं वे निर्बल होते हैं और इन औषधियों के वीर्य को नहीं सह सकते।

जो मनुष्य आरोग्य चाहते हैं, परन्तु उन औषधियों को ढूँढने अथवा प्रयोग करने में असमर्थ हैं उनके लिए दूसरा रसायन विधान उत्तम है (इन्द्रोक्त रसायन विधान)।

रसायन (Geriatrics) का आलोचनात्मक विवेचन—
संसार की सभी वस्तुएँ नश्वर हैं। ये क्रमशः जीर्ण होते हुए नष्ट हो जाती हैं। यह एक प्रकार का स्वभाव है अर्थात् स्वभाव से ही नयी चीजें पुरानी होती हुई काल से कवलिन होकर लय को प्राप्त होती हैं। इसी विधि विधान अनुसार मनुष्य तथा अन्य जीवधारियों में भी विकार (रोग) उत्पन्न होते हैं। उनमें क्रमशः जीर्णविस्था या जरावस्था (वार्द्धक्य) की प्राप्ति होती है और मृत्यु के

द्वारा उनका निधन प्राप्त होता है। केशों का ग्वेत होना केशों का वार्द्धक्य है, दृष्टि की शक्ति का ह्रास होना उनमें काच या मोतियाबिन्दु का बनना नेत्रों का वार्द्धक्य, त्वचा में झुर्रियों का पड़ना, त्वचा की जरूरीता, पेणियों का शैथिल्य और उनकी नमनशीलता का कम होना मासपेशी का वार्द्धक्य, शरीरगत रक्त-वाहिनियों की नमनशीलता का कम होकर दृढ़ता का धमनी जरूरीता (Arterio-sclerosis) प्रभृति परिवर्तन वार्द्धक्य के चिह्न के रूप में पाए जाते हैं। संक्षेप में युवावस्था में जो कार्य-क्षमता रहती है उसका क्रमिक ह्रास वृद्धावस्था में कुछ परिवर्तनों के अनन्तर पाये जाते हैं। ये सभी घटनाएँ काल परिणाम से होती हैं और स्वाभाविक हैं एवं मर्त्य लोक में अवश्यभावि हैं। देव योनि में ममय से होनेवाले परिवर्तन नहीं पाये जाते। मनुष्य एवं देव, मर्त्य तथा स्वर्ग लोक में यही महान् अन्तर है। स्वर्ग, नरक की कल्पना का भी सम्भवतः यही आधार है। फलतः देव लोक काल परिणाम जन्य रोग, जरावस्था और मृत्यु इन तीन अवस्थाओं से परे होते हैं अर्थात् इन तीनों स्वाभाविक अवस्थाओं पर विजय प्राप्त किए हुए हैं।

मनुष्य अनेक युगों से इस देवत्व की प्राप्ति के लिए प्रयास करता आ रहा है। फलतः मानव का जरा, रोग और मृत्यु के जीतने का या इनके ऊपर विजय प्राप्त करने का प्रयास अनादि काल से चला आ रहा है और जागृत है। आधुनिक युग में वैज्ञानिक भी रोग पर विजय प्राप्त करने के लिए सतत प्रयत्नशील है। उसी प्रयास के फलस्वरूप रोग निवारण (Prevention) के बड़े-बड़े साधनों का आविष्कार किया है और करते जा रहे हैं। विश्व स्वास्थ्य संघ (W. H. O.) का संगठन भी इसी आधार पर हुआ है कि किस प्रकार हम मनुष्य को निरोग रख सकें। जरावस्था पर भी विजय प्राप्त करने का दुन्दुभी-घोष कर दिया है। युवक को वृद्धावस्था में परिणत करनेवाले कारण भूत विभिन्न प्रकार के निःसिन्दो (Hormones) के परिवर्तनों, जीवतिक्षितियों को कमी पुनः उनकी पूर्ति द्वारा जरावस्था को रोकने का प्रयत्न (Geriatrics) समुदाय की चिकित्सा व्यवस्था द्वारा चल रहा है। यद्यपि इन योगों में सफलता पूरी नहीं मिल पाई है, परन्तु प्रयत्न चल रहे हैं—सम्भव है भविष्य भी उज्ज्वल रहे। मृत्यु पर भी आधिपत्य प्राप्त करने के लिए आज वैज्ञानिक मनीषी अग्रसर हैं, परन्तु सफलता अभी भविष्य के अन्तराल में निहित है।

आयुर्वेद में एक स्वतन्त्र अंग ही दिव्य रमायनों का पाया जाता है। अन्य अंग यद्यपि अपूर्ण भी मिलते हैं, परन्तु यह अंग स्वतः पूर्ण एवं अनुपम है।

आयुर्वेद के द्विविध प्रयोजनो का उल्लेख ऊपर हो चुका है। स्वस्थ को अधिक उर्जस्कर बनाना भी उसका एक अन्यतम प्रयोजन है। इसी निमित्त वाजीकरण एवं रसायन तन्त्रों का उल्लेख पाया जाता है। सुन्दर स्वास्थ्य के साथ दीर्घायुष्य की प्राप्ति भी आयुर्वेदोपदेश का उद्देश्य रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति रसायनो के द्वारा ही सम्भव है। लिखा है जो व्यक्ति विधिपूर्वक रसायनो का सेवन करता है वह केवल दीर्घायुष्य नहीं प्राप्त करता अपितु देव ऋषियो के द्वारा प्राप्त गति एवं अक्षर ब्रह्म को भी प्राप्त करता है।

रसायन के प्रकार—सुश्रुत टीकाकार ने रसायनो के तीन प्रकार बतलाये हैं। १. काम्य रसायन २. नैमित्तिक रसायन ३. आजस्त्रिक रसायन। काम्य रसायन किसी विशेष कामना (इच्छा या उद्देश्य) से उपयोग में आने वाले रसायन हैं जैसे—प्राण कामीय, श्रो कामीय, मेधा कामीय इत्यादि रसायन। नैमित्तिक—किसी रोग विशेष को दूर करने की इच्छा वा उद्देश्य से उपयोग में आने वाले रसायन जैसे—शिलाजतु रसायन का कुष्ठ हरण के लिए प्रयोग, भल्लातक रसायन का कुष्ठ या अर्श व्याधि के दूरीकरण के निमित्त उपयोग, तुवरक रसायन का मधुमेह या कुष्ठ व्याधि नाशार्थ उपयोग। आजस्त्रिक—मे निरन्तर भोजन के रूप में या नित्य अभ्यास के रूप में व्यवहृत होनेवाले रसायन जैसे घृत या क्षीर का अभ्यास ऐसे द्रव्यों के सदा उपयोग से शरीर स्वस्थ रहता है। आयु एवं मेधा की वृद्धि होती है।

१ सशोधन और २ संशमन भेद से भी रसायनो के दो भेद होते हैं। कुछ ऐसे रसायन द्रव्य होते हैं जिनके प्रयोग से शरीर का वमन, विरेचन, स्वेदन प्रभृति क्रिया होकर देह की शुद्धि हो जाती है। पुन विकृत दोषो के निकल जाने के अनन्तर नवीन जीवन का संचार होता है। जैसे कि सुश्रुतोक्त सोम रसायन का प्रयोग। इसके विपरीत रसायनो का दूसरा वर्ग संशमन क्रियावाली दिव्य औषधियो का आता है। जिनके प्रयोग से सशोधन न होकर केवल संशमन मात्र से कार्य होता है। रसायनो का अविकाश भाग संशमन वर्ग की औषधियो का ही है जैसे—आमलकी, नागवला, च्यवनप्राश रसायन आदि।

रसायनो की प्रयोग विधि के अनुसार भी उनके दो वर्ग होते हैं।

१ वातातपिक २. कुटी प्रावेशिक। इनमें कुटी प्रावेशिक प्रधान या मुख्य विधि तथा वातातपिक गौण या अमुख्य विधि है।^१ दूसरे शब्दों में कुटीप्रावेशिक को

१ रसायनाना द्विविध प्रयोगमूपयो विदुः।

कुटीप्रावेशिक मुख्य वातातपिकमन्यथा ॥

Indoor treatment तथा वातातपिककी Outdoor treatment कहा जा सकता है ।

कुटी प्रावेशिक विधि—ग्राम या नगर के पूर्व या उत्तर दिशा में, जिस स्थान पर सभी आवश्यक सामग्री प्राप्त हो सके, जहाँ की भूमि अच्छी हो तथा वातावरण शान्त, गर्द-गुवार और धूम से रहित तथा निर्भय हो एक छोटी-सी कुटी या छोटा सा मकान बनवाना चाहिए । यह घर त्रिगर्भ होना चाहिये । त्रिगर्भ कहने का यह अर्थ है कि मकान के दो खण्ड बाहर रहे और तीसरा मकान उसके बीच में रहे । सभी खण्ड के मकान प्रशस्त होने चाहिएँ । शोर-गुल और अप्रिय गन्ध वहाँ नहीं पहुँचना चाहिये । मकान पर्याप्त लम्बा, चौड़ा और ऊँचा होना चाहिए । मकान की दीवारें मोटी और मजबूत होनी चाहिए, उसमें हवा और प्रकाश की अच्छी व्यवस्था के लिए वातायन (झरोके) बने होने चाहिएँ । यह मकान सब ऋतुओं में सुखप्रद, मन को सुख देने वाला होना चाहिए । उस कुटी में गम्य स्त्रियों का निषेध हो ।

मंगलाचार करके पुण्य दिन में अपने पूज्य देवतादि का पूजन करके, मन-शरीर और वाणी को पवित्र करके, ब्रह्मचर्य, धैर्य, श्रद्धा, इन्द्रिय मयम, देवोपासना, दान-दया-सत्यव्रत तथा धर्म में लीन रह कर उचित मात्रा में सोने और जागने की क्रिया करते हुए औपधि एवं वैद्य में प्रीति एवं विश्वास रखकर, अनन्य प्रकार का आहार, विहार और आचरणों का पालन करते हुए रसायन-सेवी मनुष्य कुटी में प्रवेश करे और रसायन का सेवन प्रारम्भ करे । सर्वप्रथम व्यक्ति का वमन, विरेचन कर्म से सशोधन करना चाहिए ।^१

शोधन—शोधन के लिए हरीतकी, आँवला, वच, सन्धव, सोठ, हल्दी, पिप्पली और गुड इनका चूर्ण बनाकर गर्म जल से पिलावे । इससे भली प्रकार विरेचन होकर कोष्ठ शुद्धि हो जाती है । फिर शरीर के शोधन के पश्चात् रोगी का ससर्जन करते हुए तीन, पाँच या सात दिनों तक यव की रोटी या दलिया बनाकर घी के साथ पथ्य में देना चाहिए । जब तक पुराने मल का शोधन न हो जावे तब तक यव का भोजन घृत के साथ देना चाहिए । इस प्रकार सस्कृत

१ चरक चिकित्सा, प्रथम अध्याय । वारभट उत्तरतन्त्र ३९ अध्याय । सु चि. ३८ अध्याय । तत. शुद्धशरीराय कृतमंसर्जनाय च । त्रिरात्र पञ्चरात्रं वा सप्ताह वा घृतान्वितम् ॥ दद्याद्यावकमागुद्रे पुराणयकृतोऽथवा । इत्य मस्कृत-कोष्ठस्य रमायनमुपाहरेत् ॥ यस्य यद्योगिकं पश्येत् सर्वमालोच्य सात्म्यवित् ।

(अ० ह० उत्तर तन्त्र ३९)

कोष्ठ व्यक्ति के लिए जो रसायन योग उचित एवं सात्म्य प्रतीत हो उसका सेवन रोगी को करावे ।

अशुद्ध शरीर में रसायन प्रयोग निष्फल—मलिन वस्त्र में दिया हुआ रंग जिस प्रकार बढ़िया कार्य नहीं करता है उसी प्रकार मलिन शरीर में बिना शोधन किये गये रसायन या वाजीकरण योगों का उत्तम प्रयोग लाभप्रद नहीं रहता है । अस्तु, रसायन सेवन के पूर्व व्यक्ति का शोधन अवश्य कर लेना चाहिए ।

सौर्यमारुतिक विधि—इस प्रकार कुटीप्रावेशिक विधि का उल्लेख हुआ । कुटीप्रावेशिक विधि सबके लिए सुलभ नहीं हो सकती है । यह कुछ सीमित श्रीमन्त, समर्थ, निरोग, बुद्धिमान, निश्चित विचारवाले, नौकर-चाकर-युक्त, धनी-मानी पुरुषों के लिए सम्भव रहता है । जो व्यक्ति धनी-मानी नहीं फिर भी रसायन योगों के सेवन के अभिलाषी है उनके लिए वातातपिक या सौर्य-मारुतिक विधि से रसायनों का प्रयोग करना चाहिए । वातातपिक अर्थात् वात (वायु, हवा), और आतप (धूप) में रहते हुए, घूमते-फिरते रसायन सेवन की विधि । सौर्यमारुतिक का भी अर्थ यही है कि सूर्य की धूप में या मारुत (हवा) में रहते हुए रसायन का सेवन करना है । यह सामान्य व्यक्तियों के लिए सामान्य विधि है । इसको (Outdoor arrangement for Rasayanas) कह सकते हैं । यह सर्वजन सुलभ विधान है । परन्तु विशिष्ट विधान कुटी में प्रवेश करके रसायन सेवन (Indoor arrangement for Rasayanas) एक विशिष्ट विधि है जो विशिष्ट व्यक्तियों के लिए प्राप्य हो सकती है ।

आचार रसायन—रसायन सेवन में कुछ सदाचरणों या विशिष्टाचरणों का अनुपालन आवश्यक होता है । उन्हें आचार रसायन की सज्ञा दी गयी है । उदाहरणार्थ सत्य बोलना, क्रोध न करना, मद्य एवं मैथुन से निवृत्त होना, हिंसा न करना, विश्राम करना, शान्त रहना, प्रिय बोलना, पवित्रता से रहकर जप करना, धीरज धारण करना, नित्य दान एवं तप में लगा रहना, देवी-गौ-ब्राह्मण-आचार्य-गुरु एवं वृद्धों की पूजा करना, निष्ठुरता का त्याग, दूसरे के दुःख में कष्टना दिखाना, यथोचित मात्रा में सोना और जागना, नित्य क्षीर तथा घृत का सेवन, देश तथा काल का सम्यक् ज्ञान रखना, युद्धित का जानकार होना, अहंकार का अभाव, प्रशस्त आचरण, सकीर्ण विचारों को छोड़ना, अध्यात्म-चिन्तन में मन एवं इन्द्रियों का लगाना, वृद्ध, आस्तिक एवं जितेन्द्रिय व्यक्तियों की सेवा करना, धर्मशास्त्र के अनुसार नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों को करना । इन गुणों से युक्त होकर जो व्यक्ति रसायन का सेवन करता है वह सम्पूर्ण रसायन के

गुणों को प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त यह भी उक्ति मिलती है कि तप, ब्रह्मचर्य, ध्यान एवं प्रणम के द्वारा ही महर्षि लोग रसायन सेवन के सम्पूर्ण गुणों को प्राप्त करते हैं। तद्विपरीत आचरण से अमित आयु की प्राप्ति एवं रसायनों के गुण मुलभ नहीं है।

सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैशुनात् ।
 अहिसकमनायासं प्रणान्तं प्रियवादिनम् ॥
 जप-शौचपरं धीरं दाननित्यं तपस्विनम् ।
 देव-गो-ब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम् ॥
 समजागरणस्वप्न नित्यं क्षीरघृताशिनम् ।
 देव-काल-प्रमाणज्ञं युक्तिशमनहृत्कृतम् ॥
 शस्ताचारमसंकीर्णमन्यात्मप्रवणेन्द्रियम् ।
 उपासितारं वृद्धानामास्तिकानां जितात्मनाम् ॥
 धर्मशाल्मपरं विद्यान्नर नित्यं रसायनम् ।
 गुणैरेतैः समुदितैः प्रयुङ्क्ते यो रसायनम् ॥
 रसायनगुणान् सर्वान् यथोक्तं स समश्नुते । च चि १
 तपसा ब्रह्मचर्येण व्यानेन प्रणमेन च ॥
 रसायनविधानेन कालयुक्तेन चायुषा ।
 स्थिता महर्षयः पूर्वं न किञ्चित्तरसायनम् ॥
 ग्राम्याणामन्यकार्याणां सिद्धयप्रयत्नात्मनाम् ।

रसायन सेवन की आयु—रसायन का सेवन जितात्मा पुरुष को पूर्व आयु (युवावस्था के प्रारम्भ में) या मध्य-आयु में अर्थात् चालीस वर्ष की आयु के पश्चात् करना चाहिये। रसायन सेवन के पूर्व व्यक्ति का स्नेहन, स्वेदन, व्रत, विरेचन एवं रक्त विस्रावण कर्म (गोघ्न) कर लेना आवश्यक है। अत्यन्त बाल्यावस्था एवं वृद्धावस्था के व्यक्ति रसायन के अधिकारी नहीं हैं “जरापक्व-शरीरस्य व्यर्थमेव रसायनम् ।” जरावस्था के कारण पक्व शरीर में रसायनों का उपयोग व्यर्थ ही होता है। अस्तु, युवावस्था के प्रारम्भ में तथा प्रौढावस्था में रसायन सेवन का विधान बतलाया गया है। क्योंकि अत्यन्त बालक और वृद्ध रसायन का सेवन सहन नहीं कर पाते। च्यवन ऋषि ने वृद्ध होने पर भी रसायन का जो सेवन किया और सहन किया उसमें उनका तप कारण था।

उन ऋषयों का तात्पर्य यह है कि पहले से ही रसायनों का अभ्यास किया जावे तो वह जरावस्था को रोक देता है और इस प्रकार जरावस्था का नाशक होता है।

पूर्वे वयसि मध्ये वा तत्प्रयोज्यं जितात्मनः।

स्निग्धस्य सुतरक्तस्य विशुद्धस्य च सर्वथा ॥ वा उ. ३९

रसायन-योग—

आमलकी रसायन—कोटर आदि से रहित पूर्ण-वीर्य एक पलास के पौधे को चुन लेना चाहिए। इस पौधे के शिर के भाग को काटकर साफ़ कर ले। पौधे के तने में दो हाथ गहरा गड्ढा बनाकर उसको नवीन ताजे आँवले से भर दे। अब पौधे के मूल से लेकर शिर तक कुश से वेष्टित करे, उसके ऊपर से पद्मिनी-पंक (कमलिनी जिस तालाब या जलाशय में उत्पन्न हो उसका कीचड़) से लेपकर ढँक दें। अब जगली गोहरे को जलाकर हवों के-झोको से बचाते हुए आँवले का स्वेदन करे। स्विन्न आँवले को रसायन-सेवी मनुष्य घृत और मधु से संयुक्त कर पेट भर सेवन करे फिर इच्छानुसार ऊपर से गाय का दूध पान करे। इस प्रकार केवल-इस आँवले, घृत, मधु एवं दुग्ध के आहार पर एक मास तक रहे। रसायन सेवन काल में स्त्री, मद्य, मास, क्षारादि का सेवन न करे। शीतल जल का सेवन न करे और न शीतल जल का स्पर्श ही करे। इस रसायन सेवन के ग्यारह दिनों पश्चात् मनुष्य के केश, नख और दाँत हिल जाते हैं या गिर जाते हैं। फिर थोड़े दिनों में उनकी नवीन उत्पत्ति या स्थिरता प्रारम्भ हो जाती है और व्यक्ति के बल, शक्ति आदि क्रमशः बढ़ते हुए एक मास के अनन्तर वह स्वल्पवान, शक्तिशाली, वीर्यशाली व्यक्ति हो जाता है। (अ. ह. र.)

आमलकी रसायन—आँवले का कपडछान चूर्ण २५६ तोले लेवे। इस चूर्ण में ताजे आँवले की इक्कीस भावना देकर छाया में सुखावे। फिर इसमें शहद २५६ तोले, घृत २५६ तोले, छोटी पीपल ३२ तोले तथा मिश्री का चूर्ण २ सेर मिलाकर एक मिट्टी के वर्तन में वर्षा ऋतु में राख की ढेर में गाड़ कर रख दे। वर्तन के मुख को ढकने से ढँक कर कपड मिट्टी करके बन्द कर देना चाहिये। वर्षा ऋतु के खतम हो जाने पर शरद् ऋतु में सेवन प्रारम्भ करे। यह एक उत्तम रसायन है। शरीर और मस्तिष्क की क्रिया इसके उपयोग से सुचारु होती है। (भै. र.)

च्यवनप्राश—यह एक प्रसिद्ध एवं श्रेष्ठ रसायन योग है।

हरीतकी रसायन—हरीतकी और आमलकी मिलित एक हजार, पिप्पली एक हजार, इनको परिपूर्ण-वीर्य ढाक के क्षार से भावित करके पात्र में रख दे। क्षारोदक के सूख जाने पर इसे छाया में सुखाकर चूर्ण कर ले। इस चूर्ण से चतुर्थांश शर्करा और चौगुना मधु और घृत मिलाकर घृत-लिप्त घट में भरकर जमीन में गाड़ देवे। छ. महीने के पश्चात् इसको निकालकर प्रातः काल में

सेवन करे और निरन्तर पथ्य से रहे । इसके सेवन से सौ वर्ष तक मनुष्य वृद्धा-
वस्था रहित एवं निरोग रहकर जीवित रहता है ।

त्रिफला लौह रसायन-पिप्पली, त्रिफला, मुलहठी, वशलोचन, सेंधा नमक
पृथक् लौह या सुवर्ण इनमें से किसी एक के साथ वच, मधु और घृत मिलाकर
अथवा घृत एवं शर्करा के साथ भली प्रकार सेवन करने से यह त्रिफला रसायन
सर्वरोगनाशक तथा मेधा, आयु, स्मृति एवं बुद्धि का देनेवाला है ।

रसायन औषधियाँ—

(क) वृक्ष—विडङ्ग, वला, अतिवला, नागवला, विदारी, शतावरी,
वाराहीकन्द, विजयसार, अग्निमन्थ, शणफल आदि द्रव्य ।

(ख) मेध्य—श्वेतधातुकी, चित्रकमूल, मण्डूकपर्णी, ब्राह्मी, हैमवती वचा,
वित्त, विस, नीलोत्पल, सुवर्ण, वासा, प्रियङ्गु, पुत्रजीवक, यष्टीमधु आदि द्रव्य ।

(ग) दिव्य (सौम्य)—सोम^१, श्वेत कापोती, वृष्ण कापोती, गोनसी,
वाराही, कन्या, छत्रा, अतिच्छत्रा, करेणु, अजा, चक्रिका, आदित्यपर्णिनी, ब्रह्म-
सुवर्चला, श्रावणी, महाश्रावणी, गोलोमी, अजलोमी, महावेगवती । सोम के
अतिरिक्त सोमसदृश वीर्यवाली इन अठारह दिव्य औषधियों का आख्यान भी
सुश्रुतसंहिता में पाया जाता है ।^२ ये दिव्य दुर्लभ औषधियाँ हैं, कृतघ्न, पाप-
कर्मी, अथद्वालु एवं आलसियों को ये प्राप्त नहीं होती हैं । पुण्यकर्मी व्यक्ति
नदियों के किनारे, पहाड़ों पर, तालाबों के किनारे, पवित्र जगलों एवं आश्रमों में
इनका प्रयोग कर लेता है । अस्तु सर्वत्र इनकी खोज में सदैव लगे रहना चाहिए ।
सौभाग्य में प्राप्त हो जाती है ।^३

१. औषधीना पति सोममुपयुज्य विचक्षण ।

दशवर्षमहत्त्राणि नवा धारयते तनुम् ॥

(सु चि २९)

२ सु चि ३०

३ अथद्वानैरलसै कृतघ्नै पापकर्मभि ।

नैदामादग्निं शक्यं सोमा सोमसमास्तथा ॥

नदीषु शीतेषु नर सु चापि पुण्येष्वग्रेषु तथाश्रमेषु ।

सर्वत्र सर्वा पन्निगितव्या सर्वत्र भूमिर्हि वसूनि धत्ते ॥

(सु चि ३०)

मरल रसायन सेवन के योग—

मेधावृद्धिकर या मेध्य रसायन—१ केवल मण्डूकपर्णा का ताजा स्वरस अग्निवल् के अनुसार १ तोले से २॥ तोले प्रतिदिन सेवन करे । २ केवल मधुयष्टी (मुलैठी) का चूर्ण ६ माशे से १ तोले की मात्रा में प्रति दिन नाय के दूध के साथ पी ले । ३. केवल गुडूची का स्वरस १ से २ तोले की मात्रा में प्रतिदिन सेवन करे । ४. केवल शखपुष्पी को सम्पूर्ण मूल और फूल के साथ उप्पा ले और उसका कल्क (१ तोला) बनाकर मिश्री के साथ पानी में घोलकर गर्वत बनाकर पान करे । इन चारो ओषधियों में शख-पुष्पी विशेष मेध्य है । ये चारो योग आयुवर्द्धक, रोगो के नाशक, बल-वर्ण-स्वर एवं अग्निवर्द्धक, मेध्य तथा रसायन गुणों से युक्त होते हैं ।^१ इन ओषधियों का सेवन एक मास से तीन मास तक करके बन्द कर देना चाहिए । कुछ वर्षों का अन्तर देकर पुन आवश्यकतानुसार सेवन कराना चाहिए । शखपुष्पी से कुछ वैद्यों में विष्णुकान्ता का व्यवहार भी पाया जाता है ।

भृङ्गराज रसायन—केवल भृङ्गराज का ताजा स्वरस । मात्रा आधा से १ तोला । भूय लगने पर केवल दूध का सेवन अथवा दूध और साठी के चावल के भात का सेवन । नमक, मिर्च, मसाले और शाक, भाजी दाल का परिहार । कुल सेवन काल एक मास । इस प्रयोग से मनुष्य बल-वर्ण युक्त होकर एक सौ वर्ष तक जीवित रहता है ।^२

अश्वगंधा रसायन—नागौरी असगंध के चूर्ण का १ माशा से ६ माशा तक की मात्रा में घृत, तैल, दूध या मन्दोष्ण जल के अनुपात से मिश्री मिलाकर सेवन करने में दुबले शरीर की इस प्रकार पुष्टि होती है, जिस प्रकार वृष्टि से धान के नये अकुर बढ़ते हैं ।^३ कुल पन्द्रह दिनों के प्रयोग से ही पर्याप्त पुष्टि सेवन-

१. मण्डूकपर्णा स्वरसं यथाग्निक्षीरेण यष्टीमधुकस्य चूर्णम् ।

रस गुडूच्या. सह मूलपुष्प्या. कल्कं प्रयुञ्जीत च शखपुष्प्या. ॥

आयुष्प्रदान्यामयनाशनानि बलाग्निवर्णस्वरवर्धनानि ।

मेध्यानि चैतानि रसायनानि मेध्या विशेषेण च शखपुष्पी ॥

(अ. ह. उ. ३९)

२. ये माममेकं स्वरम पिबन्ति दिने दिने भृङ्गरज समुत्थम् ।

क्षीराग्निस्ते बलवर्णयुक्ता समा शत जीवितमाप्नुवन्ति ॥ (भै. र)

३. पीताश्वगन्वापयसार्द्धमास घृतेन तैलेन सुखाम्बुना वा ।

कृशस्य पुष्टिं वपुषो विधत्ते बालस्य सस्यस्य यथाम्बुवृष्टिः ॥

कर्ता की होती है। इसका सेवन वालगोप तथा राजयदमा के रोगियों के रोगों में उत्तम लाभप्रद पाया गया है। औषधि का लम्बे समय तक सेवन कराने की आवश्यकता पड़ती है। निरामिष भोजी व्यक्तियों में बल और भार बढ़ाने के लिये यह एक उत्तम औषधि है। अश्वगधा के मूल के चूर्ण का ही प्रयोग करना चाहिये। शीत ऋतु में एक मास तक दूध के साथ सेवन करने से वृद्ध भी युवक के समान कार्यक्षम हो जाता है। चूर्ण को घृत और मधु से चाटकर ऊपर से दूध पीना चाहिए।^१

तिल रसायन—काली तिल, आंवले का फल और भृङ्गराज सम्पूर्ण। इन तीनों द्रव्यों का चूर्ण बनाकर ६ मासे से १ तोले की मात्रा में रसायन विधि से जो मनुष्य सेवन करता है वह कृष्णकेश, निर्मलेन्द्रिय और व्याधियों से रहित होकर एक सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है।^२ प्रतिदिन काली तिल को २ तोला की मात्रा में शीतल जल से खाने पर शरीर पुष्ट होता है और दात जीवन पर्यन्त दृढ़ रहते हैं।^३

नागवला रसायन—शरद् ऋतु के प्रारम्भ में नागवला के मूल को पुष्प नक्षत्र में उखाड़े। इस जट में से एक कर्प चूर्ण करके दूध के साथ पिये। अथवा मधु और घृत के साथ चाटे। बिना अन्न खाये केवल दूध पर ही रहे। इस प्रकार एक वर्ष तक प्रयोग करने पर सौ वर्ष तक बलवान होकर जीता है।

पलाशबीज रसायन—पलाशबीज, आंवला और तिल (काली)। सम मात्रा में बना चूर्ण। मात्रा ३ से ६ मासे। रात में सोने के पूर्व घी और चीनी के अनुपात में सेवन। इसके सेवन से मनुष्य के केश नहीं पकते, बल बढ़ता है और मास दो-मास के उपयोग से वह बुद्धिमान और मेधावान् होता है।

पुनर्नवा रसायन—नवीन पुनर्नवा को दूध में पीनकर पन्द्रह दिन, दो मास अथवा छ. मास या एक वर्ष तक सेवन करने से शरीर पुनः नया होता है। पुनर्नवा घी मात्रा २ तोला।^४

१ शिशिरे चाव्वगन्धायाः कन्दचूर्णं पयोन्वितम् ।

मासमस्ति समध्वाज्यं न वृद्धोऽपि युवा भवेत् ॥ (राजमार्त्तण्ड)

२ धात्रीतिलान् भृङ्गरजोविमिश्रान् ये भक्षयेयुर्मनुजा क्रमेण ।

ते कृष्णकेशा विमलेन्द्रियारच निर्व्याधयो वर्षशतं भवेयुः ॥

३ दिनेदिने कृष्णतिलप्रकुञ्चं समश्नतां शीतजलानुपानम् ।

पोष. शरीरस्य भवत्यनन्तपो दृढोभवन्त्यामरणं च दन्ता ॥ (वा. रसा.)

४. पुनर्नवस्यार्द्धफलं नवम्य पिष्टं पिवेच्च पयमार्धमासम् ।

मासद्वयं तत्त्रिगुणं नमा या जीर्णोऽपि भूय स पुनर्नवः स्यात् ॥ (यो. र.)

वृद्धदारक रसायन—विधारा के मूल के चूर्ण को शतावरी के स्वरस से सातवार भावित करके सुखाकर रख ले। इस चूर्ण को १ तोले की मात्रा में घृत के साथ सेवन करे। इस प्रकार एक मास तक निरन्तर इस चूर्ण का सेवन करने से मनुष्य बुद्धिमान्, मेधावी, स्मृतिमान् हो जाता है तथा झुर्रियो और केशो के पकने से रहित होकर जीवित रहता है। अर्थात् वार्धक्य का अनुभव नहीं होता है।

वाराहीकंद रसायन—अति दूध वाले वाराही कंद के मूल को दूध के साथ पोसकर पिये। इस प्रकार अन्नरहित रहकर एक मास तक दूध पर ही रहे। पश्चात् एक मास तक दूध और भात पर रहे। इस प्रयोग से बुढ़ापा दूर होता है। (वाग्भट)

चित्रक रसायन—चीता तीन प्रकार का पुष्पभेद से होता है। पीत, श्वेत एवं काले फूलो वाला। इनमें काले फूलवाला सर्वश्रेष्ठ होता है। इनमें से किसी एक प्रकार का चित्रक विधिपूर्वक सेवन करने से रसायन होता है।

चित्रकमूल को छाया में सुखाकर चूर्ण बनावे। इस चूर्ण का १-३ मासो की मात्रा में मधु में मिलाकर, घी में मिलाकर या दूध में घोलकर, मट्ठे में घोलकर या जल में मिलाकर सयम के साथ एक मास तक सेवन करने से मेधा, बल, कान्ति एवं अग्नि का वर्धक होता है। मनुष्य को शतायु बनाता है।

तिल तैल मिलाकर चित्रक चूर्ण को चाटने से भयानक वायु रोग नष्ट होते हैं। गोमूत्र के साथ सेवन करने से श्वेत कुष्ठ और त्वक् रोग दूर होते हैं। मट्ठे के साथ सेवन करने से अर्श नष्ट होते हैं। प्रयोग की अवधि एक से दो मास।

हरीतकी रसायन—वर्षा ऋतु में सेधानमक, शरद् ऋतु में खाड, हेमन्त ऋतु में सोठ के चूर्ण, शिशिर ऋतु में पिप्पली चूर्ण, वसन्त ऋतु में शहद तथा ग्रीष्म ऋतु में गुड के साथ हरीतकी के चूर्ण को रसायन गुण चाहने वाला मनुष्य सेवन किया करे।^१

१ सिन्धूत्यशर्कराशुण्ठीकणामधुगुडै. क्रमात्।

वर्षादिष्वभया सेव्या रसायनगुणैषिणा ॥

ग्रीष्मे तुल्यगुडा सुसैन्धवयुता मेघावनद्धाम्बरे

सार्धं शर्करया शरद्धमलया शुण्ठ्या तुपारागमे।

पिप्पल्या शिशिरे वसन्तसमये क्षौद्रेण सयोजिता

राजन् भुङ्क्ष्व हरीतकीमिव गदा नश्यन्ति ते शत्रवः ॥ (रा. मार्तण्ड)

केवल हरीतकी को घृत में भूनकर खाने तथा उस घृत के पीने से भी रसायन-गुण होता है। मात्रा बड़ी हरड दो। अवधि १ वर्ष। बल एव आयु की प्राप्ति होती है।^१

अमृतादि रसायन—गिलोय, आंवले का फल, गोखरू के बीज। सम मात्रा में बना चूर्ण मात्रा ६ माशा। घी १ तोला और चीनी आधे तोले के साथ मिलाकर सेवन। प्रयोगावधि ६ मास। यह एक उत्तम रसायन है जो जरावस्था को दूर कर केशों को काला करता और मनुष्य का पूर्ण युवक सदृश कार्यक्षम बनाता है।^२

गुडूच्यादि रसायन योग—गिलोय, अपामार्ग की जड़, वायविडङ्ग, शखपुष्पी, वच, हरीतकी, कूठ और गतावर। इन द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर चूर्णित करके गाय के घी और मिश्री के अनुपान से तीन दिनों तक सेवन करने से मनुष्य एक हजार श्लोको को कण्ठ करने योग्य हो जाता है।^३ मात्रा ३ से ६ माशे।

ब्राह्मी रसायन—ब्राह्मी, वच, हरीतकी, अडूसा और पिप्पली का सम प्रमाण में बना चूर्ण। मात्रा ३ माशा। अनुपान मधु और सेंधानमक। यह एक स्वर को बढ़ानेवाला योग है। इसके एक सप्ताह के सेवन से ही कठ किन्नर सदृश हो जाता है।^४

त्रिफला रसायन—चरक संहिता में कई पाठ त्रिफला रसायन के मिलते हैं। इनमें से किसी एक का प्रयोग एक वर्ष तक करने से सेवन करने वाला व्यक्ति बुढ़ापा और रोग से रहित होकर सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है।

१. भोजन के पूर्व दो बहेरे का चूर्ण, भोजन के तत्काल बाद चार आंवले का चूर्ण और भोजन के पच जाने पर अर्थात् ४-५ घंटे के अनन्तर एक हरीतकी का चूर्ण। मधु और घृत के अनुपान से चाट ले।

१ हरीतकी सर्पिषि सप्रताप्य समश्नतस्तत् पिवतो घृतञ्च ।

भवेच्चिरस्यापि बल शरीरे सकृत् कृत साधु यथा कृतज्ञे ॥ (वा. रसा.)

२. अमृतामलकीत्रिकण्टकाद्यं हविषा शर्करया निषेवणेन ।

अजरा अमरा अपारवीर्या अलिकेशा अविते सुता बभूवुः ॥

(वै जी)

३. गुडूच्यपामार्गविडङ्गगङ्गिनीवचाभयाकुण्ठगतावरीसमा ।

घृतेन लीटा प्रकरोति मानवं त्रिभिर्दिनैः श्लोकसहस्रधारिणम् ॥

४. ब्राह्मीवचाभयावासापिप्पल्यो मधुर्नन्धवम् ।

अन्य प्रयोगात्सप्ताहात् किन्नरैः सह गीयते ॥ (भा. प्र)

२ समान प्रमाण में आमलकी, हरीतकी और विभीतक के फलों का चूर्ण बना ले । पानी से पीस कर उसको नये लौह के पात्र (कड़ाही) में लेप कर रख दे । चौबीस घंटे के पश्चात् उसमें पानी छोड़कर धोले और छान कर मधु मिलाकर पिये । इस प्रयोग काल में उस व्यक्ति को प्रचुर मात्रा में स्नेह (घृत, वसा, मज्जा आदि) देना चाहिए ।

३. त्रिफला के बने चूर्ण का मुलैठी, वशलोचन, पिप्पली, मिश्री, मधु या घी के साथ सेवन भी रसायन गुण वाला होता है ।

पिप्पली रसायन तथा वर्धमान पिप्पली रसायन—इस रसायन का उल्लेख उदर रोग की चिकित्सा में विस्तार के साथ हो चुका है ।

शतावरी घृत—शतावरी के कल्क और प्लावाय से सिद्ध घृत का सेवन । मात्रा १ तोला । अनुपान शर्करा । व्यक्ति निर्व्याधि एवं निर्जर हो जाता है ।^१ अवधि १-३ मास ।

वचा रसायन—मोठी वचा के चूर्ण का दूध, तैल या घृत के साथ सेवन । मात्रा १-२ मासे । अवधि—१ मास तक । गुण—मनुष्य मेधावी, मधुरभाषी और भूतादि के उपसर्ग से सुरक्षित रहते हुए जीता है ।^२

आमलकी स्वरस—आमलकी का स्वरस ६ माशा से १ तोला, मधु ६ माशा, शर्करा ६ माशा और घृत १ तोला मिलाकर प्रतिदिन सेवन करने से और हिताहार-विहार पर समयपूर्वक रहने से बुढ़ापे से उत्पन्न सभी विकार दूर हो जाते हैं, जैसे विशाल ग्रन्थ ठीक प्रकार से न पढ़ने से नष्ट हो जाते हैं ।^३

सोमराजी रसायन—सोमराजी (वाकुची) तथा काली तिल का सेवन । कुष्ठ रोगाधिकार में वर्णन हो चुका है । तुवरक रसायन का भी वर्णन उसी अधिकार में हो चुका है ।

रसोन रसायन—आमलकी, हरीतकी तथा लहसुन ये तीनों द्रव्य स्वतन्त्रतया पचरस युक्त होते हैं । आमलकी एवं हरीतकी, मधुराम्लकटुतिक्त-कपायरसयुक्त तथा लहसुन 'मधुरलवणकटुतिक्तकपाय' रस युक्त होता है ।

१. शतावरीकल्ककपायसिद्ध ये सर्पिरश्नन्ति सिताद्वितीयम् ।

ताञ्जीविताध्वानमभिप्रपन्नान् विप्रलुम्पन्ति विकारचौराः ॥ (अ. ह. उ. ३९)

२ मासं वचामप्युपसेवमानाः क्षीरेण तैलेन घृतेन वापि ।

भवन्ति रक्षोभिरधृष्यरूपा मेधाविनो निर्मलमृष्टवाक्या ॥ ”

३ धात्रीरसक्षौद्रसिताघृतानि हिताशनानां लिहता नराणाम् ।

प्रणाशमायान्ति जराविकारा ग्रन्था विशाला इव दुर्गृहीताः ॥ ”

फलतः ये सर्वव्याधिहरण मे समर्थ तथा रसायन गुणो से युक्त होते हैं। आमलकी एवं हरीतकी को प्रधानता वाले बहुविध योग संहिताओं मे रसायनाधिकार मे पाये जाते हैं। जैसे—ब्राह्म रसायन, च्यवनप्राश, आमलक रसायन, आमलकी घृत, आमलकावलेह, हरीतकी योग आदि। इनमे कुछ योगों का ऊपर मे उल्लेख हो चुका है। लहसुन भी एक इसी प्रकार का रसायन द्रव्य है जिसके बहुविध योगों का वर्णन काव्यप संहिता के रसोन कल्प मे पाया जाता है। यहाँ पर उसके रसायन रूप मे सेवन विधि का अष्टाङ्गहृदय के अनुसार संक्षिप्त वर्णन दिया जा रहा है।

लहसुन वीर्य मे उष्ण होता है। इसका रसायन रूप मे सेवन हेमन्त ऋतु या वसन्त मे करना चाहिये। वात रोग से पीडित व्यक्ति वर्षा ऋतु मे ले सकता है। यदि वातार्त व्यक्त हो तो ग्रीष्म ऋतु में भी इसका सेवन ऋतु दोष को वचाते हुए तदनुकूल व्यवस्था करते हुए कर सकता है। प्रतिदिन लहसुन के कल्क की कुल मात्रा २ से ४ तोले। स्वरस की ४ से ८ तोले। इसमे उतनी ही मात्रा में सुरा या मद्य मिलाकर भोजन के साथ खाने को देना चाहिये। जो मद्य न पीता हो उसे काजी या फलों के रस, विजौरे या कागजी के रस मे मिला कर देना चाहिये। लहसुन के अनुपान रूप में तक्र, तैल, दूध, घी, मांसरस, वसा, मज्जा का भी अनुपान बतलाया गया है। काल, रोग, बल, सात्त्विक, सत्त्व आदि का विचार करते हुए प्रतिदिन की मात्रा तथा अनुपान का निर्धारण करना चाहिये।

इस प्रकार पित्त-रक्त रहित सम्पूर्ण आवरणों से रहित वायु के लिये या शुद्ध वायु के लिये लहसुन से उत्तम और कोई द्रव्य नहीं है। मांस, मद्य, अम्ल से जिनको द्वेष है, जल, गुड और दूध जिनको प्रिय है अथवा अजीर्ण से जो पीडित है, उनमें लहसुन का सेवन हितकर नहीं रहता है। लहसुन के प्रयोग काल मे पित्त की अधिकता को कम करने के लिये व्यक्ति मे प्रतिदिन मृदु रेचन की भी व्यवस्था करनी चाहिये। इस प्रकार विचारपूर्वक लहसुन के वरते जाने से रसायन का गुण प्राप्त होता है।

विडङ्ग रसायन—विडङ्गावलेह—विडङ्ग चूर्ण २५६ तोले, पिप्पली चूर्ण २५६ तोले, मिश्री २५६ तोले, घृत १२८ तोले, तिल तैल १२८ तोले, मधु १२८ तोले। छत्रो द्रव्यों को एक में मिश्रित करके घृत के भाण्ड में रखकर वर्षा ऋतु में राख की ढेर में गाड़ कर रख दे। पुन. वर्षा ऋतु के अनन्तर निकालकर मात्रा से सेवन करे। इसके सेवन से वार्द्धक्य से रहित होकर मनुष्य शत वर्ष तक जीवित रहता है।

भल्लातक रसायन—भल्लातक एक तीक्ष्ण वीर्य एवं विविध अद्भुत कार्य करने वाली विषाक्त रसायन ओषधि है। इसकी उपमा अग्नि से दी गई है। जिस प्रकार अग्नि अति तीक्ष्ण, पित्तोत्तेजक एवं पाचक होती है उसी प्रकार भल्लातक भी। विधि के अनुसार प्रयोग करने पर यह अमृत के तुल्य शरीर के लिये लाभप्रद होता है। कोई कफजन्य ऐसा रोग नहीं, न ऐसा कोई विषवन्ध है जिसको भिलावा शीघ्र नष्ट न कर दे। यह शीघ्र अग्नि बल को देनेवाला है।^१

भल्लातक सेवन काल में—आँवला, मलाई, दूध, घी, तैल, गुड, जी का सत्तू, तिल, नारियल, मूली का प्रयोग काफी करना चाहिये। कुलथी, दही, सिरका, तेल की मालिश, आग का तापना, धूप में काम करना वन्द कर देना चाहिये।

भल्लातक प्रयोग योग—भल्लातक घृत, भल्लातक, भल्लातक क्षौद्र, गुड भल्लातक, भल्लातक यूप, भल्लातक तैल, भल्लातक पल्ल, भल्लातक सत्तू, भल्लातक लवण, भल्लातक तर्पण इस प्रकार से दशविध प्रयोग चरक में वर्णित हैं।

यहाँ पर एक सहस्र भल्लातक रसायन का योग एवं सेवनविधि अष्टाङ्ग-हृदय के अनुसार उद्धृत की जा रही है जिसके सेवन किये व्यक्ति आज भी उपलब्ध है।

अच्छी प्रकार से पके भिलावो को ग्रीष्म ऋतु में एकत्रित करके धान्य राशि में रख देवे। हेमन्त में मधुर, स्निग्ध और शीतल वस्तुओं से शरीर को संस्कृत करके इनमें से आठ भिलावो को आठगुने जल में पकावे। इस बवाथ का अष्टमाश शेष रहने पर इसमें शीतल होने पर क्षीर मिलाकर पिये। प्रतिदिन एक-एक भिलावे को इसमें बढ़ाता जाये। इस प्रकार इक्कीस दिन तक बढ़ाये। फिर तीन-तीन बढ़ाये, जब तक इसकी संख्या चालीस तक न पहुँच जाये। फिर वृद्धि के क्रम से इनको घटाना आरम्भ करे। इस प्रकार सात सप्ताहों तक एक हजार भिलावो का सेवन करे। इनके सेवन में जितेन्द्रिय रहे, घी, दूध, शालि एवं सायी का भोजन करे। भिलावे के प्रयोग के बाद तीनगुने समय तक इसको वरतता रहे अर्थात् इक्कीस सप्ताह तक यह विधि करे। इससे वह पूर्वोक्त

१. भल्लातकानि तीक्ष्णानि पाकीन्यग्निसमानि च।

भवन्त्यमृतकल्पानि प्रयुक्तानि यथाविधि ॥

कफजो न स रोगोऽस्ति न विषवन्धोऽस्ति कश्चन।

यन भल्लातको हन्याच्छीघ्र मेधाग्निवर्धनम् ॥ (च चि. १)

अभिलषित गुणों को प्राप्त करता है, विनोपकर उसकी अग्नि प्रदीप्त होती है । वह प्रमेह, कृमि, कुष्ठ, अर्श तथा मेदोदोष में रहित होता है ।

गुग्गुलु रसायन—लौह भस्म १ पल, गुग्गुलु ३ पल, त्रिकटु ५ पल, त्रिफला ८ पल । मिश्रित मात्रा १ तोला । अनुपान दूध । (भा. प्र.)

शिलाजीतु रसायन—ग्रीष्म ऋतु में सूर्य से तप्त हिमालय पर्वत में पत्थरो में लाख के सदृश एक वस्तु का धरण होता है । जो सगृहीत होकर शिलाजीत के पत्थरो के रूप में पाया जाता है । सुवर्ण, रजत, ताम्र, लौह प्रभृति ६ धातुओं के अनुसार इसके भी ६ प्रकार होते हैं । इनमें लौह शिलाजीत सर्वश्रेष्ठ है । रम में सभी शिलाजीत तिक्त, कटु, विपाक में भी कटु और छेदक गुण वाला होता है । वीर्य में नात्युष्ण होता है ।

उत्तम शिलाजीत के लक्षण—जो शिलाजीत गोमूत्र की गंधवाला, गुग्गुलु के समान, कंकड एवं शर्करा रहित, चिकना, स्निग्ध, अनम्ल (अम्ल न हो), मृदु और गुरु होता है, वह श्रेष्ठ है ।

शिलाजीत शोधन—पहले पानी में धोकर मुखावे । फिर त्रिफला क्वाथादि में उवाले और भावना दे । बाजार में शुद्ध शिलाजीत नाम से शुद्ध किया ही शिलाजीत मिलता है । उसी का व्यवहार करना चाहिये ।

सेवन विधि—प्रथम रोगी का स्नेहन आवश्यक है । तिक्त द्रव्यों से साधित घृत का तीन दिनों तक सेवन कराके रोगी को स्निग्ध कर लेना चाहिये पश्चात् शुद्ध शिलाजीत को तीन-तीन दिनों तक निम्न वस्तुओं में से एक-एक के साथ वरते । त्रिफला के क्वाथ से तीन दिन, पटोल के क्वाथ से तीन दिन और मधुयष्टी के क्वाथ से तीन दिन । इस प्रकार एक, तीन या सात सप्ताह तक प्रयोग करावे । कुल मात्रा २ तोले, ४ तोले या ८ तोले की होनी चाहिये । इनको क्रमशः हीन, मध्यम, उत्तम मात्रा कहते हैं । यह शिलाजीत की विविष्ट सेवन विधि है ।

सामान्य विधि—सामान्यतया १ मासा की मात्रा में प्रातः नायं दूध में घोल कर लेने की विधि रोगों की चिकित्सा में चलती है । मधुमेह, अश्मरी और शर्करा आदि रोगों में इस विधि से प्रयोग करते हुए १ तुला (५ सेर) तक अधिकतम कुल मात्रा बतलाई गई है जिसका उल्लेख प्रमेह चिकित्साधिकार में हो चुका है ।

जालमारादि गण में बहे हुए द्रव्यों के क्वाथ के साथ शिलाजीत को अच्छी प्रकार भावित करके शुष्क चूर्ण बना लेना चाहिये । फिर यथासंभव पचकर्म द्वारा

प्रमेही के शरीर की शुद्धि करके शिलाजीत को ४ रत्ती की मात्रा में प्रारंभ कर शहद में मिला कर सेवन करे। शालसारादि गण की ओषधियों का ववाथ अनुपान रूप में दे। इस प्रकार प्रतिदिन दो-दो रत्ती की मात्रा बढ़ाते हुए १ माशा प्रात और १ माशा सायं काल में देता हुआ १ तुला (५ सेर) तक शिलाजीत का सेवन करावे। यह इसकी बड़ी से बड़ी पूर्ण मात्रा है। इसके अनन्तर ओषधि का सेवन बंद करा दे। ओषधि सेवन काल में क्षुधा प्रतीत होने पर जाङ्गल पशु-पक्षियों के मासरस के साथ चावल का भात पथ्य रूप में देना चाहिये। इस के सेवन से मनुष्य रोग से मुक्त हो जाता है—कान्ति और बल से युक्त होकर सौ वर्ष तक जीता है।”^१

शिलाजीत प्रयोग काल में अपथ्य—गुरु, विदाही भोजन का सेवन न करे। कुलथी, काकमाची और बबूतर के मास का सदा के लिए परित्याग करे।

शिलाजीत रसायन की प्रशंसा—मर्त्यलोक में साध्य रूप ऐसा कोई भी रोग नहीं है जिसको शिलाजीत का सेवन बलपूर्वक न जीत सके। स्वस्थ व्यक्ति में काल, योग, मात्रा और विधि का अनुसरण करते हुए सेवन करने से अतिशय पौरुष को बढ़ाता है।^२ मेहाधिकारोक्त योग ‘शिवागुटिका’ भी एक रसायन योग ही है। वह शिलाजतु का ही योग है।

गंधक रसायन—शुद्ध किये गंधक को गाय के दूध, चातुर्जाति, गुडूची, हरीतकी, विभीतक, आमलकी, भृङ्गराज और अदरक के रसों से पृथक्-पृथक् आठ भावना देकर तैयार करे। मात्रा ४ रत्ती से १ माशा। अनुपान घी और चीनी। इससे वीर्य एवं शरीर पुष्ट होता है, अग्नि जागृत होती है, विविध त्वक् रोग नष्ट होते हैं और दीर्घायुष्य की प्राप्ति होती है।

सुवर्ण रसायन—सुश्रुतचिकित्सा स्थान २८ वे अध्याय में सुवर्ण के साथ विविध काष्ठोषधियों का पाक करके क्षीर सेवन के विविध योगों का उल्लेख पाया जाता है। इसमें सुवर्ण के भस्म की आवश्यकता नहीं पड़ती है। मस्कार मात्र के लिये सुवर्ण छोड़ा जाता है। इन रसायनों के सेवन से मेधा एवं आयुष्य की वृद्धि होती है। पूरे अव्याय का नाम ही मेधायुष्कामीयम् है। यहाँ पर एक योग अष्टाङ्ग हृदय का तत्सदृश उद्धृत किया जा रहा है। सरल एवं उत्तम है।

१ कुर्यादेव तुला यावदुपयुञ्जीत मानव । (भै० २०)

२. न सोऽस्ति रोगो भुवि साध्यरूप शिलाह्वय यं न जयेत् प्रसह्य ।

तत्कालयोगैर्विधिभिः प्रयुक्त स्वस्थस्य चोर्जा विपुला दधाति ॥

(च० चि० १)

पंचारविन्द रसायन—विस, कमलनाल, कमल के पत्ते, कर्मल के केसर, कमल के बीज इनके कल्क के साथ सुवर्ण का टुकड़ा, दूध और घी को सिद्ध करे। यह विख्यात पंचारविन्द नामक घृत है। जिसका पौरुष, बल, मेधा, प्रतिभा नष्ट हो गई है उसको इसका सेवन करना चाहिये। पुनः मेधा एव आयु की प्राप्ति होती है।

अन्य रस के योग—कूपोषण रसायन (मकरध्वज, चंद्रोदय प्रभृति), तथा रस योग (महालक्ष्मीविलास, योगेन्द्ररस, त्रैलोक्यचिन्तामणि रस प्रभृति) भी रसायन रूप में व्यवहृत होते हैं। मात्रा १-२ रत्ती। अनुपान दूध, मलाई, घृत, नवनीत, मिश्री यथालभ्य।

रसायन पथ्य—शीतल जल, दूध, मधु और घृत ये अलग, दो-दो मिलाकर या तीन-तीन या चारों को मिलाकर प्रातःकाल में पीने से वयःस्थापक (आयु को स्थिर करने वाले) होते हैं। इनके पन्द्रह योग होते हैं। इनका यथावश्यक, असमान मात्रा में सेवन करना चाहिये।^१ जो को कूटकर बनाये यवागू या रोटी का पिप्पली चूर्ण २-४ रत्ती और ६ भागे मधु के साथ मिलाकर सेवन करना मध्य एवं आयुष्म होता है। इसके प्रयोग से मेधा वृद्धि होकर मुखपूर्वक शास्त्राभ्यास हो जाता है।^२ रात के बीच जाने पर प्रातः काल में शीतल जल का नस्य या नाक में पानी का पीना रसायन एव दृष्टिजनन होता है।^३ प्रातः काल मूर्धोदय के पूर्व उठकर कुत्ते करके शीतल जल का पीना मनूष्य को शतायु करता है। मात्रा ६४ तोला।^४

मज्जातैल रसायन—एरण्ड तैल, निम्बतैल, ज्योतिष्मती तैल, विभीतक मज्जा तैल, पलाश बीज मज्जा तैल। इन तैलों का सेवन रसायन गुण वाला होता है। इनका मुत्र में तथा नस्य द्वारा प्रयोग करना चाहिये। इससे शरीर निरोग होता है। अकाल पलित (केशों का पकना) दूर होता है। इनके प्रयोग काल में व्यक्ति को

१. नीतोदक पय क्षोद्रं घृतमकैकश द्विश

त्रिश. सगरतमथवा प्राक्पीत स्थापयेद्वय ॥ (यो. र.)

२. त्रावकास्तावकान् ज्ञादेत् अभिभूय यवास्तथा।

पिप्पलीमधुमयुक्तान् शिवाचरणवद् भवेत् ॥ (सु. चि. ९८)

३. व्यंगवलीपलितघ्नं पीनमर्चस्वर्यज्वासकानहरम्।

रजनीक्षयेज्जुनस्यं रसायनं दृष्टिजननञ्च ॥ (भै. र.)

४. अम्मम. प्रनृतीनष्टी रवावनुदिते पिवन्।

वातपित्तगदान् हत्वा जीवेद्वर्षशतं नर ॥ (भै. र.)

मास या दो मास तक केवल गाय के दूध और भात पर रखना चाहिये । निम्ब तैल का उपयोग बहुश दृष्टफल है । आश्चर्यजनक लाभ होता है ।^१

इस प्रकार संक्षेपतः उन रसायन ओषधियों का, जो सुलभ हैं एवं जिनका प्राप्त करना तथा व्यवहार करना एक साधारण व्यक्ति के लिये भी शक्य है, उनका आख्यान इस अध्याय में किया गया है । आज के औद्योगिक युग में रसायनों का सेवन एक दुष्कर कार्य हो गया है । अस्तु, युगानुरूप सरल एवं सुगम रसायनों का वर्णन करना अपना लक्ष्य रहा है । इस अध्याय में कथित ओषधियों के अतिरिक्त महाफलवान् द्रव्य बहुत से रसायनों का पाठ सहिताओं में प्राप्त होता है जिनका नामोल्लेख भर करके उनकी ओर इंगित मात्र ही किया गया है, क्योंकि वे ओषधियाँ सर्वजनसुलभ नहीं हैं—उनका प्राप्त करना शक्य नहीं है, अस्तु उनका सविस्तर वर्णन नहीं दिया जा सका है । ऐसी बहुत सी महान् गुणों से युक्त महाफल देने वाली रसायन ओषधियाँ और भी हैं, जिनका वर्णन इन अध्याय में नहीं हो सका है ।

उक्तानि शक्यानि फलान्वितानि
युगानुरूपाणि रसायनानि ।
महानुशंसान्यपि चापराणि
प्राप्त्यादिकष्टानि न कीर्तितानि ॥

(अ. ह. र.)

इति



१ एरण्डतैलमथ निम्बफलास्थितैलमेतद्रसायनमनामयकायकारि ।

ज्योतिष्मतीफलपलाशफलोद्भव वा तैल वलीपलितहारि भिषक्प्रदिष्टम् ॥

(यो. र.)

निम्बस्य तैल प्रकृतिस्थमेव नस्तो निषिक्त विधिना यथावत् ।

मासेन गोक्षीरभुजो नरस्य जराग्रदूत पलित निहन्ति ॥ (भै. र.)

पंचम खण्ड

(परिशिष्ट)

परिशिष्टाध्याय

पूर्व के अध्यायो मे प्रायः कायचिकित्सा से सम्बन्धित रोगो का आख्यान हो चुका है। इस अध्याय मे कुछ अवशिष्ट रोगो का, शल्य-काय उभयविध रोगो (Medicosurgical Diseases) का तथा कुछ विप्रकीर्ण विषयो का नक्षिप्त विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमें केवल दृष्टफल योगो का ही वर्णन है।

वृद्धिरोग (Inguino-Scrotal swelling)

प्रतिषेध

वृषण वृद्धि या अण्डकोप शोथ (Orchitis)—चिकित्सा क्रम—सर्व प्रकार के वृद्धि रोगो मे पूर्ण विश्राम, रेचन, वातानुलोमक तथा मूत्रप्रवर्त्तक औषधियो का प्रयोग करना चाहिए। त्रिफला चूर्ण दो तोला, जल १६ तोला, अवशिष्ट क्वाथ ४ तोला मे उतना ही गोमूत्र मिलाकर प्रातः काल में देने से नवीन वृद्धि में सद्यः लाभ होता है। साथ मे गुग्गुलु बटी २-२, सुबह-शाम गर्म जल से तथा रात मे सोते समय पट्सकार चूर्ण या हरीतकी चूर्ण ६ माशा या यष्ट्यादि चूर्ण ६ माशा रात को सोते समय गर्म जल से देना चाहिए। एरण्ड तैल का प्रयोग भी उत्तम रहता है।^१ घीकुआर को फाडकर उसपर आमाहल्दी का चूर्ण छिडक कर वृषण पर बांधना और लँगोट लगाना भी उत्तम रहता है।

गलगण्ड (Goitre)—स्थानिक लेप, वमन, रेचन, शिरोविरेचन तथा रक्तविस्त्रावण लाभप्रद रहता है। रोगी को भोजन मे जौ, कोदो, मूँग, परवल, करैला, अदरक, लहसुन एव प्याज प्रचुर मात्रा मे देना चाहिए। लेप—अदरक, सहिजन, सोठ, काला जीरा, प्याज, मसूर की दाल और बकरी की मीगी को पीसकर मन्दोष्ण लेप। केवल जलकुम्भी को पीस कर उसका लेप गले पर चढ़ाना तथा उसका रस निकाल १-२ तोला प्रतिदिन रोगी को पिलाना उत्तम

१ रेचन मूत्रकृद् यच्च यद्वायोरनुलोमनम् ।

तत्सर्वं वृद्धिरोगेषु भेषज परियोग्येत् ॥

त्रिफलाक्वाथगोमूत्रं पिबेत् प्रातरतन्द्रित ।

कफवातोद्भूतं हन्ति श्वयथु वृषणोत्थितम् ॥ (भै र)

रहता है। आधुनिक विद्वानों ने इसकी उत्पत्ति में भोजन में जम्बुकी धातु (Iodine) की कमी को कारण माना है। जलकुम्भी में यह तत्त्व प्रचुर परिमाण में मिलता है। फलनः लाभ भी होता है।

अमृताद्य तैल—गिलोय, नीम की छाल, हँस की जड़, कूटज की छाल, पिप्पली, बला, अतिवला, देवदार प्रत्येक २ तोला। जल में पीसकर कल्क बनावे, फिर इसमें सरसो या तिल का तेल १ सेर, पानी ४ सेर मिलाकर अग्नि पर चढाकर तैल-पाकविधि में तैल का पाक कर ले। इसको दूध में मिलाकर १/२ तोले—१ तोले की मात्रा में पिलाना चाहिए।^१ काँचनार गुग्गुलु का भी सेवन कराया जा सकता है। अमृताद्य तैल का नस्य भी उत्तम रहता है।

आचार्य चरक ने लिखा है कि घृत, दूध और कपाय रस के द्रव्यों का बहुलता में उपयोग करने से गलगण्ड नहीं होता है। अस्तु, गलगण्ड की चिकित्सा में भी इन पोषक आहारों का ध्यान रखना चाहिए।^२

गण्डमाला-अपची प्रतिपेध (Scrofula)—

काँचनार गुग्गुलु—काँचनार की छाल २० तोला, सोठ, मरिच, पिप्पली प्रत्येक ५-५ तोले, हर्षा, वहेरा, आंवला प्रत्येक २॥ तोले, वरुण की छाल १। तोला, तेजणव, छोटी इलायची के दाने तथा दालचीनी ४-४ मागे। सब को बूट छानकर चूर्ण कर ले। फिर इन समस्त चूर्ण के बराबर गुठ गुग्गुलु मिलावे। त्रिफला व्वाय की भावना देकर २-२ मासे की गोलीयाँ बनाकर रख ले। प्रातः-सायं १-१ गोली। अनुपान हरीतकी, मुरडो या खदिर का काढ़ा या केवल गर्म जल। पथ्य तथा चिकित्सा क्रम गलगण्ड सदृश। गोप का अनुबन्ध हो तो बलवर्धक एवं अयधन उपचार भी करे। निम्नलिखित औषधि का उपयोग दृष्टव्य है। बनगोभी की मूल के साथ उखाड़कर साफ करके पीसकर उसका एक छटाक ताजा रस निकालकर २॥ मरिच के साथ लगातार इक्कीस दिनों तक करे। उसी की लुकी को गर्म करके गाँठ की जगहों पर बाँध दे। आवश्यक हो तो ४१ दिनों तक प्रयोग करे रोग निर्मूल हो जाता है। पंचतिक्त घृत गुग्गुलु (कृष्णविकार) का उपयोग भी गण्डमाला, अपची, नाडोव्रणादि में लाभप्रद रहता है।

१ तैल पित्तैश्चामृतवत्किन्मिन्द्रहिंसाह्वयावत्सकपिप्पलीभिः ।

मित्र वरान्ना च मन्दैवदार हिताय नित्यं गलगण्डरोगे ॥ (सु)

२ घृतक्षीरकपायामन्यामान् भवन्ति ते । (च. वि. २१)

व्रण-शोथ विद्रधि एवं व्रण प्रतिषेध

✓ शिशु—महिजन के मूल का स्वरस १ तोला मधु मिलाकर अथवा सहजन की छाल का ववाथ बनाकर भुनी हींग (४ र०) और सेधा तमक (१ मा०) मिलाकर पोना उत्तम कार्य करता है । पूयोत्पत्ति के रोकने में यह उत्तम कार्य करता है । त्रिफला, वरुण, शिशु, दशमूल, पुनर्नवा, गुग्गुलु और गोमूत्र आदि का उपयोग भी उत्तम रहता है । शिशु के इन्हीं गुणों के कारण लोग इसे आयुर्वेद का एण्टिबायोटिक मानते हैं ।

दशाङ्ग लेप—जिरीप की छाल, मुलैठो, तगर, लाल चन्दन, छोटी इलायची, जटामासो (वालछड), हल्दी, दाहहल्दी, कूठ, नेत्रवाला । इनको एकत्र कूटकर कपडछान चूर्ण बना ले । इस लेप का एक तोला लेकर पानी से महीन पीस कर उसमें घी १ तोला, गहद १ तोला, गेहू का आटा, अलसी (कूटी हुई) ५-१० तोला या आवश्यकतानुसार मिलाकर आग पर गर्म करके व्रणशोथ के स्थान पर एक कपडा रखकर उस पर फैलाकर ऊपर से एक और कपडा रख कर बाँध दे । ३-३ घंटे पर पुल्टिस बदलता रहे । यदि प्रारंभ में ही इसका प्रयोग किया जाय तो शोथ बैठ जाता है । यदि पकना प्रारंभ हो गया है तो जल्दी पककर फूट जाता है । फूटने पर भी दो-तीन दिनों तक इसका प्रयोग करता रहे तो मवाद निकलकर व्रण स्थान शुद्ध हो जाता है । पश्चात् रोपण की व्यवस्था करे ।

व्रणशोधन—निम्बपत्र, त्रिफला, खदिर, दाहहरिद्रा, बट आदि के कषाय से प्रक्षालन व्रणों का शोधक है ।

✓ अनन्तमूल—केवल अकेले अनन्तमूल का काढा या लेप व्रण का उत्कृष्ट शोधक है ।

✓ रोपण—व्रणों के रोपण में काली तिल और मधु एक में पीसकर पिष्ट (Paste) बनाकर लेप करने से उत्तम लाभ होता है । इसके अतिरिक्त रोपण में असगंध, कुटकी, लोध्र, कायफर, मधुयष्टी, लज्जालु और धाय के फूल का लेप भी उत्कृष्ट रोपण द्रव्य हैं ।^१

१ शोभाञ्जनकनिर्यूह हिंसुसैधवसयुत ।

अचिराद् विद्रधि हन्ति प्रातः प्रातर्निषेवित ॥

शिशुमूल जले धीत दरपिष्ट प्रगालयेत् ।

तदस मधुना लेपो हन्त्यन्तविद्रधिं नर ॥

जात्यादि तैल—चमेली की पत्ती, निम्बपत्र, पटोल पत्र, करंज पत्र, मोम, मुलैठी, कूठ, हरिद्रा, दासहरिद्रा, कुटकी, मजीठ, पद्माख, लोध, हरड, कमल केसर, शुद्ध तुत्य, अनन्तमूल और करज बीज । प्रत्येक २ तोला । तिल तैल १ सेर । जल ४ सेर । तैलपाक विधि से सिद्ध करे । यह बृहद् जात्यादि तैल परम व्रणरोपण योग है ।

✓अधःपुष्पी (अधाहुली)—यह व्रणोपचार में महीपधि है । यह शोथघ्न, सकोचक, वेदनाहर, रक्तशोधक, विषघ्न आदि गुणों से युक्त होती है । इसका अधिकतर बाह्य प्रयोग शोकयुक्त स्थानों पर किया जाता है । 'पूययुक्त संधिशोथ, अस्थिपाक, निर्जोवाङ्गत्व प्रभृति दुसाध्य रोगों में भी इसके पचाङ्ग का लेप करने से अद्भुत लाभ देखने को मिला है । निर्जोवाङ्गत्व तथा कोथ (गैंग्रीन) में इसका बाह्य लेप समान मात्रा में मूषाकर्णों पचाङ्ग को मिलाकर लेप रूप में करना चाहिये । यह एक दृष्टफल योग है ।

सद्योव्रण (Accidental wound)—गर्भ किये घी और मुलैठी के चूर्ण का मिश्रित लेप व्रणगत वेदना को शान्त करता है । अपामार्ग की पत्ती का स्वरस व्रणस्थान पर छोड़ने से सद्य रक्त का स्तब्धन करता है । घृत ६ माशा और कपूर १/२ मागा को एक में मिलाकर कटे स्थान पर भर कर बाँध देने से व्रण स्थान गत वेदना दूर हो जाती है और व्रण का रोहण भी शीघ्र होता है । कोटहू से निकाला ताजा तैल का पूरण भी ऐसा ही उत्तम पड़ता है । रक्त-स्राव के बन्द करने के लिये फिटकिरी के चूर्ण का स्थानिक उपयोग भी उत्तम रहता है । सद्योजात व्रणों में सरफोके का रस, काकजंघा का रस भैस के प्रथम नवजात बच्चे का मल अथवा लज्जालु का रस या कल्क का लेप सद्यो व्रण में लगा कर बाँधने में व्रण शीघ्र भर कर ठीक हो जाता है ।^१

नाडीव्रण (Sinuses)—बला की पत्ती का रस निकाले । नासूर के छिद्र में टपकावे । इसी पत्ती को पीसकर, घी में तलकर ठीकरी जैसी बनाकर व्रण के मुख पर बाँध दे । शीघ्र व्रण का रोपण होता है ।

एक वा साग्विदामूल सर्वव्रणविशोधनम् ।

अपेतपूतिमानाना मासस्थानामरोहताम् ॥

वत्क सरोपण कार्यं निलजो मधुसयुत ॥

अश्वगंधा रूहा लोघ्रं कट्फल मधुर्याष्टका ।

समगा घातकीपुष्पम् परमं व्रणरोपणम् ॥ (सु. सं., भै. र.)

१ शरपुट्टा काकजंघा प्रथम माहिपीसुतम् ।

मल लज्जा च मद्यस्कव्रणघ्नं पृथगेव तु ॥

उदुम्बर सार—दस सेर हरी पुष्ट गूलर की पत्ती धोकर साफ कर ले । फिर इसको साफ किये ओखल में डालकर मूसल से कूट ले । फिर उसमें १ मन जल डालकर कलईदार वर्तन में रखकर आग पर चढ़ाकर मंद आँच पर पकावे । जब चौथाई जल शेष रहे तो उतार कर अच्छे कपड़े से दो बार छानकर उसमें ५ तोला मुद्गाग मिलाकर पुन आग पर चढ़ाकर मंद आँच पर पकावे । जब यह करछे में लगने लगे तो नीचे उतार कर कलईदार थालो में फैलावे । इसके ऊपर एक कपड़ा बाँध कर धूप में सुखा ले । जब लेह जैसा हो जावे तो काच के बरतन में भर कर रख ले ।

गुण एवं उपयोग—उदुम्बरसार व्रणशोथ शामक, व्रण का शोधक, रोपक तथा रक्तस्रावनिरोधी है । इसका उपयोग व्रणशोथ-शमन में स्त्रियों के स्तन-विद्रधि में, व्रण के प्रक्षालन में, मुख पाक में, कुल्ली के लिये, स्त्रियों के प्रदर, श्वेत प्रदर, योनिमार्ग के क्षत में उत्तरवस्ति के लिये होता है । उदुम्बर सार को उबलते हुए जल में छोड़कर विलयन बनाकर प्रयोग में लाना चाहिये । रक्तार्श, रक्तप्रदर प्रभृति रोगों में ३-६ माशे की मात्रा में अठगुने जल में मिलाकर दिन में तीन चार बार पीने को देने से भी उत्तम लाभ होता है ।

अग्निदग्ध व्रणलेप—मोम, मुलैठी, लोध, राल, मजीठ, श्वेत चन्दन, मूर्वा प्रत्येक ४-४ तोला और गाय का घी ६४ तोला ले । प्रथम मुलैठी, लोध, राल, मजीठ, चन्दन, मूर्वा का चूर्ण करे । उसमें मोम और घी मिला कर ३ सेर पानी डालकर घी को आग पर पका ले । पश्चात् छानकर शीशी में रख ले । सभी प्रकार के अग्नि से जले स्थान पर लगावे । (सु० सू० १३)

भग्न (Fractures)—अस्थिभग्न के रोगियों में खाने के लिये मास, मासरस (अस्थि का शोरवा), लहसुन, घृत, दूध, मटर की दाल तथा अन्य बलवर्धक आहार देना चाहिये । प्रथम प्रसूता गाय का दूध, मधुरौषधि गण की ओषधियाँ, घृत और लाक्षा चूर्ण का प्रयोग करना चाहिये ।

अस्थिसंहारादि चूर्ण—हरजोड का चूर्ण, लाक्षाचूर्ण, गोधूम चूर्ण (आटा), अर्जुन की छाल का चूर्ण सम भाग में लेकर मिश्रित करे । इसे घी और चीनी के साथ मिलाकर १ तोले की मात्रा में ले और ऊपर से दूध पिये । इसके उपयोग से भग्न का सधान शीघ्रता से होता है । अस्थिसंहारक का बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रयोग अकेले ही अस्थिसंयोजन में उत्तम कार्य करता है । इस का सेवन घृत के साथ या दूध के साथ करना चाहिये । क्योंकि इस में सूरण जैसे मुख और गले में क्षोभ पैदा करने का दुर्गुण है । स्वरस को घृत और शकर या दूध में

लेने पर यह अवगुण दूर हो जाता है। यह एक रसायन ओषधि है, जिसका कई एक वैद्यक ग्रंथों में अद्भुत गुण लिखा मिलता है।^१

भगदर (Fistula in Ano)—यह अस्त्रकर्म साध्य रोग है। रोग की प्रारंभिक अवस्था में जातिपत्रादि लेप (भा प्र) से उत्तम लाभ होता है। इन लेप में चमेली की पत्ती, बट के कोमल पत्र, गिलोय, सोठ तथा सेंधा नमक उन्हें मम भाग में लेकर मट्ठे में पीस कर मोटा लेप कर ऊपर से बटपत्र से आवृत कर के लगोटे बाधने में लाभ होता है।

नवकार्षिक गुग्गुलु—हरें, बहेरा, आवला प्रत्येक १-१ तोला, शुद्ध गुग्गुलु ५ तोला, छोटी पिप्पली १ तोला। सबको कूट पीस कर कपड़छान चूर्ण बनाकर घृत के साथ मर्दित कर के २-२ मासे की गोलियाँ बना ले। सुखा कर जीर्णों में भर ले। सुबह-शाम १-१ गोली का दूध या जल से सेवन करे। भगदर में हितकर होता है।

विसर्प (Erisipelas)—शिरोप के पत्र या छाल के कपाय से प्रक्षालन, पत्रको पीस कर लेप तथा कपाय का पिलाना। उत्तम लाभ दिखलाता है। २-तीस कमीन ४ रस्ती लेकर १ पौण्ड जल में घोल कर विलयन बना ले। इस में कपड़ा भिगो कर विमर्षित स्थान पर रखने में भी लाभ होता है। विस्फोट में अन्यान्य रत्नजोधक चिकित्मात्रों के साथ शिरोप का भी बाह्याभ्यन्तर प्रयोग करना चाहिये।

मसूरिका (Pox)—

निश्वादि कपाय—नीम की छाल, पित्तपापड़ा, पाठा, पटोल पत्र, कुटकी, अटूमे की छाल, दुराशमा, आवला, खम, श्वेत चदन, लाल चदन। मम भाग में लेकर दवाय बना कर पीने में त्रिदोषज मसूरिका, ज्वर, विस्फोट, विसर्प आदि दूर होते हैं। यदि किसी दोषों में मसूरिका के दाने अतलनि हो गये हों तो इस दवाय या दानों के ठीक निकलने के लिये प्रयोग करना चाहिये। मसूरिका में दानों के निकलने में विषमयता कम होकर रोगी को सुख की प्रतीति होती है।

पटोलादि कपाय—पटोलपत्र, गिलोय, नागरमोथा, अटूमा, धमासा, चिरायना, नीम की छाल, कुटकी, पित्तपापड़ा। इन द्रव्यों के दवाय को पिलाने में मसूरिका के कच्चे दाने बैठ जाते हैं, पक्के दाने सूख जाते हैं। विस्फोट तथा ज्वर के शमन के लिये यह उत्तम है।

१ किमत्र चित्र यदि वज्रवल्ली संमेविता शर्करया घृतेन ।

मानेन रोगान् विनिहन्ति मन्त्रान् मानत्रयै र्यविनमातनोति ॥ (हरमेखला)

मसूरिकामे दानो को निकालना हो तो प्रथमोक्त का और बैठाना हो तो द्वितीयोक्त कपाय का प्रयोग करना चाहिये ।

उपदंश, फिरंग

अंकरी—मूखी पत्ती १ तोला, गीली पत्ती २॥ तोला, काली मिर्च, एक छटाक पानी में पीस कर, चीनी के शर्वत के साथ सेवन करे । सुबह-शाम दिन में दो बार, कुल एक सप्ताह तक सेवन करावे ।

पाददारी (वेवार्ड Rhagades)—राल और सेधानमक दोनों को सम भाग में लेकर पीस कर शहद और घृत मिलावे । फिर सरसो का तेल मिला कर मल्हम जैसे बना ले । दारी वाले स्थान पर लगावे ।

युवानपिडिका-मुखदूपिका—१ मसूर की दाल को घी में भून कर दूध में पीसकर लगाने से एक सप्ताह में ही पर्याप्त लाभ होता है । २ शख भस्म का अवधूलन (मुहासे के ऊपर 'पाउडर' जैसे लगाना) उत्तम कार्य करता है । नाथ में पेट को ठीक रखने के लिये आरोग्यवर्धनी १-२ गोली सुबह-शाम दिन में दो बार देना चाहिये ।

व्यंग (झाँड़ी)—१ लोध, सोठ, देवदारु, गेरू, मसूर की दाल को पीसकर लेप करना । अथवा २ जायफल को दूध या जल में पीसकर लेप करना । ३ सीमम की पत्ती का लेप । ४ हल्दी के चूर्ण को मदार के दूध या बट के दूध के साथ लगाना । ५ अमलताश की पत्ती, आमाहल्दी को दही में पीसकर लेप करे । यह योग व्यंग तथा युवानपिडिका दोनों में लाभप्रद रहता है ।

अरुंपिका (रूसी)—कूठ को तवे पर भूनकर चूर्ण बनाकर तिल तैल में मिलाकर लेप करने से उत्तम लाभ होता है । सिर एवं केशों की सफाई का भी ध्यान रखना चाहिये ।

इन्द्रलुप्त—१ उस्तरे से उथले चीरे लगा कर या हल्के प्रच्छान लगाकर गुजा के बीजों का लेप करना । २ हाथों के दाँत की अतर्धूम भस्म बनाकर उसमें उतनी ही श्रेष्ठ रसोत मिलाकर जल के साथ पीसकर लेप लगाने से नष्ट हुए केश पुनः उत्पन्न हो जाते हैं ।^१ इस योग को यहाँ तक प्रशंसा है कि हाथ के तलवे में भी लेप करने से बाल आ सकते हैं । ३ इन्द्रलुप्त-नाशन तैल का सिर पर मालिश करना भी उत्तम है । चक्रदत्त का स्नुह्याद्य तैल या इन्द्रलुप्तघ्न तैल उत्तम रहता है । निर्माणविधि इस प्रकार है । कल्कार्य-थूहर का दूध, आक का

१ हस्तिदन्तमसी कृत्वा मुख्य चैव रसाञ्जनम् ।

लोमान्येतेन जायन्ते लेपात्पाणितलेष्वपि ॥

दूध, भृंगराज, कलिहारी, वत्सनाभ, गुंजा की जड़, इन्द्रायण मूल, सफेद सरसो । इनको समभाग में लेकर कल्क १ पाव, सरसो का तेल १ सेर, बकरी का मूत्र, गोमूत्र प्रत्येक २ सेर । मद आँच पर तैल का पाक करे । अभ्यगार्थ उपयोग करे ।

नापितकण्डु (Barbers Itch)—१. उदुम्बर सार का लेप । २. दशाङ्ग लेप का लगाना । ३. हरताल, सैनशिल, मुर्दाशख, शुद्ध टंकण बराबर भाग में लेकर महीन पीसकर बेसलीन में मल्लम जैसा बनाकर लगाना ।

पलित रोग—(अकाल में केशों का सफेद होना)—केशरजन के लिये वर्द्ध लेप तथा तैल (नीलिनी, महानील तैल) आदि योग है । सर्वोत्तम योग निम्नलिखित है और दृष्टफल है । इनका नाक से नस्य के रूप में तथा पीने के लिये दोनों तरह से उपयोग होना चाहिये । प्रयोग काल में व्यक्ति को गाय के दूध और भात पर रहना आवश्यक है । इन द्रव्यों का उल्लेख रसायनाधिकार में हो चुका है । यहाँ दूसरे ग्रंथ से उद्धरण प्रस्तुत किया जा रहा है ।

विभीतक, निम्ब, गम्भारी, हरीतकी, गाखोटक (सिंहोर), लाल गुजा इनमें किसी एक के बीज से निर्मित तैल का नस्य द्वारा प्रयोग करने से निश्चित सफेद बाल काले हो जाते हैं ।^१

शय्यामूत्र—१. विम्बी के मूल का रस १ तोले की मात्रा में एक सप्ताह तक करने से मोने में पेयाव करने की बीमारी दूर हो जाती है । २. अहिफेन का अल्प मात्रा में प्रयोग $\frac{1}{2}$ रत्ती से $\frac{3}{4}$ रत्ती तक रात में सोते वक्त देने से भी लाभ होता है । ३. जिसको शय्या में निद्रा के समय मूत्रस्राव होता है उसके विन्तर के भीतर पीली मिट्टी का ढेला रखे । जब मूत्र में आर्द्र हो जावे तो उसको चूर करके तवा पर भून ले । इसको पुन १-३ मासे की मात्रा में घी और शहद के अनुपात से चटावे तो आदत छूट जाती है । ४. कमलगट्टा का चूर्ण १-२ मा० मधु से चटावे ।

लोमशानन (केश गिराने के उपाय)—१. कुसुम्भ तैल (वरें का तेल) का अभ्यग केशों को गिराता है । २. शय भस्म की एक सप्ताह तक केले के रस में भावित करके सुखा ले । पश्चात् उसमें उतनी ही मात्रा में हरताल मिलाकर रख ले । इसी में थोड़ा कली का चूना मिलाकर रख ले । इस चूर्ण के लेप से केश गिर जाते हैं ।

१ विभीतनिम्बगाम्भारी शिवा शैलुश्च काकिनी ।

एकैकतैलनस्येन पलितं नश्यति ध्रुवम् ॥ (शा मं)

अलस (अंगुलियों का सड़ना)—पंचगुण तैल या मरिचादि तैल का लगाना ।

मुखपाक (Stomatitis)—

१ शुद्ध टकण का मधु से लेप । २ दुग्धपाषाण (सग जराहत) मधु से लेप करना । ३ खदिरादि वटी का मुख में धारण करना । ४ चमेली पत्र या सहिजन के छाल का काढा बनाकर कुल्ली करना । ५. नित्य मृदु रेचन (यष्ट्यादि चूर्ण ६ मा.) देना । बार-बार होने वाले मुख पाक में अकुरित चने का सेवन एक मास तक ।

६. जात्यादि कृपाय—चमेली की पत्ती, अनार की पत्ती, बबूल की छाल, वेर की जड़ । प्रत्येक ६-६ माशे । जौकुट करके ६४ तोले जल में पकावे । आधा शेष रहने पर उसमें शुद्ध फिटकिरी १ माशा और शुद्ध टकण १ माशा मिलाकर रख ले । दिन में कई बार कुल्ली करे । इससे मुख और गले के पकने में अच्छा लाभ होता है ।

तुण्डिकेरी (Tonsils enlarged)—१ कफ्फेतु (कासरोगाधिकार) का पानी में पीस कर गले में बाहर से लेप । २ अध.पुष्पी (अधा हुली) की पत्ती, शहतूत की पत्ती, रहर की पत्ती, मरिच ७ दाने मिलाकर एकत्र महीन पीस कर आग पर गर्म करके गले के बाहर से बाँधे । यथावश्यक एक सप्ताह से लेकर एक मास तक प्रयोग करने से पर्याप्त लाभ होता है । ३. गृह धूम (रसोई घर का धुवा), सेंधानमक और मधु एक में मिलाकर गले के अंदर लेप करे । ४ कल्याणावलेह (वातरोगाधिकार) ३ माशा में शु टकण ४ रत्ती, १ माशा मधु में मिलाकर दिन में दो बार चटावे । ५. पीत सैरेयक (पीली कटसरैया का क्वाथ बनाकर उससे कई बार गार्गल भी रोगी को कराना चाहिये ।

चलदन्त (दाँतों के हिलने)—मे मौलसिरी (वकुल) की छाल का मजन उत्तम रहता है । किसी मोठे तेल का अथवा वातरोगाधिकार में पठित तैलो का, पंचगुण तैल का अथवा इरिमेदादि तैल का मुह में कुल्ला करना उत्तम रहता है ।^१

दाँतों में पानी का लगाना—अजवायन, हल्दी और सेंधानमक का महीन चूर्ण बनाकर सरसो के तेल में मिलाकर मजन करना उत्तम होता है ।

१ एषः सुगन्धमुकुलो वकुलो विभाति वृक्षाग्रणी प्रियतमे मदनेऽबन्धु ।

यस्य त्वचा च चिरचवितया नितान्तं दन्ता भवन्ति चपला अपि वज्रतुल्या ॥

(वै जी)

दशानमंस्कार चूर्ण—सोठ, हरड़, मोथा, कत्था, कपूर, मुपारी को बतवूम भस्म, काली मिर्च, दालचीनी तथा खवड़ का चूर्ण १-१ तोला लेकर समग्र चूर्ण के बराबर खडिया (Chalk) मिला ले । इसके मंजन से दाँत और मुख के रोग दूर होते हैं ।

वज्रदन्त मंजन—त्रिफला त्रिकटू तृतीया तीनों नील पतंग ।

दन्त वज्र सम होत है माजूफल के मंग ।

इस चूर्ण का उपयोग मसूड़े में होने वाले रक्तस्राव में तथा दन्त वेध (Pyorrhoea) में करना चाहिये ।

इरिमेदादि तैल—गैर की छाल २०० तोला, मौलसिरी की छाल २०० तोला ले कूट २०४८ तोला जल में ढालकर पकावें । जब ५१२ तोला जल बाकी रहे तब कपड़े से छान ले । पीछे उसमें १२८ तोला तिल का तैल और खैर की छाल, लींग, गैर, अगर, पच्चाख, मजीठ, लेव, मुलँठी, लाख, बड की छाल, नागर-मोथा, दालचीनी, जाप्रफल, कवावचीनी, अकरकरा, पतंग, घायके फूल, छोटी डलायची, नागेश्वर और कायफल की छाल—प्रत्येक १-१ तोला ले इनका पक करके मिलावे । पीछे तैलपाक विधि से मदी आँच पर पकावे और खोचे से हियाना रहे । जब तैल निद्र हो जाय तब ठंडा होने पर उसमें एक तोला कपूर का चूर्ण मिलाकर कपड़े से छानकर गीली में भर लें ।

उपयोग—इस तैल से सँह का पकना, मसूड़ों का पकना और उसमें मवाद (पीप) होना, दाँतों का मटना, दाँतों में छिद्र होना, दाँत फटना, दाँतों में कीड़े होना, सँह की दुर्गन्ध तथा जीभ, तालू और आँठ के रोग ये सब नष्ट होते हैं ।

वक्तव्य—आर्द्रावर में यह पाठ इरिमेदादि तैल के नाम से दिया है उसमें इरिमेदके स्थान में गैर तथा मौलसिरी की छाल लेकर बनाने से यह योग अधिक गुणकारक होता है ।

कर्णशूल (Earache)—

१ आक या मटार के पके हुए पत्ते पर घी दोनों तरफ चुपड़ कर प्रदीप्त आग पर तपाकर, निचोड़ कर रस निकाले । इस रस को कान में गुनगुना कर छोटे । उसमें कान की तीव्र वेदना भी शान्त होती है । (भै. र.)

२—गाय, भैरव्यादि अष्टमूत्रों में से किसी एक मूत्र को लेकर कपड़े से छानकर मन्दोष्ण जल में पूरण करने से कान की वेदना शान्त होती है । (भै. र.)

१. अष्टानामपि मृदाणा मूत्रेणान्यतमेन वा ।

कोष्णेन पूरयेत्कर्णं कर्णशूलोपशान्तये ॥

कर्णस्राव (Chroni Ear Discharge)—

१ जलकुम्भी तैल—जलकुम्भी का कल्क १६ तोला, तिल तैल ६४ तोला, जलकुम्भी का स्वरस २५६ तोला । सबको तैल पाक विधि से पकावे । परवात् कपड़े में छानकर शीशी में भर ले । कान को साफ करके कान में पूरण करने से कान से मवाद का आना कम होता है और वेदना भी शान्त होती है ।

२—पुराने कर्णस्राव में विपगर्भ तैल (वातरोगाधिकार) का पूरण भी उत्तम कार्य करता है ।

दुष्ट प्रतिश्याय या जीर्ण नासारोग या अपीनस

१. चित्रकहरोतकी—चित्रकमूल का क्वाथ ४०० तोला, बाँवले का स्वरस या कपाय २५६ तोला और गुड ४०० तोला । इन सबको एकत्र करके पकावे । जब अवलेह जैसे हो जावे तब उसमें सोठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, तेजपात, इलायची ८-८ तोला और यवाखार २ तोला । इनका कपड़छान चूर्ण मिलाकर रख छोड़े । दूसरे दिन ठंडा होने पर उसमें ३२ तोला शहद मिलाकर भर कर रख दे । इसमें प्रक्षेप द्रव्यों में ८ तोले कायफर का चूर्ण मिलाने से और उत्तम लाभ होता है । (भै. र)

सेवन विधि—६ माशा की मात्रा में प्रातः-सायम् गर्म दूध के साथ ।
उपयोग—पुरानी नाक की बीमारी, बार-बार होने वाले प्रतिश्याय (जुकाम), कण्ठशूलक, गलशुण्डी तथा तुण्डिकेरी रोग में उत्तम कार्य करता है ।

२ केवल मधुयष्टी चूर्ण ६ माशा की मात्रा में घृत ६ माशा और मधु ६ माशा के साथ मिलाकर प्रातः-साय सेवन करने से भी पीनस प्रभूति व्याधियों में उत्तम लाभ होता है । इसे 'मधुक रसायन' कहते हैं ।

३ व्याघ्री तैल—तिल तैल २० तोला, कल्कार्य कंटकारी मूल, दन्ती पंचाग, वच, सहजन की छाल, तुलसी, सिन्दुवार, त्रिकटु और सैन्धव का मिश्रित कल्क ५ तोले । पानी १ सेर । यथाविधि तैल को पकाकर छानकर शीशी में भर ले । नाक में इस तैल की बूँद (Nasaldrop) छोड़ने से बहुत प्रकार के नासा रोग ठीक हो जाते हैं । (भै. र)

नेत्राभिष्यन्द—१—दारुहरिद्रा के क्वाथ से बने रसाञ्जन को स्त्री-स्तन्य या गोदुग्ध में मिलाकर, खोलाकर, छानकर, ठंडा करके नेत्रों में टपकाने से अभिष्यन्द (जिसमें नेत्र की लालिमा, अश्रुस्राव, दाह, वेदनादि पाई जाती है) ठीक होता है ।

२—महिजन के पत्तो का स्वरस या कपाय खूब साफ छानकर मधु मिलाकर अञ्जन कराने या टपकाने से अभिष्यन्द में लाभ होता है ।^१

३—फुल्लिका द्रव—परिस्रुत सलिल (Distilledwater) ८ तोला, मिश्री ४ तोला, सेन्धा नमक ४ तोला, शुद्ध स्फटिका ४ तोला । मिश्रित नेत्र की वूँदें ।

४—नेत्रविन्दु—गुलावजल ८ तोला, कपूर ६ माशा, अफीम १ तोला, रसोत ८ तोला । मिश्रित । नेत्र में वूँदें डाले ।

चन्द्रोदया वर्त्ति—गख की नाभि, विभीतक मज्जा, हरीतकी, मनःशिला, पिप्पली, मरिच, वच, कूट । सम भाग में लेकर बकरी के दूध में पीसकर पतली वर्त्ति बनाकर रखले । सूर्योदय के पूर्व और सूर्यास्त के बाद पानी में घिसकर अञ्जन लगाने से तिमिर, मासवृद्धि, काच, पटल, रात्र्यन्ध (रतीधी) एक वर्ष तक का पुष्प (फूला) को दूर करती है ।

रतीधी के रोगियों को आहार में बाजरे की रोटी, दूध, नेनुवा का शाक, पका आम या आम का अमावट प्रचुर मात्रा में खाने को देना चाहिए । साथ में चन्द्रोदया वर्त्ति का अञ्जन भी कराना चाहिए ।

त्रिफलाद्य घृत—गोधृत १ सेर, त्रिफला क्वाथ, शतावरी का स्वरस या क्वाथ २-२ सेर, कल्कार्य मधुयष्टी चूर्ण २० तोले, मन्द आंच पर पाक करले । इस घृत की १ तोले की मात्रा दिन में दो बार दूध में डालकर प्रातः-सायं पिये । अथवा सहृद के साथ मिलाकर खावे । इसका नेत्रों में अञ्जन भी किया जा सकता है । तिमिर, दृष्टिमाद्य प्रभृति बहुविध नेत्ररोगों में इसका सेवन आश्चर्यजनक लाभ दिखलाता है ।

सप्तामृत लौह—त्रिफला चूर्ण, मधुयष्टी चूर्ण तथा लौह-भस्म सम भाग में लेकर बना ले । मात्रा १-२ माशा । अनुपान घृत और मधु । विविध नेत्र रोगों में इसका सेवन लाभप्रद है ।

त्रिफला चूर्ण—नेत्र में बढ़ा प्रशसित है । इसका घृत एवं मधु के अनुपान से सेवन अथवा उमका काढ़ा या शीतकपाय बनाकर नेत्रों का नित्य प्रक्षालन बहुविध नेत्र रोगों में लाभप्रद रहता है ।

१. लोलिम्भराजकविना वनितावतसे शिग्रोरमुष्य कथितस्तु किमूपयोग ।

एतस्य पल्लवरसात् समधो. किमन्यद् दृग्ग्याधिमात्रहरणे महिलाग्रगण्ये ।

(वै. जी)

अन्नग शुक्र (Corneal opacity)

- १—त्रिफला घृत का अंजन और पिलाना । २—चन्द्रोदयावर्त्ति का अंजन ।
३—सुवर्णमालिनी वसन्त या वसन्त मालती (ज्वराधिकार) का मधु मे घिस कर नेत्र में अंजन भी उत्तम कार्य करता है ।

शिर शूल (Headache)

शिरःशूलाद्रि वज्र—शुद्ध पारद ४ तोला, शुद्ध गंधक ४ तोला, लौह भस्म ४ तोला, निशोथ ४ तोला, शुद्ध गुग्गुलु १६ तोला, त्रिफला ८ तोला तथा मुलेठी, छोटी पीपल, सोठ, गोखरू, वायविडङ्ग, सरिवन, पिठवन, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, छोटे गोखरू, बेल, अरणी, सोनापाठा, गंभारी, पाढल प्रत्येक १-१ तोला । प्रथम पारे और गंधक की कज्जली कर उसमे लौह भस्म तथा अन्य द्रव्यों का चूर्ण मिलावे । पीछे साफ किये हुए गुग्गुलु को इमाम दस्ते मे डाल कर कूटे । जब गुग्गुलु नरम हो जावे तो उसमें अन्य द्रव्य मिलाकर दशमूल कपाय और भृङ्गराज स्वरस या कपाय की ३-३ भावना देकर ४-४ रत्ती की गोलिया बना ले । सुखाकर जीशी मे भर कर रख ले ।

मात्रा और अनुपान—२-२ गोली सुबह-शाम । बकरी का दूध, गाय का दूध या पथ्यादि व्वाथ के अनुपान से सभी प्रकार के शिर शूल मे लाभप्रद ।

पथ्याषडङ्ग कपाय—हर्रे का दल, बहेरे का दल, आवला, चिरायता, हल्दी, नीमकी छाल, गिलोय । प्रत्येक सम भाग जीकुट कर रख ले । २ तोला लेकर ३२ तोले पानी मे खोलाकर ८ तोला शेष रहने पर उतारे फिर गुड आधा तोला मिलाकर पीने को दे । यह एक परमोत्तम योग है, जो सभी प्रकार के शिर शूल में लाभप्रद होता है ।^१

गोदन्ती भस्म—१ माशा की मात्रा मे दिन मे दो-तीन बार घी और चीनी के साथ सभी प्रकार शिर शूलो मे देना चाहिये ।

षड्विन्दु तैल—एरण्डमूल, तगर, सौफ, जीवन्ती के मूल, रास्ना, अगर, सेधानमक, दालचीनी, वायविडङ्ग, मुलेठी और सोठ प्रत्येक १॥-१॥ तोला ले । बकरी के दूध मे पीस कर कल्क बनावे । उसमे काले तिल का तैल ६४ तोले, बकरी का दूध ६४ तोले और जल २५६ तोले डाल कर तैल पाक

१. पथ्याऽक्षधात्रीभूनिम्बनिशानिम्बामृतायुता ।

कृत व्वाथ षडङ्गोऽयं सगुडः शीर्षशूलहृत् ॥ (शा. स)

विविध प्रकारों से। जब तैल मिश्र हो जाय तो कपड़े से छान कर शीशी में भर ले।

उपयोग—शिरःशूल के रोगियों में ६-६ बूँद की मात्रा दोनों नयनों से रोगी को चित नेंदकर नाक में छोड़े। शिरःशूल में नद्य-आराम मिलता है।

अन्य नस्य—शिरःशूल में नस्य एक चिकित्सा का उत्तम साधन है। एनर्ज कायूर की छाल का महीन कण्डूचन चूर्ण, नीबू (जागवी) के रस का, अमामर्ग के रस का, फिटिकरी और कपूर के महीन चूर्ण का अथवा नीसादर और चूने का मिलित गंध का भी उत्तम रहता है। एक नस्य और बड़ा उत्तम कार्य करता है इसकी शीशी में बनाकर रखना चाहिये और बीच-बीच में शिरःशूल में पीड़ित रोगी को मुँधा दिया करे। कपूर, सत अजवायन, पुदीने का सत, लोहवान का सत मिश्रित। कई बार शूद्र नस्य का अंजन भी सद्यः शिरःशूलघामक होता है।

रजःकृच्छ्र, रजोल्पता, रजावरोध

रजःप्रवर्तिनी वटी—१. शुद्ध सोहागा १ भाग, हीराकासीस १ भाग, घों ने सेंकी हींग ३ भाग, मुसव्वर १ भाग। घृतकुमारी के रस में घोट कर ४-४ रत्ती की गोली बना ले। मात्रा—१-२ गोली दिन में तीन या चार बार जल में।

२ कुमार्यासव—भी भोजन के बाद २-२ चम्मच पाने को देना चाहिये।

३ मूली, मेथी और गाजर के बीज को बराबर लेकर बनाया चूर्ण मात्रा ३ माणा। गुड़ के गर्म शर्बत से।

रक्तप्रदर तथा योनिव्यापद

✓ **सिद्धामृत योग—**१. शुद्ध भुवर्ण गैरिक, दुग्धपापाण, दन्तीभस्म, शुद्ध फिटिकरी, प्रवाङ्ग पिष्टि। नम मात्रा में लेकर बनाया महीन चूर्ण। मात्रा १-२ माणा दिन में दो या तीन बार। अनुपान केले की जड़ का रस १ छटांक या गृध्र का जडा। यह श्वेत तथा रक्त दोनों प्रदर में उपयोगी है।

✓ २. बरें या ततैग के छत्ते को जलाकर उनकी रात्र। ४-४ रत्ती की मात्रा में दिन में तीन बार शुद्धि भस्म २-२ रत्ती मिलाकर उत्तम कार्य करना है। रक्त को बन्द करना है।

✓ ३. जंतरी वृक्षर के बीट को माफ करके महीन चूर्ण करे। कपड़े से छान कर शीशी में भर ले। १-२ मा० की मात्रा में चावल के पानी से दे। उत्तम रक्तप्रदर नाशक होता है।

४. दार्व्यादि कषाय—दारुहल्दी, रसोत, अडूसे की छाल, नागरमोथा, चिरायता, वेलगिरी, शुद्ध भल्लातक, रक्त चन्दन, नील कमल । इसका यथाविधि बना क्वाथ सभी प्रकार के प्रदर रोग में लाभप्रद है । कठिन प्रदर के रोगियों में इसका उपयोग अवश्य लाभप्रद होता है ।^१

५. पुष्यानुग चूर्ण—पाठा, जामुन तथा आम के बीज की गिरी, पाषाण-भेद, रसोत, अम्बष्ठा, मोचरस, लज्जालु, मजीठ, कमलकेशर, नागकेशर या केशर, अतीस, मोषा, बिल्वफल मज्जा, पठानीलोघ, सुवर्ण गैरिक, कायफल, काली मिरच, सोठ, मुनक्का, लाल चन्दन, सोनापाठा और कुड़े की छाल, अनन्तमूल, धाय के फूल, मुलैठी तथा अर्जुन की छाल । इन सब औषधियों को बराबर मात्रा में पुष्यनक्षत्र में लेकर इकट्ठी कर लेवे । पुन. पुष्य नक्षत्र में ही इस चूर्ण योग को बनावे । मात्रा ३-६ माशे । अनुपान चावल का पानी । सभी प्रकार के योनिव्यापद एवं प्रदर में लाभप्रद ।

६. अशोकारिष्ट—अशोक की छाल ५ सेर, लोध २॥ सेर ले । जौ-कुट करके ४०९६ तोले जल में पकावे जब चतुर्थांश शेष रहे तब कपड़े से छानकर उसमें चीनी ५ सेर, शहद २॥ सेर, जौकुट की हुई मुनक्का १ सेर, धाय के फूल ६४ तोले । जीरा, नागरमोथा सोठ, दारुहल्दी, कमल, हरें, बहेडा, आंवला, आम की गुठली, केशर, अडूसा, श्वेत चन्दन, रसोत, पतंग, खैर का बुरादा, बेल, सेमल का फूल या मोचरस, बरियरा का मूल, भिलावा, अनन्तमूल, गुडहुल के फूल, दालचीनी, बड़ी इलायची और लवङ्ग प्रत्येक ४-४ तोला कपडछान चूर्ण डालकर किसी मिट्टी के बड़े पात्र में या सागोन की लकड़ी के पीपे में भरकर मुह बन्द करके एक मास तक रख दे । एक मास पश्चात् छानकर शीशियों में भर कर रख ले । मात्रा भोजन के बाद २-४ तोला बराबर पानी मिलाकर सेवन करे । स्त्रियों के सभी गर्भाशयसम्बन्धी रोगों में लाभप्रद ।

७. फल घृत द्रव्य तथा निर्माण विधि—मजीठ, मुलैठी, कूठ, हरड, बहैरा, आंवला, चीनी, बच, अजमोद, हल्दी, दारुहल्दी, घी में सिंकी हुई हींग, कुटकी, कमल, चन्दन, मुनक्का, पद्माख, देवदार, मेदा, महामेदा, विदारोकन्द, काकोली, असगन्ध, छोटी पीपल, चमेली के फूल, वंशलोचन, बायबिडंग, कमल, बरियरा के मूल, कायफल, अनन्त मूल, नागरमोथा, गोखरू, छोटी कटेरी और

१. दार्वीरसाञ्जनकिरातवृषाब्दविल्वभल्लातकैरवकृतो मधुना कषायः ।

पीतो जयत्यतिबलं प्रदरं सशूल पीतासितारुणविलोहितनीलशुक्लम् ॥

४६ भि० मि०

बड़ी कटेरी प्रत्येक १-१ तोला ले कूट कर कपड़छान कर जल में पीसकर इनका कक करे। फिर उस कक में गाय का घी १२८ तोला, शतावर का रस २४८ तोला मिश्रकर घृतपाक विधि से पकावे। जब घृत तैयार हो जाय तब कपड़े से छानकर काच के बरतन में भरकर रख दे।

सात्रा और अनुपान—आधा तोला से १ तोला तक उतना ही मिश्री का घूर्ण मिलाकर दे और ऊपर से दूध पियावे।

उपयोग—जिम स्त्री को बारम्बार गर्भपात होता हो, मरे हुये या अल्पायु बालक होते हा और एक बालक होकर फिर गर्भ न रहता हो, ऐसी स्त्री को इस घृत का नेत्रन कराने से बुद्धिमान् और स्वरूपवान् बालक होता है।

गर्भशूल, गर्भक्षोभ—गर्भिणी को गर्भकाल में शूल होने पर घिरनी की को मिट्टी को पानी में घोलकर पिलाना चाहिये। गर्भक्षोभ में रक्तप्रदरोक्त रक्तस्तम्भक उपचार करे।

सूतिका रोग

१ दशमूल क्वाथ—दशमूल का क्वाथ बनाकर उसमें एक तोला घी मिलाकर पिलाना।

२. सूतिका दशमूल क्वाथ—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, नीलगिण्टीमूल, गन्धप्रसारणी, सोठ, गिलोय और नागर-मोथा। क्वाथ।

३ दशमूलारिष्ट—(वातरोगाधिकार) भोजन करने के बाद २-४ तोला समान जल मिलाकर। दिन में दो बार।

बाल रोग

१- बालचातुर्भद्रिका—नागरमोथा, पिप्पली, अतीस और काकडासीगी। सम भाग में लेकर महीन ननाया चूर्ण। १-४ रस्ती तक क्री मात्रा में पानी में घिसकर चटाना, मातृस्तन्य में घोलकर पिलाना अथवा शहद के साथ चटाना। शिशुओं के ज्वर, चाम, अतीसार, श्वास, वमन सभी रोगों में लाभप्रद रहता है। यह एक दृष्टकर्म मित्र योग है।^१

२. लाक्षादि नैल (ज्वराधिकार)—की मालिग भी बालकों के पुराने ज्वर में प्रशस्त है।

१ पनहुण्णारुणाशुनीचूर्ण क्षौट्रेण संयुतम्।

शिशोर्ज्वरातिमारघ्नं कामध्वागवमीहरम् ॥

३. यदि बालक मातृस्तन्यपायी हो तो माता के लिए पथ्यादि की व्यवस्था करना भी अपेक्षित रहता है ।

४. शुद्ध टंकण $\frac{1}{2}$ से १ रत्ती की मात्रा में मधु से चटाने के लिए बच्चों की खाँसी में उत्तम कार्य करता है ।

५ दाडिमचतुस्रस—जायफल, लौंग, श्वेत जीरा और शुद्ध सोहागे को बराबर मात्रा में लेकर दाडिम के फल के मध्य में भरकर, कपडमिट्टी करके पुटपाक कर ले । फिर पुट में से निकाल कर बकरी के दूध में पीसकर सुखाकर शीशी में भर कर रख ले । बच्चों का अतिसार एवं आमशूल में लाभप्रद । मात्रा २-४ रत्ती । अनुपान मधु ।

६ महागन्धक योग (ग्रहणी अधिकारोक्त)—बालरोगों में उत्तम लाभ दिखलाता है ।

७ अष्टमंगल घृत—गोधृत १ सेर, कल्कार्थ—बच्च, कूठ, ब्राह्मी, सरसो, अनन्तमूल, सेन्धा नमक तथा पिप्पली के कल्क से सिद्ध घृत को बनावे । बालकों में एक बल्य योग है । उनकी सेवा और आयुष्य का वर्द्धक है । बालक की बाल ग्रह के उपसर्ग से रक्षा करता है ।

बालशोष १—घोबे को पानी में उबाल कर एक-दो घोबे का रस (शम्बूक मासरस) उत्तम रहता है ।

२—अश्वगध, को दूध में पकाकर (२ माशा अश्वगध, दूध $\frac{1}{2}$ पाव, जल $\frac{1}{2}$ पाव) पका कर, छान कर, मिश्री मिला कर, मीठा कर के देना भी उत्तम रहता है ।

३ रससिन्दूर $\frac{1}{2}$ र०, प्रवाल भस्म $\frac{1}{2}$ र०, शृङ्ग भस्म $\frac{1}{2}$ र०, शंख भस्म $\frac{1}{2}$ र०, शुक्ति भस्म $\frac{1}{2}$ र०, वराट भस्म $\frac{1}{2}$ र०, शम्बूक भस्म $\frac{1}{2}$ र०, दन्ती भस्म १ रत्ती । मिलाकर २ मात्रा में करके मधु या घृत के साथ देने से अच्छा लाभ होता है ।

४—अर्कचौर का एक या दो बूद नाक से नस्य रूप में देना भी उत्तम रहता है । इससे छीकें आती हैं । बालक की दशा में सुधार होता है । मास में एक, दो या तीन बार देना पर्याप्त होता है ।

प्रतिविष

वृश्चिक दंशमें—१ अपामार्ग मूल का ऊपर से नीचे की दक्षित स्थान तक तीन बार तक घुमाना । इसमें अग से जड़ी का स्पर्श न हो और ऊपर से नीचे की एक ही दिशा में घुमाना अपेक्षित रहता है ।

२. अर्क क्षीर का या पत्ती के रस का नाक में टपकाना या नस्य देना ।

सर्पदंशमें—पीपल के टहनी को तोड़े उसे चाकू से कलम जैसे नुकीला करे । फिर कान में पड़े तक उसको पहुँचावे । बड़े वेग से वह टहनी अंदर की ओर खिंचेगी । मजबूती से पकड़ कर रखे । सर्पविष में उत्तम कार्य करती है ।

निम्नलिखित विषों में प्रतिविष

विविध अम्ल या तेजाव में—शंख या बराट भस्म—सज्जीखार और खाने का सोडा ।

कार्बोलिक अम्ल में—चूने का पानी और शर्वत ।

विविध क्षारों में—तक्र, नीबू का सिरका का धोल ।

फास्फोरस में—१-२ रत्ती की मात्रा में तुल्य पानी में घोलकर १५, १५ मिनट पर देता चले वमन होगा विष निकल जावेगा ।

संखिया में—वन चीलाई का रस बड़ी मात्रा में पिलावे । कपास के बीज को मीमी भी हितकर है ।

पारद में—गधक, दूध और जी का सत्तू । जीर्ण विष में शुद्ध गंधक और अपामार्ग स्वरस ।

नाग में—अपामार्ग या अदवत्य कपाय ।

ताग्र में—दूध, जी मण्ड ।

जीर्ण विष में—अपामार्गक्षार ।

अहिफेन में—हींग का धोल, करेमू का शाक । शुठी और अदरक भी प्रशस्त है ।

धतूरा में—वैगन का स्वरस, नीबू का रस, भुने जीरे का चूर्ण, कमलपत्र-चूर्ण और इमली प्रशस्त है ।

वत्सनाभ में—धतूरे के पत्तों का रस, भल्लातक क्षार, घी, ताम्बूल पत्र स्वरस या कपूर का प्रयोग करे ।

करवीर (कनेर) में—हरीतकी ।

भल्लातक में—तिल, गुड, गरी, बिल्वपत्र, कपास के बीज, हरिद्रा, कचूर, इमली । मूली का रस बाह्य एवं आभ्यंतर प्रयोग

अर्क क्षीर में—नीली रस ।

तम्बाकू में—गुड, गन्ने का रस और घी ।

स्तुही में—सुवर्णपुष्पी-मृत्त्वक् ।

मधु-घृत समजनित विकार में—जल ।

भोग में—तुलसी मंजरी ।

वरटी-भृंग दंश में—अमोनियम् फोर्ट का लगाना, किरोसिन तेल का लेप ।

उच्च रक्तनिपीड (Hypertension)—(Hypertension with Albuminurea)

१. रसरज (वातरोगाधिकार) १-१ गोली प्रातः-साय दूध से । चंद्रप्रभा वटी रात में सोते वक्त २ गोली गाय के दूध से । साथ में निम्नलिखित द्रव्यो से निर्मित कषाय दिन में दो बार ।

जटामासी, पुनर्नवा, गोखरू, बेल की छाल, सोठ, गुडूची, हरीतकी, एरण्ड मूल, वासा, पीपरि, पीपरामूल, वायविडङ्ग, पोहकरमूल, जपापुष्प, सेमल का फूल, अनार का फूल, नीलोफर, मधुयष्टि, आंवला, खस, हल्दी, दासहल्दी, चन्दन, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, शतावरी तथा बृहती । [कविराज विद्वनाथ उपाध्याय दुमका के सौजन्य से प्राप्त]

अनिद्रा—१ आमलकी और निशोथ चूर्ण समभाग मिश्र । मात्रा ३ माशा भैस के दूध से प्रातः ।

२. जटामासी, पीपरामूल, शंखपुष्पी समभाग में मिश्र चूर्ण ३ माशा रात में सोते वक्त भैस के दूध से ।

अपस्मार, मूच्छा—उष्ट्री या गर्दभी क्षीर का सेवन उत्तम रहता है ।

आमवात—में अन्य उपचारों के साथ मद्य का प्रयोग भी उत्तम मिला है ।

माषादि मोदक—छिलके रहित उड़द का चूर्ण, जौ का आटा, चावल का आटा, गेहूँ का आटा तथा पिप्पली चूर्ण । बराबर मात्रा में लेकर गाय के घी में भूतकर रख ले । पश्चात् सब चूर्ण के बराबर मिश्री लेकर उसमें दुगुना जल डालकर आग पर चढ़ाकर फिर उतार कर १-२ तोले का लड्डू बना ले । प्रातः-साय एक एक लड्डू जल या दूध से । यह एक सस्ता एवं उत्तम बाजीकर है ।

अधोग रक्तपित्त—मूत्रमार्ग से रक्त जाता हो तो शतावरी १ तोला, गोखरू बीज १ तोला, दूध १६ तोला और पानी ३२ तोला मिलाकर खीलाकर दूध मात्र शेष रहे तो उतार कर पिलावे । इसी प्रकार मलमार्ग से रक्त निकल रहा हो तो मोचरस से सिद्ध दूध पिलावे । ये दोनों चरक के योग हैं और दृष्ट-फल हैं ।

रक्तशोधक कषाय—गिलोय, गोरखमुण्डी, अनन्तमूल, चिरायता, चोपचीनी, पोहकर मूल, रास्ना, जवासा मूल, अर्जुन, उसवा, हरें, बहेरा, आंवला, मुनक्का । इन द्रव्यों का कषाय सभी प्रकार की रक्तदुष्टि में लाभप्रद पाये गये हैं ।

आचार्यपरम्परा प्रशस्तिः

चिन्तामणेरगणपतेस्समवाप्तमत्या केदारगौर्यनुगृहीतविवेकशक्त्या ।
विद्यागुरोर्विभवतः परमार्थभक्त्या सोऽहं प्रशस्तिमुचितां प्रणयेह्दरीत्या ॥
वृद्धत्रयीये समये व्यतीते गते क्रमे प्रौढचिकित्सकानाम् ।
प्रादुर्बभूवावनिमण्डलश्रीगंगाधरः सर्वनरेन्द्रमात्यः ॥
यो जल्पकल्पैश्चरकं ततान व्याख्याप्रसंगैर्विविधैर्मनोज्ञैः ।
कालक्रमेणाथ त एव जाताः कल्पद्रुमा मानववैद्यगोष्ठ्याम् ॥
वैद्यः सुविद्यो यशसानवद्यः सिद्धौ प्रसिद्धोऽप्यथ साधुवृत्तैः ।
देवोपमैः शिष्यगणैरुपेतो बृहत्सतिश्चापरवद् बभासे ॥
वेदानुशिष्टे पथि शिष्टजुष्टे संस्थापिते तस्य तु वैद्यपीठे ।
त्रिसूत्रसंग्यकृत्तरबोधलुब्धाश्छात्राः शरण्यं तमुपेयिवांसः ॥
सुशिक्षिता लब्धबलप्रतिष्ठाः सुस्नातकाः शास्त्रगिरासमेतः ।
हाराणचन्द्रो निखिलागमज्ञो राजेन्द्रसेनश्चरके विशिष्टः ॥
श्रीधर्मदासश्चरकावतारः सश्यामदासो निखिलार्थवेत्ता ।
सर्वेऽभवन् सिद्धतमा नरा भुवि स्त्रीभिश्च पुम्भिः परिपूजिताः समैः ॥
अन्येऽपि जाता महिमावदाताः परम्परां तां परिवृंहयन्तः ।
गुरोरधीताखिलवैद्यविद्याः पीयूषहस्ताः कुशलाः क्रियासु ॥
तेभ्यो नमस्कारपरः सदाऽहं श्रीधर्मदासान् प्रति भक्तिमावहे ।
गुरोर्गुरुन् स्वान्नतिभिर्विशेषयन् स्वीयोचिता यत्खलु पक्षपाताः ॥
अधीतवान् यः सदशैश्चतुर्भिर्वपैः समग्रं चरकं गुरुभ्यः ।
तच्चारकं पाठनशीलमग्र्यं सुदुर्लभं चानुपमं प्रशस्यम् ॥
आविर्भवात्तस्य विबोधसिन्धोः प्रकाशनान्नूतनपाठशैल्याः ।
पुनः प्रतिष्ठां यदवाप वेदः स्वायुहितात्मा भुवि विश्रुतो यः ॥
विद्यासमृद्धौ सततानुरागी शिष्योपकारे निरतः कृपालुः ।
वैद्यावतंसो मतिमान् सुधीरः स धर्मदासः कविराजराजः ॥
एतैर्गुणैर्लब्धमना महामना यो मालवीयः परमादरेण ।
स विश्वविद्यालयवैद्यविद्यालयस्य मूर्धन्यपदे न्ययुङ्क्त ॥
घनान्धकारावृतमाप्य तत्त्वं प्रकाशयामास वचोमयूखैः ।
प्रकाशकस्तम्भमिवाधिमार्गे सांयात्रिकाणां भिषजां नवानाम् ॥

श्रीधर्मदासेन च शिक्षिताः पुनः शिष्या बभूवूर्वहुनामधेयाः ।
 जातो गुरोर्ज्ञानविशेषयुक्तः श्रीसत्यनारायणशास्त्रिवैद्यः ॥
 काशीद्विजश्रेष्ठसुपूज्यवंशे चांशेन धन्वन्तरिरादिदेवः ।
 श्रीसत्यनारायणशास्त्रिवर्यो जातः शरीरी त्वृतुशास्त्रराशिः ॥
 गुरोर्गृहीतामथ वैद्यविद्यां पारायणेन प्रगुणीप्रकुर्वन् ।
 अभ्यासयोगेऽपि सदानुरक्तः परं प्रतिष्ठां पदमारुरोह ॥
 एवंविधैस्तैर्विविधैरुपायैराराधयामास गिरं यथावत् ।
 शास्त्रश्रिया पूर्णतया वभासे मृजाभिरादर्श इवोज्ज्वलश्रीः ॥
 स्वल्पैश्च कालैर्वहुलैः प्रतापैः सम्पूज्यमानो बुधवैद्यवृन्दैः ।
 प्राचार्यतां चानुबभूव विश्वविद्यालयायुर्निगमालयेऽपि ॥
 अध्यापयामास च वैद्यविद्यां प्रोत्साहयन् साहसिकप्रवीरान् ।
 शिष्यान्नावान्स्तातकवैद्यवर्गान् प्राच्यप्रतीच्याप्तसमस्तशिक्षान् ॥
 ततः प्ररोहा बहुधा विक्कीर्णाः शिष्यानुशिष्यैश्च परम्परायाम् ।
 अष्टाङ्गपूर्णा उभयङ्गरूपा लोकप्रशस्ताः पटुभावनाढ्याः ॥
 कीर्त्तिर्दिवोदासकृता हितायुर्वेदे पुरा या प्रथिता तु काश्याम् ।
 मनीषिणं तं समवाप्य सम्प्रत्यासादिता सा नवता स्वलिङ्गैः ॥
 श्रौतार्थसारैश्च पवित्रितश्रुतिः स्मृतेश्च सम्भेदसमेधितस्मृतिः ।
 स पारगामी पथि तर्ककर्मशे जयी सदा जैमिनिशास्त्रविस्तरे ॥
 वैशेषिके चाप्तविशेषशीलो बोधे च वेदान्तविदा विशारदः ।
 कान्येतिहासौषधपुराणपारगो योगे तथाभ्यस्तसमस्ततन्त्रकः ॥
 वाक्शासने वर्णविनिर्णये किल देवाधिदेवेन्द्रपुरोहितोपमः ।
 नत्या च दूरीकृतचापलः पुमान् विश्रन् सदा यः सहजा प्रगल्भताम् ॥
 कामं बभूवुरपरे भिषजः पृथिव्यां वैद्यान्विताऽभवदनेन वसुन्धरेयम् ।
 आलम्बते कमपि नो कमला स्मृद्धं नारायणोरसि परं लभते प्रतिष्ठाम् ॥
 रूपे नये तेजसि विक्रमे च तोषे च शान्त्या हरिणा समो गुणैः ।
 कान्ये कविश्चन्द्रसमः सुदृश्यो बुद्ध्या गुरुश्चाग्निसमश्च शुद्धौ ॥
 उदारतायां मनुवत्सुकीर्त्तितः प्रातीभ्यजुष्टश्च भृगोः समः पुनः ।
 गभीरतायाञ्च महार्णवोपमो यः पार्थिवत् पार्थिवपूजने रतः ॥
 कृपालुतायाञ्च कृपावतारः प्रशिक्षणे साधु गुरुस्वभावः ।
 मनस्वितायामसमो नरेन्द्रः वात्सल्यभावे जननीसमानः ॥
 धर्मेण धर्मस्तपसा कुमारः स्वाचारचार्वाचरणे च वेधाः ।

सत्ये च सत्यव्रततुल्यशौर्यः सहिष्णुतायां क्षमयैव तुल्यः ॥
 भयेन यस्य प्रणतिर्न संभवा उप्रेषु यः कालसमो महोग्रधीः ।
 नतेषु यः सान्त्वनदानमानैरेकः शरण्येषु च दीनवत्सलः ॥
 जये कठोरप्रियता प्रसिद्धा भावस्वभावान्नियताञ्च पिप्तात् ।
 दुर्वारवीर्यः समितौ प्रकृष्टा शास्त्रे मतिर्यस्य सनातनीष्टा ॥
 सुदुर्लभैरर्हगुणैस्समुच्छ्रितैर्न विक्रिया यस्य मनाक् चरित्रे ।
 अभूतपूर्वे सहजे स्वभावे सदा स्थितत्वाद् विगतस्मयत्वात् ॥
 शास्त्रैः समृद्धैरभिमानवर्जितैर्नालोपि स्वस्याप्यथ लोकचातुरी ।
 आडम्बरं शारदवारिदोषमं ख्यात सदा लाघवमात्रकारणम् ॥
 समाजसेवाव्रतमास्थितेऽपि यद् नासंभवा मानयशोमुखा गुणाः ।
 परोपकारे निरतेऽपि तस्मिन्नानाप्तसर्वाऽपि सशास्त्रवैदुषी ॥
 अनुग्रहार्थं त्वथ देहिनां कृते चिकित्सिते ब्राह्मणवृत्तिमाश्रिते ।
 अहर्निशं तत्परभावरशिभिर्व्यस्तेऽपि काव्यप्रियतारसङ्गता ॥

प्रोचुर्यञ्चरकर्षयः स्फुटतया तद्व्याहरन्तः स्वयं
 सूक्ष्मा दोषहितक्षुण्णप्रकृतिभूसात्म्याद्यवस्थास्तथा ।
 साध्यासाध्यविवेकहेतुसहितैर्लिङ्गैश्च सम्प्राप्तिभि-
 र्नाडौ श्र्यङ्गुलतः स्पृशन्ननुपदं वेदाऽद्वितीयो गुरुः ॥
 इत्थं सोऽत्र निजा कुलस्थितिकरीं कीर्त्तिञ्च सम्पादयं-
 स्तन्वन् दिक्षु दशस्वपि स्थितिमतीं विद्यां सुदिव्यां शिवाम् ।
 राज्येशेन पुरस्कृताञ्च पदवीं मानादिभिर्नन्दितः
 प्राप्तो पद्मविभूषणाभिधपदं राष्ट्रेशवैद्ये स्थितिम् ॥
 सम्पद्युतोऽपि गुरुमानयुतोऽपि शश्वत्
 स्वाराधयान्नविरतं त्रिजगत्प्रसूं स्वाम् ।
 तस्याः प्रसादममल नितरां प्रविन्दन्
 प्रापञ्च विश्वविदितां विशदां स्वकीर्त्तिम् ॥

श्रीयुक्तादनमोलतः प्रकटितो मातुः पराज्योतिषो
 जैमिन्यार्पभवद्विवेदिकुलजः क्षेत्रे भृगोः पावने ।
 एतं बन्धमलं व्यधादनुदिनं भक्त्यानतः श्रीरमा-
 नाथः स्नातक एष वैद्यकनये विश्वेशपुर्या वसन् ॥